



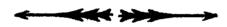
श्री आचार्य कुंयुसागर ग्रंथमाला पुष्प ४५.

श्रीविद्यानंदि-स्वामिविरिवतः तस्यार्थङ्खोकयार्तिकालंकारः

(भाषाटीकासमन्वितः)

4113

(पञ्चमखण्डः)



-- टीकाकार ---

तकंग्तन, सिद्धांतमहोदधि, न्यायविवाकर, स्याद्वादवारिधि, दार्शनिकशिरोमणि श्री एं. माणिकचंदजी कोंदेयन्यायाचार्य

-- संपादक व प्रकाशक --

पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति व्या. के. समाजरत्न, धर्मालंकार, व्यायकाव्यतीर्थं) ऑ. मंत्री आचार्य कुंयुसागर ग्रंथमाला सोलापूर.

All Rights are Reserved by the Society

-- मृद्रक ---

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

कल्याण पाँवर प्रिटिंग प्रेस, कल्याणभवन, सोलापूर.

वीर स. २४९०)

सन् १९६४

(मूल्य १२ ६१थे.

-= श्रीतत्वार्थश्लोकवार्त्तिकका मूलाधार =-

पंचम खंड. अथ द्वितीयोध्यायः।

औपश्रमिक्षायिकी भाषी मिश्रद्य जीवस्य स्वतस्वमीवयिकपारिणामिकी भा। १।। द्विनबाष्टादशैकविश्वतित्रिभेदा यथाकमम् ॥ २ ॥ सम्यक्तवबारित्रे ॥ ३ ॥ सानदर्शनदानलाम-भोगोपभोगवीर्याण च ॥ ४॥ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चनुस्त्रित्रपञ्चभेदाः सम्यत्त्वचारित्र-संयमासंयमास्य ।।५।। गतिकवायलिङगिमध्यादर्शनाऽसंयताऽसिद्धलेश्यारचतुरस्यकैकैकैकवहु-भेदाः ॥ ६ ॥ जीवभव्याऽभरयत्वानि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणम् ॥८॥ स द्विविधोऽज्यचतुर्भेदः ॥ ९ ॥ संसारिको मुक्ताइच ॥१०॥ समनस्काऽमनस्काः ॥११॥ ससारिकस्त्रसस्यावनाः ॥१२॥ पुर्याग्यप्तेजोशायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥ पंचेन्द्रियाणि ॥१५॥ द्विविधानि ॥ १६ ॥ निर्वृत्यु रकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥ लब्ध्यूपयोगी भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥ स्पर्धन रसनध्याणचभुः भोत्राणि ।। १९ ॥ स्पर्धरसगन्त्रवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥ श्रुतमनिन्द्रयस्य ॥ २१ ॥ वनस्वरयन्तानामेकम् ॥ २२ ॥ कृमिविवीलिकाभ्रमरमन्ष्यादीनामेकैकवृद्धाति ॥२३॥ संजितः समतःकाः ॥ २४ ॥ विग्रहगतौ कर्नयोगः ॥ २५ ॥ अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥ अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥ विग्रहवती च संतारिणः प्राक्त चनुभर्यः ॥ २८ ॥ एकसमयाः वि. प्रहा ।। २९ ।: एकं द्वी जीन्यानःहारकः ।। ३० ।। सम्मूछंनगर्भोषपादा जन्म ॥ ३१ ॥ सनिस्तक्षीतसंबुताः सेतरा निश्राव्यकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥ जरायुजाण्डजपोताना गर्मः ॥ ३३ ॥ देवनारकाणामुषपादः ।। ३४ ॥ शेषाणां सम्मुच्छेनम् ॥ ३५ ॥ औदारिकवंकियिकाहारकतंजस-कार्यणानि कारीराणि।। ३६ ॥ परं परं सुक्ष्मम् ॥३७॥ प्रदेशतोऽसंख्ययगुणं प्राकृतेजसात्॥३८॥ अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥ अप्रतीघाते ॥ ४० ॥ अनावितम्बन्धे च ॥ ४१ ॥ सर्वस्य । ४२ ॥ तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्ध्यः ॥ ४३ ॥ निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥ गर्नसम्मू च्छंनजनाद्यम् ।। ४५ ॥ औपपादिकं वंकियिकम् ॥ ४६ ॥ लब्बिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥ तेरसमि । ४८ ॥ शुमं विशुद्धमन्याचाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥ नारकसम्बन्धनी नर्मसकानि ॥ ५० ॥ न देवाः ॥ ५१ ॥ श्रेषात्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥ औषपादिकवरमोत्त्रदेहाः संस्थेयवर्षायुषोऽनपवरर्यायुषः ॥ ५३ ॥

अथ तृतीयोध्यायः।

रत्नशर्कराबालुकापञ्चभूमतमोमहातमःप्रमाभूमयो चनाम्बुबाताकाशप्रतिष्ठाः ऽघोधः ॥ १ ॥ तासु त्रिशत्पंचिवश्वतिपंचवशवशत्रिपंचोनैकनरकज्ञतसहस्राणि पंच चैव यथाः कमम् ॥ २॥ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविकियाः ॥ ३॥ परस्परोदीरितः बुःखाः ॥ ४॥ संविक्षव्टासुरोबीरितदुःखाञ्च प्राक्चतुर्थाः ॥ ५॥ तेव्वेकविसप्तवशसप्तवशः द्वाविशतित्रयस्त्रिशस्तागरोपमा सस्वानां परा स्थिति: ।। ६ ।। जम्बूद्वीपलक्षणोदादयः जुमनामानी द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥ द्विद्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिको वलयाकृतमः ॥ ८ ॥ तस्मध्ये मेवनः भिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥ भरतहैमवसहरिविबेहरम्यकहैरण्यवतरावत-वर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥ तद्विमाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमविश्वविश्वनिक्विवासिरणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥ हेमार्जुनतपनीयवैद्ध्वंरजतहेमनयाः ॥ १२ ॥ मणिविवित्रपार्श्वा उपरि मूले च ुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥ पद्मवहायधितिगिङ्क्षकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका हुदास्तेषामुपरि ।। १४ ॥ प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्दविष्कम्भो हृदः ॥ १५ ॥ दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥ तक्षिवासिन्यो वेव्यः श्री-हीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्षम्यः पत्योपमस्यितयः ससामानिकपरिचल्काः ॥ १९ ॥ गंगासिन्धु-रोहिबोहितास्य।हरिद्धरिकान्तासीताबीतोदानारीनरकान्ताबुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः स्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥ द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वेगाः ॥ २१ ॥ श्रेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥ **चतुर्वज्ञनदी**-सहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥ भरतः षड्विशतिपंत्रयोजनप्रतिविस्तारः षट्चैकोन विशितिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥ तद्विगुणिद्विगुणिविस्तारा वर्षवरवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥ उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥ भरतंरावतयोवृद्धिःहासौ षट्तमत्र भ्यामुत्सिष्ण्यवसर्पणीभ्याम् ।। २७ ।। ताभ्यामवरा भूमयोऽवस्थिताः ।। २८ ॥ एकद्वित्रिपत्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्ष-कदंवकुं वकाः ॥ २९॥ तथोत्तराः ॥ ३०॥ विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१॥ मरतस्य विष्कम्मो जम्बूद्वीपस्य नर्वातशतभागः॥ ३२॥ द्विद्वितिकोसण्डे ॥ ३-३ ॥ पुष्करार्द्धे च ॥३४॥ प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥ आर्था म्लेच्छादव ॥ ३६ ॥ मरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽ न्यत्र देवकुरूत्तरकुरुयः ॥ ३७॥ नृस्थिती परावरे त्रिपत्योपमान्तर्मृहूर्ते ॥ ३८॥ तिर्यंग्यो-निजानां च ॥ ३९॥

अय चतुर्थोऽध्यायः।

देवाइचतुर्णिकायाः ॥ १ ॥ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥ दशाष्टपञ्चद्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंन्ताः ॥ ३ ॥ इन्द्रसामानिकत्रार्योत्त्रज्ञापारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकित्विषिकाश्चैकवाः ॥ ४ ॥ त्रायस्त्रिवास्त्रोकपालवर्ण्यां व्यन्तरस्योतिष्काः ॥ ५ ॥ पूर्वयोद्वीन्द्राः ॥ ६ ॥ कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥ भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपणग्निवातस्तनितौब-विद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥ व्यन्तराः किञ्चरिकम्युरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराञ्चसभूतपिक्षाचाः १। ११।। ज्योतिष्काः स्टर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकारच ।। १२।। मेरप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥ तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥ बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥ वैमानिकाः ॥ १६ ॥ कल्वोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥ उपर्युपरि ॥१८॥ सीधर्मेशानसानस्कु-मारमाहेन्द्रब्रह्मब्ह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्षग्रतारसहस्र।रेष्यानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्न-वसु प्रवेषकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ।। १९ ॥ स्थितित्रमावसुखद्धुति-लेश्याविशुद्धीन्द्रयाविधविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥ गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥ पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२॥ प्राग्येवेयकेश्यः कल्पाः ॥ २३॥ ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥ सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥ औपपादिकमनुष्येष्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥ स्थिति-रसुरनागसुवर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता ॥ २८ ॥ सौधभँशानयोः सागरोपमे विधिके ॥ २९ ॥ सानःकुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥ त्रिसप्तनवंकादशत्रयोदशपञ्चदशिनरिध-कानि तु ॥ ३१ ॥ आरणाच्युत।दुध्वंमेकैकेन नवसु प्रवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥ अपरा पत्योपनमधिकम् ॥ ३३ ॥ परत.परतः पूर्वापूर्वानन्तरः ॥ ३४ ॥ नारकाणां च द्वितीया-बिषु ॥ ३५ ॥ दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥ भवनेषु च ॥ ३७ ॥ ध्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥ परा पत्योपममधिक ॥ ३९ ॥ ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥ तदप्ष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥ लीकान्तिकानामध्यौ सागरीयमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२॥

इति चतुर्थोध्याय.।

इति पश्चमखण्डः समाप्तः।

--0 --

संपादकीय वक्तव्य



इस वन्तव्यके साम तत्वार्यश्लोकवः तिकका पंचम खंड आपके सामने उपस्थित करनेमें हमें परमहर्ष होता है। यद्यपि अन्य खंडों की अपेक्षा इस खंडके प्रकाशनमें आशातीत विलंब हो गया है। हमारे इस पुनीत प्रकाशन कार्यमें अनेक प्रकार के विष्य उपस्थित हुए। कुछ दैविक, कुछ प्रमादजनित, कुछ सामाजिक, कुछ गाहंस्थिक, और कुछ वैयक्तिक। किसे खंडिक प्राप्तान्य दिया जाय, इसकी चर्चाकी अपेक्षा अनेक कारणोंसे हम इस कार्यको द्वारातिसे चलानेमें असमर्थ रहे, इसके थिए स्वाध्यायप्रेमी बंजु भोंसे एवं हमारे सदस्योंसे क्षमा याचना करना ही अधिक अयस्कर है।

प्रस्तुत खंड--

गत चार खंडोमें तःवार्थसूत्रके केवल प्रवम अध्यायपर वातिक और टीका जाई है। अब इस प्रस्तुत पांचवें खंडमें तस्वार्यसूत्रके द्वितीय अध्याय, तृतीय अध्याय और चतुर्व अध्यायके प्रमेय आचुके हैं। भगवदुपास्वामिविरचित तत्वार्थसूत्रमें तत्वज्ञानकी कितनी महिमा भरी हुई है, इस बातका सहज अनुमान महर्षि विद्यानिव्दिश्वामीके द्वारा प्रतिपादित इस महान् दार्शिक सरणिसे क्या जासकता है। महिं विद्यानंदि स्वामीने मूल प्रन्यकारके अभिप्रायको सुरक्षित रखते हुए विययका स्पष्टीकरण सर्वक्ष रूपसे किया है।

द्वितीय अध्याय: ---

तरगर्थश्लोकवातिकालंकारके द्वितीय अध्यायमें औवके स्वतस्वका निरूपण करते हुए औषश-मिकाद जीवके प्रधान भावोंका निरूपण आचार्यने किया है। ये भाव जीवके ही हैं। प्रधान आदिके नहीं, मोक्षमें भी कुछ भाव पाये जाते हैं। जीवके भेदोंका निरूपण करते हुए संसारी, सयोगकेवली, अयोगकेवली, एवं मुक्त जीव आदि सभीका संग्रह किया गया है। आत्माक ध्यापकत्वका खंडन कर आचार्यने एकेंद्रिय जीवों को युक्ति आगमसे सिद्ध किया है। इसी प्रकार इंद्रियोंके विषयको सिद्ध करते हुए इद्रियोंके अधाति जीवको युक्तिसे सिद्ध किया है।

इस अध्यायके दितीय आनिहरूमे मात्माके व्यापकत्वको निराकरण कर आत्माके इनस्ततः गमनको समर्थन किया है। जीवोंका आकाश प्रदेशमें यथाश्रीणगति, अनाहत्क अवस्था, जन्म व योनिका प्रकार, शरीरोंकी रचनाका प्रकार, अन्य संप्रदायोंके द्वारा कल्पित शरीरका निरास करते हुए तैजस और कार्मणका धाराप्रवाह रूपसे अनादिसंबंध सिद्ध कर दिया गया है। अंगमें आयुकी अनावत्यं और अपवर्षदशाको युक्ति और आगमसे सिद्ध कर अन्य वादियोंके कथनका निवारण किया गया है।

तृतीय अध्याय:--

प्रस्तुत अध्यायमें जीवोंके निवासस्थानका वर्णन करते हुए अघोलोकका वर्णन सर्वं प्रथम किया गया है, और तदनंतर इस पृथ्ही के आकारके संबंधमें ऊहापोह करते हुए भूग्रमण वादियोंकी युन्तियोंका सुन्दर तर्कपढ़ितसे निराकरण किया है। आजके भौगोलिक-विज्ञानवादी पृथ्वोंके आकार और उनके भ्रमणमें जिन युन्तियोंका प्रयोग करते हैं, उनको अकाद्ध युन्ति और आगम प्रमाणोंसे आचायंने निराकरण किया है। एवं स्पष्टतः सिद्ध किया है कि इस अचला पृथ्वीका किशी भी तरह ग्रमण नहीं हो सकता है। भूग्रमणवादियोंके साथ २ अन्य तःसम्बादियोंका भी निराकरण करते हुए आचायंने बहुन स्पष्ट रूपसे सूर्य चन्द्रमाके ग्रमणको समर्थन किया है। तदनंतर मध्यलोकका वर्णन कर तत्रस्थ द्वीप समुद्र, पर्वत, क्षेत्र, नदी सरोवर आदि-योंका यथागम विवेचन किया है।

इसी प्रकार घरत बादि क्षेत्रों में कर्मभूमि, भोगभूमिका विधान करते हुए मनुष्य और वियंचिकी जघन्य व उन्कृष्ट आयुका निरूगण किया है। बीवों के आधारस्यानों का निरूपण करते हुए आचार्यने अधोलोक और मध्यलोकका सविस्तर वर्णन किया है। साथ ही यथा प्रकरण आचार्य विद्यानन्दस्वामीने बहुन बड़ी विद्वत्ताके साथ सृष्टिकर्तृन्ववादका खंडन किया है। जगन्नियंत्रा ईश्वरको माननेसे अनेक दोषों का आयात स्वयं हो जाता है.इस बातको अश्वतपूर्व युक्तियों के द्वारा बहुन विस्तारके साथ समर्थन किया है। जगत्कर्तृन्वका निगस इस प्रकरणमे बहुत सफलताके साथ किया गया है। इस प्रकार इस तीसरे अध्यायमें अधोलोक व मध्यलोक स्थित जीवों के स्थान, स्थित, परिस्थितिका सुन्दर विवेचन किया गया है।

चत्र्यं अध्याय.--

प्रस्तुत अध्यायमें ऊध्वं लोकका वर्णन करते हुए ग्रंथकारने ऊध्वंलोकस्थित देवोंका निवास दर्शाया है। सवनवासी व्यतर देवोका निवास इस मध्यभूमिमें होनेपर भी ज्योतिष्क और कल्य-वासियोंका निवास इस समय पृथ्वीसे ऊरिले भागमें है। इस विषयका निरूपण करते हुए उन देवोंकी लेक्या, आयु, परिणाम. गति, आदिका यथागम वर्णन किया है। साथमें ज्योतिष्क देवोंके प्रकरणमें मेरुप्रदक्षिणा कर निरयगमन करनेवाले ज्योतिष्क देवोंका सुन्दर विचार आधार्य देवने किया है। आधुनिक भौगोलिक विद्वानोंका इस प्रकरणमें भी प्राचार्य श्रीने खबर लिया है। पृथ्वी नारंग के समान गोल नहीं है, और सर्व स्थानोमें एकसी चपटी भी नहीं है। उसका भ्रमण भी युक्ति आगमसे विषद्ध है, सूर्य चन्द्रमाका भ्रमण सतत होता है, सूर्य चन्द्रमाके भ्रमणसे ही दिन राजका विभाग होता है। अन्य ग्रहोंके भ्रमणसे सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण आदि होते हैं। इस्यादि बातोंको बहुत ही सुन्दरपद्धतिसे विद्यानन्द स्वामीने सुन्तष्ट सिद्ध किया है व भूभ्रमण वादिशोंको निरुत्तर कर बिया है।

इस प्रकार इस पंत्रम खंडमे दूपरे, तीसरे व चीथे अध्यायतकका प्रकरण बाचुका है। अब आगे छठ भागमें पांत्रवा और छठा अध्याय, सातवे भागमें सातवें आठ वें, नववें, और दसवें बध्यायके विषय आश्रायें ग्रं वर्षान् अब दो संडोमें यह ग्रंथराक समाप्त हो जावेगा। इस ग्रंथके प्रकाशनमें संस्थाने भारी व्यय उठाया है। ऐसे ग्रंथों का एक बार प्रकाशित होना ही कठिन है, बार बर होना तो असंमव ही है। और यह जैन तन्वज्ञानका महान् दार्शनिक ग्रंथ है। स्वाध्याय प्रमियों का बल हमें मिला तो हम शोध्य ही अविशब्द भागों का भी प्रकाशन करेंगे।

संस्थाने यह महान् कार्य अपने हाथ में लिया है। ऐसे ग्रंथराओं का संपादन और प्रकाशन महान् साहसका विषय है। संस्थाकी विपुल धनराशि इन कार्यमें प्रयुक्त हो रही है। संस्थाका संकल्प है कि परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विश्वतंद्य आवायश्रीकी पूण्यस्मृतिमें प्रतिवर्ष कोई न कोई ग्रथ प्रकाश में आकर हमारे स्वाध्यायने मियों को ज्ञानलाम हो। इस एक ही ग्रंथ के प्रकान नमें यदि अनित क्षीण हो गई तो निरुत्साहका वातावरण निर्माण हो सकता है। इसमें भी विशेष बात यह है कि यह महान् ग्रंथराज भी हमारे करीब ५०० स्थायी सदस्यों को विनामूस्य मेंटमें दिया जा गहा है। करीज पांच सी प्रतियों के इस प्रकार समाजप्रमुख व्यक्तियों के हाथ पहु जनके बाद अवशिष्ट प्रतियों को मूल्य में खरीदकर स्वाध्याय करने वालों की संख्या बहुत कम यह जानी है। अतः साधमी बंजु वोंसे निवेदन है कि वे हमारे इस महान् कार्यमें निम्नलिखित प्रकार से मदत करें।

- (१) स्वाध्य यके लिए मंदिर, श्रुव मंडार, जिक्षा संस्थायें, महाविद्यालय आदिमें इस प्रंयराजके-सर्व भागों को मंगाकर विराजमान करें। और जैन, श्रेनेतर विद्वानों को अध्ययनार्थं इसकी प्रतियों को भेंट करें।
 - (२) इस ग्रंथके प्रकाशनके लिए अपनी ओरसे यथेष्ट द्रव्यकी सहायता करें।
- (३) १०१) प्रदान कर ग्रंथमालको स्थायी सदस्य बर्ने । स्थायी सदस्योंको ग्रंथमालासे प्रकाशित सर्व ग्रंथ-तत्वार्यकोकवातिकालंकारके सर्व वस्रमहित भेटमें दिये जाते हैं।

जैनतत्वज्ञानका अत्यंन सूक्ष्मताके साथ तलस्पर्शी विवेचन करनेवाला यह अमूत पूर्व ग्रंथ है। इनका अधिकसे अधिक प्रचारका अर्थ स्याद्वाददर्शनका उद्योत है। प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् न्यायदिवाकर पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्यकी सुविस्तृत टीकासे विद्यानन्द स्वामीके अंतःस्पश्चिनी मीमांसाको सुवर्णके बीच रःनकी शोभा आगई है। सर्वसाधारण स्वाध्यायप्रेमीकी समझमें आवे इतना सरल ग्रंथ का प्रमेप बन गया है। हर एक ज्ञानिप्पासुको इसका लाम उठाना चाहिये।

इस ग्रंथका समर्पण

श्री परमपूज्य आचार्य कुंबुमागरजी महाराज परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रविति आचार्य शांतिसागर महाराजके अन्यतम शिष्य थे। श्री आचार्य शांतिसागर महाराजने इस युगर्मे दिगंबर तपस्वियों के मार्गको प्रशस्त करते हुए अपणपरंपराकी विच्छित्र कडीको पुन- कडाजीवित किया है। उन्होंने अनेक विद्वास् संयमी शिष्योंको निर्माण किया। उनके संघर्षे

जितने भी साधु हुए वे सभी तयोनिधि, त्रारित्रशील और आगमों के वेता, ज्ञानाम्यासी देश-कालके ज्ञाता सिद्ध हुए हैं।

बानायं श्रीने अपनी यमसल्लेखनाक समय अर्गने उत्तराधिकार पट्टको ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध एवं बनुभववृद्ध तपस्वी श्री परमपूज्य आचार्य वीरसागर महाराजको साँप दिया। परन्तु गृहचरणोंके स्वर्ग सिघारनेके बाद आचार्य वीरसागर श्रीका भी कुछ ही समयमें स्वर्गारोहण हुआ।
उस पट्टमें अधिकारी शिष्य परमशांत साधु ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध श्री आचार्य शिवसागर जी महाराज आसीन हुए। परमपूज्य आचार्यश्री भी अपने गृह जनोंके समान ही ध्यानाध्ययनमें रत,
विषय कपायादिसे दूर, स्वपर हितमें अनुग्रह करने वाले संत हैं। उनके द्वारा विशाल संघका
गंचालन यथापूर्व हो रहा है। आपके ही करकमलों में बडी नम्प्रताके साथ यह ग्रंथ समर्थित
किया जा रहा है। अमीतक के सर्व भाग परमपूज्य संत आचार्यों के करकमलों में ही हम समर्थित
करते हुए आ रहे हैं। यह आचार्यकी कृति है, आचार्यके करकमल में ही हम समर्पण करते है।
इसके गुणदोषका निरीक्षण वे ही विद्वान् संत कर सकते हैं। स्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव
समर्थते।

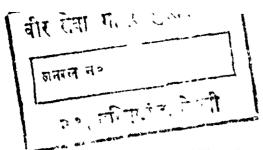
अपनी दात

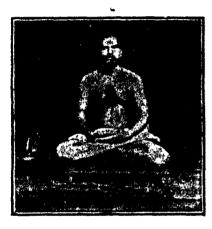
श्री परमपूज्य प्रातः समणीय विश्ववंद्य स्व. आचार्य कुंधुमागर महाराज उनके युगके प्रभावक मनोज साधु थे। उनकी लोकेषणा वृत्ति, सर्वंजनिप्रयता, मृदु व सरल परिणति, अगाध विद्वता बादि गुणोंसे सभी क्षेत्रकी जनता प्रभाषित थी। जैन समाज ही नहीं जैनेतर समाजमें भी उनके अगणित भवत थे। उनकी सदमावनाके अनुमार उनकी स्पृतिमें यह ग्रंवभाला चालू है। हमारा संकल्प है कि प्रति वर्ष हमारे सदस्योंको कमसे कम एक ग्रंव स्थायार्थं प्रदान किया जावे। परन्तु संस्थाने इस महान् ग्रंवके प्रकाशनका कार्य हाथमें ले विया है। अतः उसमें भोडासा व्यवधान होने रह भी आगे हम प्रतिवर्ष एक एक ग्रंव हमारे सदस्यों को भेट करने का निश्चित प्रयत्म करेगे।

इस विषयमें हन हमारे माननीय सदस्योंसे भी प्रार्थना करेगे कि वे भी हमें सिक्रय सहयोग देवे । क्योंकि यह कार्य संपूर्णतः भाषिक बलपर ही निर्भर है। यदि हमारे सदस्य अपनी सस्थाको पल्लवित करनेकी कामनासे आधिकबल प्रदान करनेकी कृपा करें तो संस्था आश्वास-नक्षे अनुसार आपकी सेवा निदिचत रूपसे कर सकेगी। अतः कमसे कम सदस्य संख्या बढानेके प्रति हाथ बटावे यह सादर निवेदन है।

सोलापूर भाद्रपद शु. ५ बीर सं. २४९०

वर्धमान पार्श्वनाय शास्त्री ऑ मंत्री आवार्य कुंप्सानर पंयमाला कल्याण भवन, सोलापुर





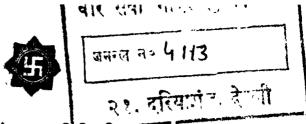
श्री विश्ववंद्य तपीनिधि आचार्य स्व. कुंथुसागर महाराज जिन्होने अपने जीवन कालमे धर्मकी अभूतपूर्व प्रभावना की जैन-शासनका ंडद्योत किया, जैनतःवज्ञानका प्रकाश सर्वत्र फैलाया, विश्वके कोने कोनेमें सार्व-धर्मको पहुंचाकर विश्वबधु-स्वकी भावना निर्माण की. उन्हीकी चिरंतन स्मृतिमे इस ग्रंथ माला द्वारा अनेक अनद्यं ग्रंथोंका प्रकाशन सतत किया जा रहा है।



सविनय समर्पण

श्री परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रवर्ति स्व.
आचार्य शांतिसागर स्वामीके पट्टमें अधिष्ठित
चारित्रचूडामणि श्री स्व. आचार्य वीरसागर
महाराजके पट्टमें स्थित होकर सफलतापूर्वक
विशाल संघका संचालन, साधु मार्गका
उद्योत, रत्नत्रय धर्मकी अपूर्व प्रभावना
करनेवाले

श्री १०८ आचार्य शिवसागर महाबाजके करकमलोमें



श्रीविद्यानंद •स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

तत्त्व।र्थविंतामणिटीकासहितः

(पञ्चमखंडः)

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

नानावस्तुस्वभावश्रमकलितवषुः स्यात्स्वतत्त्वाप्यवीचि-रस्नाना अप्यगाधे गणधरम्रुनयः स्नान्ति यद्दोधताये । सिद्धार्थापत्यवीरोद्भव प्रकलजगत्तारि सामर्थ्यजुष्ट-ब्राह्मीगंगा पुनीताहुरितनिरसनी चिद्वहा भव्यहंसान् ॥

अत्र श्री विद्यानन्द आचार्य तत्त्वार्थमूत्रसंबंधी द्वितीय अध्याय के श्लोकानिर्मित वार्त्तिकी द्वारा अलंकार करनेका प्रारम्भ करते हैं।

सम्यहरगोचरो जीवस्तस्यौपशमिकादयः । स्वं तत्त्वं पंच भावाः स्युः सप्तसूत्र्या निरूपिताः ॥ १॥

सम्यक्त्रीन का विषयभूत होरहा जीव पदार्थ है, उसके औपशिमक, क्षायिक आदिक पाच भाव स्व आत्मक तस्त्र हो रहे है, वे इस द्वितीय अध्यात के प्रथमवर्ती सात मूत्रोंक समुदाय करके श्री उमास्वामी महाराज द्वारा पहिले निरूपण किये जाचुके हैं। इस कथन करके श्री विद्यानन्दस्वामीने प्रथम अध्यायके प्रकरणों की दितीय अध्याय सम्बन्धी प्रकरणों के साथ हो रही संगति को प्रदर्शित किया है अतः सूत्रकारके उपर असंगत प्रलाप दोष लग जाने का खटका नहीं रहा। सम्यग्हक्तस्वार्थश्रद्धानं तस्याः गोवरो विषयो जीवो निरूपितस्ताबद्जीवादिषत् तस्य स्वमसादारणं तस्वमीपशमिकाद्यः पंच भावाः स्युर्न पुनः पारिणामिक एव भावश्रैतन्यमात्रं, यतश्रैतन्यं पुरुषस्य स्वं रूपमिति दर्शनं केषांचिव्यवतिष्ठते । बुध्याद्यो नवैवात्मनो विशेषगुणा इति वा, आनंदमात्रं ब्रह्मरूपमिति वा प्रभास्वरमेवेदं चित्तमिति वा प्रमाणाभावात् । प्रमाणोप-पञ्चास्तु जीवस्यासाधारणाः स्वभावाः पंचीपश्रमिकाद्यस्तं सप्तसूच्या निरूपिताः सूत्रकारेण लक्षणतः संख्यातः प्रभेदतश्च ।

सम्यादर्शन रादको निरुक्ति कर देनेसे अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता था । अतः सम्यादर्शनका पारिभाषिक अर्थ तत्वार्थीका श्रद्धान करना कहा गया है। उस श्रद्धानरूप सम्यन्दर्शनका अजीव आदिके समान विषयभूत हो रहा जीवपदार्थ तो पहिले अध्यायमे कहा जा चुका है। अब उम जीवके विशेष अंशोंका निरूपण करनेके लिये प्रकरण चलाते हैं । उस जीवके निजआत्मस्वरूप हो रहे औपरामिक आदिक पांचभाव तो स्वकाय अमाधारणतत्त्व है । जो अन्य अजीव माने गये पद्रल आदिमें नहीं पाये जाकर केवल जीवमें ही पांय जाय वे जीवके असाधारणभाव हो सकेमें । प्रतिपक्षी कर्मीक उपरामसे होनेवाले या कर्मीके क्षयसे होनेवाले अथवा उदय, उपराम, आदिकी नहीं अपेक्षा कर जीवद्रव्यके केवल आमलाभसे अनादि सिद्ध हो रहे पारणामिक ये तीन भाव तो जीवके निज स्वरूप है ही । साथमे गुण या स्वभावोके प्रतिपक्षी हये कर्मीकी सर्वधाति प्रकातियोका उदयक्षय, और उपशम होनेपर तथा देशघाति प्रकृतियोंके उदय होनेपर हो जानेवाले बुद्धान, मतिज्ञान, चक्षुदर्शन, आदि क्षायोपरामिकभाव तथा कतिपय कर्मीका उदय होनेपर उपजनेवाले मनुष्यगति, क्रोध, पंबेद परिणाम, मिथ्यात्व आदिक औदायिकभाव भी आत्माके निज तस्व है। क्योंकि क्षायोपशमिक और औदायिकभावों का भी उपादान कारण आत्मा ही है। कर्मीके क्षयोपराम या उदयको निमित्त पाकर आत्मा ही मनिज्ञान, क्रोच, आदिरूप परिणत हो जाता है। आत्माके चेतनागुणकी पर्याय मतिज्ञान. क्रमतिज्ञान आदि है और आत्माके चारित्र गुणका विभाव परिणाम क्रोध आदि है। केवल निश्चयनय द्वारा शुद्ध द्रव्यके प्रतिपादक समयसार आदि प्रन्थोमें भले ही मतिज्ञान, क्रोध आदिको परभाव कह दिया गया होय. किन्तु प्रमाणोंद्वारा तस्त्रोंकी प्रतिपत्ति करानेवाले या अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाले श्रीकवार्त्तिक, अष्टसहस्री, गोमइसार, राजवार्त्तिक, आदि प्रन्योंमें कोध, वेद आदिको आत्माका स्व-आत्मक्रभाव माना गया है। अतः पांचों ही भाव जीवके स्वकीय असाधारण तस्व हैं। उन पांचों भावों साथ तदात्मक हो रहा जीव तत्त्व वास्तविक है। किन्त फिर केवल परिणामिक भाष अकेले चैतन्य स्वरूप ही जीव नहीं है, जिससे कि केवल चैतन्य ही पुरुषका निज स्वरूप है, ज्ञान. सुख, वीर्य, क्रीय, अविश्वान, उपराम, चारित्र, आदिक भाव तो जीवके निजस्वरूप नहीं है. कित त्रिगणआ मक प्रकृतिके विवर्त हैं, इस प्रकार किन्हीं किन्हीं साख्योंका माना गया सिद्धान्त व्यवस्थित

हो सके अथवा बुद्धिको आदि लेकर सुल, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये नौ ही आत्माके विशेष गुण हैं, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाव ये पांच गुण आत्माके सामान्य है. इस प्रकार नी और पांच मिलकर चौदह ही गुण आत्माके व्यवस्थित हो सकें, अन्य अस्तित्व. द्रव्यत्व. चारित्र, बीर्य. आदि अनन्त गुणींका वैशेषिक सिद्धान्त अनुसार निषेध कर दिया जाय. अपना केवल आनन्द ही एक गुण ब्रह्मका स्वरूप है, यह ब्रह्मनादियोंका सिद्धान्त व्यवस्थित हो सके. अथवा यह चित्त स्वरूप आत्मा केवल चमक रहा, प्रभास्वर गुणवाला ही है, इस प्रकार मीमांसक. बीब आदि दार्शनिकों के मन्तव्य व्ययस्थित ठहर सकें । जब कि स्वसम्बदन प्रत्यक्षसे पांच भावोंके साथ आत्माका उपजीन्य, उपजीवक स्वरूप तादाल्य प्रतीत हो रहा है, ऐसी दशामें केवल चैतन्य ही या नी विशेष गुण ही अथवा केवल आनंद गुण ही तथा प्रभास्वर गुण ही का आत्माके साथ उप-जीव्य उपजीवक भाव साधनेका कोई प्रमाण नहीं है । जिन गुण या स्वभावोंकरके पदार्थ आत्म लाभ किये हुये हैं. वे उपजीवक माने जाते हैं और उन करके आत्मलाभ कर रहा पदार्थ उपजीव्य समझा जाता है। पांच भाव जीवके उपजीवक हैं। अनादि और सादि सहभावी क्रमभावी। पर्यायोंको धारनेवाला जीव तस्व है। शुद्ध परमात्मा द्रव्य हो रहे सिद्ध भगवानोंमे यद्यपि औपशमिक, क्षायोप-शमिक और औदियिक ये तीन प्रकारके भाव नहीं है। सिद्धोंमें पारिणामिक और श्रायिकभाव ही है। तथा बहुभाग अनंतानंत संसारी जीबोंमे क्षायिकभाव या औपशमिक भाव नहीं पाये जाते है, तो भी जिन जीवोंमें पांचों भावोमें से पथायोग्य दो ही तीन ही चारो ही अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेंद्रियपरुप जीवके ग्यारहवें गुणस्थानमे पांचों, यों जितने भी सम्भव पाये जाने है, सव जीवके तदात्मक हो रहे असाधारण स्वभाव हैं । अतः प्रमाणोंसे युक्तिसिद्ध हो रहे, पांच औपशमिक आदिक स्वभाव तो जीवके असाधारण स्वभाव है। दूसरे अध्यायमें सूत्रकार श्री उमान्यामी महाराज करके पहिछे सात सूत्रोंके समुदाय करके पांच भाव कहे गये हैं। द्वितीय अध्यायके पदिछे मुत्रद्वारा निरुक्तिपूर्वक छक्षणसे पांच भावोंको कहा गया है। दूसरे सूत्रमे संज्या निरूपण करनेसे पांच भावोंका कथन किया है । तथा द्वितीय अध्यापके तीसरे, चौथे, पांचवे, छहे, सातवे सूत्रमें उन पांचा भावाका प्रभेद दिखला देनेसे निरूपण किया गया है।

तत्र तेषां सक्षणतो निरूपणार्थमिद्मायं सूत्रश्चपळक्ष्यते ।

अब छक्षण, संख्या, और प्रभेद उन तीनों प्ररूपणोंमें प्रथम उन मावोंका छक्षणक्रपसे कथन करनेके छिये दितीय अध्यायके आदिमें होनेवाला सूत्र श्री उमास्वामी महाराज करके उपलक्षणपूर्वक कहा जाता है।

औपशमिकक्षायिको भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मोदयिकपारिणामिको च॥१॥

कर्मों ते उपशमसे होनेवाला औपशमिकभाव और कर्मोंका क्षय होनेपर अनन्तकालतकके लिये सम्भव जानेवाला क्षायिकभाव तथा उपशम, क्षय, दोनों या उदय मिलाकर तीनों अवस्थावोंका मिश्रण होजानेपर उपजरहा क्षायोपशामिकभाव एवं कर्मोदयसे सम्पाद औदायिकभाव और उदय आदि की नहीं अपेक्षा रखनेवाले पारिणामिकभाव ये पांच भाव जीवके तदालमक स्वस्वरूप तत्त्व हैं। अर्थात्—मानव शरीरके जैसे दो हाथ दो पांव नितम्ब, पीठ, उरःस्थल, शिर ये आठ अंग निजतत्त्व हैं, अथवा वृक्षके स्कंध, शाखा, पुष्प, पत्र, फल ये पांच तदालमभूत तत्त्व हैं, उसी प्रकार औपशमिक आदिक पांच भाव जीवके स्व-आलमभूत निजतत्त्व हैं।

अत्रोपशमिकादिशन्दनिरुक्तित एवौपशमिकादिभावनां लक्षणग्रुपश्चितं तस्यास्तदन्य-भिचारात् । तथा-हि---

यहां सूत्रमें कहे गये औपशमिक, क्षायिक आदि शहोंकी प्रकृतिप्रत्यय द्वारा निरुक्ति करदेनेसे ही औपशमिक, क्षायिक आदि भावोंका लक्षण ठीक दिखला दिया गया है। क्योंकि उस निरुक्तिका उनके निर्देश अनुमार लक्षण करके व्यभिचार नहीं आता है। जहां शद्धनिरुक्तिका लक्षणके साथ व्यभिचार नहीं आता होय वहां ही पारिभाषिक लक्षण कण्लोक्त किया जाता है। अन्यन्न नहीं। औपशमिक आदिक शद्दोंकी लक्षण गर्भित निरुक्तिको व्वयं प्रन्थकार वार्त्तिको दारा प्रसिद्ध कर दिखाने है। भावोंके ये पांचों नाम अन्वर्थ हैं।

अनुद्भूतस्वसामार्थ्यवृत्तितोपशमो मतः । कर्भणां पुंसि तोयादादधःप्रापितपङ्कवत् ॥ २ ॥

आमार्मे कर्मोका अपनी सामर्थको प्रकट नहीं करते हुये यों ही सत्तारूप वर्तते रहना उपशम माना गया है जैसे कि जल, वक्खर, आदिमें कतक,पल, दूध आदिके सम्बन्धसे नीचे प्रदेशों कीच प्राप्त करा दी जाती है। अर्थात् —योग और कषायोंके वश हो रहा आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मोका बन्ध करता है। आबाधाकाल और अचल आवलितक कोई भी कर्मफल देनेके लिये अभिगुत्व नहीं होता है। स्वयोग्य दव्य, क्षेत्र, काल, भावके नहीं मिलनेपर भी कर्म उदयमें नहीं आते है। यदि उनकी स्थिति पूरी होगई होय तो बिना ही फल दिये हुये भले ही खिरजाय। एक ही ममय बाधे हुये अनन्त परमाणु पिण्ड हो रहे कर्मोमेंसे आवाधा काल पीछे कुछ कर्मोके उदयावली लोनमें प्रविष्ट हो चुकनेपर भी उन्हीं कर्मोमेंसे गुणहानि क्रम अनुसार जिन कर्मोका उदय चिर भविष्यकालमें आनेवाला है तबतक पूर्व समयमें उनका भी उपशम बना रहता है। अन्तरकरण और सदवस्था रूप ये उपशमके दो भेद है। गुणको विधातनेवाल कर्मोको कुछ पहिले समर्योमें उदय प्राप्त करहेना और कुछ कर्मोको उन्कर्षण द्वारा पीछे समयोंमें उदय योग्य बनालेना, इस अनुहि

पूर्वक कार्योपयोगी आर्मीय परिणामों अप्रयन्ति अन्तर्महूर्त्त कालतकके लिये कमों के उदयको टालदेका अन्तरकरण उपराम कहा जाता है और बांधेहुये कमों की फलप्राप्तितक यों ही सत्तामें उनका पढ़े रहना सदक्था उपराम है। उपराम करने के लिये भी आत्माको चला कर प्रयन्त करना पड़ता है, जिससे कि उदीरणाका कारण उपस्थित हो कर कर्म उदयमें नहीं आसके। जलमें पढ़ी हुई फिटकिरीको कीचके दबाने के लिये सतत उद्यत रहना पड़ता है। तभी तो चाहे जब जलमें कीच भुलने नहीं पाती है। तीब वायुके झकोरों द्वारा या जलपात्रके उथल पुथल कर देनेसे यदि फिटकिरीको उद्यमको व्यर्थ करिया जाय तो जलमें कीचकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। उसी प्रकार आत्मामें भी तीब उदीरणाके कारण मिल जानेपर आत्माका उपरामार्थ किया गया प्रयन्त व्यर्थ होकर कर्मोकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। जबतक कर्मोकी शक्त उद्भूत नहीं हुई है तबतक उपराम माना जाता है। औषिवयों द्वारा रोगोंका प्रकट नहीं होना प्रसिद्ध है। कर्मोका उपराम आत्माकी विद्युद्धिकर परिणाम माना गया है कीचका दबा रहना जलकी स्वच्छता ही तो है।

तेषामात्यंतिकी हानिः क्षयस्तदुभयात्मकः। क्षयोपराम उद्गीतः क्षीणाक्षीणबस्तवतः॥ ३॥

उन प्रतिपक्षी कर्मों की अत्यन्त कालतक के लिये हानि हो जान। क्षय माना गया है, जैसे कि दवी कीचवाले पानी को दूसरे स्वच्छ पात्रेमें बुढेल लेनेपर कीच का अत्यन्ताभाव हो जाता है । कर्मों की अनन्तकालतक के लिये हानि हो जानेपर हुआ आत्माका सुविशुद्ध परिणाम ही क्षय पडता है । जैनों के यहा तुच्छ अभाव कोई पदार्थ नहीं माना गया है । रोगके उपशमसे और रोगके क्षयसे हो जानेवाली आत्माकी विशुद्धिमें भारी अन्तर हैं । तथा क्षय और उपशम उन दोनों का तदानक हो रहा परिणाम तो कर्मों की कुछ क्षीण और कुछ अक्षीण सामर्थ्य हो जानेसे क्षयोपशम भाव मिश्र कहा गया है । सर्वधाति प्रकृतियों का उदयाभावक्य क्षय और उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम तथा प्रतिपक्षी कर्मों की गुणको एक देशसे घातनेवाली देशचाति प्रकृतियों का उदय होनेपर क्षयोपशम परिणाम होता है, जैसे कि कोदों या भागपत्तीको विशेष प्रकार द्वारा धोनेसे उनकी मद (नशा) उत्पादक शक्तियां क्षीण अक्षीण हो जाती है। यहा क्षयोपशममें पडे हुये क्षयका अर्थ अत्यन्त निवृत्ति नहीं है। किन्तु उपशम शद्धका साहचर्य होनेसे क्षयका अर्थ फल नहीं देकर कर्मों का प्रदेशोदय होजाना स्वरूप उदयाभाव है।

उदयः फलकारित्वं द्रव्यादिमत्ययद्वयात् । द्रव्यात्मलाभहेतुः स्थात परिणामोनपेक्षिणः ॥ ४ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन बहिरंग और अन्तरंग दोनों निमित्त कारणोंसे विपाकमें प्राप्त हो रहे कमीका फल देना रूप कार्य करना उदय है। अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, कालको बहिरंग कारण मानकर और भावको अन्तरंग निमित्त मानकर जो कमींके फलकी प्राप्ति होना है, वह उदय है। जैसे कि इन्य, क्षेत्र, आदिका प्रसंग मिल जानेपर आम्र बीज या धान्य बीजसे फल प्राप्ति हो जाती है, यावत् कमींमे इन्य, क्षेत्र, काल, भावोंको निमित्त माना गया है। बीजके विना इक्ष नहीं होता है। योग्य खेतके विना नंगे पत्थरपर आम्र, गेहूं आदिके पेड उगते नहीं है। उचित अवसरके विना अनियत ऋतुओं में इक्ष, फल, फूल नहीं उपजते है। बीज या शाखाओंका उपयोगी परिणाम हुये विना इक्ष, फल, फूल नहीं आते हैं। अध्ययन, अर्थोपार्जन, काम पुरुषार्थ, देवार्चन, मोक्ष, इन सन कमोंके लिये इन्य आदि चतुष्ट्य आकांक्षणीय है। इसी प्रकार कमोंके फल प्राप्त करानेमें भी इन्य आदि चारों कारण आवश्यक है। तथा जिसका हेतु केवल द्रव्यका आत्मलाम ही है, वह अन्य किसीकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले पदार्थका भाव तो परिणाम कहा जायगा। अर्थात्—अनादिकालीन द्रन्यका आत्मलाम हो रहा ही जिसका हेतु है, जिसके अन्य कोई कमोंके उदय उपश्चम आदिक निमित्त नहीं है, वह इस प्रकरणों परिणाम कहा जाता है।

एतत्प्रयोजना भावाः सर्वोपशमिकादयः । इत्योमशमिकादीनां शब्दानामुख्वर्णिता ॥ ५ ॥ निरुक्तिरर्थसामर्थ्याद्ज्ञातुमव्यभिचारिणी । ततोन्यत्राप्रवृत्तत्वात् ज्ञानचारित्रशब्दवत् ॥ ६ ॥

जिन सभी आँपरामिक क्षायिक भावों के पूर्वोक्त उपराम, क्षय, क्षयोपराम, उदय, परिणाम ये भाव प्रयोजन हैं, वे भाव औपरामिक आदिक है। इस प्रकार "तदस्य प्रयोजनं इस अर्थमे ठम् प्रत्यय कर औपरामिक आदि शब्दोंकी व्याकरण शास्त्र अनुसार निरुक्ति कह दी गयी है। शब्द निष्ठ अर्थकी सामध्येस जाननेके लिये निरुक्तिमें कोई व्यभिचार दोप नहीं आता है। क्योंकि धाद्व, प्रकृति, प्रत्यय, इनके अनुसार बने हुये उस शब्दके यौरीक अर्थसे अनिरक्त अन्य अर्थोंमें वे शब्द नहीं प्रवर्तते हैं। जैसे कि पहिले सूत्रमें कहे गये ज्ञान और चारित्र शब्दकी निरुक्ति कर देनेसे ही अन्यभिचारी अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हो जाता है। हां, सम्यग्दरीनका शद्वनिरुक्ति हारा अर्थ करनेके लिये व्यास सूत्र "तत्वार्थत्रद्वानं सम्यग्दरीनं " यहा है और सम्याद्वान, सम्यक्ष्यारित्रका निरुक्तियोंसे ही व्यास सूत्र "तत्वार्थत्रद्वानं सम्यग्दरीनं " यहा है और सम्याद्वान, सम्यक्ष्यारित्रका निरुक्तियोंसे ही क्या सूत्र "तत्वार्थत्रद्वानं सम्यग्दरीनं " यहा है और सम्याद्वान, सम्यक्ष्यारित्रका निरुक्तियोंसे ही श्रा स्वाप्त कर्य करते फिरें। बहुभाग यौरीक अर्थोंसे ही शद्वो हारा बाध्यार्थकी सिद्धि कर ली जाती है। अहा निरुक्तिका व्यभिचार होता है, बहा गो, व्याघ्र, बुश्चल, आदि शद्वोकी यौगिक नहीं मानकर करित सम्य किया जाता है। अतः उपराम. अनेजनमस्य इत्यादि प्रकारसे निरुक्ति कर औपरामिक करित सम्यक्ति सामा करित सम्यक्ति समझ किया जाता है। अतः उपराम. अनेजनमस्य इत्यादि प्रकारसे निरुक्ति कर अपरामिक करित समझ किया जाता है। अतः उपराम. अनेजनमस्य इत्यादि प्रकारसे निरुक्ति कर अपरामिक

आदि शद्वोंको अन्वर्थ साध लेना चाहिये। चुरादिगणकी " मिश्र सम्पर्के" धातुसे अच् प्रत्यय कर मिश्र शद्वको बना लेना चाहिये। द्विगेक शद्वसे लक्षणा द्वारा दो रक्तारवाला जैसे अमर शद्व कह दिया जाता है, वैसे मिश्र शद्व द्वारा क्षायोपशमिक शद्वकी उपस्थिति करते हुये क्षयोपशम शद्वसे ठञ् प्रत्यय कर क्षायोपशमिक शद्वकी निरुक्ति साध लेनी चाहिये।

प्रागोपशमिकम्योक्तिर्भव्यस्यानादिसंसृतौ । वर्तमानस्य सम्यक्त्वप्रहणे तस्य संभवात् ॥ ७ ॥

सभी संसारी जीवोमें साधारण रूपसे पाये जाते हैं, अतः औदियक और पारिणामिकका मूक्ष्मे पहिले प्रहण होना चाहिये, ऐसी आशंकाकी सम्भावना होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी प्रथम ही समाधान कर देते है कि यह प्रन्थ मोक्षकी शिक्षा देनेवाला मोक्षशास्त्र है। मोक्षका प्रधान कारण सम्यग्दर्शन है, अनादिकालके संसारमे परिश्रमण कर वर्न रहे भव्य जीवके आदिम सम्यक्त प्रहण करनेपर मोक्षोपयोगी सम्पूर्ण भावोंके प्रथम उस औपशामिक सम्यक्वपरिणामका होना सम्भवता है। अतः आदिम सम्यक्वकी अपश्चा सम्पूर्ण भावोंमें पहिले औपशमिकका कथन सूत्रकारने किया है।

स्तोकत्वात्सर्वभावेभ्यः स्तोककालत्वतोपि वा । रोषेभ्यः श्वायिकादिभ्यः कथंचित्र विरुध्यते ॥ ८ ॥ ततस्तु श्वायिकस्योक्तिरमंस्येयगुणत्वतः । भव्यजीवस्वभावत्वस्यापनार्थत्वतोपि च ॥ ९ ॥ श्वायोपराभिकस्यातो या संस्वेयगुणत्वतः । युक्तास्ति तद्द्वयात्मत्वाद्भव्येत्तरसमत्वतः ॥ १० ॥ उक्तिरौदयिकस्यातस्तेन जीवाववोधतः । पारिणाभिकभावस्य ततोंते सर्वनृस्थितेः ॥ ११ ॥

दूसरी बात यह है कि गुणवान् पदार्थीका अल्पपना भी लोकमें आदर प्राप्तिका हेतु है। आदरणीय पदार्थका सबसे पिहले उच्चारण हो जाता है। क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि सम्पूर्ण भावोंसे औपशमिकभाव अल्पन्प हैं। अथवा क्षायिक आदि भावोंसे युक्त हो रहे जीवोंकी अपेक्षा औपशमिक भावोंको धारनेवाले जीव असं न्यातों भाग या अनन्तवे भाग पाये जा रहं, थोडे है। कवित्, कदाचित् ही पाये जांय ऐसे पदार्थ अञ्चतागार (अजायवचर) में प्रथम शोभा स्थानपर विराजमान

कर दिये जाते है। अथवा तीसरी बात यह भी है कि रोष बच रहे श्लायिक, श्लायोपशमिक आदि चार भावोंसे औपशमिक भावोंका काल थोड़ा है। बहुत कालतक (निहांक होकर) ठहरनेवाले पदार्थीसे थोडी देर ठहरनेवाले (लजाल) पदार्थ पिन्ले नाम पा जाते हैं। इस कारणसे भी चार भावोंमे पहिले औपरामिकभावका कथन करना कैसे भी विरोधकी प्राप्त नहीं होता है। अर्थात--उपशम सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त है । अन्तर्मुहूर्त्तमे असंख्यात समय होते है । उतने समयोंमें होनेवाले चारों गतियोंके उपरामसम्यग्दछि जीव यदि एकत्रित कर लिये जांय तो पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण इतने असंख्याते जीव उपशम सम्यग्दृष्टि पाये जायेंगे । किन्त उपशम-सम्यरदृष्टियोंसे आवलीका असंख्यातवां भागरूप असंख्यातसे गुणे हुये क्षायिकसम्यरदृष्टि जीव बहुत है । क्योंकि संसारमे स्थितिकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दर्शनका काल अन्तर्महर्त्तसहित आठ वर्ष कमनी दो कोटि पूर्वसे अधिक तेतीस सागर है। अतः असंत्यातगुणे अपने कालमें चारो र तियों के शायिक-सम्बद्धि असंख्यात गणे है । तथा क्षायिकभाववाले जीवोपे क्षायोपयमिक भाववाले जीव असंख्यात-गणे है । जीवद्रव्यों भी संख्या गिननेकी अपेक्षा उक्त व्यवस्था है । विश्वादिके भावोंकी गिनती करने पर तो क्षायोपर्शामकभावोंने क्षायिकभाव ही अनन्त गुणे है । औदयिक, पारिणामिक भाववाले तो इनमे अनन्त गुणे है । अनन्त निगोदिया जीबोंके कुमितज्ञान, कुश्रुतज्ञान, अचक्षुदर्शन, लब्धियां, ये भाव क्षायोपरामिक है । इस अपेक्षामे विचारनेपर तो क्षायोपरामिक और औदायिक भाववालोंकी संख्या समान है। जीवत्व, अस्तित्व, नित्यत्व, आदि कुछ पारिणामिक भावोको सिद्ध परमात्माओमे भी स्वीकार कर हेनेपर औदायिक भावतालोंने पारिणामिक भावतान जीवोकी मंख्या बढ जाती है। अत कारिकाओंका यह अभिप्राय है कि रोष भागोसे अन्य और अन्यकाल स्थितिवाला होनेसे औपरामि-कका सबसे प्रथम कथन हैं। और उस औपशमिककी अपना अमंख्यात गुणा होनेसे क्षायिकभावका तो उसके पश्चात कथन है। एक बात यह और भी है कि पाच माबोमें औपशमिक और श्वायिक-भाव ये दो जातिके भाव तो भव्य जीयोंके ही स्वभाव है। अभव्य जीवोंमे कथमपि नहीं पाये जाते हैं। इस बातको प्रसिद्ध करना रूप प्रयोजन साधनेके लिये भी औपशमिकके पीछे छगे हाथ क्षायि-कका कथन है। तथा इसके पीछे इन क्षायिकींसे असंख्यात गुणा होनेसे क्षायोपशमिकका जो सूत्र-कारने ५थन किया है वह युक्त है । उन औपशमिक, क्षायिक दोनों भावींका सम्मे न आसक होनेसे भी उस क्षायं।परामिकका झट उनके पीछे कथन करना समुचित है । भन्य और अभन्य जीवोंमे श्वायोपशार्मक भाव समानरूपमे निवास करते है । इस कारण बाये जानेवाले दो भावोके पीछे शीघ्र भन्य, अभन्य दोनोंमें पाये जानेवाले क्षायोपशमिक भावका कथन करना अनिवार्य हो जाता है। तथा इन तीनके पश्चात् औदियक भावका कथन करना आवश्यक पड जाता है। क्योंकि औदयिकभावोमें गिनायी गयी गतिस अवातिकर्मोदयजनित सभी केष भार्नीका प्रहण हो जाता है। अतः मनुष्यगति, तिर्यगगति, शरीरचेष्टा, उच्चारण, नाडी फडकना,

श्वासे चलना, उष्णस्पर्श, लावण्य, क्रांध, लेख्या, आदि उन औदियक मार्वोसे जीवका परिक्रान हो जाता है, या करा दिया जाता है। उन चारोंके अन्तमें पुनः पारिणामिक भावका सूत्रकारने उपादान किया है। क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य आदि मंसारी जीवों और मुक्त जीवोंमें भी पारिणामिक भाव शिव हो रहे है। चैतन्य, जीवल, द्रव्यत्व, अस्तित्व आदि पारिणामिक मार्वोसे भी जीवका ज्ञान होता है। अतः पहिला हेनु भी यहां कथित लागू हो जाता है।

न चैषां द्वन्द्वनिदेशः सर्वेषां सुरिणा कृतः । क्षायोपशमिकस्यैव मिश्रस्य प्रतिपत्तये ॥ १२ ॥ नानर्थकश्च शद्धोसौ मध्ये सूत्रस्य लक्ष्यते । नाष्यंते द्यादिसंयोगजन्मभावोपसंत्रहात् ॥ १३ ॥ क्षायोपशमिकं चांते नोक्तं मध्येत्र युज्यते । प्रनथस्य गौरवाभावादन्यथा तत्प्रसंगतः ॥ १४ ॥ निरवद्यमतः सूत्रं भावपंचकलक्षणम् । प्रख्यापयति निःशेषदुरारेकाविवेकतः ॥ १५ ॥

यहां किसीका आरेका है कि इस मूत्रमे ' औपरामिकक्षायिको मिश्रः—औदयिकपारिणामिको '' यो पदोंके दुकड़े नहीं कहकर '' चार्थे इन्ह '' इस सूत्र करके पांचों पदोका इन्ह करते हुये श्री उमास्वामी महाराजको आपरामिकक्षायिकमिश्रादियकपारिणामिका इस प्रकार छघुनिर्देश करना, चाहिये था। यों कहनेसे दो बार च शह नहीं करना पडता है। इसके उत्तरमे श्री विद्यानन्द स्वामी कहते है कि औपरामिक और क्षायिक इन दो भावोंसे आतिरिक्त अन्य भावके हाथ मिश्रपना न बन बैठे, किन्तु क्षय और उपरामका ही मिश्र होकर क्षायोपरामिक बने इसकी प्रतिपत्तिके छिये श्री उमास्वामी आचार्यने इन सब पांचों पदोंका एक साथ इन्ह्रनिर्देश नहीं किया है। अतः एव सूत्रके मध्यमे पडा हुआ वह च शह भी व्यर्थ नहीं दीखता है। क्योंकि च शहके होते संते ही मिश्र शह करके पूर्वमें कहे गये क्षय और उपरामका अनुकर्षण हो जाता है। अन्तमें घडा हुआ दूसरा च शह भी व्यर्थ नहीं है। क्योंकि उस च का अर्थ कण्ठोक्त नहीं कहे गये इनर भावोंका समुचय करना है। जिससे कि दो, तीन, आदि भावोंके संयोगसे उत्पन्न हुये सान्विपातिक भावोंका यथायोग्य संग्रह हो जाता है। छन्नीस, छन्नीस, इक्तालीस, इत्यादिक दो आदिके संयोगसे होनेवाले भाव ऋषि आन्नाय अनुसार माने गये है। जैसे कि मनुष्यगति कर्मके उदयसे मनुष्य होता हुआ जीवत्व परिणामको

धारनेवाला मनुष्य जीव औदियक पारिणामिक दिसंयोगीभाव है या क्षायिक सम्यग्दिष्ट, श्रुतज्ञानी, यह दि—संयोगी भाव क्षायिक क्षायोपशिमकका सिन्पात है। अथवा उपशांतमोह, क्षायिक सम्यग्दिष्ट, मनुष्य यह त्रिसंयोगी औपशिमक, क्षायिक, औदियेक, इन तीन भावोके समुदायसे जन्य है। तथा क्षीण-कषाय, मितंज्ञानी, भव्य, मनुष्य, यह चतुःसंयोगी भाव क्षायिक, क्षायोपशिमक, पारिणामिक, औदियक, इन चार भावोंके समुदायसे उपत्र हुआ है। इसी प्रकार पांचवां क्षायिक सम्यग्दिष्ट, उपशांतमोह, पंचेन्द्रिय, मनुष्य, जीव, यह पंच संयोगभाव क्षायिक, औपशिमक, क्षायोपशिमक, औदियक, पारिणामिक पांचों भावोके सिन्नपातसे उपजा है। इन सब सम्पूर्ण भावोंका च शद्वसे संप्रह कर छिया जाता है। पिहले च शद्वतों नहीं कह कर क्षायोपशिमक शद्वके कह देनेसे प्रन्थका गौरव हो जाता है। मिश्रश्च इन तीन वर्णोके स्थानपर क्षायोपशिमक ये छह सस्वर वर्ण कहने पडते है। अतः प्रथके गौरव दोषका अभाव हो जानेसे औपशिमक और क्षायिकके अन्तमें और इस सूत्रके मध्यमें क्षायोपशिमक शद्वको कंठोक्त करनेपर उस प्रन्थ गौरव दोषका प्रसंग बना रहेगा। अतः यह सूत्र पाचों भावोके छक्षणको निर्दोष होकर बढिया बखान रहा है। क्योंकि समस्त खोटी शंकाओका प्रथगभाव कर दिया जाता है। अथवा सम्पूर्ण खोटी शंकाओको विवेचनका अवसर ही नहीं रह पाता है।

अथौपशमिकादिभेदसंख्याख्यापनार्थे द्वितीयं सूत्रम्--

अब औपशमिक, क्षायिक, आदि भावोक्त भेदोक्ती संख्याको प्रसिद्ध करानेके लिये श्री उमा-स्वामी महाराज दूसरे सूत्रको कहते है।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २॥

पूर्व उक्त औपरामिक आदि भागोक यथाक्रमसे दो, नी, अठारह, इक्कीस, और तीन भेद है। स्वपदार्थप्रधान समास करनेपर और अर्थके वरासे पूर्वसूत्रोक्त प्रथमान्त पदोंको पष्टी विभक्ति अन्तकर देनेसे अर्थ हो जाता है। किन्तु "न कर्मधारयः स्थानमत्वर्थीयो बहुक्रीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः" इस नियम अनुसार बहुन्नीहि समासको प्रथम अवसर मिलनेपर तो दो भेदवाला औपरामिक है। नी भेद बाला क्षायिक है, इत्यादि यह अर्थ सुन्दर है। अन्यपदार्थप्रधान समास बृत्ति करनेपर तो प्रथमान्त पदोंक साथ ही इस सूत्रका सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

द्यादीनां भेदशद्वेन वृत्तिरन्यपदार्थिका । द्वंद्वभाजां भवेदत्र स्वाभिषेतार्थसिद्धितः ॥ १॥

यहां हो च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्व त्रयश्व " द्विनवाष्टादशौर्विंशतित्रयः " इस प्रकार द्वन्द्व समास वृत्तिको धारनेवाछे द्वि नव आदि शब्दोंकी भेद शब्दके साथ अन्य पदार्थको प्रधान सम-

हानेवाली बहुब्रीहि समासन्नत्ति हो जाय तभी निजको अभीष्ट हो रहे अर्थकी सिद्धि हो सकेगी। अर्थात् पूर्वस्त्रोक्त प्रथमान्त पदोंके साथ इस सूत्रके प्रथमान्त " भेदा " पदका सामानाधिकरण्य बनकर क्रम अनुसार भेदसंख्या गिना दी जाती है।

प्रत्येकं भेदशद्वस्य समाप्तिर्भुजिवन्मता । यथाक्रममिति रूयातेष्यक्रमस्य निराक्रिया ॥ २ ॥

जैसे ग्राममें अधिक द्पित कींच कूडा इकडा होनेपर " ग्रामीणं शतेन दण्ड्यन्तां " इस राजा-ज्ञांक अनुसार ग्रामनिवासी सम्पूर्ण मनुष्योपर मिलाकर सो रुपयेका दण्ड किया गया है। एक एक मनुष्यको सो सो रुपयेसे दण्डित नहीं किया गया है, तथा " देवदत्तजिनदत्तागुरुदत्ता भोज्यन्तां " यहां एक व्यक्तिकी उदर तृभि कहाने योग्य भोजनको तीनोमे बांट दो यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। किन्तु तीनोको न्यारे न्यारे तृतिपूर्वक भरपेट भोजन कराना अर्थ अभीष्ट हो रहा है। अतः भोजनके समान यहा सूत्रमे द्वि, नव, आदि शद्धोंमेंसे प्रत्येक संस्थ्येय वाच ह शब्दके साथ भेद शब्दकी परिपूर्ण-रूपसे प्राप्ति हो जाना मानी गयी है। " इन्दादों इन्द्रनते च श्रूयमाणेपदं प्रत्येकमिसम्बध्यते " इस नियम अनुसार भेद शब्द सबके साथ लग जाता है। तथा इस सूत्रमें " यथाक्रमम् " इस प्रकार स्पष्ट कथन करनेपर तो अक्रमका निराकरण भी हो जाता है। अर्थात्—पूर्वमें उच्चारे गये औपशमि-कके दो भेद आदि क्रम अनुसार समझे जायेंगे। व्यतिक्रमसे औपशमिकके नो या अठारह भेद अथवा क्षायिकके तीन या इक्कीस भेद नहीं समझे जा सकेगे।

तथा च सत्येतदुक्तं भवति औपश्चिमको भावो द्विभेदः शायिको नवभेदः मिश्रोष्टादशभेदः औदियक एकविंशतिभेदः पारिणामिकस्त्रिभेद इति ॥

एंत्र तिस प्रकार द्वित और प्रत्येक के साथ भेद शहू की समाप्ति कर देने पर तथा यथाक्रम कह देने पर सूत्रकार द्वारा यह मन्तन्य कहा जा चुका होजाता है कि औपशमिक भाव दो भेदवाल है, नौ भेदवाला क्षायिक है, अडारह भेदों को धारनेवाला मिश्रभाव है, इक्कीस भेदों को लिये हुवे औदियक भाव है, तीन भेद युक्त पारिणामिक है। यहांतक सूत्रका सन्दर्भित अर्थ श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा संगति प्राप्त कर दिया है।

तत्रीपशिवकभेदद्वयमचिख्यापयिषया तृतीयसूत्रमाह ।

उन द्वितीय अभ्यायके सात सूत्रोंमेंसे अव औपशामिक भावके दोनो मेदोंको अच्छा प्रसिद्ध करानेकी अभिलापासे श्री उमास्वामी महाराज अव तीयरे सूत्रको रपष्ट कहते हैं ।

सम्यक्तचारित्रे ॥ ३ ॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ४ मिध्यात्व ५ सम्याङ्मध्यात्व ६ सम्यक्त ७ इन पांच छह या सातों प्रकृतियोंका उपराम होजानेपर औपरामिक सम्यक्त्व भाव उपजता है और चारित्र मोहनीय कर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंका उपराम कर देनेपर उपराम चारित्र होता है। औपरामिक भावके ये दो भेद है। एक उपराम सम्यक्त्व दूसरा उपरामचारित्र।

औपश्रमिकस्य द्वी भेदाबित्यभिसंबंधः सामर्थ्यात् । तत्र दर्शनमोहस्योपश्रमादौपश्रमिक-सम्यक्त्वं, चारित्रमोहोपश्रमादौपश्रमिकचारित्रं ।

स्त्रमें यद्यपि " हो भेदो " ऐसा कहा नहीं है। तो भी यथाक्रमके अन्ययकी सामर्थ्यसे औपशिमक भावके ये दो भेद है यों उद्देश विधेयदलका दोनों ओरमे सम्बन्ध होजाता है। उन दोनों भेदोमें अनन्तानुबन्धी चार कपायोको साथ रखते हुये दर्शन मोहनीय कर्मके उपशम हो जानेसे औपशिमक सम्यक्ष्य होता है और स्वकीय पुरुपार्थजन्य परिणामोंद्वारा चारित्र मोहनीय कर्मका अन्तरकरण उपशम होजानेपर उपशम प्रयोजनवाला चारित्र प्रकट हो जाता है। प्रथमापशममम्यक्ष्यके लिए दर्शन मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका प्रशस्त उपशम और अनन्तानुबन्धी कपायोंका अप्रशस्त उपशम होता है। जहां विविक्षित पौद्रलिक प्रकृति उदय होने भोग्य नहीं होती हुई स्थिति, अनुभाग, शाक्तियोंके उदक्रिण, अपकर्पणके अयोग्य होकर संक्रमण होने योग्य भी नहीं होय, वहा उम्प्रकृतिका प्रशस्त उपशम माना जाता है, और जो प्रकृति उदय आने योग्य तो नहीं होय, किन्तु उमका स्थिति या अनुभाग घट वढ जाय अथवा संक्रमण आदि हो सके, वहां उम प्रकृतिका अप्रशस्त उपशम कहा जाता है। सर्वधाती अनन्तानुबन्धीकी चार प्रकृतियोंमे स्वस्थाचरण चारित्र और सम्यक्त्य इन दोनों प्रणोंके विचाननेकी शक्ति है।

दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य चोपशमः कथं कचिदात्मनि सिद्ध इति चेदुच्यते ।

यहां कोई पण्डित पूर्वपक्ष उठाता है कि किसी किसी आत्माम दर्शनमेहिनीयकर्म और चारित्र-मोहनीय कर्मका उपशम हो जाना किस प्रमाणसे किस प्रकार सिद्ध है / वताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य करके अनुमान प्रमाण द्वारा उपशमकी सिद्धि कही जाती है।

पुंसि सम्यक्तवचारित्रमोहस्योपशमः कचित्। शांतप्रसत्तिसंसिद्धेर्यथा पंकस्य वारिणि ॥ १ ॥

किसी एक विवादापन आत्मामें (पक्ष) सम्यक्त्वमोहनियकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम हो रहा है। (साध्य)। क्योंकि शान्तिको प्राप्त होकर होनेवाछी प्रसन्तताकी मेळे प्रकार सिद्धि हो रही है। (हेतु)। जैमे समल्जलमें मळके दव जानेपर कीचका उपशम हो रहा है। (अन्वयदृष्टान्त)। भावार्थ—रोग या दिस्तासे विर जानेपर चित्तमे व्याकुलता उपजती है। किन्तु उनके प्रात्पक्ष औपित्र मंत्रप्रयोग, धनप्राप्ति आदि कारणांसे रोग या दिस्ताका उपशम होते हुये।चित्त प्रसन्न हो जाता है। उसी

प्रकार मोहनीयकर्मके उदय होनेपर आत्मामें सम्यग्दर्शन और चारित्र नहीं हो पाते हैं। जलमें कीचके दबजाने समान उक्त कर्मीका उपशम हो जानेपर देव, शास्त्र, गुरु श्रद्धान या तत्त्वार्थश्रद्धान अधवा स्वानुभूतिस्वरूप सम्यग्दर्शन हो रहा प्रतीत हो जाता है। तथा भोगोंमें उपेक्षा, स्वरूपाचरण, व्रतधारण और बाहिरंग अन्तरंग सांसारिक किया निरोधरूप चारित्र हो रहा अनुभूत हो जाता है। इस प्रकार प्रकृत साध्यके साथ प्रकृत हेतुकी व्याप्तिको अपनी आत्मामें निर्णीत कर विवादप्राप्त पुरुपमें साध्य को साध लिया जाता है।

यथैव हि जलं सपंके कुतिश्वत्मसन्नता सा च साध्यमाना पंकस्योपश्चमे सित भवित नानुपश्चमे कालुष्यमतीतेः, नापि क्षये, शांतत्विवरोधात् । तथात्मिन सम्यक्त्वचारित्रलक्षणा प्रसन्नता सत्येव दर्शनचारित्रमोहस्योपश्चमे भवित, नानुपश्चमे, मिध्यात्वासंयमलक्षणकालुष्यो-पलब्धेः, । न क्षये, तस्याः शांतत्विवरोधादिति युक्तं पश्यामः ।

कारण कि जिस ही प्रकार कींचसे सहित हो रहे जलमें किसी भी कारणसे स्वच्छता हो जाती है और वह निर्मलता साध्य कोटिपर यदि लाई जाय तो कीचके उपराम (नीचे दव) हो जानेपर हो जाती है। र्काचके नहीं उपराम होनेपर तो जलकी प्रसन्नता नहीं साधी (बनाई) जा सकती है। क्योंकि कीचके घुल जानेपर तो जलमे मलमिश्रणरूप कलपताकी प्रतीति हो रही है। तथा कीचका समूळच्ळ क्षय हो जानेपर भी वह उपराशम हो जानेपर उपजनेवाळी प्रसन्तता नहीं संघपाती है। क्योंकि शांतपनेका विगेध होगा। अर्थात ---प्रतिपक्षका क्षय हो जानेपर क्षायिकभाव भले ही हो जाय, किंतु औपश्रमिकभाव नहीं हो सकता है। एक मनुष्यका धन सर्वथा निषट गया है। भविष्यकालमें भी धन आनेकी आशा नहीं है। दूसरे मनुष्यके पाम धन विद्यमान तो है किंत्र वर्तमानमें उस धनका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। सम्भवतः भविष्यमें उस धनका उपभोग किया जा सके, यहां पाईले मन्ष्यसे दूमरे पुरुष हे परिणामींमें महान् अंतर है। पहिल्मे शीणता है। दूसरेमे चित्तको शांति है। क्षय दशामें शांति होनेका विरोध है। तिस ही प्रकार किसी आत्मामे सम्यक्त स्वरूप और चारित्रस्वरूप प्रसन्नता हो रही है, वह दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्र मोहनीय पौद्र-लिक कर्मके उपशम होनेपर ही होती हैं। जबतक उन कर्मीका फल देनेकी सामर्थ्यका प्रकट नहीं होना रूप उपराम नहीं होगा. तबतक आत्मामे वह श्रद्धान और स्वात्मस्थितिकप प्रसन्नता नहीं प्रगटती है। कर्मीका उपशम नहीं होनेपर यानी उदय हो जानेपर तो मिध्यादर्शन और असंयमक्ष्य कलपपने [पाप] का सम्बेदन होता रहता है । दर्शनमोहनीय या चारित्र मोहनीयके क्षय होनेपर वह उपराम साध्य प्रसन्तता नहीं बन सकती है । क्योंकि उपराम प्रयोजनको धारनेवाली जीवकी प्रसन्ततामें शांतिका अनुभव है किंतु कमींका क्षय हो जानेपर उपजनेवाली जीवकी स्वच्छतामे शांतपनेका विरोध है। क्षायिक भावमें शांतिका अनुभव नहीं होता है। अतः इस उक्त कथनको हम युक्तियोसे लबालब पूर्ण हो रहा देख रहे हैं। कोई कोर कसर नहीं है।

कुतः पुनः प्रसन्नता तादशी प्रसिद्धात्मन इति चेदिमे ब्रूमहे ।

श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसी पंडितका प्रश्न है कि पूर्व में कहे गये अनुमानका हेतु भला पक्षमें कैसे वर्तता है? बताओ । पक्षमें हेतुके बर्तनेसे वह हेतु आसिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। अतः यहां पृष्टच्य है कि आत्मामे उस प्रकार शान्तिपूर्वक—होनेवाली प्रसन्तता पुनः किस प्रमाणसे प्रसिद्ध कर ली गयी है? जिससे कि हेतुकी सिद्धी होचुकी होय, इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर प्रतिवादिभयंकर हम ये विद्यानन्द स्वामी उसके समाधानको कहते है। अभिमानी दूसरे कुतर्कीका सकटाक्ष प्रश्न होनेपर विद्वान् वादी द्वारा उत्तर देते समय आत्मागीरवकी पक्षा करते हुये अपनी आत्माको पूज्य समझकर बहु वचनान्त इदं शद्धके साथ अस्मद् शद्धका सामानाधिकरण्य कर दिया जाता है तभी निरिममान होता हुआ प्रतिवादी उत्तर सुननेके लिये सादर आभिमुख होकर वादिके गाम्भीर्य और अपनी तुच्छवृत्तिका अनुभव कर पाता है। अन्यथा नहीं। जैसे माता और पुत्रके बचन व्यवहार या दाता और अतिथिका वाक्प्रवृत्तिका अनुपम प्रेम या सभाक्ते आदरके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बध है, उसी प्रकार प्रवक्ताके सगीरव सारोप वक्तव्यका प्रतिपादकी प्रबुद्धि होनेके साथ अचिन्य कार्यकारणभाव नियत है। इसमे विनय, शिष्टाचार, नीचवृत्ति इन गुणोकी क्षिति होजानेकी सम्भावना नहीं है। हम क्या करें परिणामिपरिणाम सम्बध अटल है।

यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्स कुतिश्चित् प्रशाम्यति । तत्र तोये यथा पंकः कतकादिनिमित्ततः ॥ २ ॥

जो पदार्थ जिस किसी पारणामके कलुपता यानी साकुलता (गंदलापन) का हेतु होगा, वह किसी न किसी अनिर्वचनीय विरोधी कारणसे वहां उपशान्त (दव) होजाता है, जैसे कि कीच, धुले हुये उस मैले जलमे कतक फल, निर्मली, फिटकिरी, आदिक निमित्त कारणोंसे घुला हुआ कीचड मले प्रकार नीचे दवकर बैठ जाता है इस प्रकार अन्वयन्याप्तिपूर्वक हुये, अनुमानद्वारा सम्यक्त्व या चारित्रके प्रतिपक्षी कर्मीकी निजशक्तिका व्यक्त न होना रूप उपशम साध दिया गया है।

न चाभव्यादिकालुष्यहेतुन। व्यभिचारिता । कुतिश्चित्कारण।त्तस्य प्रशमः साध्यते यथा ॥ ३ ॥ न च तत्प्रशमे किंचिदभव्यस्यास्ति कारणं । तद्भावे तस्य भव्यत्वप्रसंगादविपक्षता ॥ ४ ॥

यहां कोई उक्त व्याप्तिमे व्याभिचार दोपको उठाता है कि अभव्य अथवा दूर भव्य इस प्रकारके सर्वदा मिथ्यादृष्टि बने रहनेवाले जीवोंकी कलुफ्ताके कारणसे व्याभिचार हुआ। अर्थात्—

अनाचनन्त मिथ्यादृष्टि जीवोंकी कल्लपताके कारणभूत अनन्तानुबन्धी और दर्शनमोहनीय प्रकृतियोंका भी उपराम हो जाना चाहिये। कोई भी किचडेला जल होय, फिटिकिरी आदिके निमित्तसे उसकी कीचड दब ही जाती है। हेतुदल रह गया और साध्य दल नहीं रहा अतः व्याभिचार हुआ, अब आचार्य समाधान करते है कि यह तो दोप नहीं उठाना । जिस कारणसे कि हमने किसी न किसी प्रतिपक्ष कारणसे उस कलपताके हेतुका प्रशम होना साध्य कोटिमे रखा है. अनायनन्त कालतक मिथ्यादर्शनको धारनेवाले जीवोक्ते उन भन्यत्व, अवःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, काललिव आदिक निमित्तोंकी प्राप्ति ही नहीं हो पाती है। अभज्य जीवमे भव्यत्व परिणाम, करणत्रय, नहीं हैं। दूर भन्यको निमित्तोंकी प्राप्तिका अवसर हाथ नहीं लग पाता है। जिन भन्योंका भी संसार अवस्थान काल अर्द्ध पदल परिवर्तनसे अधिक अवशिष्ट है उनको भी आजतक कलपताके उपशामक निमित्तोंकी प्राप्ति नहीं हुई है। निमित्तप्राप्ति हो जानेपर कळपताके कारणोंका उपराम हो जानेको हमने व्याप्तिके पेटमें डाला है। अतः हेत्के नहीं ठहरनेपर साध्यका भी नहीं ठहरना यहां घटित हो जाता है। अतः व्यभिचार दोप नहीं आता है। कितनी ही भूमि, पोखर, सरीवर, पर्वत-कन्दराओं आदि अनेक स्थानोंपर किचरैले जल भरे हुये है। निमित्तकारणोंकी प्राप्तिका अवसर नहीं मिलनेसे वे सपङ्क ही बने रहते हैं । अतः प्रतिकृत कारणोकी प्राप्ति हो जानेपर कलपताका उपराम हो जाना हम साथ रहे है। अभन्य जीवके पास उन कल्लपताके हेतु हो रहे कर्मीके प्रशम करनेमें निमित्तभूत कोई कारण नहीं है। यदि अभन्यको भी उन कारणोंके सद्भावकी प्राप्ति मानी जायगी तब तो उसको भव्यपनेका प्रसंग हो जायगा। ऐसी दशामें वह अभव्य जीव तो प्रकृत व्याप्तिका विषक्ष नहीं ठहर सकता है अर्थात् अभव्यरूप विषक्षमें साध्यके विना हेत्रके ठहर जानेसे व्यभिचार दोष उपात्थत किया गया था ''विपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः '' यदि अभव्यके भी पांच या सात प्रकृतियोका उपराम होने लगे तब तो व्यभिचार स्थल माने गये अभव्यकी, विपक्षपना न होकर सपक्षता आ ही जाती है । अतः व्यभिचारदोष उठाना ही असंगत होजायगा ।

स्वयं संविद्यमाना वा सम्यक्त्वादिप्रसन्नता । सिद्धात्र साधयत्येव तन्भोहस्योपशांतताम् ॥ ५ ॥

अथवा कर्मों के उपशमको साधनेका सरल उपाय यह है किं वह सम्यग्दर्शन स्वरूप या उपशमचारित्र रूप इस ढंगकी प्रसन्नता स्वयं हमारी आत्मामे स्वसम्वेदन प्रत्यक्षद्वारा जानी जारही सिद्ध है, वही प्रसन्नता यहां किसी विविक्षित अत्मामे उस मोहनीय कर्मके उपशम होजानेको अनुमान-द्वारा सिद्ध कर ही देती है। भावार्थ—ज्वर, अर्जाणेदोप या मलके दूर होजानेपर आत्मामें जो प्रसन्नता अनुभूत होती है उसीके अनुसार दूरमोंमें भी दोषों उपशम होनेपर हुई प्रसन्नताका अनुमान कर लिया जाता है। वैसे ही तत्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन अथवा स्वात्मनिष्ठाच्य चारित्रका प्रतिपक्षी

कर्मीके उपशम होनेपर उपजनेशाले स्वसंबेदन कर अन्य जीवोमें भी दर्शन मोहनीय और चारित्र मोह-नीयके उपशमको साथ लिया जाता है।

ततो युक्तिमानौपश्चमिको भावो द्विभदतः।

तिस कारणसे सम्यक्त और चास्त्रि इन दो भेटोंने औपशमिकमात्र युक्तिपूर्ण होता हुआ समझा दिया गया है।

तथा क्षायिको नवभेदः।

तथा दूसरा क्षायिकभाव नौ भेदवाला है।

कथामिति मतिपादनार्थे चतुर्थे सूत्रमाह ।

बह क्षायिक भाव किस प्रकार नो भेदोंको घारण कर रहा है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज शिष्यको समीचीन प्रतिपत्ति करानेको लिये दितीय अध्यायमे चौथे सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं। उसको समाझिये।

ज्ञानदर्शनदानलाममोगोपमोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

ज्ञान १ दर्शन २ दान ३ लाभ ४ भोग ५ उपभोग ६ वीर्थ ७ और सम्यक्त्व ८ चारित्र ९ इस प्रकार थे क्षांथिकभावके नौ प्रकार है ।

च शद्धेन सम्यक्त्वचारित्रे समुचीयते । ज्ञानावरणक्षयात् क्षायिकज्ञानं केवलं, दर्शना-वरणक्षयात्केवळदर्शनं, दानान्तरायक्षयादभयदानं, लाभांतरायक्षयाल्लाभः, परमञ्जभपुद्गलादा-नलक्षणः पर्मादारिकशरीरिस्थितिहेतुः, भोगांतरायक्षयाद्भोगः, उपभोगांतरायक्षयादुपभोगः, वीर्यीतरायक्षयादनंतर्वार्ये, दर्शनमाहक्षयात्सम्यक्त्वं, चारित्रमोहक्षयाचारित्रमिति नवैते क्षायिकभावस्य भेदाः ।

च अन्ययके कई अयोंमेंने यहां प्रकरण अनुसार समुचय अर्थ लिया गया है। इस सूत्रमें कहें गंभ च शह करके पूर्वनृत्रमें कहें जा चुके सम्यक्त्य और चारित्रका समुचय (इकड़ा करना) किया जाता है। अतः सात और दो नौ भेद क्षापिक भावके हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थानके आदिमें झानावरण कर्मीका क्षय हो जानेसे क्षय इम प्रयोजनको वारनेवाला सर्वज्ञ मगवानके केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वारहमे गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरणका उदय विद्यमान है। उस समय अवशिष्ट वाती कर्मीको क्षय करनेवाली पर्यायशक्ति प्रकट हो जाती है। वह उत्तर क्षण यानी तेरहवें गुणस्थानके आदि समयमें कर्मीका नाश कर क्षायिकलिययोंको जन्म देती है। दर्शनावरण कर्मके आत्यन्तिक क्षयसे समयमें कर्मीका नाश कर क्षायिकलिययोंको जन्म देती है। दर्शनावरण कर्मके क्षयसे अनंत

प्राणियोंका अनुमह करनेवाला अभयदान भाव होता है ३ । लाभान्तरायके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक लाभ होता है, जिसका कि स्वकर्तव्य परमौदारिक शारीरकी स्थितिके कारणभूत परमञ्जूम सूक्ष्म अनन्त पद्मलोंका प्रहण करना है, अर्थात -- केवल आहारको छोड चुक्रे केवली मगवान्के शारीरिक सम्पत्तिके उपादान कारण असाधारण पद्गल वर्गणाओंकी प्राप्ति होते रहना क्षायिक लाभ है। बात यह है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय थे कर्म आत्माकी पर्यायोंका आवरण करनेवाले हैं। आत्मामें अनायनन्त जड़े हुये अन्वयी गुण हो रहे चेतना और वीर्थ इन दो गुणोंकी ये उपर्युक्त पर्याय है। अतः सूर्यप्रकाशमें गतार्थ हो रहे तारागणोंके प्रकाश समान केवळदर्शनका परिणमन भी युगपत केवळज्ञान आत्मक हो रहा है, जैसे कि सिद्ध अवस्था हो जानेपर एक वीर्य गुणकी शुद्ध एक अनन्तवीर्थ नामक पर्यायमे अनन्तदान, लाम, भोग, उपभोग इनका अन्तर्भाव या चित्र आत्मक परिणति हो जाती है। क्रोधी, मानी, शोकी, अरितप्रस्त संसारी जीवोंके भी एक चारित्र गुणकी चितकबरी विभाव परिणाति होती रहती है। एक ज्ञानकी अनेक विकल्पनाओंके समान एक गुणकी चित्रात्मक परिणतियां हो। जातीं है। अनन्त प्राणियों को अनुप्रह देना, शरीर बळाधायक पुद्रलोंका लाभ होना, पुष्पवृधि, सिंहासन आदिका भोगोपभाग होना ये तो सब आनुषंगिक फल हैं। सिद्ध अवस्थामे नहीं भी पाये जांय तो भी क्षायिक भावोंका अनुद्भुत चित्र परिणाम होना अनिवार्य है ४ । तथा भोगान्तराय कर्मोंके क्षासे भगवानके क्षायिक भोगनामक तत्त्व उपजता है ५ । परिपूर्ण उपभोगान्तरायके क्षयसे उपभोग भाव प्राप होता है ६ । वीर्यान्तरायके क्षयसे अनन्तवीर्य नामक पर्याय शक्ति उपजती है ७ । दर्शन मोहनीयके क्षयसे क्षायिक सम्यन्दर्शन ८ और चारित्र मोहनीयके क्षयंसे क्षायिक चारित्र बन जाता है ९ । यद्यपि चौथेसे सातवेतक किसी भी गुणस्थानमें क्षायिक सम्यादर्शन तथा बाग्हमेके आदिमें क्षायिक चारित्र अनन्तकालतकके लिये हो चुका है, फिर भी उक्त दो गुणोंमें अन्य घातिया कर्मी के उदयकी सहचरनासे कुछ प्रासंगिक अपरिपूर्णताये रहीं आती ह तथा उक्त दो गुणोंमें अघाति कर्मीके सम्बंधसे भी त्रुटियां उपज जाती हैं। अतः सम्यग्दर्शन और चारित्रकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें मानी गयी है। हां इन दो गुणोंके सिवाय शेष केवल ज्ञान, अनन्त वीर्य, सुख, आदि गुण जब व्यक्त उपजते हैं तमीसे उनकी परिपूर्ण अवस्था हो चुकी रहती है। उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद एक बार उपजकर पनः घटते बढते नहीं है । अगुरुल्यु गुणेंम अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हानि वृद्धियां होती हैं। उसके द्वारा अन्य तदायक गुणोंमें भी उत्पाद, व्यय, धीव्य, स्वरूप सत्त्व माना जाता है सर्वत्र छह गुण हानि और वृद्धियां होती रहें ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार अपने नियत संख्याबाले अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनेवाले वीर्य, सुख आदिसे समझ लेना । इस प्रकार थे नौ क्षायिक भावके भेद बता दिये गये हैं।

कुतः पुनर्ज्ञानावरणादीनां क्षयः सिद्ध इत्याह।

किसीका प्रश्न है कि ज्ञानाकरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, आदि कर्मीका क्षय मला किस कारणसे अथग किस प्रमाणसे सिद्ध किया जायगा ! बताओ, ऐभी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्त्रामी समाधानको कहते हैं।

आत्यंतिकः क्षयो ज्ञानदर्शनावरणस्य च । सांतरायप्रयंचस्यानंतशुद्धिप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

अन्तराय कर्मके भेद प्रभेदके किलारसे सहित होरहे ज्ञानावरण कर्भ और दर्शनावरण कर्मका आत्यन्तिक क्षय होरहा है। क्योंकि अनन्तान्त अविभाग प्रतिच्छेदोको धारनेवाली आत्मविद्युद्धिकी प्रमाणोद्वारा सिद्धी होरही है अर्थात्—आत्मामे अनन्त शुद्धिके प्रसिद्ध होजानेसे उसके प्रतिपक्षभूत ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोका कालद्वय संसर्गावाच्छित्र समूलचूलनाश होजाता है। वर्तमान कालमें भी इन कर्मोका एक अवयव भी शेष नहीं रहता है और भविष्य कालमें भी उक्त धातिया कर्मोका लवमात्र संसर्ग नहीं हो पाना है, जैसे किसी अचूक क्योंवेसे प्रतिपक्षो रोगका वर्तमान और भविष्य कालमें अंशमात्र भी शेष नहीं रहता है।

ज्ञानावरणस्य दर्शनावरणस्य च श्रद्धादर्शनमोद्दस्य चारित्रमोदस्य चांतरायपंचकसद्दित-स्यात्यंतः क्षयः कचिदस्ति अनंतशुद्धिपसिद्धेः ।

किसी विवाक्षित आत्मामे [पक्ष] पांच भेदवाले अन्तराय कर्मसे सहित हो रहे ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण कर्म तथा इस सूत्र या कारिकामे पडे हुये च राद्वसे प्रहण करिलेये गये दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म इनका अत्यन्त क्षय विद्यमान है। (सा.य)। अनन्तानन्तशुद्धिके अंशोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो जानेसे (हेतु) अर्थात्—इस अनुमानसे किसी तेरहणे गुणस्थानवर्ती आत्मामें या अयोगी गुणस्थानमें अथवा सिद्धप्रमेष्ठीमे घातियाकर्मोंका क्षय साथ दिया जाता है। क्षय किसी विवाक्षित समयमें प्रारम्भ होकर अनन्तानुष्टिक स्थिर रहता है। मृत्यु, ज्यंस, या नाशका एक ही अर्थ है। "सादिरनन्तो चंस"। तिन कर्मोमेंसे अनन्तानुबन्धी चार और दर्शन मोहनीय तीन इन सात प्रकृतियोंका क्षय तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व समयमें ही किसी चौथे, पांचेंबे, छटवें, या सातवें गुणस्थानमें हो चुकता है। करणत्रय विधानद्वारा अनन्तानुबन्धी कोच, मान, माया लोभोंको अप्रत्याख्याख्याख्याक्याक्यों सामर्थ्यमें अनिवृत्तिकरण कालके संस्थात्वें भागमें क्रमसे सिध्यात्व, सिश्र, सम्यक्त, प्रकृतियोंका क्षय कर दिया जाता है तथा चारित्रमोहनीय कर्मकी अप्रत्याख्याख्यावरण चार, सम्यक्त, प्रकृतियोंका क्षय कर दिया जाता है तथा चारित्रमोहनीय कर्मकी अप्रत्याख्यावरण चार, मान, माया, इन बीस प्रकृतियोंका तो नवमे गुणस्थानमें ही क्षय हो चुकता है। दस्कें गुणस्थानमें लोन संव्यल्यका क्षत्र गुणस्थानके अन्ततक केन संव्यल्यका क्षत्र हो जाता है। अतः मोहनीयकी अर्डाक्सी प्रकृतियां दशके गुणस्थानके अन्ततक

क्षव को प्राप्त हो चुकी। नवमें गुणस्थानके पहिले मांगमें ही दर्शनावरणकी स्त्यानगृद्धि, निद्रामिदी, प्रचलाप्रचला, इन तीन प्रकृतियोंका क्षय हो चुकता है। बारहवें गुणस्थानके अन्त समर्थमें ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी शेष छह, अन्तरायकी पांच, इस प्रकार सील्ह प्रकृतिथोंका ध्वंस होता हैं। (साध्य)। क्योंकि अनन्त कालतक हो रही शुद्धि की प्रमाणों द्वारा सिद्धी की जाचुकी है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रकी नवासी, नव्येमी वार्तिकों के विवरणमें भी इस हेतुदलका रपष्टीकरण किया है।

तंथाहि--

इस अनुमानमें कहे गये अनन्त शुद्धि की प्रसिद्धिरूप हेतुको पुष्ट करनेके छिये प्रन्थकार अनुमानद्वारा उमीको पुनः सा य कोटिपर लाकर सिद्ध करते हैं जो कि यों प्रसिद्ध ही है। उसकी स्पष्ट समझिये।

शुद्धिः प्रकर्षमायाति परमं कचिदात्मनि ।
प्रकृष्यमाणवृद्धित्वात्कनकादिविशुद्धिवत् ॥ २ ॥
शुद्धिर्ज्ञानादिकस्यात्र जीवस्यास्त्यतिशायिनी ।
भव्यस्य वश्यकाभावादिति सिद्धान्तसाधना ॥ ३ ॥
नानैकातिकमप्येतत्तदशुष्ट्या विभाव्यते ।
तस्या अपि कविनित्सद्धेः प्रकृषस्य परस्य च ॥ ४ ॥
प्रावसाधितात्र सर्वज्ञज्ञानवृद्धिः प्रमाणतः ।
दर्शनस्य विशुद्धिर्वा तत एवाविनाभुवः ॥ ५ ॥

किसी एक आत्मिमें हैं। रही ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त गुणोंकी द्युद्धि (पक्ष) उन्कृष्ट कोटिक प्रकर्प की प्राप्त हो जाती है। (साप्त)। प्रकर्षको प्राप्त हो रही दृद्धिको धारनेवाली होनेसे (हेतु)। सूर्वण, चांदी, रत्न, आदिकी विद्युद्धिके समान (अन्वय दृष्टान्त)। भावार्थ जैसे अग्नि संताप या तेताव अथवा शाण, छेनी आदि कारणोंसे सोना, मोती, हीरा आदिमें बढ रही द्युद्धि किसी अवत्थामें उच प्रकृष को पहुंच जाती है, उसी प्रकार संसारी आत्माओंमें अभ्यास, व्यायाम, आचरणस पत्ति, क्षयोप गम, मानसिक पित्रता आदि कारणोंसे ज्ञानकी, चारित्रकी उत्तरोत्तर दृद्धि हो रही अनुभून की जाती है। आकाशमें परिमाणके समान वह किसी न किसी जीवमें परमप्रकर्ष पर्यंत वढ जाती है। उसी जीवमें प्रतिपन्नी कर्मिका आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। इस अनुमानमें दिये गये हेतुकी यो पुष्ट कर छेना चाहिये कि किसी निकट भव्य जीवके ज्ञान, दर्शन आदिक गुणोंकी द्युद्धि

(पक्ष) शुद्ध होनेके चमत्कारको धारनेवाळी है । (साध्य)। बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे, (हेतु)। आत्मीय अनुभूत हो रहे सुख या दुःखके समान (दृशन्त) इस प्रकार यहां साधनधर्मकी सिद्धि हो जाती है। बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे ही अतीन्त्रिय गहन सिद्धांतोंकी साधना कर की जाती है। पक्षमे हेतु ठहर जाता है। अतः असिद्ध हेत्वामास नहीं है। जिस गुण या पर्यायके अंशोंकी शुद्धि प्रकर्षताको प्राप्त हो रही है, वह कहीं न कहीं जाकर पूर्ण प्रकर्षको प्राप्त हो जाती है। इस व्याप्तिमें पडे हुये हेतुका उसकी अशुद्धि करके व्यभिचार देनेका विचार भी नहीं करना चाहिये। क्योकि उस अशुद्धिके भी परम प्रकर्षकी किसी आत्मामें मले प्रकार सिद्धि हो रही है। तीव मिथ्यादिष्ट अभव्य जीवके निगोद अवस्थामें ज्ञानादिक की अशुद्धि बढते बढते जघन्यज्ञान, जघन्यवीर्य, और अचारित्रपर पहुंच जाती है। क्षायोपशमिक मितज्ञानकी अतिशयवती हानि केवलज्ञान अवस्थामे पायी जाती है। हमने इस प्रन्यके पूर्व प्रकरणमे ही सर्वज्ञ के ज्ञानकी हुई बृद्धिको प्रमाणोसे सिद्ध करा दिया है। अथ्या तिस ही कारणसे उस ज्ञानके अभिनामाधी दर्शनकी विश्वदिका भी साधन हो चुका समझो। '' सूमावर्थोपरेशो हि '' इस कारिकासे लेकर कितनी ही कारिकाओ तक पाहिले प्रन्थमे हम विवरण लिख चुके हैं। अष्टसहस्तीमे '' दोषावरणयोः हानि '' इस सामन्तमडी कारिकाके विवरणमें भी अच्छा व्याख्यान कर दिया गया है। यों हेतुमालासे कर्मोका क्षय सिद्ध हो जाता है।

ततो युक्तः क्षायिको भावा नवभेदः।

तिस कारणमे अनुमानक्ष्य युक्तियोंसे साध दिया गया श्वायिकभाव नौ प्रकारका समुचित है। यद्यपि जैसे असिद्धन्व औदियकभाव है, उस प्रकार सभी एक सौ अडतालीसो प्रकृतिओंके क्षयसे उत्पन्न हुआ सिद्धन्वभाव भी क्षायिक है, तथापि साधारण होनेसे सिद्धन्वभावको कण्ठोक्त नहीं गिनाया है। विलेपोंका कथन कर देनेपर उनमें साधारणक्ष्यसे ठहरा हुआ सामान्य तो विना कहे ही आ टपकता है।

क्षायोपशिमकाञ्चादशभेदः कथिमति तत्मतिपादनार्थे पंचमं सूत्रमाह ।

तीसरे क्षायोपशिमकभावके अठारह भेद किस प्रकार है ? इस प्रकार शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर उन क्षक्रीपर म प्रक्रोजनको धारनेवाले जीवतत्त्रोंकी शिष्योंके प्रति प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामा गहाराज द्वितीयाःयायमें पांचवें सूत्रका परिभाषण कर रहे हैं।

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त-चारित्रसंयमासयमाश्च ॥ ५ ॥

मति, श्रुत, अविध, मनःपर्यय ये चार ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, विभंग ये तीन अज्ञान तथा चश्रुदर्शन, अच्छुदर्शन, अविध दर्शन ये तीन प्रकारके दर्शन एवं दान, छाम, भोग, उपभोग, वीर्य ये पांच ळिन्धयां इस ढंगसे पिण्ड भावोंके पन्द्रह भेद हुये तथा देशघाति सम्यक्त प्रकृतिका उदय होनेपर चौथेसे सातवें गुणस्थानतक पाया जानेवाळा वेदक सम्यक्त्व तथा संज्वलनकी चौकडीमेंसे किसी एकका और नो कषायोंमेंसे यथासम्भव तीन, चार, पांच प्रकृतियोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक चारित्र होता है। एवं पांचवें गुणस्थानमें पाया जानेवाळा संयमासंयमरूप भाव है, इस प्रकार पन्द्रह और तीन यों अठारह भेद क्षायोपशमिक भावके है।

चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पंच च इति चतुिस्तित्रिपंच एते भेदा यासां ताश्चतुिस्तित्रपंचभेदाः। कास्ताः श्वानाङ्गानदर्शनल्ब्धयः। यथाक्रमित्यनुवर्तते तेनैवमिभसंबंधः कर्तव्यः। ज्ञानं चतुर्भेदं, अज्ञानं त्रिभेदं दर्शनं त्रिभेदं, लब्धः पंचभेदा, सम्यत्वचारित्र—संयमासंयमाश्च त्रयः क्षायापश्चिकभावस्याष्टादशभेदा इति।

ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, लिन्ध, इनका इतरेतर योग समासकर पुनः चार और तीन तथा तीन पुनश्च पांच इन संख्यावाचक पदोंका द्वन्द्व करते हुये भेद पदके साथ बहुन्नीहि समासद्वारा यथाकम मम्बन्ध करलेना चाहिये। उसका अर्थ यह होता है कि जिन ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, लिन्नयों के चार, तीन, पांच, इस प्रकार भेद है वे यथाक्रमभे चार भेदवाला ज्ञान, तीन भेदवाला अज्ञान, तीन भेदवाला दर्शन, और पांच भेदवाली लिन्ययां हैं। वे भेदवाले पदार्थ कौन है ? इसका उत्तर पूर्व उद्देश्य दलमें पडी हुयी ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और लिन्धयां है। दूसरे सूत्रमें से यथाक्रम इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है। तिस करके पदोक्ता अन्यय कर इस प्रकार उद्देश्य विधेय दलोंका दोनों ओरसे यों सम्बन्ध करलेना चाहिये कि जिसके चार भेद है ऐसा ज्ञानतत्त्व क्षायोपशामिक है, तीन भेदवाला अज्ञान क्षायोपशमिक है, मिश्रमावदर्शन तीन भेदोंको धारता है, लिन्धयां पांच भेदोंको धार रही है और वेदकसम्यक्त्व और छटे, सात्रवें, गुणस्थानोंमे वर्तरहा क्षयोपशम चारित्र तथा त्रसवधत्यागरूप संयम और स्थावरवधका अत्यागरूप असंयम इस प्रकार कातिपय मनुष्य और तिर्थेच सम्यन्दष्टियोंके पांचवें गुणस्थानमें हो रहा संयमासंयम भाव है। ये पिछले तीन भाव अपिण्ड हैं। इस प्रकार क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद हो जाते है।

मत्यादिज्ञानावरणचतुष्ट्रयस्य मत्यज्ञानाद्यावरणत्रयस्य चश्चर्दर्शनाद्यावरणत्रयस्य च दानांतरा-यादिपंचकस्य दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य संयमासंयमगोहस्य च क्षयोपश्चमादुपजायमानत्वात् ।

मित आदि चार ज्ञानोंका आवरण करनेवाले मितज्ञानारवण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि-ज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण इन चारों कमोंके क्षयोपशमसे उपज रहे होनेके कारण चार मेदवाला ज्ञान है और कुमित आदि जीवभावोंको रोक्तनेवाले कुमितज्ञानावरण, कुश्रुतज्ञानावरण, विभंगज्ञानावरण, इन तीन अवयववाली कर्म प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हो रहा होनेके कारण अज्ञानके तीन भेद हैं। यहां अज्ञानमें नज्का अर्थ पर्युदास है। ज्ञान यानी समीचीन ज्ञानोंसे भिन्न होते हुये उन प्रमाणात्मक पांच ज्ञानोंके सदृश हो रहे भाव आत्मक तीन मिथ्याञ्चान भाव तो कुज्ञान हैं। यद्यपि सुमित या कुमितिको रोकनेवाला मिर्तिज्ञानावरण एक ही है। फिर भी सम्यक्त्य और मिथ्यात्वके सहचर भावसे उनमें भेद पड जाता है। तथा चेश्चर्दर्शन आदि भावोंको निवारनेवाले चक्चुर्दर्शनावरण, अचक्चर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण इन तीन उत्तर प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे उपज रहा अदर्शनभाव क्षायोपशमिक है। विशेष यह है कि अवधिज्ञानके पहिले अवधिदर्शन होता है। विभंग-ज्ञानके पूर्वमें तो मितिज्ञान या श्रुतज्ञान है। हां, उन ज्ञानोंके पूर्व या पूर्व पूर्वमें अचक्चर्दर्शन है। मनः-पर्ययज्ञान और विभंगज्ञान दोनोंके अव्यवहित पूर्वमें दर्शन नहीं है। हां दोनोंके पूर्ववर्ती ज्ञानके पहिले अचक्चर्दर्शन एया जाता है। अतः विभंग और मनःपर्ययको भी परम्परासे दर्शनपूर्वक मान लेते हैं। जैसे कि मितिज्ञानपूर्वक हुये श्रुतज्ञानके अव्यवहित पूर्वमें कोई दर्शन नहीं है। यहां भी परम्परासे दर्शनको पूर्ववर्ती इष्ट किया गया है। श्रुतपूर्वक हुये श्रुतज्ञानमें या उसकी धाराओंमें तो तीन, चार, दश, बीस, कोटिके व्यववानको लिये हुये पूर्ववर्ती दर्शन माना गया है। तथा दानान्तराय, लाभान्तराय आदि पांच कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रही लिक्यां क्षायोपशमिक है। दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय और संयमासंयम मोहनीय कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रही लिक्यां क्षायोपशमिक है। दर्शनमोहनीय क्षयोपशमिक हैं।

कुतः पुनरयं मिश्रो भावः स्यादिति चेत् मतिज्ञानावरणादिसर्वघातिस्पर्धकानामुद्यक्षया-त्रेषामव सदुपन्नमात्तदेशघातिस्पर्धकानामुद्यात् क्षायोपश्चमिको भावः।

फिर यह तीसरा भाव मिश्र यानी दो, तीनका मिला हुआ परिणाम किस ढंगसे है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर तो हम जैनोंका यह उत्तर है कि सर्वधातिस्पर्धकोंका उदय क्षय अर्थात्---द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार उदयमें आकर आत्माके अन्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आत्माको फल दिये त्रिना ही प्रदेशोदय हो जानारूप क्षय है, अथवा द्रव्यादि चतुष्टयकी योग्यता न मिलनेसे प्रतिपक्षी कर्मीके उदयका अभाव हो जान। ही यहां क्षय राद्धसे अभिधेत है। क्षयोपराम भावमें आत्यन्तिक मिवृत्त हो जानारूप क्षय नहीं पकडा गया है।क्षयोपरामें पडे हुये उपराम राद्वसे इस समय उदयमें नहीं प्राप्त हो रहे किन्तु भविष्यकालमें उदय कोटिपर आनेवाले सर्वचातिम्पर्द्धकोंका वहांका वहीं सत्तारूपसे अवस्थित पडे रहना रूप उपराम लिया गया है । अन्यथा उदीरणाका कारण मिल जानेसे भविष्यमें उदय आनेवाली प्रकृतियोंका उदय हो जाना सम्भवता है, ऐसी दशामें " सब गुंड गोबर न हो जाय '' इसिलिये पारिणामिक पुरुषार्थ बळसे उनका उपराम बनाये रहना आवश्यक पड गया है। क्षयोपशम शद्भमें यद्यपि उदय नहीं कहा गया है। फिर भी " तन्मच्यपतितस्तद्गहणेन गृह्यते " इस परिभाषाके अनुसार देशघानिप्रकृतियोंका उदय भी इस गुणमें माना जाता है। अतः विवक्षित गणकी सर्वचातिप्रकृतियोंके उदयक्षय और भविष्यमें उदय आनेवाली उन्होंके सदयस्थान्द्रप उपशम तथा देशघातिके उदय ऐसी सामग्रीके मिळनेपर आत्मामें अन्यक्तपुरुषार्थजन्य क्षायोपशमिकभाव उपजता है । क्षायोपशमिकमानका स्वतंत्र कर्ता आत्मा तो उपादान कारण है, और क्षय, उपशम, उदय, ब कर्मीकी अवस्थायें निमित्त हैं। " पुग्गलकम्मादीणं कत्ता न्यवहारदो " इस सिद्धान्त अनुसार आत्माके

बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थसे उत्पन्न हुये सम्पूर्ण भावोंमें आत्माको कर्त्वापन प्राप्त है । चौदहवें गुणस्थानके अन्त सायके पश्चात् हुई सिद्ध अवस्थामें तो सर्वदा खुद्ध पुरुषार्थजन्य केवलज्ञान, सिद्धत्व, सस्यक्त, अनन्तवीर्य, जीवल आदिक भावोंका कत्ती आत्मा है, सिद्ध अवस्थावाळी मोक्ष तो चारों पुरुषार्थीमें सबसे बडा परम पुरुषार्थ माना गया है । न्यायपूर्वक भोगोंका भोगनारूप कामपुरुषार्थ, सम्चित आजीक्क्रिके उपायो द्वारा धन उपार्जन करनारूप अर्थपुरुषार्थ और दान, पूजन, अध्ययन, प्यान, क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, ग्रप्ति, सामिति, सामायिक, आदि कियाओं या परिणामोंको करनारूप धर्मप्रकपार्थ इनसे अत्यधिक प्ररुपार्थपूर्वकभाव सिद्ध भगवानके हो रहे हैं। संसारी जीवोके दरावें गुपास्थानतक कृतिपयभाव इच्छापूर्वक पाये जाते हैं । उनका दृष्टान्त पाकर सभी आत्माके परिस्पन्द और अपरिरेफ्ट आत्मक परिणामोंमें भी इच्छाको कारण माननेकी सम्भावना करना मूढता है। भोजन किये गये अन्न, दुग्य आदिमें आहार वर्गणायें बहुभाग पायी जाती हैं। स्वतंत्र या कुछ कुछ कर्मोंके अबीन हो रहा यह आत्मा पुरुषार्थ द्वारा उनका रस, रुधिर, मांस आदि बनता है। उनको शरीरके यथोचित भागोमे भेजता है। बालोंको उगाता है, फोड़ा होनेपर औपधिके निमित्तमे अथवा छोटी छोटी फुंसियां या मक्की, खटमलोंके घावोंको यों ही विना औषधियोंके पूर देता है। हंसना, छींकना, ज्यास लेता. रक्तसंचार करना आदि सभी क्रियाये प्रकार्ध जन्य हैं। सभी प्रयत्नोंमें इच्छायें कारण नहीं हैं। रारीरसे बहुत परिश्रम करनेवाले किसानकी अपेक्षा यदि बढिया व्याख्यान करनेवाला पण्डित अधिक पुरुषार्थी है और उस व्याख्याताकी अपेक्षा मुकदमा जितानेके छिये अत्यधिक मानसिक परिश्रम कर रहा बकील यदि अति पुरुषार्थी माना जाता है तो उपशमक्षपक श्रेणियोंमे प्रयत्न कर बनाये जारहे साविक्षय विचार आत्मक श्रवज्ञानोंकी धारा प्रवाहस्वरूप शुक्रध्यानेमें चित्तको लगानेवाले जीव बडे भारी पुरुषार्थी कहना चाहिये। अतः मोक्षके साधन या संवरनिर्जराके कारण हो रहे आठवे. नक्वें, दशब्नें, ग्यारह्वें, बारहवें गुणस्थानोके परिणामोंमे जितना पुरुषार्थ आवज्यक है उससे भी कहीं अधिक तेरहवें गुणस्थानमें चलते, उपदेश देते और अन्तमें सूक्ष्मिकया करते समय पुरुषार्थ करना अनिवार्थ है। इससे भी कहीं अधिक चौदहवें गुणस्थानमें प्रयत्न करना पडता है तभी पिचासी प्रकृतियोका नारा हो पाता है । यहां इच्छायें सर्वथा नहीं है । सिद्ध अवस्थामें तो अनन्त काळतक के लिये परमपुरुषार्थ करना अत्यावस्थक हो जाता है। इच्छाके साथ पुरुषार्थका कार्यकारणभाव सत्तनेपर अन्वयन्यभिचार हो रहे देखे जाते हैं । चक्कू या कांचके गढ जानेसे शरीरमें रक्तके बहुनेपर अथवा बळात्कारकी मळमूत्रबाभा उपस्थित हो जातेपर या ज्वरकी अवस्थामें अथवा पांव रपट जाने या गीन्नस्वकृत होनेपर हुये कितने ही इच्छापूर्वक पुरुषार्थीको शरीरप्रकृति अनुसार परतंत्र परिस्थितिवश हुये अनिच्छापूर्वक पुरुषार्थं नष्ट कर अनचीते कार्योको साध देते हैं। अर्थात्— रक्तको रोकने अथवा ज्यर (बुखार) के रोकनेवाले इच्छापूर्वक पुरुषार्थीका व्यापार नहीं हो पाता है, और आत्माके अनिच्छापूर्वक पुरुषार्थीसे मल निकल जाता है, ज्वर चढ आता है, रक्त बहुता रहता

है, पांव रपट जाता है। किसी विवक्षित शहके बोलनेकी इच्छा होनेपर दूसरा ही अविवक्षित शह मुखसे निकल पडता है। कर्मफलचेतना की अन्नस्थामें भी एकन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीबोंको पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। भले ही उस पुरुषार्थको करनेमें कर्मीद्वारा होनेवाली पराधीनता प्रेरक होय. किन्त प्रयत्न तो आत्माको ही करना पडता है। घोडेके अनुसार अञ्चवारको जो प्रयत्न करने पडते हैं। उनका प्रेरक निमित्त घोडा है, किन्तु पुरुापार्थीका कर्ता अस्ववार है एवं अस्ववारके निमित्तसे घोडेको जो प्रयत्न करने पडते हैं उन प्ररूपार्थोंको सम्पादन करनेवाला स्वतंत्र कत्ती घोडा है। " देवदत्तः दात्रेण छनाति " देवदत्त हैसियासे फलको छेदता है, यहां कारण या कारणोंकी उपस्थिती होनेपर भी देवदत्तका स्वतंत्र कर्तापन तो निमित्त कारणों करके नहीं छीन छिया जाता है। बात यह है कि स्ववंत्र हो या परतंत्र हो आत्माको स्वकीय संपूर्ण परिणामोंको बनानेमें पुरुषार्थ करना पडता है। इसी प्रकार जड पदार्थ भी जगतमें बहुतसे कार्योको करता है। आत्माके वैसे परिणामोंको पुरुषार्थ या प्रयत्न कहते हैं और पद्गल या अन्य द्रव्योंके तादश परिणामोंको वीर्य, शक्ति, आदिसे व्यवहार करते हैं। सूर्यकी घाम, चन्द्रमाकी चांदनी, ऋतुऐं मेघ जल ये अनेक कार्योंको कर रहे हैं। भीत या सोटे छनको डाट रही हैं, खाट या काष्ट्रासन ऊपर बैठे हुये मनुष्यको साथ रहा है, जमाल गोटा पेटके मलको ख़रच रहा है, कीचलिपिटी तूंबीमेंसे धीरे धीरे कीचको छुडाकर जल तुंबीको ऊपर जलप्रदेशमें उछाल रहा है, जल नावको सरका रहा है, आदि कार्य भी द्रव्योंके निजवीर्य द्वारा सम्पादित हो रहे हैं । जिन जड दर्ज्योंमें कि कथमपि इच्छा की सम्भावना नहीं है, यहां प्रक-रणमें क्षयोपराम भावको बनानेमें आत्माका पुरुपार्थ होना आवश्यक है । हां, आत्माको अपनी प्रकृति अनुसार फल देनेके लिये हुये कर्मोंके पक्व परिणामके सम्पादक तो कर्म ही हैं। आत्मकृत निज भावोंके निमित्त कारण कर्म हो जाते है । और कर्मकृत उन कर्मीके परिणामोंके निमित्तकारण आत्मीय भाव हो जाते हैं। क्षायोपरामिक भावोंको बनानेमें आत्मा तो पुरुपार्थ करता ही है। किन्त साथमें द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव, या आत्मपरिणामको निमित्त पाकर जब कमीकी क्षयोपशम भावको बनानेके अनुकूल विशेष अवस्था होगी तभी थे कर्म क्षायोपशमिक भावोंके निमित्त हो सकते हैं। पेटमें जाकर हुई औपधिकी विशेष अवस्था ही उदररोगनिवृत्तिका निमित्त है। यहां मतिज्ञानावरण, श्रतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, दानान्तराय आदि कर्मीके सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयक्षय होजानेसे और उनहींके भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वधातिस्पर्धकोंका सत्तामें बने रहने रूप उपराम होजानेसे तथा देशधाति स्पर्दकोके उदयसे आत्माकें क्षायोपशमिक भाव निपजता है। यद्यपि मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियां देशघाति हैं । फिर भी देशघातिओंमें सर्वघातिस्पर्धक पाये जाते हैं । अतः आत्मीयगणको पूर्ण रूपसे धातनेवाले कर्मीकी उदय, उदीरणायें, नहीं होनी चाहिये, तभी क्षायोपशमिक भाव निष्पन्न होगा।

र्कि पुनः स्पर्धका नाम ? अविभागपरिच्छित्रकर्मप्रदेशरसभागप्रचयपंक्तेः क्रमशृद्धिः क्रमशानिः स्पर्दकं कर्मस्कंधशक्तिविशेषः।

फिर यह बताओ कि स्पर्झक मछा <u>क्या पदार्थ है</u>? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि शक्ति या पर्यायके अंशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं । " अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उड्ढी पएसाणं " ऐसा गोम्मटसारमें कहा है। रूप, रस, ज्ञान, सुख, आदिके वस्तुभित्तिपर अंशोंकी कल्पना कर पूरी संख्याओंमें गिननेका उपाय अत्रिमाग प्रतिच्छेद है। पौद्रलिक कर्मीमे आत्माको रस देनेकी शाक्तिके अंश भी अविमाग प्रतिच्छेदोंद्वारा न्यारे न्यारे पंक्तियोंमें विभाजित किये जाते हैं। अविभाग प्रतिच्छेदोंसे युक्त होरहे कर्मपरमाणुओंके रसभागकी प्रचयपंड्रिका क्रमसे बढना या क्रमसे घटना जिन पिण्डोंमे पाया जाता है वह कार्मण स्कन्धेंका यथानाम शक्तिविशेषोंको धाररहा कर्म समुदाय स्पर्दक कहा जाता है। मोटी मिरचकी अपेक्षा छोटी मिरचमें अल्प परिमाण होते हुये भी चिरपिरे रसके शक्ति अंश अधिक माने गये हैं। अपनी अपनी आत्मामें सर्वांग व्यापरहे निगोदिया जीवके ज्ञानसे संज्ञी जीवके ज्ञानमें प्रतिभासक अंश अनन्त गुणे हैं। हाथीकी अपेक्षा सिंहमें साहसके अंश बढ़े हुये हैं। इसी प्रकार संसारी जीवोंके प्रतिक्षण उदयमें अरहे कर्मीकी फलदानशाक्तिओंके भी अंशकपायानुसार न्यून, अधिक, संख्यामें नियत होरहे हैं। छोटेसे छोटे भी संसारी जीवके अभन्योंसे अनन्तगुणे कर्मप्रदेश प्रतिक्षण उदयमें आते हैं और बडीसे बडी अवगाहनावाले मत्स्यके भी सिद्ध राशिके अनन्तमें भाग कर्मप्रदेश उदय प्राप्त होते हैं। जवन्य और उत्कृष्ट मध्यवर्ती अनन्त भेदोंको धारनेवाले अनन्तानन्त जीव है । अभन्य राशिक्ष अनन्त गुणी इस संख्यासे सिद्ध राशिका अनन्तवां भाग यह संख्या बडी है। कारणोंके वश अविभाग प्रतिच्छेदोंमें छह स्थानवालीं हानिवृद्धियां होतीं रहतीं हैं । ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हानि या वृद्धि करते समय संख्यात पदसे उन्कृतसंख्यात और असंख्यात संख्यासे जिनदृष्ट असंख्यात गुणे छोकप्रदेश तथा अनन्त शह्नसे जीवराशिम्हप अनन्तानन्त पकडा गया है। किसी गुणमें उक्त संख्यासे न्यून या अधिक संख्याको छेकर भी हानिवृद्धियां सम्भावित हैं। रसके अंशोंमें जितनी अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्याका न्यूनाधिकपना है उतना तारतम्य गन्धमें नहीं पाया जाता है । ज्ञान गुणमें जितना जघन्य अंशोंकी वृद्धिस्तरूप अविभाग प्रतिन्छेदोंका हानिवृद्धि भाव है उतना सुख या अस्तित्व गुणमें नहीं पाया जाता है। अन्तरंग कारण कपायोंके तीव, मन्द, ज्ञात, अज्ञात परिणामोंकी अपेक्षा और बहिरंग कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, अधिकारी जीव, वीर्य, आदि परिस्थितीके अनुसार एक जातिके कर्मीमें फलदान शक्तिके अंशोंकी विचित्रतायें मानली जाती हैं। जैसे कि लब्यपर्याप्तक निर्गोदियासम्बन्धी सबसे छोटी श्रेणीक जघन्य शानमें आकाश प्रदेशोंसे भी अनन्तानन्त गुणे इतने अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं । क्योंकि उसी लब्ब्यपर्याप्तक निगोदियाके जन्मके प्रथम समयमें होनेवाछे जघन्यज्ञानसे द्वितीयसमयमें ज्ञानकी वृद्धि उस ज्ञानके अनन्तवें भागरूप हैं। अतः पूरी संख्याओंमें कथन करनेकी विवक्षा होनेपर उस बृद्धिक अंशको यदि एक मानलिया तो पहिले समयका मूलकान उससे अनन्तानन्तगुणा होता हुआ, अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद्धेक धारने-वाला कहा जायगा और दूसरे समयके ज्ञानके एक अधिक अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद माने 4

जाते हैं। इसी प्रकार सबसे छोटी कर्मीकी फलदानशक्तिके अविभागप्रतिच्छेद भी अनन्त हैं। यद्यपि उतनी संख्या कभी कम नहीं होती है । फिर भी ऊपरकी श्रेणियोंमें शाक्तिके अंशोंकी बृद्धि इतनी थोडी है कि उसको एक मान छेनेपर सबसे कम अनुमागशक्तिको धारनेवाले कर्मोमें रसशक्तिके अवि-भागप्रतिच्छेद अनन्तानन्त ही गिने जा सकते हैं । सबसे न्यून जघन्य गुणोंको धारनेवाले प्रदेशको पकडलो, उसके अनुभाग अंशोंको बुद्धिके द्वारा छेद करते करते उतने बार दुकडे कर डालो, जिससे कि पुनः छोटा विभाग न हो सके । वे अविभाग प्रतिच्छेद जीवराशिसे अनन्तगुणी संख्यामें बैठेंगे । उतनी उतनी संख्याको धारनेवाले प्रदेशोंकी एकराशि कर ली जाय, इन सब परमाणुओंके समदायको वर्गणा कहते है । इसके आगे अविभाग प्रतिच्छेदोंको बढाते हुये राशिको बनाकर उत्तरीत्तर वर्गणायें बना लेनी चाहिथे। इस प्रकार क्रमद्यद्धि और क्रम हानिसे युक्त हो रही वर्गण।पंक्तियोंका समुदाय स्पर्धक कहा जाता है। समगुणवाले परमाणुओंके समुदायको वर्गणा कहते हैं। और वर्गणाओंके समुदायको स्पर्वक कहते है। एक जीवके एक समयमें अनन्तरपर्वकोंका उदय हो जाता है। पिंडकी अपेक्षा उसे एक स्पर्ध के भी कह सकते हैं। अर्थात-अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनेवाले परमाण वर्ग कहे जाते है। अनन्तवर्गीकी एक वर्गणा होती है। अनन्तवर्गणाओंका एक स्पर्वक होता है। और अनन्तस्पर्धक एक समयमें उदय आते हैं। किये हुये भोजनका भी प्रतिक्षण उदराग्निके द्वारा एक मोटा स्कन्य उदयमें आता रहता है। अटमी या चौदसको उपवास करना केवल मुखद्वारसे कव-लाहारका त्याग करना मात्र है। अन्तरंगकी उदराप्रिके लिये तो भोज्य, पान, की सतत आक्रयकता है। कर्म और नोकर्मीका सर्वदा एक समयप्रबद्ध बन्धको प्राप्त होता रहता है। और एक निषेक उदयमें प्राप्त होता रहता है । पुद्रलके कार्यीकी अनेक प्रकार जातियां हैं । मति ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपराम या उदय अथवा क्षय होता है । सदवस्थारूप उपराम होते हुये भी इनका औपरामिक भाव नहीं बन सकता है। क्योंकि बारहमें गुणस्थानतक ज्ञानावरणकी देशघातिओंका उदय सर्वदा विद्यमान है। जैसे कि नाकतक ट्रंसकर जीम छेनेपर भी पान, सुपारी, पाचनचूर्ण, श्वासोछ्वास छेनेके छिये रिक्तता [गुंजाइरा] बनी रहती हैं । अतः ज्ञानावरणके उदय, क्षयोपराम और क्षय ये तीन भाव हैं | हां, मोहनीयके उपरामको मिलाकर चारों भाव हो सकते है | शक्ति विशेषोंको धार रहे कर्म-स्कन्धोंके स्पर्वक आत्मामें अनेक जातिवाले हैं। ऐसे पौद्रलिक पिण्डोंको यहां प्रकरणमें स्पर्वक माना गया है।

संक्षित्वसम्यग्मिथ्यात्वयोगानां ज्ञानसम्यक्त्वलन्धिष्वंतर्भावास पृथगुपादानं ।

मनको धारनेवाले संज्ञीजीवोंके पाया जानेवाला संज्ञित्वभाव और तीसरे गुणस्थानमें पाया जानेवाला सम्यक्मिध्यात्वभाव तथा कायवाङ्मनःकर्मरूप योग इन तीन भावोंका तो ज्ञान, सम्यक्त्व और लिध्ययोंमें अंतर्भाव हो जानेसे श्री उमास्यामी महाराजने सूत्रमें कण्ठोक्त पृथक् प्रहण नहीं किया है अर्थात्—नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे हुये संज्ञीपनका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है।

विचार करनेवाले लिब्ध या उपयोग रूप मानस मतिज्ञानस्वरूपभाव ही तो संज्ञीपन है । " णोइन्दिय आवरणखओवसमं तज्जवोद्यणं सण्णा. सा जस्स सो द सण्णी इदरो सेसिंदि अवबोद्यो " तथा जात्यन्तर सर्वघाती सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेपर हुआ सम्यग्मिथ्यात्वभाव तो सम्यक्त परिणाममें गर्भित हो जाता है। देखिये छताभाग पूरा और दारुभागका अनन्तवां भाग इतना तो देशघाती प्रकृतिका द्रस्य कहा जाता है। शेष दारुके अनन्त बहुभाग और अस्थिभाग, शैल्माग, ये सर्वघाती स्पर्द्रक हैं। किंतु दारुभाग के बचे हुये बहुभाग के अनन्तर्वे भाग प्रमाण न्यारी जातिवाले मिश्र प्रकृतिके सर्व-घाती स्पर्देक हैं । अतः देशघाती सम्यक्त्य प्रकृतिके अति निकटवर्त्ती होनेसे तज्जन्य सम्यग्मिय्यात्व भावका सम्यक्त भावमें अन्तर्भाव करलेना समुचित है। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है। ''देसोत्ति हवे सम्मं तत्तो दारू अणंतिमे मिस्सं, सेसा अणन्तभागा अहिसिलाफङ्गया मिच्छे '' इसी प्रकार अंतरायके क्षयोपशमको निमित्त पाकर आत्माके पुरुषार्थ द्वारा वीर्यभाव उपजता है। और मन वचन कायके अवलम्बसे आत्माका सकम्प होना भी एक पुरुषार्थ है। वीर्य और योग आत्माकी दोनो शक्तियां हैं । इतना अधस्य है कि सिद्ध अवस्थामें क्षायोपशमिक वीर्यका होता हुआ भी क्षापिक त्रीर्य बना रहता है, किन्त सकम्पपना रूप योग चौदहवे गुणस्थान और सिद्ध अवस्थामें सर्वथा नहीं है। योगस्वरूपमाव क्षायिक नहीं हो सकता है। किसी अंशमे '' प्रगालविवाइदेहोदयेण मणवयण कागजुत्तस्स, जीवस्स जाउ सत्ती कम्मागम कारणं जोगो '' इस गाथाके अनुसार भावयोगको भले ही औदियक कह दिया जाय । किन्तु मोक्ष अवस्थामें कोई सा भी योग नहीं रहता है। अतः उक्त अठारह भेदोंसे कथंचित भिन्न हो गये भी संज्ञित्व, सम्यग्मिथ्यात्व, योग, इन तीन भावोंका यथाक्रमसे ज्ञान, सम्यक्तव, और लब्धियोंमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये, संक्षेपसे सूत्र रचना करनेवाले उमास्वामी महाराजको इतने थोडे थोडे अन्तरसे न्यारे न्यारे भावोंकी गणना करना अभीष्ट नहीं है ।

कुतः पुनः क्षयोपश्चमः कर्मणां सिद्ध इत्याह ।

कोई शिष्य पूंछता है कि महाराज फिर यह बताओ कि कर्मीका क्षयोपशम होना भला किस प्रमाणसे सिद्धं हो चुका है ! जिससे कि क्षयोपशमको धारनेवाला भाव अठारह प्रकारका निर्णीत किया जाय, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं ।

श्लीणाश्लीणात्मनां घातिकर्मणामवसीयते । शुद्धाशुद्धात्मतासिद्धिरन्यथानुपपत्तितः ॥ १॥

जैसे कि विशेष ढंगसे जल्रद्वारा प्रक्षालन करते हुये कोदों या मांगपत्तीकी मदशक्ति क्षीण कीर अक्षीण हो जाती है, अधिक धो देनेसे तो मदशक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है, या बहुभाग क्षीण हो जाती है, तथा अत्यल्प धो देनेसे मदशक्ति नष्ट नहीं होती है, अथवा ल्यमात्र ही नष्ट होती

है। हां, कुछ देरतक शनैः शनैः कोदों या भांगको छलामें मींचकर घो देनेसे उसकी अधिक उष्णताको उत्पन्न करनेवाली मदजननशक्ति तो नष्ट होजाती है और मध्यम मद (गुलाबी नशा)की उपजनेवाली मदशक्ति नष्ट नहीं होती है। इसी प्रकार सर्वघाति स्पर्धकशक्तिरूपसे क्षीणस्वरूप और देशघाति स्पर्धकरूपसे अक्षीण आत्मक घातिकर्मोका शुद्धात्मकपना और अशुद्धात्मकपना सिद्ध हो रहा है। अन्यथा यानी घाति कर्मोंके क्षीण अक्षीण स्वरूप हुये बिना शुद्धअशुद्ध आत्मकपनकी सिद्धी नहीं हो सकेगी। भावार्थ—पेटमेंसे कुछ अजीर्ण दोषोंके नष्ट हो जानेपर और कुछ दोषोंका कार्य होते रहनेसे आत्मामें स्वरथता, अस्वरथात्मक मध्यमकोटिकी प्रसन्तता होती है। उसी प्रकार अन्तरंगञ्चान, चित्र, लिख, आदिकी कुछ शुद्धि और कुछ अशुद्धि अनुभूत होरही है। वह ज्ञापकिलग घाति कर्मोंकी क्षयोपशम अवस्थाका अनुमान करा देता है।

स्वसंवेदनादेवात्मनः शुद्धाशुद्धात्मतायाः सिद्धिरप्रतिबंधा सती घातिकर्मणां शीणापशांत-स्वभावतां साधयति तदभावे तद्गुपपत्तेः; पयसि पंकस्य शीणापशांततामंतरेण शुद्धाशुद्धात्म-तानुपपत्तिवत् ।

स्वसम्बेदन प्रत्यक्षसे ही आत्माके शुद्ध, अशुद्ध, आत्मकपनेकी बाधारहित सिद्धि होरही सन्ती चार घातिया कर्मांके क्षीण स्वभाव और कुछ अक्षीणस्वभावपनको साध देती है। इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। क्योंकि इस कुछ अंशोंमें क्षीण और कुछ अंशोंमें उपशान्त होरहे तथा कतिपय अंशोंमें उदय प्राप्त होकर अक्षीण स्वभावसाहितपनके बिना उस शुद्धाशुद्धात्मकपनेकी उपपात्त नहीं हो सकती है, जैसे कि जलमें किचके क्षीण और उपशान्त तथा कुछ घुलेपन अवस्थाके बिना शुद्धअशुद्ध आत्मकपन अर्थात् बहुभाग स्वच्छता और अतीव मन्द गंदलेपनकी सिद्धि नहीं होपाती है। औपिध या शरीरप्रकृतिद्वारा चिकित्सा होनेपर यदि रागका सौमा भाग अवशिष्ट रह जाय अथवा धोवते धोवते वस्त्रमें अत्यल्प मल या रंग शेप रहजाय इत्यादि अवस्थाओंमें भी प्रतिपक्षी पुद्धलोंका क्षयोपशम होना उदाहरण बनाया जासकता है।

ततो मत्यादिविज्ञानवतुष्टयमिह समृतं । शुद्धाशुद्धात्मकं लिंगं तदावरणकर्मणाम् ॥ २ ॥ क्षयोपशमसद्भावे मत्यज्ञानादि च त्रयं । दर्शनत्रितयं चापि निजावरणकर्मणा ॥ ३ ॥ लब्धयः पंच तादृश्यः स्वांतरायस्य कर्मणः । सम्यक्तवं दृष्टिमोहस्य वृत्तं वृत्तमुहस्तथा ॥ ४ ॥

संयमासंयमोऽपीति घातिश्वीणोपशांतता। सिद्धा तद्भवभावानां तथाभावं प्रसाधयेत्॥ ५॥

तिस कारणसे यहां मति, श्रुत, आदिक चारों विज्ञान शुद्धअशुद्ध आत्मका स्वरूप होरहे लिंग माने गये पूर्व आम्नायसे चले आरहे हैं, उन मति आदिकको आवरण करनेवाले मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मीके क्षयोपशमकी सत्ताको साधनेमें वह शुद्धाशुद्धात्मकपना ज्ञापक लिंग है । इसी प्रकार कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान ये तीन कुज्ञानभाव भी शुद्ध अशुद्ध आत्मक हो रहे संते उनके प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपरामको साध-नेमें ज्ञापक हेतु है । तथा चक्षर्दर्शन, अचक्षर्दर्शन और अवधिदर्शन ये शुद्ध, अशुद्ध, आत्मक तीन दर्शन भी अपने आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमकी सत्ताको साधनेमें ज्ञापक लिंग है। इसी प्रकार वैसी शुद्ध अशुद्ध आत्मक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्थ, ये पांच लिश्यां भी अपनेमें अंत-रायको डालनेवाले पांच अंतरायकर्मीके क्षयोपशमकी विद्यमानताको साधनेमें व्याप्त हेत् हैं। तथा आत्मामें अनुभूत हो रहा तिस प्रकार शुद्ध, अग्रद्ध आत्मक वेदक सम्यक्त्व परिणाम तो दर्शनमोहनी-यके क्षयोपरामका सावक लिंग है। तथा शुद्ध अरुद्ध आत्मक हो रहा वृत्त यानी क्षायोपरामिक चारित्र भी आत्मामे चारित्रमोहनीयके क्षयोपशमका ज्ञापक छिंग माना गया है। एवं संयमासंयमभाव भी अनुभूत हो रहा संता अपने घातक कर्मीकी क्षीणवृत्ति और उपशान्त वृत्तिको आत्मामे साध देता है । चारित्रमोहनीय कर्मकी पचीस प्रकृतिओंमे अनन्तानुबन्धी चौकडी, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्टय, और प्रत्याख्यानावरण कोच, मान, माया, छोभ, ये वारह प्रकृतियां सर्वघाती हैं । शेष प्रकृतियां देश-घाती ह । यद्यपि संज्वलनमे भी कुछ पिण्ड ऐसे है, जिनका कि छठवें सातवे गुणस्थानमें उदय नहीं, है । किन्हीं मिथ्यात्वके सहभावियोंका तो पहिलेमें ही उदय है । अचारित्रके सहभावी कतिपयाक चौथे गुणस्थानतक ही उदय है । इसी प्रकार कुछ प्रत्याख्यानावरण अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतिओंका भी चौथे गुणस्थानमें उदय नहीं है। पहिलेमें ही है। फिर भी उन उन गुणोंका सम्पूर्ण रूपसे घात नहीं करनेकी अपेक्षा उनके मिरपर बुराई नहीं लादी गयी है । बुराईको झेलनेवाली बहां दूसरी प्रकृ-तियां स्वश्रुके समान आपत्तिको छे रही है । उपराम श्रेणीमें उपराम चारित्र और क्षपक श्रेणीमें क्षायिक चारित्र है। यहां देशघातीके उदयकी आवश्यकता नहीं है। विवक्षा भी नहीं है। सम्यक्व गुणके लिये अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिध्यात्व, सम्याङ्मिध्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वधाती है । और सम्यक्त प्रकृति देशघाति है, सम्यक्त गुण आत्माका अनुजीवी गुण है । और सम्यक्त प्रकृति पुद्र-लकी बनी हुई दर्शनमोहनीयका तीसरा भेद हैं। जो कि उपराम सम्यक्त्वरूप परिमाणों करके मिथ्यात्व दन्यके तीन दुकडे होकर चक्कीमें पिसे हुये कोदोंकी मुसीके तमान मन्दतम अनुभागको लिये हुये है। सम्यक्त्य नामक शद्भका एकला होनेपर भी अर्थ न्यारा न्यारा समझना चाहिये। तथा संयमासंयम

भावके िये प्रत्याख्यानावरण भी देशघाती कल्पित किया गया है। इस प्रकार अनुमान द्वारा उक्त अठारह भावोंके सम्पादक क्षयोपशमको साध दिया है। उक्त हेतुओं में अन्वयन्याप्ति पायी जाती है। जब घाती कर्मका क्षीणपना और उपशांतपना सिद्ध हो चुका तो वह उसके होनेपर होनेवाले भावोंका तिस प्रकार हो रहे क्षयोपशम भावको भले प्रकार संयम रहित साध ही देवेगा।

एवं च सिद्धोष्टादशभेदो मिश्रो भावः।

और इस प्रकार न्याप्तिको बनाकर सिद्ध कर दिये गये अनुमान द्वारा अठारह भेदोंको धारने-वाला क्षय, उपशम, और उदयका मिला हुआ मिश्रभाव सिद्ध कर दिया गया है।

यः पुनरौदियिको भाव एकविंशतिभेदोत्रोदिष्टस्तस्य निर्देशार्थे षष्टमिदं सूत्रम् ।

मिश्रभावके पश्चात् जो फिर इकईस भेदवाले औदयिकभावका नाम निर्देश किया था, उसका कथन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजका यह द्वितीयाध्यायमें छठा सूत्र है। जो कि ईस प्रकार है उसको सुनो—-

गतिकषायिंजगिभध्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेक्याश्चतुश्चतुरूत्रयेकैकैकेकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

आत्माको नरक सम्बन्धी, तिर्यक्सम्बन्धी, आदि भात्रोंकी प्राप्ति करानेवाली आत्मीय परिणाम रूप गाति औदियकभाव है। चारित्रमोहके उदयसे कल्लुपताभाव होना कषाय है, वेदत्रयके उदयसे हुआ अभिलाषाविशेष लिंगभाव औदियिक है, तत्त्वार्थोंका अश्रद्धानरूप परिणाम मिध्यादर्शन है, ज्ञानावरणके उदयसे अन्धकारके सदश ज्ञानाभाव बना रहना अज्ञानभाव है। यहां नज्का अर्थ प्रसम्य है, इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयमको नहीं पालना असंयतभाव है, सिद्ध अवस्था नहीं हो सकना असिद्धत्वभाव है, कषायमिश्रित आत्माके सकम्प परिणाम लेक्याभाव है, इनके यथाक्रमसे चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक, छह, भेद हैं। इस प्रकार औदियिक भावके इक्ईस भेद समझ लेने चाहिये।

चतुरादीनां कृतद्वंद्वानां भेदशक्केनान्यपदार्था वृत्तिः पूर्ववत् । यथाक्रममिति चातुर्वतते तेनैवमभिसंवंधः क्रियते—गतिश्रतुर्भेदा कषायश्रतुर्भेदो लिंगं त्रिभेदं मिध्यादर्श्वनमेकभेदमदर्श- नस्य तंत्रवांतर्भावात्, अज्ञानमेकभेदं असंयतत्वमेकभेदं लिंग हास्यरत्याद्यंतर्भावः सहचारि-त्वात् । गतिग्रहणमघात्युपलक्षणमिति न कस्यचिदौदयिकभेदस्यासंग्रहः ।

गति और कषाय तथा लिंग और मिध्यादर्शन एवं अज्ञान और असंयत तथा असिद्ध और लेक्या इस प्रकार गति आदिकोंका इतरेतर योगनामक द्वन्द्व समास करलेना चाहिये तथा संख्यावाचक चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक, छह, इन पदोंका पहिले इतरेतर द्वन्द्व कर पश्चात् भेद शहके साथ अन्य पदार्थीको प्रधान रखनेवाली बहुबीहि समास नामकवृत्ति करने लेनी चाहिये, जैसे कि पहिलेके पूर्व सूत्रोंमें इतरेतर समास करते हुये बहुबीहि समास किया गया है, वैसा ही यहां करलेना । पूर्व सूत्रके समान यहां भी दूसरे सूत्रमेंसे ''यथाक्रमम्'' इस पदकी अनुवृत्ति होजाती है तिस कारण उद्देश्य विधेय पदोंका दोनों ओरसे सम्बन्ध करिया जाता है कि गतिके चार भेद हैं, चार भेदवाली कषाय है लिंग तीन भेदोंको धारता है, मिध्यादर्शनका एक प्रकार है, यहां अदर्शनभावको न्यारा नहीं कहा है, क्योंकि दर्शनावरणके उदय होनेपर हये अन्धकल्प अदर्शनभावका उस मिथ्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव होजाता है तथा अज्ञानका भेद एक ही है, असंयतपना एक भेदको लिये हुये है, असिद्धत्व एक प्रकारका है। लेश्याके छह भेद हैं, यद्यपि कषाय भावसे सोलह कषाय और लिंगसे तीन वेद पकडे जासकते हैं। अतः हास्य आदिक छह नोकषायके उदयसे होनेवाले औदियक भाव शेष बच जाते हैं। फिर भी सहचारीपना होनेसे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, इन औदियक भावोंका अन्तर्भाव छिंगमें करलेना सूत्रकारको वित्रक्षित है। अतः सूक्ष्म कथनरूप सूत्रमें विस्तार नहीं किया गया है, ज्ञानावरण कर्म और अन्तराय कर्मका अविनाभाव होनेसे अलब्धियोंका अज्ञान भावमें ही अन्तर्भाव होजायगा जैसे कि ''काकेभ्यो दिध रक्ष्यताम् '' यहां काकपद सभी दिध उपचातक परापक्षियोंका उपलक्षण है। उसी प्रकार जीवविपाकी जातिकर्मके उदयंस होनेवाले या त्रस, स्थावर उच्चैगीत्र, मनुष्यायः, सात. असात, तीर्थकरत्व, आदि अघातिया कर्मीकी प्रकृतियोंके उदयसे होनेवाले औदयिक भावोंका गति प्रहणसे उपलक्षण होजाता है। इस कारण जीवविपाकी घाती या अघाती किसी भी कर्मके उदयसे होनेवाले औदियिक भेदका असंप्रह नहीं हुआ। इन ही इक्ईस भेदोंमें सब ही औदियिक भावोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

कुतः पुनर्गतिनामादिकर्मणाग्रुदयः सिद्धो यतो आपामेकविंक्षतिभावानामौदयिकत्वं सिध्यतीत्याह ।

किसी विनीत शिष्यका प्रश्न है कि महाराजजी, फिर यह बताओ कि आत्माओंमें गितनामकर्म चारित्रमोहमीय, पुंवेद आदिक कर्मोंका उदय किस प्रमाणसे सिद्ध है ? जिससे कि उन गित, कषाय, आदिक इकईस भावोंका औदियकपना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यान्द स्वामी आत्मगौरवसहित उत्तरको कहते हैं।

अन्यथाभावहेतूनां केषांचिदुदयः स्थितः। कालुष्यवित्तितस्तद्वद्गतिनामादयस्तु ते॥१॥

आत्माके शुद्ध स्वाभाविक परिणामोंको अन्य प्रकार परिणमन करानके हेतुभूत हो रहे किन्हीं निर्नामक पदार्थोका उदय होना आत्मामें व्यवस्थित है। (प्रातिज्ञावाक्य) क्योंकि संसारी आत्माओंके हो रही कल्लवताविशेषकी सम्वित्ति हो रही है। उसीके समान दूसरे दूसरे स्वाभाविक परिणामोंका अन्यथाभाव करानेवाले किन्हीं अविवक्षित पदार्थोका उदय भी अनुमान प्रमाण द्वारा निर्णीत हो रहा

है। अतः सर्वनाम किम् राद्वके वाच्य हो रहे वे अन्यथा भावके हेतु ही तो गतिनाम, कषाय वेदनीय, अकाषय वेदनीय, आदिक विशेष कर्म हैं।

स्वयमगतिस्वभावस्य पुंसो नरकादिगतिपरिणामिवश्चेषः काळुष्यमन्यथाभावाद्वेद्यते तद्ददक्षपायित्रगिमिध्यादर्श्वनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्यास्यभावस्य सतस्तस्य कषायादिपरिणाम-काळुष्यभाव एव तद्दित्तिरेव वात्मनोन्यथाभावहेत्नां केषांचिदुद्यं साथयति, तदभावे सर्वथा-नुपपद्यमानत्वात् परिदृष्टहेत्नां तत्र व्यभिचारात् । तथा सति येषाग्रुद्याद्गत्याद्यः परिणाम-विशेषाः कादाचित्कास्ते गतिनामाद्यः कर्मप्रकृतिभेदा इति परिशेषाद्वसीयते ।

जो परद्रव्यके बन्धसे विकित हो रही सिद्ध अवस्थाके परिणाम है, वे ही आत्माके स्वतः अनन्त कालतक ठहरनेवाले स्वभाव माने जाते हैं । शेष अन्यथा स्वरूप हो रहे परिणाम तो विभाव अवस्था है। आत्मा स्वयं अपने डीलसे तो जाना आना स्वास, उच्छुासके साथ घटना बढना, देव पर्यायमे जाना, इत्यादिक गमन परिणामोसे रीता है। उसको कोई छढनेकी, मोठे होनेकी, यहां वहां जानेकी आकुळता नहीं है। तो भी स्वयं अगमन स्वभाववाळे हो रहे आत्माके नरकगतिमे गमन, तिर्येच आदि गतियोमे गमन ऐसे विशेष परिणमन स्वरूप कलुषतायें हुई स्वभावोंका अन्यथाभाव हो जानेसे स्वसंविदित हो रही हैं । उसीके समान स्वभावतः कपायरहित स्वभाववाले चारित्र स्वरूप आत्माके कपायरूप कलुपतायें अनुभूत हो रहीं हैं। तथा निश्चयनयसे मिथ्यादर्शन रहित द्भाद्ध सम्यग्दर्शनस्वभाववाले आत्माके मिध्यालभाव वेदा जा रहा है । और अज्ञानरहित ज्ञान स्वभावत्राले आत्माके किसी पराधीनतात्रश अन्यप्रकारसे होरही अज्ञानरूप कल्लघता प्रतीत की जारही है तथा असंयतपना स्वभावसे खाली संयमीस्वरूप आत्माके परतंत्र होकर असंयत परिणाम रूप कल्लपताकी वित्ती होरही है। इसी प्रकार असिद्ध अवस्थास रहित सिद्धस्वभाववाले आत्माके असिद्धतः रूप कलपताका सद्भाव है। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे लेक्यारहित शुद्ध अलेक्य स्वभाववाले आत्माक संसार अवस्थामे कषायसंयुक्त योगप्रवृत्तिरूप कल्लवता परिणाम होरहे हैं। वे कल्लपताभाव ही आत्माके स्वभाव अवस्थासे अन्यथाभाव हो जानेकी अवस्थाके कारण होरहे किन्हीं परद्रव्यरूप हेतुओंके उदयको साध देते हैं अथवा उन गति, कपाय, आदि अन्यथाभृत अस्वाभाविक परिणामोंका संचेतन होना ही आत्माके अन्यथा परिणामोंको करानेवाछे किन्हीं हेतुओंके उदयको साध देता है। क्योंकि परतंत्र करनेवाले उन हेतुओं के न होनेपर शुद्ध आत्माके सभी प्रकारसे गति, कषाय आदि परिणामोंकी उपपात्त नहीं हो पाती है। अदृष्ट कर्मीके सित्राय किन्हीं दूसरे परिदृष्ट पदार्थीको यदि आत्माके उन गति, कषाय आदि भाव करानेमें कारण माना जायगा तो व्यभिचार दोष आता है। अधीत-गति आदिक भावोंका सूक्ष्म कर्मीको कारण माननेमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों बनजाते हैं। किन्त अन्य उत्साह, शरीर, इच्छाये, इष्टपदार्थ, स्त्री, पुरुष, कुदेव, कुगुरु आदिक इष्टपदार्थीको ही उन

भावोंका कारण माननेपर तो अन्वयन्यभिचार और न्यतिरेक व्यक्षिचार दीव आते हैं। उत्साह, इच्छा होनेपर भी अपनी राजीसे कोई देवगति या मनुष्यगतिको प्राप्त नहीं हो जाता है। कोई वीतरागमनि इच्छा न होनेपर भी आजकल देवगतिको प्राप्त हो जाते हैं। कोई पतले शरीरकी प्रकृतिको धारनेवाला मोटा होना चाहता है। किन्तु खुलकाय नहीं हो पाता है। इसके त्रिपरीत कोई बातूल शरीरवाला अतिस्थल मनुष्य न चाहने पर भी रुईका गद्दा बना जारहा है। कषायके परिदृष्ट कारण गाली, कुवचन, अनिष्ट पदार्थकी प्राप्ति, होनेपर भी क्षमावान् , सन्तोषी साधु पुरुषके कषाय कळ्षतायें नहीं उपजतीं हैं । साथमें किसी अकारण कोधी पुरुषके गाली, अपमान आदि कारण न मिलनेपर भी कीच ईर्घा. गर्व ये विभाव परिणाम उपज जाते हैं । हंसी, शोक, भय, ग्लानिके बहिरंग कारण न मिलनेपर भी बहतसे जीव इन झगडोंमें फंसे हुये हैं। और अनेक गम्भीर, आत्मध्यानी, सज्जन इनके कारण मिल-नेपर भी उक्त विपत्तियोंसे बचे हुये हैं। एकान्तमें स्त्रीपुरुष या शृंगार रस वर्द्धक कारणोंके होनेपर भी अनेक जीव अपने ब्रह्मचर्थकी रक्षा करलेते हैं। तथा व्यसनी जीव कारणोंके विना ही संकल्प. विकल्प, करते हुये ही मैथुन परिणामोंको करलेते हैं। सम्यग्दर्शनके बहिरंग कारण जुट जानेपर भी द्रव्यिंगी मिन मिध्यात्व परिणामोंको बनाये रखता है। साथमें श्री समन्तभदस्वामी या अकलंक देव प्रमृति पावन पुरुष अनायतनोंमें भी अपने सम्यग्दर्शनको परिपृष्ट बनाये रखते हैं । इसी प्रकार अस-यमी, असिद्ध, लेक्या, परिणामोंका भी बहिरंग हेतुओंके साथ कार्यकारणमाव माननेमें अन्वय व्यमि-चार या व्यतिरेक व्यभिचार आता है। हां अन्तरंग सूक्ष्म गतिनास, मतिज्ञानावरंण मिथ्याल, हास्य, आदि. कर्मीको इनका कारण मानना निर्दोष है। अतः तैसा होनेपर जिन पराधीनता सम्पादक पदा-थोंके उदयसे आत्मामें कभी कभी होनेवाले गति, कषाय, आदिक परिणाम विशेष होते हैं, वे गति-नाम. चारित्रमोहनीय, पुंबेद, आदिक कर्म प्रकृतियोंके विशेष भेद हैं। रहे कर्मद्रव्य हैं। यह "परिशेष" न्यायसे निर्णय कर छिया जाता है । अर्थात् जो कार्य कभी कभी होता है, वह आत्मद्रव्यका स्वभाव तो है नहीं। हां परद्रव्यके सम्बन्धसें होनेवाला विभाव परिणाम है। जैसे कि तीव काम वासना वरा हो रहा श्रोत्रिय ब्राह्मण अपने स्वभावका अतिक्रमण कर वेश्यागृह प्रति गमन करता है। अथवा बशीकरण मंत्र या चूर्णकी पराधीनतासे कोई कुलकामिनी परपुरुषकी अनुगामिनी हो जाती है। इसी प्रकार निश्चय नयसे शुद्धभात्रोंको धार रहा भी आत्मा जिनकी पराधीनतासे दःख कारण अथवा द्वःखरूप हो रहीं कपाय, अज्ञान, अनर्गल प्रमृत्ति, आदि अवस्थाओंको आत्मसात् करलेता है, वे ही जैनसिद्धांतमें पीद्रलिककर्म हैं । उनका उदय आनेपर जीव स्वभावोंको छोडकर बिभाव परिणति-योंकी प्राप्त कर लेता है। जैसे कि ज्वर क्षेप्परहित भी जीवित शरीर कभी कभी बात, पित्त, कफ, दोषोंका प्रकोप होनेपर ज्वरी या कफी हो जाता है। इस प्रकार अविनामावी हेतुसे अनुमान द्वारा कर्मीका उदय साध दिया जाता है। प्रसंग प्राप्तका निषेध कर चुकनेपर बचे हुये का ज्ञान कराने-बाला 'परिशेष न्याय है । " प्रसक्त प्रतिषेथे शिष्यमाण संप्रत्ययहेतुः परिशेषः "।

गतिनामोदयादेव गतिरौदयिकी मता। तिद्वशेषोदयात्सैव चतुर्धा तु विशिष्यते।। २॥ तयोपलक्षिताघातिकमीदयनिबंधनं। सुखाद्यौदयिकं सर्वमेतेनैवोपवर्णितम्॥ ३॥

नामकर्म का विशेष मेद हो रहे गतिनाम कर्मके उदयसे ही आत्माकी हो रही गतिनामक परिणित औदियिकभाव मानी गयी है। उस गतिनाम पिण्डप्रकृतिके मेद विशेष हो रहे नरकगति, विर्यगति, मनुष्यगति, और देवगति इन चार कर्मोंके उदयसे तो वही आत्माका गतिपरिणाम चार प्रकारोंसे भेदयुक्त कर दिया जाता है। श्री उमास्वामी महाराजने अधातियोंमें प्रधान हो रहे नामकर्म और उसमें भी प्रधान हो रहे गतिकर्मका कण्ठोक्त निक्रपण करिदया है। शेष रहे संपूर्ण अधातिया कर्मोंका उस गतिसे ही उपलक्षण कर दिया जाता है। अतः उस गतिसे उपलक्षित हो रहे जाति आदिक और वेदनीय, आयुः, गोत्र, कर्मोंके उदयको कारण मानकर हुये आत्माके सुख, मनुष्य शरीरमें दुसा रहना, उच आचरण, नीच आचरण आदिक भाव भी औदियिक है। यह सब इस उक्त कथनसे ही निक्रपण करिदया गया समझलेना चाहिये।

तथा कोधादिभेदस्य कषायस्योदयान्नृणाम् । चतुर्भेदः कषायः स्यादन्यथाभावसाधनः ॥ ४ ॥ लिंगं वेदोदयात्त्रेधा हास्याद्यदयतोपि च । हास्यादिस्तेन जीवस्य मुनिना प्रतिवर्णितः ॥ ५ ॥

तिसी प्रकार कोध, मान आदिको धारनेवाले पुद्रल निर्मित क्यायवेदनीय नामक चारित्र मोहनियके उदयसे जीवोंके कोध, मान, माया, लोभ, चार भेदोंको धारनेवाले क्यायभाव होते हैं। अधवा अनन्तसंसारके कारण मिध्यात्वका अनुबन्ध करनेवाले या स्वरूपाचरणको बिगाडनेवाले परिणाम और देशचारित्रको रोकनेवाले तथा सकलचारित्रका घात करनेवाले एवं यथाख्यात चारित्रको कसनेवाले थे चार प्रकार विभावभाव जीवोंके हो जाते हैं। स्वाभाविक परिणामोंसे हटाकर आत्माकी अन्यथाभाव परिणाति ही कपायभावका ज्ञापक हेतु है। पुंबेद, लीवेद, नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंके उदयसे आत्मामें तीन प्रकारका लिंगपरिणाम होता है, जिससे खीरमण, पुरुषरमण, या उभयरमणके कलुषतारूप परिणाम होते रहते हैं। तथा हास्य, रित, आदि कर्मोंके उदयसे भी हंसना या देश, उपवन, गायन, वृत्यकला, आदिके लिये उत्सुक रहना, अथवा इनमें अनुतसुक रहना, शोकमें रहना, डरना, पृणा

करना इन विभावपरिणामोंका अनुभव होता है। श्री उमास्वामी मुनिमहाराजने जीवके हास्यादिभाव भी उपाळक्षणवाळे उस लिंग करके ही प्रतिष्ठित कर कह दिये हैं।

दृष्टिमोहोदयात्पुंसो मिथ्यादर्शनमिष्यते । दृगावरणसामान्योदयाचादर्शनं तथा ॥ ६ ॥ सासादनं च सम्यक्तं यदनंतानुबंधिनः । कषायस्योदयाज्ञातं तद्प्येतेन वर्णितम् ॥ ७ ॥ सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां तत्कमोदयजन्मकं । मतमौद्यिकं कैश्चित्क्षायोपशमिकं स्मृतम् ॥ ८ ॥

इनके आगेका स्त्रोक्तभाव मिध्यादर्शन है, जो कि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके हो रहा माना जाता है। तिसी प्रकार मिध्यादर्शनमें अदर्शनभावका अवरोध हो जाता है। निद्रानिद्रां आदिक विभावपरिणामोंका भी उस मिध्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव कर छेना चाहिये। नौ प्रकारके दर्शनावरण कर्मका सामान्य उदय हो जानेसे तिस प्रकार अदर्शनभाव हो जाता है। जो कि मिध्या-दर्शन शद्धसे उपलक्षित कर दिया जाता है। और दूसरे गुणस्थानमें जो चारित्रमोहनीयके उदयसे हुआ सासादनसम्यक्त्वरूप विभावपरिणाम भी अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हो रहा सन्ता औदियकभाव है। वह भी इस मिध्यादर्शन करके ही वर्णना युक्त कर दिया गया है। अर्थात् मिध्या-दर्शनको उपलक्षण मान कर उसके मित्र सासादन सम्यक्त्वका भी औदियक भावोंमें संग्रह कर छेना चाहिये। एक प्रसिद्ध आचार्यके मतमें जो मिश्रमोहनीय कर्मके उदयसे हुआ सम्यग्निध्यात्वभाव है, वह उस सम्यिक्मध्यात्व नाम कर्मके उदयसे जन्म छेता हुआ औदियक माना गया है। यह हमारी सम्मित है। हा किन्हीं आचार्योने सम्यिक्मध्यात्व भावको क्षायोपशिमक माना है। उनकी गुरु परि-षाटीमें वैसा ही सर्वक्रधारा अनुसार समरण किया गया चला आ रहा है। उसको हम पहिले पांचरें सुनके विवरणमें क्षायोपशिमक सम्यक्त्व द्वारा संग्रह कर चुके हैं। अपेक्षासे सम्यिक्मध्यात्व भावको क्षायो मिक्रयां भी कही जा चुकी हैं।

ज्ञानावरणसामान्यस्योदयादुपवर्णितं । जीवस्याज्ञानसामान्यमन्यथानुपपत्तितः ॥ ९ ॥ वृत्तमोहोदयात्पुंसोऽसंयतत्वं प्रचक्ष्यते । कर्ममात्रोदयादेवासिद्धत्वं प्रणिगम्यते ॥ १० ॥

कषायोदयतो योगप्रवृत्तिरुपदर्शिता । लेक्स्या जीवस्य कृष्णादिः षड्मेदा भावतोनघैः ॥ ११॥

सामान्य रूपसे ज्ञानावरण कर्मका उदय हो जानेसे पदार्थीका अनवबोध होना जीवके अज्ञानरूप सामान्यभाव कहा गया है। अन्यथा बानी बानावरणका उदय हुये विना सर्वधाति श्पर्वकोंके उदयजन्य होनेवाले अज्ञानभावकी असिद्धि है। द्वीन्द्रिय जीवके नासिकाज्ञानावरणके सर्वघाति स्पर्दकोंका उदय हो जानेसे गन्धविषयक अज्ञानभाव है। आजकलके मभुष्योंके मनःपर्यय ज्ञानावरणका उदय हो जानेसे मनःपर्यय ज्ञान न होना रूप अज्ञानभाव है। बारहवें गुणस्थानतक केवलज्ञान नहीं होना रूप अज्ञान-भाव है तथा चारित्रमोहनीयसम्बन्धी सर्वधातिरपर्द्धक प्रकृतियोंके उदयसे आत्माके असंयमभाव होता 🖥 । पहिलेसे प्रारंभ कर चौथे गुणस्थानतक इन्द्रियासंयम और प्राणासंयमरूप औदयिकभाव हो रहा मळे प्रकार कहा जाता है तथा अभेदकी विवक्षा सभी एकसी बाईस प्रकृतियोंका और भेदकी विवक्षा सम्पूर्ण कर्ममात्र एकसो अडतालीसों प्रकृतियोंका उदय हो जानेसे ही असिद्धपनाभात्र प्रकृष्ट रूपसे नियत हो रहा हुआ कहा जाता है। एकसी अडतालीस प्रकृतिओंमें से किसी भी एकका यदि उदय होगा तबतक आसिद्रपना ही है। कषायोंके उदयसे विशेषित हो रही योगोंकी प्रवृत्ति तो जीवका **छेरु**याभाव समझाई गयी है। अर्थात जैसे रागके आवेशसे हंसीसहित अशिष्ट वचन **बोलना य**दि दुषित शरीरचेशसे युक्त हो जाय उतने समुदितभावको कौत्कृष्य कहते हैं। उसी प्रकार आत्मांके कषायभावोंसे रंगा हुआ आत्मप्रदेश परिषदस्य परिणाम तो औदियक होता हुआ भावलेस्य है । स्थल रूपसे क्षुधा आदि अठाएह और सूक्ष्मरूपसे अनन्त दोषों करके रीते हो रहे निर्दोष सर्वज्ञ देवने छेश्याके भाव अपेक्षा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पग्न, शुक्क, इस प्रकार छह भेद बतलाये हैं, भावछेत्र्या आत्माका औदयिक परिणाम है। आत्माके भावोंका निरूपण करते समय वर्णनाम कर्मके उदयसे हुये शरीरके ऊपरी रंगस्वरूप द्रव्यलेश्याका यहां कोई प्रकरण नहीं है । यहांतक गति आदिक इक्ईस औदियक भावोंका विवरण करिदया गया है।

अथ पारिणामिकभेदमतिपादनार्थे सप्तमिपदं सूत्रमाह ।

अत्र औदयिक भार्त्रोंके अनन्तर अन्तके पारिणाभिक भार्त्रोंके भेदोंकी प्रतिपत्तिको करानेके लिय श्री उमास्त्रामी महाराज दितीयाध्यायमें सात्रवें सूत्रका कण्ठोक्त निरूपण करते हैं।

जीवभन्याभन्यत्वानि च॥७॥

जीनत्व, भन्यत्व और अभन्यत्व ये तीन जीवके असाधारण हो रहे पारिणामिकमाव हैं। च शहके द्वारा अस्तित्व आदि साधारण भावोंका संग्रह भी कर सकते हो। जीव और भन्य तथा अभन्य इस प्रकार इतरेतर इन्द्र समास कर पुनः भाव अर्थमें तद्गितसम्बन्धी ल प्रत्मय करते हुये जीवल, भन्यल, अभव्यल, यह अर्थ निकल आता है।

शारिणामिकस्य भावस्य त्रयोऽसाधारणा भेदा इत्यमिसंबंधः। च श्रद्धसम्रुचितास्तु साधारणाः असाधारणाश्चास्तित्वान्यत्वकर्तृत्वभोवतृत्वपर्यायवन्त्वासर्वगतत्वानादिसंतितवंधन-वद्धत्वप्रदेशवन्त्वारूपत्वनित्यत्वादयः।

पूर्व सूत्रसे भेदशद्भक्ती अनुवृत्ति कर परिणामरूप प्रयोजनको धारनेवाले पारिणामिकभावके असाधारण भेद तीन हैं । इस प्रकार दोनों उद्देश्य, विधेय, दलोंका अन्वय कर दोनों ओरसे सम्बन्ध होना बन जाता है। हां, समुचय अर्थको कहनेवाले सुत्रोक्त च शहसे तो अन्य द्रव्योंमें पाये जांय और जीव द्रव्यमें भी पाये जांय ऐसे साधारण तथा कतिपय असाधारण हो रहे इन अस्तित्व आदि भावोंका संप्रह कर लिया जाता है । वे भाव आस्तित्व, अन्यत्व, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यापवत्व, असर्व-गतत्व, अनादिसंतिवन्धनयद्भत्व, प्रदेशवत्त्व, अरूपत्व, नित्यत्व, ऊर्चगतित्व, द्रव्यत्व, आकर्षकत्व, आदि हैं। अर्थात---वस्तको तीनों कालतक स्थिर रखनेवाला अस्तित्व गण छहों द्रव्योंमें पाया जाता है । अतः जीवका साधारण भाव है । सम्पूर्ण द्रव्योंको परस्पर भिन्न करनेवाला अन्यत्वभाव भी साधा-रण है, जो कि कर्मीं उदय, उपराम, क्षय, क्षयोपरामकी, अपेक्षा नहीं रखता हुआ पारिणामिक है। कर्त्तापन भी साधारण भाव है। " मेघो वर्षति, आकाशमत्रगाहते, धर्मद्रव्यं गमयति, काल्ने वर्त्त-यति '' आदि कियाओंको उपजावनेमें संपूर्ण द्रव्योंको स्वाधिकार अनुसार स्वतंत्रता प्राप्त है। " स्वतंत्रः कत्ती " यह कत्तीका सिद्धांत लक्षण है । स्वकीय वीर्यकी प्रकर्षतासे परद्रज्यकी शक्ति-योंके प्रहण करनेकी सामर्थ्य ही भोक्तापन है, यह भोक्तृत्व भी अन्य द्रव्योंमें पाया जाता है। अतः साधारण भाव है। यद्यपि स्थूलदृष्टिसे कर्त्तापन और भोक्तापन अकेले जीवका ही परिणाम प्रतीत हो रहा है। फिर भी सक्ष्मविचार करनेपर वह साधारण भाव समझा जाता है। गृहस्य सम्बन्धी अनेक कार्योंके कर्ता और भोक्ता स्त्रीपुरुष दोनों ही हैं. बन्ध और बन्धका फुळ दोनोंके गुणोंका खुत हो जाना तथा मोक्ष इनके कर्ता और भोक्ता जीव प्रद्रल दोनों हैं । बुसुक्षित पारद सुवर्णका मक्षण कर उसका भोक्ता बन जाता है। सांभरकी झील काठ, पथरा, मही, आदिको खा जाती है। अपने वीर्य प्रकर्षसे उनका एवण कर देती है। उदरकी अग्नि, अन्न, जल, दुग्ध, आदिका और चूल्हेकी अग्नि लकडीका भोग करती है ! चैतन्य न होनेसे पुद्रलको भोगी न कहा जाय, इसमें स्वार्थी जीवका पक्षपातपूर्वक स्वप्रशंसा करना ही कारण है। भोका पुरुषके समान स्त्री भी पुरुषकी भोक्त्री होती है। जो वचेको कीडा करा रहा है, वह स्वयं भी उसके साथ खेल रहा है। अतः सःभद्दश्को विचारनेवाले पक्षपातरहित पुरुष भोकृतृत्वको साधारणभाव स्वीकार करते हैं । यह जीवके भीग, उपभोग, भावोंसे न्यारा उदयादि की नहीं अपेक्षा रखता हुआ पारिणामिकभाव है। तथा पर्याप्रसहितपना भी पारिणामिक है। सभी इच्य अपनी अपनी नियतपर्यायोंको धारते हैं। इस कार्यको करनेमें उनको किसी कर्मके

उदयादिककी अपेक्षा नहीं है । असर्वगतपना भी आकाशको छोडकर सम्पूर्ण द्रव्योंमें पाया जानेवाला भाव है। आकाश सर्वगत है. इसका अर्थ मध्यम अनन्तानन्त इस बीसवीं नियत संख्यावाले प्रदेशोंको धारना मात्र है। सर्व शद्धसे अस्तित्वभाववाले जगत् स्थित अनन्तानन्त नियत पदार्थ पकडे जाते हैं, अलोकाकाशकी चौकोर प्रदेशभित्तिके बाहर फिर कोई भी छहऊ ओर पदार्थ नहीं है । अनन्तानन्त आकाशोंको जाननेकी शक्ति रखनेवाला केवलज्ञान पुनः आकाशके बाहर किसी पदार्थको नहीं जान रहा है। वहां कोई पदार्थ सम्भव होता तो उसको विषय कर छेता। सरल बुद्धिवाछे शिष्योंको समझानेके लिये सर्वगतकी अपेक्षा आकाशको अनन्तगत कह देना व्यत्पत्ति सम्पादक है। वैरोपिक या पौराणिकोंके यहां ईश्वर सर्वशक्तिमान माना गया है। सर्वशक्तिका " कर्नुमकर्त्तमन्यथाकर्तुम् " समर्थ है ऐसा मानते है । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर चाहे तो मछलीसे मनुष्य पैदा हो जाता है, देवी और पुरुष या देव और मनुष्यिणी या तिर्येचिनीके सम्बन्धसे भी अपन्य उत्पन्न हो जाता है । मुसलमानोंका ख़ुदा तो जडको चेतन बना सकता है । चाहे जब आत्मायें बना लेता है. और चेतन द्रव्योंको नास्तित्व (नेस्तनावुद) कर देता है। असतका उत्पाद सत द्रव्यका विनाश होना इष्ट कर लिया है, इसादि असम्भव कार्योका सम्पादन कर देना भी सर्वशक्तिका अर्थ कर लिया है। किन्त जैनसिद्धान्त अनुसार असम्भव कार्य किसीके द्वारा भी हुये नहीं माने गये हैं । जैनसिद्धान्तमें सर्वज्ञको या सिद्धजीवोंको अनन्त शक्तिमान् स्वीकार किया है, सर्वशक्तिमान नहीं । अतः सर्वशक्तिमानके समान सर्वगत आकाशके सर्वशद्धका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये । यदि कोई दुरुपयोग करना चाहे तो सर्वगतत्वाभावको आकाशका भी परिणाम हम माननेको उद्युक्त हैं। कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम इन निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं होनेसे असर्कगतत्त्वभाव परिणामिक है। तथा अनादि संततिबन्धनबद्धत्व भाव भी साधारण पारिणामिक भाव है। क्योंकि एक धर्मद्रव्य, एक अधर्भद्रव्य, एक आकारा, असंख्याते कालद्रव्य, अनन्तानन्त जीवद्रवय और इनसे अनन्तान्त गुणे पुद्गलद्रव्य ये नियत हो रहे सम्पूर्णद्रव्य अपनी अपनी अनादि अनन्त पर्यायोंके सन्तानस्वरूप बन्धनमें बंध रहे हैं । क्योंकि जीव पुद्गलबन्योकी गति करनेमें उदासीन हेतुपन या सम्पूर्ण द्रन्योमें उदासीन स्थापकत्व अथवा सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश देना तथा वर्तना कराना एवं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चैतन्य, सुख आदि इन सहभावी, कमभावी, पर्यायोंकी सन्तान अपने अपने द्रव्यमें तदात्मक हो रही बांधी जाचुकी है, शुद्ध द्रव्यमें भी यह परिणाम पाया जाता है, अतः कर्मीके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं होनेसे अनादि-बन्धनबद्धत्व नामका पारिणामिक भाव है । प्रदेशवत्व परिणाम भी सम्पूर्ण ब्रव्योंका साधारण भाव है। समी द्रव्य किसी न किसी चौकोर, गृहीतशरीर आकार, छोकत्रिन्यास, पंडशचौकोर, बरफीसमान आदिसे स्थानोंको धार रहे व्यंजन पर्याववाले हैं । वे उचितसंख्यात, असंख्यात या अनन्त प्रदेशोंको घरकर बैठे हुये है। रूप, रस, आदि गुणोंके न होनेसे शुद्ध जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें पाया

जानेवाला अरूपत्व धर्म भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखनेके कारण पारिणामिक माव है। यद्यपि पद्रल द्रव्यमें कथमपि अरूपत्वभाव नहीं हैं। फिर भी अन्य चार द्रव्योंमें भी पाया जाना होनेसे अरूपत्वभाव जीवका साधारण परिणाम ही गिना जायगा, तथा नित्यद्रव्य अर्थको प्रहण करनेकी अपेक्षा संपूर्ण द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय, न होनेसे कर्मके उदयादिक की अपेक्षा न रखनेवाला नित्यपना भी पारिणामिक भाव है। एवं बहुतसी परमाणुयें लोकपर्यन्त उपरको जानेकी देव रखती हैं। अग्नि उपरको जाती है। जलमें डुबोई हुई तंत्री ऊपरको उछलती है। अतः कुछ पदलोंमें भी प्राप्त हुआ होनेसे उर्ध्वगतिपन स्वभाव भी जीवका साधारण भाव है। सभी द्रव्ये भविष्यकालमें होनेवाली पर्यायोंकी ओर बह रहीं हू। अतः द्रव्यपना भी जीवका साधारण भाव है। चुम्बक, मीरपंख. अयोगोलक, अनुकुछ गायन, मनोहारी रूप, खानि, आदि पुद्रलोंमें भी वर्तरहा होनेसे आकर्षकत्व भाव भी योगी जीवका साधारण परिणाम है, इत्यादि और मी पारिणामिकमाव समझ छेने चाहिये। इन साधारण भावोंमें कुछ तो षट्स्थानपतित हानि इदिको प्राप्त हो रहे अनुजीवी गुण हैं। जैसे कि अस्तित्व और अगुरुलघु दूसरे नामको धारनेवाला अन्यत्व है । द्रव्यत्व, प्रदेशवत्व, भी अनुजीवी गुण है। तथा कर्तृत्व, आकर्षकत्व भोक्तृत्व ये पर्यायशक्तिरूप भाव है। पर्यायवत्त्व, अपर्शगतत्व, अनादि संततिबन्धनबद्धत्व, अरूपत्व, ये द्रव्योंके स्वभाव हैं । द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नित्यत्व और पूर्या-यार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्यत्व अथवा स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व इत्यदिक भाव तो वस्तुकी भित्तिपर सप्तभंगीके विषय हो रहे कल्पनाकान्त परिणाम है। बिद्र-जन इसको और विशद रूपसे समझ सकते हैं । अथवा इन अस्तित्व आदि भावोंमें दो कर्त्त्व, भोक्त-त्वको जीवका ही असाधारण भाव समझो । असर्वगतत्वको आकाशभिन्न पाच द्रव्योंका परिणाम समझ लो । अरूपत्वको पद्गलरिहत पांच द्रव्योंका परिणाम मानो । अस्तित्व, अन्यत्व, पर्यायवन्त्व, प्रदेशवत्वको सभी छः ज द्रव्योंका स्वभाव गिन लो । अनादिबन्धनबद्धत्वको जीव पुद्गल दो द्रव्योंका भाव विचार लो । तभी तो श्री विद्यानंद आचार्यने च शह्नकरके साधारण और असाधारण दोनों जातिके भावोंका समबय किया कहा है। कभी साधारणका अर्थ छः ज द्रव्योंमें ठहरना वित्रक्षित है। ऐसी दशामे जो भाव छःओंमें नहीं ठहरता हुआ दो, तीन, चार, पांच, द्रव्योंमें ही पाया जायगा वह असाधारण माना जायगा और कहीं जीवसहित दो तीन चार, या पांच इच्योंमें वर्त रहा भाव भी साधारण इआ विवक्षाप्राप्त है।

तर्बादिग्रहणमत्र न्याय्यमिति चेक, त्रिविधपारिणामिकभावमिति ज्ञाहानिमसंगात् । समुच-यार्थेपि च श्रद्धे सित तुल्यो दोष इति चेक, प्रधानापेक्षत्वात्त्रित्वमितिज्ञायाः । समुचीयमानास्तु चक्रद्धेनामधानभूता एवास्तित्वादय इति न दोषः ।

जब कि च शद्ध करके अस्तित्व, अन्यत्व आदिक पारिणामिक भावोंका समुच्चय किया जाता है, तब तो इस सूत्रमें '' जीवभव्याभव्यत्वादीनि '' इस प्रकार आदि शद्धका प्रहण करना न्यायमार्गसे अनपेत (समुचित) है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो रंका नहीं करना। क्योंकि "दिनवाद्यं" इत्यादि सूत्र करके गिनाये गये तीन प्रकारके पारिणामिक भावके प्रतिक्षा करनेकी हानिका प्रसंग आता है। अतः सूत्रमें आदि राह्नको नहीं डालकर तीन प्रकार पारिणामिक भावोंकी गिना दिया है। पुनः रंकाकार कहता है कि सूत्रमें समुच्चय अर्थको कहनेवाले च रान्दका प्रहण करते सन्ते भी तो वही दोष समानरूमसे लागू होता है। अर्थात्—च राद्व करके अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव पकडे जायेंगे तो भी तीन प्रकारके पारिणामिक भावोंकी प्रतिक्षा करनेकी हानि होय ही जावेगी, अतः प्रतिक्षाभंग दोष तदवस्थ रहा। इसपर प्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं कर सकते हो। क्योंकि पारिणामिक भावोंके तीन संख्याकी प्रतिक्षाको प्रधानरूपकी अपेक्षा है। हां च राद्व करके उपरिष्ठात् एकत्र करलिये गये तो अप्रधान भूत ही अस्तित्व आदिक ले लिये जाते हैं। अर्थात्—जीवत्व आदि तीन प्रधानभूतभाव हैं, और अस्तित्व आदि अप्रधानभूत हैं, जिनको कि कण्ठोक्त करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार कोई दोष नहीं हो पाता है।

कुतः पुनः पारिणामिका जीवत्वादयो भावा इति चेत्, कर्मीपश्चमक्षयक्षयोपश्चमोदयानपेक्ष-त्वात् । तस्य जीवितपूर्वकत्वाज्ञीवत्वमिति चेन्न, उपचारतो जीवत्वप्रसंगात् । ग्रुख्यं तु जीवत्वं तस्येष्यते, ततो न ग्रौदियिकं ।

अतमाक जीवत्व आदिक भावोंको भला फिर पारिणामिकपना किस ढंगसे नियत किया जाय, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विज्ञानन्दस्वामी कहते हैं कि कमींके उपराम, क्षय, क्षयोपराम, और उदय की नहीं अपेक्षा होनेसे जीवत्व आदि भाव पारिणामिक हैं । कमींके उपरामादिको निमित्त न मानकर केवल आत्मीय परिणामोंकी अपेक्षासे होनेवाले स्वभाविकभाव पारिणामिक हैं । यहां कोई यों कहें कि भ्वादिगणकी '' जीव प्राणधारणे '' धातुसे बनाया गया जीव शब्द हैं । अतः बहिरंग प्राण आयुष्य कर्मके उदयकी अपेक्षा रखते हुये जीवत्व भावको औदियक मानना चाहिये । उदय आदिकी नहीं अपेक्षा रखना, यह पारिणामिकका लक्षण तो उसमें घटता नहीं हैं । श्री विद्यानंदस्वामी कहते हैं कि यह आक्षेप हमारे ऊपर नहीं हो सकता है । क्योंकि आयुक्तमेंके उदयकी अपेक्षासे यदि जीवत्व भाव माना जायगा तो सिद्ध महाराजके अजीवपनेका प्रसंग होगा। यदि कोई यों कहे कि अजीवीत्, जीवति, जीविष्यति, इति जीवः इस प्रकार तीनों काल्कों जीवन कियाकी अपेक्षा रखनेवाला जीव हैं । श्री सिद्ध-परमेष्ठी पहिले संसार अवस्थामें आयुक्तमंका उदय होता रहनेसे जीव रह चुके हैं । कतः भूतप्रज्ञापन पननयकी अपेक्षा सिद्धोंका भी जीवत्व रिक्षत हो जाता है । सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो सिद्धोंका उपचारसे ही जीवपनेका प्रसंग हुआ । वास्तवमें देखा जाय तो उन सिद्धोंका मुख्य होता हुआ जीवत्वभाव इष्ट किया गया है । तिस कारण निर्णात हुआ कि जीवत्वभाव औदियक नहीं है । पारिणामिक ही है ।

नतु च ज्ञानादेर्भावमाणस्य धारणात् सिद्धस्य ग्रुष्यं जीवत्वमित्यभ्युपगमे झायिकमेत-तस्यादनंतज्ञानादः क्षायिकत्वादिति चेत् न, जीवनिक्रयायाः श्रद्धनिष्यस्यर्थत्वात् तदेकार्थसमवे-तस्य जीवत्वसामान्यस्य जीवशद्धमञ्जतिनिमित्तत्वोपपत्तः । अथवा न त्रिकारुविषयजीवनाम-भवनं जीवत्वं । किं तर्हि १ वित्तत्वं न च तदायुरुद्यापेक्षं न चापि कर्मक्षयापेक्षं सर्वदाभावात् ।

यहां और भी किसीकी शंका है कि सिद्धोंके पांच इन्द्रिय, तीन बळ, आयु, श्वासोच्छ्रास, इन दरा द्रव्यप्राणोंका धारण नहीं है। फिर भी ज्ञान, सुख, चैतन्य, सत्ता इस प्रकारके भावप्राणोंका धारण होनेसे सिद्धोंके भी मुख्य जीवत्व प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार स्वीकार करने पर तो यह जीवाचभाव क्षायिक हो जायगा । क्योंकि अनन्तज्ञान आदिक तो ज्ञानावरण आदि कर्मीके क्षयसे उत्पन्न द्वये क्षायिक हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि प्राणधारणरूप जीवन किया तो व्याकरण शास्त्र द्वारा जीव शद्धकी साधु सिद्धि करने मात्रके लिये हैं। जहां ही जीव द्रव्यमें प्राण धारण रूप जीवनिकया रहती है, वहां ही जीवत्व नामकी जाति रहती है, जो दो धर्म एक द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे ठहरते हैं । उनका रूप, रसके समान परस्परमें एकार्थ समवाय सम्बन्ध माना गया है। अतः जीवत्व नामक सामान्यको जीव शद्धकी प्रवृत्तिका निमित्तपना युक्तिसे निर्णीत हो रहा है। जीवत्व जाति ही जीवत्वभाव है। रूढि शद्धोंमें धात्वर्थ क्रियाको केवल व्यापत्तिके लिये ही माना गया है। उसका परिपूर्ण अर्थ घटित करना आवश्यक नहीं, अथवा हम यह सिद्धांत करते हैं कि तीनों कालोंमें प्राणधारण या जीवत्व जाति इस नामके सद्भाव बने रहनेको हम जीवत्व नहीं मानते है, तो आप जैन जीवत्वका क्या अर्थ करते हैं ! इसका उत्तर यह है कि आत्माका चैतन्य गुण ही जीवल है। वह चेतना तो आयुष्य कर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाळी नहीं है। और वह चतन्य कर्मीके क्षयकी अपेक्षाको धारनेवाले भी नहीं है। कारण कि अनादिसे अनन्तकालतक निगोद अवस्थासे छेकर सिद्धोतकमें वह चैतन्यभाव सदा पाया जाता है। औदियकभाव या क्षायिकभाव तो सर्वदा नहीं पाये जाते हैं । अनादिकालसे अनन्तकालतक ब्रव्य मुद्राकर परिणाम करता हुआ चैतन्य-गुण ही जीवल शहसे लिया जाता है। औदयिकभाव धारावाही रूपसे भलें ही किसी अनादि अनन्त संसारी जीवके सदा पाये जांय किन्तु व्यक्ति रूपसे वे सादिसान्त हैं । हां चैतन्य तो व्यक्तिरूपसे मी अनादि अनन्त है। मले ही घटता बढ़ता रहे क्षायिकमाव तो सादि अनन्त प्रसिद्ध ही हैं।

पतेन सम्यन्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन सिद्धभवनयोग्यत्वं भव्यत्वं तद्विपरीतमभव्यत्वं च वारिणामिकमुत्रेयं तस्वापि कर्मोदयाधनपेक्षत्वसिद्धेः सर्वदा भावात् । अनादिपरिणाम-मात्रनिविचत्यात् ।

इस उक्त कथन करके यह भी कह दिया गया उपरिष्ठात् कक्षण समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यकान, सम्यक्चारिक्रस्प परिणामकरके भविष्यमें सिद्धपर्याय होनेकी वर्त्तमानकाल्में वर्त रही योग्यता तो भन्यत्वभाव है। और उससे विपरित जो रत्नत्रय रूप करके परिणाम नहीं हो सक्ते की योग्यता अभन्यत्व है। ये दोनों भाव पारिणामिक जान छेने चाहिये। क्योंकि उन भन्यत्व, अभन्यत्व, दोनोंको भी कर्मके उदय, उपशम, आदिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाछेपनकी सिद्धि हो जानेसे भिन्न दो प्रकार जातिबाछे जीवोंमें उन दो की असंकररूपसे सर्वदा सत्ता पाई जाती है। अर्थाद यक्तानन्त प्रमाण अभन्य जीवोंकी राशिमें सर्वदा अभन्यत्व परिणाम होता रहता है, तथा मध्यम अनेतानन्त प्रमाण अक्षय भन्य राशिमें बहुभाग भन्योंके सिद्ध अवस्था होनेतक भन्यत्वभाव बना रहता है। मोक्ष होनेपर भन्यत्वभाव बिगड जाता है। जैसे कि मृत्तिकामें घट बन जानेपर घट परिणाम योग्यता विनश जाती है। हां दूरभन्योंमें भन्यता सर्वदा बनी रहती है, भन्यपना भविष्यकालकी अपेक्षासे है। कार्य निष्पत्ति हो जानेपर तो मन्यताके स्थानको भूतता घर छेती है। सुवर्णपाषाण और अन्धपाषाणके समान अनादि कालसे चले आ रहे केवलभन्यत्व या अभन्यत्वरूप परिणामोंके निमित्तसे भन्यपना और अभन्यपना निर्णात कर दिया जाता है।

कुतः पुनरनादिः परिणामः कर्मोदयाद्युपाधिनिरपेक्षो जीवस्य सिद्ध इत्यारेकायामाइ।

कर्मीके उदय, उपशम, आदि झगडोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ जीवका परिणाम भन्द्र अनादि है यह किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय? बताओ, इस प्रकार शिष्यमें संशयका उत्थान होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

अनादिपरिणामोस्ति तत्रोपाधिपराङ्मुखः। सोपाधिपरिणामानामन्यथा तत्वहानितः॥ १॥

उस जीवमें कर्म, नोकर्म, आदिक उपाधियोंसे सर्वधा पराक्मुख हो रहा कोई अनादि काळीन परिणाम अवस्य है, क्योंकि पश्चात् उपाधिसहित परिणामोंकी अन्यथा यानी मूळ पारिणामिक वस्तुको माने बिना उस उपाधिसहित परिणामपनकी हानि हो जावेगी । मूळ है तो शाखा चळ सकती है "मूळं नास्ति कुतः शाखा" मूळमें कपडा है तो उसपर कोई भी रंग रंगा जा सकता है, आकाशको या आकाशके फूळको कोई रंग (रिज्जतकर) नहीं सकता है। इस अन्यय व्यतिरेक वाळे हेतुसे जीवका निजगांठका डीळ पारिणामिकभाव है यह साध दिया गया है।

निह स्फटिकादेरसित स्वाभाविकपरिणामे स्वच्छत्वे जपाकुसुमाचुपाधिसाविध्यभावातु-जन्मा रक्तत्वादिपरिणामः मतीयते तद्भदात्मनोप्यौपाधिकाः परिणामा औपश्रमिकादयो नानादि-परिणाममंतरेणोपपद्यंते श्रश्नविषाणादेरपि स्वाभाविकपरिणामरहितस्यौपाधिकपरिणाममसंगात् । तत्तेस्ति जीवस्यानादिनिरूपाधिकः परिणामः कर्मोपश्रमादिपरिणामवत् । तथा सति । देखो, स्फटिक, काच, आदिके गांठकी स्वाभाविक परिणाम हो रही स्वच्छताके नहीं माननेपर पुनः जपापुष्प, हरापत्ता, आदि उपावियोंक सिक्किट भावसे उरपन्न हुआ छाछ रंग, हरापन आदिक परिणाम हुये नहीं प्रतीत होते हैं। किन्तु मूळमें स्वच्छ स्कटिक ह्व्य है, तभी उसमें जपापुष्पके सिक्किशनसे औदियक छाछमा जानछी जाती है। वन्ध्या पुत्रको गहने या कपडोंसे नहीं सजाया जा सकता है। उसी प्रकार आत्माकी निज सम्पित हो रहे अनादि काछीन पारिणामिक भावोंके बिना उपाधिजन्य औपशमिक, क्षायोपशमिक, ऐसे सम्यक्ख, झान, आदिक परिणाम होना तो नहीं बैन सकता है। यदि मूळमित्तीको माने बिना ही चित्र खींचा जा सके तो स्वाभाविक परिणामरूप निज शरीरसे रहित हो रहे शश्रश्रंग, आकाशपुष्प, आदिके भी औपाधिक परिणाम होते रहनेका प्रसंग हो जायगा, जो कि किसीको इष्ट नहीं है। तिस कारण यह सिद्धान्त बन जाता है कि जैसे जीवके कमोंकी उपशान्ति, क्षीणता, उदय, आदि निमित्तोंसे सादि या धारावाहि अनादिकाळसे हो रहे औपशमिक, औदियक आदि परिणाम सादे जा चुके हैं, उसी प्रकार जीवके उपाधियोंके विना ही गाठके अनादि काळसे उपज रहे परिणाम सिद्ध हो जाते हैं अर्थात्—जीवोंके पांचों प्रकारके परिणामोंको हमने प्रमाणसे सिद्ध कर दिया है। और तैसी व्यवस्था कर चुकनेपर—

एतत्समुद्भवा भावा द्यादिभेदा यथाक्रमम् । जीवस्यैवोपपद्यंते चित्स्वभावतमन्वयात् ॥ २ ॥

इन उपराम, क्षय, आदिसे भछ प्रकार उत्पन्न हो रहे भाव तो यथाक्रमसे दो, नौ, आदि भेदोंको धार रहे हैं। ये भाव सब जीवद्रव्यके ही निजतत्त्व सिद्ध हो जाते हैं (प्रतिज्ञा वाक्य) क्योंकि जीवकी आत्मा बन रहे चैतन्य स्वभावका सम्पूर्ण भावोंमें भछ प्रकार अन्वय हो रहा अनुभूत हो रहा है। अर्थात्—हां धारण, द्रव, उच्णता, ईरण, या रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आदिका अन्वय यदि भावोंमें पाया जाता तब तो इनको पुद्रछका निजतत्व कह देते, किन्तु उक्त त्रेपन भावोंमें पुद्रछ आत्मकपना नहीं देखा जाता है, अतः ये भाव जीवके ही समझ छेने चाहिये। कोई समयसाररिक पण्डितमन्य यदि निश्चयनयका अवलम्ब लेकर औदियक, क्षायोपशिक और औपशिमक भावोंको पुद्रछका कह देवे तो यह उसका आपिक्षिक कथन प्रमाण ज्ञान करनेके छिये आदरणीय नहीं है।

कर्मणाश्चपञ्चमक्षयक्षयोपञ्चमोद्यमयोजना औपश्चमिकक्षायिकक्षायोपश्चमिकौद्यिका भावाः कर्मण एवेति न मन्तन्यं, कर्मोपञ्चमादिभिः प्रयुज्यमानादीपश्चमिकादिनां जीवपरिणामत्वोपपत्तेः वेतनासंबंधात्वाच ।

औपशमिक आदि शहोंमें प्रयोजन या भव अर्थ में ठण् प्रत्यय करनेपर यों अर्थ किया जाय कि कमोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम, और उदय, प्रयोजनको धारनेवाले औपशमिक, क्षायिक,

क्षायोपशिमक, औदियक ये पचास भाव तो कर्मोंके ही हैं, इस प्रकार नहीं मानना चाहिये | क्योंकि औपशिमक आदिका स्वतंत्र कर्ता आत्मा ही है | प्रयोजक हेतु भछे ही कर्मोंका उदय, उपशम, आदि अवस्थाको मान छिया जाय, कर्मोंके उपशम, आदिकों करके प्रयोजित किये जा रहे औपशिमक आदि मार्थोंको जीवका परिणामपना युक्तिसिद्ध है | मार्वार्थ—युद्धका या चृत्यका बज रहा बजा छडता नाचता नहीं है | ये सब क्रियायें योद्धा या नर्तककी स्वात्मीय कार्य (करत्तें) हैं | निमित्त कारणोंका आदर करना वहांतक ही शोभा देता है, जहांतक कि उपादानकारणोंकी निज सम्पत्तिपर डांका न डाछा जाय | एक चनेका आधा एक दौँ को चनों भरी हजार मनकी खत्तीमें डाछ देनेसे पूरे बनोंमेंसे आधे पांचसों मन चनोंका दावा करना अनीति मार्ग है | दूसरी बात यह है कि औपशिमक आदि मार्वोमें अन्वितरूपसे चेतनाका सम्बन्ध हो जानेसे भी वे सम्यग्दर्शन, गति, आदिक भाव सब जीव द्रव्यके ही हैं | युद्धल कर्मके उपादेय नहीं हैं |

प्रधानस्यैवैते परिणामा, इत्यप्यनालोचिताभिधानं तत एव । न हि द्यादिभेदेषु यथाक्रममोपभिकादिषु भावेषु चित्समन्वयोऽसिद्धस्तेषामहंकारास्पदत्वेन प्रतीतेरात्योपभोगवत् । न
चाहंकारोपि प्रधानपरिणामः पुरुषतादात्म्येन स्वयं संवेदनात् । भ्रांतं तत्त्रथा संवेदनमिति चेत्
न, बाधकाश्वाबात् । अहंकारादयोऽचेतना एवानित्यत्वात् कलशादिवत्येतदनुमानं बाधकिवित्वे
चेत्रा, पुरुषानुभवेनानैकांतिकत्वात् तस्यापि परापेक्षितया कादाचित्कत्वेनानित्यत्वसिद्धेरित्युक्तत्वादुपयोगसिद्धे । किं च—

कपिल मतानुयायी कहते हैं कि ये ज्ञान, क्रोध, आदिक परिणाम तो प्रकृतिके ही परिणाम हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण,तमोगुण, इनकी साम्य अवस्था स्वरूप प्रधान ही परिणाम करता है। आत्मा तो कूटस्थ अपरिणामी है। आचार्य कहते हैं कि यह सांख्यमितयोंका कथन भी उस ही कारणसे अर्थात् —क्रोधादिमें चेतनका सम्बन्ध ओत पोत लगा रहनेसे ही अविचारित है। साख्योंने चैतन्यका अन्वय आत्मीय भावोंमें ही स्वीकार किया है, क्रोध वेद आदिमें चैतन्यका स्पष्ट अनुभव हो रहा है। पुनः तुम सांख्य यथाक्रमसे दो, नौ आदि मेदोंको धार रहे, औपश-मिक, क्षायिक, आदिक मावोंमें चैतन्यका समन्यय असिद्ध है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि उन त्रेपन भी भावोंकी चिदात्माका उल्लेख करनेवाले अहंकारके प्रतिष्ठित स्थानपने करके प्रतीति हो रही है। जैसे कि में भोक्ता हं, अहं दृष्टा, अहं चेतियता, इनमें आत्मीयताकी प्रतीति हो रही है। जैसे कि में भोका हं, अहं दृष्टा, अहं चेतियता, इनमें आत्मीयताकी प्रतीति हो रही है। मावार्थ—प्रकृतिरूप पुंखली खिको दारा सम्पादित कराये गये, आत्मिनष्ठ उपभोगमें जैसे " अहं उपभोक्ता अस्म " इस प्रकार अहंकारस्थलपनेसे आत्मस्वरूप चैतन्यका मले प्रकार अन्वय हो रहा है, उसी प्रकार औपशमिक, औदियक, भावोंमें चेतनात्मक अहंकारका समरसरंग जम रहा है। कपिल मतानुयायी यों तो नहीं कह सकते हैं कि " प्रकृतेमहास्ततोहंकारस्तरमा-कृष्ण घोडशकः। तस्मादिप घोडशकाः (चंचभूतानि " इस सृष्टिप्रक्रियाके अनुसार अहंकार

मी अन्यक्त प्रकृतिका न्यक्त परिणाम है। देखो यह कहना यों ठीक नहीं है कि आत्माके तदात्मकपने करके अहंकारका स्वयमेव सम्वेदन हो रहा है। अहं भोक्ता, अहं चेतनः, यहां अहंका आत्माके साथ तदात्मक सामानाधिकरण है। पुनः यदि कापिल यों कहें कि अहं गीरः, अहं स्थूलः, में गोरा हूं, में मोटा हूं, यहां गोरापन, मोटापन शरीरका अनुविधान करते हैं। उनमें अहंका सम्बन्ध जोडकर आत्माका समिभिन्याहार करना जैसे भ्रान्त है, उसी प्रकार आत्माके साथ तदात्मकपने करके अहंकारका तिस प्रकार सम्बदन करना भी आन्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अहं गौरः, अहं स्थूलः, इन प्रतीतियोंका बाधकप्रमाण विद्यमान है। आत्मा गोरा या मोटा नहीं है। पुद्रल निर्मित शरीर ही गोरा या मोटा होता है। इस प्रकार बाधक प्रमाण उत्पन्न हो जानेसे " अहं गौरः, अहं स्थूलः " यह सम्बेदन भ्रांत कहा जा सकता है। किंतु अहं क्रोधी, अहं ज्ञानवान्, अहं आत्मा, अहं चेतनः, इन प्रतीतियोंका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः अहंकारका पुरुषके तदात्मकपने करके सम्प्रेदन होनां अभ्रान्त है । यदि सांख्य उस सम्वेदनको बाधा देनेवाले इस अनुमानको उठावें कि अहंकार, बुद्धि, इम्ब्रियां, आदिक पदार्थ (पक्ष) अचेतन ही है । (साध्य) अनित्य होनेसे (हेतु,) घट, पट, आदिके समान (अन्त्रयदृष्टान्त) प्रन्थ-कार कहते हैं कि यह बाधक अनुमान तो समीचीन नहीं है। पुरुषके अनुभव करके व्यभिचार दोष उपस्थित हो जाता है। " बुज्बच्यवसितमधे पुरुषक्षेतयते " बुद्धिकी हारा निर्णीत किये गये अर्थको पुरुष चेतना करता है, उपभोग करता है। इस प्रकार उस पुरुषके अनुभवको भी परकी अपेक्षा होनेसे कभी कभी उत्पत्ति होनेके कारण अनित्यपना सिद्ध है। अतः अनुभव या उपभोगर्ने अनित्यत्व हेतु रह गया और अचेतनत्व साध्य न रहा । अतः व्यभिचारी हेत्वाभाससे उत्पन्न हुआ वह अनुमान समीचीन नहीं है । तुम सांख्योंका प्रमाण बान वाधक होता है, और अप्रमाणज्ञान बाध्य होता है। किन्तु यहां प्रकरणमें तो विपरीत प्रस्ताव ही घटित हो रहा है। जिसको आप सांख्य बाधक कह रहे हैं, वह अप्रमाणज्ञान है, और जिसको आप बाध्य कह रहे हैं, वह अहंकारमें पुरुषके तदात्मकपने करके संवेदन होना तो प्रमाणझन है। आत्मा उपभोग स्वरूप है, अहंकार स्वरूप है, इस सिद्धान्तको हम इस प्रन्थके आदिमें ही दो सी पचीसवीं वार्तिकसे छेकर दो सौ चवाळीस्वीं वार्तिकतक सांख्यमतका निरास करते हुये आत्माको उपयोगात्मक सिद्ध करते समय विशदरूपसे कह चुके हैं। दूसरी बात यह भी है कि-

शायिका नवभावाः स्युः पुरुषस्यैव तत्त्वतः। शायिकत्वाद्यथा तस्य सिद्धत्वमिति निश्चयः॥ ३॥ कृत्स्वकमेक्षयात्तावत् सिद्धत्वं शायिकं मतं। सर्वेषामात्मरूपं नेत्यप्रसिद्धं न साधनम्॥ ४॥ जिस प्रकार कि एकसी अडतालीस भी कमोंसे रहित हो जानेपर हुआ सिद्धल्यमान उस आत्माका है पुद्रलका या प्रधानका नहीं है, इस प्रकार निश्चय है। नैयायिक, मीमंसक, सांस्य, सबने आत्माकी ही मोक्ष मानी है। उसी सिद्धल्य भावके समान झान, दर्शन, आदिक नौ क्षायिक भाव भी नास्ताविक रूपसे आत्माके ही हो सकते हैं। देखिये, सबसे पहिले दृष्टांत रूपकर कहा गया सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ सिद्धल्यभाव तो क्षायिक है और वह सिद्धल्यभाव आत्माका तदात्मक स्वरूप है, यह सभी वादी, प्रतिवादियोंके यहां प्रसन्ततापूर्वक मान लिया गया है। क्षायिकभाव (पक्ष) आत्माके ही हो सकते हैं (साध्य) क्षायिक होने से (हेतु) सिद्धल्वके समान (अन्वय दृष्टान्त) हमारे इस अनुमान में दिया गया हेतु अप्रसिद्ध नहीं है। अर्थात्—अन्वयदृष्टान्त में हेतु की साध्यके साथ व्याप्ति प्रसिद्ध हो रही है।

द्वावोपशमिको भावो जीवस्य भवतो ध्रुवं । मोक्षदेतुत्वतः कर्मक्षयजन्मदृगादिवत् ॥ ५ ॥ क्षायोपशमिका दृष्टिज्ञानचारित्रलक्षणाः । भावाः पुंसोऽत एव स्युरन्यथानुपपत्तितः ॥ ६ ॥ प्रधानाद्यात्मका होषा सम्यग्द्रष्ट्यादिभावना । न पुंसो मोक्षदेतुः स्यास्सर्वयातिप्रसंगतः ॥ ७ ॥

अनुमान द्वारा क्षायिक मार्गोको आत्माका ही परिणाम साधकर अब औपशमिक भार्गोको भी जीवके तदात्मक परिणामका अनुमान बनाते हैं। उपशम सम्यक्त और उपशम चारित्र ये दो औपशमिक माव (पक्ष) निश्चित (अवधारित) रूपसे जीवके होते हैं। (साध्य) मोक्षका हेतु होनेसे (हेतु) कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुये दर्शन, ज्ञान, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—"सम्पहं-सणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा णिज्वयदो तत्तिय मझ्यो णिओ अप्पा'' इस युक्तिपूर्ण सिद्धांत अनुसार मोक्षके हेतु बन रहे परिणाम तो जीवके ही तदात्मकभाव माने जाते हैं। अतः जो जो मोक्षका हेतु है, वह जीवनिष्ठ उपादान कारणता निरूपित उपादेयतावान् होता हुआ तदात्मक जीवका परिणाम है। यह व्याति बन जाती है। तथा इस ही कारणसे यानी मोक्षका हेतु होनेसे (हेतु) तीसरे दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्त्ररूप, क्षायोपशमिकभाव भी (पक्ष) जीवके ही हो सकेंगे (साध्य) अन्वया थानी जीव आत्मक परिणाम हुये विना दर्शन, ज्ञान, आदिकोंको असिद्धि है। अतः अन्ययानुषपत्ति प्राणको धारनेवाले हेतुसे साध्यकी सिद्धि बन बैठती है, यदि कपिल सिद्धांत अनुसार ये सम्यव्हरीन आदिक पचास या त्रेपनमात्र भला प्रधानरूप होते या चार्याक मत अनुसार भूत पुद्रस्वके

बिवर्त होते तो ये भाव आत्माक मोक्षसम्पादक हेतु सर्वथा नहीं हो सकते थे। क्योंकि किसी बिबक्षित पदार्थक भाव यदि अविविक्षित अर्थकी मुक्तिके सम्पादक बन बैठे तो अतिप्रसंग हो जायगा। धर्मात्म। जिनदत्तकी ग्रुभ परिणितियां चोर, व्यभिचारी, यहदत्तको कारागृह (जेळखाना) से मुक्ति करादेनेकी कारण बन बैठेंगी। इन्द्रदत्तका अभ्यास या व्युत्पत्ति भी महामूर्ख भवदत्तको परीक्षामें उत्तीर्ण करा देवेगी। सिद्धान्त यह है कि औपशमिक और क्षायिकभाव आत्माको मुक्तिके सम्पादक हैं। अतः ये जीवके ही तदात्मक परिष्णाम हैं। अन्य किसीके विवर्त्त नहीं हैं।

क्षायोपशिमकाः शेषा भावाः पुंजन्मतामृतः । क्षायोपशिमकत्वात्स्युः सम्यग्दग्बोधवृत्तवत् ॥ ८॥ जीवस्योदयिकाः सर्वे भावा गत्यादयः स्मृताः । जीवे सत्येव सद्भावादसत्यनुपपत्तितः ॥ ९॥ कर्मोदये च तस्येव तथा परिणमत्वतः । तेषां तत्परिणामत्वं कथंचित्र विरुध्यते ॥ १०॥

छठी वार्तिकमें कहे जा चुके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, स्वरूप छह क्षायोपशामिक भावोंसे शेष बच रहे कुज्ञान, दर्शन, लिन्ध्यां, संयमासंयम ये बार ह क्षायोपशामिक भाव भी (पक्ष) पुरुष से जन्म लेनेपनको धारण करनेवाले हैं, (साज्य) क्षयोपशाम प्रयोजनको धारनेवाला होने से (हेतु) सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रके समान (अन्वय दृष्टान्त) अंगुली पकडकर पाँचा पकडते हुये सम्पूर्ण शरीर पकड लिया जाता है। सर्व प्रसिद्ध सिद्धत्वभावका दृष्टान्त पाकर नी क्षायिकभाव पुरुषके ही परिणाम हैं, यह साध दिया गया है। सिद्ध हुये क्षायिक भावोंको दृष्टान्त बनाकर दो जीपशमिक भावोंके जीवका तदात्मकपना अनुमित करा दिया है। उस ही हेतु से तीन क्षायोपशमिक सम्यक्त झान चारित्र स्वरूपोंमें जीवका तदात्मकपना साधकर उनको दृष्टान्त बनाते हुये शेष कुज्ञानादि क्षायोपशमिक भावोंके जन्मका उपादान कारण जीवको साध दिया है। तथा गति, कषाय, आदिक सभी औदयिकभाव (पक्ष) जीवके तदात्मक परिणाम ही आम्नायप्राप्त गाये गये हैं (साज्य) जीवके होनेपर ही उनका सद्धाव पाया जाता है (हेतु) और जीवके नहीं होनेपर गति आदिक भावोंकी उपपत्ति नहीं होने पाती है (व्यतिरेक व्याप्ति) कारण कि कर्मके उदयका निमित्त सिल्नेपर उस संसारी जीवके ही तिस प्रकार गति, कषाय, आदि स्वरूप तदात्मक परिणाम हो रहा है। अतः उन गति आदिक भावोंको उस जीवका तद्भूप परिणामक्सा किसी ढंगसे भी विकट्स नहीं पढता है।

भन्याभन्यत्वयोर्जीवस्वभावत्वं विभान्यते । पारिणामिकतायोगाचेतनत्त्वविवर्तवत् ॥ ११ ॥ चेतनत्वस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धमित्यसत् । स्वोपयोगस्वभावत्वसिद्धेः पागभिधानतः ॥ १२ ॥

पांचवे पारिणामिक भावोंमें पढ़े हुये भन्यत्व, अभव्यत्व, भावोंमें (पक्ष) जीवस्वभावपना विचार लिया जाता है (साध्य), पारिणामिकपनेका तादृष्ट्य सम्बन्ध होनेसे (हेतु) चेतनत्व (जीवत्व) नामक विवर्त्तके समान (अन्वयदृष्टान्त)। यहां यदि कोई चार्वाक या वैशोषिक यों कहें कि आत्माका चैतन्यस्त्रभावपना तो असिद्ध है, आचार्य कहते हैं कि यहं उनका कहना अस्त्य है। क्योंकि प्रन्यकी आदिके पिहले प्रकरणमें आत्माके निज उपयोग स्वभावपनकी सिद्धिका कथन हो चुका है। अभी क्षायोपशमिक भावोंको गिनाते समय पांचवे सूत्रका विवरण करते हुये भाषाभाष्यमें इस बातपर बहुत बल दिया जा चुका है कि ये औपशमिक आदि त्रेपन भाव सब जीवके ही तदात्मक परिणाम हैं।

नन्वीपशमिकादीनां त्यागश्रेनिर्वृतात्मनः । निःस्वभावत्वमासक्तं नैरात्म्यं सर्वथा ततः ॥ १३ ॥ तदत्यागे तु मोक्षस्याभावः स्यादात्मनः सदा । ततो न तत्स्वभावत्वं जीवस्थेत्यपरे विदुः ॥ १४ ॥

स्वपक्षका अवधारण करते हुये किसीका यहां पूर्वपक्ष है कि मोक्षको प्राप्त हो चुके आत्माके यदि " औपशमिकादि मन्यत्वानां च " इस सिद्धान्त अनुसार मोक्ष अवस्थामें औपशमिक, औदियक, आदिक भावोंका त्याग है, तब तो मुक्तको स्वभावोंसे रहितपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। जब कि आप जैनोंने औपशमिक आदि भावोंको आत्माका निजस्वभाव मान रक्खा है, और वैसा हो जानेसे सभी प्रकार आत्माको निरात्मकपना (शून्यपना) हुआ। यों तो सम्पूर्ण स्वभावोंसे रीता अस्वविषाणके समान मुक्त आत्मा असत् पदार्थ ठहरा। जहां अपना सबका सब खोज मिट जाय, ऐसी मुक्तिके छिये भछा कौन सहदय जीव अभिछाषुक हो सकेगा ! हां, यदि मुक्तजीवके उन औपशमिक आदि भावोंका त्याग नहीं माना जायगा, तब तो सर्वदा ही आत्माके मोक्ष होनेका अमाव हो जायगा, क्योंकि औदियिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, मान ये आत्माके साथ सर्वथा तदालक हो रहे चुष्टे रहेंगे, जो कि कथ अवस्थामें हैं। होते हैं तो काहेको भछा कभी आत्माकी मोक्ष होने देंगे ! तिस कारणसे त्याग और अत्याग दोनों पक्षके अनुसार जीवको उन औपशमिक

आदि स्वमावसाहितपना ठीक नहीं जचता है। यानी जीवके तदास्मक स्वभाव औपशिमक आदिक भाव नहीं है। इस प्रकार कोई नैयायिक या बौद्ध दूसरे विद्वान् समझ वैठें हैं। अब आचार्य उत्तरपक्ष कहते हैं उसको सुनो।

तदसंगतमादेशवचनादेव देहिनः ।
तेषां तद्रूपताभीष्टेरत्यागाच कथंचन ॥ १५ ॥
चित्स्वभावतया तावन्नेषां त्यागः कथंचन ।
क्षायोपशमिकत्वोपशमिकत्वेन तत्क्षये ॥ १६ ॥
तेषामौदियकत्वेन नेव स्यान्निःस्वभावतः ।
मोक्षाभावोपि न पुंसः क्षायिकाद्यविनाशतः ॥ १७ ॥

उन पण्डितोंका वह कथन असंगत है । क्योंकि अपेक्षावर्वक वचनसे ही हम औपशमिक भावोंका त्याग और कथंचित उन भावोंका अत्याग दोनों बातोंको स्वीकार करते हैं। चैतन्य स्वभावपने करके कथंचित उन भावोंका त्याग नहीं होता है। अर्थात्-अन्वित होनेवाले चैतन्य भावका सर्वदा सद्भाव है। अतः जीवके उन परिणामोंके साथ तद्भपना हमको अभीष्ट है। शिष्पको नहीं पढ़ाते समय भी गुरुका गुरुपना सदा अवस्थित रहता है। सेवाकार्य न कराते हुये भी स्वामीमें सेवकका आधिपत्य अक्षण्ण बना रहता है। उसी प्रकार जो ही चैतन्य परिणाम पहिले निमित्तजन्य भावोंमें ओत पोत दूस रहा था वह सिद्ध अवस्थामें भी चैतन्यभाव ग्रुद्ध होकर दमक रहा है। अतः चैतन्य स्वभावपनेसे तो इनका किसी भी ढंगसे त्याग नहीं है, हां क्षायोपशमिकपन या औपशमिकपन. करके उन जान आदि या सम्यक्त्व आदि भावोंका क्षय हो जानेपर तथा औदियकपन करके उन गति आदिक भावोंका मोक्ष अवस्थामें नाश हो जानेपर तो आत्माका स्वभावरहितपना नहीं प्रसंग प्राप्त होगा तथा द्वितीय विकल्प अनुसार पुरुषके मोक्षका अभाव भी नहीं होगा । क्योंकि क्षायिक या पारि-णामिक हो रहे केवलब्रान, जीवल, अस्तिल, आदि भावोंका विनाश नहीं हुआ है। कपडेका बना हुआ चोला उतार देनेसे मनुष्य मर नहीं जाता है। औपरामिक, क्षायोपरामिक, और औदिविक्रमाव मले ही अपने उपरिघात रंगे हुये रूपसे नष्ट हो जांय, किन्त क्षायिक और पारिणामिकमात्र अक्षण्य तदनस्य हैं । अतः जीव सर्वथा स्वभावोंसे रहित नहीं हुआ और व्यर्थका टण्टा बखेडा हट जानेसे मोक्ष भी बढी प्रसन्नतापूर्वक हो जाती है।

> न चौपशमिकादीनां नाशाजीवास्वभावता । प्रतिक्षणविवर्तानां तत्स्वभावत्वहानितः ॥ १८॥

कृटस्थात्मकतापत्तेः सर्वतार्थिकियाश्चतेः । वस्तुत्वहानितो जीवतत्त्वाभावप्रसंगतः ॥ १९ ॥ तथा च नाशिनो भावाः स्वभावा नात्मनस्तथा । अनात्मनोऽपि ते न स्युरिति तद्वग्तुता कुतः ॥ २० ॥ एवं निःशेषतत्त्वानामभावः केन वार्यते । नास्तिभावस्वभावत्वाभावसाधनवादिनाम् ॥ २१ ॥ ततः स्याद्वादिनां सिद्धः शाश्वतोऽशाश्वतोपि च । स्वभावः सर्ववस्तूनामिति नुस्तत्स्वभावता ॥ २२ ॥

कोई आक्षेप करता है कि आप जैन औपशामिकभाव और आदिपदसे ग्रहण किये गये क्षायोपरामिक, औदियिक भावोंका नारा मोक्ष अवस्थामे मानते है। ऐसा होनेसे तो औपरामिक आदि भावोंको जीवका स्वभावपना नहीं आया । क्योकि जिसका स्वभाव है वह स्वभाववान्के नष्ट होनेपर भले नष्ट हो जाय, किन्त स्त्रभाववान के नहीं नष्ट होनेपर तो उसका वह स्त्रभाव नष्ट नहीं होता है। जबतक अग्नि है उसका उष्णतास्वभाव सदा स्थिर रहता है। कस्त्ररी कभी गन्धरहित नहीं रहती है। अतः औपरामिक आदिकोंका आत्माके विद्यमान होनेपर भी यदि नारा मान छिया जायगा तो वे जीवका स्वभाव नहीं ठहर सकते हैं। अब आचार्य महाराज कहते है कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो प्रत्येक क्षणमें नवीन नवीन हो रहे पर्यायोंको भी उस पर्यायीके स्वभाव हीनेकी हानि हो जायगी । अर्थात-प्रत्येक द्रव्यके पूर्वक्षणभावी पूर्यायोंका नाश होकर उत्तर क्षणमें नवीन नवीन पर्याय उपज रहे हैं । अतः आप आक्षेपकारके विचार अनुसार वे क्षणिक पर्याय उस पर्यायीके स्वभाव नहीं ठहर पार्येगे। अग्राद्ध द्रव्य अग्निकी भी तो उष्णता पर्याय प्रति क्षणमें बदल रही है। मध्य अवस्थामें या मध्यान्ह कालमें अग्निकी जितनी तीव उष्णता है उतनी प्रातःकालमें वा आध-अवस्थामें नहीं है । ज्येष्ठ मासका ताप माघ मासमें दुर्लभ हो जाता है । प्रतिक्षण होनेवाले पर्यायोंको यदि उस पूर्यायीके स्वभाव नहीं माना जायगा, तब तो पदार्थीके कृटस्थ आत्मकपनेकी आपत्ति बन बेठेगी, इस ढंगसे सभी प्रकारों करके अर्थिकया की क्षति हो जानेसे वस्तुत्वकी हानि हो जाती है। और ऐसा हो जानेसे जीव तत्त्वके अभावका प्रसंग हो जायगा, और तिस प्रकारकी अवस्थामें आत्माके हो रहे तिस प्रकार नारा होनेवाले प्रतिक्षणवर्ती परिणाम तो आत्माके नहीं कहे जा सकते हैं, तथा आत्मासे भिन्न 9द्गल तत्त्व, धर्म द्रव्य, आदिके भी वे क्षाणिक विवर्त उनके स्वभाव न हो सकेंगे। ऐसी दशामें जीव और अजीव पदार्थीको भला वस्तपना कैसे एक्षित रह सकता है ! इस

प्रकार अन्यवस्था मच जानेसे नास्ति हो जानेवाले भावको उसके स्वभावपनके अभावका साधन कर रहे वादियोंके यहां सम्पूर्ण तत्त्वोंका अभाव हो जाना किस करके रोका जा सकता है ? अर्थात् -प्रतिक्षणके विवर्त्तीको द्रव्यका स्वमाव न माननेपर कूटस्थपनका प्रसंग होगा । वस्तुका लक्षण अधिकियाकारित्व है. अधिकिया न होनेसे वस्तुत्वकी हानि होते हुये जीवतत्त्वका ही अभाव हो जायगा। नाशशील भाव जैसे आत्माके नहीं माने जाते हैं, उसी प्रकार अजीव तत्त्वोंके भी नाश होनेवाले विवर्त्त तो स्वभाव न हो सकेंगे । तब तो जीव, अजीव, सबके वस्तुत्वकी क्षांति हो जानेसे श्रन्यवाद आगया । किन्तु वह तो आक्षेपकारको इष्ट नहीं पढेगा । तिस कारणसे स्याद्वादियोंके यहां यह सिद्ध हो जाता है कि चाहे सर्वदा स्थित रहनेवाला शाश्वत परिणाम हो अथवा कदाचित ्रियर रहनेवाला अशाश्वत परिणाम होवे स<u>त्र सभी वस्तुओंके तदात्मक स्वभाव माने जाते</u> हैं। इसी ढंगसे कदाचित होनेवाले उन औपरामिक आदि भावोंको भी आत्माका स्वभावपना सिद्ध हो जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तको माननेवाले जैनोके यहां वस्तुके अनेक स्वभाव तो एक क्षणस्थायी ही हैं। और कितने ही स्वभाव बहुत क्षणोंतक ठहरनेवाले हैं तथा अनन्त स्वभाव सर्वदा नित्य स्थित रहते हैं। देवदत्तकी बाल्य, कुमार, युवा, अवस्थायें तदात्मक स्वभाव होती हुई होती रहती हैं। फिर भी जन्मसे छेकर मरण पर्येत ही देवदत्त कोई भी द्रव्य, कूटस्थ नित्य नहीं है। प्रतिक्षण अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रीव्य, उसमें पाये जाते हैं, तभी वह सत् बना रह सकता है। मधुमिन्खयोंके समुदाय प्राप्त छत्तेमेंसे अनेक मधुम-क्खियां आतीं जातीं रहतीं हैं। उसी प्रकार द्रव्यमें अनेक स्वभावोंके उत्पाद, विनाश, होते रहते हैं। संसार अवस्थामे तदात्मक रूपसे हो जा चुके औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, भावोंका नाश हो चुका है। फिर भी मोक्ष अत्रस्थामें उन भावोंका अवस्थाता नित्य द्रव्य आत्मा या चेतना आदि गुण विद्यमान हैं। क्षायिकभाव, पारिणामिकभाव, शास्त्रत गुण इनके बने रहनेसे परिशुद्ध हो रहा जीव द्रव्य अनन्तकाळतकके लिये सिद्ध हो जाता है । सक्ष्मतासे विचारो तो प्रतिक्षण पर्याय रूप हो रहे क्षायिकभाव और पारिणामिक भागोंका भी परिवर्तन हो रहा है । एतावता द्रव्यस्थिति और भी सुदृढ़ हो जाती है। चर्म या छोहपत्ती अथवा डोरीको छपछपाते रहनेसे वे अत्यधिक काछान्तरस्थायी होते हुये पुष्ट बन रहते हैं। यहांतक जीवके तदात्मक हो रहे त्रेपन भावोंकी सिद्धि कर दी गयी है। विशेष यह कहना है कि जैसे कर्म शरीरके अनुसार आत्माके औपशमिक आदि भाव होते हैं, उसी प्रकार नोकर्मशरीर अनुसारके भी यथासम्भव औपशमिक आदि भाव लगाये जा सकते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव भी स्वतंत्र रूपसे अथवा कर्म, नोकर्मोंकी विभिन्न परिणामित शक्तियों द्वारा जीवांके अनेक परिणामों भे सम्पादक हैं। भावार्थ --- कर्मीके उदय आदि समान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अथवा नोकर्मका वातावरण भी जीवोंके सुखद:ख मोक्ष आदि कार्यीके निमित्त कारण है।

एवं जीवस्य स्वतन्त्रं च्याख्याय लक्षणं च्याचिख्यासुरिदं सूत्रमाह।

इस प्रकार जीवके अनुजीवक निज तत्त्वोंका व्याख्यान कर अब जीवके लक्षणकी व्याख्या कर-नेके अभिलापुक श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको स्वतंत्रतापूर्वक दूसरोंके लिये स्पष्ट कह रहे हैं।

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

धन्तरंग, बहिरंग, कारण मिलनेपर ज्ञाता, दृष्टा, आत्माके चैतन्य अंदाका अनुविधान करने-बाका उपयोग परिणाम तो जीवका लक्षण है।

जीवस्येत्यनुवर्तते । कः पुनः स्वतन्त्रलक्षणयोविशेषः ? स्वतन्त्वं लक्ष्यं स्याल्यक्षणं च कक्षणं । लक्षणं तु न लक्ष्यं इति तयोविशेषः ।

द्वितीयाच्यायके पहिले सूत्रसे जीवस्य इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तैसा होनेपर जीवका लक्षण उपयोग है। ऐसा वाक्य अर्थ वन जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि पूर्व सूत्रमें जीवके स्वतत्त्वका निरूपण किया गया है। और इस सूत्रमें जीवका लक्षण कहा गया है। अतः बताओं कि फिर स्वतत्व और लक्षणमें क्या विशेषता (अन्तर) है ? अब आचार्य महाग्रज समाधान करते हैं कि स्वतत्व तो लक्षण करने योग्य हो रहा स्यात् लक्ष्य भी हो जाता है। और कथंचित् लक्षण भी हो जाता है। किन्तु लक्षण तो लक्षण ही रहेगा, कथमपि लक्ष्य नहीं हो सकता है। इस ढंगसे उन स्वतत्व और लक्षणमें अन्तर है, अर्थात् जीवके जो निजतत्व हैं वे जीवकी ही आत्मा हैं। अतः जीव लक्ष्य है, तो वे स्वतत्व भी लक्ष्य है। स्वतत्व कदाचित् जीवके लक्षण भी हो जाते हैं, हां उपयोग सर्वदा लक्षण ही रहेगा। अतः व्याप्यव्याप प्रभाव या व्यक्ताव्यक्तभावसे इनमें विशेषता पायी जाती है। अथन स्वतत्वोंमें कितने ही भाव जीव लक्ष्य के समान व्यतिकीर्ण हो रहे हैं। वे स्वयं लिपे हुये हैं। किन्तु लक्षण तो ल्यावर्तक हो रहा व्यक्त होना चाहिये, अतः लक्षण तो लक्षण ही है। स्वतत्वोंमें कई लक्ष्य है। क्योंकि उन भावोंसे ही तो जीविपण्ड व्यवस्थित है। भावोंके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। ही, उनमेंसे कुछ भाव तो जीवके लक्षण भी हो जाते हैं।

यधेवं किमत्र जीवस्य स्वतत्त्वं लक्षणितत्याह ।

प्रश्नकर्त्ता कहता है कि यदि स्वतत्त्व और लक्षणकी इस प्रकार व्यवस्था है तो बताओ, त्रेपन स्वतत्त्वोंमे कौनसा स्वतत्त्व जीवका स्वलक्षण माना जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी सिद्धांतमार्गको बताते हुये कहते हैं।

तत्र क्षयोद्भवो भावः क्षयोपशमजश्च यः । तद्यक्तिन्यापि सामान्यमुपयोगोस्य लक्षणं ॥ १ ॥ उन स्वतन्त्रोंमें जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ भाव है और जो कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ विशेष भाव है, इनके प्रकार हो रही उन बारह व्यक्तियोंमें सामान्य रूपसे व्याप रहा उपयोग तो इस जीवका लक्षण है।

सयोद्भवो भावः शायिको भावस्तस्य व्यक्ती केवलज्ञानदर्शने गृक्षेते, श्रयोपशमजो मिश्रस्तस्य च व्यक्तयो मत्यादिज्ञानानि चत्वारि मत्यज्ञानादीनि त्रीणि चश्चर्दर्शनादीनि च गृक्षंते तत्रैवोपयोगसामान्यस्य वृक्तरन्यत्रावर्तनात् । तद्यापि सामान्यग्रुपयोगोस्य जीवस्य लश्चणमिति विविश्वतत्वात्, तद्यक्तेर्लक्षणत्वे लक्षणस्याव्याप्तिमसंगात् । बाह्याभ्यंतरहेतुद्रयसिश्वाने यथासंभवग्रुपलक्ष्युश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग इति वचनात् ।

क्षय से उत्पन्न हुआ भाव क्षायिक कहा जाता है। नौ क्षायिक भावोंमें यहां उसके विशेष व्यक्तिरूप केत्रलज्ञान और केवलदर्शन दो भाव प्रहण किये जाते हैं। तथा कर्मांके क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ मिश्रभाव सामान्यरूप से अठारह व्यक्तियोंमें व्याप रहा है । किन्तु यहां प्रकरण अनुसार उस क्षायोपरामिककी मतिज्ञान आदि चार व्यक्तियां और क्रमतिज्ञान आदि तीन व्यक्तियां तथा चक्षदर्शन आदि तीन व्यक्तिविशेष इस प्रकार दश मिश्रमाय पकडे जाते हैं। उन दो क्षायिक भाव और दश क्षायोपशामिक भाव इस प्रकार बारह व्यक्तिविशेषोंमें ही उपयोग सामान्यकी वृत्ति हो रही है। अन्य दान, सम्यक्त, संयमासंयम आदिमें उपयोग सामान्य नहीं वर्तता है। अतः उन बारह व्यक्तियोंमें व्यापनेवाला सामान्यक्षप उपयोग इस प्रकरणप्राप्त जीव तत्त्वका लक्षण है, ऐसा अर्थ सत्र-कारको निवाक्षित हो रहा है। यदि सामान्य उपयोगको रूक्षण नहीं कर उस उपयोगकी निशेष व्यक्ति हो रहे मतिज्ञान या कश्चतज्ञान अथवा चक्षदर्शन आदिमें से किसी एक व्यक्तिको जीवका लक्षण होना माना जायगा तो लक्षणके अन्यापि दोष हो जानेका प्रसंग होगा. जैसे कि गौका लक्षण कपिलपना करनेसे अन्याप्ति आती है उसी प्रकार मतिज्ञानको जीवका लक्षण बनानेसे पहिले तीन गुणस्थानीतकके जीवोंमें या केवल ज्ञानियोंमें लक्षण घटित नहीं होगा, चक्षदर्शनको ही जीवका लक्षण कह देने से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, जीवोंमे तथा तेरवे चौदहवें गुणस्थानवाले आत्माओं या सिद्धोंमें लक्षण समन्वय नहीं होनेसे लक्षण अव्यात हो जायगा । श्री अकलंक देवकृत राजवार्तिक नामक प्रन्थमें इस प्रकार कथन किया गया है कि आत्मभूत और अनात्मभूत दो बहिरंग कारण और अनात्भृत, आत्मभूत दो अन्तरंग कारणके यथायोग्य सिन्धान होनेपर ज्ञातादृष्टा, आत्माके चैतन्यका अन्यय रखनेवाळा परिणाम विशेष उपयोग है। इस प्रकार सामान्य उपयोगको जीवका लक्षण आम्नायमे माना गया चला आ रहा है।

अत्र हि न चैतन्यमात्रभुपयोगो यतस्तदेव जीवस्य लक्षणं स्यात् । किं तर्हि ? चैत-न्यानुविधायी परिणामः स चोपलब्धुरात्मनो न पुनः प्रधानादेः चैतन्यानुविधायित्वाभाव- मसंगात् । न चासावहेतुको बाह्यस्याभ्यंतरस्य च हेतोर्द्वयस्योपात्तानुपात्तविकल्पस्य सिष्ठाने सित भावात् । न चैवं परिणामविश्रेष उपयोगी मितिङ्कानादिव्यक्तिरूपः मितपादितो भवति यथासंभविमित वचनात् । ततो दर्शनङ्कानसामान्यग्रुपयोग इति सूक्तं ।

अकलंक सिद्धान्त अनुसार श्रीविद्यानन्द स्वाभी कहते है कि यहां सूत्रमें ग्राह्म, अप्राह्म, संपूर्ण ही चैतन्य या मात्र चेतना नामका अतीन्द्रिय गुण तो उपयोग शब्दसे नहीं पकडे गथे हैं। जिससे कि वह सामान्य चैतन्य ही जीवका रुक्षण हो जाय तो कौनसा चैतन्य विशेष उपयोग है ? इसका उत्तर तो यह है कि जैसे खडुआ, वाजू, कुण्डल, हंसुली, आदि परिणामोंमें सुवर्णपनेका अन्वय लग रहा है, उसी प्रकार चैतन्यका अन्त्रय रख रहा परिणामविशेष इस प्रकरणमें उपयोग लिया जाता है, और वह उपयोग परिणाम तो आत्माका है। किन्तु फिर प्रकृति या पृथ्वी आदिक तत्त्वोंका नहीं है। क्योंकि जडद्रव्योंका परिणाम माननेसे उपयोगको चैतन्यका अनुविधान रखनेवालेपनके अभावका प्रसंग होगा तथा वह चैतन्यानुविधायी परिणाम अहेतुक भी नहीं है । उसके हेतु विद्यमान हो रहे हैं। देखिये, उपात्त और अनुपात्त विकल्पोंको धार रहे बहिरंग कारणके द्वय तथा अभ्यंतर कारणके द्वयका सिनधान होनेपर वह उपयोग उपजता है । उपयोगके बिहरंगकारण आत्मभूत और अनात्म-भूत दो प्रकार हैं। घनांगुलके संख्यातेंव भाग या असंख्यातवें भाग क्षेत्रको घर रही पुद्रल निर्मित स्पर्शन रसना, आदि और मन ये इन्द्रियां तो आत्मभूत हैं । प्रदीप, अंजन, उपनेत्र (चश्मा) आदि अनातमभूत हैं । तथा अन्तरंग कारणोंमें उपयोग लगानेका उपयोगी दृष्ययोग तो अनात्मभूत जाता है। और भावयोग या क्षयोपशमजन्य लब्धि तो आत्मभूत अभ्यंतर हेतु है। इनमे कितने ही प्रदीप आदि कारण तो उपात्त हैं, और लिध आदिक कारण अनुपात्त हैं। एक बात यह भी है कि इस प्रकारका परिणामित्रशेष उपयोग केवल मितज्ञान या अवधिज्ञान, आदि अकेडी व्यक्तिस्वरूप नहीं कह दिया गया है। क्योंकि पूज्य श्री अकलंकदेवने उपयोगके लक्षणमें '' यथासम्भवम् '' इस प्रकार पदप्रयोग किया है । तिस लक्षणके घटक अवयव पदसे सामान्यरूप करके सभी दर्शन और यावन्मात्र ज्ञान व्यस्तरूपसे उपयोग हो जाते है। यह ढंग बहुत अच्छा कहा गया है। यहांतक सूत्रके उदेश्य दलका अकलंकलक्षणपूर्वक अच्छा निरूपण कर दिया गया है। सामान्य उपयोगको जीवका लक्षण कहना बहुत अच्छा है।

किं पुनर्रक्षणं ? परस्परव्यतिकरे सित येनान्यत्वं रुक्ष्यते तल्लक्षणं । हेमझ्यामिकयो-र्वर्णादिविश्चेषवत् । तद्दिविधं आत्मभूतानात्मभृतविकल्पात् । तत्रात्मभूतं रुक्षणमप्रेरुष्णगुणवत्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दंडवत् । तत्रेहात्मभूतं रुक्षणभ्रुपयोगो जीवस्येति मितपत्तव्यं ।

किसीका प्रश्न है कि विधेय दलमें पड़े हुये लक्षणका फिर क्या लक्षण है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर करते हैं कि परस्परमें एक दूसरेसे बन्धरूप या अबन्ध रूप सम्मिश्रण हो जानेपर विविद्यत पदार्थका जिस धर्म या धर्मी पदार्थकरके मिन्नपना प्रदर्शित कराया जाता है, वह छक्षण है। जैसे कि सुवर्ण और कालिमाका वर्ण गुरुत्व, कान्ति, आदिकी विशेषतायें छक्षण हैं। मात्रार्थ सोनेमें चांदी, तांबा, या किंह, कालिमा, मिल रही है, ऐसी दशामें न्यारिया विशेष रंग या कसना अथवा तापजन्यकान्ति आदि छक्षणोंसे सुवर्णके भाग और कालिमाके भागकी परीक्षा कर छेता है। ज्ञान या सूर्यप्रकाशके पिहले सभी पदार्थ अज्ञान अन्धकारकी अवस्थामें घुल मिल रहे हैं। उनमेंसे छक्षण द्वारा ही नियत पदार्थीका परिज्ञान किया जा सकता है। वह छक्षण आत्मभूत और अनात्मभूत विकल्पसे दो प्रकारका है। उन दो प्रकारोंमें अग्निके उच्चात्व गुण (पर्याय) के समान जो वस्तुके शरीरमें तदात्मक होकर प्रविष्ट हो रहा है वह तो आत्मभूत छक्षण है और जो देवदत्तके छक्षण दण्डसमान वस्तुमें तादात्म्य रखकर ओपपोत नहीं हो रहा है, वह अनात्मभूत छक्षण है। तिन आत्मभूत, अनात्मभूत, छक्षणोंमें यहा जीवका उपयोग छक्षण तो आत्मभूत है ऐसा समझना चाहिये।

नात्मभूतो जीवस्योपयोगो गुणत्वादंभरूष्णविदिति चेन्न, एकांतभेदनिराकरणस्योक्तत्वाद्रुणग्रुणिनोः, गुणिनः कथंचिदभिन्नस्यैव गुणत्वोपपचेरन्यथा गुणग्रुणिभावविरोधात् घटपदादिवत् । सर्वथा भिन्नमेव लक्ष्याञ्चसणं दंडादिवत् इति चेन्न, अनवस्थानसंगात् । लक्षणाद्विभिन्नं
लक्ष्यं कुतः सिध्येत् १ लक्षणांतराचेत्ततोऽपि यदि तद्भिन्नं तदा लक्षणांतरादेव सिध्येदित्यनवस्था । सुद्रमपि गत्वा यद्यभिन्नाञ्चसणात्कुतश्चित्तत्तिध्येत् तदा न संवे लक्षणं लक्ष्याद्भिन्नमेव ।

नेही बिक्त जैनों के उत्पर कटाक्ष है कि जीवका लक्षण उपयोग तो उसका आत्ममूल लक्षण नहीं है। (प्रतिज्ञा नक्य) गुण होनेसे (हेतु) अग्निक उष्ण गुणसमान (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात् गुणिस गुण सर्वथा भिन्न होता है। तभी तो आद्यक्षणमें द्रव्यके रहते हुये भी गुण नहीं उपजने पाते है। अग्ने द्रव्यसे उष्ण गुण भिन्न है। उसी प्रकार आत्मासे ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, मिन्न होते हुये अनात्ममूल हैं। कोई लक्षण आत्मभूल नहीं हो सकता है। चटका लक्षण घट या कल्या करना व्यर्थ है। अब आचार्य कहते हैं कि यों वेशिषकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि गुण और गुणीके एकान्त रूपसे भेद होनेके निराकरणको हम कह चुके हैं। गुणी द्रव्यसे कथंचित् अभेदको प्राप्त हो रहे पदार्थको गुणपना व्यवस्थित होगा। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे गुणगुणीमावका विरोध है। जैसे घटका लक्षण पट नहीं हो सकता है, अथ्या सहाका लक्षण सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ विन्य्य पर्वत नहीं हो सकता है। घटका गुण सर्वथा भिन्न पट नहीं है। सहाका गुण विन्य पर्वत भी नहीं है। सर्वथा भेद तो जड़ पदार्थ और चैतन्यका है। किन्तु इनमें लक्ष्यलक्षणभाव या गुणगुणीमाव नहीं माना गया है। इसपर नैयायिक या वैशेषिक यदि यों कहें कि जैसे पुरुषसे दण्ड न्यारा है, देवदत्तसे कुण्डल भिन्न है, इन्दत्तका कालीटोपीके साथ सर्वथा भेद है, किन्तु इनमें लक्ष्यन्य पर्वत से कुण्डल भिन्न है, इन्दत्तका कालीटोपीके साथ सर्वथा भेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-

उक्षणभाव है। अतः दण्ड आदिकके समान उक्षण तो उद्यसे सर्वथा मिन्न ही होता है। मला अमिन्न पदार्थ स्वयं अपना ही परिज्ञापक क्या होगा ? प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। कारण कि अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग आता है। देखिये, उक्षणसे विशेष रूपकर मिन्न पड़ा हुआ उद्ध्य भठा कैसे सिद्ध होगा ? बताओ, मिन्न उक्षणसे जानोगे ? और प्रकृत उक्ष्यके न्यारे उक्षणको यदि न्यारे अन्य उक्षणों से जानोगे तब तो वह उक्षण भी अपने उक्ष्यक्ष्य उक्षणमे मिन्न ही होगा, फिर उसको भी तीसरे, चौथे, आदि उक्षणोंसे ही सिद्ध कर पाओगे। यही तो अनवस्था दोष है। मिन्नमिन पड़ते चले जा रहे पदार्थों से प्रकरण प्राप्त उक्षणोंकी ज्ञति करना असम्भव बन बैठेगा। हां, बहुत दूर भी जाकर यदि किसी अमिन्न हो रहे उक्षण से उस अप्रसिद्ध उक्षणक्ष्य उद्ध्यको सायोगे तब तो सभी उक्षण उक्ष्यसे मिन्न ही होते हैं, यह तुम बैशिषिकोंका एकान्त आप्रह नहीं ज्यवस्थित हुआ। दूर जाकर जैसे उक्ष्यउक्षणमें अमेद मानना अनिवार्थ पड़ गया, उसी प्रकार प्रथम ही से क्यों नहीं कथांचित मेदामेदका आश्रय पकड़ लिया जाता है ? दीर्घदर्शितासे काम लो, दीर्घम्यन्निता से नहीं।

तथा यदि प्रसिद्धं तल्लक्षणं लक्ष्यस्य प्रज्ञापकं तदा क्रुतस्तत्मसिद्धं ? स्वलक्षणांतरादिति चेत्तदिप स्वलक्षणांतरादित्यनवस्था । सुदूरमप्यनुष्टत्य यदि लक्षणं स्वरूपत एव प्रसिध्धेत्तदा न सकलं भिक्षमेव लक्षणं लक्षणस्य स्वात्मभूतलक्षणत्वात् । न चाऽप्रसिद्धं किंचित्कस्यचिल्लक्षणिति प्रयोगात् ।

दूसरी बात यह है कि सर्वधा भेद पक्षमें उत्त्य भी उक्षण हो जाय और उक्षण भी उक्ष्य बन बैठे इसको कीन रोक सकता है ! स्वतंत्र हो रहे उदासीन फक्कडोंकी स्वच्छन्दप्रवृत्ति रोके रुकती भी तो नहीं है । यदि यह स्थूल सिद्धान्त माना जाय कि वह प्रसिद्ध पदार्थ ही उस अप्रसिद्ध उक्ष्यका उक्षण हो रहा संता उसका प्रकृष्ट ज्ञान करा देता है, तब तो हम जैन पूछेंगे कि उस उक्षणकी सिद्धी कैसे करोगे ! बताओ, यदि उस उक्षणके स्वकीय उक्षणान्तर से उसको प्रसिद्ध माना जायगा, तब तो वह उक्षणान्तर भी अपने न्यारे उक्षणान्तरसे प्रसिद्ध होगा और उस चौधी कोटिके उक्षणकी प्रसिद्धि भी पांचवे आदि उक्षणोंसे होगी, इस तरह जिज्ञासा बढते बढते अनवस्था बन बैठेगी । अत्यधिक दूर भी चलते चलते अनवस्थाके निवारणार्थ यदि उक्षणको निजस्वरूपसे ही प्रसिद्ध कर लिया जायगा तब तो सम्पूर्ण ही उक्षण भिन्न ही होते हैं, यह आप्रह नहीं चला। दस्वी, बीसवीं कोटिपर जाकर उक्षणका स्वात्मभूत धर्म ही उक्षण हो गया। जो पदार्थ अद्यावधि किसीके यहां प्रसिद्ध नहीं है, वह तो कोई भी किसीका भी उक्षण नहीं हो सकता है । इस प्रकार सब कोई कह रहे हैं । अतः कोई उक्षण भले ही उक्ष्यसे भिन्न हीय, किन्तु सभी उक्षण तो उक्षण तो उक्ष्यसे भिन्न नहीं हैं।

तर्श्वभिष्ममेव लक्ष्याल्लक्षणमग्नेरूष्णादिवदिति चेक, विपर्ययमसंगात् । तादात्म्यावि-शेषप्यात्मोपयोगयोरम्न्यौष्णयोर्वोपयोगादिरेव लक्षणमात्मादेः न पुनरात्मादिरूपयोगादेरिति नियमहेत्वभावात् । प्रसिद्धत्वादुपयोगादिर्लक्षणमिति चेत् , किं पुनरात्मादिरप्रसिद्धः तथोपयो-गमेकं कथमात्मोपयोगयोरम्न्युष्णयोर्वा तादात्म्यं प्रसिद्धापसिद्धयोः सर्वथा तादात्म्यविरोधात् ।

कोई अभेद एकांतवादी कहता है कि सर्वथा भेदवादमे दोष आता है, तब ते। लक्ष्यसे लक्षण अभिन है। मान लिया जाय । जैसे कि अमिक उष्ण, दाहकत्व, पाचन, आदि लक्षण अभिन हैं. जैन जन आत्मासे उपयोगको कथंचित अभिन्न मानते ही है, हमारे कहनेसे सर्वथा अभेद मानलेयें। अब आचार्य कहते हैं, यह तो न कहना । क्योंकि सर्वथा अभेद पक्षमें विपरीत होनेका प्रसंग हो जायगा। लक्ष्य भी लक्षण बन बैठेगा। जब कि दोनो एक ही हैं, आत्मा और उपयोग अथवा अग्नि और उष्णताके तादात्म्यका कोई अन्तर न रहते हुथे भी उपयोग, उच्चाता आदिक ही आत्मा, लक्षण हो जांय, किन्त फिर उपयोग, उष्णता, आदिके लक्षण आत्मा, अग्नि, आदि न होय इस तुम्हारी बातका नियम करानेवाला तुम्हारे पास कोई हेतु नहीं है। यदि तुम यों कहो कि अभिन्न हो जानेसे क्या हुआ ? प्रसिद्ध होनेसे उपयोग, उष्णता, आदिश ही लक्षण हैं। और अप्रसिद्ध हुये आत्मा, अप्नि, ये लक्ष्य हैं । यों कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि क्योंजी, फिर आत्मा आदिक क्या अप्रसिद्ध हैं ? उस उपयोगके अनुसार तो वे एक ही हैं । जब कि आपने उपयोग और आत्माका अभेद मान लिया है, तो दोनों ही प्रसिद्ध या दोनों ही अप्रसिद्ध हो सकेंगे । तदात्मक दो पदार्थीमें एक प्रसिद्ध और दूसरा अप्रसिद्ध यह तो हो नहीं सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रसिद्ध हो रहे उपयोग और अप्रसिद्ध हो रहे आत्मा अथवा अप्रसिद्ध हो रही अप्नि और प्रसिद्ध हो रहे उच्चा गुणका भला तादात्म्य भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रसिद्ध अप्रसिद्ध दो पदार्थीमें सर्वथा तादात्म्य होनेका विरोध है। तुमको स्वयं कण्ठोक्त उनका कथंचित् भेद मानना पडा।

न चैकांतेनामसिद्धस्य लक्ष्यत्वं खरविषाणवत् । नापि मसिद्धस्यैव लक्षणवत् कथंचि-त्यसिद्धस्यैव लक्ष्यत्वोषपत्तेः द्रव्यत्वेन मसिद्धस्य हि वन्हेरिप्रत्वेनामसिद्धस्य लक्ष्यत्वग्रुपल्रब्धं द्रव्यस्य च सत्त्वेन मसिद्धस्य द्रव्यत्वेनामसिद्धस्य लक्ष्यत्वग्रुपण्यते सतोपि वस्तुत्वेन मसिद्धस्यासन्त्वव्यतिरेकेणामसिद्धस्य लक्ष्यत्वग्रुपलक्ष्यते नान्यथा । न चैवमनवस्था कस्यचित्कचिक्षि-र्णयोपल्लब्धेः । सर्वत्रानिर्णयस्य व्याहतत्वात् तस्यैव स्वरूपेण निर्णयात् । तदनिर्णये वा कथं सर्वत्रानिर्णयसिद्धिः ।

एक बात यह भी है कि तुमने अप्रसिद्धकों लक्ष्य और प्रसिद्धकों लक्षण कहा था, वह तो ठीक नहीं दीखता है। कारण कि जो पदार्थ एकांत रूपसे यानी सर्वीग स्वरूपसे अप्रसिद्ध है वह तो खरिविषाणके समान लक्ष्य नहीं बन सकता है तथा सर्वथा एकान्त रूपसे प्रसिद्ध हो रहे ही पदार्थकों लक्ष्यपना नहीं है, जैसे कि प्रकरणमें दोनों वादी प्रतिवादियों के यहां प्रसिद्ध हो रहा लक्षण उस समय

लक्ष्य नहीं माना जाता है। हां कथंचित् अपसिद्ध और किसी अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे ही अर्थको लक्षपना बनता है। देखिये. अग्रि उणा है इस प्रकार विशेष व्यक्तियों स्वरूप विश्वका अज्ञान रखनेवाले किसी अन्यत्वनके सत्मुख किसी ज्ञानीने अग्निका उष्णाल लक्षण कहा, यहां द्रव्यपनेसे प्रसिद्धः हो स्है। और अग्निपनेसे नहीं प्रसिद्ध हो रहे ही अनलको लक्ष्यपना देखा गया है। पश्यपनेसे प्रसिद्ध हो रही गायका लक्षण शृंगसास्त्रावत्त्व कर दिया जाता है। अग्निको द्रन्य समझ रहे या गायको सामान्यरूपसे पद्म या जीन समझ रहे मुख्यके प्रति नक्ता द्वारा उष्णपना या सींग, सासनासहितपना, उक्षण करना सार्थक है । जो द्रव्यरूपसे या वस्तुरूपसे भी उक्त पदार्थीको नहीं समझता है उसकी चिकित्सा न्यारी है। ऐसी दशामें अभिका द्रव्यपना प्रथम समझाने योग्य है। वहां भी सत्पने करके प्रसिद्ध हो रहे और द्रव्यपने करके अप्रसिद्ध हो रहे द्रव्यको लक्ष्यपना बन रहा है। तभी " सद्द्रव्यलक्षणम् " कहना समुचित प्रतीत होगा । यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे सिहतपम रूपः सत्त्व भी किसीको ज्ञात न होय तो फिर उस सत्को ही लक्ष्य बनाओ । किन्तु वस्तुपने करके प्रसिद्धः हो रहे और असत्पनकी भिन्नता करके अप्रसिद्ध हो रहे ऐसे सत्तको लक्ष्यपमा देखा जा रहा है। अन्य प्रकारों से लक्ष्यपना नहीं बनता है। अर्थात—उद्दिष्ट पदार्थका ही लक्षण किया जा सकता है और नामनिर्देश तो किसी न किसी निर्णीत धर्म से युक्त हो रहे पदार्थका किया जायगा। इञ्यत्क धर्म से प्रसिद्ध हो रही अभिका लक्षण उष्णत्व हो सकता है। यदि किसीको अभिमें उष्णपनके समान द्रव्यत्व भी अप्रसिद्ध होय तो दश्यमान या सम्भाव्यमान अग्निका सत्पने करके प्रसिद्ध हो जुकना आवस्थक है। जो उस अग्निरूप पदार्थको खरविषाण आदि असत पदार्थी से भिन्न समझता हुआ सत् समझ रहा है उस सामान्य सद् अर्थको द्रव्यपने करके लक्षित किया जा सकता है। यदि सत्पनेका भी वहां निर्णय नहीं है तो कमसे कम उसमें वस्तपनेकी प्रसिद्धी तो अक्क्य हो चक्की। चाहिये । अवस्तुमें सत्पना नहीं दिखाया जाबगा । वस्तपना भी यदि निर्णीत न होय तो अर्थ किया-कारित रुक्षण करके उस सर्वनाम वाच्य अर्थकी प्रसिद्धि हो चुकना आवश्यक है। उत्तरोत्तर दसवी. बीसकी, कोटिपर पहुंचते हुये अप्रसिद्धि बनी रहेगी तो ऐसी दशामें उस रुक्ष्यकाः रुख्या नहीं बनना व चाहिये । सौमीं कोटिपर जाकर भी यदि लक्ष्य किसी अंशसे प्रसिद्ध होगया है तो उससे उस्की ओरके निन्यानेवे छक्ष्मोंको सुरुभतासे कथांचित् प्रसिद्ध बनाया जा सकता है । असंस्य कोटियर पहुं-चकर भी कथनपि नहीं प्रसिद्ध ह्रयेको तो किन्हीं भी अन्य उपाया करके छक्षपाना नहीं बन पाता है। यदि कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार चौथी, बीसवीं, सौमी, आदि कोटियोंतक प्रदेवते प्रकंतिः कहीं भी आगे चलकर ठहरना नहीं होने से अनवस्था हो जायगी, आचार्य कहते हैं कि यों तो न कहना । क्योंकि किसी न किसीको आगे चलते हुये कहीं न कहीं तो निर्णय होना देखा जा रहा है। पोंगा मनुष्य बहुत दर चलकर भी धर्मीके किसी अंशको नहीं जान पाया है, ऐसा कहनेवाले उस निजलोपी शून्यभादीके गुप्त चरके सम्मुख लक्ष्मांवाक्य बोलना

अगण्यरोदनके सामान व्यर्थ है। योडोसी नी बुद्धिको रखनेवाला जिज्ञास पुरुष वीसवी, पैचासवी, तो म्मा मैची, पांचभी, क्रोटिपर ही द्रव्यपन, सत्त्व, वस्तुत्व, इन सामान्य धर्मी करके छक्य धर्मीका किर्णय कर मुका प्रतीत हो जाता है। उदयर्णिय पदार्थको सत्, द्रव्य, या वस्तु समझ रहे बुअस्प्रके किये उपकारी वक्ता द्वारा कक्षण वाक्य करके विशेष अंशोंकी व्यत्पत्ति करा दी जाती है। क फर्क्सणभावको स्वीकार करनेवाछोंके यहां सभी पदार्थ, इन्य, बस्त, आदिमें भी अनिर्णय बना रहे यह व्याधात दोषपुक्त बचन है। सबको मानकर पुनः उसमें नहीं निर्णय होनेको कह रहा पुरुष कहीं न कहीं निर्फयको अवस्य स्वीकार करता है। अतः हमको किसीका भी निर्णय नहीं है यों महनेवाला पुरुष " माता मे बञ्च्या " के समान स्ववचनका विधात कर रहा है। उस पुरुषको उस सर्वत्र अनिर्णयका ही अपने अनिर्णयस्तरूप करके निर्णय हो रहा है। यदि उस अनिर्णयका अपने अनिर्णय डील करके भी निर्णय होना नहीं माना जायगा तो सर्वत्र अनिर्णयकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात्—सेयमुभयतः पाशारञ्जः, अनिर्णयका अनिर्णय माना जाय तो भी कहीं न कहीं निर्णय होना वन जाता है। अनिर्णयका अनिर्णय ही तो निर्णय है। दो नञ् छगा देनेसे उसका सद्भाव आ जाता है और यदि अनिर्णयका निर्णय माना जाय तब तो स्रूटभतासे कहीं न कहीं निर्णय हो रहा संघ जाता है। अतः सर्वत्र अनिर्णय कहना व्याघात दोषयक्त होता हुआ उसी प्रकार छळपूर्ण बचन है जैसे कि कोई मीमांसक या बौद्ध विद्वान् वीतराग पुरुषका निषेत्र करनेके किये यह युक्ति देता है कि बहुतसे सराय, ढोंगी, बकभक्त, पुरुष भी बीतराग सजनके समान मेहा करते हैं और दीतराम पुरुष भी कदाचित पढाते, प्रापश्चित्त देते, प्रमोद भावना पावते हुये, साराग पुरुषोंके समान चेष्टा करते हैं। बात यह है कि यह केवल कपटमात्र है। वह विद्वान अवस्य **ही** बीत्रसम और सरमाने अन्तस्तलपर पहुंचकर उनके लक्षणोंको पहिचानता है तभी तो वीतराग भी सरागके समान चेष्टा करते हैं। यह साहत्य मूलक वाक्यको कहता है। मूलम्मा सोनेके समान दीखता है, चांदी सीप के समान भासती है। कृत्रिम, अकृत्रिम, मुक्ताफल एकसे दीखते हैं, यों श्रवानमेत्राला पुरुष असळी, नकलीकी पुरुष करना अवश्य जानता है । सिद्धान्त यह है कि सर्वाधा अप्रसिद्ध ही छक्ष्य नहीं है। कथंचित प्रसिद्ध और कथंचित अप्रसिद्धको उक्ष्य कहना सक्तिपूर्ण जन्मता है।

सर्वथा मसिद्धं लक्षणिक्ष्यययुक्तं, वृत्तद्राधिमादिना मसिद्धस्य दंडस्य केश्चिदुरुपलक्ष्यै-विभिन्नेरमसिद्धस्यापि देवदत्तलक्षणत्वमतीतेः । न हि मतिक्षणपरिणामः स्वर्गमापणशक्त्यादि सर्वथा सर्वस्य कैनचिदुपलक्षयितुं शक्यते ।

आक्षेत्रकारने पहिन्ने यह बात कही थी कि एकान्त रूप से अप्रसिद्ध हो रहा पदार्थ उक्ष होता है और सभी प्रकारों से असिद्ध हो रहा पदार्थ उक्षण हुआ करता है । हम पहिले लक्षण स्थान स्थाना अप्रसिद्ध एकान्तवादका निराकरण कर चुके हैं। कर्थांचेत् (बहुमाग) अप्रसिद्ध और कथांचेत्

(एकभाग) प्रसिद्ध पदार्थ ही लक्ष्य हो सकता है। कहीं कहीं पदार्थके एक भागको भी लक्ष्य बनाया जा सकता है तथा सभी प्रकारोंसे प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको लक्षण कहना इस प्रकार उनका दूसरा आग्रह भी युक्तियोसे रीता है। क्योंकि गोल आकार, लम्बाई, कठोरता, सन्दरता आदि धर्मी करके प्रसिद्ध हो रहे फिर भी कठिनता से देखनेमें आवें ऐसे किन्हीं छपछपापन, सारभाग (जौहर) मूल्य, बांसकी जाति, आदिक विशेषताओं करके अप्रसिद्ध भी हो रहे दण्डको देवदत्तका लक्षणपना प्रतीत हो रहा है। तभी तो छक्षण कर चुक्रनेपर भी परीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। देवदत्तका डण्डा कितने मूल्यका है ! किस देशका है ! ठोस है या पोला है ! डण्डेकी इन बातोंको प्रसिद्ध रूपसे जान छेना कठिन कार्य है। बौद्ध मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थीको क्षाणिक माना गया है, जैन भी ऋजुस्त्रनयसे सर्वको क्षणवर्ती मानते हैं। दान, पूजन, आदि करनेवाले जीवमें स्वर्ग प्राप्त करनेकी शक्ति मानी गयी है। बीजमे हजारों, छाखों, असंख्य, पीडियोंतक संतान प्रति-संतानरूपसे अंकुरको उत्पन करनेकी कुर्वद्रुपत्व शक्ति मानी गयी है। सभी देखे जा रहे सम्बृत्तिसत्य दृश्यमान स्कन्धोंको बौंद्रोंने यथार्थरूपसे परमाण स्वरूप स्वीकार किया है। भावार्थ-सभी पदार्थीमे एकान्तरूपसे विशेषतायें धुसीं हुई हैं। संसारमं अनेक मायाचारी जीवदयाका प्रयोग करते हैं। न जाने किन किन असंख्य अवक्तन्य अभिप्रायोको लेकर जीव श्रमण कर रहे हैं। कोई कपडा दो वर्षतक चलता है तैसे ही कोई वस दो, चार, दस, बीस दिनतक कमती बढती टिकाऊ होने हैं। कई हुए, पष्ट, शरीरवाले पुरुषोंकी भृत्युयें सुनी जाती हैं। और दर्बल, पतले, चिररोगी, अर्द्धागप्रस्त लंगडे, कही परुष बीसों वर्षतक जीवित बने रहते देखे जा रहे है। कितनी ही घडियोंको दस, वीस वर्षतक नहीं सचरवाना पडता है । साथमें वैसी ही घडियोंको एक एक महीनेमें ठीक कराना पडता है । बनारसका जल किसी किसी व्यक्तिको प्रकृतिक अनुकूछ नहीं पडता है। साथमें अन्य व्यक्तिको हृष्ट, पृष्ट, बलिष्ट, बना देता है। बात यह है कि सम्पूर्ण पदार्थिक अन्तरंग क्षणत्थायीपन, स्वर्गनापणशक्ति, आदि स्वभावों का सभी प्रकार सभी जीवोंमें किसी भी जीव करके जानने के लिये सामर्थ्य नहीं है। अतः सर्वथा प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको ही लक्षण कहना उचित नहीं है । सर्वज्ञ देवके सन्मख तो लक्षण कर-नेकी आवश्यकता ही नहीं है । जिनको लक्षणके द्वारा लक्ष्यका बोध कराया जाता है वे प्रतिपाच और प्रतिपादक दोनों भी लक्षण में सम्पूर्ण स्वभावोका निर्णय कर चुकनवाले नहीं होते हैं। अतः लक्षण भी बहुतसे सू:म अंशोंमें अप्रसिद्ध है, फिर भी स्थूल अंशोकी प्रसिद्धिके अनुसार वक्ता, श्रोताओंके यहां प्रसिद्ध हो रहा लक्षण मान लिया जाता है। ऊपरसे सदृढ़ दीख़ रहे शरीरमें भी कोई रोग या निर्वलताका अंश छिपा हुआ है । अथवा शक्तिशाली प्रबल कारण जुट जानेपर उसी समय परिस्थिति अनुसार बन जाता है। रोगी कोढी जीत्रोंमें भी आयुष्य कर्म या नियत हक्किओंका रहपना वर्त रहा है। काइकि जलवायुमें भी किसी प्रकृतिवाले शरीरको पोपण करनेके अंश विद्यमान है और दूसरे शरीरको सरोग बनानेके शक्तिभाग उसमें पाये जाते हैं। सर्वज्ञके अतिरिक्त किसी भी जीवको किसी भी पदार्थक संपूर्ण

अंशीका परिज्ञान नहीं हो पाता है। न जाने किस निमित्तसे कहां क्या नैमित्तिक भाव उपज बैठे। उष्णता शीतताका मिश्रण विशेष होनेपर किसीको शीघ रुठेष्म (जुकाम) हो जाता है । जिससे कि सेरों रस. रुधिर. आदिको नासिका द्वारसे निकालने योग्य वक्खर सारिखे कफको बनानेके लिय उपयोगी यंत्रालय (कारम्बाना) शरीरमें बन जाता है । सर्वथा हृष्ट्रपष्ट नीरोग शरीरमें प्लेग हैजा, आदि छत बीमारियोका प्रसंग मिलनेपर उसी समय शरीरमें महारोग उत्पादक अंश उपज जाते हैं। शुद्ध द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्तानन्त शेष रहे जीव और शरीर, अन्न, जल आदिक पदार्थ तो निमित्तोंके मिलते हैं। झट नैमित्तिक परिणामोंको बनानेके लिये मंह बांएं बैठे रहते हैं। जैसे कि लोकमें नाईको धोबीकी. धोबीको कोरियाकी, कोरियाको वढईकी, वढईको किसानकी, किसानको साहुकारकी, साहुकारको राजाकी, राजाको अध्यापककी, अध्यापकको दुकानदानदारकी, दुकानदारको न्यायालयकी, न्यायालयको अपरा-धियोंकी, इत्यादिक रूपसे परस्परमें एक दूसरेकी आवश्यकतायें पढ रहीं हैं, उसी प्रकार जड पदार्थ पद्गलोंमें भी परस्परकी अपेक्षा रखते हुये अनेक परिणाम हो रहे हैं। बादल आना, वृष्टि होना, बिजली चमकना, ऋतुयें बदलना, सूर्यका एकसी चौगसी गलियोंपर चूमना, चन्द्रोदय होना, पृथ्वीके गर्भमें विकार होना आधी, गगनधूरि, कुडा, कचरा, मल मूत्रका सडना इत्यादिक परिणाम अनेक स्कन्धोंको भिन्न मिन्न परिणाम बनानेके उपयोगी निमित्त कारण बना देते है । उन निमित्तकारण स्कन्धोंसे जीव या शरीर अथवा जड पदार्थीमे विभिन्न परिणतियां वर्त्तती रहती हैं जो कि किसी वृक्षके पुष्पोंका उद्गम कराती हैं. कहीं फल लगाती है, कहीं पत्तोंको झाडती हैं, ऋतुओंके योग्य कत्ता, गधा, भैसा, आदिके कामविकारोको उत्पन्न कराती है। आम, खरवूजा, ककडी, अमरूद, छुकाट, आलूबुखारे, अनार, आदि फलोंको उगाती हैं। कही दक्षिण देशमें चैत्रमासमे ज्वार पकती है, जब कि उत्तर प्रान्तमें अगहून मासमें ही पक जाती है। गिरनारजी प्रान्तमें माघ महीनेमें ही खरबूजाका फलकाल (फसछ) आ जाता है, किन्तु आगरा, सहारनपुरकी ओर जेठमें और छखनऊमें वैसाख महीनेमें उनका फलकाल है। कितने ही प्रान्तोंमें आम्रफल चैत्र वैमाख में ही फलित हो जाता है। अनेक स्थानोपर आषाढ सावनमे उनका पकना प्रारम्भ होता है । कुछ आम्र वृक्षोंकी ऐसी जातियां हैं, जिनमें भादोंमें बीर आकर कार्तिकमें पकना प्रारम्भ होता है। कोई कोई आम पत्र माहमें भी पकते हैं। इत्यादिक सम्पूर्ण कार्यकारणभाव निमित्त नैमित्तिकोंकी योग्यता मिलनेपर व्यवस्थित हो रहे हैं। जीव या पुद्रलोंमें बडी शक्ति है। " काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या, उत्पातोऽपि यदि स्यात्त्रिलोकसम्भान्तिकरणपटुः '' इस वाक्यसे ध्वनित होता है कि एक छोटासा स्कन्ध भी मचलकर तीन लोकको लौट पौट करनेकी सामध्ये रखता है। सद द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्तानन्त द्रव्योंको वह उथल पुथल कर सकता है। पदार्थीमे प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध, कार्यकारी, अकार्यकारी अनेक स्वभाव भरे हुये है। अतः लक्षणको सर्वथा प्रसिद्ध ही और लक्ष्यको सर्वथा अप्रसिद्ध ही कहना न्यायोचित नहीं है।

यदि प्रुनर्येन करेण मसिद्धो इंद्रादिस्तेन स्वसणं, देवदस्तम येन क्रमणामसिद्धकीन स्वस्म इति मतीतेः मसिद्धस्य स्वसणस्वममसिद्धस्य तु सक्ष्यस्विभिति सतं, तदा कथं स्वस्य स्वसणसीसिद्धस्य । ततः कथंचिक्टिकयोरभिक्षणोय सक्ष्यस्वसण्यस्य मतीतिसद्धानात् सर्वथा विरोधाभावात्, अन्यथा स्वस्यसणक्ष्यस्यात् ।

यदि फिर आक्षेप करनेवाले तुम्हारा यह मन्तव्य होय कि जिस स्वरूप करके दण्ड, टोपी, कुण्डल, आदिक प्रसिद्ध हो रहे हैं. उस प्रसिद्ध स्वरूप करके वे दण्ड आदिक लक्षण हैं. अपने अप्र-सिद्ध स्वरूपों करके दण्ड आदिक लक्षण नहीं हैं तथा उसी प्रकार जिस स्वरूपकरके देवदत्त अप्र-सिद्ध हो रहा है उस अप्रसिद्ध स्वभावकरके ही देवदत्त लक्ष्य माना गया है, अपने प्रसिद्ध हो रहे स्वभावों करके देवदत्त लक्ष्य नहीं है। क्योंकि इस प्रकार लोकमें बालक, बालिकाओंतकको प्रतीति हो रही है। सम्पूर्ण जन प्रसिद्ध हो रहेको लक्षणपना इष्ट करते हैं और अप्रसिद्ध हो रहेको तो लक्ष्य-पना समझा जा रहा है। ऐसा मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो आप अच्छा कह रहे हैं. किन्तु ऐसी अभेदकी दशामें अप्रसिद्ध छक्ष्य और प्रसिद्ध छक्षणका एकान्तरूपसे तादात्म्य भछा कैसे होगा १ क्योंकि प्रसिद्धि और अप्रसिद्धिकी अपेक्षा छक्षण और छक्ष्यमें विरुद्धधर्मीका अधिकार जम रहा है। तिस कारणसे जैसे प्रसिद्ध अप्रसिद्धिक एकान्तको आपने लक्षण और लक्ष्यमें से उठा लिया 🕏, उसी प्रकार अमेद एकान्तको भी निकाल दीजियेगा । तैसा होजानेसे कथंचित भिन्न और अभिन होरहे दो पदार्थीमें लक्ष्यलक्षणभाव बनेगा । कथंचित् भिन्न अभिन्न अथवा कथंचित् प्रसिद्ध अप्रसिद्ध पदार्थीमें ही ढक्यलक्षणभावको प्रमाणोंसे सिद्ध करनेवाली प्रतीतियां विद्यमान हैं। इस सिद्धान्तमें समी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे विरोध दोषका अभाव है, अन्यथा यानी उक्त '' कथंचित् स्वरूप जीवन रसायनका अतिक्रमण कर दूसरे प्रकारोंसे लक्ष्यलक्षणभाव माना जायगा तब तो लक्ष्य और कक्षण दोनोंके राज्यपनका प्रसंग हो जायगा। जैसे कि अग्नि और उष्णताका भेद माननेपर नैयायिकोंके यहां अग्निस्वरूप आधारके विना निराधार होरही उष्णता तो मर जायगी और उष्णतासे रीती अग्नि भी स्वभावोंसे रहित होरही शून्य हो जायगी । सर्वथा अभेद पक्षमें भी ज्ञानका नारा हो जानेसे आत्माका नाश अवस्यम्भावी है। ऐसी दशामें जगत्से लक्ष्यलक्षणभाव सर्वथा उठ जायगा।

संवृत्या लक्ष्यलक्षणभाव इति चेषा, संवृत्तेरूपचारत्वे ग्रुख्याभावेऽनुपपत्तेः । मृषात्वे न संवृत्तिर्गाम यया तद्धावः सिध्येत् । विचारतोनुपपद्यमाना विकल्पबुद्धिः संवृतिरिति चेत्, क्षं तया लक्ष्यलक्षणभावस्तस्य तत्रावभासनादिति चेत् सिद्धस्तिई बौद्धो लक्ष्यलक्षणभावः तद्धद-बौद्धोपि किं न सिध्येत् १ विकल्पविषयः हिर्भूतस्यासंभवात् इति चेषा, तस्यासंभवे विकल्पविषयः त्यायोगात् । न च सर्वो विकल्पविषयो संभवनेव सम्भवतोऽपि विकल्पविषयोपतेः प्रत्यक्ष-विषयवत् सर्वो विकल्पविषयो संभवनेव सम्भवतोऽपि विकल्पविषयोद्धित चेत्, सर्वे मलक्षः

यसँथविद्विषये त्रत्यंसत्वात् केशीडुकंत्रत्यसर्वदिति किं न स्यात् । प्रत्यसाभासोऽसंभवद्विषयी दृष्टी न प्रत्यस्मिति चेत् तर्हि विकल्पीभासोसंभवद्विषयी न विकल्प इति समानः परिदारः ।

बौद्ध सहते हैं कि जगत्में से वास्तविक लस्यलक्षणभाव उठजाय कोई क्षांति नहीं है। आपत्ति जितनी शीघ ठले उतनी अच्छी है । स्यूलबुद्धिवाले जीवोंने कल्पना करके लक्ष्यलक्षणमाव गढिलिया है। देखो, कभी देवंदत्त भी दण्डका लक्षण हो जाता है। देवदत्तको जामनेवाला पुरुष कदार्चित अझात अप्रसिद्ध उण्डेको देवंदत्तद्वारा चीन्ह लेता है। अप्नि करके भी अझात उष्णता लक्ष्य हो जाती है। " कही नाम लढ़ा पर और कहीं लढ़ी नाम पर " इस नीतिके अनुसार राजी राजी और राजासे रत्नका छक्ष्य कर अथवा गुणसे गुणी और गुणीसे गुणका छक्षण कर छिया जाता है। वचनसे वत्ताकी और वत्तासे वचनकी या पुस्तकर्निर्मातासे पुस्तककी और पुस्तकसे पुस्तक निर्मीताकी जांच हो जाती है। अतः लक्य या लक्षण कोई नियत पदार्थ नहीं हैं। व्यवहारमें कल्पना चाहें जैसी करही, कोई बालक अपने काठके खिंछीनेको या डण्डेको घोडा कहे एतायता क्या वह वस्तान्त घोडा होकर अपने ऊपर चढाता हुआ अञ्चयारको अभीष्ट स्थानपर है जा सकता है ! कभी नहीं । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो बौदोंकी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि संवृत्ति यदि उपचार स्वरूप मानी जायगी तब तो मुख्यपदार्थकी स्वीकार किये विना व्यवहार बनता नहीं है। अतः व्यवहारं से लक्ष्मलक्षणभाष मानने वालेकी मुख्य लक्ष्यलक्षणभाव भी मान अनिवार्थ पड़ेगा । मुख्य घोडा या सिंह जीवाँके होने पर ही बालक बिर्लीनेंमें घोडा। सिंह, हाथी, की कल्पना कर लेता है। सर्वधा असत् खरविषाणका कहीं उपकार होता हुआ नहीं देखा गया है। यदि संशतिका अर्थ बीद झूंठा, असत् पदार्थ करेंगे तब तो वह संवृत्तिकरूपना नाममात्रको भी नहीं हुई. जिस संवृत्तिसे कि वह लक्ष्यलक्षणमाव साथ दियो जाय । परमाधीभूत पदार्थित विषरीत पड जानेक कारण इंडी संवृत्ति कुछ भी नहीं हो सकती है । यदि बीद्धं विकारोंसे नहीं सिद्ध हो रही विकारप्यदिकों संबंधि कहेंगें तब तो हम जैन पछेंगें कि वैसी वस्तुको नहीं विषय करनेवाली उस विकल्पगुन्धिरूप संग्रुतिसे भला लक्ष्यलक्षणमान केसे सिम्री हो सकेगा ! तुम्ही विचारो । आकाशमें कल्पित भूमिपर उपवन नहीं खडा किया जा सकता है । पनरि बौद्ध यदि यो कहें कि हम क्या करें उस विकल्पबुद्धिमें उस लक्ष्मलक्षणमायका व्यवहारी जीवोंको अतिभास हो रहा है, यो कहनेपर तो हम जैनोंको कहना पडेगा कि तब तो अन्तरंग बुद्धिमें आरुखा हो। एक्संख्यां अभाग सिद्ध हो। चुका । बसं, उसी दृष्टान्तके अनुसार विकल्पबुद्धिसे अतिरिक्त बहिरंग वस्त्रासता भी । छस्य लक्ष्मणभाव क्यों नहीं सिद्ध हो जायंगा ? फिर भी बौद्ध यदि यों कहें कि न्यवहार विकल्पनाओंसे बहिंभेत लत्यलक्षणभावका असम्भव ही जानेसे अबैद्ध लक्ष्यलक्षणभाव कोई तहीं है । प्रत्यकार यों कहते हैं कि यह तो ने कहना । क्योंकि बापक विकल्पज्ञानसे बहि भूत हो रहे। उसको विकल्प ज्ञानकी निषयतीका ।

अयोग हो जायगा । जेयके विना ज्ञान किसको जानेगा । बौद्धजन विकल्प ज्ञानके विषयभत पदार्थीको असम्भव मान बैठे हैं, उसपर हमारा यह कहना है कि विकल्पज्ञानोंके विषय बन रहे सभी विषय असम्भव रहे ही है, यह तो नहीं समझना । क्योंकि वास्तविक सम्भव रहे भी पदार्थको विकल्प ज्ञानोंकी विषयता बन रही है, जैसे कि प्रत्यक्षज्ञानका विषय मूत पदार्थ परमार्थरूपसे सम्भव रहा है, इसपर बौद्ध अनुमान बनाकर आक्षेप करते है कि सम्पूर्ण विकल्पज्ञान (पक्ष) असम्भव हो रहे विषयोंको जान बैठे हैं (साध्य) विकल्पना होनेस (हेत्) मनमें राजापना, इन्द्रपन, आदिकी विकल्पनाओंके समान (अन्वय दृष्टान्त) यों करनेपर तो आचार्य महाराज भी कटाक्ष करते हैं कि संपूर्ण प्रत्यक्ष (पक्ष) असम्भव हो रहे विषयोंको जान रहे है (साध्य) प्रत्यक्षपना होनेसे (हेत) सीपमे हये चांदीके ज्ञान या मृगतृष्णामें हुने जल्ज्ञान आदि भ्रान्त प्रत्यक्षोंके समान (अन्वयद्दष्टान्त) यह व्यवस्था भी क्यो नहीं बन जावेगी ? अर्थात्—एक झूंठे विकल्पको लेकर यदि सभी विकल्प ज्ञानको अपरमार्थभूत माना जायगा तब तो कुछ मिथ्या प्रत्यक्षोंको दृष्टान्त बनाकर सभी सबे, ब्रंठे, प्रत्यक्षोंको निरालम्ब साथ दिया जायगा । एक कनैटाके सदश सभी प्राणी कनैटा हो जायंगे ? यदि बौद्ध यों कहे कि प्रत्यक्षके समान दीख रहा झंटा प्रत्यक्षाभास तो असम्भव रहे विषयको जान रहा देखा गया है, किन्तु समीचीन प्रत्यक्ष तो असम्भव विषयवाला नहीं है। उसका थियय तो वस्तुमृत स्वलक्षण है, तब तो हम जैन भी कह देंगे कि झंठा विकल्प ज्ञानाभास तो असम्भव रहे विषयका प्राहक है। हां, समीचीन विकल्पज्ञान नहीं। प्रमाणात्मक विकल्प-ज्ञानका विषय तो परमार्थभूत सम्भव रहा है। इस प्रकार तुम्हारा प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये जो परिहार है वैसा ही हमारा विकल्पज्ञानोंके असम्भव विषयीपनके आरोपका परिहार समान कोटिका है, रेफ मात्र अन्तर नहीं । अतः समीचीन विकल्पज्ञानसे हुआ लक्ष्यलक्षणभाव वास्तविक ठहर जाता है।

कः पुनः सत्यो विकल्पः प्रत्यक्षं किं सत्यिमिति समः पर्यनुयोगः । यतः मवर्तमानोर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते तत्सम्यक् प्रत्यक्षमिति चेत्, यतो विकल्पादर्थे परिछिद्य प्रवर्तमानोर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते स सत्यिमिति किं नानुपन्यसे ?

बौद्ध विद्वान् आचार्योके प्रति सकटाक्ष प्रश्न करते हैं कि आप जैनोंने समीचीन विकल्पज्ञानका विषय परमार्थभूत कहा है, अतः यह बतळाओं कि जगत्में वह विकल्पज्ञान फिर सख कौनसा है ? यों पूंळनेपर तो हम जैन भी बौद्धोंसे पूळेंगे कि तुम्हारे यहां वह कौनसा प्रत्यक्षज्ञान सत्य माना गया है जिसका कि विषय वस्तुभूत होय । इस प्रकार तुम्हारे उठाये हुये चौद्यके समान हमारा भी चोच तुम्हारे ऊपर समान रूपसे वैसाका वैसा ही छग बैठता है । उक्त चोचका यदि बौद्ध यह उत्तर कहें कि जिस प्रत्यक्षप्रमाणसे अर्थको जानता हुआ पुरुष अर्थिकयाको करनेमें भूछ चूक नहीं करता है, वह प्रत्यक्ष समीचीन बोळा जाता है । अर्थात् जैसे जलको जानकर यदि स्नान, पान, अवगाहनरूप किया ठीक ठीक उत्तरे तो वह जलका प्रत्यक्ष समीचीन समझा जायगा और जलको जानकर बाद्ध रेत हाथमें आवे या चांदीको जानकर सीपकी अर्थ कियायें होने लगे तो वह प्रत्यक्ष अस्त्य है। बौद्धोंके यों कहने पर तो हम जैन भी उनके चोधका उत्तर यों दे सकते हैं कि जिस विकल्प झानसे अर्थकी पिरिन्छिति कर प्रवृत्ति कर रहा झाता यदि अर्थ किया करनेमें विसंवाद (धोका) को प्राप्त नहीं होता है वह विकल्प सत्य है। शेष विसंवाद करानेवाले विकल्पझान असत्य हैं, इस हमारी बातको भी क्यों नहीं मान लेते हो ? अर्थात्—अपने हाथके पामरेको बढा भारी श्रमोत्पादक कहना और दूसरेके हाथमें धनरहे पामरेको बीजनाके समान हलका समझना अनुचित है । अतः विकल्पझान और प्रत्यक्षज्ञानके ऊपर किये गये आक्षेप और समाधान दोनों वादी, प्रतिवादियोंके यहां तुल्य हैं।

कि पुनर्विकल्पस्यार्थपरिच्छेदकत्वं ? मत्यसस्य कि ? अविचिलितस्पष्टार्थावभासित्वभिति चेत्, कस्यचिद्विकल्पस्यापि तदेव, कस्यचित्तु वाधकविधुरास्पष्टार्थावभासित्वभपीति मन्यामहे । अस्पष्टार्थ एव न भवतीति चेत् कृतस्तस्यानर्थत्वं ? पुनरस्पष्टतयानवभासनादिति चेत्, स्पष्टाप्ये-वमनर्थः स्यात् पुनः स्पष्टतयानवभासनात् । यथैव हि दूरात्पादपादिसामान्यमस्पष्टतया मतिभातं पुनर्निकटदेशवर्तितायां तदेवास्पष्टं न मतिभाति तदिशेषस्य तदा मतिभासनात् । तथैव हि सिक-हितस्य पादपादिविशिष्टं रूपं स्पष्टतया मतिभातं पुनर्द्रतरदेशवर्तितायां न तदेव स्पष्टं मतिभासते ।

बौद्ध पुंछते हैं कि आप जैन यह बताओ कि तुम्हारे यहां माने गये प्रमाण आत्मक विकल्प-ज्ञानका अर्थ परिच्छेदकपना क्या है ? इस प्रकार बौद्धोंके आक्षेप करनेपर हम जैन भी बौद्धोंसे पंछते हैं कि तुम्हारे यहां भी प्रमाण माने गये प्रत्यक्षज्ञानकी अर्थ परिच्छेदकता भला फिर क्या मानी गयी है ! इसका उत्तर यदि बौद्ध यों कहें कि चलायमान न होकर अर्थका स्पष्टरूपमे प्रकाशकपना ही प्रत्यक्षमानकी अर्थपरिच्छेदकता है, यों कहनेपर तो हम जैन भी वही उत्तर कहेंगे कि किसी किसी साकार प्रत्यक्ष आत्मक विकल्पका भी वह चलनरहित स्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना ही अर्थपरिच्छेद-कता मान छी जाओ । हां, किसी किसी अनुमान, तर्कज्ञान, आगम, रूप विकल्प ज्ञानोंको तो बाधा रहित होकर अस्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना भी उनकी अर्थपरिच्छित्ति मानी गयी है। स्पष्ट, अस्पष्ट, दोनें प्रकारके विकल्प ज्ञानोंको निर्वाध होकर अर्थप्रकाशकपन है। ऐसा हम जैन स्वीकार कर मान रहे हैं. यदि अकेल प्रत्यक्ष द्वारा ही वस्तुभूत स्पष्ट अर्थका विषय होना माननेवाले बौद्ध यों कहें कि जगत्में अस्पष्ट अर्थ तो कोई ही नहीं है। जगत्में जो कुछ है वह स्पष्ट हो रहा प्रत्यक्षज्ञानसे ही विषय कर लिया जाता है। अस्पष्ट सामान्यको जाननेवाले अनुमानका या आगम आदि ज्ञानोंका विषय वस्तुभूत ही नहीं है। अपरमार्थ हैं, यों बौद्धोंके कहनेपर जैन कहते हैं कि तुमने उस अस्पष्टका वास्तविक अर्थपना कैसे नहीं समझा है ? अर्थातु--अस्पष्ट पदार्थ परमार्थभूत न होकर अनर्थ है यह तुमने कैसे जाना ? बताओ ? इसके उत्तरमें फिर भी तुम यों कहो कि निज स्वरूप माने गये अस्पष्टपने करके उसका प्रतिभास ही नहीं केता है। अतः वह अस्पष्ट अर्थ अवास्तविक है। जैसे कि बन्धापुत्रका बन्धाके पुत्रपने करके

प्रतिभासना नहीं होनेसे वह अनर्थ समझा जाता है । अर्थको तो स्पष्ट रूपसे प्रकाशना चाहिये था । बौद्धोंके यों कहनेपर तो हम (जैन) भी कटाक्ष करते हैं कि इस प्रकार तो तुम्हारा माना हुआ स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ होजाओ । क्योंकि उसका भी फिर दूर हो जानेपर स्पष्टरूपसे प्रतिभास नहीं होता है । देखो. जिस प्रकार आप बौद्ध अस्परको अनर्थपना सिद्ध करनेके छिए यो कृतर्क देवेगे कि जिस ही प्रकार दूरसे देखनेपर वृक्ष, ग्राम, आदिके समान्य धर्म अस्पष्टपने करके जाने जा चुके हैं, किन्तु फिर चलते चलते निकट देशमे वर्त्त जाना होनेपर वही सामान्य अस्पष्ट नहीं दीखता है। क्योंकि निकट चले जानेपर तो उस समय उन बृक्ष, प्राम, आदिके विशेष धर्मीका स्पष्ट प्रातिभास होने लग जाता है। अतः अत्पर अर्थ कोई बास्तविक नहीं है। यदि अत्पष्ट अर्थ कोई बास्तविक होता तो समीप जानेपर विशेषोंके समान और भी बढिया ढंगसे अस्पष्ट दीखने छग जाता । किन्त इसके विपरीत निकट देश हो जानेपर उस अ.पट अर्थका खोज ही मिट जाता है । अतः अस्पट अर्थ कोई वारतिक नहीं है। आचार्य ही कह रहे हैं कि जैसे बौद्र यह कटाक्ष करते है. उस ही प्रकार हम जैन भी कह देगे कि देखिये निकटवर्ती हो रहे पुरुषको बृक्ष, हवेली, सुवर्ण, आदिका विशेषोसे विसा हुआ स्वरूप तो स्पष्टपने करके प्रतिभास चुका है । पुनः ज्ञाता या ज्ञेयके अधिक दूर देशमें वर्त्त जानेपर फिर वहीं स्परहरूप नहीं प्रतिमासता है। एतावता स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ बैठेगा | कारण वही है कि स्पष्ट अर्थ यदि वास्तविक होता तो दूर देशवत्ती हो जानेपर भी स्पष्ट ही दीखता रहता, जैसे कि चन्द्रमा चन्द्रस्वरूप करके ही दीखता रहता है। देशकी परावृत्ति हो जानेसे अर्थ अपने स्वरूप को नहीं परावृत कर सकता (बदल सकता) है । मूंसल यदि स्वर्गमें चला जाय तो वहां भी कूटेगा ही, चण्टा, घडियालों, पर स्वर्गमें भी मौगरोंकी चोटें पडती हैं। बात यह है कि घोडा दूरसे या पाससे देखनेपर हाथी या ऊंट नहीं हो जाता है । तभी तो जैनोंने स्पष्टता या अस्पष्टताको अर्थके धर्म नहीं मानकर ज्ञानका धर्म इष्ट किया है।

यदि पुनः सिन्निहितज्ञानग्राह्यमेव तद्भूपं विशिष्टिमिति मितः तदा दिविष्टादिज्ञानग्राद्यमेव तद्भूपं सामान्यमिति किं न मतं । यथा विशिष्टं पादपादिरूपं स्वामर्थिकियां निवर्तयति तथा पादपादिसामान्यरूपमि । मितपचुः पश्तिपकरणं हि यद्यर्थिकिया तदा तत्सामान्यस्यापि सास्त्येव कस्यचित्तावता परितोषात् । अथ स्वविषयज्ञानजनकत्वं तदिष सामान्यस्यास्ति ।

यदि रपष्टको ही वास्तविक अर्थ कहनेवाले बौद्ध फिर यों कहें कि अधिक निकट अवस्थामें हुये ज्ञानके द्वारा प्रहण करने योग्य वह रपष्ट रूप ही तो विशेषाकान्त हो रहा यथार्थ है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंकी बुद्धि होगी तब तो जैज़ोंका भी यह मत क्यों नहीं मान लिया जाय कि दूरवर्ती दशा या विशेषके अग्रत्यक्षकी अवस्था अथवा असाधारण धर्मीका अदर्शन आदि अवस्थाओं में हुये ज्ञान द्वारा प्रहण किया जा रहा ही वह अस्पष्टरूप सामान्य पदार्थ वस्तुभूत है। जिस प्रकार कि तुम बौद्धों के यहां विशेषाकान्त हो रहे वृक्ष, जल, आदिके त्रिशेषरूप अपनी अपनी

योग्य अर्थिकियाओंको सम्पादन कराते हैं, उस ही प्रकार हमारे यहां वृक्ष, प्राम, आदि सामान्यरूप भी पदार्थ अपनी योग्य अर्थिनियाको बनाते रहते हैं। अर्थात्—सभी स्थलोंपर बढिया विद्वान नहीं पाये जाते हैं। किन्तु अनेक धनपति या मण्डलियां छोटे छोटे पण्डितोंसे ही अपने अपने रिक्त स्थानकी पृति कर लेते हैं। सूक्ष्म ग्रवेषण करनेपर यदि यों कही कि विशेष विद्वान द्वारा होनेवाले कार्यको सामान्य विद्वान नहीं कर सकता है तो हमें भी साथमें कहना पड़ता है कि " पीर बदर्ची भिश्ती खर '' की नीति अनुसार सामान्य विद्वान् के द्वारा सम्हाल लिये गये कार्यीको विशेष विद्वान् भी नहीं सम्हाल सकता है। नौकरानीके कार्यको रानी नहीं कर सकती है। यदि बौद्ध यों कहें कि ज्ञाता पुरुषको परितोष करानेवाला पदार्थ तो स्पष्टक्य विशेष ही है। सामान्य गाय, घोडे, द्भ देनेमें या असवारी करनेमें उपयोगी नहीं हैं। अतः अच्छा संतोष करा देना ही वस्तुभूत पदार्थकी अर्थिकिया है जो कि स्पष्ट विशेषसे ही साध्य है, तब तो हम जैन कहेंगे कि वह प्रति-पत्ताको पूर्ण सन्तोषित कर देना रूप अर्थिकया तो अस्पष्ट हो रहे सामान्य अर्थिकी भी विद्यमान है । भावार्थ-किसी किसी अल्पसन्तोषीको उतने सामान्यमात्रसे ही परितोष होना देखा जाता है। जो अल्प-आरम्भ परिप्रहको धारते है वे उदर पूर्तिके लिये रूखासूखा सामान्य भोजन पाकर या मोटा, थोथा. कैसा भी वस्त्र पाकर भरण, आच्छादन, कर प्रसन्त बने रहते हैं। कैसा भी काळा, गोरा, मोटा, पतला, मूर्ज, पण्डित, लडका हो माताको वही सामान्य पुत्र प्रसन्तताका हेतु है। गृहकी या अजीवि-काकी क्रेश करनेवाली पराधीनताको भगत रहे पुरुषके लिये जो कुछ भी छोटासा अपना गृह स्यतंत्रवृत्तिका साधन प्राप्त हो जाता है वही परितोप उत्पादक है। बात यह है कि अधिक परिचय हो जाने से त्रिशेष पदार्थ ही सामान्य हो जाता है । दुर्लभ अवस्थाओं में सामान्य पदार्थ ही विशेष बन जाता है। रूपको निरक्वनेवाली कामुक पुरुषोंकी मण्डलीमें अन्य गुण, अवगुणोंकी अपेक्षा नहीं कर जिस सौन्दर्यपर विरेष दृष्टि रखी जाती है, सद्गृहस्थके यहां उसी सौन्दर्य या असन्दरतापर विशेष छक्ष्य रखते हुये उस व्यक्तिके गुण अवगुणों, की ओर विशेष छक्ष्य रखा जाता हैं। विद्वानोंके छिये जो सामान्य वातें हैं वही स्थूल बुद्धिवाले समाजके लिये विशेष हो जाती हैं। कदाचित बहुत से विशेष पदार्थीका मिल जाना उल्टा टंटा, बखेडा, खडा कर देता है। कहीं कहीं तो विशेषकी अपेक्षा सामान्यसे अधिक सन्तोष होता है। जो वृद्ध पुरुष घोडेपर चढना नहीं जानता है उसके लिये साधारण टर्टू, सन्तोषकारक है । नटखटा, बढिया, घोडा तो उस बृद्धको हिला देगा | दकानदारको सीधासाधा साधारण प्राहक लाभ देकर जैसा सन्तीष उत्पन्न कर देता है वैसा चंचल (चलना पुरजा) ग्राहक लाभदायक नहीं है। " वर घर चूल नटियारी है " यह परि-माषा सामान्यवादको पुष्ट कर रही है। तभी तो जैनोंने वास्तविक अर्थको सामान्य, विदेश, अतमक स्वीकार किया है। अब बौद्ध यंदि यों कहैं कि अपने त्रिषयमें ज्ञानको उपन्न करा देना ही। वस्तुभूत अर्थ की अर्थिकिया है, आचार्य कहते हैं कि अपने विषयमें ज्ञानको पैदा करा देना वह अर्थिकिया तो

विशेष पदार्थके समान सामान्य पदार्थकी भी विद्यमान है। जो भोला मनुष्य परीक्षक नहीं है बह सभी प्रकारके घोडोंको सामान्य रूपंसे घोडा समझ रहा है। आश्रपत्न, चावल, मनुष्य, रत्न, पत्थर, सबको एकसा समझ बैठता है, अथत्रा सभी पदार्थोंके झानमें विशेषके साथ उसी समय सामान्यका झान हो रहा देखा जाता है, विशेष घोडेके गुणोंको समझ रहा पुरुष भी उस घोडेको जीव या पशु तो समझ ही रहा है। घोडाको हाथी या जड समझ रहा पुरुष परीक्षक तो क्या अनुन्मत्त कहलानेके योग्य भी नहीं है। यथार्थ बात यह है कि वस्तुके सामान्य और विशेष दोनों अंश वास्तविक होते हुने अपना झान कराते रहते हैं।

सजातीयार्थकरणमर्थिकयेति चेत्, सापि सहशपरिणामस्यास्ति विसहशपरिणामस्येव सहश्चेतरपरिणामात्मकाद्धि वालपादपात् सहशेतरपरिणामात्मक एव तरुणपादपः मादुर्भावश्चप-छभ्यते । तत्र यथा विसहशपरिणामाद्विशेषाद्वा विसहशपरिणामस्तथा सहशपरिणामात्सामा-न्यात् सहशपरिणाम इति सजातीयार्थकरणमर्थिकिया सिद्धा सामान्यस्य । एतेन विजातीयार्थ-करणमर्थिकिया सामान्यस्य मतिपादिता पादपविशेषस्येव पादपसामान्यस्यापि तद्व्यापारात् ।

बौद्ध कहते हैं कि उत्तरोत्तर क्षणोंमें अपने समान जातिवाले अर्थको कर देना ही वस्तमत अर्थकी अर्थिकेया है। घट, पट, गाय, घोडा, आदि अपनी जातिवाले उत्तर क्षणोंको उत्पन्न करते रहते है, तभी तो उत्तरोत्तर क्षण दूसरे विजातीय पदार्थीसे विलक्षण परिणामवाले बने रहते हैं। यों बौदोंक कहनेपर हम जैन कहते हैं कि वह सजातीय अर्थका सम्पादन करनारूप अर्थकिया तो सदश परि-णाम रूप सामान्य अर्थिक भी वर्त्त रही है. जैसे कि विसदश परिणामरूप विशेषके वह अर्थिकया हो रही है। विचार कर देखा जाय तो विसदश परिणामसे सजातीय अर्थका करना रूप अर्थ किया वैसी नहीं होती है जैसी कि सदशपरिणामसे होती है। अर्थिकयामें सजातीयता लाना सदश परिणामक ही कार्य है । विशेष तो विजातीय या विलक्षण अर्थोंको करनेका बीज है । सजातीय अर्थ कहते हुये विशेषकांतवादी बौद्धोंको इस अवसरपर बहुत झेंपना पड़ा है। गम्भीर विद्वत्ताको धारनेवाले आचार्य कहते हैं कि सदश और उससे न्यारे विसदश परिणामस्वरूप हो रहे ही बाल बृक्षसे सदश, विसदश परिणाम स्वरूप हो रहे तरुणवृक्षकी उत्पत्ति हो रही देखी जा रही है। आमका पौदा बढते बढते उंट नहीं हो जाता है, बृक्षत्व जातिका सदश परिणाम उत्तरोत्तर पर्यायोंमें सदा उपजता रहेगा, वहा **इक्षमें** जिस प्रकार विसदश परिणामरूप विशेषसे भिन्न भिन्न जातिका बिरुक्षण परिणाम होता रहता है. उसी प्रकार पूर्ववर्त्ती सहशपरिणामरूप सामान्यसे उत्तर क्षणमें सहशपरिणाम उपजता रहता है । व्यक्तिमदासे विशेष परिणामके समान सामान्य परिणाम भी पूर्व पूर्वपर्यायोंको नाशकर उत्तरीत्तर पर्यायोंको धारता रहता है इस कारण सजातीय अर्थको करना यह अर्थिकिया तो सामान्यके भी हो रही सिद्ध हो चुकी है। इस उक्त कथनकरके कुछ कुछ विजातीय अर्थको कर देना या सर्वथा विजातीय अर्थका सम्पादन नहीं होने देना यह अर्थितिया भी सामान्यके हो रही कही जा जुकी है । जैसे कि वृक्षाविरोष कुछ

विजातीय अर्थको करते हुये सर्वथा विजातीय अर्थकी उत्पत्तिको रोक रहे हैं, उसी प्रकार कुक्ष सामान्यका भी उस कियाको करनेमें न्यापार हो रहा है। अर्थात् गोसामान्य भी गायको मरण-पर्यंत गायपना रक्षित रखता हुआ घोडा, हाथी, आदि बननेसे रोकता, रहता है। सामान्यमनुष्य ही कालान्तरमें अन्यास करते हुये नामधारी हो जाते हैं। वस्तुके आत्मभूत हो रहे सामान्यको विसदश अर्थके सम्पादनका अनुपयोगी मत समझो। ऊपरसे साधारण या उदासीन दीख रहे कारणे समयपर बडे बडे कामोंको साधते हैं।

एकत्र पादपन्यक्तौ सद्दशपरिणामः कथं तस्य द्विष्ठत्वादिति चेत्, किं पुनर्विसदशपरि-णामो न द्विष्ठः । द्वितीयाद्यपेक्षमात्रादेकत्रैव विसदशपरिणाम इति चेत्, किं पुनर्न सद्दशपरि-णामोपि । तस्यैवमापेक्षिकत्वादवस्तुत्विमिति चेत् न, विसदशपरिणामस्याप्यवस्तुत्वमसंगात् ।

आप जैनियोंने कहा था कि समान, असमान, परिणामस्त्ररूप बालवक्षसे सदश और विसदश परिणाम आत्मक ही तरुणकृक्ष उपजता है। इसपर हम बौद्धोंका प्रश्न हं कि एक ही कृक्षव्यक्तिमें भळा सदश परिणाम कैसे ठहर सकता है ? वह साद्ध्य तो दो आदिमें पाया जाता है 1 अन्यथा अनन्त्रय अलंकार या दोष लग बैठेगा, जो कि कवियोंके अतिरिक्त दार्शनिकोंके यहां अभीष्ट नहीं किया गया है। तद्भित्रमें तद्गत अनेक सदश धर्मीके पाये जानेसे सादश्य आरोपा जाता है। एक हा व्यक्तिमें रहनेवाले सादरयका तो एक किनारेवाली नदीके समान असम्भव है, इस्पूर्णकार बौद्धों के कहने-पर इम जैन भी बौद्धों से पूंछते हैं कि तुम्हारा माना गया विसदश, परिणाम क्या दो में ठहरनेवाला नहीं है ? फिर वह विशेष भला एक व्यक्तिमें कैसे ठहरें गया ? बताओ । सादस्य जैसे दो आदिमें रहता है उसी प्रकार वैसादस्य भी दो आदिमें ही पाया जाता है। अकेलेमें विसमानता नहीं है। गाय से विलक्षण भैसा है। एक परमाणु दूसरें परमाणुसे विलक्षण है। मनुष्य मनुष्यमें या बुद्धि बुद्धिमें भेद पडा हुआ है। " मुण्डे मुण्डे मितिर्भिना "। बात यह है कि पदार्थ या पदार्थीमें ठहरनेकी अपेक्षा सदशपरिणाम और त्रिसदश परिणाम समान है । यदि बौद्ध यों कहें कि द्वितीय, तृतीय, आदिकी तो केवल ं अपेक्षा ही है वस्तुतः विसदश परिणाम एक ही व्यक्तिमें ठहर जाता है, जैसे कि वैशेषिकों के यहां दूसरे तीसरे पदार्थकी केवल अपेक्षा कर दित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें समवायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमे ठहरतीं मानी गयी हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि यों तो फिर सदशपरिणाम भी क्यों नहीं द्वितीय आदिकी अपेक्षा रखने मात्र से केवल एकमें ही ठहर रहा मान छिया जाय । यदि बौद्ध यों कहें कि इस प्रकार द्वितीय आदि व्यक्तियोंकी अपेक्षाको धारने-बाला होने से उस सहश परिणामको अवस्तुपना हो जामगा। क्योंकि दूरवर्तीपन, निकटवर्तीपन, उरकीपार, परलीपार, आदिक पदार्थीके समाने आपेक्षिक पदार्थ अवस्तु होते हैं। वस्तुभूत पदार्थीमें तो परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु अपेक्षासे होरहे उरलीपार परलीपार आदि धर्म तो इधर उधरके मनुष्योंकी अपेक्षा झट बदल जाते हैं। अतः आपेक्षिक धर्मोंको हम बस्तुभूत नहीं मानते है। आचार्य

कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो विसदश परिणामको भी अवस्तुपनेका प्रसंग होगा। वैसादश्य भी तो दूसरोंकी अपेक्षासे व्यवहृत हो रहा आपेक्षिक है। पुद्गलके रूप, रस, या जीवके ज्ञान, सुखके तुल्य अपरिवर्त्तनीय नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह व्याप्ति किसने बना दी है! कि जो आपेक्षिक है वह अवस्तु है। देखो, नील नीलतर, मधुर मधुरतर, उच्चाचार, नीचाचार, अल्पदु:ख महादु:ख, ये आपेक्षिक पदार्थ भी वस्तुभूत हैं। अतः द्वितीय आदिककी अपेक्षा रखते हुये भी दोनों सादश्य, वैसादस्य, परमार्थ है।

प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानो विसद्दश्यरिणामो नापेक्षिक इति चेत्, सदश्यरिणामोपि तत्र प्रतिभासमानः परापेक्षिको माभूत् । सदश्यरिणामः प्रत्यक्षे प्रतिभातीति कृतो व्यवस्था- प्यते इति चेत्, विसदश्यरिणामस्तत्र प्रतिभातीति कृतः ? प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विसदश्चविक- स्पादिति चेत् तथाविधात्सद्दश्चिकस्यात्सादृश्यप्रतिभासव्यवस्थास्तु कथमन्यथा यत्रैव जन्यदेनां तत्रैवास्य प्रमाणतेति घटते ।

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्षबुद्धिमें स्पट प्रतिभास रहा विसदश परिणाम तो अन्योंकी अपेक्षासे हुआ नहीं है। अविचारक प्रत्यक्ष द्वारा जान लिया गया जो पदार्थ होगा वह वस्तुभूत होगा। नीलनीलतर या मधरमधरतरका प्रकरण होनेपर प्रत्यक्षज्ञान उसको मीठा या अधिक नीला जान रहा है इससे यह अधिक मीठा है, उससे यह न्यून मीठा है। यह पीछे होनेवाली कल्पनायें हैं, किन्तु यह इससे विसदृश है इस बातको प्रत्यक्षज्ञान निरपेक्ष होकर विशदरूपसे जान रहा है। यों कहनेपर तो आचार्य महाराज कहते है कि उसी प्रकार उस प्रत्यक्ष बुद्धिमें स्पष्ट प्रतिभास रहा सहरापीरणाम भी परकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं होवे । स्थाणु और पुरुषमे ठहरनेवाली अर्धता जैसे प्रत्यक्षसे ही दीख जाती है उसी प्रकार मनुष्यपन, पशुपन, द्रव्यपन, आदिके सदश परिणाम भी वस्तुके दीख जानेपर ही प्रत्यक्ष द्वारा उसी समय जान छिये जाते हैं। वस्तुके किसी धर्ममें यदि अन्यकी भी अपेक्षा रही आवे तो भी उसका वस्तभूतपना छींड लिया नहीं जाता है। अभिकी अपेक्षासे हुआ घटका लाल रंग या पक्कापन उस घटकी वस्तुभूत सम्पत्ति हैं। परापेक्ष हो जानेसे क्या कोई मर जाता है, तिसपर भी सदश परिणाम परापेक्ष तो नहीं है अतः परमार्थभूत है। बौद्ध कहते हैं कि अभी जैनोंने यह कहा है कि प्रत्यक्षज्ञानमें सदशपरिणाम प्रतिभास जाता है, हम पुंछते हैं कि इस प्रकार किस प्रमाणसे व्यवस्था कराई जाती है ? अर्थात्—परमाथप्राही प्रत्यक्षमें सदशपरिणाम देखा जा चका है यह कैसे निर्णीत किया जाय ? कलको कोई यों भी कह देगा कि घोडेंक सिरपर सींग भी प्रत्यक्ष द्वारा दीख रहे हैं। बौद्धोंके यों कहनेपर तो आचार्य सकटाक्ष प्रश्न करते हैं कि तम बौद्धोंके कथन अनुसार उस प्रत्यक्ष ज्ञानमें विसदश परिणाम प्रतिभास रहा है यह कैसे जाना जाय ? बताओ । इसपर बौद्ध यदि यों उत्तर कहैं कि प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले और उतने ही प्रत्यक्षगृहीत अंशका निर्णय करनेवाले विसद्दराप्राही विकल्पज्ञानसे यह निर्णय कर छिया जाता है कि पूर्ववर्ती निर्विकल्पक

प्रत्यक्षमे सहरापरिणामको अवस्य विषय किया है। तमी तो उसके पश्चाद्मावी विकल्पने विसहरा. परिणामका अध्यवसाय किया है। प्रामीण परिभाषा है कि " जो गेंडू खायगा वह गेंडू हंगेगा," " बोवे बीज बम्रके आम कहांसे होय ?" यों करनेपर तो आचार्य भी कहते हैं कि तिस ही प्रकार अविचारक प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले विचारक सहराग्राही विकल्पनास्वरूप श्रुत-ब्रानसे साहरयके प्रतिभासकी व्यवस्था बन जाओ। अर्थात्—मीठे, अधिक मीठेका विचार कर रहे पीछे होनेवाले श्रुतज्ञानोंसे जैसे यह जान लिया जाता है कि मीठेपनको जाननेवाला पूर्वमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो चुका है, उसी प्रकार सहरा परिणामोंकी भी पीछे अनेक कल्पनायें उठती हैं। अतः उनके मूल कारण सहरा परिणामको प्रत्यक्ष ज्ञान अवस्य जान लिया है, यह प्रतीत हो जाता है। अन्यथा यानी प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नहीं किये गये विषयमें यदि कल्पनायें उठा लीं जावेगी तो तुम बौद्धोंका यह सिद्धान्त वचन किस प्रकार घटित हो सकेगा कि निर्विकल्पक बुद्धि जिस ही प्रत्यक्ष गृहीत विषयमें इस सिवेकल्पक बुद्धिको उत्पन्न करायेगी उस ही अरामें इस निर्विकल्पक ब्रानको प्रमाणपना व्यवस्थित होता है। भावार्थ—इस तुम्हारे सिद्धान्त वचन से पुष्ट होता है कि प्रत्यक्ष द्वारा विसहरा परिणामके समान सहरा परिणाम भी गृहीत हो चुका है। तभी तो तदनुमार दोनोंको विषय कर रहे पीछे विकल्पज्ञान उपजते हैं।

नन्ववमध्यक्षसंविदि प्रतिभासमानः सदृशपरिणामो विशेष एव स्यात् स्पष्टप्रतिभास-विषयस्य विशेषत्वादिति चेत् ति त्रिं प्रत्यक्षे प्रतिभासमानो विशेषः सदृशपरिणाम एव स्यात् स्पष्टा-वभासगोचरस्य सदृशपरिणामत्वादित्यपि द्ववाणः कृतो निषिध्यते १ प्रतीतिविरोधादिति चेत्, तत एव सामान्यस्य विशेषतामापाद्यशिषध्यतां ।

बौद्ध अपने पक्षका अवधारण करते हुये झुंझला कर कहते है कि इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानमें श्रितमास रहा सदरापिरणाम तो विशेष ही बन बैठेगा। क्योंकि स्पष्ट हो रहे ज्ञानके विषयको विशेष-पना निर्णीत हो रहा है। अर्थात्—प्रत्यक्षप्रमाणका विषय विशेष पदार्थ ही है। जो कुछ भी छूआ, चाटा, सूंचा, देखा, खुना, जाता है या मन इन्द्रिय द्वारा संवेदा जाता है, वह विशेषक्ष्प ही पदार्थ है। सादश्य या सामान्यको छूआ, सूंचा, या देखा नहीं जा सकता है। अत सदशपरिणाम भी विशेष पदार्थ बन बैठा। बौद्धोंके यों कहनेपर तब तो हम यों कहेंगे कि प्रत्यक्षमें प्रतिभास रहा विशेष तो सदशपरिणाम ही हो जावेगा। क्योंकि स्पष्ट प्रतिभासको विषय हो रहे पदार्थको सदशपरिणामपना है। सदशपरिणामसे आक्रान्त हो रहे ही पदार्थका छूना, देखना, सुनना, होता है। सभी प्रकारोंसे दूसरोंके सादश्यको नहीं पकड रहे खरविषाणके समान पदार्थका अद्यावधि सर्वज्ञको भी प्रत्यक्ष नहीं हो सका है। तिर्थक् सामान्य सभी पदार्थोंमें ओत पोत भरा हुआ है। सजातीयता वस्तुकी गांठकी सम्पत्ति है। इस प्रकार भी कह रहा स्याद्वादी भला किस झक्कडसे रोका जा सकता है? बात यह है कि पदार्थको सर्वथा अनित्य ही कहनेवाले बौद्धोंके प्रति हमारा नित्यत्वको सिद्ध करनेवाला अव्यर्थ

अस्त्र खडा है जब कि प्रत्यक्षमें सददापरिणाम और विसदश परिणाम दोनोंसे विर रही वस्तुका प्रत्यक्ष हो रहा है तो एक ही के प्रत्यक्ष होनेकी चाल दिखाना बौद्धोंका अपनी सदातन देवके अनुसार अनुचित कार्य है। यदि बौद्ध यों कहैं कि सददा परिणामको ही विदेश कहना या सददापरिणामका प्रत्यक्ष मानना तो प्रतीतियोंसे विरुद्ध पडता है। जिसमें प्रतीतियोंसे विरोध आवे ऐसा अख स्याद्धादियोंको नहीं उठाना चाहिये, हम स्याद्धादियोंको रोक देंगे। इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी प्रतीतियों करके विरोध हो जानेके कारण ही सामान्यको विदेश पदार्य आपादन करा रहा बौद्ध भी निषेध दिया जाय। प्रत्यक्षमें प्रतिभास जानेसे सामान्य भी विदेश पदार्य हो जायगा ऐसा कहनेमें भी प्रतीतियोंसे विरोध आता है। क्योंजी, प्रत्यक्षमें प्रतिभास जानेसे हाथ क्या पांच हो जायगा ? अर्थात्—नहीं।

प्रत्यक्षे सदृशपरिणामस्याप्रतीतेः सकलजनमनोधिष्ठानत्वात् श्रांताध्यक्षे सादृश्यप्रतीति-बीधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्वाधकं । वृत्तिविकल्पादिद्षणमिति चेक्न, तस्यानेकव्यक्तिव्यापि सामान्यविषयत्वात् । न हि वयं सदृशपरिणाममनेकव्यक्तिव्यापिनं युगपदुपगच्छामोन्यत्रोप-चारात् । यतस्तस्य स्वव्यक्तिष्वेकदेश्चेन वृत्तीं सावयवत्वं, स्वावयवेषु चैकदेशांतरेण वृत्तेरनव-स्थानं यतश्च प्रत्यकपरिसमाप्त्या वृत्तीं व्यक्त्यंतराणां निःसामान्यत्वमेकत्र व्यक्तीं कात्स्त्र्यंन परिसमाप्तत्वात् सर्वगतत्वाच तस्य व्यक्त्यंतराले स्वप्रत्ययकर्त्त्वापत्तिरन्यथा कर्तृत्वाकर्तृस्वयो-धर्मयोः परस्परविरुद्धयोरध्यासादेकत्रावस्थानं स्वव्यक्तिदेशिभिव्यक्तीं तदंतराले चानिभिव्यक्तीं तस्याभिव्यक्तेतराकारप्रसक्तिः सर्वथा नित्यस्यार्थिकयाविरोधादयश्च दोषः प्रसञ्चरन् ।

प्रत्यक्ष ज्ञानमें सदश परिणामकी प्रतीति नहीं होती रहनेसे पुनरिप प्रत्यक्षमें सदशपनकी प्रतीति होना मानना श्रान्तियुक्त है। क्योंकि बाधक प्रमाणोंका सद्भाव है। जिन विपरीत ज्ञानोंके बाधक प्रमाण विद्यमान हैं, वे बाध्य होते हुए श्रान्त ज्ञान हैं। मले ही संपूर्ण जनोंके मानसिक विचारोंमें अधिष्ठित बने रहनेसे सदश परिणामोंकी कल्पना हो जाय। किन्तु प्रत्यक्षप्रमाणमें सादश्य नहीं दीखता है। जब कि वस्तु स्वकीय डील्ले असाधारण या विसदश है तो विशेष वस्तुमें सादश्यका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? सीपमें चांदीको जाननेत्राले हुये प्रत्यक्षके समान विसदशोंको सदश जानने बाला प्रत्यक्ष भी अश्रान्त नहीं है। यो बौद्धोंके कहनेपर आचार्य पूछते हैं कि भाइयो! वह कौनसा बाधक प्रमाण उस सदशपरिणामकी प्रतीतिका बाधक हो रहा है? बताओ तो सही। यदि आप बौद्ध यों कहें कि सदश पदार्थोंमें भला सादश्य कैसे वर्तेगा ? वृत्तिके विकल्प या सर्वगत, असर्वगतपनेके पक्ष उठानेपर अथवा विरुद्ध धर्मोका आरोप हो जानेसे विरोध हो जाना आदिक अनेक दूषण आजाना ही सादश्य प्रतीतिका बाधक है। आप जैनजन विचारिये तो सही कि अनेक घट, पट, घोडे, गाय, आदिक विशोषोंमें व्याप रहा वह सदशपरिणाम भला अपनी आश्रय हो रहीं व्यक्तियोंमें यदि एक

देशने वर्तेगा तब तो सावयव हो जायगा जैसे कि अनेक खम्मों या टोढोंपर छप्पर छादनेके छिये रखा हुआ बांस एक एक देशेस ठहरता सन्ता साययय हो रहा है। सदश परिणाममें गांठके पहिलेसे यदि निज अवयव होंगें तभी तो वह अपने एक एक भागसे अनेकोंमें वर्त जायगा। तथा उन पहिलेको निज अवयवोंमें भी वह सदश परिणाम दूसरे अपने एक एक देशोंसे वर्तेगा और पनः अपने उन मागोंमें तीसरे निज भागोंसे ठहरेगा । कहीं भी द्रतक आकांक्षाकी शान्ति न होनेसे अनवस्था हो जायनी तथा अनेकोंमें रहनेवाले सादश्यको यदि प्रत्येकमें ही परिपूर्ण रूपसे ठहरा दिया जायगा तो अन्य व्यक्तियोंको साहश्यसे रहितपनेका प्रसंग होगा । क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण रूपसे साहस्य भर चुका है फिर भी प्रत्येक सहश पदार्थमें यदि परिपूर्ण रूपसे साहस्यकी इति मानी जायगी तो सादश्य अनेक हो जायेंगे तथा यदि सादश्यको सर्वगत माना जायगा तो न्यारे न्यारे स्थानोंपर धरी ह्रयीं सदश व्यक्तियोके मध्यवर्ती अन्तरालमें ठहर रहे सादश्यको अपना ज्ञान करा देनेका प्रसंग आवेगा जैसे कि यहां से वहांतक दो मनुष्योंके कन्धें।पर रखी हुयी पालकी मध्यमें भी अपना ज्ञान कराती है। अन्यथा व्यक्तियोंमें ज्ञान कराना और अन्तरालमें ज्ञान न कराना ये दो विरुद्ध धर्म एक साइस्पर्मे मानने पडेंगे। एकमें तो दो बिरुद्ध धर्म ठहरते नहीं हैं। साइस्पको नित्य माननेपर भी व्यक्ति देशमें अभिव्यक्ती और रीते स्थान अन्तरालमें अनाभिव्यक्ति इस ढंगसे बिरुद्ध धर्मीका समावेश हो जानेसे फिर भी विरोध दोष आता है। कहे जाचुके अनवस्था या विरोध दोषोंके समान संकर. व्यतिकर, आदिक दोष भी जैनोंके सादश्यमे लग बैटेंगे, अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धांको इस प्रकार हमारे माने गये सादस्यमें दूषण नहीं उठाने चाहिये क्योंकि " नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं " वैशेषिकों द्वारा माने गये एक होकर अनेक व्यक्तियोंमें व्यापनेवाले सामान्य (जाति) में वे दूषण आते है (विषयत्वं सारम्यर्थः) हमारे सादस्यमें नहीं । हम जैन उस सदशपरिणामको एक ही कालमें अनेक व्यक्तियोंमें व्यापनेवाला नहीं ध्वीकार करते हैं, उपचारके अतिरिक्त अर्थात--वैशेषिक जैसे त्रित्व चतुष्टव आदिक संख्याकी समयवायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमें वृत्ति मानते हैं। पर्याप्त सम्बन्धकी न्यारी बात है. उसी प्रकार हम जैन भी सहशपरिणामको एक कालमें एक ही व्यक्तिमें ठहरता हुआ मानते हैं । बस्तुभृत भर्म एक बस्तुमें ही ठहरते है । अनन्ताशनन्त बस्तुओंमेंसे किन्हीं भी दो तीन आदि वस्तओंका द्रव्यरूपसे साझा नहीं है। कल्पना या व्यवहारसे भले ही सादशक दो. तीन, चार आदि पदार्थीका धर्म कह दिया जाय, कोई तुमको रोकता नहीं । अपने अपने नियत हो रहे अनन्तानन्त अंशोंमें तदात्मक होकर व्याप रही वस्तु कथंचित विशेष रूप ही है। कोई भी वस्तु किसीके भी रोम मात्रको स्वायत्त नहीं कर सकती है। नैयायिकोंके अभिमत सामान्यमें उक्त दोष अवस्य आते हैं. अवस्योंमें अवस्यीकी बृत्ति या व्यक्तियोंमें जातिकी बृत्तिके विकल्प उठा कर नैयायिकोंके सिद्धान्तका निराकरण किया जा सकता है। हम जैनोंके यहां माने गये अवयवी या सादृश्य परिणामस्वरूप सामान्यमें ये दोष नहीं आते हैं। सर्वधा

एक पदार्थका एक ही समय अनेक व्यक्तियोंमें व्यापक होकर वर्त्तना हम नहीं मानते हैं, जिससे कि उस साद्दश्यका अपने आधार व्यक्तियोंमें एकदेश करके वर्त्तना माननेपर सावयवपना प्राप्त हो जाय और फिर उन अपने मित्र पूर्व अवयवोमे भी दूसरे अपने एक देशोंसे वृत्ति माननेकी आकांक्षा बढ़ती रहनेसे अनवस्था दोष हो जाता तथा जिस कारणसे कि प्रत्येक आश्रयमें सदशपरिणामरूप सामान्यकी परिपूर्णरूपसे वृत्ति हो चुकनेपर अन्य व्यक्तियोंको सामान्यरहितपनेका प्रसंग होता। क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण स्वकीय अंशों करके वह सामान्य परिसमात होकर वर्त चुका है। उसका बाळाप्र भी अत्रशेष नहीं बचा है। तथा वैशेषिकोंके विचार अनुसार उस साद्ध्यरूप सामान्यको सर्वगतपना हो जानेसे आश्रय व्यक्तियोसे रीते बीचके अन्तरालमे सामान्यको अपना ज्ञान करा देने-पनकी आपत्ति आवेगी, अन्यथा यानी अन्तरालमे वह सामान्य ठहर रहा भी यदि अपना ज्ञान नहीं करा पाता है तब तो व्यक्ति देशोंमें ज्ञानका कर्तापन और अन्तरालमे ज्ञानका अकर्तापन इन परस्पर विरुद्ध दो धर्मीका युगपत आक्रमण हो जानेसे एक पदार्थमे अवस्थान मानना पडेगा, जो कि विरोध दोषकी जड है। सर्वथा नित्य हो रहे सामान्यका अपनी आश्रय व्यक्तियोंके देशमें प्रकट होना माना जाय और उन व्यक्तियोक्ने दस हाथ, सौ हाथ, दश कोस, पांचसौ कोस मध्यवर्त्ता अन्तराल देशमें नित्य सादृश्यको प्रकट हुआ न माना जाय तब ते। उस सामान्यके अभिव्यक्त और उससे न्यारे अनिभन्यक्त इन दो विरुद्ध आकारोंका प्रसंग आता है। सर्वधा कूटस्थ नित्य पदार्थके अर्धक्रिया होनेका विरोध है। वैश्विकरण्य, संशय, आदिक दोषोंका प्रसंग भी जैनोके ऊपर तभी लागू होता, अन्यथा नहीं । बात यह है कि सर्वथा भेदवादियोंके ऊपर लागू होनेवाले दोष कथंचित् पक्षका आदर करनेवाले हम स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं आते है। ऐसी दशामें प्रत्यक्षज्ञानके विषय हो रहे सादस्यरूप सामान्यको जाननेवाली प्रतीतिकः कोई बाधकप्रमाण नही है, जिससे कि वह अभ्रान्त सिद्ध न होय । अतः सिद्ध हुआ कि विशेषके समान एक एक व्यक्तिमें तदात्मक हो रहा सदश परिणाम स्पष्ट जाना जा रहा है।

नतु च सदशपरिणामोपि प्रतिव्यक्तिनियते स्याद्वादिनाभ्युपगम्यमाने तद्वत्वापित्तराव-रथकी तस्यां च सत्यां स्वसमानपरिणामेष्वप्येकैकव्यक्तिनिष्ठेषु समानप्रत्ययोत्पत्तेः सदशपरि-णामांतरातुषंगादनवस्या तेषु समानपरिणामांतरमंतरेण समानप्रत्ययोत्पत्तौ खंडादिव्यक्तिष्विप समानप्रत्ययोत्पत्तिस्तमंतरेण स्यात्ततः सदशपरिणामकल्पनमयुक्तमेवेति कश्चित् । तस्यापि विसदशपरिणामकल्पनातुपपत्तिरेतद्दोषातुषंगात् । वैसाद्द्रयेष्विप हि प्रतिव्यक्तिनियतेषु बहुषु विसदश्मत्ययोपजननाद्देसदशांतरकल्पनायामनवस्थानमवश्चंभावि तेषु वैसाद्द्रयांतरमंतरेणं विसदश्मत्ययोत्पत्तौ सर्वत्र वैसाद्द्रयकल्पनमनर्थकं तेन विनापि विसदश्मत्ययसिद्धेरिति कथं विसदश्मर्ययोग्पोमे कल्पनोपपद्येत ।

पुनः पूर्वपक्षीका स्वसिद्धान्त अवधारण है कि जब जैनोंने सहरा परिणामको प्रत्येक व्यक्तिमें नियत मान लिया है तो स्याद्वादी विद्वान करके सहर्ष स्वीकार किये गये प्रत्येक व्यक्तियोंमें नियत हो रहे सदश परिणाममें भी पुनः उस सदश परिणामसे सहितपनेकी प्राप्ति होना आवश्यक पड गया अर्थात - जैसे व्यक्तियोंमें सदरापरिणाम ठहर रहा माना गया है, यों सदरा परिणाम भी विशेष व्यक्तिरूप जब हो गया तो सदश परिणामरूप व्यक्तिमें भी पनः सादश्य धरना चाहिये और तैसा होनेपर वे दबारा ठहरे हुये सदश परिणाम भी घट, पटके, समान व्यक्तिस्वरूप बन बैठेंगे। उनमें पुनः तीसरे सदश परिणामोंसे सिहतपना धरना आवश्यक हो जायगा । ऐसी दशामें एक एक व्यक्तिमें ठहर रहे अपने अपने उन समान परिणामोमें भी यह सादस्य इस सादस्यके समान है, इस ढंगका सादस्य ज्ञान उपजानेके कारण पुनरपि अन्य अन्य सदश परिणामोके सद्भावका प्रसंग आनेसे अनवस्था दोष होगा । यदि जैन जन उन दुवाराके सदृश परिणामोंमें तीसरे समान परिणामोंके विना भी यह इसके समान है इस प्रकार समान ज्ञानकी उत्पत्ति होना मान छेंगे, तब खण्ड, मुण्ड, शावलेय, बाह-लेय, आदिक गौकी विशेष व्यक्तियोंमें भी उस सादस्य परिणामके बिना ही '' समान है '' " समान है, " इस आकारबाले ज्ञानकी उत्पत्ति हो जायगी। तैसा हो जानेसे मूलमें ही सदश परिणामकी कल्पना करना अनुचित ही पडता है, इस प्रकार बौद्धका पक्ष छेकर कोई एकदेशी कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि उस किसी बौद्धके यहां वैसा साइज्य-परिणामकी कल्पना करना भी असिद्ध हो जायगा । क्योंकि उनको भी इसी दोषका प्रसंग आता है । कारण कि प्रत्येक व्यक्तियोंमें नियत हो रहे बहुत वैसादश्योंमें भी " यह इससे विलक्षण है " '' यह इससे विसदश है '' इत्याकारक विसदशज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेसे अन्य दूसरे वैसादश्योंकी कल्पना करते हुथे अनवस्था दोष अवस्य होगा । भावार्थ —बौद्धोंने व्यक्तियोंमें जैसे वैसादस्य प्रत्यय करानेका उपयोगी वैसादस्य धर्म मान लिया है उस व्यक्तिरूप वैसादस्यमें भी पनः विसद्शताका ज्ञान करानेके लिये व्यक्तिकृप वैसाद्ध्योंकी उत्तरोत्तर कल्पना बढती रहनेसे कहीं भी अवस्थान नहीं हो सकेगा । यदि अनवस्था दोपको हटानेके लिये आप बौद्ध उन बहुतसी उत्तरोत्तर भावी न्यारी न्यारी वैसादस्य न्यक्तियोंमे अन्य वैसादस्योंके विना ही विलक्षणपने या विसदशपनेका ज्ञान उपजालोगे फिर मूलसे ही सभी व्यक्तियोंमें वैसादस्यकी कन्पना करना व्यर्थ है। क्योंकि जब वैसादस्योंमें उन दूसरे वैसादस्योंके विना भी विसदश ज्ञान सिद्ध हो रहा है तो मुळमें वैसादस्यका बोझ क्यों बढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार सदश परिणामके समान विसदश परिणाममें भी कैसे विसदशपनकी कल्पना बन सकेगी ? विचारो तो सही । बात यह है कि साहस्य और वैसाहस्यके साथ वस्तुका कथंचित भेड़. अभेद, होनेसे पुनः सादश्य और वैसादश्योंकी धारा नहीं बढ़ानी पड़ती है। हां, विशेषैकान्तवादी बौद्धके यहां या मेदवादी वैशेषिकके मतमें अनवस्था होगी । जैनसिद्धान्त अनुसार सदृश परिणाम और ^{वि}रिस्टरा परिणामभ्वरूप सामान्य, विशेष आत्मक वस्तुका आवालवृद्ध विदित प्रत्यक्ष हो रहा है । यदि सदृशपिरिणामका अपत्वप किया जायगा तो विसदृश परिणाम भी जगत्से उठ जायगा। जहां राग नहीं वहां द्वेष भी नहीं है।

अत एव सहन्नेतरपरिणामविकलमार्वलं स्वलक्षणमनिर्देश्यं सर्वथेति चेत् कथमेवम-सादश्यं न स्यात् । न हि किंचित्तथा पश्यामो यथाक्षीक्रियते परैः सहन्नेतरपरिणामात्मनीन्त-विद्विर्वा वस्तुनोन्नुभवात् ।

बीद्ध कहते हैं कि इस ही कारणसे अर्थात्—साहस्य, वैसाहस्य कल्पनाका शंक्षट अवास्तविक है. ऐसा होनेसे ही हम बौद्ध सम्पूर्ण वस्तुभृत स्त्रलक्षणोंको सदृश परिणाम और विसदृश परिणामसे सर्वया रीते हो रहे अवक्तव्य स्वीकार करते हैं। भावार्थ-स्वलक्षण तत्त्व सम्पूर्ण धर्मीसे रहित हो रहा किसी भी शब्दसे नहीं कहा जाता है, निर्विकल्प वस्तुमें सभी प्रकारोसे शब्द योजना नहीं होती है। स्वलक्षणमें विसहरा परिणाम है सहरा परिणाम नहीं है. ये भी सब अमत्य कल्पनाये है। बहुत बढिया पदार्थकी प्रशंसा नहीं हुआ करती है । चप रहकर उसके गुणोंका मनन करना ही उसकी तहपर पहुं-चना है। मध्यम श्रेणिक सीन्दर्य, विद्वत्ता, तपस्या, बल, आदिकी प्रशंसाके चाहे जितने बडे पुल बांध लो ठल्लुआ बैठेको कौन रोके । अतः परमार्थभूत स्वलक्षण ते। सादस्य वैसादस्यसे रहित होता हुआ परिशेपमें स्वलक्षण शहसे भी अवक्तव्य हो जाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर प्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो भला सददापना या विसददापना कैसे नहीं हो जायगा ? स्वलक्षण पदार्थ ब्रह्माद्वेतुके समान एक तो है नहीं, अनेक ही हैं। स्वलक्षणपने करके या अनिर्देश्यपने करके अथवा साहस्य वैसाहस्यसे रहितपने करके तो उन स्वलक्षणोंमें सहराता मानी ही जायगी तथा अनेकोंमें विस-दृशपना तो विमा परिश्रम ही सध जाता है। तभी अनेकपनकी रक्षा हो सकती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे विद्वान् बौद्धों करके वस्तुका स्वरूप अवक्तव्य या सद्शविसद्श परिणामरिहतपना अपना स्वलक्षण अंगिकार किया जाता है, उस प्रकार किसी भी स्वलक्षणको हम नहीं देख रहे हैं। यथार्थमें सदश और विसदश परिणाम आत्मक हो रही ही अन्तरंग अथवा बहिरंग वस्तुका अनुभव हो रहा है। ज्ञान, सुख, इच्छा, दु:ख, वेदना, चित्तवृत्ति, ब्रद्मचर्य, क्रोध, शक्ति, प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि अन्तरंग और घट, पट, पुरतक, गृह, रुपया, पैसा, आदि बहिरंग पदार्थीमें सदश परिणाम और विसदृश परिणतियां हो रहीं सबके अनुभवमें आती हैं।

यदि पुनर्नेसाद्दयं वस्तुस्वरूपं तत्र विसद्दश्यत्ययो वस्तुन्येव न वस्तुव्यतिरिक्ते वैस-दृश्ये तस्याभावात् कल्पनया तु ततोपोध्दृतेरथीन्तरतया वैसादृश्ये विसद्दश्यत्यय औपचारिक एव न गुल्यो यतो वैसादृश्यांतरकल्पनपसंग इति मतं, तदा सादृश्यमि वस्तुस्वरूपं तत्र सदृश्यत्ययो वस्तुन्येव न वस्तुव्यतिरिक्ते सादृश्ये तस्याऽभावादर्थीन्तरतयापोद्धृते सदृश्यपि-णामे सदृश्यस्ययो भाक्त एव न गुल्यो यतः सादृश्यांतरकल्पनादनवस्थाश्सक्तिरिति समा- यानं विविधितवादिनोः समानमाक्षेपवदुवस्थ्यते । तको व्यत्वसत्सामान्यं विवेषकात्र च मन-र्वमानो विकल्पो वस्तुनियसं संबादकत्वाद्वतुष्यात्र एव मत्यस्वत् तादश्चात्र विकल्पाद्यक्ष्य-सक्षणभावो व्यवस्थाप्यवानो न मुध्यास्य एव यतः सांबतः स्यात् । पान्यार्थिकश्च कक्ष्य-स्थाणभावः सिद्धः सञ्चयं त्रीवोषयोगयोः कर्यनिवादात्स्याद्यपद्यते अन्यस्थ्यवत् ।

यदि फिर बीन्होंका यह मन्तव्य होय कि विसहशपना कोई वस्तका औपाधिक धर्म नहीं है. वह विसद्शपना तो वस्तुका स्वकीय निजरूप है जुस वस्तुके स्वरूप माने गये वैसादस्थमें हो रहा निसद्वापनेका ज्ञाम तो वस्तुमें ही होरहा है। वस्तुके अतिरिक्त किसी वैसादस्य नामके श्रिक्त धर्मको विषय करनेवाळा वह हान नहीं है। क्योंकि वस्तसे अतिरिक्त शरीरवाळे उन वैसादश्य धर्मीका अभाव है। अर्थात् स्वलक्षण या अनिर्देश्य जो कुछ भी वस्तु है वह असाभारण, विशेष, या विसद्धा परिणाम स्वरूप ही तो है। हां कल्पना करके तो मळे ही उस वस्तुसे भिन्न अर्थपने करके न्यारे िख्ये गये वैसादस्यमें विसदशपनेका धर्ममूलक क्षान उठाछो । किन्तु वह क्षान उपचारसे किया गया ही है, मुख्य नहीं है जिससे कि उस वैसादस्यमें भी विसदशपबेका हान करानेके किये अन्य वैसाद-श्योंकी फिर उन वैसादश्योंमें भी विलक्षणपनेका हान करानके किये त्यारे अनेक वैसादश्योंकी कल्पना करते रहनेसे अनवस्था दोषका प्रसंग हो जाय । " राहोः शिरः " ऐसी अपोदार कल्पना करतेसे राइसे शिर व्यतिरिक्त समझा जाता है, उसी प्रकार वैसादस्य कोई वस्तसे न्यारा धर्म नहीं है। आचार्य कहते हैं कि बीदोंका यह मत है तब तो हम कहेंगे कि सादश्य भी कस्तुका स्वरूप है। उस सादश्यमें सदस्यपनेका ज्ञान होना वस्तुके निज डीलमें ही ज्ञान होना है। वस्त्रसे व्यतिशक्त हो रहे सादस्यमें वह सादश प्रत्यय नहीं है। क्योंकि वस्तुसे सादश्य न्यारा नहीं है। भन्ने ही अर्थान्तरपनेसे न्यारा कविपत कर उस सदश परिणाममें "यह इसके सदश है" " वह इसके समान है " ऐसे सदशपनेको प्रहण करनेवाळे ज्ञान उठालो, किन्तु वे ज्ञान गौप ही हैं, मृख्य " शिळापुत्रकस्य शरीरं " केतुका घड है, सोनेका फासा है, यह भेदका झन गौण है। जिससे कि व्यक्तिरूप न्यारे सादृश्योंमें भी अन्य सादृश्योंकी कल्पना करते रहनेसे हम जैनोंके ऊपर अनवस्था दोषका प्रसंग होता, इस प्रकार वादी जैन और प्रतिवादी बीद दोनोंका समाधान करना समाम दीखता है। बैसे कि पहिले दोनों ओरसे किये गये आक्षेप समान देखे जा चुके हैं हम तो बहुत पहिलेसे ही वस्तुको सामान्य विशेष आत्मक कहते चळे आ रहे हैं। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि विशेषके समान सादृश्य या सामान्य भी वस्तुभूत होता हुआ सदृप है । उस वस्तुभूत सामान्यमें प्रवर्त रहा विकल्पन्नान (पक्ष) वस्तुका ही यथार्थ प्रतिभास करनेवाला है (साध्य) बाधारहितयन या सकलमङ्क्तिजनकलक्ष्य सम्बाद करानेवाला होनेसे (हेतु) प्रसक्षके समान (दृष्टान्त)। युत नहीं होता हुआ परमार्थभूत बस्तुका सहक है और तैसे वस्तुप्राही विकल्पक्कानसे इदसदक्काणभाव अपकस्थापित किया जाता है। यह वस्तुको स्पर्श नहीं कर केवल कल्पना वृद्धियोंमें ही आरूढ़ हो

रहा है। यह बौद्धों को नहीं मान बैठना चाहिये, जिससे कि बह लक्ष्यलक्षणभाव व्यवहारस्वरूप संवृत्तिमें ही कोरा गढ लिया गया माना जाय। अतः तुम बौद्धोंने जो बहुत पहिले आक्षेप किया था कि संवृतिसे लक्ष्यलक्षणभाव है। स्वप्नविचारों के समान युद्धिमें यों ही गढ लिया गया है। यह तुम्हारा मन्तव्य व्यवस्थित नहीं रहा। यह लक्ष्यलक्षणभाव पारमार्थिक सिद्ध हो रहा संता जीव और उपयोग का कथंचित् तादात्म्यसम्बन्ध हो जानेसे बन जाता है। जैसे कि " अग्निः उष्णः " यह अग्नि और उष्णका कथंचित् तादात्म्य हो जानेसे लक्ष्यलक्षणभाव जगत्म्यसिद्ध हो रहा है।

कश्चिदाह-नोपयोगस्रक्षणो जीवस्तदात्मकत्वात् विपर्ययमसंगादिति, तं प्रत्याह । नात-स्तत्सिद्धेः । उभयथापि त्वद्वचनासिद्धेः स्वसमयिवरोधात् केनचिद्विज्ञानात्मकत्वात् तदात्मकस्य तेनैव परिणामदर्शनात् क्षीरनीरवत् । निःपरिणामे त्वतिप्रसंगार्थस्वभावसंकराविति । स चायमाक्षेपसमाधानविधिर्जीवोपयोगयोस्तादात्म्यैकांताश्रयो नयाश्रयश्च प्रतिपत्तच्यः ।

कोई बादी पूर्वपक्ष कह रहा है कि जीवका लक्षण उपयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि उपयोग और जीवका तदात्मकपना हो रहा है, घट घठ ही से उपयुक्त नहीं हो सकता है। तथैव जीव अपने तदात्मक उपयोगसे उपयुज्यमान नहीं बन सकता है । जैनों द्वारा जीव और पद्गलका अभेद माननेपर विपर्यय हो जानेका प्रसंग हो जायगा, अर्थात्—अभेद पक्षमे उपयोगका लक्षण जीव ही क्यों न **बन बैठे।** जीवकी हुई उपयोग परिणतिके समान उपयोगकी ही जीवस्वरूप परिणति क्यों न हो जाय. इस प्रकार कहनेवाले उस वादिके प्रति श्री विद्यानन्दस्यामी समाधानको कहते है कि उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि इस ही से उस उपयोगको लक्षणपनेकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात् — जिस ही कारणसे तुम अभेदको कह रहे हो इसी कारणसे उपयोग मिद्र हो जाना है। सर्वथा अभेद पक्षमें जैसे आकाराकी रूपके साथ उपयुक्तता नहीं होती है, उसी प्रकार सर्वथा भेद माननेपर जीव भी ज्ञान दर्शन उपयोगोंसे उपयुक्त नहीं हो सकेगा । देखो, घास, पानी, खल, विनोला, दरिया, जीरा, आदि -कारणोंसे दूध बननेके अभिमुख हो रही दुग्ध शक्ति ही तो उत्तर क्षणमें दूधस्वरूपसे परिणम जाती। है। उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान दर्शन स्वभावशाक्तियोंके वशसे घटज्ञान, पटज्ञान, स्वरूप उपयोग करके परिणति कर छेता है, इस प्रकार कथंचित् भिन्न अभिन हो रहा उपयोग उस जीवका छक्षण बन जाता है। दूसरी बात यह है कि दोनों प्रकारोसे भी तुम्हारे वचनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अर्थात् --- अनेकान्त प्रक्रियाको नहीं समझ कर तुमने जो यह कहा था कि जो जिस स्वरूप है वह ंडसी करके परिणाम नहीं धार सकता है । इसपर तुम यह विचारो कि तुम्हारे वचन स्वपक्षके साधक और परपक्षके दूषक स्वरूप हैं। स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण यदि उनका स्वभाव मानो तो तुम्हास पिंदेळा एकान्त वचन हाथसे निकल गया और हमारा जैनसिद्धान्त पुष्ट हो गया और तद्रूप परिणित नहीं मानो तो भी तुम्हारा अचन असिद्ध हो जाता है। जो प्रतिपक्षमें दूषण नहीं दे सके यह नहीं कहा ंगया सारिखा है । सर्वत्र सर्वदा सबकी सत्ता साधनेमें क्या प्रयोजन रक्खा है ? तीसरी बात यह है कि

तमको अपने सिद्धान्तसे विरोध हो जायगा । आपने स्वयं इस बातको इष्ट किया है कि पृथ्वी, अप, तेज, बायु ये महाभूत चार तत्त्व गंध, रस, रूप, स्पर्श, आत्मक होते हुये शुक्लरूप आदिक परिण-तियोंको धारते हैं। अतः तुम ''जो जिस स्वरूप है वह उस करके ही उपयुक्त नहीं हो सकता है " इस कटाक्षको छोटा छो । आत्मा यदि ज्ञानस्वरूप नहीं होगा तो क्या पत्थरकी परिणति ज्ञान होगी ? देखें वाद्यकी रोटी बना तो लो । चौथी बात यह है कि जिसके यहां आत्मा सर्वथा ज्ञान आत्मक है उसके यहां धारारूपसे ज्ञानस्वरूप परिणतियां नहीं बन सकतीं है। किंत जैनसिद्धांत अनुसार किसी अंशसे आत्मा ज्ञानात्मक है तथा अन्य अंशोंसे सुख आत्मक इच्छा आत्मक, भी है । अतः अन्य आत्मक हो रहे आत्माका ज्ञानस्वरूप परिणाम होना उचित है । यदि एकान्त करके आत्माको ज्ञानआत्मक या अन्य इच्छा आदि ही मान लिया जायगा तो तिस भावका कभी विराम नहीं होगा। उसका विराम माननेपर आत्मा द्रव्यके विराम होनेका भी प्रसंग आजावेगा जो कि इप्ट नहीं है। अतः आत्मा किसी भी विवासित स्वरूपसे उपयोगात्मकं है और अन्य स्वरूपोंसे अन्य आत्मक है। ऐसे कथंचित् उपयोगात्मक आत्माका उपयोग धर्म करके उपयुक्तपना बन सकता है। पांचवी बात यह है कि उस आत्मक हो रहे पदार्थका ही उस करके परिणाम हो रहा देखा जाता है। जैसे कि दूध, पानीका उस ही रूपसे परिणाम होता है। देखिये, गीळापन, मीठा, आदि अपने स्वभावींको नहीं छोडता हुआ दूध, बूग, या जरुके सम्बन्धसे मीठा दूध, लस्सी, आदि अन्य परिणामींको प्राप्त हो जाता है । गौके स्तनसे निकलते ही दूध धारोष्ण रहता है थोडी देरमें दूध शीतल हो जाता है। पुनः अपनिक सम्बन्धसे उष्ण या रवडी, खोआ, मलाई, बन जाता है। अतः दूधके दूधक्रप विवर्त हैं। दूधका परिणाम घट, पट, नहीं हो सकता है। जल भी शीतल जल अथवा हिम (बरफ) आत्मक होता हुआ उस रूपसे परिणम जाता है। बुद्धिमान् शिशु ही भाविष्यमें उत्तम कोटिका विद्वान हो जाता है। कड़े स्वरूप होने योग्य सुवर्ण ही खडुआ परिणामको धारता है। चूनकी रोटियां बनती हैं। खांडका पेडा बनता है। ससका नही। तिस है। प्रकार उपयोगस्यरूप आत्मा अपने उपयोग स्वभावको नहीं छोडता हुआ ज्ञानस्वरूप करके परिणमता रहता है। छटी बात यह है कि एक पदार्थका दूसरे पदार्थीके स्वरूप करके तो परिणाम होता ही नहीं है । यदि तुम्हारे कथन अनुसार निज आत्मक परिणामों करके भी पदार्थकी परिणातियां नहीं मानी जावेगी तो पदार्थ सभी परिणामोंसे रहित होता हुआ कूट थ अपरिणामी, हो जायगा । सर्वथा नित्य पदार्थके माननेपर क्रिया, कारक, प्रमाण, फल, आदि व्यवहारका छोप हो जायगा । यदि निज परिणामोंके सिवाय अन्य अथाँके परिणाम करके वित्रक्षित पदार्थकी परिणति मानोगे तो सम्पूर्ण पदार्थीके स्वभावोंका संकर हो जायगा । जल अपने शीतद्रव्यपनेसे तो परिणति करेगा नहीं । ऐशी दशामें जलका ज्ञान, सुख, रूपसे परिणाम होना बन बैठेगा। आत्माके स्वभाव रूप, रस भी हो जायेंगे। कोई भी अपने

निज स्वभावीकी रक्षा नहीं रख सकेगा। यदि अपरिणामीयन और स्वभाव सांकर्यकी इष्ट गंहीं करना चाहते हो तो अपने अपने स्वस्पते ही अपनी अपनी अपनी परिणात होना इष्ट करना चाहिये। बात यह है कि हम जिन इच जीव और उपयोगका एकान्तरस्पते तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक नयसे अमेद और पर्वायार्थिक नयसे जीव तथा उपयोगका भेद स्वीकार करते हैं। अतः पूर्व प्रकरणोमें वह आक्षेपकी विधि तो जीव और उपयोगके एकान्तरस्पते तादात्म्यका आश्रय कर उठाई गयी है। तथा इच्यार्थिकनय और पर्वायार्थिक नयका अवस्थ्व केकर आचार्य महाराजने समाधानका विधान कर दिया है। यह शिष्योंको मछे प्रकार समझ केना चाहिय ।

अत्रापरः माह-उपयोगस्य लक्षणत्वानुपपित्रिक्ष्यस्यात्मनोसन्वात् । तथाहि । नास्त्या-त्मानुपर्लभादकारणस्यादकार्यत्वात् त्वरिविषाणादिवदिति । तदयुक्तं । साधमदोषदर्शनात् । अनुपर्लभादयो हि हैतवस्तावदिसद्धाः प्रत्यक्षानुमानागमैरात्मनोऽनायनंतस्योपर्लभात् । योगि-प्रत्यक्षस्य तदुपर्लभक्षस्यागमस्य च प्रमाणभूतस्य निर्णयात्तदनुपर्लभोसिद्ध एव वा अनैकांति कश्च वार्योकस्य पर्वतिष्वितिवेषेषः ।

यहां कोई चार्वीकमतान्यायी दूसरा विद्वान सगर्व पूर्वपक्ष कहता है कि उपयोगको जीवका रुक्षणपना बन नहीं सकता है। क्योंकि उपयोग नामका रुक्षणके रुक्य माने जा रहे, आत्माका सद्भाव नहीं है। सद्भूत देवदत्तका छक्षण दण्ड हो सकता है। असत् आकाशपुण्यका कोई भी पदार्थ लक्षण नहीं बन सकता है। जब आत्मा पदार्थ ही कोई नहीं है तो फिर लक्षण किसका किया जारहा है? दुल्हाको विना यह किसका विवाह रचा जा रहा है ? देखिये, उस आत्माके अभावको हम अनुमान द्वारा यों साभते हैं कि आत्मा (पक्ष) नहीं है (साध्य) उपलब्ध नहीं होनेसे (पहिला हैत्) निजका पूर्ववर्सी उत्पादक कारण नहीं होनेसे (दूसरा हेतु) निजका उत्पाध उत्तरवर्सी कोई कार्य नहीं होनेसे (तीसरा हेतु) खरविषाण, वन्ध्या पुत्र, आदिके समान (अन्वयद्धांत), इस प्रकार आत्माका अभाव सिद्ध है। अब आचार्य कहते हैं कि वह भूतवादियोंका कथन युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि उनके कहे हुये हेतुओंमें अनेक दोष देखे जाते हैं। अनुपलम्भ, अकारणत्व, आदिक हेतु तो सबसे पहिछे असिद्ध हेत्वाभास हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रमाणों करके अनादि, अनन्त, आत्मा द्रव्यका उपलम्म हो रहा है। उस आत्माका उपलम्भ करनेवाले प्रमाणभूत सर्वेश्व प्रत्यक्षका निर्णय हो रहा है। स्वसम्बदन प्रत्यक्ष भी सबके पास विद्यमान है तथा आत्माको जाननैवाछे प्रमाणभूत अनुमान और आगम का निर्णय हो रहा है। अतः उसका अनुपलम्भ संक्रक हेतु अपने पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिद हेत्वामास ही है तथा (अथवा) चार्वाककी औरसे दिया गया अनुपळम्भ हेतु दूसरे पुरुषोंकी विशेष चित्तपृत्तियों करके व्यमिचार दोषयुक्त भी है, अर्थात् अंकेले इम अपनी अपनी स्यूलचित्त इतियौंका प्रत्यक्ष भी करते किन्तु दूसरोंके मनमें या आत्मामें क्या वर्त रहा है, इसका सर्वन्नके सिवाय

किसीको उपलम्भ होता नहीं । अनुमान या आगमसे भले हैं। उनको जानले । सर्वेज्ञका निषेध करने-वाले और इन्त्रियप्रत्यक्षको ही प्रमाण माननेवाले चार्याकको तो दूसरेकी चिच्च तियोंका कथमपि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । किन्तु वे हैं तो सही, चाहे उन्हें भूतकदम्ब कहो या सादि चैतन्य मानो सलें ही अनित्य आत्मा कहते फिरो । अकेले चार्याकसे अतिरिक्त उसके माता, पिता, गुरु, अथवा संसारके अन्य प्राणी और उनकी आत्मीय वृत्तियां सभी मर तो नहीं गयी है । अतः नास्तिच साच्यके नहीं रहते हुये अनुपल्पम हेतुके वर्तजानेसे अनेकान्तिक दोष लग जाता है ।

तथा पर्यायार्थादेशात् पूर्वपूर्वपर्यायदेतुकत्वादुत्तरोत्तरात्मपर्यायस्याकारणत्वादित्ययमप्य-सिद्धो हेतुः ।

तथा आत्मा बालक होकर युवा होता है युवा अवस्थाको छोडकर अर्द्भवृद्ध होता है, अध बूढी अवस्थाको कारण मानकर पीछे बृद्ध हो जाता है, अतृप्त आत्मा भोजन कर छेनेपर तृप्त हो जाता है। मूर्ख पुरुष अभ्यास करते करते पण्डित बम जाता है, रोगी जीव औषध सेवन करता हुआ नीरोग बन बैठता है। मनुष्य मरकर देव हो जाता है। देव पुनः तिर्यंच हो जाता है। इस प्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथन करनेसे पहिछी पिहछी पर्यायोंको हेतु मानकर उत्तर उत्तरवर्ती आत्माकी पर्या-मोंका उत्पाद होता रहता है। इस कारण चार्वाककी ओरसे दिया गया कारणरहितपना यों यह हेतु भी पक्षमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वाभास है, अर्थात्—पर्याय दृष्टिसे देखनेपर आत्माकी सभी बाल्य, कुमार, देव, मनुष्य, संसारी मुक्त, आदि पर्यायें हीं तो दीख रहीं हैं। उन पर्यायोंकी पूर्व समयवर्ती पर्यायें कारण हैं अतः आत्मा कारणोंसे सहित होगया। कारणरहितपना हेतु पक्षमें नहीं रहा।

द्रव्यार्थादेशाद्विरुद्धः । तथाहि । अस्त्यात्मा अनाद्यनंतोऽकारणत्वात् पृथिवीत्वादिवत् । मागभाषेन व्यभिचार इति चेश्वः, तस्य द्रव्यार्थादेशेऽनुपपद्यमानत्वादनुत्पादव्ययात्मकत्वात् सर्व-द्रव्यस्य । पृथिवीद्रव्यादिभ्योऽर्तातरभूतस्तु प्रागभावः परस्याप्यसिद्धं एवान्यथा तस्य तन्त्वां-तरस्वमसंगात् ।

चार्वातों के अकारणत्व हेतुको असिद्ध बताकर अब उसे बिरुद्ध दोषयुक्त भी बताते हैं कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन करनेसे यह अकारणत्व हेतु बिरुद्ध भी है। इभी बातको प्रन्थकार तैसा प्रसिद्ध करते हुये कहते हैं कि आत्मा (पक्ष) अनादि काल्से अनन्त काल्यक ठहरनेवाल। द्रव्य है (साष्य) अकारणपना होनेसे (हेतु) पृथ्वीत्व या प्राथिबी तत्त्व, जलतत्त्व, आदिके समान (अन्वयरकान्त) अर्थात्—पृथिबीत्व जाति या चार्याकोंके यहां माने गये पृथिवीतत्त्व, जलतत्त्व, तेज-स्तत्व, बासुतत्त्व, ये चार तत्त्व अवादि अनन्त नित्य हैं। उन्होंके समान चेतन आत्मा तत्त्व नित्य है। इस अनुमान द्वारा अकारणत्व हेतुसे आत्माका नित्यपना साध दिया है। पहिले चार्वाकोंके अनुमान द्वारा आत्माके नास्तित्व साधनेमें प्रयुक्त किया गया अकारणत्व हेतु तो नास्तित्व साध्यसे विपरीत है। एहे नित्यत्व या अनाधनन्त अस्तित्वके साथ व्याप्तिको एखता है। अतः विरुद्ध हेत्वाभास हुआ। यहां

किसीकी शंका है कि कारणरहित तो खरिवाण मी है। किन्तु वह नित्य नहीं है। अतः नित्यके **उक्षणमें "** सदकारणविन्तयं " कहकर सत् विशेषण लगाया गया है। तिससे खरविषाणमें अति न्याप्तिका बारण हो जाता है। वह सत् नहीं हे, असत् है। यदि सत् विशेषण न लगाकर केवल अका-रणत्य ही कहा जायगा तो वैशेषिकोंक यहां माने गये प्रागमात्रसे भी व्यभिचार होता है। देखिये. अनादि कालसे चले आये हुये प्रागभावका कोई कारण नहीं है। किन्तु वह अनन्तानन्त नहीं है '' अनादिः सान्तः प्रागमात्रः ''। हां, सत् विशेषण लगा देनेसे प्रागमात्रका निवारण हो सकता था, '' न कारणं यस्य '' ऐसी निरुक्ति कर पक्ष पर्युदासका अवलम्ब छेनेसे ही अथवा अकारण राद्धसे मतुप् प्रत्यय करते हुथे अकारणवत्त्व हेतु कह देनेसे ही खरिविजाण आदि सर्वथा असत् हो रहे पदा-र्थीका निराकरण भले ही हो जाय, असत्में अकारण उपाधिसे सहितपना नहीं है, किन्तु प्रागभाव करके हुआ व्यभिचार तदवस्थ रहेगा। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि नित्य हो रहे द्रव्य अर्थ मा कथन करनेपर सम्पूर्ण द्रव्यों मो उत्पाद, व्ययोंसे रहित आत्मकपना है। भावार्थ-इन्य नित्य है किसी इन्यमें उत्पाद, न्यय, नहीं होते है। इन्यका उत्पाद होता तो उसकी उरपत्तिके पहिले प्रागमाय माना जाता. और उन्यका नाश होने लगता तो द्रव्यके पीछे उसका ध्रंस माना जाता । पर्यायोंका ही उत्पाद व्यय होता हुआ प्रागभाव और ध्वंस माना जाता है । द्रव्योंका नहीं। " नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्रलभावतोस्ति । (बृहत्स्वयम्भू) " । तभी तो द्रव्य अर्थकी अपेक्षा हमने अकारणत्व हेतुको विरुद्ध कहा है। अतः प्रागभाव करके व्यभिचार नहीं हो पाता है। दूसरी बात यह है कि वैरोपिकोंने भावोंसे भिन्न प्रागभाव पदार्थ माना है। किन्तु दूसरे चार्वाकोंके यहां तो पृथियो द्रव्य, जलतत्त्र आदिकोसे मिन्न हो रहा प्रागमाय सिद्ध ही नहीं है। अन्यथा यानी चार तत्वोंसे भिन्न प्रकारका प्रागभावतत्व यदि माना जायगा तब तो, उस प्रागभावकी चार तत्त्वोंसे निराले पांचरें तत्त्वका प्रसंग चार्वाकोके ऊपर आता है, जो उन्हें इष्ट नहीं है। अतः चार्वाकोका अकारणत्व हेतु विरुद्ध ही रहा । यहां अकारण शद्ध ही साधु हैं । " न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्यीयो बहबीहि श्रेदर्धप्रतिपत्तिकरः " ऐसा नियम है । हां " सदकारणवित्यं " इस प्राचीन ऋषियाक्यकी न्यारी बात है।

यश्राकार्यत्वादिति हेतुः सोप्यसिद्धः मुखोदरात्मकार्यस्य पर्यायार्थापणात् प्रसिद्धः कादा-चित्कार्यविशेषस्याभावादकार्यत्वमनैकांतिकं मुर्धुराद्यवस्थेन।प्रिना, कार्यत्वाभावोऽकार्यत्वं विरुद्धं। तथाहि—सर्वदास्त्यात्माऽकार्यत्वात् पृथिवीत्वादिवत् । न प्रागभावेतरेतराभावात्यन्ताभावेरनै-कांतस्तेषां द्रव्यार्थाश्रयणेनुपपत्तेः । पर्यायार्थाश्रयणे कार्यत्वात् । कुटस्य हि प्रागभावः कुञ्चलः स च कोञ्चकार्ये कोञ्चस्य च शिवकः स च स्थासांतरकार्यमिति ।

और आत्माके नात्तित्वको सिद्ध करने के छिये चार्वाकोंने तीसरा हेतु जो अकार्यत्व ऐसा दिया था, आचार्य कहते है कि वह भी अकार्यत्व हेतु असिद्ध है। क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा कर.

नेसे आत्मांके कार्य हो रहे सुखझान, वेदना, पुरुषार्थ, इच्छा या रक्त, वीर्य, उत्पन्न कराना आदि कार्योकी प्रसिद्धि हो रही है । अतः कार्यरहितपना हेतु आत्मा स्वरूप पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिद हेत्वाभास है। पूर्वमें जैसे आत्माके कारणोंको साध दिया था। अब आत्माके उत्तरवर्ती कार्योंको प्रसिद्धकर दिखा दिया है। सन्तानरूपी नदी दोनों ओर अनादि, अनन्त, किनारोंसे घिरी हुई है तथा आत्माके नास्तित्वको सिद्ध करनेके छिये प्रयुक्त किया गया चार्वाकोंका अकार्यत्व हेतु व्यक्तिचारी हेत्वाभास भी है। मुरमुर या भुभड आदि अवस्थामें पड़ी हुई अग्नि भविष्यमें किसी भी कार्यको नहीं कर रही है। अतः कभी कभी विशेष कार्यके नहीं करनेसें अकार्यत्व हेतु उस अग्नि करके अनैकान्तिक हो जाता हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार सभी पर्यायें भविष्यमें किसी किसी पर्यायको उत्पन्न कर तब नष्ट होती है। फसकी आग या फुलिंगा भी कुछ कार्योंको करते है। रुई या वारूदमें फुलिंगा आग लगा देता है। शरीरको थोडा भरसा देता है, कुछ देर उष्णता रखता है, उससे बैसी ही लम्बी चौडी ज्वाला या पुलिंगा ही भिवष्यमें सदा उपजता रहे, ऐसा हम जैनोंको एकान्त अभीष्ट नहीं । हां, इंसक दाह हो चु भनेपर पीछ भी बच रही आग कुछ भी कार्य नहीं कर रही है, ऐसा चार्वाक मानते हैं। तणोंसे रहित बाल रेतमें पड़ी हुई अग्नि भी जलाना प्रभाना फ्रिनेडा डाल्ना, सोखना, आदि कार्योको नहीं कर रही मानी है। जैसे कि नैयायिकोने अन्तके चरम अवयवीका पुनः कोई अवयवीको उत्पन कराना कार्य नहीं माना है । अतः चार्वाकोंके अकार्यत्व हेतुको उन्हींके मन्तव्य अनुसार मुरमुर फुलिंगा, आदिकी अग्निसे व्यभिचारी कर दिया है। इस अग्निमें उत्तरवर्ती कार्यको करनेसे रहितपना है। किन्तु असल राध्य वहां नहीं है, तथा चार्वाकोंका कार्यलके अभावस्वरूप अकार्यल्य हेतु विरुद्ध हेत्वामास भी है । उनीको प्रसिद्ध कर दिखाते हैं । आत्मा (पक्ष) सदा विद्यमान रहता है, (साध्य) अकार्यपना होनेसे (हेतु) पृथिवीत्व या पृथिवीतत्त्व आदिके समान (अन्वयद्दृष्टान्त) घट, पट, आदि प्रथिवी पर्यायोंका नारा हो जानेपर भी चार्वाक प्रथिवी तत्त्रका नारा हो जाना नहीं मानते हैं। अतः इस अनुमान द्वारा आत्माको नित्यत्व सिद्ध करनेवाला अकार्यत्व हेत् तो चार्वाकोंके उक्त साध्य नास्तित्वसे विरुद्ध हो रहे सदा अस्तित्वके साथ अविनाभाव रखता है। अतः साध्यसे विपरीत हो रहे के साथ व्यक्तिको रखनेवाल। अकार्यत्व हेत विरुद्ध हेत्वाभास है। आत्माका सदा अस्तित्व साधनेवाले हमारे अकार्यत्व हेतुका प्रागमाव, इतरेतराभाव या उत्पन्न हुआ अभाव याने ध्वंस, अथवा अत्यन्ताभाव करके व्यभिचार नहीं आता है। क्योंकि द्रव्य अर्थका आश्रय करनेपर उन प्रागमाव आदि अभावोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। सर्वदा नित्य व्रव्य त्रिद्धमान रहता है। व्रव्यरूपसे किसीका कोई नहीं है। हां, पर्यायरूप अर्थना आश्रय करनेपर तो वे प्रागभाव, प्रश्वंस, अन्यो-न्याभाव, अत्यन्ताभाव, कार्य ही हैं । अतः अकार्यत्व हेतुके न रहते हुये असत्व साप्य नहीं भी रहा तो कोई क्षति नहीं है । घंस अभावको सभी वादी कार्य मानते है । अतः अकार्थत्व हेतुका धंस करके व्यभिचार होना कथमपि सम्भावित नहीं है। अतः उत्पन्नाभावके

स्थानपर अव्यन्तामाव पाठ अच्छा है। दोखिये, पर्याय अर्थोका अवलम्ब केनेपर घटकी पूर्ववर्ती कराह पर्याय ही घटका प्रागभाव है और वह कुरुहुल तो उस कुरुहुलके पूर्ववर्ती कोष पर्यायका कार्य है। अतः कुरालका प्रागमाव कोष हुआ तथा कोषका प्रागमाव उसकी पूर्व पर्याय शिवक हुआ और वह शिवक दूसरे स्थासका कार्य है। इस ढंगसे पूर्ववर्त्ती पर्यायोंको ही हम उत्तरवर्त्ती पर्यायोंका प्रागभाव मानते हैं। इसपर प्रागमावको अनादि माननेवाले वैशेषिक यदि यो कटाक्ष करें कि हमारे यहां तो प्रागभाव माना गया है। अतः अनादिकालसे अवतक कार्यकी उत्पत्तिको रोकता हुआ बैठा है। किन्तु जैनोंके यहां जब पूर्वपर्याय ही का नाम प्रागभाव है तो उस पूर्वपर्यायकी पूर्व अवस्थाओंमें घटकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये । क्योंकि घटकी उत्पत्तिका प्रतिबन्धक अभी प्रागभाव तो उपजा ही वहीं है। ध्वंस तो घटके उपज जानेपर पीछे होनेवाला अभाव है। इतरेतराभाव और अखन्ताभाव भी घटके उपज चुकनेपर व्यवहार प्राप्त होते हैं। अतः किसी भी प्रतिबन्धक अभावके विद्यमान नहीं होनेसे लम्बी अनादिकालीन पर्यायसन्ततिमें घटकार्यके सद्भावका प्रसंग आता है। अब आचार्य समाधान करते हैं कि वैशेषिकोंका उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि प्रागभावके विनाशको ही हम कार्यरूप करके स्वीकार करते हैं। अनादि पूर्वपर्यायकी सन्तानमें अमीतक जब प्रागमात्र उत्पन्न ही नहीं हुआ है तो भला उसका धंस कहांसे होय ! अतः प्रागभावके धंसरूप कार्यका पूर्व अवस्थाओंमें सद्भाव हो जानेका प्रसंग नहीं उठा सकते हो । जैसे कि उत्तर अवस्थारूप घंसका ध्वंस हो जानेपर पुनः कार्यके उज्जीवनका प्रसंग नहीं दे सकते हो । भावार्थ-पूर्व अवस्थारूप प्रागमावका व्यंस हो जाना कार्य सद्भाव है। '' कार्योत्पादः क्षयो हेतोः '' और कार्यकी उत्तर अवस्थारूप घंसका प्रागभावस्वरूप कार्य सद्भाव है। अतः कार्यसद्भावके आगे पीछेकी पर्यायोंके समयोंमें कार्यसद्भावका आपादन करना उचित नहीं है। जंस और प्रागमायको हम तुच्छ पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु मीमांसकों के समान हमारे यहां रिक्तभाव ही अभाव माना गया है !

कुटपटयोरितरेतराभावः कुटपटात्मकत्वात्कार्यः चेतनाचेतनयोरत्यंताभावोपि चेतना-चेतनात्मकत्वात् कार्य इति । परस्य तु पृथिव्यादिभ्योर्थोतरभूताः मागभावादयो न संत्येवा-न्यथा तेषां तत्त्वांतरत्वप्रसंगात् । तथेतरेतराभावात्यंताभावयोः सर्वदास्तीति मत्ययविषय-त्वात् न ताभ्यामनेकांतः ।

आत्माका सदा अस्तित्व साधनेके लिये दिये गये जैनोंके अकार्यंत्व हेतुका ही निर्दोषपना दिखाया जा रहा है कि घट और पटमें परस्पर ठहर रहा उनका अन्योन्यामाव तो घट और पट स्वरूप ही है। अतः जब घट, पट कार्य हैं तो उनका तदात्मक अन्योन्यामाव भी कार्य हुआ। अतः अकार्यत्वहेतु अन्योन्यामावमें नहीं ठहरा। ऐसी दशामें साध्य भी नहीं रहे तो हमारे अकार्यत्व हेतुमें (न कि चार्वाक्रीके अकार्यत्व हेतुमें) व्यक्तिचारदीय नहीं चढ बैठेगा। जो पुद्रल या जीवकी पर्याय वर्तमानमें तदूप नहीं है, किन्तु आगे पीछे कालोंमें तदूप हो सके ऐसी देव, मनुष्य, घोडा,

हाबी, आदि अथवा घट, घट, चौकी, पुंस्तक, आदिन जीव पा पुक्ककी वर्षायोंका वर्तमानकाळ्ने अन्योन्धानामा गया है। तथा तीनों कार्की को पयीय या अन्य तक्य व हो सके ऐसी अप. फेलन, या धर्मद्रच्य या अधर्मद्रच्यका एक दूसरेमें अवन्ताभाव वाना गया है, जो कि तैकारिक-शंख्यांचिक्त है। वैशेषिकोंको भी इसी सर्वाका अनुसरण करनेपर निरासकता मिछ सकती है। प्रकरणमें हमारे अकार्यत्वहेतुका अलम्ताभाव करके व्यक्तिकार नहीं आता है। क्योंकि केलग. अनेतन, पदार्थीका परस्पर अव्यन्तामाव भी चेतन, अचेतनपर्यायानरूप हो जानेसे कार्य ही है इस कारण अकार्यत्व हेतुके न रहनेपर साध्य नहीं भी रहो कोई ख़ुटि नहीं है। हेतुके रहते हुने वंक्षां साध्य नहीं ठहरता तो व्यभिचार दोष उठाया जा सकता था । दूसरी बात यह है कि असर्विका अपन्हम करनेवाले उन परपक्ष मृत चार्वाकोंके यहां तो पृथिकी आदिक चार सत्त्रोंसे कोई अर्धान्तर मृत ही रहे प्रागमाव आदिक माने ही नहीं गये हैं। अन्यथा उन प्रागमाव, अन्योन्यामाव, आदिकोंको चार तत्त्वोंसे अतिरिक्त तत्त्वान्तरपनेका प्रसंग हो जायगा। तथा तीलरा उपाय यह भी है कि व्यक्षिकार उठानेवाले चार्वाक यदि इतरेतराभाव और अस्यन्ताभावमें किसी हंगसे अकार्यव्यक्तिको स्व देना चाहते हैं तो अच्छी बात है. उन इतरेतराभाग और अत्यन्ताभागमें सदा अस्तिपनके जानकी विकास हो जानेसे उन करके व्यभिचार नहीं हुआ, अक्षार्थित हेतु रह गुया तो साधमें सर्वदा अस्तिपन वह साध्य भी वहां ठहर गया । कुछीन पतिपत्नीके समान साध्य हैतओंमें अक्नियमव वर्ष जानेसे व्यक्ति चारकी शंका भी नहीं रहती हैं । विषमन्याप्ति न होकर यदि हेत साध्यों में बढ़ां समन्याप्ति हो रही है, वहां हेतु तो क्या, एकपत्नीवत पतिके समान साध्य भी व्यभिचारी नहीं हो पाता है।

सरविषाणादिदृष्टांतश्च साध्यसाधनविकलः, सरविषाणादेरप्येकांतिन नास्तित्वानुष्ठभ्य-मानत्वायसिद्धेः । गोमस्तकसमवायित्वेन दि यदस्तीति मसिद्धं विषणं तत्स्वरादिमस्तक-समवायित्वेन नास्तीति निश्चीयते, मेषादिसमवायित्वेन च मसिद्धानि रोमाणि, कूर्मसमवायित्वेन च न संति, नोपलभ्यंते च वनस्यतिसमवायित्वेन मसिद्धान्तित्वोषलं मं कुसुमं गमनसम-बायित्वेन नास्तित्वानुपलभ्यमानत्वधर्माधिकरणं दृष्टं न पुनः सर्वत्र सर्वदा सर्वथा किष्य-भाष्तित्वानुपलंभाधिकरणं मसिद्धं विरोधात् । ततो नात्मनः सर्वथा सर्वत्र सर्वदा नास्तित्व साध्ये तथानुपलंभादिदेत्नां निद्र्यनमस्ति साध्यसाधनविकल्स्यानिद्र्यनस्वात् ।

चार्नाकोंने अमुपलम्भ, अकारणत्व, अकार्यत्व, इन तीन हेतुओंसे आत्माके नास्तित्वको साधते हुये जो कि खरविषाण, कच्छपरोम, आदि अन्त्रयदृष्टान्त कहे थे वे दृष्टान्त भी महस्तत्व साध्य और अनुपलम्भ आदि हेतुओंसे रहित हैं। क्योंकि खरविषाण, वन्ध्वापुत्र, आदि दृष्टान्तोंका एकान्तः करके (सर्वथा) नास्तिपन और अनुपलम्यमानत्व (अनुलम्भ) आदिकी खिद्धि नहीं हो सकी है। देखिये अवयत्री गौके मस्तकमें समवायसम्बन्धसे वर्त्तरहेपन करके जो ही सींग प्रसिद्ध हो रहा है, वहीं सींग तो गथा, घोडा, हाथी, आदिके उत्तमांगी (हारोभाग) में समवायसम्बन्धसे वर्तमानपंत्र

करके नहीं है। इस प्रकार निश्चय किया जाता है तथा मेंढा, छिरिया, बन्दर, आदिके अक्यची शरीरमें अवयव होकर समवायसहितपने करके प्रासिद्ध हो रहे रोम हा तो कछवेमें समवायीपने करके नहीं है, और नहीं देखे जा रहे हैं। इस ढंगसे तो,नास्तित्व साध्य और अनुपलम्म हेतुको कुर्म रोम धार सकता है, तथा वनस्पतिमें समवायी होकरके प्रसिद्ध हो रहा है अस्तित्व और उपलम्भ जिसका, ऐसा पुष्प ही गगनके समवायीपने करके नास्तित्व (साध्य) और अनुपरुम्यमानत्व (हेतु) धर्मका अधिकरण हो रहा देखा गया है । किन्तु फिर सब ही स्थानोंपर सदा सभी प्रकारोंसे जगतका कोई भी पदार्थ नास्तिपन और अनुपूछम्भका अधिकरण हो रहा ते। अद्यावधि प्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि विरोध दोष आता है। अर्थात्—जो नास्तिपन या अनुपलम्भ धर्मीका आश्रय होगा वह सत्रूपसे हीं प्रसिद्ध होगा । धर्म तो सद्ध्रपधर्मीमें रहते हैं और जो सत् पदार्थ है उसमें नास्तिपन, अनुपलम्भ, कारणरहितपन, कार्यरहितपन, ये धर्म नहीं ठहर सकते हैं। " संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादते कचित '' अखण्डपदकी संज्ञावाले पदार्थका प्रतिषेध करना प्रतिषेध्यकी सत्ता माने विना असम्भव है। एक स्थानपर प्रतिषेष्यकी सत्ता सिद्ध होनेपर अन्य स्थानोंपर उसका निषेध किया जा सकता है। अष्ट-सहसी प्रन्यमें " अद्वेत शद्धः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमाधापेक्षो नञ् पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवत् " इस अनुमानसे द्वेत, आत्मा, आदि राद्वोंके सद्भावरूप वाच्य अर्थ साध दिये गये हैं। जब कि अस-म्भव कहे जा रहे खरविषाण आदि समसित पदोंके वाच्य अर्थकी भी सिद्धि करते हुये उनमें सर्वथा नास्तिपन और अनुपरूम्भ नहीं साथे जा सकते हैं तो आत्मा या चैतन्यका अस्तित्व साधना तो पुळमसाध्य है । वैशेषिकमत अनुसार अवयवीमें अवयवी समवाय सम्बन्धसे रहता है । अतः सींग या बाळस्वरूप अवयवोंमें मैंसा, मेढा, गाय, आदि अवयवी समवाय सम्बन्धसे वर्त्त रहे सन्ते समवेत कहे जाते हैं। अवयवीके समवायको धार रहे अवयव समवायी माने जाते है। किन्तु जैनसिद्धांत अनुसार मडी हुई चूनकी खंडमें थोडा आटा और मिला देनेसे पुनः एक अवयवी बन जाता है। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त अवयवीमें भी कुछ अवयव मिला देनेसे द्वितीय अवयवी उत्पन्न हो जाता है । यानी अव-यवीमें भी अवयवका रहना जैनिसिद्धान्त अनुसार अभीष्ट है। यहां वैशोषिक यों मान रहे हैं कि मनभर दूधमें छटांक भर दूध मिलानेपर अथवा दश सेर आटे की छंडमें छटांकभर आटा या न्यारे छटांक भर आटेकी छंडको मिला देनेस एवं चालीस गज लम्बे वस्त्रमें एक सत मिलाने या निकालनेसे अव-यवीका नारा हो जाता है ! अवयवी पुन: अवयव उसके भी अवयव आदि पञ्चाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, बणुक, इस विनाश क्रमसे परमाणु हो जाते हैं। यों पूर्व अवयवीका नाश होकर पुनः सम्मिलित हुये दूसरे अवयवोंके साथ द्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक, पञ्चाणुक, षडणुक, सप्ताणुक, इस क्रमसे अवयव, अवयवी, महावयवी, चरमावयवी, द्रव्यकी पुनः सृष्टि होती है। दो अणुओंसे एक **ब**णुक बनता है । तीन बणुकोंसे एक त्र्यणुक बनता है । चार त्र्यणुकोंसे एक चतुरणुक बनता है । पांच चतुरणुकोंसे एक पंचाणक बनता है। यही ढंग अवयवी पर्यन्त चला जाता है। यह सब वैशिषिकों की उत्पाद विनाश प्रक्रियाका दिखलाना, तो बकना मात्र है। इसमें प्रत्यक्षसे ही विरोध आता है। पांच शेर इक्षुरसमें छटाकमर दूसरा इक्षुरस मिला देनेसे तत्काल नवीन अवययी बन जाता है। " भेदसंघाताभ्याम्त्यबन्ते " ज़ैन सिद्धान्तमें भेद और संघात तथा कुछका भेद कुछका संघात इन तीनों प्रकारोंसे अवयवीकी उत्पत्ति मानी गुर्धी है। अतः वैरोषिकोंका .कहना प्रत्यक्षविरुद्ध पडता है। अवयवीमें भी अवयवों के समवेत हो जानेका कोई विरोध नहीं है। वैशेषिकोंने तीन खणुकोंसे एक त्रयणक और चार त्रयणुकोंसे एक चतुरणुक इत्यादि जो सृष्टिप्रिक्रिया मानी है वह भी ठीक नहीं है। तीन अण्यओंसे या एक द्यणुक और एक अणुसे ही त्र्यणुक पैदा होता है। दो द्यणुक या एक त्र्यणुक और एक अणु अथवा चार अणुओंसे ही चतुरणुक स्कन्ध उपजता है। बात यह है कि चतुरणुकमें चार ही अणुपें होनी चाहिये। पंचाणुकमें द्रव्यरूपसे पांच अणुपें ही पर्याप्त हैं, न्यून अधिक नहीं। शब्द के बाच्य अर्धपर भी दृष्टि डालनी चाहिये । यो चाहे जहां मन चाहा अंडगा लगा देना शोभा नहीं देता । वैशेषिकोंके मतानुसार एक सौ वीस अणुओंका पंचाणुक स्कन्ध और सातसीकीस परमाण द्रव्योंका बना हुआ एक पडणुक स्कन्ध हम जैनोंको अभीष्ट नहीं है । वैशापिकोंको यह डर छगा हुआ है कि सृष्टिकी आदिमें ईश्वर इच्छा या अन्यदा अग्निसंयोग, ईश्वर, आदि कारणोंसे जब सभी परमाणुओं के बणुक बन गये तो अब त्र्यणुक बननेके लिये बणुकका साथी अकेला परमाणु कहांसे आवे ? अथवा वहां रखे हुये सब द्यणुकोंके जब त्र्यणुक बन गये तो जैन मतानुसार चतुरणुको बना-नेके लिये वहां द्याणक और परमाणुयें कहां रखे हुये हैं ! जिनसे कि चार परमाणु या दो द्याणकोंसे झट एक चतुरणुक बना लिया जाय । इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि जगत्में अनन्तानन्त बणुक या परमाणुयें ठसाठस भरे हुये हैं । अनन्ताअनन्त परमाणुयें तो ऐसी पढी हुई है जो अद्यापि स्कन्धस्वरूप नहीं हुयीं और होंगी भी नहीं । जहां घट, पट, षडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक रहे हैं वहां भी अनेक परमाण्यें, अनन्ते बण्क, विद्यमान हैं । वहां रखी ह्यी सभी परमाण्यें बण्क नहीं बन जातीं है । बणुक सभी त्र्यणुक नहीं बन जाते हैं । दूरसे भी परमाणुयें खेंची जा सकती हैं। या कारणबरासे वे चली आतीं हैं । अपनी अपनी योग्यता अनुसार ही नियत पहलेंकी नियमित परिणातियां होती हैं, आगे चलकर भी तो वैशापिकोंने दो कपालिकाओंसे एक कपाल और दो कपा-लोंसे एक घट अवयवीकी उत्पत्ति स्वीकार की है । फिर पहेले पडणुक, सप्ताणुक, स्कन्धोंमें यह अनुचित (बैद्धदेपनका) क्रम क्यों बना रखा है ? इस बातको जगत्में डेड बुद्धिको मानकर अपने ही एक पूरी बुद्धिको समझ बैठे ओद्धक्य मतानुयायी वैशेषिक ही जाने प्रकरणमें यह कहना है कि खरविषाण भी नाहित और अनुपळम्यमान नहीं है। चार पांववाला गथा पशु प्रसिद्ध है। सींग भी गाय, भैंसामें प्रसिद्ध होरहे केवल गंधा और सींगका समवाय हो जाना धर्म ही नहीं देखा जा रहा है। तब तो खरविषाणका एक छोटासा धर्ममात्र ही अप्रसिद्ध हुआ । सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा, खरविषाण पदार्थ तो नास्ति और अमुपलम्मका अधिकरण नहीं है । इसी प्रकार कछवेके रोम या आकाशका फूल भी सर्वथा अप्रसिद्ध

वहाँ है। मण्डकाशिक्ष्ण्डक भी अस्ति होकर जाना जा रहा एक ढंगसे प्रसिद्ध है। देखो, कर्याचित असत् हो रहे पदार्थके ही अस्तित्व और उपलम्भ धर्म हैं तथा क्यंबित सत् पदार्थके ही नास्तिषन और अनुपलम्भ साने गये हैं। न तो सभी प्रकारोंसे सत हो रहे पदार्थक ही अस्तित्व और उपलम्भ कर्म हैं। क्योंकि को तो घटका पट रूपसे या जीवरूपसे भी सदाव बन बैठेगा। यो चाहे जो पहार्य चाहे जिस पदार्थस्करप होता हुआ सर्वसंकरदोष प्रस्त हो जायगा । यदि सर्वथा असदके ये नास्तित्व बा अनुपरूष्म धर्म माने जायंगे तब तो सर्वश्चन्यवादमें बोलने, सनने, समझने, समझने, का व्यवहार में नष्ट हो जायगा । " स्यादादो विजयनेतरां " । संचितकर्मीकी पराधीनतासे चौरासी लाख योनियोंमें अवण करते हुये जीवको मण्डक (मैडका) भक्की प्राप्ति हो चुक्तेपर पनः वह जीव मनुष्य गतिमें कमारी अवस्थाको धारण करता है. उस समय उस खीके जो कौआके पंख समान केश रचना विशेष है वह कुमारी छड़कीकी चोटी या वेंनी पूर्वमण्डककी कही जा सकती है। देचदत्तकी दुकान विक आवेपर भी किसी अपेक्षा देवदत्तकी कही जा सकती है। पार्श्वनाथके पहिले भवोंके कर्त्तव्योंको पार्श्वमाथकी कृति वयामा जाता है। जब फूलको आकाश अवगाह दे रहा है तो आकाशका पुष्प बाहमेमें क्या शांति है ? देखी वृक्षमें जितनी देर या जितने अंशते पुण्य संयुक्त हो रहा है, उससे कहीं अधिक देरतक सर्वीगरूपसे आकाशके साथ पुष्पका संयोग वन रहा है। वृक्षसे वियक्त हो सवा भी इन्ह कभी आकाशसे प्रच्युत नहीं होता है। इस प्रकार जबतक पुष्प विद्यमान रहेगा आकाराके साथ उसका सम्बन्ध नहीं छुट सकता है। थोडा माता, पिताका पुत्रके साथ हुँये सम्बन्धको अथवा देवदत्तका धन या खेत अथवा शत्रुसे हुये सम्बन्धको निरख हो । जब ऐसे स्तोक सम्बन्धवाळे स्थलोंमें प्रष्टी विभक्ति आसक्त होकर उतर आती है तो शशिवपाण, वन्ध्यापत्र, मृगतणा-जरू आदिमें विचारताली वियानस्पोंके द्वारा समासके प्रथम उतार ली जा चुकी सम्बन्धवाचक पद्धे विभक्तिको 'निर्मूल क्यों कहते हो ! बात यह है कि " सिद्धिरनेकान्सात् " अनेकान्तसे पदार्थीकी सिद्धि हो रही है । खरविषाण आदिमें भी नास्तित्व साध्य और अनुपलम्भ आदि हेत् विद्यमान नहीं हैं। तिस कारणसे चार्वाकों द्वारा आत्मद्रव्यका सभी प्रकारोंसे सर्वन सद्या नास्तिपन साध्य करते सन्ते तिस प्रकार अनुमानमें कहे गये अनुपटम्भ, अकारणल, असार्यत्व, सम्भवद्याधमात्य, आदि हेतुओंका जगत्यत्तीं कोई पदार्थ अन्वयद्दष्टान्त नहीं है । जो चार्वा-कोंने खरविपाण आदि रहान्त रुपात्त किये थे, वे तो साध्य और साधन दोनोंसे रहित हो रहे सिंद कर दिये गये हैं। जो साध्य और साधनसे विकल है (खाली है) वह अन्वबदशान्त नहीं हुआ बरता है, अन्यपद्यान्तमें ही देत और साध्यकी व्यातिका प्रदर्शन कर ही चार्यक अपना आस्मके नास्तिय सिद्धिका प्रयोजन साथ सकते थे। अब तो उन चार्वाकोंके पास कोई उपाय शेष नहीं है। जब कि जन्यक्ष, अनुमान और आंतनाक्यसे आत्माका अस्तित्व प्रतीत हो रहा है, तो ऐसी इस्तार्मे अध्याका नारितस्य सिद्ध अरमा स्वर्मकोंका एक्टर अपनेको अवस्त साधनेका मिन्छ प्रयत्न है ।

तयात्मा नास्तीति पश्च मत्यशानुमानागमबाधितीवगम्यत इति साधने देशवद्रश्चनात् नातः साधनादात्मनिन्हवसिद्धिर्यतीस्य नोपयोगो लक्षणं स्यात् ।

तथा चार्याकोंने आत्माक अभावको साधनेके छिये जो अनुमान बनाया था, उस अनुमानका आत्मा नहीं है। इस प्रकार पश्च (प्रतिज्ञा) भी तो प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणसे बाधित हो रहा जाना गया है। पूर्व प्रकरणोंमें साध दिये गये केवछज्ञानसे संपूर्ण मुक्त, संसारी, आत्माओंका प्रत्यक्ष हो रहा है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान द्वारा भी संसारी बद्ध आत्माका विकल प्रत्यक्ष हो जाता है, तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे मै मुखी हूं, मै दुःखी हूं, ज्ञ हूं, आदि आकारोंका उद्धेख करते हुये आत्माका स्वतः प्रत्यक्ष हो रहा है। एवं बाधकोंका असम्भव या हित, अहितके प्राप्तिपरिहारकी किया आदि हेतुद्वारा आत्माका अनुमान हो जाता है, सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आ रहे " जीवाश्च, जीवो उपओगमओ, गुणजीवा पण्जत्ती, इत्यादि आगमवाक्योसे आत्माका अस्तित्व निर्णात है। अतः प्रमाणोंसे बाधित होकर जाने जा रहे साध्यके निर्देश अनन्तर प्रयुक्त हो जानेसे चार्वाकोंका हेतु कालात्ययापदिष्ट है। इस प्रकार चार्वाकोंद्वारा कहे गये अनुपलम्भ आदि हेतुओंमें असिद्ध व्यभिचार विरुद्ध, बाधित, इन दोषोंके दीख जानेके कारण इन हेतुओंसे आत्माके अपलाप (होती हुई वस्तुके लिये मुकर जाना) की सिद्धि नहीं हो सकती है। जिससे कि इस आत्माका लक्षण उपयोग न हो सक्ते। अर्थात्—चार्वाकोंने पहिले जो ये कहा था कि लक्ष्य बनाये जा रहे आत्माका असत्व होनेसे उसका लक्षण उपयोग नहीं घटित होता है, यह उनका कहना ठीक नहीं पडा। आत्मतत्त्वकी सिद्धि कर दी गयी है। अतः उपयोग उसका लक्षण बन सकता है। कोई आपत्ति नहीं है।

किं च, स एवाइं द्रष्टा, स्पृष्टा, खादयिता, घ्राता, श्रोतानुस्पृता, वेत्यनुसंधानमत्ययो पृद्दीतृकृतः करणजिबद्दानेषु चाऽसंभाव्यमानत्वात् तेषां स्वविषयनियतत्वात् परस्परविषय-संक्रमाभावात् ।

आत्मतत्त्वकी सिद्धि करनेका एक विचार यह भी है कि जो ही मैं चक्षुसे देखनेवाला हूं, वहीं में छू रहा हूं वहीं में स्वाद ले रहा हूं, सूंघ रहा हूं, अथवा सुननेवाला हूं, इन्द्रियों या मनसे अनुभव कर चुकनेपर धारणा ज्ञानद्वारा वहीं में स्मरण करनेवाला हूं। इस प्रकारके अनुसंधान करनेवाल ज्ञान (पक्ष) गृहीता आत्मा करके बनाये गये हैं (साध्य) क्योंकि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये अविचारक विज्ञानोंमें उक्त प्रकारके अनुसंधान होनेका असम्भव हो रहा है (हेतु) वे स्पर्शन आदिक इन्द्रियां अपने अपने नियत विषय हो रहे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, सञ्चेतना, को जानकर परितार्य हो जाती हैं। छः मासका छोटा बच्चा या, असंज्ञी या चौइन्द्रिय जीव दर्पणमें अपने प्रति विग्वको चक्कुसे देख लेता है, किन्तु यह मेरि छाया है इसके अनुसार मुझे अपने मुखका धव्वा मिटा हालना चक्किये इत्यदि विचार नहीं कर पाता है। चक्कु केवल रूपको देख लेगी। रसना रसको

चाट छेगी। किन्तु ये इन्द्रियां ऐसे प्रत्यवमर्थों को नहीं कर सकती हैं कि यह वहीं सूंघा जा रहा है। जो कि पापड पहिले देखा या खाया था यह उससे अधिक मुरमुरा है, यह उससे न्यून लक्षणवान् है। यह शब्द उस शब्दसे गम्भीर है, तीक्षण है, कर्कश है। जैसे कि टेलिफीनों के यहां वहां जाने, आने, सम्बन्ध मिलाने का संयोजक एक प्रधान कार्यालय होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा आगे पिछे हुये ज्ञानोंका अधिकारी एक विमर्धक आत्मा ही उपयोग लगाकर उनका अनुसंधान कर सकता है। इन्द्रियां इस कार्यको कालत्रयमें नहीं कर सकतीं हैं। क्योंकि उनके द्वारा प्रहण किये जा चुके विषयोंका परस्परमें संक्रमण नहीं हो पाता है। रुपया स्वयं अपना परिवर्तन (एक्सचेंज) नहीं कर लेता है। इस कार्यके लिये चारों ओर का भाव निरख कर ठीक ठीक व्यस्था कर देने वाले कोषाध्यक्ष (बैंकर) की आवश्यकता है। इससे इन्द्रियज्ञानों या विचारक ज्ञानोंका अनुसंधान रखनेवाला गृहीता आत्मा सिद्ध हो जाता है।

गर्भादिमरणपर्यतो महांश्रेतन्यविवर्तो दर्शनस्पर्शनास्वादनाघाणश्रवणानुस्मरणलक्षणचैत-न्यविशेषाश्रयो गृहीता तद्वतुरिति चेन्न, तस्यैवात्मत्वेन साधितत्वादनाद्यनंतत्वोपपत्तेः। न चायं निर्हेतुकः कादाचित्कत्वादिति परिशेषादात्मसिद्धेश्च नात्मनोभावो युक्तः।

चार्वाक कहते हैं कि आत्मा तत्व अनादि अनन्त नहीं है। गर्भसे आदि छेकर मरण लम्बा चौडा महान् चैतन्य परिणाम ही देखना, छूना, चाखना, सूंघना, सुनना, पीछे स्मरण करना, ऐसे लक्षणवाले विशेष चैतन्योंका आश्रय है वही गृहीता है और गर्भसे मरणतक ही ठहरनेवाला आत्मा उस अनुसंघान ज्ञान करनेका हेतु है। गर्भसे प्रथम और मरणके पश्चात् भी उसका अन्वय मानते जाना उचित नहीं है। आचार्य पहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस महान चैतन्य विवर्तको ही आत्मपने करके साथ दिया गया है, उस चैतन्यका अनादि काल्से छेकर अनन्त काल्तक द्रव्यक्रपसे ठहरना बन जाता है। यह चैतन्य विशेष या अनुसंघानज्ञान भला हेतुओंसे रहित तो नहीं है। क्योंकि कभी कभी होता है। जो कार्य कभी कभी होते हैं उनका कोई नियत हेतु अवश्य है। विशेष चैतन्यका हेत् यह शरीर तो नहीं है। मृत शरीरमें व्यभिचार हो जायगा। इन्द्रियां भी चैतन्यका हेत नहीं हैं । क्योंकि चक्ष या श्रवण इन्द्रियका घात हो जानेपर भी देखे सुने हओंका स्मरण हो रहा देखा जाता है। शरीर, इन्द्रिय, नोइन्द्रिय, ये जड पदार्थ तो घट, पट, समान विचार नहीं कर सकते हैं। चार्वाकों द्वारा माने गये प्रथिवि, जल, तेज, वायु, चार तत्त्वोंके बते उक्त कार्य करना अशक्य है। अतः परिशेष न्यायसे चैतन्यविशेषका हेतु आत्माद्रव्य सिद्ध हो जाता है। इस कारण चार्त्राकों को आत्माका अभाव कर देना समुचित नहीं है। गर्भसे प्रारम्भ कर बैतन्य विशेषकी जो उत्पत्ति मानी गयी है वह उपादान कारणसे ही सब सकती है। उपादानके बिना किसीकी उत्पत्ति नहीं होती है। शब्द, बिजली, आदिके भी अदृश्य उपादान वर्त रहे हैं तथा मरणके पश्चात् किसी उपादेयको उत्पन्न कर ही चैतन्य टूट सकता है। उत्तर अधिकारीको नहीं

उत्पन्न कर किसी भी गुणगरिष्ठको नष्ट होनेका अधिकार नहीं है। आद्य प्रकरणमें विस्तारके साथ आत्माके अनादि अनन्तपनकी सिद्धि की जा चुकी हैं। अछं विस्तरेण।

किंच, अस्मदादेरात्मास्तीति मत्ययः संश्रयो विपर्ययो यथार्थनिश्रयो वा स्यात् १ संश्रयश्रेत् सिद्धः मागात्मा अन्यथा तत्संश्रयायोगात् । कदाचिदमसिदस्थाणुपुरुषस्य मतिपचु-स्तत्संश्रयायोगवत् । विपर्ययश्रेत्तथाप्यात्मसिद्धिः कदाचिदात्मिन विपर्ययस्य तिश्रणयपूर्वकत्वात् । ततो यथार्थनिर्णय एवायमात्मसिद्धिः ।

चार्वाकोंके प्रति आचार्य महाराज प्रश्न करते हैं कि क्योंजी, हम जैन या मीमांसक, नैयायिक आदिकोंके यहां हो रहा " आत्मा है " इस प्रकारका ज्ञान क्या संशयक्कान स्वरूप है ? या विपर्ययज्ञान स्वरूप है ! अथग क्या यथार्थ वस्तुका निर्णय समझा जाय ! बताओ । प्रथम पक्ष अनुसार आत्मा तत्त्व विद्यमान है, इस ज्ञानको यदि संशय माना जायगा तब तो चार्वाकोंके यहां पहिले आत्मा तत्त्व सिद्ध हो चुका कहना चाहिये। अन्यथा यानी आत्माका कहीं न कहीं अस्तित्व माने विना अन्यत्र उसके संशय होनेका अयोग है। जैते कि तलघरमें उपजकर पले हुये जिस प्रतिपत्ताको आजतक कभी ठूंठ और पुरुषकी यदि प्रसिद्धि नहीं हो सभी है, उस पुरुषको उन स्थाणु जौर पुरुषको विषय करनेत्राले संशय ज्ञान होनेका अयोग है। अर्थात् -- जो जिसका संशय करता है वह उसका कही न कहीं निश्चय अवश्य कर चुका है। साधारण धर्मीका दर्शन और विशेष अंशोंकी स्पृति हो जानेपर संशय ज्ञानकी उत्पत्ति सबने मानी है । अवस्तुको विषय करनेवाला संशय नहीं होता है । तथा आत्मा है इस ज्ञानको चार्वाक द्वितीय विकल्प अनुसार यदि विपर्वय ज्ञान मानेंगे तिस प्रकार होनेपर भी आत्नतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि कभी कभी आत्मामें उसका निपर्नय ज्ञान तभी होगा. जब कि कहीं न कहीं पूर्वमें उस आत्माका निर्णय किया जा चुका होगा। सीपमें रजतकी स्नान्ति उसी पुरुषको उपजती है जो कि कभी कहीं यथार्थ चादीका सम्यग्ज्ञान कर चुका है। इससे भी न्यारे आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। तिस कारणसे तृतीय विकल्प अनुसार "आत्मा है " यह ज्ञान यथार्थ निर्णय स्वरूपी है । यों बडी सुलभतासे सभी विकर्णोंमें आत्मा द्रव्यकी सिद्धि हो जाती है।

नन्वेवं सर्वस्य स्वेष्टसिद्धिः स्यात् प्रधानादिप्रत्ययस्यापि सर्वविकल्पेषु प्रधानाद्यस्ति-त्वसाधनात् । तस्येतदसाधनत्वे कथमात्मास्तीति प्रत्ययस्यात्मास्तित्वसाधनत्वमिति कश्चित् । सद्यसत् । प्रधानस्य सत्वरजन्तमोरूपस्याविरुद्धत्वात् तद्धर्मस्यैव नित्यैकत्वादेनिराकरणात् । एवमीश्वरस्यात्मविश्वेषस्य ब्रह्मादेवीभिमतत्वा । तद्धर्मस्य जगत्कर्तृत्वादेरपाकरणात् सर्वयैकांत-स्वापि सर्वयैकांतरूगतया कदाचित्प्रसिद्धेस्तस्य सम्यक्त्वेन श्रद्धानस्य निराचिकीर्षितत्वात् । सर्वया सर्वस्य सर्वत्र संशयविषययानुप्रयोः ।

चार्वाकोंका स्वपक्ष अवधारणके लिये आचार्योंके ऊपर कटाक्ष है कि इस प्रकार विकल्प उठानेपर तो सभी प्रवादियोंके यहां अपने अपने अभीष्ट तत्त्रोंकी सिद्धि हो जायगी सांख्योंकी मानी हुई प्रकृति, या नैयायिकोंका ईश्वर, अथवा एकान्त, वैशेषिकोंका सातवां पदार्थ अभाव, अद्देतवादियोंका ब्रह्मतत्त्व, अपदि पदार्थीकी भी सिद्धी बन बैठेगी। क्योंकि " प्रधान है " " ईश्वर है " इत्याकारक ज्ञानको संशय या विपर्यय अथवा यथार्थ निर्णय माननेपर सभी विकल्पोंमें सिद्ध कर छिये आत्मतत्त्वके समान प्रधान आदिके अस्तित्वका भी साधन हो जाता है। प्रधानके ज्ञानको संराय होनेपर भी प्रधानका कही सद्भाव बन चुकता है। या विपर्यय माननेपर भी कचित अस्तित्व मानना आवश्यक हो जाता है। यथार्थ निर्णय तो उनकी सिद्धीका सर्वमान्य प्रयत्न है। यदि जैन उन विकल्पोंके अनुसार उस प्रधान आदिके ज्ञानको उन प्रधान, ईश्वर, आदिका साधन करनेवाला नहीं मानोगे तब तो " आत्मा है " इस ज्ञानको भी कैसे सर्व त्रिकल्पोंमें आ माके अस्तित्वका साधकपना बन सकता है ? यो यहांतक कोई चार्वाक मतानुवायी कह रहा है। आचार्य कहते हैं कि उसका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि प्रधान, ईश्वर, आदिको हम जैन स्वीकार करते हैं । सत्त्वगुण, रजीगुण, तमोगुण, स्वरूप प्रधानके साथ हमारा कोई बिरोध नहीं है। हां, कापिलोंके यहां उस प्रधानके मान लिये गये नित्यत्व, एकपन, बुद्धि, सुख, दःख, आदि धर्मीका ही हम निराकरण करते हैं । छत्रपना, प्रकाशपना, प्रेरकपना, साक्रियपना, मारीपन, प्रतिबन्ध रूपन, आदि स्त्ररूपोंसे तदात्मक हो रहे पुद्गळ नामधारी प्रधानका खंडन इम थोडे ही करते हैं ? इसी प्रकार एक विशेष आत्मा ईश्वरको अथत्रा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुगत, अहैत, (अनुपम) आत्मा, खुदा, इसेन, ईसा, आदि विशेष व्यक्तियोंको हम जैन स्वीकार करते हैं। हां केवल उन पौराणिक, अद्वैतवादी, यवन, आदि द्वारा माने गये उन ईश्वर आदिके जगत्कर्तापन, न्यापक्रपन आदि धर्मीका निराकरण करते हैं । खुदा असत् द्रव्योंका उत्पाद नहीं कर सकता है। ईश्वर असम्भवको सम्भव नहीं कर सकता है। वृक्षपर फल फूळके समान मनुष्य लगकर नहीं उपजते हैं । उपादान कारण या निमित्त कारणोंके विना कोई भी कार्य कोरे अतिशय, माया या ईश्वरक्रीडा-मात्रसे ही नहीं उपन हो सकते हैं। कोई भी आत्मा सर्वन्यापक नहीं हो सकता है। ब्रह्मा, सुगत, सात्यकि, ये अपने माता पिताओंके रजोवीर्यंसे उत्पन्न इये हैं। तपश्चरण कर इन्होंने कार्यकारणभावका अतिक्रमण नहीं करते हुथे अनेक ऋदियां, सिद्धियां प्राप्त की हैं। किन्तु ऐसी सृष्टि प्रक्रिया युक्तिओंसे बाबित है कि विष्णु की नामिसे उत्पन्न हुये कमळसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है और ब्रह्माने सबसे पहिले (सर्गत्यादावपोऽनुजत् या सृष्टिः सृष्ट्रराबा) जलको बनाया पीछे पृथित्री, सूर्य, चन्द्रमा, आदिका निर्माण किया । क्योंजी, पृथिनी या आकाशके निना ब्रह्माने कहां नैठकर जल बनाया ? समुद्र जळमें विराजमान विष्णु भगवान् और कमळ तो ब्रह्माके जन्मसे प्रथम ही बन चुके होंगे इत्यादिक अनेक प्रकारोंसे दूषणगण आते हैं। इस कारण ईश्वर या ब्रह्माका जगत् कर्रापन आदिक

भर्म नहीं सब पाते हैं। तथा बीद, सांख्य, मीमांसक, आदि द्वारा सर्तथा श्राणिकपन, निरमपन, आदि एकान्तांके भी सर्तथा एकान्ताखरूप करके कभी कभी हम प्रसिद्धि मानते हैं। हां, केवळ उन एकान्तांका ही समीचीनपने करके श्रद्धान करनेके निराकरणकी अभिलाषा हमारे हो चुकी है। ऋजुस्त्रनयामास, संग्रहामास नयों करके सर्तथा क्षणिकपन और सर्तथा निरमपन धर्म आन्तज्ञानों हारा कदाचित् जाने जाते हैं। तभी तो उनका समीचीन रूपसे श्रद्धान करनेका निराकरण हमें अभीष्ट हो रहा है। बात यह है कि सभी प्रकारोंसे सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण प्राणियोंको किसी भी विषयका संशय, विपर्यक्षान, होना नहीं बन सकता है। कहीं प्रसिद्ध हो रहे ही धर्मका अन्यत्र, अन्यदा, संशयज्ञान, विपर्यज्ञान, होना सम्भवता है। अतः आत्मतत्त्वका सद्भाव विना खटके मान लेना चाहिये।

नन्वेवमात्मनि सत्यपि नोपयोगस्य लक्षणत्वमनवस्थानादिति चेन्न, उपयोगसामान्य-स्यावस्थापितत्वात् । परापरोपयोगविशेषस्य चानुपरमात्तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः सर्वयोपरमे पुनरनुस्मरणाद्यभावप्रसक्तेः ।

यहां आत्मद्रव्यको न माननेवाले चार्वाक या किसी बौद्धकी शंका है कि इस प्रकार युक्ति-पूर्वक आत्माका सद्भाव सिद्ध हो जानेपर भी तो उपयोगको छक्षणपना नहीं बन पाता है। क्योंकि ब्रानस्वरूप या दर्शनस्वरूप उपयोग क्षाणिक है। क्षणस्थायी पदार्थ तो कालान्तरतक ठहरता नहीं है। प्रतिपादक वक्ताके बताये अनुसार शिष्य जबतक आत्माको पिंहचाननेके लिये लपकेगा तबतक क्षणस्थायी उपयोग बिगड जायगा । दौडती हुई डां म गाडीमें तीर या बन्द्रकका चिन्ह साधना अतीव कठिन है । देवदत्तके घरको कौआकी स्थितिसे चीन्हना नहीं बनेगा। कारण कि कौआके उड जानेपर वह लक्षणयुक्त घर ही एक प्रकारसे विगड जाता है। अतः भस्यायी पदार्थको किसीका रुक्षण बनाना ठीक नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना। क्योंकि सामान्यरूपसे कोई न कोई उपयोग आत्मामें सदा उपस्थित रहता साध दिया गया है। एक उपयोगके बिगड जानेपर भी उत्तरीत्तर सन्तानरूपसे होनेवाले अन्य विशेष उपयोगोंका कभी विरास तहीं हो पाता है। उपयोगकी परम्परा बनी रहती है। इस कारण उस उपयोगको लक्षणपना जाता है। यदि सभी प्रकारोंसे पर, अपर, सभी विशेष उपयोगोंका आत्मामें अभाव मान लोगे फिर तो पश्चात् स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, इष्ट, साधनताज्ञान, कृतिसाध्यता ज्ञान आदि होनेके अभावका प्रसंग हो जायगा । जसे कि विशेष व्यक्तियोंके मर जानेपर भारतवर्षमें यदि उत्तरोत्तर जन्म धार रहे अन्य बिशेष मनुष्योंका भी अभाव मान छिया जायगा तो ऐसी दशामें भारतवर्ष सर्वथा मनुष्योंसे खाळी हो जायगा । किन्तु ऐसा होना अलीक है । आत्माके भी उपयोगका सर्वधा अभाव मान लिया जाय तो जह आतमा पीन्ड्रेसे स्मरण नहीं कर सकेगा । स्मरण तो उपयोगअवस्थामें किसी विशेष उपयोगका ही होता है । अझान जड पदार्थको अनुपयोग दशामें स्मरण नहीं हो पाता है । जो आत्मा पूर्व काळमें

अनुभव कर चुका है, वही पीछे अनुभूत अर्थका स्मरण कर सकता है। दूसेर व्यक्तिसे अनुभूत अर्थका स्मरण नहीं कर पाता है।

संतानैकत्वादनुस्मरणादिरिति चेन्न, तस्यात्मनिन्हवे संवृतिसतोनुस्मरणादि हेतुत्वाची-गात् । परमार्थसत्त्वे वा नाममात्रभेदात् ।

यदि शंकाकार यों कहें कि उपयोगोंको क्षणिक मानते हुये भी उपयोगोंकी छडी बंधजानारूप सन्तानका एकपना होनेसे अनुस्मरण, परामर्श, आदिक हो जांयगे। छोहेकी सांकर्टमें अनेक काडियोंके त्यारे त्यारे होते हुये भी एक दूसरेका सम्बन्ध बना रहता है। एक कडीके खींचनेपर पूरी सांकर्ट खिचती, छटकती, बंधी, रहती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तुम बौद्धोंने अन्वयी आत्म द्रव्यको छिपाया है, माना नहीं है, और सन्तानको संवृत्ति यानी व्यवहारसे सत् माना है। वस्तुतः संवृत्तिको असत् पदार्थ बतलाया है। ऐसी दशामें आत्मतत्त्वका अपलाप करनेपर केवल व्यवहारसे सत् हो रही, उस सन्तानको अनुस्मरण आदिका हेतुपना घटित नहीं होता है। हां, यदि बौद्ध उस संतानका परमार्थरूपसे सद्भाव स्वीकार कर ले, तब तो हमारे आत्मतत्त्व और तुम्हारे वस्तुभूत सन्तानमें केवल नामका ही भेद हो रहा कहना चाहिये। अर्थमे कोई भेद पा विवाद नहीं रहा। सम्पूर्ण उपयोग विशेषोंमें आत्मद्रव्य अन्वित हो रहा है, जैसे कि सांकर्लि कडीमे कडी सन्तानरूपसे पुत्र रही है। उपयोगका सर्वथा विनाश नहीं हो पाया है। किन्तु कथांचित् विनाश और कथांचित् स्थिति है, इस बातको हम अनेक बार कह चुके हैं।

जपयोगसंबंधो लक्षणं जीवस्य नोपयोग इति चेत्, स तर्हि जीवस्यार्थीतरभूतेनोपयो-गेन स संबंधो यदि जीवादन्यस्तदा न लक्षणमर्थीतरवत्, अन्यथोपयोगस्यापि लक्षणत्वसि-द्धेरिवशेषात् । अर्थीतरभूतेन संबंधेनाप्यपरः संबंधो लक्षणमिति मतं, कथमनवस्थापरिहारः ? सुद्रमपि गत्वा यदि संबंधः संबंधिनः कथंचिदनन्यत्वाल्लक्षणमिष्यते तदोपयोग एवात्मनो लक्षणमिष्यतां तस्य कथंचित्तादात्म्योपपत्तेः ।

यहां वैशोषिकका कटाक्ष है कि उपयोगके सम्बन्ध हो जानेको जीवका छक्षण कहना चाहिये। उपयोग तो जीवका छक्षण नहीं सम्भवता है। जिस चिन्ह करके छक्ष्य व्यावृत्त कर छिया जाय वह चिन्ह छक्षण कहा जाता है। कीनेमें रखा हुआ दण्ड तो देवदत्तका छक्षण नहीं है, किन्तु पुरुषके साथ दंडका संयोग सम्बन्ध हो जाना पुरुषका छक्षण है। तभी वह संसर्ग ही दण्डरहित पुरुषोसे दण्डी पुरुषकी व्यावृत्ति कराता हुआ ज्ञापक छक्षण हो जाता है। उसी प्रकार मिन्न पडे हुये उपयोग को जीवका छक्षण नहीं कहकर कुष्णयोग के समवायसम्बन्ध को जीवका ज्ञापक छक्षण मानना चाहिये। भोज्य पदार्थका उदरमें संसर्ग हो जाना तृतिका हेतु है, थाछीमें रखा हुआ भोज्य पदार्थ नहीं। आचार्थ कहते हैं कि इस प्रकार यदि वैशोषिक कहेंगे तब तो हमारा यह विचार

है कि तम्हारे मन्तव्य अनुसार जीवसे सर्वथा भिन्न हो रहे उपयोगके साथ जीवका हो रहा सम्बन्ध यदि जीवसे भिन्न है तब तो वह सर्वथा भिन्न हो रहे पदार्थके समान वह सम्बन्ध भी लक्षण नहीं हो सकता है। अन्यथा यानी भिन्न हो रहे भी सम्बन्ध नो यदि लक्षण मान लिया जाय, तब तो विचारे उपयोगको भी लक्षणपनकी सिद्धि हो जायगी, कोई अन्तर नहीं है। अर्थात-भेदबादी वैदेषिकीके यहां दण्डद्रव्यका परुषके साथ हो रहा संयोग तो गुण पदार्थ माना गया है और संयोगका दण्डमें न्यारा हो रहा समनायसम्बन्ध तो छठवां स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। उसी प्रकार उपयोगका समनाय सम्बन्ध भी तो जीवसे अर्थान्तरभूत ही पडेगा। अतः जिस भेद हो जानके डरसे तम उपयोगको छोडकर उपयोग सम्बन्धकी श्रण ली थी. तदबस्थ ही है । उपयोगके न्यारे समवाय सम्बन्धको जोडनेके छिये स्वरूप सम्बन्धकी और पनः न्यारे स्वरूप सम्बन्धका योग करनेके लिये अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता होती. जाती है। फिर भी सर्वथा भिन्न हो रहे सम्बन्धके साथ भी उसका न्यारा सम्बन्ध रुक्षण माना जायगा तब तो उस न्यारे सम्बन्धका भी मिलाप करनेके लिये अन्य सम्बन्धोंकी आकांक्षा बढती चली जायेगी। यों भेदबादियोंके मतमे अनवस्था दोषका परिहार कैसे हो सकता है ? सो तम्ही जानो । हां, यदि उपयोगको भी मानते हुये उपयोगके सम्बन्धको वैशेषिक अभिन्न मान छेते होते तब तो यह उनका कटाक्ष करना हम हो और उनको दोनोको लाभदायक होता । किन्त वे तो सम्बन्ध और सम्बन्धियोंका सर्वधा भेट माननेकी सौगन्ध छे चुके हैं। अनवस्थाके निवारणार्थ यदि बहुत कुछ दूर भी दशवीं, पचासवीं, कोटिपर जाकर स्वसम्बन्धिके साथ कथंचित अमेद हो जानेसे सम्बन्धको लक्षण अमीष्ट किया जायगा तब तो उपयोग ही आत्माका रुक्षण अभीष्ट कर रिया जाओ। क्योंकि जैन भिद्धान्तमें उस उपयोगका अपने सम्बन्धी लक्ष्यभूत आत्माके साथ कथांचित तदात्मकपना यक्तियोंसे सिद्ध हो रहा है। अतः जीवका आत्मभूत हो रहा उपयोग समीचीन लक्षण है, कोई दोष नहीं है।

तस्योपयोगस्य भेदमतिपादनार्थमाह ।

जीवके लक्षण उस उपयोगके मेदोंकी प्रतिपत्ति व रानेके लिये जिज्ञासु शिष्यके प्रति श्री उमास्यामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

स द्विविधोष्टचतुर्भेदः ॥ ९॥

वह प्रसिद्ध हो रहा उपयोग दो प्रकारका है एक ज्ञानोपयोग, दूसरा दर्शनोपयोग, तिनमें पहिला ज्ञानोपयोग आठ भेदवाला है, और दूसरे दर्शनोपयोगके चार भेद हैं।

स उपयोगो द्विविधस्तावत्, साकारो झानोपयोगः सिविश्वेषार्थविषयत्वात्, निराकारो दर्शनोपयोगः सामान्यविषयत्वात् । तत्राद्योऽष्टभेदश्चतुर्भेदोन्य इति संख्याविश्वेषोपादानात्पूर्वे झानं सुक्तं अभ्यर्हितत्वाभिश्वीयते । एतत्स्रूत्रवचनादेव ।

सुत्रके अर्थको श्री विद्यानन्द स्वामी यों कहते हैं कि वह उपयोग दो प्रकारवाला है। सबसें प्रथम तो आकारसहित होरहा ज्ञानोपयोग है । विशेष अंशोंस सहित हो रहे अर्थको विषय करनेवाली होनेसे ज्ञानोपयोग साकार कहा जाता है। यहां आकारका अर्थ प्रतिबंब पडना नहीं है। किन्तु क्रेय अर्थकी विकल्पना करना है । " ज्ञानादिना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सङ्क्षणाङ्किताः । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सर्वे नाकारमात्काः। आकारोर्थविकलपस्यादर्थः स्वपरगोचरः। सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैत-द्विरुक्षणम् '' यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् '' इत्यादि पंचाध्यायीके वाक्योंसे भी ज्ञानमें सिवकल्पकपना ही आकार निर्णीत किया गया है। ज्ञानके सिवाय अन्य गुणोंकी केवल स्वारीमें स्वसत्ता मात्र अनुभृति होती रहती है। ज्ञान ही स्व. परका विशेष रूपकरके उल्लेख करता है। अतः ज्ञानोपयोग साकार है तथा केवल महासत्ता सामान्यको विषय करनेवाला होनेसे दर्शनोपयोग निराकार या निर्विकल्पक माना जाता है। उन दो भेदबाले उपयोगोंमे आदिके उपात ज्ञानीपयोगके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवल्ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, विभंग, इस प्रकार आठ प्रमेद हैं । तथा ज्ञानोपयोगसे दूसरा भिन्न दर्शनोपयोग तो चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अविदर्शन, केवलदर्शन, इस प्रकार चार प्रभेदोंको धार रहा है। यद्यपि मूलसूत्रमें पहिले ज्ञान शहू और पीछें दर्शन राह्नका सत्रकारने कण्ठोक्त प्रयोग नहीं किया है, तो भी विशेषसंख्या आठका वाचक अष्ट शद्भका सूत्रमें उपादान करनेसे ज्ञानोपयो। का प्रथम प्रहण करना ही लक्षित हो जाता है। ज्ञानक ही आठ मेद हैं। आलोचन करना स्टब्स दर्शनसे अधिक पूज्य होनेके कारण सूत्रमें ज्ञान पहिले कहा गया है. ऐसा इस सूत्रके वचनसे ही निर्णीत हो रहा है। अन्यथा आठ और चार संख्याका द्वन्द्रसमास होनेपर " संख्याया अन्पीयस्याः " इस मूत्र अनुसार चतुर् शद्धका पूर्वमें निपात हो जाता । जब कि अप्टराद्वका प्रयोग पहिले दीख रहा है. तब तो पुज्य होनेसे ज्ञान ही पहिले कहा गया है, यह निणीत है।

यथोक्तोपयोगव्यक्तिच्यापि सामान्यग्रुपयोगोऽस्य लक्षणमिति दर्श्वयति ।

यवि सम्यन्तान पांच ही हैं, फिर भी उपयोगका प्रकरण होनेसे तीन विपरीतज्ञान भी पकड़ लिये जाते हैं। सम्यन्दिष्ट या मिथ्यादिष्ट जीन सदा ज्ञान करते समय आठ उपयोगोमेंसे किसी एक उप-योगोसे उपयुक्त अवश्य होगा। इस प्रकार सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार सूत्रमें ठीक कहे जा चुके आठ उपयोग व्यक्तियोंमें व्याप रहा सामान्य उपयोग तो इस जीवका लक्षण है। इस बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा शिष्योंके सन्मुख दिखलाते हैं।

स द्विविधोष्टचतुर्भेद इत्युक्तेः सूरिणा स्वयम् । रोषभावत्रयात्मत्वस्यतलक्ष्यत्वसिद्धितः ॥ १ ॥ वह उपयोग आठ और चार प्रभेदों के क्रमसे धार रहा दो प्रकार है, यों श्री उमास्वामी आचार्य करके स्वयं अण्डोक्त कथन कर देनेसे यह निर्णीत हुआ समझो कि रोष बचे तीनों माव स्वरूप जीवको इस उपयोगका लक्ष्यना सिद्ध हो जाता है। क्षायिक और क्षायोपशिमकों के रोष पन्दह और तीनों के अन्य ल्वीस यों इकतालीसका पिण्ड हो रहा जीव लक्ष्य है। अर्थात् दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके साथ जीवका तदात्मक सम्बन्ध मान लेनेपर प्रश्न उठ सकता है कि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके अतिरिक्त आत्माका डील क्या बच रहता है, जिसको कि उपयोग नामक लक्षणका लक्ष्य बनाया जाय ! इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं कि अग्निका लक्ष्य हो जाता है। शाखाके बोज्ञसे वृक्ष दूर पड़ा है, देवदत्त दो पैरोंसे चलता है, इन्द्रत्त हाथो करके मुखमे खाता है, जिनदत्तको पिष्डताई शोमती है। यहा उन गुणों या अवस्थोंसे रोप बचा हुआ पिण्ड जैसे उद्देश्य या लक्ष्य हो जाता है। उसी प्रकार कुछ क्षायोपशिमक और कुछ क्षायिक भावोसे रोष बच रहे औपशिमक औदियक और पारणामिक भावोसे तदात्मक हो रहे जीवको लक्ष्य समझ लिया जाता है।

जीवस्योपयोगसामान्यमिह लक्षणं निश्चीयते इति शेषः, स द्विविध इत्यादिस्त्रेण तद्वि-शेषकथनात् । अष्टाभ्यो ज्ञानव्यक्तिभ्यश्चतस्धभ्यो दर्शनव्यक्तिभ्यश्चान्ये शेषा अष्टी क्षायोपश्च-मिकभेदाः सप्त च क्षायिकभेदाः परिगृह्यते । भावत्रयं पुनरौपश्चमिकौद्यिकपारिणामिकविकल्पं प्रत्येयं । शेषाश्च भावत्रयं च शेषभावत्रयं तदात्मा स्वभावो यस्य जीवस्य स शेषभावत्रयात्मा तस्य भावः शेषभावत्रयात्मत्वं तस्यतिह्यक्ष्यत्वसिद्धेः प्रतिपादितोपयोगव्यक्तिगतसामान्येन स्वक्ष-णत्वोपपत्तेरित्यर्थः ।

उक्त कारिकामें " छस्यत्य सिद्धितः, ऐसा हेतुपरक वाक्य होनेसे जीवका उपयोग सामान्य यहा छक्षण निश्चित हो रहा है । इस प्रकार प्रतिज्ञा वाक्य रोष रह गया है । अतः प्रतिज्ञावाक्य और हेतुको मिछाकर वाक्यार्थ कर छेना चाहिये । " स द्वितिधः " इत्यादि सूत्र कर के उस उपयोगके विरोषोंका कथन हो जानेसे जान छिया जाना है कि इससे पूर्व स्त्रमें किया गया जीवका छक्षण उपयोग सामान्य है । वार्तिक मे पूर्वार्द्धका विवरण हो चुका । उत्तराईकी ज्याख्या इस प्रकार है कि आठ संख्यावाछी ज्ञान ज्यक्तियोंसे और चारदर्शन ज्यक्तियोंसे भिन्न रोष बच रहे क्षायोपश्चिक आठ मेद और क्षायिक मावके सात मेद पकड़कर प्रहण कर छिये जाते हैं । अर्थात् वारह प्रकारके उपयोगमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्धय, कुमति, कुश्रुत, विभंग, ये सात ज्ञान और चश्चर्दर्शन, अचश्चर्दर्शन, अवश्चर्दर्शन ये तीन दर्शन इस प्रकार दश मेद तो क्षायोपश्चिक मावोंके हैं और केवछज्ञान, केवछदर्शन ये दो उपयोग क्षायिक मावोंमें गिनाये गये हैं । सम्पूर्ण अठारह क्षायोपश्चिक मावोंमेसे पूर्वोक्त दश मावोंका उपयोगमें परिम्म कर छेनेसे रोष पांच छिथ्यां, सम्यक्त्य चारित्र संग्रमासंयम ये आठ क्षायोपश्चिक कमाव बचे रह

जाते हैं। और नी क्षायिक भावोंमेंसे केवळबान और केवळदर्शन छे छिये गये तो कांच छिन्यां, सम्यक्त, चारित्र ये सात क्षायिक भाव शेष रह जाते हैं। तथा पुनः दो भेदवाले औपशमिक, इक्कीस भेदवाले औदियक, और तीन या अनेक विकल्पोंको धार रहे पारिणामिकभाव ये तीनों भाव समझ छेने चाहिये। शेष शब्द और भावत्रय शब्दों हा समाहार द्वन्द्वकर जिस जीवके क्षयोपशिमक और क्षायिकभात्रोंमेंसे रोष बच रहे पन्द्रहमात्र तथा औपरामिक, औदियिक, और पारिणामिक ये तीनों भाव तदात्मक होकर स्वभाव हो रहे हैं, वह शेष भावत्रयात्मा है, उसका भाव अर्थमें त्व प्रत्यय करने पर शेष भावत्रयात्मकपना अर्थ हो जाता है। वे शेष पन्द्रह्माव और औपशमिक आदिके छन्त्रीस-माव यों इकतालीस भावोंके साथ तदात्मक हो रहे उस जीवको इस उपयोग लक्षणका लक्ष्यपना सिद्ध है। भिन्न भिन्न समझा दिये गये बारह उपयोग न्यक्तियोंमें प्राप्त हो रहे सामन्य धर्मकरके उपयोगको लक्षणपना बन रहा है। यह वार्तिकका अर्थ है। भावार्थ-कारिकामे कहे गये शेष शब्दका। भाव-त्रयके साथ कर्मधारय समास नहीं करना चाहिये । किन्त द्वन्द्व समास कीजियेगा, यह श्रीविद्यानन्द-स्वामीका स्वोपन्न विवरण है। सम्यन्नान प्रमाण है, यह लक्ष्यलक्षणभाव एक ढंगका है, तथा अग्नि उष्ण है, सींग सासनावाली गों होती है, यह लक्ष्यलक्षणभाव दूसरे ढंगका है। यहां अग्निका उष्ण-पना रुक्षण करनेपर अग्निके शेष गुण या स्वभाव रुक्ष्यभूत माने जाते हैं। सींग और सासना (गलकंबल) को लक्षण मान लेनेपर शेष हाथ, पैर, पेट मस्तक पीठ, आदि अवयवोंको धार रही गाय छस्य हो जाती है। इसी प्रकार त्रेपन भावोंसे तन्मय होकर सद्मूत हो रहे जीव पदार्थके तदारमक बारह भाव तो लक्षण हैं । और इकतालीस भावोंका तदारमक पिण्ड हो रहा जीव पदार्थ लक्ष्य 🕏 । एक बात यह भी प्रन्थकार कह रहे हैं कि सामान्यरूपसे बारह उपयोगको हमने जीवका लक्षण कहा है, जिस जीवके जितने उपयोग सम्भव होय वैसा लक्षण घटित कर लेना । वैसे तो छग्नस्थ जीवोंके एक समयमें एक ही उपयोग सम्भवता है। हां, केवलज्ञानीके एक साथ दो उपयोग सव जाते हैं। यह भी युगपत्पना ज्ञानावरण दर्शनावरणोंका क्षय हो जानेसे कह दिया जाता है। वस्ततः सामान्य विशेषात्मक सम्पूर्ण पदार्थीको जान रहे केवल ज्ञानके चमकते रहनेपर महासत्ताका आलोचन करनेवाला केवलदरीन नगण्य है। एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय होनेका नियम सर्वत्र सर्वदा सबके लिये लागू है, केवलज्ञानी जीवका चेतना गुण भी उसी नियमके अनुसार परिणमेगा 1 तथा इकतालीस भावोंके पिण्डस्वरूप जीवको लक्ष्यपना भी सामान्यरूपसे कहा गया है। विशेष रूप से तो इकतालीस भातोंमें जितना भी जिस जीवके सम्भवने योग्य हैं, उतने भावोंके समदायासक जीवको छक्य बनाना चाहिये। जैसे बारहों उपयोगोंका एक जीवमें एकदा सद्भाव पाया जाना असम्भव 🕏. उसी प्रकार इकतालीसों भावोंका एकदा पिण्ड बन जाना भी असम्भव है। क्षायोपशसिक **बानका क्षायिक ज्ञान**के राथ जैसा विरोध है, वैसे ही औपशमिक सम्यक्तका क्षायिक स्म्यक्त्वके सार्य या क्षायोपशमिक चारित्रका क्षायिक लिन्नयोंके साथ विरोध है। उपयोगमें गिनाये गये



मनः पर्यय ज्ञानका लक्ष्य जीवके अवयव हो रहे उपराम सम्यक्त्वके साथ विरोध है। अतः क्रथेचित् भेद, अभेदको रखते हुये जीव और उपयोगका लक्ष्यलक्षणभाव सिद्ध कर दिया है।

एवं सूत्रद्वयेनोक्तं स्रक्षणं स्क्षयेत्ररं । कायाद्वेदेन संश्लेषमापन्नादपि तत्त्वतः ॥ २॥

इस प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराजने " उपयोगो रुक्षणं " और " स दिविघोष्टचतुर्भेद^{्रीक्} इन दो सूत्रों करके जीवका रुक्षण कह दिया है। परस्पस्में संसर्गको प्राप्त हो रहे भी शरीरसे वह रुक्षण वास्तित्रक रूपसे जीवका भिन्नपने करके परिचय करा देवेगा। अर्थात् पुरुक्तरच और जीवतरच दोनोंसे मिरुकर बने हुथे शरीरधारी जीवमें अनुभूत हो रहा उपयोग उस जीवको तास्विक रूपसे न्यारा न्यारा चिन्हा देगा। जैसे कि न्यारिया टांका मिर्ले हुथे सोनेको विशेष रुक्षण हारा सुवर्णपने करके न्यारा परख रुता है।

यथा जलानलयोः संश्लेषमापन्नयोरप्युष्णोदकावस्थायां द्रवोष्णस्वभावस्थाणं भिन्नं भेदं साधयति तथा कायात्मनोः संश्लेषमापन्नयोरिष सूत्रद्वयोक्तं स्वक्षणं भेदं स्वक्षयेत्सर्वत्र स्वक्षण-भेदस्यैव भेदन्यवस्थाहेतुत्वात् । तदभावे मतिभासभेदादेरभेदकत्वात् ।

जिस प्रकार कि अग्नि द्वारा उच्चा किये गये ततज्रककी अवस्थामें एकम एक संसर्गको प्राप्त हो रहे जल और अग्निका बहने योग्य पतलापन खभाव और उष्णखभाव ये दो भिन्न भिन्न लक्षण उन जल अग्नियों के भेदकों सार्थ देते हैं, तिसी प्रकार एकत्वबुद्धिजनक सम्बन्धरूप बन्धको प्राप्त हो रहे भी काय और आत्माका पूर्वोक्त दो सूत्रोंमें कहा गया रुक्षण, उनके भेदको मान प्रेरणापूर्वक चिन्हा देवेगा । सभी दार्शनिकोंके यहां लक्षण द्वारा किये गये भेदको ही भेदकी व्यवस्था करा देनेका हेतपना प्राप्त है । यदि किसीका वह छक्षण भिन्न भिन्न नहीं है तो ऐसी दशामें न्यारा ज्यारा प्रतिभास होना या न्यारे देशमें पहना आदि तो लक्ष्य पदार्थीका भेद करानेवाले नहीं हो सकते हैं। बात यह है कि जैन सिद्धान्त अनुसार उष्ण जलमें कोई अभितत्त्व और जलतत्त्व दो न्यारे न्यारे मिल रहे पदार्थ नहीं हैं । पौद्रालिक अग्निका निमित्त मिलनेपर जल ही उच्चा स्पर्शवाला बन जाता है । निमित्तके हट जानेपर कुछ देर पश्चात् अपेक्षाकृत शीतल हो जाता है। किन्तु चार्वाक या वैशेषिकके सिद्धान्त अनु-सार आचार्य महाराजने 'उनके सन्मुख उन्हींका दृष्टान्त धर दिया है। हां, दूधमें घुछे हुये पानीके समान अभिके कण तो जलमें घुल नहीं सकते हैं। क्योंकि जल और ईंधनकी अभि दोनोंमें क्य घातक बिरोध है। देखी समुद्रकी अग्नि बडवानलकी जाति न्यारी है। वह भी योग्य परिमाणमें जलको जलाती रहती है। और जल भी उसको बुझाता रहता है। पेटकी आग उदराग्निकी भी ऐसी अवस्था है। परायोंके नैमितिक परिणमनों की विचित्र पद्धति है। बहुमाग व्यक्तियोंको उचित पानी पी छेनेपर ही उदरामिहारा अन्नका अच्छा परिपाक होता है। दाल भी पानी डालनेपर सीझती है, सूखी दाल नहीं

पकती है। किसी अवसरपर विवादापन विषयको शीघ निवटानेके छिये आचार्य महाराज प्रतिवादियों में प्रसिद्ध हो रहे दृष्टान्तसे ही उनके सन्मुख अपने अभीष्ट तत्त्वको साध देते हैं। लक्षणके भेदसे ही लक्ष्यका भेद समझना न्यायमार्ग है। प्रतिभास के भेदसे लक्ष्योंका भेद नहीं हो सकता है। देखिये, दूरसे, निकटसे, अतिनिकटसे, देखनेपर एक ही वृक्षके अनेक प्रतिभास (ज्ञान) हो जाते है। एक ही अग्निको आगम, अमुमान, प्रत्यक्ष ज्ञानोंसे जाना जा सकता है। सादश्यवश या आन्तिवश अनेक लक्ष्योंका भी प्रतिभास कभी कभी भेदरहित हो जाता है। ऐसे ही देशभेद या कालभेद अथवा आकारभेदसे भी लक्ष्योंका भेद नहीं सच पाता है। एक देशमें वात, आतप, के समान अनेक पदार्थ ठहर जाते हैं। एक बांस या लम्बा विद्यार्थी कई काष्टासनोंको घर सकता है। एक कालमें अनेक पदार्थ वर्त्त रहे हैं। एक पदार्थ भी कालान्तरतक भ्यायी रह जाता है। आकारोंके भेदको लक्ष्यका व्यावर्त्तक माननेपर भी ऐसे ही अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार आते है। अतः प्रकरणमें जीवका लक्षण उपयोग साध दिया गया है।

के पुनर्जीवस्य भेदा इत्याह।

अब आगेके सूत्रका अवतार दिखानेके लिये श्री विद्यानन्द स्त्रामी संगतिको समझाते हैं। किसी शिष्यका प्रश्न है कि फिर यह क्ताओ कि उपयोग लक्षणको धारनेवाले जीवके भेद कितने है। ऐसी जिज्ञासाको प्रकट कर रहे प्रतिपाद्यके प्रति श्री उमाश्वामी महाराज समाधानके वचन कहते है।

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, काल परिवर्तन, भवपरिवर्तन, और भावपरिवर्तन, इन पांच प्रकारके संसारको धार रहे संसारी जीव और पांचो प्रकारके संसारसे छूट चुके मुक्त जीव इस प्रकार सामान्यरूपसे जीव दो भेदोंमें विभक्त हैं। अर्थात् — जीवके संसारी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीव बहुत यानी अक्षय अनन्तानन्त हैं तथा मुक्तजीव उन संसारिओसे यद्यपि अनन्तवे भाग स्वल्प हैं, फिर भी अनन्तानन्त गिनाये गये हैं।

जीवस्येत्यजुर्वतनाद्धेदा भवंतीत्यध्याहारः । आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवांतरा-वाप्तिः संसारः तत्संबंधात् संसारिणो जीवविशेषाः । निरस्तद्रव्यभावबंधा युक्तास्ते जीवस्य सामान्यतोभिहितस्य भेदा भवंतीति सुत्रार्थः । ततो नोपयोगेन छक्षणेनैक एव जीवो छक्ष्य इत्यावेदयति ।

द्वितीय अध्यायके प्रथम सूत्रमेंसे " जीवस्य " इस शद्धकी अनुवृत्ति कर छेनेसे संसारी और मुक्त ये दो भेद जीवके हो जाते हैं। इस प्रकार " भेदा " और " भवन्ति " इन शद्धोंका अध्याहार करते हुये अर्थ बन जाता है। अपने ही द्वारा उपार्जित किये आठ प्रकारके कर्मोंकी अधीनतासे आत्माकी अन्य अन्य भवोंमें प्राप्ति होना संसार कहा जाता है। उस संसारका सम्बन्ध हो जानेसे

अतन्तानन्त जीविश्येष संसारी बन रहे हैं तथा जिन जीवोंका पौद्रित्न द्रव्यवन्ध और राग, द्रेष, अञ्चान, मूर्ति, गुरु, लघुपना, आदि भाववन्ध अपने पुरुषार्थद्वारा अनन्तकालतकके लिये निरस्त कर दिया गया है, वे मुक्त हैं। इस प्रकार सामान्यरूपसे कह दिये गये जीवके ये दो भेद संसारी और मुक्त हो जाते हैं। यों सूत्रका अर्थ घटित हो जाता है, तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि उपयोग नामके लक्षण करके एक अद्देत जीव ही लक्ष्य नहीं है, किन्तु द्रव्यरूपकरके अनन्तानन्त संख्याको धार रहे जीव ही उपयोगकरके चीन्हे जाते हैं। इसी बातको श्रीविद्यानन्दस्थामी सम्पूर्ण विद्वानोंके सन्मुख निवेदन करें देते हैं, उसको समझ लीजियेगा।

लक्ष्याः संसारिणो जीवा मुक्ताश्च बह्वोन्यथा। तदेकत्वप्रवादः स्यात्स च दृष्टेष्टबाधितः ॥ १॥

इस उपयोगके प्रकरणमें मुक्तोंसे अनन्त गुणे बहुतसे संसारी जीव और बहुत अनन्तानन्त मुक्त जीव इस उपयोगके छक्ष्य हो रहे हैं । अन्यथा यानी उपयोग छक्षणसे व्याप्त हो रहे बहुत जीव न माने जाकर दूसरे प्रकारसे अद्वेत ब्रह्म ही माना जायगा तब तो उस जीव तत्त्वके एकपनका प्रवाद फैल जायगा, और वह ब्रह्माद्वेत वादियों द्वारा ढोल पीटकर प्रसिद्ध कर दिया गया आत्माके एकपनका प्रवाद तो दृष्ट्यमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्टप्रमाण अनुमान आदिसे बाधित हो रहा है।

संसारिण इति बहुत्वनिर्देशाद्धह्वो जीवा लक्षणीयास्तथा मुक्ताश्रेति वचनात्ततां न द्वंद्व-निर्देशो युक्तः संसारिमुक्ताविति । तिश्वर्देशे हि संसार्येक एव मुक्तश्रेकः परमात्मेति प्रवादः प्रसज्येत । न चासौ श्रेयान् दृष्टेष्टवाधितत्वात् ।

इस कारिकाका विवरण यों है कि गुरूणां गुरु श्री उमास्त्रामी महाराजने इस सूत्रमें संसारिणः ऐसा बहुत्व संख्याको कहनेवाछी जिस विभक्तिको धार रहे "संसारिणः " इस प्रकार बहुवचन शह स्वरूपका कथन किया है। इससे प्रतीत होता है कि एक नहीं किन्तु बहुतसे जीव इस उपयोग छक्षणसे छक्ष्य बनाने योग्य हैं। तथा " मुक्ताः " इस प्रकार बहुवचनान्त मुक्त शहका कथन करनेसे बहुतसे मुक्त जीव उस उपयोगके छन्य हैं, यह निर्णीत हो जाता है। तिस ही कारणसे छाध्य गुणका विचार कर " संसारी च मुक्ताश्व " यों दंद समास कर " संसारिमुक्तों " ऐसा सूत्र कथन करना श्री उमास्त्रामी महाराजको समुचित नहीं जचा। यदि अर्थको विधात करनेवाछी कोरी छघुताका विचार कर वह संसारी एक और मुक्त एक यों उन दो ही जीवोंका निर्देश किया जाता, तब तो नियमसे संसारी जीव एक ही है और मुक्त जीव परमात्मा एक ही है, इस प्रकारके प्रवादका प्रसंग प्राप्त हो जाता। किन्तु वह प्रवाद तो श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि उस सिद्धान्तमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोसे अनेक बाधायें प्राप्त हो रहीं हैं। उन्हीं बाधाओंको दिखाते हैं।

संसारिणस्तायदेकत्वे जननमरणकरणादिमतिनियमो नोपपचते । श्रांतोसाविति चेक, भवत इव सर्वस्य तद्श्रांतत्वनिश्रयमसंगात् । ममैव तिश्रथयस्तदिवद्यामक्षयादिति चेक, सर्वस्य तद्विद्यामक्षयमसंगात् । अन्यथा त्वत्तो भेदमसक्तिविरुद्धधर्माध्यासात् ।

देखी, पहिले कहे गये संसारी जीवको यदि एक ही माना जायगा तो जन्म लेना मरण करना, आदिका प्रत्येक आत्मामें नियम हो रहा नहीं बन सकता है । अर्थात्—देवदत्तका जन्म हुआ है भनदत्तने मरण किया है, इन्द्रत्त अपनी आंखोंसे देखता है, जयचन्द्र अपने मनमें विचारता है, एक पण्डित है, दूसरा मूर्ख है, तीसरा नीरोग है, चौथा सुखी है, इत्यादिक प्रत्येक प्रत्येक जीवकी नियत हो रही व्यवस्थायें नहीं बन सकती हैं । जैसे कि आकाशको सर्वथा एक माननेपर अनेक द्रव्योंमें सम्भवनेवाले अनेक विरुद्धधर्म उसमें नहीं ठहर पाते हैं। संसारी जीवोंको एक ही जीव मान छेनेपर एकके उपज जानेपर सबका जन्म हो जायगा और एकके मर बानेपर सब मर जायेंगे । एकके पण्डित, सुखी, पुर्ह्विग, क्रोधी, तत्त्वज्ञानी, बन जानेपर सभी पण्डित आदि बन बैठेंगे। भेदभाव मिट जायगा। यदि एक ही संसारी जीवको माननेवाला पण्डित यों कहे कि वह जन्म, मरण, आदिका प्रतिनियम करना तो म्रान्त है, जैसे स्वानके व्यवहार भान्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंके वह प्रतिनियम यदि भान्त है तो आपके समान सभी जीवोंको उसकी भान्तताका निश्चय हो जाना चाहिये। जैसे कि सर्यविमान या चन्द्रविमानके अल्पपरिमाणको विषय करनेवाले ज्ञानका स्नान्तपना सत्रको निर्णीतं हो। रहा है। स्वप्नकी विकल्पनाओंको सभी जीव भ्रान्त माननेके लिये उद्युक्त है। किन्तु जन्म, मरण, बुढापा, युवावस्था, मनुष्य, पञ्च, आदि प्रतिनियत अवस्थाओंको आप अद्वैतवादी भले ही भ्रान्त कहते फिरें, किन्तु सभी विद्वान् तो उसके भ्रान्तपनका अनुभव नहीं कर रहे है। यदि तुम अद्दैतंबादी यों कही कि सभी विद्वानोंकी उस प्रति नियमके म्रान्तपनके निश्चयका प्रसंग यों नहीं आता है कि उनको अविद्या लगी 🌿 है। सभी बालक अपने अपने डण्डेमें घोडा जाननेकी स्नान्तिको असम जान बैठे हैं। हां, अविदाका प्रकृष्ट क्षय हो जानेसे मुझे अद्वेतवादीको ही उन विशेष व्यवस्थाओं के भारतपनका निश्चय हो सका है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, जब कि आत्मा एक 🐯 है तो तुम्हारे समान सभी जीवोंको उसमें हो रही अविद्याके प्रकर्षरूपसे क्षय हो जानेका प्रसंग हो जायगा । अन्यया यानी तम अपनेमें तो अविधाका क्षय मानो और दूसरोंके अविधाका प्रक्षय न ंमानो इस अन्य ढंगसे तो तुमसे उन अन्य जीवोंको भिन्न हो जानेका प्रसंग आया। क्योंकि विरुद्ध धर्मीका अधिकार हो जानेसे भेद होना ही चाहिये । तुममे अविद्याका प्रत्यक्ष है और अन्य सब जीवोंमें अविद्या घुस रही है । यह १पष्टक्षपेसे विरुद्धधर्म . अधिकार किये बैठे हैं। जो अनेक आत्माओंका मिलपना साथ देंगे। तुम बालक नहीं हो. इस बातको स्वयं विचार सकते हो ।

ममाविद्यामक्षयो नान्येषामित्यप्यविद्याविस्तिस्तेषेत्रेति चेत् , सर्वोष्येवं संप्रतिपद्यते तवैद्य इत्थं प्रतिपत्तौ परेषामप्रतिपत्तौ तु न कदाचिद्विरुद्धधर्माध्यासान्युच्यते । ततोयं प्रत्यात्य-दृष्ट्रमात्मभेदेन वाधितः संसार्यात्मैकत्ववादः ।

यदि अद्देतवादी यों कहें कि मैं जो यह मान रहा हूं कि मेरे ही अविद्याका प्रक्षय हो रहा है, अन्य जीवों के अविद्याका प्रक्षय नहीं है, सच पूछो तो यह भी अविद्याका विख्यस ही हुआ कहना चाहिये। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि क्योंजी, जब कि सभी संसारी जीव एक ही हैं तो सभी जीव इस प्रकार भटा समझ बैठेंगे कि मुझे ही अविद्याका प्रक्षय हो गया है। अन्योंके नहीं। यह अविद्याकी चेटा है। किन्तु हम देखते हैं कि तुम्हारे विचार अनुसार कोई भी जीव ऐसा नहीं समझ बैठा है, और जब कि तुमको ही इस प्रकारकी प्रतिपत्ति हो रही है, अन्य जीवोंके तो ऐसा विश्वास नहीं हो रहा है, तब तो आप कभी भी विरुद्ध धर्मोंके आरुद्ध हो जानेसे नहीं छुटी पा सकते है। भावार्थ—तुम्हारी आत्मामें ही यह श्रद्धा जम गयी है कि किसी जीवके अविद्याका क्षय जीर किसी जीवके अविद्याका क्षय नहीं, यह सब भेदव्यवहार अविद्याका ही नमन्द्रत्य है। वास्तविक नहीं है। किन्तु फिर दूसरी आत्माओंमें ऐसी अन्यश्रद्धा हो रही नहीं देखी जाती है। अतः यही तो आत्माओंमे परस्पर भेदके साधक हो रहे विरुद्ध धर्मोंका अधिकार जमा छेगा है। तिस कारणसे प्रत्येक आत्मामें स्वसचेदन प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा रहे आत्माके विभिन्नपनेकरके यह सम्पूर्ण संसारी आत्माओंके एकपनका पक्ष परिष्रह करना बाधाग्रसित हो जाता है। यहांतक कारिकामें कहे गये क्षिर वाधित वना रहे है।

तथेष्टेनापि प्रतिपाद्यप्रतिपाद्कभावादिनेति पद्रितिपायं।

तिसी प्रकार अद्देतवादियोंका यह संसारी आत्माओंके एकपनका सिद्धान्त इष्ट हो रहे प्रतिपाच प्रतिपादक भाव, पितृपुत्रभाव, आदि करके भी बाधा प्राप्त हो जाता है। इस बातको कई बार बढिया ढंगसे पिहले प्रकरणोंमे हम दिखला चुके हैं। अर्थात्—कोई समझाये जाने योग्य शिष्य है, दूसरा समझानेवाला गुरु है, एक राजा है, दूसरा प्रजा है, संसारमें एक जीव न्याय करनेका अधिक कारी है, दूसरा अपराध करनेवाला अभियुक्त है, इत्यादिक रूपसे इष्ट हो रहे भेदभावसे वह संसारी जीवोंके एकपनका कदाग्रह बाधित हो जाता है। अनेक अनुमान या युक्तियोंसे भी उक्त एकपनेमें बाधायें प्राप्त हो जाती हैं।

तथा मुक्तात्मनोप्येकत्वे मोक्षसाधनाभ्यासंवैफल्पं, ततोन्यस्य मुक्तस्यासंभवात् । संभवे वा मुक्तानेकत्वसिद्धिः । यो यः संसारी निर्वाति स स परमात्मन्येकत्र स्त्रीयत इत्यप्यमुक्तं, तस्यानित्यत्वप्रसंगात् । तथा च कृतस्नस्तदेकत्वप्रवादः इत्यसाविष दृष्टेष्टवाधितः ।

जैसे संसारी जीवोंके एकपनका पक्ष पकड ेला प्रमाणोंसे बाबित है, तिसी प्रकार मुक्त आत्मको एकपना मानने पर भी मोक्षके कारणोंका अन्यास करना विफल पड़ेगा। क्योंकि उस अन्यास करनेवाले जीवसे अन्य हो रहे मुक्तारमाका असम्भव है। वह विचारा किसके लिये व्यर्थ परिश्रम उठावे। जो बम्बईमें बैठा है वह बम्बई जानेका कष्ट क्यों उठाने लगा ? फिर भी मुमुक्ष जीवसे मुक्त जीवको यदि न्यारे होनेकी सम्भावना करोगे ते अनेक मुक्तात्माओंकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात-मुक्तात्मा जब एक ही है और दूसरा कोई मक्त हो नहीं सकता है तो ऐसी दशामें कोई उदासीन जीव मोक्षके साधन बन रहे स्वाध्याय, दीक्षा, तपस्या, ध्यान, आदिका अभ्ास क्यो करेगा ! यदि श्रवण, मनन, आदि द्वारा चाहे किसी जीवके मुक्तिके साधनोंका अभ्यास करना मान लिया जायगा तो ऐसी दशामें असंद्य जीव मुक्तिके साधनींको साधते हुये मुक्त हो जायंगे और यही मुक्तोंकी अनंतसंख्या मानना जैन भिद्धान्त है। कितनी ही कठिन परीक्षा क्यों न हो, यदि उसका पठनक्रम बना हुआ है और अध्यापक, विद्यालय, आदिका समुचित प्रबन्ध है, तब वर्षमें एक सहस्र या बारहसी सोलहसी विद्यार्थी तो परीक्षा देकर उत्तर्णि हो ही जायंगे । अभ्यासी, ज्ञानवान्के लिये कोई काम असम्भव नहीं है । यदि अद्वेतवादी यों कहें कि जो जो संसारी जीव मुक्तिके साधनोंका अभ्यास करता हुआ निर्वाणको प्राप्त हो जाता है वह वह जीव परमब्रह्म एक अहैत आत्मामें लीन हो जाता है, जैसे कि घट उपाधिके फूट जानेपर घटाकाश महान् आकाशमें लयको प्राप्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना भी युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि यो तो उस मुक्त जीत्रके अनित्यपनका प्रसंग आयेगा। अनादि काळसे चले आरहे अन्माका मुक्त हो जानेपर खोज मिट जायगा अतः आत्माके मुक्त अवस्थामें सर्वथा नए हो जानेमे अनित्यपनकी आपत्ति हुई । इससे तो पहिले सुख, दुःख, कैसी भी अवस्थामे जीवित बना रहना कहीं अच्छा था । कौन विचारशील पुरुष अपना खोज खो देनेके लिये ऐसी प्रलयकारिणी मुक्तिकी अभिलाषा करेगा ! करोडों, असंख्यों, रुपयोंका पारितोषिक देनेपर भी कोई दरिद्रानिद्रिर जीव भी अपना जीवन अपण करनेके लिये उचक नहीं होता है। क्योंकि पारितोषिकका भोग भोगनेके छिये उसका जीवन ही नहीं रहा। तिस कारणसे सम्पूर्ण मुक्त जीवोंके उस एकपनका प्रवाद बकते रहना यों वह भी सिद्धान्त विचारा दृष्ट और इष्ट प्रमाणोंसे बाधित हो जाता है।

यदि पुनः संसारिम्रका इति इन्द्रो निर्दिश्यते तदाप्यर्थीतरप्रतिपत्तिः पसञ्येत संसारिण एव मुक्ताः संसारिम्रका इति, तथा संसारिम्रुक्तैकत्वमवादः स्यात् स च दृष्टेष्टवाधितः, संसारिणां मुक्तस्वभावानाश्रयसंवेदनात् संसारित्वेनैवानुभवात् मुक्तिसाधनाभ्युपगमविरोधाच मुक्तस्यापि संसार्थात्मकत्वापच्युतेः ।

यदि फिर कोई यों कहे कि " संसारिमुक्ती " यों इन्द्र करनेपर तो सभी संसारी जीव एक और सभी मुक्त जीवोंके एक हो जानेका प्रसंग आता है। किन्तु " संसारिमुक्ताः " ऐसा सूत्र कर

देनेपर तो संसारी और मुक्त जीवोंका बहुपना रक्षित हो जाता है। ऐसी दशामें पांच स्वरबाले वर्णीका सूत्र न बनाकर श्री उमास्त्रामी महाराजने सात स्वरीवाले वर्णीका बढा सूत्र क्यों बनाया ? सूत्रकारको न्यूनसे न्यून शब्दोंके कथनका सर्वदा विचार रखना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि " संसारिणस मुक्ताश्च इति संसारिमुक्ताः '' अनेक संसारी और अनेक मक्त जितने भी अनन्तानन्त जीव हैं वे सब " संसारिमुक्ताः " कहे जाते हैं। इस प्रकार यदि द्वन्द्वसमासका निर्देश किया जायगा तो भी एक निराष्टे अर्थकी प्रतिपत्ति हो जानेपर प्रसंग बन बैठेगा । संसारी ही मुक्त है यों कर्मधारय समास द्वारा एक विरुक्षण अर्थ ही निकल सकता था जो कि सिद्धान्तमुदासे अनिष्ट है। संसारी ही जीव सो उसी समय मुक्त नहीं हैं । विद्यार्थी मण्डलको गुरुसंघ कहना या पशुसमुहको नरेशमण्डल कहना जैसे अलीक है, उसी प्रकार संसारी जीवोंको ही मुक्तजीव कहना अनिष्ट पडेगा। और तिस प्रकार दौनोंको एक मान छेनेपर शुद्धाद्वेत बादियोंका संसारी और मुक्त जीवोंके एकपनका पक्ष पकडना बन बैठेगा । किन्तु वह एकत्वका प्रवाद तो दृष्ट और इष्ट प्रमाणोंसे बाधा प्राप्त हो रहा साधा जा चुका है। फिर भी उस बाधाको सुन लीजियेगा । घोडा, गाय, स्त्री, पुरुष, आदिक संसारी जीवोंको अपनी अपनी आत्मामें मुक्तस्वभावके आश्रयरहितपनेका स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष हो रहा है, जैसे किसी रोगी या दरिद्रको स्वयं स्वस्थपने या सेठपने का अनुभव नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा हुई। तथा संसारी जीवोंको ही यदि मक्त मान लिया जायगा तो मोक्षके उपाय हो रहे श्रवण, मनन, तत्त्वहान, संन्यास आदिके स्वीकार करनेका विरोध हो जायगा । पाठशालामें प्रवेश करते ही विद्यार्थी यदि महान पण्डित हो जाता है तो परदेशनिवास, कुट्म्बी जनोंका परित्याग, घोषण, अनुमनन, जागरण, भोगोपभोगमें उदासीनता आदि साधनोंका मिलाना भला कौन चाहेगा ? यह इप्टविरोध हुआ। दूसरी बात यह है कि संसारी और मुक्तोंके एकपनके सिद्धान्तमें मुक्तजीवोंका भी संसारी आत्मकपना कथमपि छूट नहीं सकता है, जैसे ि विद्यार्थी और पण्डितके सर्वथा एक हो जानेपर महान् पण्डिताका भी अ आ इ ई पढना या '' अ इ उ णु '' '' ओचे कोयणु '' की रटन्त लगानेसे पिण्ड नहीं छूट सकता है। नमस्करणीय आचार्य महाराज महान उपकारी पुरुष हैं। शिष्योंको विश्रष्टम्भ न होकर मुळभतासे सुखपूर्वक स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय इसलिये उन्होंने समासवृत्तिको नहीं कर '' संसारिणो मुक्ताश्व " ऐसा असन्देहार्थ सूत्र कह दिया है। कण्टकाकीर्ण और हिंसक प्राणियुक्त मार्गको एक दिनमें पूरा कर छेनेकी अपेक्षा सुखपूर्वक निरुपदव मार्ग द्वारा दो दिनमें इष्ट स्थानपर पहुंचना बहुत अच्छा है। निरापद पद्धतिका अन्वेषण करो ।

संसारिम्रक्तमिति द्वंद्वनिर्देशेषि संसार्येव मुक्तं जीवतत्त्वमित्यनिष्टार्थमतीतिमसंगात् तदेकत्व-मबाद एव स्पात्, स च रष्टेष्टवाधित इत्युक्तं ।

संसारी और मुक्त इन दो पदोंका समाहार इन्द्र कर देनेसे " संसारिमुक्तं" इस प्रकार इन्द्र-समास द्वारा कथन करनेपर भी संसारी जीव ही मुक्त जीवस्वरूप तत्त्व है, इस प्रकार नहीं अभीष्ठ हो रहे अर्थ की प्रतीति हो जानेका प्रसंग आजानेसे वह का वही दोनों जीवोंके एकपन का कुल्सित आपह ही पुन: उपस्थित हो जायगा और वह एकरन पक्ष तो हट और इष्टसे बाधित है, इस बातको हम दो, तीन, वस कह जुके हैं। छाघनका निचार कर यदि संसारी और मुक्त इन दो पर्दोका हंद्र किया जाता तो अक्ष्यअक्षर और पूज्यपना होनेसे मुक्त शद्धका पूर्व निपात हो जानेपर " मुक्तसंसारिणः " ऐसा पद कन जाता। और ऐसी दशामें छोड़ दिया है संसार जिसने वह मुक्त संसार स्वरूपमान है, और तदिक्षि मुक्त जीवोंको ही उपयोग सहितपना प्रात होता। शेष उन मुक्तोंसे अनन्त गुणे संसाकी जीव क्षूट जाते। अतः " रपष्टवक्ता न वंचकः " इस नीतिक आधारपर श्री उमास्वामी महाराजने इष्ट अर्थकी होती जलानेवाले समासके झगड़ेमे न पडकर न्यारे न्यारे पदोंबाला सूत्र रच दिया है।

च शहोनर्थक इति चेन्न, इष्टविशेषसधुचयार्थत्वात् । नासंसारिणः सयोगकेविष्ठनः संसारिनोसंसार्यसंसारित्वच्यपेतास्त्वयोगकेविष्ठनोभीष्टास्ते येन समुचीयंते । नोसंसारिणः संसारिण एविति चेन्न, ते । संसारिवैधम्बीद्भवांतरावाप्तरभावात् । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादः कषायाणां संसारकारणानामभावान् । न चवमसंसारिण एव ते, ये।गमात्रस्य संसारकारणस्य कमीगमनहेतोः सद्भावात् । क्षीणकषायाः संयोगकेविष्ठवन्नासंसारिण एविति चन्न किंचिदनिष्टं ।

किसीको शंका है कि इस सूत्रमें च शद्ध व्यर्थ है। क्योंकि प्रथानिभक्तित्राले बहुतचनान्त दें। पर्ने का निर्मा निर्मा कर देनेसे ही संसारी और मुक्त जीवोंमें अर्थभेद सिद्ध हो जाता है। अब आनार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । कारण कि इष्ट हो रहे विशेष आत्माओंका समुद्रय करनेके किये सूत्र-कारने च शह्नका प्रयोग किया है। समुचय, अन्याचय, इतरेनरयोग, समाहार, इस प्रकार चकारकी अर्थक्रीकडीमेंसे यहां च का अर्थ समुखय पकडा गया है। जिन जीवोंका संसारमें निवास अत्यल्प शेष रह गया है, अन्तर्भृहत्ते अधिक आठ वर्षसे कमती एक कोटि पूर्व वर्ष इतना अधिकसे अधिक संसार शेप है, ऐसे तेखे गुणस्थानवर्ची सथोगभेवली भगवान् नोसंसारी जीव हैं। गर्भके नौ मास मिळाकर आट वर्षका अर्थ पीने नौ वर्ष करना चाहिये । <u>भोगभूमियों में मनुष्यों के</u> उन्नेतास दिनमें सम्यक्त हो सकता है और भोग नूमिके तिर्यनों के सात आठ दिनमें सम्यक्त हो सकता है। इसमें भी गर्भवास के दिन और जोड छेने चाहिये। इसी प्रकार कर्मभूमिके तिर्यचमें अह महीने पश्चात् सम्यक्त्व या वतधारण करनेकी योग्यता हो जाती है। यहां भी गर्भके दिनोंको अधिक जोड लेना चाहिये। कई प्रन्थोमें मनुष्य तिर्थचों के आठ वर्ष या उनचास दिन और छह महीने का सात आठ दिन छिख दिये है। उनमें गर्भके दिनोंको जोडनेकी विवक्षा नहीं की गयी है। किन्त उनका जोडना आवश्य क है । तथा पहिले गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान या बारहवें गुणस्थानतकके संसाध जीव और तेरहर्वे गुणत्थानवर्ता नोसंसारी जीव तथा संसारीपनेसे सर्वथा छूट गये सिद्धजीव इन तीनों मुकारको जीवोंसे रहित हो रहे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली जीव भी तो हमें अभीक

🝍 । वे तरहवें. चौदहवें. गणस्थानवर्ती जीव जिस च रान्द करके संमुख्य प्रस्त कर छिये जाते हैं । अतः वह " चं " शब्द सार्थक है। यहां कोई कहै कि ईपत् संसारको पारनेवाळे तेरहवें गुणस्थान बती नोसंसारी जीव ती संसारी ही हैं। जबतक कोई जीव संसारमें ठहरेगा उसका संसारी जीवीमें अन्तर्भीव किया जायगा, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन सयोग नेवर्लियोंका पैच-परिवर्तन करनेवार्छ संसारीजीवींसे विधर्मपना है। कारण कि संसारीजीव तो अनेक दूसरे दूसरे भवींको प्राप्त हीते रहते हैं। किन्तु सयोगकेवली जीवोंको पुनः दूसरे भवकी प्राप्ति होना रूप संसारका अभाव है। ऐसी दशामें उनको संसारी कहनेमें जी हिचकिचाता है। खात, चने, रुंड्डे, सब एक कोटिमें नहीं गिने जाते हैं। संसारके कारण हो रहे मिथ्यादर्शन, अविरेति, प्रमाद, कर्पाय, इनका स्थीग केवलियोंमें अभाव है। इन चारोंकी सहायताके विना केवल योग विचारा एक समर्थ स्थितिको रखनेवाले सात।वेदनीय कमें मात्रका आस्त्रव करता है, जो कि अकिचित्कर है। यदि यहाँ कीई यों कह बैठे कि जब सयोग केवलीके अन्य भवेंकी प्राप्तिरूप संसार नहीं है और संसारके मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, और कषाय ये चार कारण भी नहीं हैं, तब तो इस प्रकार वे संयोगकैवली असंसारी ही हो गये । प्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं उठाना चाहिये । क्योंकि विशेषस्वर्धि सैमारका कारण हो रहे और कमेंकि आगमनका हेतु बन रहे केवळ योगका सद्भाव सयोगकेवळीके पाया जाता है। उस योगके द्वारा शरीर, भाषा और मनको बनानेके उपयोगी नौकर्मद्रव्यका और साता वेदनीय अर्म मा अतिक्षण आगमन होता रहता है । अतः संसारी और असंसार (सिद्ध) दोनी प्रकारके जीयोंसे रहित तेरवें गुणस्थानवाले जीव नोसंसारी हैं। यहां पुनः किनीका कटाक्ष है किं क्षपक श्रेणीयालोंको छोडकर ग्यारहवे गुणस्थानतक है जीव भले ही संसार परिश्रमण करते हुये संसारी कहै जांय, किन्तु जिनकी कषायें क्षयको प्राप्त हो चुकी है, ऐसे बारहवें गुणस्थानवंती जीव तो सर्वोगकेविष्टेरोंके समान नोसंसारी ही कहे जांयगे। तुम जैनोंको अभीष्ट हो रहे नोसंसारीपनके र्जकाणका क्षीणकपाय जीवोंमें सद्भाव है। संसारके चार प्रधान कारणों और अन्य भवोंकी प्राप्तिका उनके अभाव है। आचार्य कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमको कुछ अनिए नहीं पडता है। मेळे ही बारहवें गुणस्थानवालोंकी भी नोसंसारी कइ दो | उनका भी च शब्द करके समुचय कर लियां जायगा । " बांछादपि हितं प्राह्म युक्तियुक्तं मनीषिभिः " इन नीतिके अनुसार किसीकी भी युक्तिपूर्ण बॉलंकी मामनेके लिये हंग सकद हैं।

अयोगकेविलनो मुक्ता एवेति चेका, तेषां पंचाशीतिकर्ममकृतिसद्भावात, कृत्स्वकर्म-विममोक्षाभावादसंसारित्वायोगात्। न चैवं ते नोसंसारिणः केविलनः संसारिनोसंसार्य-संसारित्वण्येताथायोगकेविलनो द्दीष्टास्ते संसारकारणस्य योगमात्रस्याप्यभावात् तत एवं नं संसारिणर्स्तित्वर्यय्यपेतास्तुं निश्चीयते।

कोई पण्डित यहां आक्षेप करता है कि चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवळी भगवान् तो मुक्त ही हैं। अ इ उ ऊ ॡ इन पांच छघु अक्षरोंका जितने कालमें उचारण होय उतने ही कालतक संसारमें ठहरना तो कोई ठहरना नहीं है। अतः अयोगकेवलीयोंका मक्तोंमें ही अन्तर्भाव करलेना चाहिये । पंचपरिवर्तनरूप संसारका और संसारके कारण योगतकका भी उनके अभाव है । विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन अयोगकेवलियोंके पिचासी कर्म प्रकृति-योंका सद्भाव है। अतः सम्पूर्ण कर्मीका विप्रमोक्ष हो जाना रूप मुक्तिका अभी अभाव हो जानेसे चीदहर्वे गुणस्थानवालोंको असंसारीपन यानी मुक्तपनका अयोग है। सम्पूर्ण प्रकृतियां एकसी अडता-डीस हैं। उनमें आधीसे अधिक प्रकृतियां चौदहवें गुणस्थानमें आत्माको परतंत्र कर रही हैं। धातिया कर्मोंकी सैतालीस प्रकृतियां तो बारहवें गुणस्थानके अन्ततक नष्ट हो चुकी हैं। तिनमें क्षायिक सम्यक्त्वको प्रहण करते समय चौथेसे सातवें गुणस्थानतक कहीं भी चार अनन्तानुबन्धियोंका विसंयो-जन और तीन दर्शनमोहनीयका क्षय हो जाता है और नवमें गुणस्थानमें स्यानगृद्धित्रिक, अप्रत्या-रन्यानावरण चार, प्रत्यारन्यानावरण चार, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह नो कषाय, पुरुषवेद, और संज्वलन तीनका क्षय हो जाता है। दशवेंमें लोभ नष्ट हो जाता है। बारहवेंमें **बानावरण पांच, द**र्शनावरण चार, अन्तराय पांच, निद्रा, प्रचला, इन सोलह प्रकृत तियोंका क्षय हो जाता है। चरमशरीरी जीवके नरक आयु तिर्य हो और देवायका सद्भाव ही नहीं है। नामकर्मकी तेरह प्रकृतियां नवमें गुगस्थानके पहिले भागमें क्षयको प्राप्त हो जाती हैं। अतः नामकर्मकी शेषप्रकृतियां पाच शरीर, पांच वंधन, पांच संघात, छह संस्थान, छह संहनन, तीन अंगोपांग, आठ स्पर्श, पांच रस, दो गंध, पांचवर्ण, स्थिरद्विक, श्रुभद्विक, स्वरद्विक, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, प्रशस्त विद्यायोगति, अप्रशस्त विद्यायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशस्त्रीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छुास, इस प्रकार ये सत्तर प्रकृतियां और वैदनीयकर्मकी दोनोंमेंसे अनुदय रूप एक, तथा नीचगोत्र ये बहत्तर प्रकृतियां अयोगकेक्छीके दपान्त्य समयमें नष्ट होती हैं और अयोग नेवलीके अन्त समयमें वेदनीयकी कोई एक तथा नाम कमैकी मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थेकर, मनुष्यगत्यान-पूर्व, ये दस प्रकृतियां, आयुओंमें मनुष्य आयु तथा उच्चगोत्र इस प्रकार तेरह प्रकृतियां अन्त समयमें छटती हैं। इस ढंगसे अयोगियोंके पिचासी प्रकृतियोंका सद्भाव माना गया है। अतः वे मुक्त जीवोंमें नहीं गिने जा सकते हैं। फिर भी कोई यों कहे कि इस प्रकार होनेपर तो सयोगकेविध्यें समान बे अयोगकेवली भी तो संसारी गिन लिये जांय । चौथी जातिके जीवोंको माननेकी क्या आवश्यकता है ! आचार्य कहते हैं कि यह विक्षेप नहीं डाल सकते हो । क्योंकि संसारीपन, नोलंसारीपन और असंसारीपन, (सिद्धत्व) इन तीन जातियोंसे रहित हो रहे चौथी जातिवाले वे अयोगकेवली भग-**अ**न् अभीष्ट किये गये हैं। संसारके कारण हो रहे के कुछ योगका भी अभाव हो जानेसे वे तेरह दें

गुणस्थानवर्ती भगवान् नोसंसारी जीवोमें नहीं गिने जा सकते हैं। तथा तिस ही कारणसे यानी संसार और संसारके पांचों कारणका अभाव हो जानेसे वे अयोगी महाराज संसारी भी नहीं हैं। हां, उन संसारी, नोसंसारी और असंसारी इन तीनों जातिके जीवोंसे पृथग्भूत हो रहे तो वे निश्चय किये जा रहे हैं। अतः च शह करके विशेष रूपसे इष्ट हो रहे तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती (बारहवें गुणस्थानवर्त्ती जीवोंका समुचय हो जाता है। "न कर्मधारयः स्यान्मत्त्वर्धीयो बहुनीहिश्चेदर्थमितपत्तिकरः" यह परिभाषा अनित्य है। अतः असंसारी और नोसंसारी ये शह भी साधु समझे जाय।"

तथान्ये वर्णयंति—मुक्तानां परिणामांतरसंक्रमाभावादुपयोगस्य गुणभावपदर्शनार्थे च श्रद्धोपादानमिति, तस्र बुध्धामद्दे तेषां नित्योपयोगसिद्धेः पुनरूपसंद्दारप्रादुर्भावाभावात् । तत्रोपयोगन्यवद्दाराभावात् गुणीभूतोत्र तूपयोग इति चेति ।

तथा श्री अकलंकदेवके सिद्धान्त अनुसार अन्य दूसरे पण्डित यो वर्णन करते हैं कि मुक्त जीवोंके अन्य दूसरे दूसरे परिणामोंका संक्रमण होता नहीं है। इस क्रमण उन मृक्तोंके गौणरूपसे उपयोगका सद्भाव बढिया दिखलानेके लिये श्री उमास्त्रामी महाराजने इस सूत्रमें च शद्धका प्रहण किया है। अर्थात् - संसारी जीवोंके तो दर्शनोपयोगके पश्चात् ज्ञानोपयोग या चाक्षषप्रत्यक्षके पीछे रासनप्रत्यक्ष और उसके भी पीछे श्रुतज्ञान इत्यादिरूपसे एक उपयोगको बदल कर दूसरे उपयोगमें लग जाना घटित हो जाता है। तभी तो मेरा इस पदार्थमें उपयोग लगा हुआ है, अमुक पदार्थमें उपयोग नहीं लगता है, मनिजन आत्मतत्त्वमें बहुत देरतक उपयोग लगाये रहते हैं, आखें ख़ुली रहते हुये भी उसकी ओर उपयोग न होनेसे मैं उस पुरुषको नहीं देख सका, न्याय प्रन्थोंक पढनेमें उपयोग लगाओ, इत्यादिक व्यवहार प्रसिद्ध हो रहे देखे जाते हैं। किन्तु केवलज्ञानी मुक्त जीवोंके किसी उपयुक्त दशाको छोडकर अन्य दूसरे पदार्थमें उपयोग लगता नहीं है। त्रिलोक त्रिकाल-वर्ती पदार्थ सर्वदा उनके ज्ञानमें झलकते रहते हैं। ऐसी दशामें कहांसे हट कर उपयोग कहां दसरे विषयमें लगे ? विद्यमान स्थानोंपर सर्वत्र व्याप रहा आकाश यदि जावे भी तो कहांसे खिसक कर कहां जाते ! इसी प्रकार एक विषयको छोडकर दूसरे विषयको पकडनेवाला मुख्य उपयोग केवल-**क्रानियोंमें नहीं माना गया है।** अतः मुक्तजीयोंके उपयोगकी गौणता दिखलानेके लिये व्यवच्छेदक च शद्ध सूत्रमें डालना आवस्यक है. यों कह चुकनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि उस अकलंकदेवके रहस्यको हम नहीं समझ रहे हैं। उन मुक्तजीवोंके नित्य ही उपयोगकी सिद्धि हो रही है । पुनः पुनः न्यारी जातिके उपयोगोंका निकटवर्ती संहार या प्रादुर्भाव नहीं होता है । एकसा सदा चमक रहा केवळज्ञान वर्त्त रहा है। उसमें लोकप्रसिद्ध हो रहे उपयोगके व्यवहारका अभाव है। अतः इन मुक्त जीवोंमें तो उपयोग अप्रधानभूत बना बनाया है। इसके छिये च शहकी आवश्यकता नहीं दीखती। व्यर्थ होकर भी च शब्द इस अप्रकृत अर्थका ज्ञापन नहीं कर सकता है। जैसे कि

एक अर्थमें अपनी चित्तवृत्तिका निरोध कर लेना ध्यान है। छग्नस्थ जीवोंमें यह ध्यान मुख्यरूपसे वट जाता है। इधर उधर अनेक स्थानोंपर चिन्ताको फैंकनेवाला जीव पुरुषार्थद्वारा कुछ देरतंक मानसिकं प्रवृत्तिको यहां इहांसे हटा कर वहीं एक पदार्थमें मनको ठहरा सकता है। किन्तु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जीवन्मुक्तके ध्यान मानना उपचार मात्र है। तिस ही प्रकार उपयोगकी प्रवृत्ति भी मुक्तोंमें गीणस्थ मानी गयी है। इस विषयकी व्याख्यान द्वारा विशेष प्रतिपत्ति हो जाती है। च शद्ध तो अपने चार अर्थोंमेंसे किसी एक अर्थका चोतक हो जाता है।

संसारिग्रहणमादौ कुत इति चेत् , संसारिणां बहुविकल्पत्वात्तत्पूर्वकत्वान्धुक्तेः । स्वयं-वेद्यत्वाचेत्येके, उत्तरत्र प्रथमं संसारिप्रपंचप्रतिपादनार्थे चेत्यन्य ।

यहां किसीकी शंका है कि बताओ, सूत्रमें संसारी जीवोंका प्रहण आदिमें किस कारणसे किया गया है ? इन्द्र समास न होते हुये भी न्यारे न्यारे परोंका उच्चारण करो तों भी पूज्यंजीव माने गये मुक्तोंका पहिले निर्देश करना उचित था। यों कहनेपर तो कोई एक आचार्य यह समाधान करते है कि संसारि जीवोंके बहुत मेद प्रमेद हैं तथा मोक्षको संसारपूर्वकपना है। पहिले संसार है पीछे मोक्ष होती है। अतः वाच्यकी प्रवृत्ति अनुसार वाचक शद्ध कहने चाहिये। तीसरी बात यह है कि प्रन्थकार श्री उमास्त्रामी महाराज स्वयं संसारी जीव हैं, जिसका दिन रात सम्बेदन होता रहता है, उसकी बिना बुलाये शीघ उपास्थिति हो जाती है। संसारीपनका उनको स्वयं सम्बेदन होता रहता है। संसारी जीव ही प्रन्थोंके निर्माता, श्रोता, प्रचारक, हैं। अतः एक अपेक्षा यहां संसारियोंकी मान्यता है। कृतकृत्य हो चुके मुक्तजीय अपनी स्वात्मिसिद्धिमे पगे हुये है, वे यहां अत्यन्त परोक्ष होनेसे गीण विविद्यित किये गये है। दूसरे अन्य आचार्य उक्त शंकाका समाधान यें करते हैं कि उत्तरवर्त्ता प्रन्थमें सबसे प्रथम संसारी जीवोंके भेद, प्रभेद, जन्म, शरीर, आदिक प्रपंचका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रमें पहिले संसारी शदका प्रहण है। श्री विद्यानन्द स्वामीको एक आचार्य और दूसरे अन्य आचार्य दोनोंका मन्तव्य अभीष्ट हो रहा दीखता है।

यद्येवं किं विशिष्टाः संसारिण इत्याह सूत्रं।

किसीका प्रश्न है कि यदि इस प्रकार बहुत विकल्पवाले संसारी जीव हैं तो बताओ, वे संसारी जीव किन किन विशेषणोंसे चिरे हुये हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कर रहे हैं।

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

उन संसारी जीवोंमें कुछ जीव तो मनसे सहित हो रहे समनस्क हैं और शेप एकेन्द्रियसे छेकर असै-ब्रिपंचन्द्रिय पर्यन्त गिनाये जा रहे संसारी जीव अमनस्क हैं, यों संसारी जीवोंकी दो वही मण्डियां हैं। मनसो द्रव्यभावभेदस्य सिष्धागात्सममस्काः तदसंनिधानादमनस्काः । समनस्काश्चा-मनस्काश्च समनस्कामनस्का इति समनस्कप्रहणमादौ युक्तमभ्यिईतत्वात् । संसारिग्रक्तमकर-णात् यथासंख्यप्रसंग इति चेत् तथेष्टं संसारिणामेव समनस्कत्वान्ग्रक्तानाममनस्कत्वादित्येके । तद्युक्तं । सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसंगात् ।

आठ पत्रवाछे कमलके समान ब्रव्यमन तो संज्ञी जीवके हृदयस्थलमें होता है। पांच पौद्रलिक इन्द्रियोंके समान वह मन भी अतीन्द्रिय है, जो कि अंगोपांग नामकर्मका उदय होनेपर मनोवर्गणासे निष्मल होता है। तथा वीर्यान्तराय कर्म और नोइन्द्रियावरण नामक मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोप-रामकी अपेक्षा रखनेवाली जीवकी विशुद्धि तो भावमन है। इन द्रव्य, भाव, दो भेदोंको धार रहे मनकी सिनकटतासे जीव समनस्क माने जाते हैं और उन दोनों मनोंके सिन्धान नहीं होनेसे अनेक जीव अमनस्क कहे जाते है। समनस्क जीव अमनस्क जीव यो इतरेतर इंन्द्र करनेपर '' समनस्का-मनस्का '' ऐसा वाक्य बन जाता है। सूत्रकारद्वारा समनस्क जीवोंका सूत्रके आदिमें प्रहण करन पूज्य होनेसे समुचित ही है। यहां कोई आक्षेप करता है कि पूर्व सूत्र अनुसार संसारी और मुक्त जीवोंका प्रकरण होनेसे इस सूत्रमे यथाक्रम दो संज्याके अनुसार संसारी समनस्क होते हैं और मुक्त अफ्तस्क हैं ऐसे अर्थ करनेका प्रसंण हो जायगा। यो प्रसंग उठानेपर कोई एक पण्डित उत्तर देनेके लिये बांचमें अनिधिकार कूद बैठते है कि तिस प्रकार अर्थ करना इष्ट है। बयोंकि संसारी जीवोंको ही मनसहितपना है और मुक्तोंको अमनस्कपना है। पूर्वसूत्रका इस सूत्रके साथ यथासंख्य अन्वय करनेमें कोई क्षति नहीं दीखती है। अब श्री त्रियानन्द स्वामी कहते है कि उन एक पण्डितजीका कहना युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि यों तो सम्पूर्ण एकेन्द्रिय, द्रिइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय, और असंज्ञिपंचेन्द्रय इन संसारीजीवोंको भी मनसिहतपना बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

कुतस्ति यथासंख्या असंगः, पृथग्योगकरणात् । यथासंख्यं तदिभसंबंधेष्टौ संसारिणो सुक्ताश्च समनस्कामनस्का इत्येकयोगः क्रियेत उपिर संसारिवचनप्रत्यासत्तेश्च । संसारिणस्त्रस-स्थावरा इत्यत्र हि संसारिण इति वचनं समनस्कामनस्का इत्यत्र संबध्यते त्रसस्थावरा इत्यत्र च मध्यस्थत्वात् ततो न यथासंख्यसंप्रत्ययः।

किसीका प्रश्न है कि यो है तब तो बताओं कि यहां यथासंख्यका प्रसंग कैसे नहीं हुआ ? कोरा मनमाना सिद्धान्त इष्ट कर लेनेसे किसी न्यायप्राप्त प्रसंगका निवारण नहीं हो सकता है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि पृथक् पृथक् योग करनेसे यानी न्यारा सूत्र बनानेसे वह प्रसंग नहीं हो पाता है। इस सूत्रमें संसारी जीवका ही सम्बन्ध हो रहा है। यदि सूत्रकारको आक्षेपकारके विचार अनुसाह यथाएं ख्य रूपमें, उन पूर्व सूत्रोक्त उदेश्योका और इस सूत्रमें कहे गये विध्योंका सम्बन्ध अभीष्ट

होता तो " संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्का " इस प्रकार दोनों सूत्र मिलकर एकयोग कर दिया जाता। यों कर देनेपर वडी सरलतासे आक्षेपकारको अभिप्रत हो रहे संसारी जीव समनस्क हैं और मुक्त जीव अमनस्क हैं, इस अर्थकी प्राप्ति हो सकती थी। इस सूत्रमें संसारी जीवोंका ही सम्बन्ध है, इसके लिये दूसरी बात यह है कि अगले वक्ष्यमाण ऊपरके सूत्रमें संसारी शहकी निकटता हो रही है। भविष्यके " संमारिणम्त्रसस्थावरा, " ऐसे इस सूत्रमें नियमसे संसारिणः ऐसा शह प्रयोग हो रहा है। वही " संसारिणः " यह शह " समनस्कामनस्काः " इत्याकारक इस सूत्रमें और त्रसस्थावरा इस उत्तरवर्ती सूत्रमें मध्यस्थ होनेके कारण सम्बन्धको प्राप्त हो जाता है। " देहली दिपक " न्यायसे "संसारिणः" शहका दोनों ओर अन्वय है। तिस कारणसे यथासंख्यका मले प्रकार प्रसंग या ज्ञान हो जाना नहीं बन पाता है।

अथवा संसारिणो मुक्ताश्चेत्यत्र संसारिण इति वचनमनेन संबध्यते न मुक्ता इति तेषां प्रधानित्रष्टत्वानमुक्तानामप्रधानित्रष्टत्वात् । तथा सित समनस्कामनस्काः त्रसस्थावरा इति यथासंख्याप्रयोगः, सर्वत्रसानां समनस्कत्वासिद्धेः मध्यस्थसंसारिग्रहणामिसंबंधिप बा पृथग्योगकरणाच त्रसस्थावरयथासंख्याभिसंबंधः स्यात् अन्यथैकमेव योगं कुर्वति, तथा च द्विःसंसारिग्रहणं न स्यात् । ततः संसारिण एव केचित्समनस्काः केचिदमनस्का इति सूत्रार्थो व्यवतिष्ठते ।

अथवा एक बात यह भी है कि " संसारिणो मुक्ताश्च " इस पूर्ववर्त्ती सूत्रमेंसे " संसारिणः " ये वचन ही इस समनस्कामनस्काः इम सूत्रके साथ सम्बन्धित हो जाता है । " मुक्ता " इस राद्धका इस सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि " प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने सम्प्रत्ययः " प्रधान और अप्रधानका अवसर आनेपर प्रधान अर्थमें ही सुलभतासे ज्ञान उपज बैठता है । इस प्रकरणों प्रधान हो रहे उन संसारी जीवोंको प्रधान रूपसे शिष्टपना है तथा मुक्तोंको अप्रधान रूपसे परिशेष न्याय द्वारा शिष्टपना है अर्थात्—विधेयप्रतिपादक उत्तरवर्ती न्यारे सूत्रमें पूर्व सूत्रोक्त उद्देश्योंका उद्देश्योंका रिष्टपना के अर्थात्—विधेयप्रतिपादक उत्तरवर्ती न्यारे सूत्रमें पूर्व सूत्रोक्त उद्देश्योंका उद्देश्योंका रिष्टपनको भरनेके लिये " अवशेष न्याय " करके ही सम्मेलन हो सकता था। अतः प्रधानरूपसे अवशिष्ट हो रहे उद्देश्यका ही अन्वय इस सूत्रमें माना जायगा। तैसा होनेपर " स्मनस्कामनस्काः" इस सूत्रका उत्तरवर्ती " त्रसस्थावराः " इस सूत्रके साथ भी यथासंख्यसे प्रयोग नहीं हो सकता है। यानी त्रस समनस्क हैं और स्थावर जीव मनोरहित हैं, ऐसा यथासंख्य भी सिद्धान्तसे बाधित है। सम्पूर्ण द्वीन्द्रिय, जीन्द्रिय, आदि त्रसोंको समनस्कपना असिद्र है केवल संज्ञी पंचीन्द्रिय त्रस ही मनसे सहित हैं। इच्छाके वशसे सम्बन्ध हुआ करता है। इस सूत्रमें उत्तरसूत्रके संसारी पदका ही सम्बन्ध करना, त्रस स्थावरका नहीं। मध्यमे स्थित हो रहे संसारी शब्दके प्रहणका ठीक सम्बन्ध होनेपर भी पृथक्सूत्र योगके करसेसे त्रस और स्थावरके साथ इस सूत्रमा यथासंख्यरूपकरके पूरा सम्बन्ध महीं हो सकेगा

अन्यथा यानी सूत्रकारको त्रसस्थावर प्रहणके साथ मी यदि इस सूत्रका सम्बन्ध अमिष्ट होता तो वे दोनों सूत्रोंको मिलाकर एक योग कर देते। और तैसा " समनस्कामनस्काः संसारिणखस-स्थावराः " यों एक योग कर देनेपर दो बार संसारिका प्रहण नहीं करना पडता। लाघव हो जाता। किन्तु ऐसा एकयोग नहीं किया है। अतः सिद्ध है कि पहिले कहे जाचुके संसारी मुक्त प्रहणका और मिष्यके त्रसस्थावर प्रहणका इस मूत्रके साथ सम्बन्य नहीं जुडता है। तिस कारणसे किद्ध है कि संसारी ही कोई कोई समनस्क हैं और बहुभाग कितने ही संसारी जीव अमनस्क हैं, इस प्रकार सूत्रका अर्थ व्यवस्थित हो जाता है।

कुतस्ते तथा मता इत्याह।

किसीका प्रश्न है कि किस कारणसे वे संसारी जीव तिस प्रकार मनसहित अथवा मनरहित दो प्रकारके माने गये है ? अच्छा होता कि वैशेषिक मत अनुसार सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि प्रत्येक जीवोंमें एक एक मन मान लिया जाता अथवा चार्वाक मत अनुसार किसी भी जीवके एक अतीन्द्रिय मनकी कल्पना न की जाय। जैनोंने भी तो मुक्त जीवोंके मन नहीं माना है । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

समनस्कामनस्कास्ते मताः संसारिणो द्विधा । तद्वेदनस्य कार्यस्य सिद्धेरिष्टविशेषतः ॥ १ ॥

वे संसारी जीव कुछ मन इन्द्रियसे सिहत हैं और रेाष मन इन्द्रियसे रहित हैं, यों दो प्रकार माने गये हैं। क्योंकि इस विचारशाली मनके द्वारा बनाये गये विशेष ज्ञानक्रप कार्यकी किन्हीं जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। या मनसे रहित दशामें होनेवाले विलक्षण ज्ञान यानी अविचारक बुद्धि रूप कार्यकी किन्हीं जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। तथा विशेष रूपसे इष्ट हो रहे आगमप्रमाणसे भी मनसे सिहत और मनोरहित दो प्रकारके संसारी जीवोंकी व्यवस्था बन रही है।

समनस्काः केचित्संसारिणः शिक्षािकयालापग्रहणसंवेदनस्य कार्यस्य सिद्धेरन्यथातु-पपचेः, केचित्पुनरमनस्काः शिक्षाचग्राहिवेदनकार्यस्य सिद्धेरन्यथानुपपचेः। इत्येतावता द्विविधाः संसारिणः सिद्धाः।

कोई तोता, मैना, घोडा, हाथी, मनुष्य, स्त्री, देव, देवी, आदिक संसारी जीव (पक्ष) नो इन्द्रिय मनसे सिहित हैं (साध्य)। क्योंकि शिक्षापूर्वक क्रिया करना, आळाप करना, कथन अनुसार समझकर उठाना, धरना, इत्यादिक ज्ञानस्वरूप कार्यकी सिद्धि होना अन्यथा यानी मनको माने विना बन नहीं सकता है। अर्थात्—चोडा, हाथी, बैळ, क्रुत्ता, विद्यार्थी, कन्या, ये जीव कहे हुये को सीख केते हैं। इनका कोई विशेष नाम धर देनेपर तद्नुसार आ जाते हैं, चळे जाते हैं, उठाते,

धरते हैं, उपदेश सुनते हैं, इस प्रकार विचारपूर्वक ज्ञान और उसके अन्य भी कार्य अन्तरंग मन इन्द्रियको माने विना अन्य प्रकारोंसे नहीं हो पाते हैं। अतः अतीन्द्रिय मनकी उसके कार्य द्वारा सिद्धि कर दी जाती है। तथा हुक्ष, चींटी, मन्खी, आदि कितने ही जीव (पश्च) किर अमनस्क हैं (साध्य) शिक्षा आदिको नहीं प्रहण करनेवाले साधारण ज्ञान होना स्वरूप कार्यकी सिद्धि अन्यक्षा यानी अमनस्क हुये विना दूसरे ढंगों करके नहीं बन सकती है। मन्खी या चींटीको कोई शिक्षा दी जाय उसको वह नहीं समझ पाती है। कल्पित नाम रखनेपर तदनुसार आती जाती नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि वर्र आदि जीवोंके विचारकपन नहीं है। इस प्रकार इतनेसे इन दो हेतुओं करके दो प्रकारके संसारी जीव सिद्ध हो जाते हैं।

इष्टविशेषतेश्व । इंदेष्टं हि पवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवपवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवपकाशि वाक्यं, संति संक्षितं जीवाः संत्यसंक्षित इति । ततश्च ते व्यवतिष्ठंते सर्वथा वाधकाभावात् ।

तथा इष्टिक्शिपसे भी दो प्रकारके जीवोंकी सिद्धे हो जाती है। यहां प्रकरणमें इष्टपदसे प्रकृष्ट वचन यानी आगम लिया जाता है। सर्वज्ञ भी आम्नायसे चले आ रहे उस आगमका विशेष हो रहा समनस्त और अमनस्त जीवोंको कहनेवाला शास्त्र है । उस शास्त्रका भी विशेष ही रहा समनस्त और उससे न्यारे अमनस्क जीवोंको प्रकाश रहा एक वाक्य है। जो कि इस प्रकार है कि संसारमें संज्ञी जीव हैं और असंज्ञी जीव भी हैं। जयववला सिद्धांत आदि प्राचीन प्रन्थोंमें अनेक वाक्य हैं। गोम्मटसारमें भी लिखा है " सिक्खाितरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण, जो जीवो सो सण्णी तिब-वरीओ असण्णी दू ॥ १ ॥ '' मीमंसदि जो पुत्र्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च । सिक्खदि णामेणेदिय समणो अमणो य विवरीदो ॥ २ ॥ इन्यसंप्रहमें कहा गया है कि समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सके "। अतः तिस आगम रमाणसे भी वे संज्ञी, असंज्ञी जीव व्यवस्थित हो रहे हैं। सभी प्रकारोंसे कोई वाधक प्रमाण नहीं हैं। जगत्में अनन्तानन्त पदार्थ हैं। तिनमें बहुभाग हम लोगोंके स्थूल बानसे छिप पडे हुये हैं। उन भी सिद्धिका सरल उपाय बाधक प्रमाणोंका असम्भव ही ठीक पडता है। किसको इतना अवकाश या मूक्ष्म योग्यता प्राप्त है जो कि सबको बिशेष विशेष रूपसे देखता फिरे 1 संजी, असंजी, जीवोंकी सिद्धिका बायक कोई प्रमाण नहीं है। " असम्भवद्वावकप्रमाणत्व" हेत्से चाहे किसी भी पदार्थकी सिद्धि हो जाती है। धनिकोंके रुपयोंको सभी मनुष्य नहीं गिम पाते हैं। फिर भी उनको सेठजी कहते हैं। ठोस बिद्वानकी गम्भीर पन्डिलाईको कौन टटोल्ला फिरला है. तप-स्विओंकी साधनाओंको कौन परखे, कुछ, जातिका सक्ष्म गत्रपेण कौन कर पाता है, केवछ बाधाओंक असद्भावसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

अत्र त्रसा एव संसारिणः समनस्कायनस्का इति केपाँचिदाकूर्तं, तदपसारणाचाइ ।

यहां किन्हीं विद्वानोंकी ऐसी चेष्टा हो रही है, कि त्रस जीव ही संसारी जीव हैं, संसारवर्ती कार्योंके ही समलाक और अमनस्क ये दो भेद हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, इन शरीरोंको आरनेशास्त्र कोई जीव संसारमें नहीं है । इस कुचेष्टाका निराकरण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज स्पष्टरूपके अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

संसारी जीव दूसरे ढंगसे त्रस और स्थावर इन दो बडे भेदोंको धार रहे हैं। अर्थात्— समनस्क और अमनस्क इन दो भेदोंमें सभी संसारी जीव गर्भित हो जाते हैं, उसी प्रकार त्रस और स्थावर दो भेदोंमें मी संसारी जीव अन्तः प्रविष्ट हो जाते हैं। छोक या शास्त्रमें जिस प्रकार संसारी जीवोंके भेद प्रसिद्ध हैं उस ढंगसे यहां भेदच्यवस्था कर दी गयी है।

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः मत्येतन्याः न पुनस्तस्यंतीति त्रसाः पवनादीनां त्रसत्वप्रसंगात् गर्भादिष्वत्रसत्वातुषंगाच, स्थावरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः स्थावराः । स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न, वाय्वादीनामस्थावरत्वप्रसंगात् । इष्टमेवेति चेन्न, समयार्थानववोधात् । न हि वाय्वादयस्त्रसा इति समयार्थः ।

कितने ही मोटी बुंद्रिवाले चलने फिरनेवाले जीवोंको त्रस और एक स्थानपर ठहरनेवाले जीवोंको स्थावर कह देते है किन्तु यह मन्तव्य सिद्धान्ताविरुद्ध है। जिन जीवोंकी आत्मसम्बन्धी या सिरास्त्वन्धी प्रशृत्तियां त्रस नामक नामकर्मके उदयसे सम्पादित की गर्थी हैं, वे जीव त्रस समझ लेके चाहिये। फिर जो उद्देगको प्राप्त होते रहते हैं भागते दौडते हैं इस निरुक्ति द्वारा प्राप्त हुये अर्थ करके त्रस नहीं विश्वस्त कर लेने चाहिये। यों यौगिक अर्थका आदर किया जायगा तो चलते, फिरते, पवनको या बहते हुये जल अथवा रेलगाडी, मोटर कार, आदि पदार्थोंको भी त्रसपनेका प्रसंग होगा। यह अतिव्याप्ति या आपत्ति हुई और साथसे अव्याप्ति या अनुपपत्ति भी है कि गर्भ अवस्था, मूर्च्छित अवस्था , अण्डदशा आदिमें त्रस जीवोंको भी त्रसरहितपनेका प्रसंग हो जायगा। त्रसकर्मका उदय होनेपर मनुष्य या तिर्थवकी आत्मामें रक्त, मांस, हुई।, चर्म, मज्जा आदि धातुओंको उदपन्न करनेके लिये व्यक्त, अव्यक्त, पुरुषार्थ हो जाते हैं। देव नारिक्योंके धातुरहित वैक्रियिक शरीरके सम्पादक प्रयत्न हो 'जाते हैं। किन्तु स्थावर जीवोमें तादश पुरुषार्थ नहीं हो पाते हैं। स्थावरोंका शरीर रक्त, मांस, हुई।मय नहीं है। तथा नाम कर्मकी विशेष हो रही जीवमें स्थाय अनुभव देनेवाली स्थावर प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुथे निशेष जीव ना स्थावर कहे जाते हैं। किन्तु तिक्रक्ति इति स्थावराः इस प्रकार शब्द की निश्कि कर उद्दर्श कर उत्तर का बहनेवाले रक्षका लेका जीव स्थावर ई यह स्थावर जीवका जिल्हा बहनेवाले

वायु जीव, नीचे प्रदेशकी और हुलक जानेवाले जल जीव, ज्वालारूप अग्नि अवस्थामें उर्ज्व ज्वलन करनेवाले अग्निकायिक इत्यादि जीवोंको स्थावर रहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। यदि कोई स्थूल बुदिबाला ग्रामीण पंडित यों कह देवे कि इस प्रकार तो हमको इट ही है। अर्थात्—वायु जलके जीव
मले ही स्थावर न होकर त्रस हो जाओ, पृथिवी कायिक वनस्पति कायिक जीव स्थावर वने रहेंगे।
मोतान्वर भी तेज और वायुको त्रस मान बैठे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि
आम्नायसे चले अत्रहे सर्वज्ञप्रतिपादित शाखोंके अर्थको तुम नहीं समझते हो। व्याकरणके चक्रमें
पहकर व्याव, कुशल, सम्यर्द्शन आदि शहोंके समान स्थावर इन्द्रकी भी निरुक्ति कर देनेसे ही
पारिभाषिक अर्थ प्राप्त नहीं हो जाता है। वायु, जल, आदिके जीव त्रस हैं, ऐसा ऋषिप्रोक्त
शाखोंका अर्थ नहीं है। दिइन्द्रिय जीवोंसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतक के जीव त्रस माने गये हैं। अतः
त्रस और स्थावर कर्मके उदयसे ही त्रस स्थावर जीवोंको लक्षण युक्त करना ठीक पडेगा, चलने और
नहीं चलनेकी अपेक्षा त्रसस्थावरपना नहीं है। योगिक अर्थसे ख्रिट अर्थ और ततोपि पारिभाषिक
अर्थ बलवान् होता है।

त्रसाथ स्थावराथ त्रसस्थावराः । त्रसग्रहणमादावल्याक्षरत्वादभ्यहिंतत्वाच । संसारिण एव त्रसस्थावरा इत्यवधारणान्ध्रक्तानां तद्भावन्युदासः, त्रसस्थावरा एव संसारिण इत्यवधारणाद्धिकल्यांतरिवश्चितः ।

त्रंस और स्थावर अथवा स्थावर और त्रस भी चाहे केसा भी विपह करो, दोनों पदोंका समास हो जानेपर " त्रसस्थावराः " पद बन जायगा। अन्य अक्षर होने के कारण और पूज्यपना होने से शब्दशक्तिहारा त्रसका प्रहण आदिमें आजाता है। संसारी इम उदेश्य दलके साथ अन्ययोग व्यवच्छे-दक एवकार लगा देने से संसारी जीव ही त्रस और स्थावर दो भेदवाले हैं। अतः पूर्वोक्त दूसरे मुक्त जीवोंके त्रसपन और स्थावरपनका व्यवच्छेद हो जाता है तथा संसारी जीव तो त्रस स्थावर ही हैं। इस प्रकार विधेय दलमें अयोग व्यवच्छेदक एवकार हारा अवधारण कर देने से अन्य विकल्पों यानी भेदोंकी निवृत्ति हो जाती है। अर्थात्—सभी संसारी जीव त्रस और स्थावर दो भेदों है। गर्भित हो जाते हैं। अन्य विकल्पों की आकांक्षा नहीं रहती है।

कुत पुनरेवं प्रकाराः संसारिणो व्यवतिष्ठंत इत्याह ।

किसी शिष्यकी जिज्ञासा है कि यों त्रस और स्थावर यों दो प्रकारोंको धार रहे संसारी जीव मला किस प्रमाणसे व्यवस्थित हो रहे हैं ? बताओ, ऐसी विनीत प्रतिपाद्यकी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

> त्रसास्ते स्थावराश्चापि तदन्यतरनिन्हवे । जीवतत्त्वशमेदानां न्यवस्थानाप्रसिद्धितः॥ १ ॥

बे संसारी जीव श्रस हैं और स्थावर भी हैं। यदि उन दोनोंमेंसे किसी भी एकका अविश्वास या अपलाप किया जायगा तब वो जीवतत्त्वके प्रमेदोंकी व्यवस्था करना अप्रसिद्ध हो जायगा । भावार्थ-जीवतत्त्व आकाशतत्त्वके समान अकेला नहीं है। किन्तु उसके मंसरी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर एवं त्रसेंकि भी द्विइन्द्रिद, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा स्थावरोंके पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि प्रभेद हैं। इन प्रभेदोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो रही है। हिताहित पूर्वक किया, जन्म, मरण, स्मरण, परुषार्थ, आदिक कार्यीको कर रहे त्रस जीव न्यारे न्यारे अनेक प्रसिद्ध ही हैं। तथा प्रथिवी या बृक्ष आदि वनस्पतियोंमें भी युक्तियोंसे जीवसिद्धि कर दी जाती है। कोई कोई वैज्ञानिक वृक्षोंमें स्पर्शन, स्सन, ब्राण, चक्ष, श्रोत्, इन पांची इन्द्रियोको सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं । किन्तु उनका यह प्रयत्न व्यर्थ पडेगा । भले हा वनस्पति जीत्रोंमें चक्षः, कर्ण, आदि इन्द्रियों द्वारा होनेवाले कार्यसारिव परिणाम पाये जांय । चींटियां, मक्ली, आदि छोटे छोटे कीट पतंग भी मेघ बरसनेके पहिले बिलोंमें या घरोंमें घुसकर अपनी रक्षाका उपाय कर लेते हैं, सहर, काक, कितनी ही देर पहिलेसे आंधी आनेका अर्व्यर्थ, अचक, ज्ञान कर छेते हैं। एतावता वे कीट पनंग या पश्पक्षी बिचारे ज्योतिषशास या निभित्तशास्त्रोंके ज्ञाता नहीं कहे जा सकते हैं। बात यह है कि जगत्के पदार्थीमे प्रतिक्षण अनेक परिणाम होते रहते हैं। बृष्टिके पाईले वाय या पृथिनीमें ऐसी परिणतियां हो जाती हैं जिनको कि अपनी प्राप्त एक या दो तीन इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर वे जीव अहित मार्गसे अपनी रक्षा कर छेते हैं । बृक्षकी जड गीछे स्थल या पानी अथवा गढे हुये धन की ओर अधिक जाती है। इतनेसे ही वह आंखवाला नहीं कहा जा सकता है। छूई मुई नामक बनस्पतिको छू छेनेसे कुछ देखे छिथे मुरझा जाती है, एतावता उसको लज्जाशील क़ुळीन खीके समान मनइन्दियवाळी नहीं कह सकते हैं। जीव पदार्थ तो क्या, जड पदार्थ भी निमि-त्तोंके मिल जानेपर नाना परिणितयोंको धार लेते हैं। जो कि चेतन जीवोंको भी विस्मयकारक हो रही है। वृक्षमें मही, खात या जलसे बन गया रस यहां वहां वृक्षसम्बन्धी आत्माके अन्यक्त अस्व-संभेष पुरुषार्थद्वारा फल, पत्ते, शाखाये, छाल आदिके उपयोगी होकर भेजा जा रहा है। किन्तु बहा आंखे नहीं हैं । चक्कुष्मान् मनुष्य या पशुओं के पेटमेंसे भी अन्य शरीरके अवयवोंकी पृष्टिके लिये रस रुधिर, आदि रवाने किये जाते है, किन्तु वहां पेटके भीतर चक्षका व्यापार नहीं है। वैज्ञानिकांके घरमें रक्खे हुये यंत्र भी वृष्टि, भूकम्प, प्रहगतिको बता देते हैं, किन्तु वे जड पदार्थ अष्टाङ्ग निमि-त्तके ज्ञाता विद्वान् नहीं हैं । घडी. धर्मीमेटर, आदि विशेष यंत्रो करके समयका परिज्ञान या उष्णता (गर्मी) शीतता (सर्दी) का ज्ञान हो जाता है। तराजू या कांटा अथवा फुटा जितना ठीक पदार्थको तौल देते हैं, बडा भारी नैयायिक या सिद्धान्तशास्त्री भी उतनी ठीक ठीक तौल या नापको नहीं बता सकता है। छोटे बच्चेके अण्डकोषोंकी सिकुडन या ढीलेपनसे ठंड और उष्णताकी परीक्षा हो जाती है। हाथीकी ठीक तौल कर ली जाती है। नदीमें वहा देनेसे ठीक गोल डण्डेके

काठका ऊपरला, नीचला भाग जान लिया जाता है। बात यह है कि जगत्वर्ती सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिक्षण आश्चर्यकारक परिणितयोंका सम्पादन कर रहे हैं। न जाने किस परिणितसे अचित्रय निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धद्वारा कहां जड या चेतनद्वारा कैसा कैसा भाव उपज बैठे हैं । यह पक्का सिद्धान्त **है** कि कारणके विना कार्य नहीं होता है। साइन्स, न्याय, और गणित इसी राद्धान्तपर अवलम्बित हैं। जिनशासनमें कार्यकारणभावकी पोल नहीं चलती है। अतः उन ज्ञान हो जानेरूप कार्योमें मात्र तस्त्रोंके परिणाम कारण हैं, इन्द्रियां नहीं । माताके उदर्रमें बच्चा बन जाता है, इतने ही से उस पेटको विश्वकर्मा नहीं कह दिया जाता है। इसी प्रकार बक्षोंमें अन्तरंग, बहिरंग, कारणी द्वारा हुये परिणामोंके कार्यीको चक्षः, रसना, कान, इन इन्द्रियोंका कर्त्तव्य नहीं गढ-छेना चाहिये । पांच स्थावर काय जीवोंके एक ही स्पर्शन इन्द्रिय है. अधिक नहीं । गिडार आदि त्रसेंमिं दो आदिक इन्द्रियां हैं। गिडारे, दीमकें अपने रहनेके स्थानोंको बनां लेती है। चींटियां योग्य ऋतओंमें धान्योंका संप्रह कर लेतीं है। संचित धान्य बिगडे नहीं इसलिये वे धान्यको बाहर निकाल-कर उचित बाम, बाय, चिद्धिसा, लगा देती है। पुनः भीतर धर देती है। बरें, भोंरी, मधु, मक्खी, ये अपने छतोंको बनाती हैं। बचोंके शरीरके उपयोगी पहल पिण्ड या झीगर, लटों को लाकर स्वकीय जातिके प्राणियोंको बनालेती हैं। भिन्न भिन्न ऋतओमें एक स्थानको छोड कर अन्य उपयोगी स्थानपर पहुंच जाती हैं। पनः उसी स्थानपर आजाती है। मकडी चालाकीसे जीवोंको फसानेके छिये जाला पूरती है। एक प्रकारका छोटासा कीट रेतमें चारों ओरसे छुटकाऊ गोल गड्ढा बनाकर उसमें छिपा रहता है और रपटकर खड़ेमें गिर पड़े, चीटियां, गुबरीले, आदिको भक्षण कर बनकी झाडियोंमें या किन्ही किन्ही ज्वार, बाजरा या मेंद्रीके वृक्षोपर एक मायाचारी, भयालु विशेष अपने चारों ओर गाढ़े चेंपवाले फसुकुरुको फैलाकर मध्यमें बैठ जाता है। और यहां वहांसे आकर फसकरमें चपटकर फंसगये कीट पतंगीको खाजात। है। कोई बृक्ष भी कीट, पतंग, या पक्षियोंको पकडकर फसा छेते हैं। ये सब कार्य विचारनेवाछे मनके द्वारा होनेवाछे कार्यसारिखे दिखते है। किन्त उक्त कीट पतंगीके मन नहीं माना गया है। बात यह है कि ज्ञान भी बहुत बड़े बड़े कार्योको साधता है। कीट पतंगोंके ज्ञान, इच्छा, राग, द्रेष, कषायें विद्यमान हैं। उनके द्वारा उक्त कार्य क्या इनसे भी अत्यधिक विश्मयकारक कार्य हो सकते हैं। जैन न्यायशास्त्रमें "हिलाहिलप्राप्तिपरिहार-समर्थे हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्" इस सूत्र अनुसार हितकी प्राप्ति कर छेना और अहितका परिहार करते रहना ज्ञानका ही कार्य बताया गया है। जड कर्म भी बहुत कार्य कर देते हैं। शरीरमें प्रविष्ट होकर औषि वहां ऊथम मचा देती है। आम्र रम रेचक है। दूध भी रेचक है। किन्तु आम खाकर दूध पीछिया जाय तो मल थंव जाता है। खरबूजा रेचन करता है, सरबत भी मलको पतला कर देता है। हां, खरबूजा खाकर बरेका सरवत पीछेनेसे पाचन हो जाता है। आत्माकी अनेक कियाओंमें जड र्रामका भी हाथ है। यहां प्रकरणमें इतना ही कहना है कि अनेक प्रकारके त्रस और स्थावर जीवोंकी व्यवस्था प्रसिद्ध हो रही है।

स्थावराः एव सर्वे जीवाः परममहत्त्वेन निष्क्रियाणां चलनासंभवात्त्रसत्वानुपपत्तिति त्रसनिन्हवस्तावज्ञ युक्तः, स्वयमिष्टानां जीवतत्वप्रभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धिपसंगात् सर्वगतात्य-न्यक्त्रैव नानात्मकार्थपरिसमाप्तिः । सकुज्ञानात्मनः संयोगो हि नानात्मकार्थे तंचकत्रापि प्रयुज्यते नभसि नानाघटादिसंयोगवत् । एतेन युगपञ्चानाशरीरोद्दियसंयोगः प्रतिपादितः ।

वैशेषिक या किसी अन्य विद्वानका कुल्सित पक्ष है कि जगतके सम्पूर्ण जीव स्थावर ही हैं। क्योंकि परम महा परिणाम होनेके कारण क्रियारहित हो रहे न्यापक जीवोंका देश देशान्तरमें चलाय मान होना असम्भव है। जो जीव यहां, वहां, नहीं चल सकता है, उसको त्रसपना नहीं बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार त्रसजीवोंका अपलाप (निषेध) कर देना ते। युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि यों तो स्वयं उनको अभीष्ट हो रहे जीवतत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग आवेगा, जो कि इष्ट नहीं पडेगा। अर्थात् —आत्माको व्यापक मान छेनेपर फिर अनेक जीवोंके मान-नेकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। सर्वस्थानोंपर प्राप्त होकर व्यात हो रहे एक ही आत्मामें अनेक आत्माके कार्योकी परिपूर्ण रूपसे समाप्ति हो जायगी । अतः अनेक आत्माओंकी कल्पना करना व्यर्थ पड़ेगा । देखिय एक ही वारमें अनेक आत्माओंका संयोग हो जाना ही तो अनेक आत्माओंका कार्य माना गया है। किंतु वह कार्य तो एक व्यापक आत्मामें भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे कि एक व्यापक आकारामें अनेक घट, पट, आदि पदार्थीका संयोग होना युक्तिघटित हो जाता है, इस उक्त कथन करके प्रन्थकारने यह भी समझा दिया है कि न्यापक एक आत्मामें युगपत् अनेक शरीर और अनेक इन्द्रियोंका संयोग हो जाना भी बन जाता है, ताकि वैशेषिक यो न कह सके कि एक आत्माके माननेषर अनेक शरीर और नाना इन्द्रियोंका एक नाथ संयोग कैसे हो सकेगा !। सुदक्ष प्रन्थकार स्थावरजीवोंका ही एकान्त माननेवाले पण्डितके सन्मख व्यापक एक आत्माका ही आपादन कर अभीष्ट अर्थको मनवाना चाहते है । अन्य मतका खण्डन और अपने मतका स्थापन इसके कई मार्ग हैं। सभी स्थलोपर एक ही औषधि कार्यको नहीं साधती है।

युगपन्नानाशरीरेष्वात्मसमवायिनां सुखदुःखादीनामनुपपत्तिविरोधात् इति चेत्, युग-पन्नानाभर्यादिष्वाकाशसमवायिनां विततादिशन्दानामनुपपत्तिमसंगात् तिद्वरोधस्याविशेषात्। तथाविधशन्दकारणभेदान्न तदनुपपत्तिरिति चेत् सुखादिकारणभेदात्तदनुपपत्तिरप्येकत्रात्मिनि माभूत् विशेषाभावात्। विरुद्धधर्माध्यासादात्मनो नानात्विमिति चेत्, तत एवाकाशनानात्व-मस्तु । मदेशभेदोपचाराददोष इति चेत्, तत एवात्मन्यदोषः। जननमरणादिनियमोपि सर्व-गतात्मवादिनां नात्मबद्धत्वं साधयेत्, एकत्रापि तदुपपत्तेष्यकाशादिजननविनाशवत्। निद्धिष्यकाशस्योत्यत्ते पद्मध्याकाशस्योत्पत्तिरेव तदा विनाशस्यापि दर्शनात्। विनाशे वा न विनाश एव अवसस्यापि तदीपलंभात् स्थिती वा न स्थितिरेव विनाशीत्पादयोरिप तदा समीक्षणात्।

यदि अनेक न्यापक आत्माओंको माननेवाले नैयायिक यों कहें कि एक ही न्यापक आत्माके माननेपर तो नाना शरीररूपी उपाधियोंमें आत्मस्य होकर समनाय सम्बन्धर्स ठहर रहे सख. द:ख. देष, प्रेम, शवन, जागरण, आदिकी यगपत सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि विरोध है। अनेक आत्माओं भाननेपर तो किसीमें सुख है, अन्य जीवमें दुःख है, तीसरा सोता है, चौथा जागता है, इत्यादि अनेक कार्य सब जाते है । किन्तु एक ही आत्मामें व्यापक मान छेनेपर भी एक साथ विरुद्ध कार्य नहीं हो सकते है, यों कहनेपर तो थोड़ी देखे छिये विनोदपूर्वक एक ही आत्माकी पृष्टि करने-वाले आचार्य कहते है कि तब तो अकेले आकाशमें भी एक ही साथ अनेक नगाड़े, ढोल, तुर्छ, आदि उपाधियोंमें अविक्रन हो रहे आकारामे समवायको धारनेवाले वितत, घन, सुषिर, निषाद, आदि शब्दोंकी असिद्धि हो जाने (सिद्धि नहीं हो सकने) का प्रसंग होगा। उस विरोध और इस विरोधका कोई अन्तर नही है । अर्थात्-एक आकाशमें यदि भिन्न जातिके मन्द, तीक्ष्ण, कर्कश, मृद्, पंचम, मध्यम, आदि अनेक शब्दोको मान लोगे तो उसी प्रकार एक ही आत्मामें नाना शरीरोकी उपाधिके भेदसे सुख, दु:ख, आदि होना बन आएगा। यदि भिन्न जातिके सुख, दःख, आदिकी सिद्धिका विरोध मानो तो एक आकाशमे नाना, मृदंग, शतरंगी (सारंगी) आदि उपाधियो द्वारा त्रितन, घन, आदि शद्बोंकी सिद्धिका भी वैसा ही त्रिरोध बन बैठेगा । यदि बैशेविक या नैयायिक यों कहीं कि तिस प्रकारके वितत आदि शर्द्धोंके कारण हो रहे वादित्र, बाजे, तार, चर्म, आदि पदार्थींके भेदसे इये नाना राहोंको अकेला आकाश बार छेता है। अतः उन अने म शहोंकी आ मारामें असिद्धि नहीं है। यों कहनेपर आचार्य कहते हैं कि सुख. दुःख, आदिके न्यारे न्यारे कारण बन रहे पदार्थोंके भेदसे एक साथ एक आत्मामें भी सख, दुःख, आदि हो जायेगे. उनकी भी आसिद्धि नहीं होने पाये । उपाधिभेदसे एक साथ अनेक समवेत गुणोंकी धार लेनेकी अपेक्षा आकाश और आत्मामें कोई विशेषता नहीं है। यदि तुम वैशेषिक यों कही कि कोई पण्डित है, अन्य प्रामीण मूर्व है, एक नागरिक प्रनिक है, चौथा अपन्ययी दिरद्र हो गया है, एक सराग है, दूसरा वीतराग है, कोई शृंगार रसका अनुरागी है, दूसरा शांतिरसमें निमम है, एक दाना है, दूमरा पात्र है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, इत्यादिक विरुद्ध धर्मीक आरूढ हो जानंसे जीय तत्व हो अने कपना साथ दिया जाता है। या कहनेपर तो आक्षेपकार हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही कारणसे आकाश द्रव्य भी नाना हो जाओ । आकाशमें भी अनेक विरुद्ध धर्मीका अध्यास हो रहा है। हहीं मन्द शद्ध है, कहीं तीत्र शद्ध है, किचित् छोटा, बडा, शद्ध गूंज रहा है। यदि वैशेषिक यो छहे कि एक अखण्ड आकारा है भी उपचारते भिन्न भिन्न प्रदेश मान छिये जाते हैं। अतः आकाश के किसी प्रदेशमें ढोल का शद्ध है अन्य प्रदेशमें त्रतीका शद्ध है। तीसरे प्रदेशमें घन हैं । चौथे प्रदेशमें वितत है । यों वाहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि तिस ही कारणसे आत्मामें भी कोई दोष नहीं आता है, अर्थात्—सर्वव्यापक एक ही अखण्ड आत्माके उपचारसे

प्रदेश भेदोंको मानकर कहीं सुख, अन्यत्र दु:ख, कचित् मूर्यता, वहीं कहीं पण्डिताई इन धर्मीका सम्बन्ध बन जाता है। आत्माको सर्वगत कहनेवाले वादियोंके यहां जन्म लेना, मरना, बंध जाना, मुक्त हो जाना, आदि नियम भी आत्माके बहुतपनको नहीं साथ सकेंगे। क्योंकि एक भी आत्मामें उपाधिओंके भेदसे उन जन्म लेना, मरण करना, आदिकी सिद्धि बन जाती है, जैसे कि एक आत्मामें घटाकाशका उपज जाना और कपाल आकाश या पटाकाशका थिनाश होना युगपत् सिद्ध हो जाता है। घट उपाधिसे नापे गये आकाशकी उत्पत्ति हो जानेपर पट उपाधियाले आकाश या कपाल उपाधियाले आकाशकी अपनि होनेपर अन्य उपाधियाले आकाशकी उत्पत्ति हो नियम नहीं है। उस समय एक उपाधियाले आकाशकी उत्पत्ति होनेपर अन्य उपाधियाले आकाशकी उत्पत्ति होनेपर अन्य उपाधियाले आकाशको विनाश हो जानेपर सभी विशेषणोवाले अन्य अन्य आकाशका भी विनाश हो हो रहे आकाशका विनाश हो जानेपर सभी विशेषणोवाले अन्य अन्य आकाशका मी विनाश ही हो जाय ऐसा नहीं है। किसी उपाधियारी आकाशकी स्थिति होनेपर सभी उपाधियाले आकाशकी उत्पत्ति भी देखी जा रही है। किसी उपाधियारी आकाशकी स्थिति होनेपर सभी उपाधियाले आकाशकी स्थिति हो नियर सभी उपाधियाले आकाशकी स्थिति हो नियर सभी उत्पादका भी भला दर्शन हो रहा है। बात यह है कि आकाशको एक माननेपर जीव तत्त्व भी एक ही मानना अनिवार्य पढेगा। यदि जीवतस्वको अनेक मानोगे तो आकाश तत्त्व भी अनेक मानने पढेंगे। न्यायमार्गमें किसीका पक्षपत नहीं चलता है।

सित बंधे न मोक्षः सित वा माक्षे न वंधः स्यादंकत्रात्मिन विरोधादिति चेन, आका-श्रीप सित घटनचे घटांतरमोक्षाभावमसंगात् । सित वा घटविश्लेषे घटांतरिवश्लेषमसंगात् । मदेशभेदोपचारान तत्मसंग इति चंत्, तत एवात्मिन न तत्मसंगः । कथमेक एवात्मा बद्धो मुक्तश्च विरोधादिति चेत्, कथमेकमाकाशं घटादिना बद्धं मुक्तं च युगपदिति समानमेतच्चोद्यम् । नभसः मदेशभेदोपगमे जीवस्याप्येकस्य मदेशभेदोस्त्विति कृतो जीवतत्त्वमभेदञ्यवस्था । तत-स्तामिच्छता कियावंतो जीवाश्वलनतो असर्वगता एवाभ्युपगंतञ्या इति त्रससिद्धिः ।

यदि पूर्वपक्षी तैशोपिक यो कहें कि एक ही आत्माके स्त्रीकार करनेपर तो एक आत्माका बन्ध हो जानेपर मोक्ष न हो सकेगी अथवा मोक्ष ो जानेपर बन्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि एक ही आत्मामें विरुद्ध माने गये बन्ध या मोक्ष दोनोके होनेका विरोध है। किन्तु जगत्में बहुतसी आत्माओंके बन्ध हो रहा है और अनेक आत्माओंको मुक्ति प्राप्त हो रही है। आचार्य व हते हैं कि यह उपाय तो नहीं रचना। क्योंकि यों तो एक आकाशके माननेपर भी आकाशको घटसहितपना होनेपर अन्य घटोंसे या पट आदिसे मोक्ष होनेके अभावका प्रसंग होवेगा। अथवा प्रकरणप्राप्त घटका आकाशके साथ विश्लेष हो जानेपर अन्य घटोंके साथ भी विश्लेषण हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा। अर्थात्व जब आकाश एक ही है तो घटके साथ संयोग हो जानेपर सभी घटोंके साथ संयोग ही

बना रहना चाहिये या गृहमें आकाशके साथ घटका विभाग हो जानेपर अन्य घट, पट, आदक साथ भी बिभाग हो जायगा । एक अखण्ड आकारामें किसीके साथ विक्लेष और अन्यक साथ अंग्रेग मानना तो विरुद्ध पडेगा । यदि वैशेषिक उपचारसे आकाशके छोटे छोटे प्रदेशोंके भे कि उस प्रसंगका निवारण करेंगे तब तो उस ही कारणसे यानी अखण्ड, एक, व्यापक, आत्माने उपचारसे प्रदेशभेदोंकी कल्पना कर उस बन्ध या मोक्ष है प्रसंग हा भी निषेध हो जाता है तो पि : का माको आकारके समान एक माननेमें अथवा अनेक आत्माओंके समान आकाराको भी अनेक माननेम क्यों आपत्तियां उठाई जाती हैं ? । यदि पूर्वपक्षी यों कहे कि एक ही आत्मा भला बद्ध और मक्त भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि सहानवस्थान नामका विरोध है । जिस आत्मामें बद्धपना है वहां मृक्ति नहीं और जहां मुक्तपना है वहां बद्धपना नहीं घटित हो पाता है । यों कहनेपर तो जैन भी कटाक कर सकते हैं कि एक ही आकाश विचारा घट, पट, आदि करके बध रहा और उसी समय दूसरीसे छूट रहा भला युगपत् किस ढंगसे साधा जा सकता है ! इस प्रकार एक आत्माका पक्ष ले लेनेपर हमारे ऊपर उठाया गया यह आपत्ति या अनुपपत्तिरूप चोद्य आकाशको सर्वथा एक माननेवाले तुम्हारे ऊपर भी समान रूपसे छागू हो जाता है। हां, यदि तुम आकाशके प्रदेशोंको भिन्न भिन्न स्वीकार कर लोगे तब तो हमारे यहां एक ही जीवके भी प्रदेशोका भेद हो जाओ । इस प्रकार जीव तत्त्वके भेद प्रभेदोंकी व्यवस्था भला कैसे हो सकेगी ? मनुष्य, पद्म, पक्षी, माता, पिता, गुरु, बहिन, बेटी, ये सब अनेक प्रकारके जीव तुम्हारे यहां माने गये हैं। तिस कारण उस जीव तत्त्वके प्रभेदींकी व्यवस्थाको चाहनेवाले तम करके कियासिहत हो रहे जीव चलने, फिरनेकी अपेक्षासे असर्वगत ही स्वीकार कर छेने चाहिये। कीट, पतंग, पशु, पक्षी, सब चलते, घूमते, अन्यापक ही देखे जा रहे है। इस यक्तिभे त्रस जीवोंकी सिद्धि हो जाती है। " स्थावरा एव " यहांसे छेकर " त्रससिद्धिः " तक प्रकरण दारा स्थावर जीवोंके एकान्तका निराकरण कर त्रसजीवोंको भी साध दिया है।

त्रसा एव न स्थावरा इति स्थावरिन्हवोपि न श्रेयान्, जीवतत्त्वप्रभेदानां व्यवस्थाना-प्रसिद्धिप्रसंगात् । जीवतत्त्वसंतानांतराणि हि व्यवस्थापयस्य प्रत्यक्षाद्यवस्थापयितुमईति तस्य तत्राप्रवृत्तेः । व्यापारव्याहारिलंगात्साधयतीति चेत् न, सुषुप्तमूर्णिताण्डकाद्यवस्थानां संतानांत-राणापव्यवस्थानुषंगात्तत्र तदभावात् । आकारिवशेषात्तिसिद्धिरिति चेत्, तत एव वनस्पति-कायिकादीनां स्थावराणां प्रसिद्धिरस्तु ।

कोई एकान्तवादी कह रहे हैं कि संशारमें सब जीव त्रस ही हैं। स्थावर जीव कोई भी नहीं है, प्रन्थकार कहते हैं कि यों अन्यायी राजाकी आज्ञाके समान स्थावरजीवोंका अपलाप करना (होते हुओंका निषेध करना) श्रेष्ठ नहीं है। हेतु हमारा वहीं है जोकि वार्तिकके उत्तरार्धमें कहा मथा है। अर्थात्—जीव तत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग तुम्हारे ऊपर उठा दिया जावेगा।

देखिये जीव, तत्त्वके प्रमेद स्वरूप गुरु, माता, पिता, मित्र, पशु, पक्षी आदिकी मिन्न मिन्न सन्तानोंके नियमसे व्यवस्था करा रहे आप या और कोई आपका मित्र मळा प्रत्यक्षसे तो उनकी व्यवस्था करा-नेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि उस युष्पदादिकोंके प्रत्यक्ष प्रमाणकी उन अनेक सन्तानोंके जाननेमें प्रवृति नहीं हो रही है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो जड पदार्थीने रूप, रस, आदिनो ही जान पाता है । और मानस प्रत्यक्ष केवल अपनी आत्मा या उसके सुख, दु:ख, आदिकोंकी संवित्ति कर लेता है। अन्य आत्माओंकी व्यवस्था करानेमें प्रत्यक्षकी सामर्थ्य नहीं है। हां, यदि तुम शारीरिक न्यापार करना, वचन बोलना, हित अहित क्रिया करना, आदि ज्ञापक हेतुओंसे उन अन्य संतानोंकी सिद्धि वराओंगे सो उस अनुमानका हेत् तो ठीक नहीं पडेगा । भागासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा । क्योंकि यों गाढरूपसे सोजानेकी अवस्था या मूर्छी प्राप्त हो अन्यवस्था. अथवा अण्डेकी दशा आदिक अवस्थाओंको प्राप्त हो रहे सन्तानान्तरीका व्यवस्था नहीं हो सक्तनेका प्रसंग होगा । क्योंकि उन सुबुस आदिक दशाओंमें जीव है, किन्तु उन दशाओंमें उन शरीरिकिया, वचन, उचारण, आदिक ज्ञापक लिंगोंका अभाव है। यदि भागासिद्ध हेतुका परित्याग कर जीवित अवस्थामें होनेवाले आकारविशेषसे सुव्रप्त आदि दशाओंमें भी उन सन्तानान्तरोंके जीविततत्त्रोंकी व्यवस्था करोगे तब तो उस ही आकार विशेषसे बनस्पतिकायिक. पृथिवीकायिक, आदिक स्थावर जीवोंकी भी प्रक्षिद्ध हो जाओ । मतुष्य, पश्च, पश्ची, पतंग, कीटके समान घास, मही, आदिमें भी चैतन्यका साधक आकार विशेष पाया जाता है। भग्नक्षत संरोहण हो रहा देखा जाता है ।

कः पुनराकारिनशेषो वनस्पतीनां आद्दारलाभालाभयोः पुष्टिग्लानलक्षणः ततो यदि वनस्पतीनामसिद्धिरात्मनां तदा संतानांतराणामपि मूर्छितादीनां क्रतः सिद्धिरिति जीवतस्त्व-प्रभेदं व्यवस्थापयता त्रसस्थावरयारन्यतरिनन्दवो न विधेयः।

सन्भुख बैठा हुआ एकान्तवादी पूंछता है कि वनस्पति जीवोंके कीनसा आकार विशेष है, जो कि उनको जीवतत्त्वका प्रमेद साध देगा ! इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि आहारके लाम और अलाम होने पर पृष्टि और ग्लानि हो जाना यही उनके आकार विशेषका लक्षण है। अर्थात्—वनस्पतियोंको खात, जल, मृत्तिका, वायु, आदिका आहार प्राप्त हो जाता है, तब तो वे हरे, भरे, पृष्ट, दीखते हैं और योग्य आहार नहीं मिलनेपर उनमें म्लानता आ जाती हैं, कोई कोई तो सूबकर मर जाते हैं। इस बातको वर्त्तमानके विशानवेत्ताओंने भी युक्तियोंसे साध दिया है। मेघ, जल, सूर्यिकरणें, स्वच्छ वायु, इनका आहार करना समान होनेपर भी कई जातिकी वनस्पतियां भिन्न प्रकारके खातों की अपेक्षा रखतीं हैं। कोई कोई वनस्पति तो रक्त, मांसका खात मिलनेपर परिपृष्ट होती है। कई वनत्पतियां अपि हारा तपानेपर शीतवाधाके मिट जानेसे पृष्ट होती हैं। शाखा, उपशाखाके टूट जानेपर पुनः प्ररोह हो जाता है। अतः हक्ष, वेल, घास, आदि वनस्पति-

योंमें अनुमान प्रमाण द्वारा जीव तत्त्वको साध छेना चाहिये। पर्वतों या खानोंमें भी आकार विशेष पाया जाता है। अग्नि, जछ, वायुंम भी युक्ति और आगमसे जीव तत्त्वको साध छेना चाहिये। विकान (साइन्स) के प्रयोगोंकी वृद्धि होनेपर इनमे भी जीवके साधक अनेक उपाय प्राप्त हो सकते हैं। तिस कारणसे यदि वनरपति जीवोंकी उस आकारविशेषसे सिद्धि नहीं मानोंगे तब तो मूर्छित या गाढ सोरहे आदि जीवोंके न्यारी न्यारी चैतन्य सन्तानोंकी भी सिद्धि भछा कैसे कर सकोंगे! सन्तानान्तर या मूर्छित, गर्भस्थ, आदिके जीव तत्त्वोंकी ज्ययस्थाका जो उपाय है वही स्थावर जीवोंका भी निर्णायक है। इस प्रकार जीव तत्त्वके प्रभेद हो रहे सन्तानान्तर या सुष्ट शादिक प्रभेदोंकी ज्यवस्था करानेवाछे विद्वान करके त्रस और स्थावर दोनों अकारके जीवोमेंसे किसी भी एकका निन्हव नहीं करना चाहिये। यहांतक त्रस और स्थावर जीवोंकी सिद्धि कर दी गयी है।

कोत्र विशेष १ स्थावरा इत्याह।

इन सामान्य रूपसे जान लिये गये त्रस, स्थावर जीवोमें सौन कीन विशेष प्रमेद हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रथम ही स्थावरोंके विशेष हो रहे मित्र मित्र जाति हैं जा स्थावर हैं, इस बातको प्रत्यकार श्री उमास्वामी महाराज अग्निम सूत्र द्वारा स्पष्ट कह रहे है । त्रम जीवोंका व्याख्यान अधिक करना है । अतः आनुपूर्वीकी अपेक्षा नहीं कर " सूचीकटाह " न्याय अनुसार पिहले स्थावर जीव ही कहे जा रहे हैं । छहारके पास एक मनुष्य पिहले करेहा। बनवाने आया । उसके पीछे दूसरा छहका सुई बनवाने आया । यहां क्रम हा उल्लिखन कर लुझर पाहले सुईवाले को निवटा देता है । इस कियाका नाम " सूचीकटाह न्याय " है । सुई पाव घडीमें बनती है, करेहा। बनानेमें दिन भर लग जायगा ।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनम्पस्ति ये पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं। यहां पृथिवीजीव, पृथिवीकायिक, जलकीव, जलकायिक, तेजोजीव, तेजस्मायिक, वायुजीव, वायुकायिक, वनस्पतिजीव, वनस्पतिकायिक, ये स्थावर जीव माने जाते हैं।

पृथिवीकायिकादिनामकर्मोदयवकात्यृथिव्यादयो जीवाः पृथिवीकायिकादयः स्थावराः प्रत्येतव्या न पुनरजीवास्तेवाममस्तुतत्वात् ।

मूल प्रकृति माने गये नामकर्मकी उत्तर प्रकृति स्थावर नामक कर्म है। उसके भेद हो रहे पृथिबीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, आदि नामकर्मके उदयकी अधीनतास अथवा असंख्यात उत्तरभेदोंको धारनेवाली गति नामक प्रकृतिकी विशेष हो रही तिर्यगातिके प्रभेदोंके उदयसे पृथिबी आदिक जीव ही पृथिभीकायिक, जलकायिक, आदिक स्थावर समझ लेने चाहिये। किन्तु फिर पृथिबी,

प्रियेशिकाय. जल, जलकाय, आदि अजीव पदार्थ तो स्थावर नहीं हैं। क्योंकि जीव तत्त्वके भेद प्रभे-दोंको गिनानेके अवसरपर उन अजीवोंका प्रस्ताव प्राप्त नहीं हैं। अर्थात —ऋपिप्रोक्त शास्त्रोंमें इन प्रत्येकके पृथिनी आदिक चार भेद कहे हैं। पृथिनी, पृथिनीकाय, पृथिनीकायिक, पृथिनीजीव, एवं जल, जलकाय, जलकायिक, जलजीव, इत्यादि समझ लेना । मोटी, कठिनता, आदि गुण स्वरूप हो रही अचेतन मिद्दी, पत्थर, खडी, गेरू, बंजड, रत्न ये तो मामान्य रूपसे प्रथित्री हैं। प्रथित्रीकायिक जीव द्वारा मरकर शीव्र छोड दिया गया जडपिण्ड तो पृथिवीकाय बोटा जाता है । जैसे कि मनष्य मरता हुआ अपने शबको छोड देता है। वर्तमानमें जिस जीवके प्रथिवीकाय वर्त रही है वह जीव प्रियंत्रीकारिक है. जिसका कि अपनी आयुपर्यन्त उस कायसे सम्बन्ध बना रहता है। और जिस जीवके प्रथिनीकायिक नामकर्मका उदय प्राप्त हो गया है, किन्तु अभीतक विग्रह गतिमे पड़ा हुआ कार्मण काय योगमें स्थित है, जबत भ वह प्रिविश्वीको नोक्समें शरीररूप करके प्रहण नहीं करता है तबतक वह प्रथिबीजीव है। यही ढंग अन्य जल आदि चारों भेदोमे लगा लेना। पहिलेके प्रथिवी और प्रथिवीकाय ये दो भेद तो अजीव स्वरूप हैं। और तीसरे चौथे ये दो भेद जीवतत्त्व हैं। अथवां पहिले दो भेदोमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, कुछ देर पहिले मरे हुने और बहुत दिन पहिले मरे हुने सब अमशान भामेमें गर्भित हो जाते हैं । अतः प्रथितीको सामान्य मान कर उत्तरवर्ती तीनों भेदोंमें उसका अन्त्रय कर लेना चाहिये । प्रथितीकाय और प्रथितीकायिक, जलकाय और जलकायिक, तेजस्काय और तेजस्कायिक, वायुकाय और वायुकायिक वनस्पतिकाय और वनस्पति काथिक ये स्थावर जीव हैं। शेष प्रथिनी या प्रथिनीकाय आदि जडोंको यहां स्थानरोंमें गिनना नहीं चाहिये।

कुतस्ते अवबोद्धच्या इत्याह ।

वे पृथिवीकायिक आदिक जीव कैसे किस प्रमाणसे समझ लेने चाहिये १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं । उसको दत्तावचान होकर श्रवण करो ।

जीवाः पृथ्वीमुखास्तत्र स्थावरा परमागमात् । सुनिर्वाधात्प्रबोद्धव्या युक्त्या एकेंद्रिया हि ते ॥ १॥

उन जीवोंमें पृथिशीकायिक, जलकायिक, आदिक जीव स्थावर हैं। ये सिद्धान्त प्ररूपित जीव तो मले प्रकार बाधाओं से रहित हो रहे सर्वज्ञ उक्त, उत्कृष्ट, आगमसे अच्छे समझ लेने चाहिये। वे पृथिवीकायिक आदि जीव नियमसे युक्तियों करके भी एक स्पर्शन इन्दियबाले साध दिये जाते हैं। अर्थात्—सर्वज्ञकी प्रवाह धारासे चले आ रहे आगम द्वारा स्थावरों की सिद्धि प्रधान रूपसे हो जाती है तथा वैज्ञानिक प्रयोंगों द्वारा युक्ति करके भी पृथिवी, जल, आदि शरीरोंको धारनेवाले जीवोंकी सिद्धि हो जाती है। सूक्ष्म यंत्रोंसे मही या जलमें छोटे छोटे रेंगते हुये जो कीट दीखते हैं वे सब अस जीव हैं। किन्तु मिट्टी या जल ही जिन जीवोंका शरीर है वे स्थावर जीव हैं। एक मिट्टीकी छोटी देली लाखों करोड़ों वस्तुतः असेख्याते जीवोंका औदारिक शरीर पिण्ड है। इसी प्रकार एक जलकी बूंद भी असंख्य जलकायके जीवोंके प्रहण किये हुये शरीर हैं। अप्रि, बायु, वनस्पितिके शरीरोंको भी अनेक एकेंद्रिय जीवोंने प्रहण कर रक्खा है। घनाङ्गुलके संख्यातवें भाग या असंख्यातवें भाग एक जीवकी अवगाहना है। हां, वनस्पितिजीव घास वृक्ष आदि थोंडेसे तो संख्यांत घनाङ्गुल प्रमाण भी हैं। किन्तु बहुभाग घनाङ्गुलके असंख्यातवें या संख्यातवें भाग छोटी अवगाहनावाले है।

संति पृथिवीकायिकादयो जीवा इत्यागमात् पृथिवीकायिकादिसिद्धिः । कुतस्तदागमस्य मामाण्यनिश्चय इति चेत् , सर्वथा बाधकरहितत्वात् । न ह्यस्य प्रत्यक्षं वाधकं तद्विषयत्वात् ।

उक्त कारिकाका विवरण यो है कि " पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि जीव विद्यमान हैं " इस प्रकारके आगमवाक्यसे पृथिवीकायिक, आदि जीवोंकी अच्छी सिद्धि हो जाती है। कोई प्रश्न करता है कि उस आगमको प्रमाणपनेका निश्चय कैसे किया जाय ? जिसमें कि पृथिवीकायिक आदि जीवोंका सद्भाव माना गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते है कि सभी प्रकार बाधक प्रमाणोंका रहितपना होनेसे आस पुरुष करके उपन्न हो रहे आगमका प्रमाणपना जान लिया जाता है। देखिये, " सुद्धमणिवातेआभूवातेआपृणिपदिष्टिदं इदरं। " " पुढविदगागणिमारुदसाहारणधूल सुहमपत्तेया" " पुढवीआऊतेऊवाऊ कम्मोदयेण तत्त्येव, णियवण्णचउक्कजुदो ताणं देहो हवे णियमा" इत्यादिक इन आगम वाक्यों या इनसे भी प्राचीन आर्ष प्रन्थोंको बाधा देनेवाला प्रत्यक्षप्रमाण तो नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण उन अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय नहीं करता है। जो प्रमाण जिस विषयमें नहीं चलता है वह उसका साधक या बाधक नहीं समझा जाता है। जो प्रमाण किसान वैद्य विद्याको नहीं जानता है, उसमें उसका सपक्ष या विपक्ष रूपसे टांग अदाना अनुचित है।

पृथिव्यादयो अचेतना एव व्यापारव्याहाररहितत्वाद्धसादिवत् इत्यनुमानं बाधकमिति चेक, अस्य सुषुप्तादिनानेकांतात् । तस्यापि पक्षीकरणमयुक्तं समाधिस्थेनानेकांतात्, पक्षस्य प्रमाणबाधानुषंगात् । सांख्यस्य सुक्तात्मना व्यभिचारात् ।

कोई कटाक्ष कर रहा है कि पृथिवी, जल, आदिक (पक्ष) अचेतन ही हैं (साध्य)। क्योंकि वे शारीरिक व्यापार करना, बोल्ना, विचारना, इष्टमें प्रवर्तना, अनिष्टसे निवृत्त हो जाना, आदि कियाओंसे रहित हैं, (हेतु) मस्म, रेता, उष्णजल, सूखा काठ, आदिके समान (अन्वयद्द्यान्तः)। इस प्रकारका अनुमानप्रमाण तुम्हारे आगमका बाधक है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इस अनुमानमें कहे गये हेतुका अचेत सो रहे मनुष्य या मूर्जिप्रास जीव, अष्टस्थ जीव, आदि करके व्यमिचार दोष आता है। अर्थात् निर्भर सो रहे या मूर्किंग्रत मनुष्यके

कोई शारीरिक किया, वचनव्यवहार, आदिक नहीं हैं। किन्तु वे चेतन हैं। अतः हेतुके ठहर जानेपर साध्यकी स्थित नहीं होनेसे तुम्हारा हेतु व्यक्षिचारी हो जाता है। उस सोते हुये या मूर्छित हो रहे को भी पक्ष कोटिमें कर लेना तो उचित नहीं है। क्योंकि समाधि या व्यानमें स्थित हो रहे जीवकरके व्यभिचार आ जावेगा। अतः प्रतिज्ञास्वरूप पक्षकी प्रमाणोंसे बाधा हो जानेका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें तुम्हारा हेतु बाधित भी बन बैठेगा। भावार्थ—सोते हुये या मूर्छित पुरुषको भी यदि व्यापार आदि नहीं होनेसे अचेतन मान लिया जायगा तो भी व्यान लगाकर बैठे हुये पुरुषके व्यभिचार दोध तदबस्थ रहेगा। सोते हुये पुरुषको मरा हुआ कहना बाधित है। दूसरी बात यह है कि सांस्थ्यमतियोंके यहां प्रकृतिका संसर्ग छूट जानेसे व्यापार करना, बोलना, आदि क्रियाओंसे छूट चुके मुक्तजीव करके व्यभिचार आता है। अर्थात्—वैशेषिक मले ही मुक्त अवस्थामें जीवको अचेतन कह दे, किन्तु कपिलमतके अनुयायी तो मुक्तजीवोंको बहुत अच्छा चेतन कह रहे हैं। वहां हेतुके रह जानेपर भी अचेतनपना साध्य नहीं है। विपक्षमें हेतुका वर्तजाना व्यभिचार है।

पत्यागमो बाधक इति चेन्न, तस्याप्रमाणत्वापादनात् स्याद्वादस्य प्रमाणभूतस्य व्यव-स्थापनात् । तदेवमागमात्सुनिर्वाधात् पृथिवीप्रमुखाः स्थावराः प्राणिनो बोद्धव्याः ।

यदि कोई यों कहे कि जैनोंके आगमसे प्रतिकृत हो रहा दूसरा चार्वाक आदिका आगम उस जिनागमका बाधक है, आचार्य कहते है कि यह तो न कहना। क्योंकि उस स्थावर जीवोंका निषेध करनेवाले आगमको अप्रमाणताका अपादान किया गया है। अप्रमाणसे प्रमाणको कोई ठेस नहीं पहुंच पाती है। हां, स्यादाद सिद्धान्तको ही प्रमाणभूत होनेकी व्यवस्था पूर्वप्रकरणोंमें कर दी गई है। तिस कारण इस प्रकार भले ढंगपूर्वक बाधाओंसे रहित हो रहे आगमप्रमाणसे पृथिवी, आदिक स्थावर प्राणी समझ लेनी चाहिये। सुखपूर्वक प्रहणका हेतु होनेसे तथा मोटी मूर्ति होनेसे अथवा मोजन, गृह, वस्त, अलंकार, आदि रूप करके बहुत उपकार करनेवाली होनेसे पांचों स्थावरोंमें पृथिवीको प्रमुख माना गया है। उसके अनन्तर जल, तेज, वायु, और वनस्पतिका वचन करना भी साभिप्राय है।

युक्तेश्व, ज्ञानं कचिदात्मनि परमाञ्पकर्षमायाति अपकृष्यमाणविशेषत्वात् परिमाणव-दित्यतो यत्र तदपकर्षपर्यंतस्तेऽस्माकमेकेद्रियः स्थावरा एव युक्त्या संभाविताः ।

तथा युक्तिसे भी स्थावर जीवोंको समझ लिया जाता है। सुन लीजिये। ज्ञान (पक्ष) किसी न किसी आत्मामें अव्यधिक अपकर्ष (हीनता) को प्राप्त हो जाता है (साध्य) विशेष रूपसे कमती कमती हो रहा होनेसे (हेतु) परिमाणके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—आकाश, लोक, सुमेरुपर्वत, सम्मेदशिखर, गृह, घर, नारियल, वेल, वेर, कालीमिरच, पोस्त, आदिमें उत्तरोत्तर घट रहा परिमाण जैसे परमाणुमें पहुंचकर अन्तिम अपकर्षको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार केवलज्ञान, श्रुतज्ञान, आचार्यका ज्ञान, शास्त्रीका ज्ञान, साधारण पण्डितका ज्ञान, पश्च, पक्षी, पतंग, कीट, इनका ज्ञान यों

उत्तरोत्तर घटते घटते ज्ञान भी कहीं न कहीं अन्तिम घटीको पहुंच जाता है। ऐसे इस अनुमानसे जहां कहीं जीवोंमे उस ज्ञानकी न्यूनताका अन्तिम आधार है। वे ही हम स्याहादियोंके यहां एक स्पर्शन इन्दियवाले स्थावर जीव माने गये हैं। इस प्रकार अनुमानखरूप युक्तिकरके स्थावर जीवोंके सद्भावकी सम्भावना की जा चुकी है।

नतु च भस्मादावनात्मन्येव विज्ञानस्यात्यंतिकापकर्षस्य सिद्धर्न स्थावरसिद्धिरिति चेक, स्वाश्रय एव ज्ञानापकर्षद^{्ध}नात् अनात्मनि तस्यासंभवादेव हान्यनुपपत्तेः । मध्वंसो हि हानिः सत एवोपपद्यते नासतोन्नुत्पद्मस्य वंध्यापुत्रवत् ।

उक्त अनुमान द्वारा स्थायर जीयों भी सिद्धि कर रहे आचार्यके ऊपर स्थावर जीयोंको नहीं माननेवाले किसी पण्डितकी ओरसे पुनः स्वपक्षका अवधारण है कि जीवतत्त्वसे मिन हो रहे जड़, भस्म, पीतल, ईट, आदि पदार्थमें ही विज्ञानके अल्यन्त रूपसे होनेवाले अपकर्षकी सिद्धि हो रही है। अतः स्थावर जीवोकी सिद्धि न हो सकी। मन्द्रबुद्धि जीवोमे ज्ञानकी कमी होते होते जड़ राखमें सर्वथा ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो गया है। अपकर्षका बिटिया आधार जब मिल गया है तो उस अनुमानसे भला स्थावर जीवों भी सिद्धि कहां हुयां ? आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ज्ञानके निज आश्रयमें ही ज्ञानका अपकर्ष हो रहा देखा जाता है। आत्मतत्त्वसे सर्वथा मिन हो रहे जहमें उस ज्ञानका असम्भव हो जानेसे ही हानिकी सिद्धि नहीं बन सकती है। हानिका अर्थ यहां नियमसे अच्छा ध्वंस हो जाना है। यह ध्वंस तो प्रतियोगीकी सत्तावाले पदार्थकी हानि नहीं हो सकती है। रोगकी हानि जीवके बन सकती है, जड़के नहीं। जहां प्रतियोगीका सद्भाव है बहां ही उसका ध्वंस है। वैशापिकाने भी ध्वंसका प्रतियोगीके समवायी देशमे नियत होकर रहना माना है। घटका ध्वंस कपालोमें और पटका ध्वंस तन्तुओंमें ठहरता है। मस्ममे तो ज्ञानका अत्यन्तामाव है और हम ज्ञानके ध्वंस या न्यूनपनको साथ रहे है। वह एकेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जावेगा। किसी मनुष्यको ही निर्धन या अपट कहा जाता है, पत्थर या डेलको नहीं।

कचिदात्मन्यप्यत्यंतनाशो ज्ञानस्यास्तीति चेन्न, सतो वस्तुन उत्पत्तिविनाशानुपपत्तेः।

पुनः कोई बैरोषिकका पक्ष छेकर कहता है कि भरममें नहीं सही, किन्तु किसी किसी आतमा (मुक्तजीव) में भी तो ज्ञानका अत्यन्त रूपसे नारा विद्यमान है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्यों के अनादि अनन्त सदूप हो रही वस्तुके उत्पत्ति और विनाश बन नहीं सकते हैं। अर्थात्— " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः " " नैवासतो जन्म सतो न नाशो "। जैसे पुद्रछ द्रव्यमें रूप, रस, आदि गुण अनादि काछसे अनन्त काछतक विद्यमान रहते हैं, कोई नया गुण उम्मजता नहीं है और न किसी सत् गुणका विनाश होता है। यदि नया गुण उपजने छगे तो जढ़

द्रन्यमें क्वान, सुख, गुण भी उपज जायेंगे। ऐसी दशामें जह और चेतनका विभाग करना अशक्य हो जायगा। तथा यदि विद्यमान गुणोंका विनाश होने लगे तो किसी दिन संपूर्ण गुणोंका अभाव हो जानेसे करनका ही अभाव हो जायगा। गुणोंका समुदाय ही तो द्रव्य है। हां, विद्यमान हो रहे गुणोंकी पर्यायोमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी न्यूनता, अधिकता, या विभावपरिणाम होते रहते हैं। तभी तो ज्ञानगुणकी अत्यन्त हानि होते हुये भी सूक्ष्मनिगोदिया लिख अपर्यातक जीवमें अक्षरके अनन्तवें भाग नित्य प्रकाशनेवाला निरावरण ज्ञान माना गया है। मनुष्य भी कितना ही पागल, मूर्छित, मूर्ख, पौंगा, दुःखित, क्यों न हो जावे, उसमें थोडा ज्ञान तो अवश्य ही बना रहता है। पण्डिताईके ज्ञानोंका ध्वंस मूर्खता पूर्वक हुये ज्ञानोंके विद्यमान होनेपर पाया जाता है। एकेन्द्रिय दशामें सामान्य अत्यल्पज्ञान होनेपर विशिष्ट ज्ञानोंकी हानि मानी जाती है, ज्ञानका सर्वथा नाश कहीं नहीं हो पाता है।

कर्मणां कथमत्यंतिवनाञ्च इति चेत्, क एवमाइ ? तेषामत्यंतिवनाञ्च इति । कर्मरूपाणां इ पुद्रस्थानामकर्मरूपतापत्तिविनाञ्चः सुवर्णस्य कटकाकारस्याकटकरूपतापत्तिवत् । ततो गमन-परिमाणादारभ्यापकृष्यमाणिविञ्चेषं परिमाणं यथाः परमाणौ परमापकर्षपर्यतमात्रं सिद्धं तथा ज्ञानमपि केवस्थादारभ्यापकृष्यमाणिविञ्चेषमेकेंद्रियेषु परमापकर्षपर्यतमाप्तमवसीयते । इति युक्ति-मत्यृथिवीकायिकादिस्थावरजीवमितपादनं ।

पूर्वपक्षवाला कहता है कि बताओ कर्मीका अत्यन्तरूपसे विनाश मला कैसे हो जाता है ! मुक्त जीवोंमें भी ज्ञानके समान थोडे, बहुत, कर्म विद्यमान रहे आवेंगे । आप जैनोंने अभी कहा था कि सतका विनाश नहीं हो पाता है। यों कहनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि कौन अविचारी इस प्रकार कह रहा है कि उन कर्मीका अत्यंतरूपसे विनाश हो जाता है कि कर्मस्वरूप हो रहे पुद्रलोंकी अकर्मस्वरूपपने करके प्राप्ति हो जाना ही विनाश है। जैसे कि कडोंके आकारको धारनेवाले सोनेकी कडे रहित हो रहे कुन्डल, कंयूर, आदि अलंकाररूपसे प्राप्ति हो जाना ही सोनेका व्यंस माना जाता है। सोनेका समूळच्ळ नाश नहीं होता है। मैळे बस्नको निर्मूळ कर देनेपर मळकी पानीमें कीचडरूप अवस्थासे स्थिति बनी रहती है। साबन, तेजाब, आग, किसीसे भी शुद्धि करो, जगत से मळ उठा दिया जाय. ऐसा मळका सत्यानाश कभी नहीं हो सकता है। आत्मासे सम्बन्ध प्रूटकर कर्म भी अन्य पुद्रलकी अवस्थामें अन्यत्र बने रहते हैं। अर्थात्-मुक्तिके लक्षणमें कर्मौका देशसे देशान्तर हो जानारूप विभाग और कर्म अवस्थासे अकर्म अवस्था हो जाना अभीष्ठ है । तिस कारण सबसे बढ़े आकाशके परिमाणसे प्रारम्भकर कमती कमती हो रही विशेषताको छिये ह्रये परिमाण जैसे परमाणुमें उत्कृष्टरूपसे अपकर्षके पर्यतको प्राप्त हो चुका सिद्ध है. उसी प्रकार ज्ञान भी केवळज्ञानसे प्रारम्भ कर विशेषविशेषरूपसे घट रहा संता एकेन्द्रिय जीवोंमें सबसे बढिया हीनताके पर्यन्तको प्राप्त हो चुका जान छिया जाता है। इस प्रकार पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि स्थावर जीवोंका सूत्रकार द्वारा प्रतिपादन करना बुक्तियोंस सहित है।

के पुनर्विशेषतस्त्रसा इत्याह।

श्री उमास्त्रामी महाराजने संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दो मेद कहे थे, उनमेंसे स्थावर विंशोंका वर्णन किया जा चुका है। पुनः अब ये बताओं कि विशेषरूपसे त्रस जीव कौन कौन हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर सूत्रकार महाराज उत्तर वचन कहते हैं।

द्वीन्द्रियादयस्रसाः॥ १४॥

दो स्पर्शन, रसना, इन्द्रियोंको धारनेवाले और स्पर्शन, रसना, घ्राण, इन तीन इन्द्रियोंको धारनेवाले आदिक जीव त्रस हैं।

द्वे स्पर्धनरसने इंद्रिये येषां ते द्वींद्रियाः क्रम्यादयस्ते आदयो येषां ते इमे द्वींद्रियादय इति व्यवस्थावाचिनादिश्रक्षेन तद्वुणसंविज्ञानलक्षणान्यपदार्था द्वतिरवयवेन विद्रहो सम्बदायस्य इत्यर्थत्वात् ।

जिन जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां विद्यमान हैं, वे लट, जौंक, मेंडुआ, संख, सीप, आदिक द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे द्वीन्द्रिय जीव जिन जीवोंके आदिभूत हैं वे जीव ये द्वीन्द्रिय आदिक है, इस प्रकार आगममें हो रही व्यवस्थाको कहनेवाले आदि शहके साथ अन्य पदार्थको प्रधान रखने-बाली बहुबीहि समास नामकी वृत्ति है। समासमें पढे हुये उन शहुँ कि गुण (अर्थ) का अच्छ विज्ञान करादेना जिस वृत्तिका स्वरूप है अथवा एक देश हो रहे अवयवके साथ समासका पूर्ववर्ती क्रियह कर छिया जाता है और समासवृत्तिका अर्थ समुदाय हो जाता है। भावार्थ—समासविदित पर्दोंके अर्थेसे अन्य अर्थको प्रधानरूपसे कहनेवाली बहुवीहि समास नामक इति है जैसे कि " दृष्टसागरमानय " जिसने समुद्रको देखा है ऐसे पुरुषको छाओ, यहां समासमें पडा हुआ पदका क्यें न समुद्र लाया जाता है न देखना लाया जाता है किन्तु जो मनुष्य पहिले कभी समुद्रको देख चुका है वह पुरुष छाया जाता है, जो कि इन दो पदोंमेंसे किसीका भी अर्थ नहीं है। ऐसी दशामें जिन जीवोंके आदिमें द्वीन्द्रिय जीव हैं ऐसी वृत्ति करनेपर त्रीन्द्रिय आदि जीव तो पकड लिये जावेंगे। किन्तु द्वीन्द्रिय जीवोंका प्रहण नहीं हो सकेगा, जैसे कि पर्वतसे आदि डेकर परली ओर देवदत्तको खेत है, इस बाक्यमें खेतोंमें पर्वत नहीं गिम लिया जाता है । बात यह है कि " तद्गुणसंविज्ञान " और अतद्गुण संविद्यान '' ये दो बहुनीहि समासके भेद हैं । जहां समासघटित पदोंका अर्थ भी बाज्य हो जाता है वह तद्गुण संविज्ञान है, जैसे कि " छम्बकर्णमानय " जिसके छम्बे कान है उसकी **छाओ, इस वाक्य**के अनुसार लम्बे कानवाछा मनुष्य छाया जाता **है**। यहां छम्बे कानका भी छे आमा या श्रहण हो जाता है। इसी प्रकार तद्गुण संविज्ञानसे (अनुसार) दीन्द्रिय जीवका भी अन्तर्भाव हो जाता है। द्वीन्द्रियको भी प्रहण करनेका दूसरा उपाय यह है कि पूर्णरिशमेंसे एक अवस्वके साथ

बिग्रह करो और समास्वृत्तिका अर्थसमुदाय कर छो । जैसे कि " सर्व " आदि रुद्ध सर्वनाम माने जाते हैं, यहां अकेछे सर्वको कहकर सभी विश्व, उभ, उभय, आदिका संग्रह हो जाता है। "सर्वपद" छीड नहीं दिया जाता है। " जम्मूदीप ट्यणोदादयः " इस सूत्रमें भी ये ही उपाय करने पर्देगे।

ते च ममाणतः सिद्धा एवेत्याह ।

तथा वे त्रसंजीव तो प्रमाणोंसे सिंद ही हो रहे हैं, इसी बातको श्री विधानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

त्रसाः पुनः समारव्याताः प्रसिद्धा द्वीन्द्रियादयः । इत्येवं पंचभिः सुत्रैः सर्वसंसारिसंप्रहः ॥ १ ॥

स्थावर जीवोंसे न्यारे फिर श्रसजीव तो भले प्रकार व्याख्यान किये जा चुके द्वीन्दिय, त्रीन्दिय, आदिक प्रसिद्ध ही हैं। बालक, बालिका, भी दो इन्दियवाले लट, सीप, जोंक, आदिको जान रहे हैं। स्पर्शन, रसना, न्राण, इन तीन इन्द्रियोंको रखनेवाले चीटी, विच्छू, खटमल, लीख, जं्आ, दीमक, आदि प्रसिद्ध हैं। स्पर्शन, रसना, नाक, आंखे इन चार इन्द्रियोंके धारी मोंरा, पतंगा, मक्खी, वर्र, झींगुर, मकडी आदि विख्यात हैं। पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, ये सब पांचों इन्द्रियोंको लिये हुये हैं। इनके कान भी विद्यमान हैं। यहांत क " संसारिणों मुक्ताश्च " समनस्काऽमनस्काः, संसारिणस्रसस्थावराः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः, द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः, इस प्रकार पांच सूत्रों करके सम्पूर्ण संसारी जीवोंका संप्रह सूत्रकारने कर लिया है। गुणस्थान या मार्गणाओं द्वारा किये गये भेद, प्रभेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

विग्रहगत्यापसस्य संसारिणोऽसंग्रह इति चेस्न, तस्यापि त्रसस्थावरनामकर्मोदयरहित-स्यासंभवात् तद्वचनेन संग्रहीतत्वात् । सोपि नैकेंद्रियत्वं द्वीद्रियादित्वं वातिकामति प्रकत्व-मसंगात् । ततो भवत्येव पंचिभः सूत्रैः सर्वसंसारिसंग्रहः ।

कोई शंका करता है कि एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरके प्रहण करनेके छिये हुयी विप्रहगितको प्राप्त हो रहे संसारी जीवका संप्रह नहीं हो पाया है। क्योंकि इन्द्रियोंकी शक्ति पूर्णता या चार, छह, आदि प्राणोंकी प्राप्ति तो दूसरा शरीर प्रहण कर चुकनेपर होगी। तभी त्रस या स्थावरका व्यवहार शोभता है। आचार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। कारण कि उस नवीन शरीरको प्रहण करनेके छिये उद्यम कर रहे कार्मणकाय योगवाछे जीवके भी त्रस नामकर्म और स्थावरनामकर्मका उदय विद्यमान है। पूर्व शरीरका सम्बन्ध छूटते ही जीवके उत्तरभवकी आयुके उदयके साथ त्रस या स्थावर इनमेंसे किसी भी एक प्रकृतिका उदय अवश्य हो जाता है। त्रस और स्थावर नामकर्म ने उदयसे रहित हो रहे किसी भी संसारी जीवका जगत्में असम्भव है। अतः उस त्रस या स्थावरके क्चन करके

बिग्रह गतिवाले जीवका संग्रह कर लिया जाता है। पहिला शरीर छूट चुका है और दूसरा नोकर्म शरीर अभीतक गृहीत नहीं हुआ है, ऐसी बीचकी विग्रहगतीमें झानावरणका क्षयोपशम विद्यमान होनेसे लिचकप इन्द्रियां हैं। इन्द्रियजन्य मति, श्रुतझान भी हैं। अतः वह जीव भी एक इन्द्रिय घारापन या दो इन्द्रिय घारकपनका अतिक्रमण नहीं कर पाता है। यदि विग्रहगतिमें इन्द्रियां न मानी जांथगीं तो उस जीवको मुक्तपनेका प्रसंग हो जावेगा। " णवि इन्द्रियकरण जुदा " इन्द्रियोंसे रहित तो सिद्ध मगवान ही हैं। इन्द्रियसहितपन या त्रसस्थावरपनका जन्स तो परमब्रह्म परमात्मा सिद्धोंमें ही है। तिस कारणसे उक्त पांच सूत्रोंकरके यहां सम्पूर्ण संसारी जीवोंका संग्रह हो जाता ही है।

न कानिचिदिंद्रियाणि नियतानि संति यत्संबंधादेकेंद्रियाद्यो व्यवतिष्ठंत इत्याशंकां निराकर्तुकामः सूरिरिदमाइ।

किसीकी शंका है कि इन्द्रियां कितनी हैं ? यह कोई नियत व्यवस्था नहीं हैं । पांच, छह, ग्यारह, भी इन्द्रियां मानी जा रहीं हैं अथवा कोई भी इन्द्रियां ऋमसे नियत नहीं हैं । जिनके कि सम्बन्धसे एक इन्द्रियवाले या दो इन्द्रियवाले आदिक जीव आगम अनुसार व्यवस्थित हो जावें ? इस प्रकार हुयी आशंकाका निराकरण करनेके लिये अभिलाषा रख रहे श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रकों कहते हैं ।

पंचेंद्रियाणि ॥ १५॥

इन्द्रियां पांच ही हैं अर्थात्—पहिले स्त्रमें द्वीन्द्रियको आदि लेकर त्रसजीवोंका निर्देश किया था। इन्द्रियोंकी अंतिम संख्या नहीं बतलाई थी जिनको कि अधिकसे अधिक धारण कर वहांतकके जीव "त्रस" समझ लिये जांय १ अतः इन्द्रियोंकी संख्याके परिमाणको नियत करते हुये श्री उमा-स्वामी आचार्य पांच इन्द्रियोंका निरूपण करते हैं। वे स्पर्शन आदिके क्रमसे व्यवस्थित हो रही पांच हैं।

संसारिणो जीवस्य संतीति वाक्यार्थः । कि पुनरिद्रियं १ इंद्रेण कर्मणा सुष्टमिद्रियं स्पर्शनादींद्रियनामकर्मोदयनिमित्तत्वात् । इंद्रस्यात्मनो लिंगमिद्रियं इति वा कर्ममलीमसस्यात्मनः स्वयमर्यानुपलन्धुमसमर्थस्य हि यदर्थोपलन्धौ लिंगं निमित्तं तिदिद्रियमिति भाष्यते ।

" संसारिणः " इस पदकी अनुष्टाति कर संसारी जीवके पांच इन्द्रियां हो सकती हैं, इस प्रकार इस सूत्रके वाक्यका अर्थ हो जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि फिर इन्द्रिय पदार्थ क्या है ! वैदेा- धिकोंने तो "शब्देतरोद् मूतविदेशपगुणानानाश्रयत्वे सित ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वम् इन्द्रियत्वम् " ऐसा छश्चण बांधा है। अब इस वित्रयमें जैन सिद्धान्त क्या है! सी बताओ। श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं कि परमशक्तिशाली इन्द्र अर्थात् पीहलिक कर्म करके जी रची जाय वह इन्द्रिय है। यह " तेन

मिहर्च " इस सूत्र द्वारा घ प्रत्यय कर शद्धनिरुक्तिसे अर्थ निकलता है। गित नामकर्म या अंगोपांग नामकर्मकी उत्तरोत्तरभेदवाली विशेष प्रकृति हो रहीं स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियनामक नामकर्मके उदयको निमित्त पाकर स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां बन जाती हैं। यहां नामकर्म निमित्त हेतु है और इन्द्रियां हेतुमान् कार्य हैं अथवा आत्मा ही अनन्त शक्तियोंको घार रहा परमेश्वर इंद्र है। उस आत्माका श्वापक लिंग इन्द्रिय है। इस निरुक्तिका भाष्य इस प्रकार है कि कर्म सम्बन्धसे मिलन हो रहे और इसी कारण स्वयं अकेले ही अर्थोको प्रहण करनेके लिये असमर्थ हो रहे आत्माको अर्थकी उपलब्ध करनेमें जो निमित्त हेतु है वह इन्द्रिय है, अर्थात्—उपभोक्ता आत्मा अनन्तशक्तियोंसे मरपूर है। स्वाभाविक अवस्था प्राप्त ही जानेपर पदार्थोंके जाननेमें उसको किसी अन्य सहायककी अपेक्षा नहीं है। फिर भी कर्मोंके आघात करके अधिक मालन हो रहा आत्मा स्वयं अकेला पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं कर सकता है। यों उसके सहायक कारणेंको इन्द्रिय कहते हैं। सम्भव है स्वामी समन्तमद आचार्यकृत गन्धहित्तमहाभाष्यमें यों इन्द्रियशब्दका निर्वचन किया गया होय। "ऐतिह्यान्वेषका विद्वान्सो मार्गयन्तु "।

नन्वेवमात्मनोर्थक्षानमिद्रियिलंगादुपजायमानमनुमानं स्थात् । तश्चायुक्तं । हिर्गस्या-परिक्षानेनुमानानुद्यात् । तस्यानुमानांतरात्परिक्षाने अनवस्थानुषंगादिति कश्चित्। तदसत् । भावें-द्रियस्योपयोगळक्षणस्य स्वसंविदितत्वात्तदवलंबिनोर्थक्षानस्य सिद्धः । न चैतदनुमानं परोक्ष-विशेषरूपं, विशदत्वेन देशतः प्रत्यक्षत्वविरोधात् । परोक्षसामान्यमन्यसु सुख्यतस्तदिष्टमेव परप्रत्ययापेक्षस्य परोक्षत्ववचनात् ।

यहां कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार तो आत्माक उत्पन्न हो रहा पदार्थोंका ज्ञान तो इन्द्रिय नामक लिंगसे उत्पन्न होनेके कारण अनुमान हो जायगा। और वह मानना तो युक्त नहीं है। क्योंकि इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं। पौद्रलिक बाह्य निर्वृत्ति ही इन्द्रिय है जिसका कि इन्द्रियों हारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। ज्ञापक हेतुका परिज्ञान नहीं होनेपर अनुमानकी उत्पत्ति नहीं होपाती है। यदि उस अतीन्द्रिय इन्द्रिय हेतुको पुनः साध्य बनाकर अनुमानान्तिरेसे परिज्ञान करोगे तब तो उस हेतुको भी जाननेके लिये तीसरे, चौथे आदि हेतुओंकी कल्पना करते करते अनवस्था दोषका प्रसंग होगा, यहांतक कोई कटाक्ष कर रहा है। आचार्य कहते हैं कि यह कथन प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि '' लब्ल्युपयोगों भावेन्द्रियम् '' उपयोगस्वरूप भावइन्द्रियां स्वसम्वद् प्रत्यक्ष हारा प्रत्यक्ष कर लीं जा चुकीं हैं। अतः उन प्रत्यक्ष की जाचुकीं इन्द्रियोंका जनकपनेसे अवलम्ब लेनेवाले पदार्थज्ञानकी सिद्धि हो जाती है। आत्मा और भावेन्द्रियां अभिन्न हैं। अतः पर्याय और पर्यायिकी मेद विवक्षा कर इन्द्रिय द्वारा हुआ अर्थज्ञान अनुमान नहीं कहा जा सकता है। वह विशद हो रहा प्रत्यक्ष है। जहां साध्यसे मिन मान लिये गये हेतुसे ज्यातिस्मरणपूर्वक अविशद साध्य रहा प्रत्यक्ष है। जहां साध्यसे मिन मान लिये गये हेतुसे ज्यातिस्मरणपूर्वक अविशद साध्य

कार होता है, वह अनुमान कहा जाता है, अर्थको जाननेमें इन्द्रियां निमित्त हो उद्दी कारफ हेत हैं। झापक हेत नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि यह कोई कोई अनुमान जैनिसिद्धान्त अनुसार विशेषत्या परोक्षज्ञान स्वरूप ही नहीं है। एकदेशसे विशदपना होनेसे अनुमानको प्रत्यक्ष-पनेका कोई विरोध नहीं है। अर्थसे अर्थान्तरको जान लेना रूप परार्थानुमान भले ही सर्वथा परोक्ष होने। किन्तु आभीनिबोधरूप स्वार्थानुमान तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी हो सकता है। हां, सामान्य-रूपसे परोक्ष हो रहे अन्य अनुमान ज्ञानोंको तो मुख्यरूपसे वह परोक्षपना हम स्याद्धादियोंके यहां अभीष्ठ ही किया गया है। क्योंकि जो अपनी उत्पत्तिमें अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा रखता है उस ज्ञानको परोक्षपना कहा गया है। पहिले प्रकरणोंमें भी इसका विचार हो चुका है।

कथं पुनः पंचैवेंद्रियाणि जीवस्थेत्याह ।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि आचार्य महाराज ! फिर यह बताओ कि जीवके पांच ही इन्द्रियां हैं, यह सिद्धान्त किस प्रकार प्रमाणसिद्ध माना जावे ? ऐसी अभिलाषा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

पंचेंद्रियाणि जीवस्य मनसोनिंद्रियत्वतः। बुद्ध्यहंकारयोरात्मरूपयोस्तत्फलत्वतः॥१॥ वागादीनामतो भेदासिद्धेर्धीसाधनत्वतः। स्पर्शादिज्ञानकार्याणामेवंविधविनिर्णयात्॥२॥

संसारी जीवके इन्द्रियां पांच ही हैं। क्योंकि द्रव्यमन तो अनिन्दिय है तथा बुद्धि और अहं अहं " मैं मैं इस प्रतीतिका उद्धेख करनेवाला अहंकार भी तो आत्मास्वरूप है। वे बुद्धि और अहंकार तो इन्द्रिय और मनके कार्य हो रहे फल हैं। हां, यचन बनानेवाले अवयव (जवां) हाथ, पांव, आदिक अवयवोंको इस स्पर्शन इन्द्रियसे भिन्न मानना असिद्ध है ज्ञानका साधन होनेसे रूपर्श, रस, आदिके ज्ञानोंको कार्य बना रहीं स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका ही इस प्रकार पांच भेद रूपसे शेषतया निर्णय किया गया है। कर्मेन्द्रियां मानीं गयीं वाक् आदिक मले ही क्रियाओंकी साधन हो जांय, किन्तु ज्ञानको करानेमें उन बाक् आदिका कोई उपयोग नहीं है। तभी तो ज्ञान इन्द्रियां पांच ही मानी गयीं हैं।

न हि मनः षष्ठमिद्रियं तस्येंद्रियवैधर्म्यादनिद्रियत्वसिद्धः । नियतविषयाणींद्रियाणि, मनः पुनरनियतिषयमिति तद्दैधर्म्ये प्रसिद्धभेव । करणत्वाद्विद्दिलिंगत्वादिद्दियं मन इति चेत् , तद्त्र भूमादिनानेकांतात् । तदिष हि करणमात्मनोर्थोपलञ्धौ लिंगं च भवति न चेंद्रियमिति । पुथ्यहंकारयोरिद्रियत्वाम पंचैवेंद्रियाणीति चेत् न, तयोरात्मपरिणामयोरिद्रियानिद्रियफलस्वात् । सूत्रकार द्वारा स्पर्शन, रसना, प्राण, चक्षुं, कान, इन पांच इन्द्रियोंका क्यन कर कुकनेपर कोई विचारशाली पुरुष अपने मनमें खटका उत्पन्न करता है कि छंड़ी इन्द्रिय मन मी तो है, आचार्य कहते हैं कि सो नहीं समझना। क्योंकि पांच इन्द्रियोंसे विधर्मापन होनेके कारण मनको इन्द्रिय मिन अनिन्द्रियमा सिद्ध हैं। पांच इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शहू ये नियत हो रहे हैं। किन्तु फिर मनका विषय कोई नियत नहीं है। सभी विषयोंमें मनकी प्रवृत्ति योग्यतानुसार मानी गयी है। इस कारण '' नोइन्द्रियं अनिव्हियं, या न इन्द्रियं '' यों इन्द्रियका ईषत् प्रतिषेध करनेसे उन इन्द्रियोंका विधर्मपना मनमें प्रसिद्ध हो ही जाता है। यदि कोई यों कहे कि अर्थकी उपलब्धि करनेमें कर्त्ती आत्माका करण होनेसे मन छठा इन्द्रिय मान लेना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि वह करणव या इन्द्रियक्षिमत्व हेतु तो यहां धूम, शहू, आदिक करके व्यभिचार दोष हो जानेसे आदर नहीं पायेंगे। देखिये, वे धूम आदिक भी आत्माको अर्थकी उपलब्धि करनेमें साधकतम हो रहे करण हैं और ज्ञापक हेतु भी हैं। किन्तु वे इन्द्रिय नहीं है। हेतु रह गया साध्य नहीं रहा अतः व्यभिचारदोष आया। फिर भी कोई कहें कि बुद्धि और अहंकारको इन्द्रियमना होनेसे पांच ही इन्द्रियां नहीं रहीं, सात हो गयीं, प्रन्यकार कहते हैं कि यों तो नहीं समझ बैठना। कारण कि आत्माक परिणाम हो रहें वे बुद्धि और अहंकार तो इन्द्रिय और अनिन्द्रियके फल हैं। विचारमें प्राप्त हो रहीं इन्द्रियां जह होती हुयीं, करण हैं। यें महान् अन्तर है।

वाक्षाणिपादपायूपस्थानां कर्मेद्रियत्वास पंचैवेत्यप्ययुक्तं, तेषां स्पर्शनांतर्भावात् । तत्राः नंतर्भावेतिगसंगात् ।

कपिल मतानुयायीकी शंका है कि वचनिक्रयाका निमित्त हो रही वाक् इन्द्रिय, हाय, पांव, गुदास्थान, जननेन्द्रिय ये पांच कर्मेन्द्रिय भी हैं । अतः पांच ही इन्द्रियां नहीं हुयीं, ग्यारह हो गयीं । श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि सांख्योंका यह कहना भी अयुक्त है । क्योंकि उन कर्मेन्द्रियोंका स्पर्शन इन्द्रियमें अन्तर्भाव हो जाता है । हाथ, पग, आदि सब त्वचाके अवयव हैं । यदि हाथ, पैर, आदिका उस त्वचा इन्द्रियमें अन्तर्भाव नहीं करोगे तो अत्तिप्रसंग हो जायगा अर्थात्—कर्म यानी क्रियांओंको करनेवाले ओठ, अंगुली, नितंब, सिर, भोयैं, ग्रीवा, आदिको भी पृथक इन्द्रियां मानना पंडेगा, जो कि हम तुम किसीको भी इष्ट नहीं है ।

पंचानामेव बुद्धिसाधनत्वाचेंद्रियाणां पांचिवध्यनिर्णयः कर्तव्यः स्पर्शादिज्ञानकार्याणि हि तानि । तथाहि—स्पर्शादिज्ञानानि करणसाधनानि कियात्वादिद्विपक्रियावत् । स्वसंवित्ति-क्रिययानेकांत इति चेक्न, तस्या अपि समनस्कानामंतःकरणकारणत्वात् परेषां स्वशक्तिविश्वेष-करणत्वात् । न चैकत्रात्मिन कर्तृकरणरूपविरोधः प्रतीतिसिद्धत्वादिति निरूपितं प्राक् । ततः स्पर्शादिज्ञानेभ्यः कार्यविश्वेषभ्यः पंचभ्यः पंचेन्द्रियाणीति सामर्थ्यात् मनोनिद्वियं षष्टमिति सूत्र-कारेण निवेदितं भवति । क्रेनैतैर्च्यवस्थितैर्योगो द्वित्रचतुःपंचेंद्वियाः संक्रिनश्र त्रसा इति निश्वीयते ।

🧓 दूसरी बात यह है कि यहां उपयोगका प्रकरण है। अतः बुद्धिको साधनेवाली होनेसे पांच ही **झानेन्द्रियां हैं ।** तुमको भी बुद्धि इन्द्रियोंके पांच प्रकारपनका निर्णय करना होगा वे पांच है। इन्द्रियां स्पर्श. आदि पांच विषयोंके हानस्वरूप कार्योको करती हैं। उसीको स्पष्ट कर यों कहा जाता है। स्पर्श, रस, आदिके ज्ञान (पक्ष) करणसे साधे गये कार्य हैं (साध्य) किया होनेसे (हेतु) इन्द्रियोंकी कियाके समान (अन्ययदृष्ट्रांत)। कोई इस अनुमानमें दोष उठाता है कि ज्ञानकी स्वयं अपने आप संवित्ति हो जाती है। किसी अन्य करणकी आवश्यकता नहीं है। यें। स्वसंवित्ति क्रियामें कियाल हेत तो रह गया, किन्तु करणसे साधन होना यह साध्य नहीं रहा । अतः हेत्रका व्यभिचारदोष हुआ | आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि ज्ञान स्वयंको अपने आप जानता है। उस स्वसंवित्ति क्रियाकी भी मनवाले जीवोंके यहां अन्तरंग करण हो रहे मन इन्द्रिय को कारण मानकर उत्पत्ति हो रही है। हां, दूसरे मनरहित जीवों के अपनी शक्तिविशेषको करण मान कर ज्ञानका स्वयं सम्बेदन हो जाता है, अर्थात्—मनवाले जीवोंके ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा आदि चेतनात्मक पदार्थीका ज्ञान तो नोडान्द्रियमनसे होता है और एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों-तक ज्ञान, सुख, वेदना, इच्छा आदिका ज्ञान उस अन्तरंग विशेष क्षयोपशमरूप करणशक्तिसे उपज जाता है । वह करणशक्ति आत्मासे अभिन हो रही आत्माका ही परिणाम है। एक आत्मामें कर्तापनका और करणस्वरूप इन दो धर्मोंके ठहरनेका विरोध नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे एकमें कई स्वभावोंका स्थित रहना सिद्ध होचुका है। अप्रि अपने दाहपरिणाम करके ईंधनको जलाती है, दीपक अपनी प्रभासे प्रकाश रहा है, बक्ष अपने बोझसे आप ही झक गया है, यहां परिणाम और परिणा-मीकी भेदविवक्षासे कर्तापन और करणपन एक ही पदार्थमें ठहर जाता है। इस बातको हम पहिले ' प्रकरणमें विस्तारपूर्वक कह चके हैं। तिस कारणसे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके यह सिद्धांत निवेदन कर दिया गया हो जाता है कि इन्द्रियोंक विशेषरूप करके कार्य हो रहे स्पर्श आदि सम्बन्धी पांच ज्ञानोंसे पांच इन्द्रियां जान ली जाती हैं तथा पूर्वापर सूत्रोंकी सामध्येस छठा अवस्थित होनेसे अनिन्द्रिय कहा जानेवाला मन भी इन्द्रिय है। तिस कारण जीवोंका इन व्यवस्थाको प्राप्त हो चुकी पांच इन्द्रियोंकरके सम्बन्ध हो जाता है । दो इन्द्रियोंका योग हो जानेसे सीप, शंख आदि दो इन्द्रिय जीव जान छिये जाते हैं । स्पर्शन, रसना, घाण, तीन इन्द्रियोंके योगसे नुआं, खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। उक्त तीन इन्द्रियोंमें चक्षको मिला देनेसे भोरा, मक्खी, आदिक चतुरिन्दिय प्राणी हैं। त्वचा, जिह्ना, नाक, आंखें, कान, इन पांचों इन्द्रियोंके सम्बन्धसे कोटी कोटी मेंडकी, मछली, आदि असंबी पंचेंद्रियजीव हैं। पांचों वे और छटे मनकी धार रहे होड़ा, बैछ, तोता, मैना, मनुष्य आदि संक्षी पंचेंद्रिय जीव हैं। ऐसा युक्ति, आगम, अनुभव और प्रत्यक्ष प्रसाणसे निश्चय किया जा रहा है।

तानि पुनरिद्रियाणि पौद्रलिकान्येकविधान्येवेति कस्याचिदाक्तमपाक्ववंशाह ।

वे पांच इन्द्रियां फिर जड पुद्रलसे ही निर्मित की गयां हैं। आत्म परिणामरूप नहीं हैं तथा वे एक प्रकार ही हैं, इस प्रकार हुये किसी वैशेषिक या अन्य तटस्थ पण्डितकी कुचेष्टाका निराकरण कर रहे, सन्ते श्री उमास्वामी आचार्य आईत सिद्धान्तको अप्रिमसूत्र द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

द्विविधानि ॥ १६ ॥

वे पांचों भी इन्द्रियां द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इन भेदोंसे प्रत्येक दो प्रकारवाली हैं।

द्विः प्रकाराणीत्यर्थः प्रकारवाचित्वाद्विधश्चद्भस्य । श्वक्तींद्रियाणि व्यक्तींद्वियाणि चेति द्विविधानि केचिन्यन्यते, मूर्तान्यमूर्तानि वेत्यपरे । सूत्रकारास्तु द्रव्येंद्रियाणि भावेंद्रियाणि चेति चेतिक निधायवमाहुः ।

विध शब्दके विधान, प्रकार, युक्त, गत ऐसे कई अर्थ होते हैं । किन्तु इस सूत्रमें प्रकार अर्थको कहनेवाले विध शब्दका प्रहण किया गया है । अतः प्रत्येक इन्द्रयां दो दो प्रकारवाली हैं । यह वाक्यका अर्थ हो जाता है । कोई मीमांसक यों मान रहे हैं कि शक्तिरूप इन्द्रियां और व्यक्तिरूप इन्द्रियां इस ढंगसे इन्द्रियोंके दो प्रकार है अथवा दूसरे कोई पण्डित मूर्त इन्द्रियां और अमूर्त इन्द्रियां इस प्रकार इन्द्रियोंके दो भेद बखान रहे हैं । कान, आकाशस्वरूप होनेसे अमूर्त हैं शेष चार इन्द्रियां और मन मूर्त हैं, किन्तु यहां तत्वार्थसूत्रको बनानेवाले श्री उमास्वामी महाराज तो प्रत्येक इन्द्रियां क्रय इन्द्रियस्वरूप और भाव इन्द्रिय स्वरूप हैं, इस प्रकार चित्तमें धारण कर इस " द्विबिभानि " सूत्रको कह रहे हैं । अर्थात् निकन्दी वैशेषिक या अन्य विद्वानोंके मतका हम विरोध नहीं करते हैं । लिन्धिरूप शक्ति इन्द्रिय और व्यक्ति रूप उपयोग अथवा शक्तिरूप इन्द्रियाविक्ति आत्मप्रदेश और पीद्रिलिक रचनास्वरूप व्यक्त इन्द्रिय हमको भी अभीष्ट हैं । इन्द्रियोंके मूर्त अमूर्त भेदोंका भी हम तिरस्कार नहीं करते हैं । लिन्ध, उपयोग, ये भावन्द्रियां और आतम प्रदेशक्तप निर्वृत्तिको जैन सिद्धान्तमें अमूर्त माना गया है । हां, उन आत्म प्रदेशोंपर रचे गये इन्द्रियाकार पीद्रिलिक परिणामको मूर्त इन्द्रिय इष्ट किया है । किन्तु ये और इनसे न्यारे अन्य भी भेद, प्रभेद, इन्हीं दो द्रव्येन्द्रिय और मावन्द्रिय भेदोंमें गतार्थ हो जाते हैं । सूत्रकारका यह अभिप्राय व्यक्तित हो रहा है ।

यद्येवं कानि द्रव्येंद्रियाणीत्याह ।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इस प्रकार द्रव्येंद्रिय और भावेन्द्रिय दो भेद हैं, तो इन्द्रियोंक। पहिला भेद द्रव्येन्द्रियां कौन हैं ? बताओ । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधान-कारक सूत्रको कहते हैं।

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियम् ॥ १७ ॥

पौद्गलिक कर्मको भेरक निमित्त पाकर कर्ता आत्मा जिस आत्मसम्बन्धी या पुद्गलसम्बन्धी परिणामको बनाता है वह निर्शृत्ति है तथा निर्शृत्तिका उपकार करनेवाला उपकरण होता है। यों निर्शृत्ति और उपकरण यों दो दो भेदस्यरूप पांचों द्रव्येन्द्रियां हैं।

निर्वर्त्यत इति निर्वृत्तिः सा देधा बाह्याभ्यंतरभेदात् । तत्र विश्रद्धात्मप्रदेशवृत्तिरभ्यंतरा तस्यामेव कर्मोदयापादितावस्थाविश्लेषः पुद्रस्त्रभचयो बाह्या ।

अप्रेरक निमित्त हो रहे आत्मा कार्ताको परवश करनेवाले प्रेरक निमित्त नाम कर्म करके आत्म परुषार्थ द्वारा जो आत्मा या पद्मलकी परिणितयां बनवाई जातीं है वे निर्वत्तिस्वरूप इन्द्रियां हैं। इस प्रकार अन्याप्ति, अतिन्याप्ति, असम्भव, दोषोक्ता निवारण करनेवाले कई विशेषणोंको लगाकर निर्वत्ति शद्वकी निरुक्तिसे निर्दोष अर्थ निकाल लिया गया है। वह निर्वत्ति बाह्य और अभ्यंतर भेदोसे दो प्रकार है। तिन दो प्रकारोंमें विश्वद्ध आत्माके प्रदेशोंका वर्त्तना तो अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। और उन आत्मप्रदेश स्वरूप अभ्यन्तर निर्वृत्तिमें ही कर्मैं के उदयसे विशेष अवस्थाको प्राप्त कराया गया पद्रल पिण्ड तो बाह्यनिर्दात्ति है । अर्थात् ---अंगुलके असेव्यातवें भाग या संख्यानवें भाग अथवा संख्यात घनांगुल परिमित विशुद्ध आत्मप्रदेशोंकी चक्ष, श्रोत्र, प्राण, जिह्ना, त्रचा, स्वरूप रचना हो जाना अभ्यन्तर निर्वृत्ति है । यह जीवतत्त्व आत्मक पदार्थ है तथा योग द्वारा प्रहण आहारवर्गणाओंमेंसे शरीर और श्वासोच्छ्रासके उपयोगी द्रव्यसे शेप बचे हुये की गयीं स्वल्प बढिया पुद्रल द्रव्यकी मसूर, यवनाली, तिलपुष्प, (या धतुर पुष्प,) खुरपा अथवा अपने अपने शरीर अनुसार अनेक प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय आकृति ऐसी रचनाको धार रहा पदल प्रचय तो बाह्यनिर्वृत्ति है। यह पदल तत्त्व है, जैसे कि आंखोंके भीतर इन्द्रिय आकारवाले आत्माके चेतन प्रदेश आंखडीन्द्रयकी अभ्यन्तर निर्वति है । और उन आत्मप्रदेशीपर उपादान कारण आहारवर्गणाका इन्द्रिय पर्याप्तिस्वरूप आत्मपुरुपार्थ द्वारा बना दिया गया मसर सारिखा अतीन्द्रिय पद्रल विवर्त्त तो आंखकी वाद्य निर्वृत्ति है। यह द्रव्येन्द्रिय अतीन्द्रिय है। अन्य दर्शनोंमें प्रायः यही इन्द्रिय बखानी गयी है । शेष इन्द्रिय भेदोंकी गहराईतक वे नहीं पहुंच पाय है ।

उपक्रियतेनेनेत्युपकरणं । तदपि द्विविधं बाह्याभ्यंतरभेदात् । तत्र बाह्यं पक्षपुटादि, कुष्ण-सार्मंडलाद्यभ्यंतरं । निर्दृत्तिश्रोपकरंणं च निर्दृत्युपकरणे द्रव्येंद्रियमिति जात्यपेक्षयैकवचनं ।

जिस अवयव करके विशेष आत्म प्रदेश और विशेष पुद्गल रचनास्त्ररूप निर्मुत्तिका उपकार किया जाता है वह उपकरण इन्द्रिय है। वह उपकरण भी बाह्य और अभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका है। उनमें बाह्य उपकरण तो नेत्रइन्द्रियके दोनों पलक, रोमावली, आदि हैं तथा नेत्रके भीतरका शुक्ल भाग और उसके भी बीचमें पड़ा हुआ गोल काला या तिल अंश ये सब नेत्र इन्द्रियके अभ्यन्तर उपकरण है। कृष्णसारका अर्थ चक्षुगोलक किया जाय। निर्मुत्ति और उपकरण यो इतरेतर योग इन्द्र करने

पर निष्टति और उपकरण ये दो द्रव्येन्द्रिय हैं। यो जातिकी अपेक्षा द्रव्येन्द्रिय शब्दमें एक वचन कह दिया गया है। अन्यथा निर्वृत्ति और उपकरण इस दिवचनान्त उदेश्य दलका सामानाधिकरण होनेसे दिवचन " द्रव्येन्द्रिये " कहना चाहिये या। अथवा पांची इन्द्रियोंको द्रव्येन्द्रियकी विधि करनेकी अपेक्षा द्रव्येन्द्रियाणि यह बहुवचनपद प्रयोग उपयोगी पडता। किन्तु जाति शब्द मानकर एक वचन कह देनेसे सभी प्रयोजन सिद्ध होजाते हैं। गेंहू मन्दा है, चना तेज है, यहां जातिमें एक बचनका प्रयोग है। वैसा ही सूत्रमें जान लेना।

कुतः पुनस्तानि प्रतिपद्यंत इत्याह ।

वे निर्वृत्ति और उपकरणस्त्ररूप इन्द्रियां फिर किस प्रमाणसे जान्हीं जातीं हैं शबताइये, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

द्विविधान्येव निर्वृत्तिस्वभावान्यनुमिन्वते । सिद्धोपकरणात्मानि तच्च्युतौ तद्विदच्चुतेः ॥ १ ॥

बाह्य, अभ्यन्तर, निर्वृत्ति स्वरूप और प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहे बाहिरंग अन्तरंग उपकरण स्वरूप दो प्रकारकी ही इन्द्रियोंको विद्वान अनुमान द्वारा जान रहे हैं, यहां व्यतिरेक घट जाता है। यदि उन इन्द्रियोंकी च्युति कर दी जायगी तो उन निर्वृत्ति और उपकरणसे उत्पन्न हुई संवित्तिओं-की भी च्युति हो जायगी।

बाग्राभ्यंतरोपकरणेंद्रियाणि तावत्त्रसिद्धान्येव तद्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायिनां स्पर्भादिक्कानानाग्रुपलंभात् । बाग्धाभ्यंतरनिर्द्धत्तिस्वभावानि चेंद्रियाणि तत एवानुमीयंते व्यापार-वत्स्वप्युपकरणेंद्रियेषु विषयालोकमनस्यु च संनिद्दितेषु सत्यपि च भावेंद्रिये कदाचित्स्पर्भादि-क्कानानुत्पत्तेरन्यथानुपपत्तेस्तच्च्युतावेव तद्विद्रश्च्युतिसिद्धेः ।

सबसे प्रथम बाह्य उपकरण और अभ्यन्तर उपकरण स्वरूप इन्द्रियां तो बालक बालिकाओं, पशु पिक्षियों, तकको प्रसिद्ध हो ही रहीं हैं। क्योंकि उन बिहरंग, अन्तरंग, उपकरणोंके ज्यापारके साथ अन्वय, ज्यतिरेकका अनुविधान करनेवाले स्पर्श, रस, आदि ज्ञानोंकी उपलब्धि हो रही है। कारणके होनेपर कार्यका होना अन्वय है और नियत किये जानेवाले कारणके विना कार्यका न होना ज्यतिरेक हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शद्धके ज्ञानोंका उपकरण इन्द्रियोंके साथ अन्वयन्यतिरेक बन रहा है। आत्माको अर्थकी उपलब्धि करनेमें जो निमित्तकारण पढ़ेगा वह इन्द्रिय है। यह लक्षण पहिले बांधा जा चुका है। तथा तिस ही हेतुसे यानी स्पर्श, आदिके ज्ञानोंकी अन्यथानुपपत्ति होनेसे ही बाह्यनिर्हित और अभ्यन्तरिनेष्ट्रित स्वरूप इन्द्रियोंका भी अनुमान कर लिया जाता है। देखिये, ज्यापारको धार रहीं भी उपकरण इन्द्रियोंके होनेपर और स्पर्श, स्पर्शवान, रस, रसवान

आदि विषयोंको जाननेके लिये उत्सुक हो रहे मनके सिनिहित होनेपर भी तथा लिधस्वरूप भावेन्द्रियके होते हुये भी कभी कभी स्पर्श आदिके ज्ञान नहीं उपज पाते हैं। वह ज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा यानी निर्वृत्तिस्वरूप इन्द्रियोंको माने विना नहीं वन पाती है। अतः निर्वृत्ति स्वरूप इन्द्रियोंको ध्युति होनेपर ही उन स्पर्श आदिके ज्ञानोंकी च्युति हो जाना सिद्ध है। इस प्रकार अविनामावी हेतुसे निर्वृत्ति इन्द्रियां सिद्ध कर दी गयी हैं। पांचों इन्द्रियोंमें और मनमें भी दोनों प्रकारके निर्वृत्ति और उपकरणोंको समझ लेना चाहिये।

कानि पुनर्भावेंन्द्रियाणीत्याह ।

दो प्रकारकी इन्द्रियोंमें पिछलीं भावेन्द्रियां फिर कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहतें हैं ।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

लिंध और उपयोग स्वरूप भावेंद्रियां है। भावार्थ-पांचों इन्द्रियां और छठे मनके भावेंद्रिय रूपसे प्रत्येकके लिंध और उपयोग ये दो दो भेद हो रहे हैं।

इन्द्रियनिर्श्वत्तिहेतुः क्षयोपश्चमविशेषो लब्धिः तिश्विमित्तः परिणामविशेष उपयोगः क्रब्धि-श्रोपयोगश्च लब्ध्युपयोगौ भावेदियमिति जात्यपेक्षयैकवचनं ।

द्रव्य इन्द्रियों की निर्शृति (बनाने) का निमित्त कारण हो रहा क्षयोपशम विशेष तो लिक्ष है। अर्थात् जानावरण कर्मों के क्षयोपशमसे हुयी विशुद्धि द्वारा आत्मा द्रव्येदियों का सम्पादन करता है। जिस आत्माके पास स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होगा उस आत्माके केवल एक ही स्पर्शन द्रव्य इन्द्रिय बनेगी। मनुष्य जीवके विश्वहगतिमें छक इन्द्रियों का क्षयोपशम हो रहा है। अतः गर्भावस्थामें जन्म लेते ही छक द्रव्येदियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है तथा उस लिक्षको निमित्त मानकर हुआ आत्माका परिणामविशेष तो उपयोग है। लिक्ध और उपयोग यों द्वन्द्व समास करनेपर कल्ल्युपयोगों " यह पद बन जाता है। ये दोनों भाव इन्द्रिय हैं, ऐसा वाक्यार्थ कर लिया जाता है। छह इन्द्रियों के दो मेद होकर बारह भावेदियां हैं। फिर भी जातिकी अपेक्षा करके "भावेदियम्" ऐसा वष्यन सूत्रमें कह दिया है। एकेंद्रियसे लेकर संज्ञी पञ्चेदियपर्यंत अनेक लब्ल्यपर्याप्तक जीवोंके भी द्रव्येदियोंका बनना प्रारम्भ हो जाता है। पूर्णता नहीं हो पाती है। तदनुसार उनके लिक्षरूप इन्द्रियां मानी जाती है।

कुतः पुनस्तानि परीक्षका जानत इत्याह ।

परीक्षक विद्वान् फिर उन भावेंद्रियोंको किस प्रमाणसे जानते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानंद स्वामी उत्तर कहते हैं ।

भावेन्द्रियाणि लब्धात्मोपयोगात्मानि जानते । स्वार्थसंविदि योग्यत्वाद्यापृतत्वाच संविदः ॥ १ ॥

लिधस्तरूप और उपयोगस्तरूप हो रहीं भावेंद्रियोंको पण्डितजन जान रहे हैं (प्रतिशाक्षा) वाक्य) स्व और अर्थके ज्ञानमें योग्यता होनेसे तथा सम्वित्तिके व्यापार युक्त होनेसे (हेतु) अर्थात्—स्वार्थसम्वित्तिकी योग्यतासे लिधस्वरूप भावेंद्रियका अनुमान हो जाता है और सम्वित्तिके व्यापारसे उपयोग आत्मक इन्द्रियोंका अनुमान कर लिया जाता है।

छन्धिस्वभावानि तावद्भावेदियाणि स्वार्थसंविद्यो योग्यत्वादात्मनः प्रतिपद्यंते । न हि तत्रायोग्यस्यात्मनस्तदुत्पत्तिराकाशवत् स्वार्थसंविद्योग्यतेव च छन्धिरिति छन्धिदियसिदिः । उपयोगस्वभावानि पुनः स्वार्थसंविदो व्यापृतत्वािश्वािश्वेन्वंति । न हाच्यापृतािन स्पन्नोदिसंवेद-नािन पुंसः स्पन्नीदिप्रकाशकािन भविद्यम्हिति सुनुप्तादीनामपि तत्मकाश्चनमसंगात् ।

प्रथम ही लिब्धस्तरूप छह भावेन्द्रियां तो स्वार्थोंकी संवित्ति करनेमें योग्यतासे आत्माके हो रही समझ ली जातीं हैं या विद्वान् इन्द्रियोंको समझ लेते हैं। उस स्वार्थसम्वेदनमें अयोग्य हो रहे आत्माके उन विद्युद्धिस्वरूप लिब्धयोंकी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। जैसे कि आकाश द्रव्यके क्षयोपशम विशेष नहीं उपजता है। और स्वार्थसम्वित्तिकी योग्यता ही तो लिब्ध है। इस प्रकार अनुमान प्रमाणसे लिब्ध स्वरूप इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है तथा फिर उपयोगस्वरूप दूसरीं भावेन्द्रियोंको स्वार्थसम्वितिका व्यापार करनेसे पण्डितजन निर्णीत कर लेते हैं। व्यापाररहित हो रहे स्पर्श आदिके सम्वेदन तो आत्माको स्पर्श आदिके प्रकाशक नहीं हो सकते हैं। अन्यथा गाढ सोती हुयी अवस्थावाले या मूर्छित हो रहे आदि पुरुषोंको भी उन स्पर्श आदिके प्रकाश जानेका प्रसंग हो जायगा। अतः व्यापार कर-स्पर्श आदिको प्रकाश रहे ज्ञान या दर्शन तो उपयोगस्वरूप भावेन्द्रियां हैं।

स्वार्धमकाशने व्यापृतस्य संवदनस्योपयोगत्वे फल्रत्वादिद्रियत्वानुपपत्तिरिति चेका, कारण-धर्मस्य कार्यानुष्टृत्तेः । न हि पावकस्य मकाश्चकत्वे तत्कार्यस्य मदीपस्य मकाश्चकत्वं विरुष्यते । न च येनैव स्वभावेनोपयोगस्येद्रियत्वं तेनैव फल्रत्विषयते यतो विरोधः स्यात्, साधकतमत्व-स्वभावेन हि तस्येद्रियव्यपदेशः क्रियारूपतया तु फल्रत्वं प्रदीपवत् । प्रदीपः मकाश्चात्मनाः मकाश्चयतीत्यत्र हि साधकतमः प्रकाशात्मा करणं क्रियात्मा फल्लं स्ववंत्रात्मा कर्तेति प्ररूपितमायं।

किसीकी शंका है कि स्वार्थोंके प्रकाशनेमें व्यापार युक्त हो रहे सम्वेदनको उपयोगपना मान-नेपर फल होजानेके कारण इन्द्रियपना नहीं बन सकता है, अर्थात्—इन्द्रियोंका फल उपयोग है, वह मला करणस्वरूप इन्द्रिय कैसे हो सकता है ? आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि कारणोंके धर्मकी कार्योमें अनुवृत्ति हो जाती है। कारणमें इन्हियपना है तो उसके कार्य बन रहे उपयोगमें भी इन्हियपनेका व्यवहार हो जाता है। देखो, अग्निको प्रकाशकपना माननेपर उस अग्निके कार्य हो रहे दीपकको प्रकाशकपना विरुद्ध नहीं पडता है। एक बात यह है कि जिस ही स्वभाव करके उपयोगको इन्हियपना कहा जाता है उस ही स्वभाव करके फळपना इष्ट नहीं किया जाता है, जिससे कि विरोध दोष हो जाय। देखो, स्वार्थसम्बित्ति कियाको करनेमें प्रकृष्ट साधकपन स्वभाव करके ही उस उपयोगको इन्हियखका व्यपदेश है और कियास्वरूप होनेसे उपयोगको फळपनेका निरूपण है। प्रदीपके समान। एक पदार्थमें भी करणपना और फळपना घटित हो जाता है, अर्थात्—प्रदीप (कर्ता) अपने प्रकाश स्वभाव करके (करण) पदार्थोको या स्वयंको (कर्म) प्रकाश रहा है (क्रिया)। यहां इस वाक्यमें प्रकाशन कियाका साधकतम हो रहा प्रकाशस्वरूप करण है और प्रकाशन कियास्वरूप फळ है तथा स्वतंत्र हो रहा प्रदीप आत्मक कर्ता है। इस बातको हम कई बार निरूपण कर चुके हैं। इन्द्रिय शब्दका अर्थ उपयोगमें प्रधानतासे विद्यमान है। कथंचित् भेद, अभेद, होनसे उपयोगमें कितने ही अनेक स्वभाव घटित हो जाते हैं।

किं न्यपदेशलक्षणानि तानींद्रियाणीत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि उन इन्द्रियोंका नाम निर्देश क्या है ! और किस लक्षणवाली वे इन्द्रियों है ! इस प्रकार बुमुत्सा होनेपर शिष्यके प्रति श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिम सूत्र द्वारा इन्द्रियोंके नाम कीर्त्तन, आनुपूर्वी और निरुक्तिपूर्वक लक्षणको कह रहे है ।

स्पर्शनरसन्द्राणचक्षुः अोत्राणि ॥ १९ ॥

जिससे छुआ जाय ऐसी स्पर्शन इन्द्रिय १ आत्मा जिससे रसको चाटे यानी पुद्रलके स्वादको जाने ऐसी रसना इन्द्रिय २ सूंघनेमें आत्माका हेतु बन रही ब्राण इन्द्रिय ३ अथींको देखनेमें आत्माका निमित्त हो रही चक्षुः ४ तथा आत्माको शद्ध सुनानेवाला कान ५ इस प्रकार पांच इन्द्रियां है ।

स्पर्धनादीनां करणसाधनत्वं पारतंत्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातंत्र्याद्वहुलवचनात्। तैनान्वर्थसंद्वाकरणादेवंव्यपदेशान्येवंलक्षणानि च पंचेंद्रियाणीत्यभिसंबंधः कर्तव्यः।

सूत्रमें कहे गये स्पर्श आदि राद्वोंको करणसाधनपना है। क्योंकि वे परतंत्र हैं और स्वतंत्रता होनेसे स्पर्शन आदि राद्व कर्तामें भी साध छिये जाते हैं। भावार्थ—तुदादि गणकी "स्पृश संस्पर्शन" धातुसे करणमें युट् प्रत्यय करनेपर स्पर्शन राद्व साध छिया जाता है। चुरादि गणकी "रस आस्वादन-केहनयोः" धातुसे करणमें युट् प्रत्यय कर देनेपर रसन राद्व बन जाता है। भ्वादि गणकी "ब्रांगन्धीपादाने" धातुसे युट् प्रत्यय करनेपर ब्राण राद्व सध जाता है। अदादि गणकी 'ब्रंबीम् व्यक्तायां वाचि " धातुसे उसि प्रत्यय कर देनेसे चक्षः राद्व साधु हो जाता है। भ्वादि

गणीय "श्रुं श्रवणे " धातुसे वरू प्रत्यय कस्नेपर श्रोत्र राह्वकी सिद्धि हो जाती है। इतनकी उत्पत्तिमें इन्द्रियां करण हैं। अतः परतंत्रपनेकी विवक्षासे करणमें युट् आदि प्रत्ययोंको कर छेना। हां, स्पर्शन इन्द्रिय छू रही है, रसना इन्द्रिय चाट रही है, यों स्वतंत्रताकी विवक्षा होनेपर कर्तामें भी उक्त पांचों राह्वोंको साध छिया जाता है। " युड्च्या बहुछम् " यहां " बहुछ " वचनसे कर्तामें भी युट् प्रत्ययकी विधि हो जाती है तिस कारण इन स्पर्शन आदिकोंकी राह्व निरुक्तिके अनुसार अर्थवाचक संज्ञा कर देनेसे इस प्रकार स्पर्शन, रसन, आदि व्यपदेशको धारनेवाछी ये इन्द्रियां हैं। यों राह्वार्थ कर छिया जाय तथा निरुक्ति अनुसार निर्दोष छक्षण घट जानेसे इस प्रकार छक्षणवाछी भी पांच इन्द्रियां हैं। इस ढंगसे पूर्व सुन्नोको मिछाकर वाक्यार्थका सम्बन्ध कर छेना चाहिये।

स्पर्शनस्य ग्रहणमादौ शरीरच्यापित्वात्, वनस्पत्यंतानामेकमित्यत्राभीष्टत्वात् सर्वसंसारिष्ट्रपल्रब्धेश्च । ततो रसनद्राणचश्चषां क्रमवचनश्चत्तरोत्तराल्पत्वात्, श्रोत्रस्यांते वचनं बहुपकारित्वात् । रसनमिष वक्तृत्वेन बहुपकारीति चेत् न तेन श्रोत्रमणाल्किषापादितस्योपदेशस्योचारणात् तत्पारतंत्र्यस्वीकरणात् । सर्वक्के तदभाव इति चेक्क, इन्द्रियाधिकारात् । न हि
सर्वक्षस्य शब्दोचारणे रसनच्यापारोस्ति तीर्थकरत्वनामकर्मोद्योपजनितत्वात् भगवत्तीर्थकरावगमस्य करणच्यापारापेक्षत्वे क्रममच्चत्तिमसंगात् । सकलवीर्यीतरायक्षयाक्य क्रममच्चत्तिस्तस्येति
चेत्, तत एव करणापेक्षापि मा भूत् । ततः स्रक्तं श्रोत्रस्यांते वचनं बहुपकारित्वादिति ।

सम्पूर्ण पौद्रलिक रारीरमे ओत, पोत, ल्याप रही होनेसे स्पर्शन इन्द्रियका सम्पूर्ण इन्द्रियोंके आदिमें प्रहण किया गया है और " पृथ्वित लेकर वनस्पतिपर्यत जीवोंके एक, प्रधान, या प्रथम स्पर्शन इन्द्रिय है, " इस प्रकार यहां भविष्य सूत्रमें अभीष्ठ होनेसे भी सबके पिहले स्पर्शन इन्द्रियका प्रहण है। सबसे बड़ी बात तीसरी यह है कि संपूर्ण संसारी जीवोंमे स्पर्शन इन्द्रियकी उपलब्ध हो रही है। अतः नाना जीवोंकी अपेक्षा न्यापक होनेसे आदिमे स्पर्शनका उपादान सूत्रकारने किया है। उसके पिछे रसना, प्राण, और चक्षुः इन तीन इन्द्रियोंका क्रमसे वचन किया है। क्योंकि उत्तर उत्तर थोड़े प्रदेश अथवा थोड़े थोड़े स्वामी हैं। अर्थात्—''चक्ख् सोदं घाणं जिम्भायारं मस्रजवणाली। अतिमृत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेय संठाणं॥ अंगुलअसंखभागं संखेजजगुणं तदो विस्सिहियं। तत्तो असंखगुणिदं अंगुलसंखेजजयं तत्तु " इन गोम्मटसार जीवकाण्डकी दो गाथाओंके अनुसार सब से थोड़े प्रदेश चक्कुःके माने हैं। चक्कुःसे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश संख्यात गुणे हैं। श्रोत्र इन्द्रियने जितने आत्मप्रदेशोंको घेरा है, उनसे पत्यके असंख्यातमें भाग अधिक आत्मप्रदेशोंको प्राण इन्द्रियने प्रदेशोंकी संख्या उत्तरोत्तर अल्प है। हां, श्रोत्रके प्रदेश चक्कुसे अधिक हैं। उसका अभी कथन ही नहीं है। तथा " वितिचपमाणमसंखेणवहिदपदरंगुलेणहिदपदरं " इस गाथा अनुसार दीन्द्रयोंकी अपेक्षा

श्रीन्त्रिय जीव और त्रीन्द्रियोंकी अपेक्षा चतुरिन्द्रियोंके धारी जीत भी धोडे थोडे हैं। सर्व इन्द्रियोंके अंतमें कर्म इन्द्रियका कथन यों किया गया है कि सभी इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रोत्र इन्द्रिय इस जीवका बहुत उपकारी है । कानोंसे उपदेशको सुनकर अनेक जीव दितकी प्राप्ति और अहि-लका परिद्वार कर छेते हैं। उत्कृष्ट ज्ञानी या तत्त्रज्ञानी बन जाना कानोंसे ही साध्य हो रहा कार्य है। सभी मोक्षगामी जीव कानोंसे उपदेशको सनकर देशनाळिच्य द्वारा साक्षात या परम्परास मिकलाम कर सके हैं। जीवको विशेषन बनानेवाला श्रोत्र ही है। यहां किसीकी शंका है कि रसना इन्द्रिय भी तो वक्तापने करके बहुत उपकारी हो रही है। स्वर्ग या मोक्षके उपयोगी पर्दीका उचारण करना, अध्ययन करना, जाप्य देना, इनमें रसना इन्द्रिय कारण है। अतः रसना ही अन्तमें कहनी चाहिये । आचार्य कहते हैं यह तो न कहना । क्योकि तुमने श्रोत्रको बहुत उपकारी स्वीकार कर पुनः रसनाका भी बहुत उपकारीयना आपादान किया है । अतः तुम्हारे मुखसे ही हमारी बातका समर्थन हो जाता है। एक बात यह भी है कि श्रोत्रकी प्रंणालिकासे विषयको निर्णीत कर पुनः उस रसनासे उपदेशका उचारण होता है । अतः रसनाको <mark>श्रोत्रकी परतंत्रता तुमको स्वीकार करनी पडेगी।</mark> यहां रसन शब्दसे जिह्नाका ख़ुरपाके समान क्रम्बा, चौडा, मोटा उपकरण लेना, कर्मेन्द्रियोंको माननेवाले जिसको कि वाक शब्दसे पकडते हैं। सच पछो तो रसना केवल स्वाद लेनेमें चिरतार्थ हो रही है। हा. चर्मकी जिव्हा वक्तापनेमें **न्यापार करती है। यों बोलनेमें उपकरण हो रही** जिन्हाने श्रोत्र इन्द्रियकी पराधीनता अङ्गीकार कर रक्खी है। पुन: यहां कोई यो शंका करता है कि सर्वज्ञमें उस श्रोत्रकी परतंत्रताका अभाव है। अर्थात-सर्वन्न भगवान तो श्रोत्रेन्द्रियके बळाधानसे अन्य वक्ताओसे पदार्थका निर्णय कर पनः वक्तापन को प्राप्त नहीं होते हैं। किन्त सर्वज्ञदेव तो ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे केवळजानको उपजाकर वक्ता-पन करके सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश कर देते हैं । अतः रसना ही बहुत उपकारक प्रतीत होती है । ्र<mark>प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि</mark> यहां प्रकरणोर्ने इन्द्रियोका अधिकार चळा आ रहा 🕯 । अतः जिन जीवोंमें इन्द्रियोंसे किया गया हित, अहित, उपदेश है, उन जीवोंके प्रति श्रोत्र इन्द्रिय अधिक उपकारी मानी गयी है। अतीन्द्रियज्ञानधारी सर्वज्ञ देव भी बात न्यारी है। सामान्य पुरुषोंमें देखी गयी टेक्का विशिष्ट पुरुषोंमें भी आपादान नहीं करना चाहिये । दूसरी बात यह है कि उच्चारण करनेमें सर्वज्ञके रसना इन्द्रियका व्यापार नहीं है। नामकर्मकी विशेष प्रकृति तीर्थकरत्वके उदयसे भग-बानके सर्व अंगोंसे निकल रही मेघगर्जनके समान दिव्यध्वनि भव्योंके भाग्यवश उपज जाती है। अतः सर्वद्वकी वक्तृत्व कलामें रसनाका कोई व्यापार नहीं है । हां, अन्य वक्ताओंकी वचनकलामें रसना की श्रोत्रकी पराधीनता अनिवार्य है। वे वक्ता पहिले अपने गुरुओंसे स्वकीय श्रोत्र द्वारा वाच्यार्थका निर्णय कर पश्चात् जिल्हासे उपदेश देते हैं। भगवान् तीर्थकरके ज्ञानको यदि इन्द्रियोंके व्यापारकी आयेक्सा मानी जावेंगी तो ज्ञानकी कम कमसे प्रवृत्ति होनेका प्रसंग होगा। जोकि किसी भी सर्वज्ञवादीको

इष्ट नहीं है। सर्वज्ञ देव युगपत् त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थीका प्रत्यक्ष ज्ञान कर रहे हैं। यदि कोई यों कहें कि सम्पूर्ण वीर्यान्तराय कर्मीका क्षय हो जानेसे उस सर्वज्ञके ज्ञानकी कमसे प्रकृति नहीं होगी। अनन्तराणिहाए। सबका ज्ञान युगपत् हो जायगा। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारणसे अर्थात्—वीर्यान्तरायका क्षय हो जानेसे ही सर्वज्ञके ज्ञानको इन्द्रियोंकी अपेक्षा भी नहीं होने। सर्वज्ञके ज्ञानमें प्रथम इन्द्रियोंकी अपेक्षा मान कर पीछे अनन्त वीर्य होनेसे कम प्रवृत्तिका रोकना क्षिष्ट कल्पना है। तिस ही से तो हमने बहुत अच्छा यो कहा था कि बहुत उपकारी होनेसे उमास्वामी महाराजने सर्व इन्द्रियोंके अन्तमें श्रोत्रका कथन किया है। इस प्रकार प्रकरणको समाप्त कर दों तो अच्छा है।

एकैकब्रुद्धिश्रापनार्थे वा स्पर्शनादिक्रमवचनं ।

अथवा यह सिद्धान्त उत्तर सबसे अच्छा है कि भविष्य चौथे स्त्रमें छट, चीटी, भोरा, मनुष्य, आदिकोंके एक एक बढी हुयी इन्द्रियां कहीं जाकेंगी । अतः एक एक इन्द्रियकी योग्यतानुसार इदिको समझानेके छिये स्पर्शन, रसन, आदि इन्द्रियोंका क्रमसे वचन किया गया है। अन्यथा इन्द्र करनेपर अल्प अक्षरवाछी या पूज्य इन्द्रियका पिहले प्रयोग हो जाता। बात यह है कि जीवोंके इन्द्रियोंकी इदि जिस जिस क्रमसे हुई है, उसी ढंगसे सूत्रमें इन्द्रियोंका पाठकम है।

कुतः पुनः स्पर्शनादीनि जीवस्य करणान्यर्थोपलब्धावित्याह ।

यहां कोई जिज्ञासु पुनः पृंछत। है कि जीवके अर्थकी उपलब्धि करनेमें स्पर्शन आदिक इन्द्रियां करण हो रहीं हैं, यह किस प्रमाणसे निर्णय किया जाय १ इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

स्पर्शनादीनि तान्याहुः कर्तुः सांनिध्यवृत्तितः । क्रियायां करणानीह कर्मवैचित्र्यतस्तथा ॥ १ ॥

कर्त्ता आत्माके सिनिकट वर्तीपनसे प्रवृत्ति करनेसे आचार्य उन स्पर्शन आदिकोंको इसि कियामैं करण कह रहे हैं तथा कर्मोंकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेद्रिय हो। रहीं हैं, अर्थात्—नामकर्मकी विचित्रतासे उत्पन्न हुयीं द्रव्य इन्द्रियां तो ज्ञान करनेमें आत्माकी करण हो। जातीं हैं और ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेन्द्रिय हो। जाती हैं।

स्पर्धनादीनि द्रव्यंद्रियाणि तावश्वामकर्मणो वैचित्र्याद्युपलब्धेरात्मनः स्पर्धादिपरिच्छे-दनिक्रयायां व्यापियमाणस्य सांनिध्येन दृत्तेः करणानि लोके मतीयंते । भावेद्रियाणि पुनस्त-दावस्णवीर्यातस्यक्षयोपश्चमस्य वैचित्र्यादिति मंत्रव्यं ।

जगत्के विधाता नामकर्मकी विचित्रता, चमत्कृति, आदि देखी जा रही हैं। अतः स्पर्शन आदिक पांच द्रव्येद्रियां तो स्पर्श, रस, आदिकी परिच्छित्ति कियाको करनेमें साधकतम हो रही कर्जा आत्माकी सहायक कारण हैं। क्योंकि परिन्छिति क्रियामें व्यापार कर रहे आत्माके निकटवर्त्तीपने करके वर्तनेके कारण वे इन्द्रियां लोकमें करण हो रहीं जानी जाती हैं। हां, फिर उन उन स्पर्शज्ञान, रसज्ञान, आदिका आवरण करनेवाले ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके क्षयोपशमकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां आत्मपरिणति स्वरूप भावेन्द्रियां हैं, ऐसा मान लेना चाहिये।

तेषां परस्परं तद्वतश्च भेदाभेदं प्रत्यनेकांतोपपत्तेः। न हि परस्परं ताबिदिद्वियाणामभेदैकांतः स्पर्शनेन स्पर्शस्येव रसादीनामपि ग्रहणप्रसक्तेरिंद्रियांतरप्रकल्पनानर्थक्यात् । कस्यचिद्वैकल्ये साकल्ये वा सर्वेषां वैकल्यस्य साकल्यस्य वा प्रसंगात् । नापि भेदैकांतस्तेषामकत्वसंकल्पन्नान-जनकत्वाभावप्रसंगात् । संतानांतरेंद्रियवत् । मनस्तस्य जनकिमिति चेत्न, इंद्रियनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वासंभवात् । इंद्रियापेक्षं मनोनुसंधानस्य जनकिमिति चेत्, संतानांतरेंद्रियापेक्षं कृतो न जनकं १ प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्, अत्र का प्रत्यासत्तिः अन्यत्रैकात्मतादात्म्यादेशकालभाव-प्रत्यासत्तीनां व्यभिचारात् । ततः स्पर्शनादीनां परस्परं स्यादभेदो द्रव्यार्थादेशात्, स्याद्भेदः पर्यायार्थादेशात् ।

उन स्पर्शन आदि इन्द्रियोका परस्परमे और उस उस इन्द्रियवाले आत्माके साथ भेद तथा अभेदके प्रति अनेकान्त बन रहा है। अर्थात्-इन्द्रियोंका परस्परमें कथांचिद् भेद, अभेद है तथा इन्द्रिय वाले आत्माके साथ भी इन्द्रियोंका कथांचित् भेद अभेद है। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद नहीं है। देखिये, इन्द्रियोंका परस्परमें एक दूसरेके साथ एकान्त रूपसे अभेद मानना तो ठीक नहीं पढ़ेगा । क्योंकि स्पर्शन इन्द्रियसे जैसे स्पर्शका प्रहण हो रहा है, वैसे ही अकेटी स्पर्शनसे रस. गन्ध, आदिकों-के भी प्रहण हो जानेका प्रसंग होगा । जब स्पर्श, रसना, घाण, आदि सभी इन्द्रियां अभिन हैं तो ऐसी दशामें स्पर्शनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना करना व्यर्थ पड़ेगा । दसरी बात यह हैं कि किसी एक इन्दियकी विकलता या सकलता हो जानेपर सभी इन्द्रियोंकी विकलता या सफलता हो जाने-का प्रसंग होगा । आंख या कानके ट्रट जानेपर सभी इन्द्रियां नष्ट श्रष्ट हो जायंगी. एकेन्द्रिय जीवके भी पांचों इन्द्रियां बन बैढेंगीं। अतः इन्द्रियोंका परस्परमें सर्वथा अभेद मानना उचित नहीं। तथा उन इन्द्रियोंका परस्परमें एकान्त रूपसे भेद भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि एकपन और सकलन रूपसे ह्मानकी उत्पत्ति करानेके अभावका प्रसंग हो जायगा। जैसे कि अन्य सन्तान यानी दूसरी दूसरी भारमाओंकी इन्द्रियोंमें एकत्व रूपसे संकलन ज्ञान नहीं हो पाता है। भावार्थ-देवदत्तसे जिन दत्त सर्वथा भिन है। देवदत्तने अपनी चक्क्षुसे घटको देखा, जिनदत्तने स्वकीय स्पर्शन इन्द्रियसे घटको छुआ, ऐसी दशामें जिनदत्त यों नहीं कह सकता है कि जो ही मैं देखनेवाला था वही मैं घटको छ रहा है। कारण कि सर्वथा भिन्न ज्ञाताओं में या उनकी इन्द्रियों द्वारा हुये ज्ञानों में जोडनेबाला संकलन द्वान नहीं बनता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंका भेद माननेपर जो ही मैं देख चुका हूं वहीं मैं छू रहा

हं, ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा । यदि कोई यों कहे कि दर्शन और स्मरणको कारण मान कर इये उस प्रत्यभिद्वानका जनक तो मन है। इन्द्रियोंका अधिष्ठापक मन परस्परकी योजना कर देता है। आचार्य कहते हैं कि वह तो न कहना, क्योंकि इन्द्रियोकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले मनको उस प्रत्यभिज्ञानका असम्भव है । यदि जनकपना यों कहें कि इन्द्रियोंकी अपेक्षा रख रहा मन तो प्रत्यभिज्ञानका जनक हो जायगा। यों कहनेपर तो हम • जैन कहेंगे कि तब तो सर्वथा भेद पक्षमें अन्य आत्माओं के इन्द्रियोंकी अपेक्षा रख रहा मन भला क्यों नहीं प्रत्यभिज्ञानका जनक हो जाय ! अर्थात्—देवदत्तके देखे हुयेका यज्ञदत्तको अनुसन्धान हो जाना चाहिये । एक आत्माकी भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरे आत्मार्जीकी इन्द्रियोंका अधिष्ठायक मन हो जाय । यदि भेदवादी वैशेषिक यों कहें कि सम्बन्ध विशेषके न होनेसे वह मन अन्य आत्माओं के इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं रख सकता है। हां, प्रकरणप्राप्त आत्माकी पांचों इन्द्रियोंके साधन इस मनका कोई विशेष नाता है। अतः उन इन्द्रियोंके विषयोंको अन्वित कर देता है, अन्यके विषयोंको नहीं, यो कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि भाई, एक आत्मद्रव्यके साथ तदात्मकपन हो जानेके अतिरिक्त यहां प्रकरणमें दूसरी भळा क्या प्रत्यासत्ति (नाता या सम्बन्ध) हो सकती है १ देशप्रत्यासत्ति, काळ प्रत्यासत्ति, भावप्रत्यासत्ति, इनका तो व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात्—पांचों इन्द्रियोंकी एक द्रव्य (आतमा) प्रत्यासित माननेपर तो देवदत्तकी पांचों इन्द्रियोंमें अनुसंधान होना घट जाता है । साथमें सन्तानान्तरोंकी इन्द्रियोंमें परस्पर अनुसन्धान होनेका भी निराकरण हो जाता है। किन्त देशप्रत्यासत्ति मान लेनेसे इष्टकी सिद्धि और अनिष्टका दूषण ये नहीं बन पाते हैं। एक परीक्षा भवनमें बैठे हुये एक देशवर्ती अनेक छात्रोंमें परस्पर अनुसन्धान हो रहा नहीं देखा गया है। हां, यदि सक्ष्मतासे विचार करोगे तब तो एक देवदत्तके शरीरमें आंख, कान, नाक, जीमका भी न्यारा न्यारा स्थान नियत है। उनमें अनुसंधान नहीं हो सकेगा । अतः देशप्रत्यासत्ति द्वारा अनुसन्धान होना माननेमें अन्वय व्यक्ति-चार और व्यतिरेक व्यभिचारदोष आते हैं । कालप्रत्यासितमें भी उक्त दोष आते हैं । अर्थात् एक ही काळमे वर्त्त रहे अनेक जीवोंमें काळप्रत्यासत्ति होते हुये भी परस्पर अनुसन्धान क्कान नहीं हो रहा है। साथमें उसी बालक, युवा, बृद्ध, देवदत्तमें कालप्रत्यासत्तिके विना भी संकलन बान हो जाता है। इसी प्रकार भावप्रत्यासात्तियाँके भी व्यभिचार आते हैं। समान बान या सुख. दु:खको धारनेवाले जीवोंमें भाव प्रत्यासित होते हुये भी परस्पर देखे, सुने, छुये, चाटे, सूंघेका विषयगमन होकर अनुसन्धान नहीं हो रहा है। परिशेषमें द्रव्यप्रत्यासत्ति ही निर्दोष ठहरती है। तिस कारण द्रव्यार्थिकनयद्वारा कथन करनेसे स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका परस्परमें कथंचित असेद है और पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे स्पर्शन आदिकोंका कथंचित भेद है।

एतेन तेषां तद्वतो भेदाभेदैकांती प्रत्युक्तौ । आत्मनः करणानामभेदैकांते कर्तृत्व-प्रसंगाचात्मवत् । आत्मनो वा करणत्वपसंगः, उभयोरुभयात्मकत्वपसंगो वा विशेषाभावात् । ाकारतेमां भेरेकाते चात्मनः करणस्वाभावः संतानांतरकरणयस् विपर्ययो वेत्यनेकांत एवाभय-भीकः, भतीतिसद्भाषाद्भाषकाभाषाच । तथा द्रव्यद्भियाणामपि परस्परं स्वारंभकपुद्गस्वव्याच भैदाभेदं मत्यनेकांतीवकोद्धव्यः पुद्गस्तद्भव्यार्थादेशादभेदोपपत्तेः । प्रतिनियतपर्यायादिशाचेषां भैदीपपत्तेश्च ।

इस उक्त कथनकरके उन इन्द्रियोंका उस इन्द्रियवान आत्माके साथ सर्वथा भेद और एकान्त अभेदका भी खण्डन कर दिया गया है। देखो, आत्माका इन्द्रियोंके साथ यदि एकान्तरूपसे अभेद माना जायगा तो आत्माके समान इन्द्रियोंको भी कर्त्तापनका प्रसंग हो जायगा । ऐसी दशामें इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा आत्मा और इन्द्रियोंका अभेद माननेपर इन्द्रियोंके समान आत्माको भी करण बन जानेका प्रसंग होगा । तथा आत्मा, इन्द्रिय, दोनोंको कर्त्ता, करण, दोनों आत्मकपनका प्रसंग हो जावेगा । क्योंकि सर्वथा अमेदपक्षको पकड छेनेपर किसीमें कोई विशेष प्रकारका अन्तर नहीं है। तथा उन इन्द्रियोका तद्वान् उस आत्माके साथ यदि सर्वथा भेद माना जायगा तो अन्य आत्माओंकी इन्द्रियोंके समान प्रकरण प्राप्त आत्माकी भी ये इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी। अर्थात्-दूसरेकी इन्द्रियां सर्वथा भिन्न हो रहीं जैसे हमारे ज्ञानमें करण नहीं हो पाती हैं, उसी प्रकार भिन्न हो रहीं हमारी आत्मासे भी हमारी इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा विपर्यय ही हो जावेगा । यानी हमारी भिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरोंकी इन्द्रियां भी हमारे ज्ञानमें करण बन बैठेंगी। इस कारण कथंचित् भेद, अभेदस्वरूप अने मान्तका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। कथंचित् भेद, अभेदके स्याद्वाद सिद्धांतमें प्रमाणसिद्ध प्रतीतियोंका सद्भाव है और बाधक प्रमाणीका अभाव है। तिसी प्रकार उक्त भावेंद्रियोंके समान पांचों द्रव्येंद्रियोंका भी परस्परमें और अपनेको बनानेवाले पद्गल द्रव्यसे हो रहे भेद अभेदके प्रति अनेकान्त समझ लंना चाहिये। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयका सर्वत्र अधिकार है। पद्रल द्रव्यस्वरूप अर्थकी विशेष अपेक्षासे तो द्रव्येदियोंका अभेद बन रहा है और स्पर्शन, रसना, आदि प्रत्येकके लिये नियत हो रही पर्यायस्वरूप अर्थकी अपेक्षा उन द्रव्येन्द्रियोंका भेद सिद्ध हो रहा है। सप्तभङ्गी अनुसार एकत्व और नानात्वसे अतिरिक्त आगेक पांच भंग भी लगा द्धेना। अभ्यन्तरनिर्वृत्ति स्वरूप द्रव्येद्रियोंका परम्पर या उपादान कारण आत्माके साथ कथंचित भेदाभेद है।

इतींद्रियाणि भेदेन व्याख्यातानि मतांतरं । व्यवचिच्छित्सुभिः पंचसूत्र्या युक्त्यागमान्वितैः ॥ २॥

यों यहांतक युक्ति और आमम प्रमाणसे अन्वित हो रहे तथा इन्द्रियोंकी एक, दो, ग्यारह, इन संस्थाओंको माननेवाले अन्य मतोंके व्यवच्छेद करनेकी इच्छा रखनेवाले श्री उमास्वामी महाराजने पांच स्थाओंक सहुद्राय द्वारा भिन्न मिन्न करके पांच इन्द्रियोंको क्खान दिया है। अर्थात्—'' पंचेंद्रियानि '' द्वितिधानि, निर्कृत्युषकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ब्युपयोगीः भावेन्द्रियम्, स्पर्शनसम्बद्धाः श्रोजाणिः ' इत पांच सूत्रों करके नियत पांच इन्द्रियोंका व्याख्यान किया गयाः है ।

इदानीमिंद्रियानिंद्रियविषयपदर्शने कर्तच्ये, के ताबदिंद्रियविषया इत्याह ।

अब ईस समय इन्द्रियों और आनिन्द्रियके द्वारा जानने योग्य विषय अर्थका प्रदर्शन करना कर्त्तव्य होनेपर शिष्यकी '' इन्द्रियोंके विषय तो भला कौन हैं ? '' ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमा-स्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये उनके इन्द्रियों द्वारा ज्ञातव्य विषय हैं। अर्थात्—स्पर्कान इन्द्रियसे पुद्गलका स्पर्श जाना जाता है, रसना इन्द्रियसे पुद्गलका रस चखा जाता है। वाण इन्द्रियसे पुद्गलका गंध स्ंघा जाता है। चक्षु:इन्द्रियसे पुद्गलका रूप देखा जाता है और कर्ण इन्द्रिय द्वारा पुद्गलकी पर्याय हो रहा शब्द सुना जाता है। गुण, और गुणीका अभेद होनेसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शनवान् पुद्गल भी छूआ जाता है, रसनेंद्रिय द्वारा रसवान् पुद्गल भी चखा जाता है आदि।

स्पर्धादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रन्यपर्यायविवक्षापपत्तेः । तच्छन्दादिद्यपरामर्तः देषामर्थास्तदर्थाः स्पर्धनादीनां कर्मविषयः स्पर्धादय इत्यर्थः । तदर्था इति वृत्यतुपपत्तिसमामध्यीदिति चेत्, न चात्र गमकत्वात् नित्यसापेक्षेषु संबंधिश्रन्दवत् । य एव हि वाक्येर्यः संग्रतीयते
स एव वृत्ताविति गमकत्वं नित्यसापेक्षेषु संबंधिश्रन्देषु कथितं, यथा देवदत्तस्य एक्कुलं देवदत्तस्य गुरुपुत्रः देवदत्तस्य दासभार्येति । तथेद्दापि तच्छन्दस्य स्पर्धनादिसापेक्षन्वेषि स्थकत्वात् वृत्तिर्वेदितन्या ।

द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा बन जानेसे स्पर्स, रस, अद्योक सन्द तो कर्म और भाव अर्थमें साध लिये जाते हैं, अर्थात्—जब प्रधान रूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, तब इन्द्रिय करके विषय हो रहा द्रव्य ही पक्तडा जाता है। इस पुद्रल द्रव्यसे न्यारे कोई स्पर्श आदिक नहीं हैं। इन्द्रिय करके जो छुआ जाय वह स्पर्श है, चखा जाय वह स्स है, स्ंघा जाय वह गंध है, देखा जाय सो वर्ण है, जो बोला जाय वह शब्द है, इस प्रकार स्पर्श आदिक शब्दोंकी कर्मसाधन निरुक्ति कर दी ममी है। किन्तु जब प्रधान रूपसे पर्याय विवक्षित है, तब मेद बन रहा है। उदासीनपनेसे अवस्थित हो रहे भावका कथन हो जाता है, तब छुना ही स्पर्श है, चखना रस है, संघना गंध है, देखना मात्र वर्ण है, उचारण या सुनना शब्द है, इस ढंगसे स्पर्श आदि शब्दोंकी भावमें प्रत्ययकर सिद्धि कर दी गयी है। सूचमें पड़े हुये पूर्वका परामर्थ करनेवाले तत् शद्धसे इन्द्रियों ता परामर्श करलेना चाहिये। तब खें अर्थ हुआ कि उन इन्द्रियोंके विषय-मूत अर्थ यहां तदर्थ कहे जाते हैं। स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियोंक क्राक्त वनने योग्य विकास के अपर्थ

आदिक हैं। यों उद्देश्य, विश्वेय, वाक्योंका मिलाकर वाच्यार्थ हो जाता है । किसीकी यहां शंका है **कि "** समर्थः पदानिधिः " समर्थ अनयनोंकी समासन्ति हो सकती है। यहां सामर्थ्य नहीं है, इस कारण तेषां इन्द्रियाणां अर्थाः यों तदर्थाः यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास नहीं हो सकता है। पूर्व सूत्रोंमें इन्द्रि-योंका स्वतंत्र (प्रथमांत) निर्देश है, तदथी: ऐसा समास कर वे इन्द्रियां गौण नहीं की जा सकती हैं। अतः " तेषां अर्थाः " यों व्यस्तपदकी ही बने रहेंगे । इस ढंगसे शंका करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यह दोष हमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि गनकपन होनेसे नित्य ही एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाळे पदोमें समास हो जाता है। जैसे कि सम्बन्धी राह्वोंमें समास हो जाता है। देखो, जो ही अर्थ वाक्यमें भले प्रकार जाना जा रहा है वहीं अर्थ समासत्रत्ति करनेपर भी स्थिर रहता है। इस प्रकार नित्य अपेक्षासहित हो रहे संबंधी शद्धोंमें गमकपना कह दिया गया है। जैसे कि देवदत्तका गुरुकुल है, इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका यह कुछ है, इस प्रकार है। देवदत्तका गुरुकुछ है, यह अर्थ नहीं है। देवदत्तका गुरुपुत्र इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका यह लडका हो जाता है। "देवदत्तस्य दासभायी" इसका अर्थ देवदत्तके दास की यह पत्नी है। यहां गुरु शद्ध नित्य ही शिष्यकी अपेक्षा रखता है। अतः देवदत्त शिष्य है उसके गुरुका कुल अर्थ करना आवश्यक है। अन्यथा यह वाक्य ही अशुद्ध हो जायगा। दीक्षक आचार्यके अधीन हो रहा पाठक, शिष्य तथा अन्य कर्मचारियोका समुदाय कुल कहा जाता है। समासमें पडे हुये गुरुके साथ देवदत्तका अमेद करना भी अनुचित है। तथैव दास राद्व भी स्वामीकी अपेक्षां रखता है। अतः देवदत्त स्वरूप स्वामीके दासकी स्त्री यह अर्थ हो जाता है। " पटोलपत्रं पित्तब्नं नाडी तस्य कफापडा " यहां पटोलकी नाडी (नसें) कफ दोषको हरती है। यो संबंधी राद्व अनुसार व्यवस्था की जाती है। तिसी प्रकार यहां भी स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षा धारते इये भी तत राहुको गमकपना है । अतः सामर्थ्य हो जानेसे '' तदर्थाः '' यहां षष्टीतत्परुषवृत्ति ह्रयी समझ लेनी चाहिये।

स्पर्शादीनामानुपूर्व्येष निर्देशः इन्द्रियक्रमाभिसंबंधार्थः ।

इस सूत्रमें स्पर्श, रस, आदिकोंका आनुपूर्तीपने करके कथन करना तो इन्द्रियोका कमपूर्वक एक एक विषयके साथ संबंध करानेके लिये हैं । अर्थात्—पिहले कही गयी स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्श जाना जाता है, इत्यादि सम्पूर्ण इन्द्रियोके ग्राह्य विषयोंमें लगा लेना चाहिये । तब तो इन्द्र समास किया जानेपर " अल्पाचतर, अम्यिहत, स्वंत आदि परोंके पूर्वमें प्रयुक्त किये जानेकां झंझंट नहीं लगता है । शह संबंधी न्यायसे अर्थसंबंधी न्याय प्रधान है ।

किं पुनः स्पर्शादयो द्रव्यात्मका एव पर्यायात्मका एव चेति दुराशंकां निराकरोात !

क्या स्पर्श, रस, आदिक विषय ये द्रव्यस्वरूप ही हैं ? अथवा क्या पर्यायस्वरूप ही है ? ऐसी खोटी शंकाका निराकरण श्री विद्यानन्द वार्तिको द्वारी करते हैं ।

स्पर्शादयस्तदर्थाः स्युर्द्रव्यपर्यायकात्मकाः । द्रव्यकांते क्रियापायात्सर्वथा कूर्मरोमवत् ॥ १ ॥ तथैव पर्ययेकांते भेदेकांतेऽनयोरि । अनेकांतात्मना तेषां निर्वाधमुपल्रब्धितः ॥ २ ॥

उन इन्द्रियोंके त्रिषय हो रहे स्पर्श आदिक अर्थ तो द्रव्य आत्मक और पर्यायआत्मक नियुक्त हैं वे स्पर्श आदिक न केवल द्रव्यस्वरूप है और केवल पर्यायस्वरूप भी वे नहीं हैं। यदि उनको सर्वथा द्रव्य होनेका एकांत माना जायगा तो कूर्मरोम (कलवेंके बाल) के समान असत् हो रहे निख क्टस्थ द्रव्यमें किया उपजना इष्ट हो जायगा। " नित्यत्वेंकांतपक्षेपि विकिया नोपपचते" (श्री-समंतभदः) तिस ही प्रकार स्पर्शादिकोंको एकांत रूपसे यदि पर्याय ही माना जायगा तो भी द्रव्यके विना कच्छपरोमके समान असत् हो रहे पर्यायीका विवर्त नहीं हो सकेगा तथा इन द्रव्य और पर्याय दोनोंको एकांत रूपसे भेद माननेपर ही दोनोंका असत्त्व हो जाता है। अग्निके विना अकेली उष्णता नहीं ठहरती हुयी असत् हो जाती है और उष्णता पर्यायके विना स्कंषद्रव्य अग्निभी असत् हो जाता है। अतः अनेक धर्मआत्मकपने करके उन स्पर्श आदिकोंकी बाधाओंसे रहित उपलब्ध होजानेसे स्पर्श आदिक द्रव्य पर्याय उभयात्मक हैं।

ततो अनेकात्मन एव स्पर्शादयः स्पर्शनादीनां विषयभावमनुभवंति नान्यथा प्रतीत्यभावात्।

तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि एकल, पृथक्त, या मेद, अमेद, अथवा द्रव्यपन, पर्यायपन, आदिक अनेक धर्मोंके साथ तदात्मक एकरस हो रहे स्पर्श आदिक क्रेय ही स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय हो जानेका अनुभव करते हैं । अन्यथा यानी दूसरे प्रकारसे एक ही धर्म आत्मक हो रहे स्पर्श आदिक उन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। क्योंकि पदार्थोंको द्रव्यस्वरूप ही या पर्यायस्वरूप ही इस प्रकार एक ही धर्म आत्मक सिद्ध करनेवाठीं प्रतीतियोंका अभाव है।

अथानिंद्रियस्य को विषय इत्याह ।

बहिरंग पांच इन्द्रियोंका विषय कहा जा चुका है। अब अनिन्द्रिय छटे मनका विषय क्या है ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज समाधानकारक अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

श्रुतमनिंद्रियस्य ॥ २१ ॥

चक्षु आदि इन्द्रियोंके समान नियत देश, निषय, अत्रस्थान, नहीं होनेसे इन्द्रिय भिन्न ईषत् इन्द्रिय हो रहे मनका क्षेय विषय तो श्रुतज्ञानगम्य पदार्थ है। अर्थात्—मतिज्ञानसे पदार्थको जानकर पुनः अधीतरका विशेषतया अवधारण करना या विचार करना अंतरंग इन्द्रिय मनके द्वारा होता है। अन्यथा नहीं। उक्त कार्य पांचों बहिरंग इन्द्रियोंसे साध्य नहीं है। शब्दको सुनकर उसके वाच्यार्थका झान करना, हिताहित विचारपूर्वक किया करना, शिक्षा या उपदेश ग्रहण करना, तथा कर्तव्य, अकर्तव्य या तत्त्व, अतत्त्वकी मीमांसा करना वे सब विचारक मन इन्द्रियके कार्य हैं।

अर्थ इत्यमिसंबंधः सामध्यीत् । नश्च चाश्यमाणमनिद्रियमत्र तत्कवं तस्य विषयो निक्रपादे इत्याह ।

पूर्वस्त्रमें पढे हुये " तदर्थाः " शद्वते अकेले अर्थकी अनुवृत्ति कर लेना । पूर्वापर सम्बन्ध रखनेवाले वाक्यार्थकी सामर्थ्यसे " तत् " और बहुवचनांत " अर्थाः " की अनुवृत्ति नहीं कर केवल अर्थ शद्धका ही अनुवर्तन किया जायगा । यहां शंका है कि अनीदिय मन तो यहां प्रकरणमें नहीं सुना जा रहा है तो फिर यहां कैसे उस अप्रकृत मनका विषयानिरूपण किया जाता है ? बताओ, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानंद आचार्य उत्तरको कहते है, सावधान होकर सुनिये ।

सामर्थ्याद्रम्यमानस्यानिंद्रियस्येह सूत्रितः । श्रुतमर्थः श्रुतज्ञानगम्यं वस्तु तदुच्यते ॥ १ ॥

जब कि इन्द्रियोंके विषय प्रतिपादनका प्रकरण है पूर्वापार कथनकी सामर्थ्यसे जान लिये जा रहे मनका विषय श्रुत है, या यहां सूत्र द्वारा निरूपण किया गया है। " मतिश्रुताविध्यमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानम् " इस सूत्रमें श्रुतका अर्थ श्रुतका है। किंतु इस सूत्रमें श्रुतकानद्वारा जानी जा रही वस्तु वह श्रुत कही जा रही है।

पंत्रैवेद्रियाणीति बदता मनोनिद्रियमंतःकरणं सामर्थ्यादित्युक्तं भवति तस्य च विषयः श्रुतमितीह सूत्रबतो म सूत्रकारस्य विरोधः । श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानसमधिगम्यं वस्तूच्यते विषये विषयिण उपचारात् ।

" पंचेदियाणि " इस सूत्र द्वारा पांच है। बहिरंग इन्द्रियोंको कह रहे सूत्रकार करके ईषत् इन्द्रिप हो रहा अंतरंग करण मन सो सामध्येस ही ग्राप्त हुआ, यो कह दिया जाता है। अतः उस मनका विषय श्रुत है। इस प्रकार यहां स्वतंत्र सूत्र बमाकर कह रहे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजको कोई विरोध ग्राप्त नहीं होता है। अर्थात्—पहिले अध्यायमें " तर्दिद्रियानिद्रियनिमित्तम् " मनःपर्यय-झानं, " न चक्कुरनिद्रियान्याम् " ये कथन किये हैं। दूसरे अध्यायमें भी अभी "समनस्काऽमनस्काः" कहा है। एताबता अंतरंग करण तो मन इन्द्रिय है, ऐसा कह दिया गया ग्राप्त हो जाता है। बहिरंग इन्द्र-पाक अक्करणने जनको मही कहा सो क्या हुआ । मनके भी दोनों प्रकार निर्शत उपकरण और छिव्ध उपयोग ये भेद अभीष्ट है। हां, मनका विषय अभीतया नहीं बताया था, प्रकरणकी सामर्थ्यसे भी नहीं जाना जा सकता है। उसके छिये विषय निरूपणके प्रकरणमें अन्य इन्दियोंके साथ छगे हाथ इस सूत्र द्वारा मनका विषय कण्ठोक्त किया है। सूत्रमें पडे हुये श्रुत शब्दका अर्थ फिर श्रुतज्ञान नहीं करना। किंतु श्रुतज्ञानसे भेछे प्रकार जान छिया गया पदार्थ कहा गया है। विषयमें विषयीका उपचार है। जैसे कि प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय हो रहे घटको प्रत्यक्ष कह देते है, वैसे यहां भी श्रुतज्ञानसे जानने योग्य विषयको श्रुत कह दिया है। विषयी हो रहे ज्ञानका धर्म श्रुतपना विषयमें धर दिया है।

मतिक्रानपरिच्छेद्यं वस्तु कथमनिन्द्रियस्य विषय इति चेका, तस्यापि श्रुतक्रानपरिच्छेद्य-त्वानतिक्रमात्। अवधिमनःपर्ययकेवलक्कानपरिच्छेद्यमपि श्रुतक्कानपरिच्छेद्यत्वादनिद्रियस्य विषयः स्यादिति चेत्, न किंचिदनिष्टं। तथा हि—

यहां कोई शंका करता है कि जब श्रुतज्ञानका विषय ही मनसे जाना जायगा तो मतिज्ञानसे जान िये गये दुःख, इच्छा, पीडा, आदिक पदार्थ भछा मनके विषय किस प्रकार हो सकेंगे ? बताओ । ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि मतिज्ञानसे जाने हुये उस पदार्थको भी श्रुत्त ज्ञान हारा जानने योग्यपनका अतिक्रमण नहीं होता है । अर्थात्—जो मतिज्ञानसे जाना गया है वह श्रुतज्ञानसे अवश्य जाना जा सकता है । हां, श्रुतज्ञानसे जान िया गया विषय तो बहुभाग मतिज्ञान हारा जानने योग्य नहीं है । देखो श्रुतज्ञान हारा परोक्षरूपसे विषय की गर्यों अनेक अर्थपर्यायोंको मतिज्ञान नहीं छू पाता है । अतः श्रुतज्ञानके विषयको मन जानता है । इतने कथनसे ही मतिज्ञानके विषयको भी मन विचार छेता है, यह विना कहे अर्थापति हारा कह दिया जाता है । अकाण्ड ताण्डव बढाना व्यर्थ है । पुनः कोई कटाक्ष करता है कि यों तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवळ्ञान करके जानने योग्य अर्थ भी श्रुतज्ञान हारा जानने योग्य होनेसे मनका विषय बन वैठेगा । क्योंकि अवधि हारा प्रत्यक्ष किये हुये पदार्थमें भी श्रुतज्ञान करके विकल्पनायें उठाई जाती हैं । जैसे मतिज्ञान हारा छूत करने अर्थान्तरोंको विचारनेवाळा श्रुतज्ञान प्रवर्तता है उसी प्रकार मनःपर्यय और केवळ्ञान हारा पूर्ण विश्व जाने जारहे पदार्थोंमे भी श्रुतज्ञान प्रवर्तता है । अतः सभी ज्ञानोंके विषय इस मन इन्द्रियके अर्थ हो जायंगे । ग्रंथकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमको कुछ भी अनिष्ठ नहीं पडता है । इसी बातको स्पष्ट कर वार्तिकहारा कहे देते हैं ।

मनोमात्रनिमित्तत्वात् श्रुतज्ञानस्य कार्त्सनतः। स्पर्शनादींद्रियज्ञेयस्तदर्थे। हि नियम्यते ॥ २ ॥

पदार्थों को सम्पूर्णरूपसे विषय करनेवाले श्रुतझनका निमित्तकारण केवल मन है। उक्त दो सूत्रोंमें स्पर्शन आदि इन्द्रियोद्वारा जानने योग्य स्पर्श आदिक ही उन इन्द्रियों के अर्थ हैं। ऐसा नियम किया जा रहा है। अर्थात्—स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके त्रिषय तो नियन हैं। मनका विषय कोई नियत कहीं है, सभी झानोंद्वारा जानने योग्य त्रिषयोंको श्रुतझानसे जाननेके अवसरपर मन निमित्त हो जाता है। "सुद्केवलं च णाणं दोण्णित्र सरिसाणि होति बोहादो। सुद्रणाणं तु परोक्खं प्रवक्षं केवलं णाणं" (गोम्मटसार) यों श्रुतझानको केवलझानका लघुश्राता माना जाता है।

अत्र स्पर्शनादींद्रियपरिच्छेद्यः स्पर्शादिरेवेति नियम्यते न पुनरनिंद्रियपरिच्छेद्यः तस्या-नियतत्वात् । साकल्येन श्रुतज्ञानमात्रानिमित्तात् परिच्छिद्यमानस्य वस्तुनः श्रुतग्रब्देनामिधानात् । नन्वेवं सर्वपनिंद्रियस्येति वक्तव्यं स्पष्टत्वादिति चेन्नः, परोक्षत्वज्ञापनार्थत्वाच्छ्रुतवष्मस्य । न हि यथा केवलं सर्वे साक्षात् परिच्छिनात्ति तथानिंद्रियं तस्याविश्वदरूपतयार्थपरिच्छेदकस्थात् । ततः सक्तं श्रुतमनिंद्रियस्येति ।

यहां इन्द्रियों का विषय निरूपण करनेवाले प्रकरणमें स्पर्शन आदि पांच बहिरंग इन्द्रियोंसे जानने योग्य स्पर्श, रस आदिक ही हैं, यह नियम किया जा रहा है। किंतु फिर अनिदिय यामी मनसे जानने योग्य श्रुत ही है ऐसा नियम नहीं किया है। क्योंकि मन इन्द्रियसे जानने योग्य वह श्रुत ही नियत नहीं है। सभी ज्ञानोंके ज्ञेयको श्रुतज्ञानसे जाननेपर मन निमित्तकारण बम जाता है। पिहिले सूत्रमें अवधारण करना इस सूत्रमें नहीं। क्योंकि पांचों ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण रूपसे जानने योग्य वस्तुओंको यहां सूत्रमें श्रुत शब्द करके उपल्क्षणतया कहा जाता है। रहस्य यह है कि जगत्के सम्पूर्ण पदा-धींको जाननेमें अकेला श्रुतज्ञान निमित्त हो सकता है। पुनः किसीका कटाक्ष है कि "श्रुतमानिदियस्य।" ऐसा सूत्र न कह कर " सर्वमनिदियस्य" यों स्पष्टपनेसे सूत्र कहना चाहिये, जिससे कि व्यामोह नहीं होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको " मनके विषय सम्पूर्ण पदार्थ हैं " यह स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय। आचार्थ कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि परोक्षपना समझानेके लिये सूत्रमें श्रुत शब्द कहा है। जिस प्रकार केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थीको पूर्ण विश्वद रूपसे प्रत्यक्ष जान लेता है, उस प्रकार मन विश्वद रूपसे सबको नहीं जान पाता है। वह मन अविश्वद रूपसे सम्पूर्ण अर्थीका परिच्छेदक है, यह बात श्रुत कहनेसे ही व्यञ्जित हो सकती है। तिसी कारणसे सूत्रकारने यों बहुत अच्छा कहा था कि श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञेय पदार्थ समी मनका विषय है।

किमर्थमिन्द्रियमनसां विषयपरूपणमत्र कृतमित्याइ ।

यहां तत्त्वार्थ सूत्रमें पांच इन्द्रिय और छठे मनके विषयोंका निरूपण किस छिये किया गया

इति सूत्रद्वयेनाक्षमनोथीनां प्ररूपणं । कृतं तज्जन्मविज्ञाननिरास्त्रंबनताकिदे ॥ ३॥ अस प्रकार " स्पर्करसगंधवर्णताद्वास्तदर्धाः, श्रुतमनिद्वियस्य " इन दोनों सूत्रों करके इन्द्रिज और मनके विषय हो रहे अर्थोका निरूपण किया गया है, जो कि उस अर्थेस विज्ञानका जन्म स्वीकार करनेवाले बौद्धमतका खण्डन करनेके लिये हैं। भाक्षर्थ बौद्ध पण्डित विषयजन्य ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। घटका ज्ञान घटसे जन्य है। पटका ज्ञान पटसे जन्य है। पटका ज्ञान पटसे जन्य है। पटका ज्ञान पटसे जन्य है। पटका व्हान पटसे जन्य है। पटका यह मन्तव्य निर्दोष नहीं है। इन्द्रिय और अद्दरसे व्यक्तिचार हो जाता है। देखो, इन्द्रियोस या कर्मोक क्ष्योपशमसे ज्ञान जन्य है, किन्तु इनको विषय नहीं करता है। स्पर्शका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे जन्य है, फिर भी वह अर्तीद्विय हो रही स्पर्शन इन्द्रियको नहीं जानता हुआ स्पर्शको ही जान रहा है। अतः इन्द्रियोंके विषयका निरूपण करनेसे ज्ञानकी अर्थजन्यताका निराकरण हो जाता है। तथा ज्ञानाहैसवादी बौद्ध सम्पूर्ण ज्ञानोंको निरालम्बन स्वीकार करते हैं। घटज्ञानका विषय कोई बहिर्भूत कम्बुपीवा वाला जड पदार्थ नहीं है, सभी ज्ञान निर्विषय हैं। यों इन बौद्धोंका प्रत्या- करनेके लिये इन्द्रियजन्य ज्ञानोंका स्वतंत्र विषय निरूपण किया गया है। ज्ञान ज्ञानोंको लोड-कर सभी सम्यग्ज्ञान सविषय हैं। येद विषयको ज्ञानका कारण माना जायगा तो भूत, भविष्य, पदा-धौंको सर्वज्ञ नहीं जान सकेंगे। केवल अन्यवहित पूर्वसमयवर्ती पदार्थोका ही ज्ञान उपज सकेगा। एवं ज्ञानोंके विषय नहीं माननेपर सम्पूर्ण जीवोंके अनुभव सिद्ध हो रहे लोकिक, पारलैकिक, कर्तव्य अलीक हो जायेंगे।

केषां पुनः माणिनां किर्मिद्रियमित्याह ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि कौन कौनसे प्राणियोंके कौन इन्द्रिय है ? ऐसी आकांक्षा होने-पर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्र द्वारा उत्तर वचन कहते हैं ।

वनस्पत्यंतानामेकम् ॥ २२ ॥

अन्त राद्वके अवयव, धर्म, अवसान, समीप, पिछला, कई अर्थ हैं। उनमेंसे यहां अवसान अर्थ अभीष्ट है। एक राद्वके भी असहाय, भिन्न, केवल, अन्य, संख्या, विरेष, प्रधान, प्रथम, कश्चित्, ये अनेक अर्थ हैं। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार एक राद्वका प्रथम अर्थ लिया गया है। पृथिवीको आदि लेकर वनस्पतिपर्यंत जीवोंके पहिली स्पर्शन इन्द्रिय है।

बनस्प्रतिरंतीवसानं येषां ते वनस्पत्यंताः सामर्थ्यात्यृथिच्यादय इति गम्यंते तेषामकं प्रथमपित्रियं स्पर्धनमिति प्रतिपत्तन्यम् ।

जिन जीवों के बनस्पति अन्त अर्थात्—अवसानमें है वे जीव " वनस्पति अन्त " कहे जाते हैं। अन्त शह आदिकी अपेक्षा रखता है। अतः सामर्थ्यसे पृथ्वीको आदि छेकर वनस्पति पर्यन्त जीव में जान छिये जाते हैं। उन पांच काय के जीवों के एक पहिली स्पर्शन इन्द्रिय है, यह समझ

केना चाहिय । पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, इन पांचों स्थावर जीवोंके एक व्यचा इन्द्रिय ही है।

कुत इत्याह।

किसीका प्रश्न है कि वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय है। यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे निर्णीत कर लिया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्त्तिक द्वारा युक्तिको कहते हैं।

वनस्पत्यंतजीवानामेकं स्पर्शनमिंद्रियं । तज्जज्ञाननिमित्तायाः प्रवृत्तेरुपलंभनात् ॥ १ ॥

वनस्पतिपर्यन्त जीवोंके (पक्ष) एक स्पर्शन इन्द्रिय है (साध्य) उस स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुये ज्ञानको निमित्त पाकर हो रही प्रवृत्तिका उपलम्भ होनेसे (हेतु)। भावार्थ—वृक्षोंमें स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानसे हुयीं प्रवृत्तियां देखी जातीं हैं। केला वृक्ष, केली वृक्षके रजका संपर्क पाकर फलता है। यद्यपि सम्पूर्ण वृक्ष नपुंसक लिंग हैं। फिर भी किन जनोंके अलंकार या कोषकारकी लिंगन्यवस्था अनुसार कितने ही मनुष्योंने उनमें लीपन या पुरुषपनकी झूंठी कल्पना गढ ली है। वनस्पतिकायकी दस लाख जातियां हैं, अद्वाईस लाख करोड कुल हैं, यह जाति कुल्ल्यवस्था उस कल्पनाकी भित्ति है। योग्य प्रकरण मिलनेपर केला, अमरूद, आम, आदिकी उत्पत्ति हो जाती है। यदि इसको कारक पक्ष माना जाय तो ज्ञापकपक्षके भी उदाहरण मिलते हैं। कई वृक्ष आहार करने योग्य जढ या चेतन पदार्थोंको पक्षड लेते हैं। जल या गीली मिडीकी ओर जरों (अपनी जडों) को फैलाते हैं। योग्य खातको प्रहण कर अपने अधीन कर लेते हैं। महीकी खान, कङ्कड, पत्थरके कोयलेकी खान, पर्वत इन पृथिनी कायके जीवोंमें भी स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है। जल विद् दूसरी जलनेन्द्रकी ओर झुक जाती है। अफ्रिज्वाला भी सजातीय दूसरी अफ्रिज्वाला में मिलनेको उत्सुक रहती हैं। निकटवर्ती वृक्ष या लकडीको सहारा पानेके लिये वेले उनकी ओर झुकपडती हैं। इत्यादि युक्तियोंसे स्थावर जीवोंमें एक स्पर्शन इन्द्रिय सिद्ध हो जाती है।

यथास्मदादीनां स्पर्शनजङ्गाननिमित्ताहिताहितस्य संग्रहणपरित्यागलक्षणा पृष्टितिहप-स्वभ्यते तथा वनस्पतीनामपि स्रोपलभ्यमाना स्पर्शनजङ्गानपूर्वकत्वं च साधयति तज्जं च ज्ञानं स्पर्शनमिदियमिति निर्वाधं । तद्वत्यृथिच्यादिजीवानामेकमिदियं संभाष्यते बावकाभावात् ।

जिस प्रकार हम छोगोंके स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानको निमित्त पाकर होती हुई हितकर पदार्थ का संप्रह करना और अहितपदार्थका परित्याग करना स्वरूप प्रश्वति देखी जा रही है, तिसी प्रकार अन्वय दशन्त अनुसार वनस्पति जीवोंके भी वह प्रश्वति देखी जा रही सन्ती स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान पूर्वकपनको साध देती ह और वह स्पर्शन इन्द्रियंजन्य ज्ञान तो स्पर्शन इन्द्रियको साध देता है। इस कारण बाधारिहत होकर उन वनस्पति जीबोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय सब जाती है। उस वनस्पतिके समान पृथिवी, जल, आदि जीबोंके भी एक स्पर्शन इन्द्रियकी सत्य संभावना की जाती है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

केषां झादींद्रियमित्याइ ।

अब महाराज, यह बताओ कि किन किन जीवोंके फिर दो, तीन, आदि इन्द्रियां हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

क्रमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३॥

लट आदिक, चींटी आदिक, भोंरा आदिक, मनुष्य आदिक, इन जीवोंके स्पर्शनको मूल मान-कर रसनासे प्रारम्भ कर एक एक बढ रही इन्द्रियां है | कृमि आदिकोंके रसनासे बढ रही स्पर्शन हैं, चींटी आदिकोंके ब्राणसे बढ चुकी स्पर्शन और रसना हैं | इत्यादि लगा लेना |

एकैकमिति वीप्सानिर्देशाद्शृद्धानीति बहुत्वनिर्देशाच्च वाक्यांतरोपप्छवं कथमित्याइ।

सूत्रमें एक एक इस प्रकार कई बार आशृत्त होकर कहा जा चुकनेवाला वीसा निर्देश किया है और शृद्धानि इस प्रकार बहुत्व संख्याको कहनेवाला बहुवचन निर्देश किया है। अतः अन्य वाक्योंका उपन्लव (प्रवाहरचना) कर लिया जाता है। वे वाक्य किस प्रकार बढ़ा लिये, जाते हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकोंको कहते हैं।

तथा कृमिप्रकाराणां रसनेनाधिकं मतं ।

वृद्धे पिपीलिकादीनां ते घाणेन निरूप्यते ॥ १ ॥

चक्षुषा तानि वृद्धानि भ्रमरादिशरीरिणां ।

श्रोत्रेण तु मनुष्यादिजीवानां तानि निश्रयात् ॥ २ ॥

तत्तद्धेतुकविज्ञानमूलानामुपलिब्धतः ।

विषयेषु प्रवृत्तीनां स्विस्मिश्चव विपश्चिताम् ॥ ३ ॥

तिस प्रकार दूसरे दूसरे वाक्योंका उपन्छव करनेपर यों अर्थ हो जाता है कि ुंछट, गेंडुआ, जौंक, सीप, आदि प्रकारवाले जीवोंके वह स्पर्शन इन्द्रिय तो दूसरी रसना इन्द्रियसे अधिक हो रही मानी है। अर्थात्—छट आदिक क्षुद्र कीटों के स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियां हैं। ये स्पर्शनसे शीत,

कार कारिको जानते हैं, जीमसे चावल, गेहूं, रक्त, मटी, आदिका स्वाद लेते हैं । और चिंटी, कारक, ज्ञुंकां, दीमक, आदि जीबोंके वे स्पर्शन, रसना, दो इन्द्रियां बढ चुकी तीसरी नासिका इन्द्रिकों अधिक हैं । ऐसा मन्तन्त्र कहा जाता है। मीरा, मक्खी, मकडी, मच्छर, पतंगा आदि शरीरधारी तथा जीबोंके वे स्पर्शन, रसना, घाण, इन्द्रियां चौथी चक्षु इन्द्रियसे बढ रहीं मानी गयी है। एवं मनुष्य, घोडे, बैल, देव, आदि जीबोंके तो वे स्पर्शन, रसना, घाण, चक्षु इन्द्रियां, पांचवीं श्रोत्र इन्द्रियसे बढ रहीं विध्वमान हैं। ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण और युक्तियोंसे निश्चय हो रहा है। देखिये, उन उन जीबोंके नियत हो रहीं दो, तीन, चार, या पांच इन्द्रियोंको कारण मानकर हुये विज्ञानके मूलपर होनेवालीं विषयोंमें प्रवृत्तियां देखी जा रहीं हैं। विद्वानोंके यहां अपनेमें किसी भी नियत इन्द्रियजन्य ज्ञानकी मित्तिकर हुयी प्रवृत्तिकी उपलब्धि हो जानेसे जैसे उन्तर इन्द्रियका सद्भाव मान लिया जाता है। हम देखकर पुस्तकको उठा रहे हैं, अतः हमारे चक्षु इन्द्रिय अवश्य है, शब्दोंका श्रवणकर प्रवृत्ति होरही दीखती है, अतः श्रोत्र इन्द्रियका सद्भाव है, उसी प्रकार कृमि आदिक, पिपीलिका आदिक, श्रमर आदिक, मनुष्य आदिक जीवोंके अतीन्द्रिय इन्द्रियां जान ली जाती है, उपकरण इन्द्रियोका बहुत अंशोंमें प्रत्यक्ष भी हो रहा है।

के पुनः संसारिणः समनस्काः के बाञ्मनस्का इत्याह ।

पूज्य गुरुजी महाराज, अब यह बताओं कि कौनसे संसारी जीव फिर मनकरके सहित है ! और कौनसे संसारी जीव मनसे रहित हैं । इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्यामी महाराज सूत्र द्वारा उत्तर कहते हैं ।

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

हितप्राप्ति, अहित परिहार, तथा गुण अथना दोषको विचार करना स्वरूप संज्ञा जिनके पायी जाती है वे जीव मनसहित हैं।

सामर्थ्यादसंक्रिनो अमनस्का इति सुत्रितं, तेनामनस्का एव सर्वे संसारिणः सर्वे सम-नस्का एवेति निरस्तं भवति । क्रुतः पुनः संक्रिनां समनस्कृत्वं सिद्धमित्युपद्रश्चयित ।

संज्ञावान् जीवोंको विधिमुखसे समनस्क कह दिया गया है। अतः परिशेष न्यायकी सामध्येसे असंज्ञी जीव अमनस्क हैं, यह भी सूत्रहारा कहा जा चुका है। तिस कथन करके सम्पूर्ण संसारी जीव मनरिहत ही हैं अथवा सभी संसारी जीव मनसिहत ही हैं, इस प्रकार एकान्तमन्तच्य खण्डित हो जांता है। कोई कोई दार्शनिक तो किसी भी आत्माक मनइन्द्रियको नहीं मानते हैं और वैशेषिक तो प्रत्मक आत्माको मनसिहत स्वीकार करते हैं। जितनी ही आत्मायें हैं उतने ही उनके एक एक नियत हो रहे अनन्ते मन है। ये दोनों ही एकांत युक्तियों वाधित हैं। जैसे कि सर्वको निर्धन या

धनिकपन माननेका एकांत प्रजडना गर्हित है। किसीका प्रश्न है कि फिर यह बताओं कि संवाक्षे जीवोंका मनसहितपना भला किस प्रमाणसे सिद्ध है ! ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री विकानंद स्वामी वार्तिकों द्वारा कुक्तियोंको दिखलाते हैं।

संज्ञिनां समनस्कत्वं संज्ञायाः प्रतिषत्तितः । सा हि शिक्षािकयालापप्रहणं मुनिभिर्मता ॥ १ ॥ नानादिभवसंभृतविषयानुभवोद्भवा । सामान्यधारणाहारसंज्ञादीनामधीरिष ॥ २ ॥

संज्ञी जीवोंके (पक्ष) मनसहितपना है (साध्य) विचारआत्मक बुद्धिकी प्रतिपत्ति होनेसे (हेत्) और वह संज्ञा तो निश्चयसे मुनियों करके शिक्षा किया करना, आलाप करना, प्रहण करना. मानी गयी है। अर्थात् — बंदर, घोडा, मैना, तोता, सर्प, आदिक प्राणी सिखाये अनुसार किया करते हैं, कल्पित नाम रख छेनेपर तदनुसार आते जाते हैं, सतर्क रहते हैं, मंगानेपर पदार्थीको ले आते हैं। अतः संज्ञाकी प्रतिपत्ति होनेसे बहुतसे पशु, पक्षी, तथा मनुष्य, स्त्री, देव, देवी, ये सब मनसहित जीव है। किंतु अनादिकालकी जन्मपरम्परासे हुये विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न हुयी सामान्य धारणा, सामान्य अत्राय, आदिक और आहार संज्ञा, भय संज्ञा आदिक तो यहां प्रकरणमें संज्ञा नहीं मानी गयीं हैं। नाम मतिज्ञान भी यहां संज्ञा नहीं है। अर्थात्—'' अनाचविचादोषोत्य-चतःसंज्ञाञ्चरातराः '' आहार आदिक चार संज्ञायें तो सम्पूर्ण जीवोंके अनादि कालसे लग रही हैं तथा मधमक्षिका, भोरी, चींटियां, दीमक, मकडी, आदिक कीट पतंग भी सामान्यधारणारूप संज्ञाके अनुसार गृह बनाना, बच्चे बनाना, बच्चों हा मोह करना, खाद्य एकत्रित करना, ठहरने योग्य रक्षाका स्थान बनाना आदि विस्मय जनक कार्योको कर रहे हैं। मधु मक्खी, तते या बर्र, घरघुळी, तो यहां वहां जाकर अपने खाद्य पदार्थींको और घर बनानेके लिये मट्टी या काठको लाकर पुनः अपने नियत उसी स्थानपर लीट आते हैं । ये कार्य तो मनके विना अनादि कालीन विषयानभवकी तष्णास बना छिये जाते है। किसीका नाम रख लेना या सामान्यरूपसे ज्ञान करना भी संज्ञा सिद्ध है। किन्त यहां इन संज्ञाओंका प्रहण करने पर तो सभी संसारी जीव समनस्क हो जायेंगे। कोई असंजी होनेके लिये नहीं बचेगा । अतः इन संज्ञाओं का प्रहण नहीं करना । किन्त " सिक्खाकिरिय-वदेपालावगाही मणोवलंबेण जो जीवो सो सण्णी, तन्त्रवरीओ असण्णी द "। शिक्षा, क्रिया, उपदेश, आलाप, को मनके अवलम्बसे प्रहण करनेवाले बैल, हाथी, तीता, आदि जीव संक्षी हैं। ठीक हितका प्रहण और आहितका त्याग जिससे हो सके यह ।शिक्षा है, इच्छा अनुसार हाथ, पांव, आदिको च**ळाना** क्रिया है, क्चन, कोडा, आदि द्वारा उपदेश देकर कर्तच्य पालन करना उपदेश है, श्लोक आदिका पाठ आछाप है तथा जो कार्थ अकार्यको विचारता है तत्त्व, अतत्त्व, की शिक्षा छेता है, नाम छेकर बुळाया गया चछा आता है, वह समनस्क है। शेष संसारी जीव अमनस्क है।

न समनस्कानां शिक्षािकयालापग्रहणलक्षणा संज्ञा संभवित यतस्तदुपलब्धेः केषांचि-त्समनस्कत्वं न सिध्येत् । न चामनस्कानां स्मरणसामान्याभावोऽनादिभवसंभूतविषयानुभवो-ज्ञाबायाः सामान्यधारणायास्तद्वेतोः सद्भावात् आहारसंज्ञादिसिद्धेः प्रश्वतिविशेषोपलब्धेः । न च सैव संज्ञा सुनिभिरिष्टा स्मृतिविशेषनिमित्तायास्तस्याः प्रकाशनात् ।

मनरहित एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, जीवोंके वह शिक्षा, किया, आलापोंको प्रहण करना स्वरूप संज्ञा नहीं सम्भवती है। जिससे कि उस संज्ञाकी उपलब्धि रूप हेत्से किन्हीं दूसरे विचारक जीवोंके मनशहितपना सिद्ध नहीं होता, अर्थात्—घोडा, मनुष्य, जीवोंमें हेतुके वर्त्तजानेसे समनस्कपना सिद्ध होजाता है। यहां कोई आक्षेप करे कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि जीवोंके भी आहार, जल, निवासस्थान, आदिमें प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः उनके आहार संज्ञा आदिक और उनका कारण धारणा या स्मृति, माननी पड़ेगी। स्मृति तो मनवाले जीवके होते हैं। अतः द्वीन्द्रिय आदिके भी मनकी सम्भावना है। आचार्य महाराज कहते हैं कि मनरहित जीवोंके सामान्य रूपसे द्वयं स्मरणका अभाव नहीं है। अनादि संसार परम्परांमें ब्राप्त द्वये विषयोंके अनुभवसे उत्पन हूरी सामान्यधारणा रूप उसके हेतका सद्भाव अमनस्क जीवोंके भी पाया जाता है। उससे आहार संज्ञा. भयसंज्ञा. आदिकी सिद्धि हो जानेसे अमनस्कोंकी विशेष प्रवृत्तियां हो रहीं दीख रहीं हैं। फिन्त वह आहारसंज्ञा या सामान्य धारणा ही तो यहां मनिवर उमास्वामी महाराज करके संज्ञा अभीष्ट नहीं की गयी है। विशेष रूपसे स्मृतिका निमित्त हो रही उस धारणाका यहां प्रकाश किया ·है। भावार्थ-सामान्य धारणापूर्वक द्वयी सामान्य स्मृति तो मनरहित जीवोंके भी हो जाती है। किन्त विशेष धारणा होतुक स्मरण तो मनसहित जीवोके ही होता है। सामान्य ईहा पूर्वक अवाय और सामान्य अवाय पूर्वकं धारणा तथा सामान्य धारणा पूर्वक हुये स्मरण ज्ञानोंसे मनरहित जीव भी आहार आदि विषयोंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति कर रहे देखे जाते हैं। ज्ञानकी सामर्थ्य भी कुछ कम नहीं है। कोई भी **ज्ञान अपने अपने अभीष्ट हो रहे हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर देता है। इस सामान्य** कियोंने मनकी कोई आवश्यकता नहीं है।

एतेन यदुक्तं कैश्विद्यनस्कानां स्मरणाभावेष्यभिछाषसिद्धेस्तदहर्जातद्दारकस्य स्तन्या-भिग्नुस्वं ग्रुस्वमर्जयतोभिछाषः स्मरणपूर्वकोऽभिछाषत्वात् अस्मदाद्यभिछाषवदित्यत्र हेतोरनै-कांतिकत्वात् परछोकासिद्धिः । तथा च " न स्मृतेरभिछापोस्ति विना सापि न दर्शनात् । तद्धि जन्मांतराचाहर्जातमात्रेपि छक्ष्यते " इत्यकछंकवचनमविचारचतुरमायातं इति । तद्पि कस्याख्यातं, स्मरणसामान्यमंतरेण क्वचिद्य्यभिछापासंभवात् तद्देतोरनैकांतिकत्वानुपपत्तेः ।

इस उक्त कथनकरके जो किन्हींने दो तीन पंक्तियोंद्वारा यों कहा था वह भी निराकृत वर दिया गया है कि देखो मनरहित जीवोंके स्मरणके विना भी आहार आदिकी अमिलापायें सिद्ध हो रही हैं। अतः दूधयुक्त स्तनके अभिमुख अपने मुखको उद्योगी कर रहे, उसी दिनके उत्पन्न हुये बाङककी अभिलापा (पक्ष) स्मरणपूर्वक है (साध्य) अभिलापा होनेसे (हेतु) अस्मदादिकोंकी अभिलापाके समान (अन्वयद्दष्टान्त) । इस प्रकार यहां अनुमानमें कहे गये हेतुका व्यभिचार दोष हो जानेसे परलेक की सिद्धि नहीं हुयी और तैसा होनेपर स्मृति होनेसे ही अभिलायाका सद्भाव नहीं बना । अतः अक्रलं कदेवने जो अनुष्ट्रम छन्ददारा कहा था कि स्मृतिके विना जीवों के अभिलाषा नहीं उपजती है, और वह स्पृति भी अनुभवस्वरूपदर्शनके विना नहीं होती है। और वह दर्शन तो उसी दिनके उत्पन्न हुये बच्चेमें भी पूर्व जन्मांतरोंसे हुआ लक्षित किया जाता है। इस प्रकार श्रीअक-लंकदेवका वचन विचारपूर्वक चातुर्यको लिये हुये नहीं है यह प्राप्त हुआ। भावार्थ-मक्खी, बर्र, आदि मनरहित जीवोंके स्मरणके विना भी अभिळाषा हो जाती है। इसी प्रकार उसी दिनके हुये मनसहित बच्चेमें माताके स्तनकी ओर मृख करते हुये उतावलेपनके साथ अभिलापा करना भी जन्मान्तरके अनुभूत विषयोंकी स्मृतिके विना ही हो जायगा । ऐसी दशामे आत्मा विचारा अनादि अनन्त सिद्ध नहीं हो सकता है। श्रीअकलंकदेवने स्वकीय प्रन्थमें जो परलोकी, अनाधनन्त, जीवको सिद्ध करनेके छिये युक्ति दी है, विचार करनेपर उसमें चातुर्य नहीं दीखता है। कश्चित्से छेकर "आयातम " तक चार्वाक कह चुके हैं। अब प्रन्थकार कहते हैं कि वह चार्वाकका कहना भी हमने खण्डित कर दिया है। क्योंकि स्मरणसामान्यके विना असंज्ञी या संज्ञी किसी भी जीवमें अभिलाषा होनेका असेम्भव है । अतः उस अभिलापत्व हेतुका अनैकान्तिकपना नहीं बन पाता है । हमारा स्मरण पर्व-कपना सिद्ध करनेको दिया गया अभिलाषत्व हेतु निर्दोष है। अमनस्क जीवोके सामान्यस्मरणपूर्वक अभिलाषायें होकर विशेष प्रवृत्तियां हो जातीं है । हां, मनःसहित संज्ञी जीवोंके विशेष स्मरणपूर्वक विरुक्षण अभिलाषाओंसे मनः द्वारा ही शिक्षा, क्रिया, अलाप, प्रहण, करनारूप संज्ञा सम्भवती है। संज्ञी, असंज्ञी, दोनों प्रकारके जीनोंके परलोककी सिद्धि अनिवार्य है। पूर्वजन्मोंकी वासना अनुसार ही असंबिओंके चमत्कारक कार्य देखे जाते हैं। कार्यकारणभाव तो तर्कके अगोचर है।

न चामनस्तेषु स्मरणसामान्यसद्भावात्स्मरणिवशेषस्य सिद्धिः तस्य तेनाविनाभावा-भाषात् । न हि यस्यानुभूतस्मरणसामान्यमस्ति तस्य स्मरणिवशेषो नियमादुपल्रभ्यते विशेष-समयाभावप्रसंगात् । विशेषमात्राविनाभावेपि वा न शिक्षाक्रियालापग्रहणिनिमत्तस्मरणिवशेषा-विनाभावः सिध्येत् पाणिमात्रस्य तत्मसंगात् । ततो नाममतिवदाहारादिसंशा तद्धेतुश्च स्मृति-सामान्यं धारणासामान्यं च तिभिमत्तमवायसामान्यमीहासामान्यमवग्रहसामान्यं च सर्वमाणि-साधारणमनादिभवाभ्याससंभूतमभ्युपगंतव्यं, न पुनः क्षयोपशमनिमित्तम् भावमनः तस्य प्रतिनियतमाणिविषयत्यानुभूयमानत्वात् । अन्यथा सर्वत्र भावमनसो व्यवस्थापयितुमञक्तेः।

कोई कह रहा है कि मनरहित जीवोंमें सामान्यरूपसे स्मरणका सद्भाव आप जैनोंने स्वीकार किया ही है। उस सामान्य स्मरणसे विशेष स्मरणकी भी मनरहित जीवोंमें सिद्धि हो जायगी। आचार्य कहते हैं कि यह तम नहीं कह सकते हो, क्योंकि उस सामान्यस्मरणका उस विशेषस्मरणके साथ अविनाभाव नहीं है। देखो, जिस मनुष्यके अनुभव किये हुये पदार्थका सामान्यरूपसे स्मरण है, उस मनुष्यके उस अनुभृत पदार्थका स्मरणविशेष भी होय, ऐसा नियमसे नहीं देखा गया है। अन्यथा विशेषरूपसे संकेत प्रहण करना पुनः पुनः पर्यालोचन, पुनः विशेषरूपसे धारण करना, इनके अभावका प्रसंग हो जायगा । स्थुलबुद्धिवाले विद्यार्थियोंको भी सामान्यरूपसे प्रनथका स्मरण बना रहता है। किन्तु उन उन प्रकरणोंका विशेषतया स्मरण नहीं होनेसे वे परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं पाते हैं। तभी तो उनको उत्कट अभ्यास, दढ परामर्श, करनेकी आवश्यकता समझी जाती है। दसरी बात यह है कि स्मरणसामान्यका कैसे न कैसे ही केवल विशेषस्मरणके साथ अविनामाव मान भी लिया जाय तो भी स्मरणसामान्यका शिक्षा, किया, आलापके प्रहणके निमित्त हो रहे स्मरण विशेषसे अविनाभाव तो कथमपि सिद्ध नहीं होगा । अन्यथा सभी कीट, पतंग, वनस्पति, यावत् प्राणियोंके उन शिक्षा किया आदिके ग्रहण करनेमें निमित्त हो रहे स्मरणिशेषका प्रसंग हो जायगा। किन्त कीट आदिकोंके शिक्षा, किया, या स्मरणविशेषका मानना किसी भी वादीको अभीष्ट नहीं है। प्रत्यक्षबाधित या अनुमानबाधित पोले सिद्धान्तको भला कौन विचारचत्र पुरुष स्वीकार कर लेगा । तिस कारण सिद्ध होता है कि किसीका देवदत्त, जिनदत्त आदि संज्ञापूर्वक नामनिर्देश करलेने अथवा मंजानरूप ज्ञानसामान्यको यदि संज्ञा माना जायगा तो सभी प्राणियोंमें समनस्कपना प्राप्त हो जायगा । इस विशेषणसे किसी विशेष जीवकी व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी । केला, आम, शीषम, पत्थर, मडी, ज्वाला, जल, व्यंजनपवन, गेंडुआ, चींटी, मक्खी, झ्यादि सभी जीवोंका रूढि संज्ञाओंद्वारा स्वकीय नाम कथन किया जाता है। इक्ष, चींटी, आदि जीवींके ज्ञान भी यथायोग्य पाया जाता है। आहर आदि संज्ञायें तो सभी संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंके विद्यमान हैं। कतिपय निर्प्रन्थोंके यदि नहीं ह्यों तो इससे कोई बोझ नहीं घट सकता है। उन आहार, भय, आदि संज्ञाओं के हेत हो रहे स्मरण सामान्य भी सब जीवोंके पाये जाते हैं । धारणाज्ञानके विना स्मृति नहीं हो पाती है । अतः सामान्यधारणा और स्मरणका कारण सब जीवोंकें इष्ट किया जाता है। उस संस्कारस्वरूप धारणा ज्ञानका निमित्त अवाय-बान सामान्य और उसका भी कारण ईहा सामान्य तथा ईहाका भी कारण अवग्रहसामान्य ये सम्बर्ध प्राणियोंमें साधारण रूपसे विद्यमान हैं । अनादि काल की जन्मपरम्परामें हुये अभ्याससे उपज रहे वे अवग्रह आदि सामान्य स्वीकार कर लेने चाहिये। भावार्थ नामनिर्देश और सामान्य मतिज्ञानके समान आहार भय. आदि संज्ञा और उनकी कारणपरम्परामें पडे हुये स्मरण, धारणा, ईवा अवाय, अवग्रह ये मुझी संबी, असंबी, जीवोंमें साधारण हो रहे मानने चाहिये। किन्त फिर विशेषक्षयोपशासको विभिन्न पाकर हुआ भावमन तो सभी जीवोंका साधारण स्वभाव नहीं है। वह भावमन तो अधेक अधेक

नियत हो रहे विचारशाली मनःसहित प्राणियोंमें वर्त रहा ही अनुभवा जाता है। अन्यथा यानी विद्येष श्रुवीपशमपूर्णत होलेवाले स्मरणिवशेष, धारणाविशेष, अवायिवशेष, आदिके विना ही विचारने बाले महनमनकी सिदि कर लोगे तो सभी संझी प्राणियोंमें या सभी दार्शनिकोंके यहां भावमनकी न्यवस्था नहीं हो सकती है। अतः विशेषक्षयोपशमसे हुये भावमनःस्वरूप रूप, शिक्षा, निया, आलाप उपदेशप्रहणरूप संज्ञाको धारनेवाले जीव समनस्क हैं शेष प्राणी अमनस्क हैं। यह सिद्धान्त व्यवस्थित हो जाता है।

भावमनो अन्ययानुपपत्त्या द्रव्यमनोपि सिध्चतीत्याह ।

भावमनकी अन्यथा यानी द्रव्यमनको स्वीकार किये विना असिद्धि है। इस कारण द्रव्यमन भी उन मनःसहित जीवोंके सिद्ध हो जाता है, इसी बातको श्री विद्यानन्दस्वामी वार्तिकद्वारा कह रहे हैं।

> क्षयोपशमभेदेन युक्तो जीवोनुमन्यते । सद्भिभीवमनस्तावत् कैश्चित्संज्ञाविशेषतः ॥ ३ ॥ तत्सद्द्रव्यमनो युक्तमात्मनः करणत्वतः । स्वार्थोपलंभने भावस्पर्शनादिवदत्र नः ॥ ४ ॥

विशेष हो रहे क्षवोपरा करके युक्त हो रहा जीव किन्हीं सजन पुरुषों करके शिक्षा, किया, आलाप, प्रहणक्ष्य संज्ञा विशेष हेतुसे अनुमान द्वारा भावमन तो जान लिया ही जाता है । वह विद्यामान हो रहा भावमन (पक्ष) द्रव्य मनसे युक्त है (साध्य) स्त्र और अर्थकी उपलब्धि करनेमें आत्माका कारण होनेसे (हेतु) भावस्पर्शन इन्द्रिय आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। हम स्याद्वादियोंके यहां इस प्रकरणमें दोनों प्रकारके मन अभीष्ट हैं, जो कि संज्ञी जीवोंके पाये जाते हैं । अर्थात् एकेंद्विय जीवोंके लिब , उपयोग, स्वरूप भावस्पर्शन इन्द्रिय है । तथा आत्मप्रदेश और पौद्रलिक पिंदस्वरूप द्रव्य स्पर्शन इन्द्रिय भी है । उसी प्रकार मनवाले जीवोंके घनांगुलका असंख्यातवां भाग प्रमाण आत्मप्रदेश (अभ्यन्तरनिवृत्ति) और मनोवर्गणासे बनाया गया छोटा पौद्रलिक पिण्ड स्वरूप द्रव्यमन (बाह्यनिवृति) तथा मानस मतिज्ञानावरण एवं विशेष श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे हुई विश्वद्वि (लिब्ध) और अनुभव या विचाररूप उपयोग भावमन ये विद्यमान हैं ।

न हि संज्ञाविशेषाहते क्षयोषणमित्रिषेण युक्तो जीव एव भावमनः कैश्विद्तुमातुं शक्यते । मझमेष्यदेः कार्यविशेषानुभिताच्छक्यत एवेति चेन्न, तस्यापि संज्ञाविशेषरूपत्वात् । ऊहापोहा-स्मिका हि मज्ञा शिक्षादिक्रियाग्रहणलक्षणेव, मेथा पुनः पाठग्रहणलक्षणाळापग्रहरूपैवेति । ततो मावमनः स्वार्थोपल्ड्यो ह्रव्य-क्रिक्योप्त स्वार्थोपल्ड्यो ह्रव्य-क्रक्योप्त भावकरणस्वत् स्पर्धनादिभावकरणवत् ।

"क्षयोपशम विशेष करके युक्त हो रहा जीव ही भावमन है " यह किन्हीं विद्वानों करके संज्ञा विशेषक विना अनुमान करने के लिये शक्य नहीं है । भावार्य कमींका विशेषक्षयोपशम अतीं- द्विय है । शिक्षा, किया, आदि संज्ञा विशेषोंसे ही क्षयोपशम और तद्विशिष्ट जीवका अनुमान किया जा सकता है । यदि कोई यों कहे कि क्षयोपशमसे जन्य कार्यविशेषों द्वारा अनुमान किये जा चुके प्रज्ञा, मेघा, प्रतिभा, मनीषा, आदि हेतुओंसे भावमनका अनुमान किया जा सकता है । संज्ञा विशेषकी आवश्यकता नहीं है, आचार्य कहते है यह तो न कहना । क्योंकि उन प्रज्ञा या धारणाशालिनी बुद्धि मेघा, अथवा नवीन नवीन उन्मेषवाली प्रतिभा आदिको भी विशेषसंज्ञा स्वरूपमा है । देखिये तर्क, वितर्कणा, स्वरूप प्रज्ञा भला शिक्षा आदि कियाको ग्रहण करना स्वरूप ही है । फिर मेघा तो पाठका ग्रहण करना स्वरूप या आलापका ग्रहण करना स्वरूप ही है । इस कारण ये विशेष संज्ञा ही हैं । तिस कारण स्व और अर्थकी उपलब्धि हो जानेसे सिद्ध हो चुका भावमन पुनः पौद्रालिक द्रव्यमनका आकर्षण करा लेता है । उसी बातको अनुमानद्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि स्वार्थोकी उपलब्धि करनेमें भावमन (पक्ष) द्रव्यकरणकी अपेक्षा रखता है (साध्य)। भावस्वरूपकरण होनेसे (हेतु) स्पर्शन आदि भावकरणों (इन्द्रियां) के समान (अन्वव्रदृश्यन्त)।

मनसां अनिद्रयत्वात्करणत्वमसिद्धमिति चेक्न, अन्तःकरणत्वेन प्रसिद्धः। अनिद्रियत्वं तु पुनस्तस्यानियतविषयत्वादिंद्वियवैधर्म्यात् नाकरणत्वात्, स्वार्थोपल्रब्धौ साधकतमत्वेन करणत्वोपपत्तेः। न चैवं सूत्रविरोधः, पंचेन्द्रियाणि द्विविधानि द्रव्यभावविकल्पादित्यत्रानिद्वियस्यापि द्विविधस्य सामर्थ्यसिद्धत्वात्। शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानित्यत्र सूत्रे पौद्गिककस्य द्रव्यमनसः सूत्रकारेण स्वयमभिधानात्।

कोई कहता है कि मन तो इन्द्रिय नहीं है। अतः करणपना हेतु पक्षमें नहीं वर्त्तनेसे असिद्र हेत्वाभास है। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि अन्तरंगके करणपने करके मनकी प्रसिद्धि हो रही है। हां, फिर अनिन्द्रियपना तो उस मनका नियत विषय नहीं होनेके कारण इन्द्रियोंके विधर्मपनसे हैं, करणरिहतपनेसे नहीं। अर्थात्—इन्द्रियां करण हैं और मन इन्द्रियोंसे भिन्न अनिन्द्रिय है। अतः करण नहीं होगा, यह नहीं समझ बैठना। देखो, बात यह है कि स्पर्शनादि पांचों बहिरंग इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, आदिक नियत हैं और मनका कोई विषय विशेषरूपसे नियत नहीं किया गया है। प्रायः सम्पूर्ण विषयोंमें मनकी प्रवृत्ति सबने मानी है। अतः इन्द्रियोंके धर्म नियत विषयत्वसे पैधर्म्य रावनेवाले अनियत विषयत्व हो जानेसे मनमें अनिन्द्रियपना है। अन्य इन्द्रियोंके समान मनमें भी स्वार्थोंकी उपलब्धिमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे करणपना समुचित बन रहा है। यदि कोई यों कहें कि यों मनको भी करणपना माननेपर सूत्रसे विरोध हो जायगा। सूत्रमें पांच इन्द्रियां ही करण मानी गयी है। आचार्य कहते हैं कि यों कोई सूत्रसे विरोध नहीं आता है। क्योंकि " पंचिद्रियाणि,"

दिविधानि " ये दो सूत्र हैं। पांच इन्द्रियां हैं वे द्रव्य और मान भेदसे प्रत्येक दो प्रकारवाली हैं इस प्रकार यहां दो प्रकारके मनकी भी निना कहे ही सामर्थ्यसे सिद्धि हो जाती है। " तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम् " इस सूत्रमें इन्द्रियोंके साथ अनिन्द्रिय भी प्रधानरूपसे कहा गया है तथा पांचमें अध्यायके " शरीरवाकान:प्राणापाना: पुद्रलानाम् " इस सूत्रमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने पुद्रल निर्मित इन्यमनका स्वयं कण्ठोक्त निरूपण किया है।

तस्मादिदियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोपीत्यकर्रुकैरिप द्विविधेद्वियसामान्यवाक्यत्वेन द्विविधस्य मनसोभीष्टत्वात् । द्रव्यमनःप्रतिषेधिवचनाभावाच तत्मतिषेधे प्रमाणाभावाद्युक्त्या-गमविरोधाच । तत्राहोपुरुषिकामात्रं केषांचिद्विभावितसिद्धांतत्वमाविर्भावयति ।

तिस ही कारणसे सम्माननीय श्री अकलंक महाराजने भी यों कहकर कि इन्द्रिय और मन दोनों ही विज्ञानके कारण हैं, किंतु विषय हो रहा अर्थ भी विज्ञानका कारण नहीं है। इस कथन द्वारा दोनों प्रकारकी इन्द्रियों के प्रतिपादक सामान्य वाक्य होनेसे द्रव्यमन और भावमन दोनों प्रकारके मनको अभीष्ट किया है। तथा द्रव्यमनका प्रतिषेध करनेवाले बचनका 'अभाव है, उस द्रव्यमनका निषेध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। युक्ति और आगमसे भी विरोध आता है। फिर्मी वहां द्रव्यमनका निषेध करनेमें आश्चर्य दिखलाते हुये नम्न, निर्लज, पुरुषकीसी केवल चेष्टाये करना तो किन्ही चार्वाक सदशवादियोंके सिद्धांतविषयक विचाररहितपनको प्रकट करा रहा है। अर्थात् द्रव्यमनका निषेध करनेवाले चार्वाक विचार सिद्धान्तरहस्यका परामर्श नहीं कर सकते हैं। यहांतक प्रन्थकारने भावमनके साथ द्रव्यमनको भी सिद्ध कर दिया है। मैं ही पुरुष हूं यो अभिमानजन्य अपनेमें उत्कर्ष सम्भावना (बहादुर) तो आहोपुरुषिका है।

कश्चिदाह-द्रव्यमन एव भावमनोस्ति तचात्मपुद्गलव्यतिरिक्तं द्रव्यांतरमिति तद्प्यपसारयति ।

कोई वैशेषिक या नैयायिक यों कह रहा है कि द्रव्यमन ही भावमन है और वह द्रव्यमन तो आत्मा और पुद्गल दोनों द्रव्योंसे अतिरिक्त हो रहा न्यारा नौवां द्रव्य है। " पृथिव्यापस्ते जोधायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि " यों कणादमुनिप्रणीत सूत्र है। इस प्रकार उस वैशेषिकसिद्धान्तका भी निराकरण श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा करते हैं।

आत्मपुद्गलपर्यायव्यतिरिक्तं मनो न तु । द्रव्यमस्ति परैरुक्तं प्रमाणाभावतस्तथा ॥ ५ ॥

अन्तरंग निर्वृत्ति और लिध, उपयोग, रूप मन तो आत्मद्रव्यस्वरूप है तथा बहिरंगनिर्वृत्ति और अष्टदलकमलरूप, उपकरण स्वरूप मन तो पुद्रलकी पर्याय है। आत्मा पर्याय और पुद्रल क्यीबंस व्यक्तिक हो रहा कोई मन नामक नौमा द्रव्य नहीं है, जो कि दूसरे बिद्वान् वैशेषिकोंने स्वारा कहा या । क्योंकि तिस प्रकार मनको स्वतंत्र नौमा द्रव्य माननेमें साधक प्रमाणोंका अभाव है ।

भावमनो ह्यात्मपर्यायः तस्य लब्ध्युपयोगत्वात् । सत्यिप द्रव्यमनिस तदभावे स्वार्थ-परिच्छेदमादुर्भावायोगात्तत्रसिद्धेः । द्रव्यमनः पुद्रलपर्यायस्तदुपकरणात् द्रव्येद्रियवत् । तद्यतिरिक्तं तु द्रव्यांतरं मनो न शक्यं परैः साधियतुं तथा प्रमाणाभावात् । युगपज्ज्ञानातु-त्वित्रमैनसी लिंगमिति चेका, ततो मनोमात्रस्य प्रतिपत्तिस्तद्द्रव्यांतरत्वासिद्धेः । पृथिव्या-दिद्रव्यस्विनिधात्परिशेषात् तस्य द्रव्यांतरत्वसिद्धिरिति चेक्नैतत्, निषधासिद्धेः । तथाहि स्पर्शवद्द्रव्यं मनोऽसर्वमतद्रव्यत्वात् पवनवदिति पुद्रलद्रव्यत्वसिद्धेः । कृतः परिशेषात्तस्य द्रव्यां-तर्तं समर्थिष्यते च तस्याग्रतः पौद्रालिकत्विमत्यस्यं प्रसंगात् ।

चंकि मात्र मन तो आत्माकी पर्याय है। क्योंकि वह भारामन तो लिख और उपयोग स्वरूप 🕯 । हृदयमें आठ पत्तेवाले कमलके समान द्रव्यमनके होते संते भी उस भावमनका अभाव हो जानेपर स्वायोंकी इति प्रकट नहीं हो पाती है। अतः उस भावमनकी युक्तिप्रमाणसे प्रसिद्धि हो जाती है। हां, दूसरा द्रव्यमन तो (पक्ष) पुद्रलकी पूर्याय है (साध्य) क्योंकि उस भावमनका उपकार करनेवाला करण है (हेतु) जैसे कि स्पर्शन आदिक इच्येन्द्रियां उप भारक करण होनेसे पुद्रलकी पर्याय हैं। (अन्वयद्यान्त)। हां, दूसरे वैशेषिकों करके उन अल्मपर्याय और पुद्रलपर्यायसे व्यतिरिक्त तो दूसरे हम्यको मन नहीं साथा जा सकता है। उनके पास मनको न्यारा द्रव्य साधनेवाले प्रमाणका अभाव है। **बदि वैरोपिकोंके सिद्धान्त अनुसार यह प्रमाण प्रस्तुत** करो कि " ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः " आत्मे-न्द्रियार्थसिन्नकर्षे ज्ञानस्य भात्रोऽभावश्व मनसो लिंगम् (वैशेषिकदर्शनम्) प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञाना-मीगप्रयाचेकम् " " युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो छिंगम् " एक वारमें कई ज्ञानोंका नही उपजना ही बापक लिंग है। मरभरी कचोड़ी या पापड, खानेपर भी पांचों ज्ञान क्रमसे ही होते हैं। आचार्य कहते हैं कि वह तो न कहना। उससे तो केवल मनकी विश्वासपूर्वक ज्ञाति हो जाती है। उस मनको स्वतंत्र न्यारा द्रव्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है । वैशेषिक कहते हैं कि मनकी प्रतिपत्ति हो जानेपर पनः प्रथिवी, जल, आदि आठ द्रव्यपनका निषेध हो जानेसे परिशेष न्यायद्वारा उस मनको भिन्न स्वतंत्र द्रव्यपना सिद्ध ही हो जावेगा । अर्थात्-स्पर्शनवाले पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार द्रव्योंका परिणाम तो मन हो नहीं सकता है। क्योंकि खुख, दुःख, द्राम, आदिके असमनायी कारण हो रहे संयोग्नके आश्रय (उद्देश्य) चार स्पर्शवान् द्रव्य तो नहीं हैं (विधेय) तथा सुख, द:खके साक्षात्कारमें आकाश भी करण नहीं हो सकता है। मनपदार्थ छोटा फिर काल, दिशा, आमा-क्षकप भी नहीं है। अतः पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, वाल, दिशा, आत्मा, इन आठ द्रव्योंका बिकेश हो जानेसे मनको न्यारा नौमा द्रव्यपना सिद्ध हो जाता है। आव्यार्थ कहते हैं कि यह तो त

कहना। क्योंकि मनको पृथिवी आदि आठ द्रव्यपनका निषेध करना असिद्ध है। उसी निषेधकी असिद्धि को हम अनुमानद्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं। मन (पक्ष) स्पर्श गुणवाला द्रव्य है (साल्य) अव्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु) वायुके समान (अन्वयद्द्यांत) इस ढंगसे मनको पुद्रल द्रव्यपना सिद्ध हो जाता है। पिर तुमने उस मनको आठ द्रव्योंसे अतिरिक्ष परिशेषसे नौमा द्रव्यपना कैसे सिद्ध कर दिया था ! बताओ। हम जैन सिद्धान्ती उस उस मनके पुद्रल निर्मितपनका आं समर्थन कर देवेंगे। "शरीरवाल्मनः प्राणापानाः पुद्रलानां " इस स्त्र द्वारा मनको पुद्रलका बनाया हुआ साध दिया जावेगा। इस प्रकरणमें इतने ही प्रसंग अनुसार कथन पर्यास है। यहां मनके पुद्रल रचितपनके प्रसंगका बढाना अनुचित है। विद्वानोंको इशारा ही काफी है।

अत्रान्य द्रव्यम्नो भावमनःसहितं द्रव्यं करणत्वात् स्पर्शनादिद्रव्यकरणवदित्यावेद्यंति।
तदयुक्तं, योगिद्रव्यमनसानेकांतात्। योगिनो हि द्रव्यमनः सदिष न भावमनःसहितं द्रव्येद्रियं च न भावेद्रिययुक्तं क्षायिकज्ञानेन सह क्षायोपश्चिमिकस्य भावमनोक्षस्य विरोधात्। न च
केविलिनो द्रव्यमनोक्षाणि न संति " वहिरंतरप्युभयथा च करणमविघातीति, वचनात्। ततो
विज्ञानविशेषादेव भावमनः साधनीयं, सिद्धाश्च भावमनसो द्रव्यमनसः सिद्धिरित्यनवद्यं।

यहां कोई दूसरे पण्डित यो निवेदन कर रहे हैं कि द्रव्यमन (पक्ष) भावमनसे सिंहत हो रहा ही द्रव्य है (साध्यदळ) करण होनेसे (हेतु) स्पर्शन आदिक द्रव्यक्तरणों (इन्द्रियां) के समान (अन्वयदछांत)। इनका अभिप्राय द्रव्य मनके साथ भावमनका अविनामाय नियत रखनेका है। आचार्य कहते हैं कि वह उनका कहना युक्तिरहित हैं। क्योंकि यों योगियोंके द्रव्यमनसे हेतुमें व्यभिचार दोष आता है। त्रिकाछ त्रिलोकवर्षी पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष करनेवाले योगीका द्रव्यमन विद्यमान हो रहा सन्ता भी भायमनसे सहित नहीं है तथा तेरहमे, चौदहमे गुणस्थानवर्षी सर्वक्रके विद्यमान न हो रहीं पांच द्रव्येद्रियां भी भावेन्द्रियोंसे युक्त नहीं हैं। ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुये क्षायिक केवलज्ञानके साथ ज्ञानावरणके क्षयोपरामसे उत्पन्न हुये मावमन और भावइद्रियोंके होनेकी विरोध है। जिन जीवोंके पास क्षायोपरामिक ज्ञान है उनके भावेद्रियां सम्भवती हैं। द्रव्येन्द्रियां तो तेरहमे गुणस्थानवाले योगियोंके और चौदहमे गुणस्थानवाले अयोगी महाराजके भी पाई जाती हैं। केवली भगवान्के पांच बहिरंग द्रव्य इन्द्रियां और छठा अन्तरंग द्रव्यमन मही है, यह नहीं समझ बैठना। क्योंकि गुरुजी महाराज श्री समन्तभद्राचार्यने खुहत् स्वयंभूत्तोत्रमें नेमिनाथ भगवान्की स्तृति करते समय यों कहा है कि " बहिरन्तर्युमयथा च करणमिवाति नार्यकृत्, नाथ युगपद्रक्तिलं च सदा विनिद्रं तल्लाककवद्रविदिय " अर्थात्—हे नाथ! बिद्रंग इन्द्रियां और अन्तरंग इन्द्रियां भी दोनों प्रकारके करण आपमें हैं किन्तु तुम्हारे ज्ञानका विघात करनेवाले नहीं ह, वे छऊ द्रव्येद्रियां तो इन्द्रियजन्य कार्य करणक

कमसे झान कराना, एक साथ झान न होने देना, आदि प्रयोजनोंको तुममें करानेवाली नहीं है। हे नेमिनाथ भगवन् ! तुम इस सम्पूर्ण जगत्को हथेलीपर रक्खे हुये आमलेके समान सदा कभीके जान चुके थे। असहाय केवल्झानका प्रकाश हो जानेपर फिर होई भी द्रव्येन्द्रिय अपने कार्य मावेन्द्रियका सम्पादन नहीं कर पाती है। तिस कारण विज्ञानविशेषसे ही भावमनको साधना चाहिये। हां, भावमनके सिद्ध हो जानेसे द्रव्यमनकी सिद्धि हो जाती है यह निर्दोष व्यवस्था करना है। जिन जीवोंके भावमन पाया जाता है उनके द्रव्यमन अवश्य होगा। किन्तु जिनके द्रव्यमन है उनके भावमन होय, नहीं भी होय, इस प्रकार भावमन और द्रव्यमनमें कार्यकारणभावगर्भित व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध है।

येषां तु प्राणिनां शिक्षािकयालापग्रहणविज्ञानविशेषाभावः शश्वत्तद्भवे निश्चितस्तेषां संज्ञित्वाभावास्य भावमनोस्ति तदभावास्य द्रव्यमनोऽनुमीयत इत्यमनस्कास्ते ततो युक्तं संज्ञित्वासंज्ञित्वाभ्यां समनस्कामनस्कत्वं व्यवस्थापयितुम् ।

हां, जिन प्राणियोंके तो उस भवमे सर्वदा शिक्षा, किया, आलाप, प्रहण करनेवाले विज्ञान विशेषोंका अभाव निश्चित हो रहा है, उन मक्यी, चींटी, कोई कोई पशु, पक्षी भी आदि जींबोंके संज्ञीपनका अभाव हो जानेसे मावमन नहीं है और उस भावमनका अभाव हो जानेसे द्रव्यमनके सद्भावका भी अनुमान नहीं किया जा सकता है। कार्येस कारणका अनुमान हो सकता था। अर्थात्—भावमन इतना परोक्ष नहीं जितना द्रव्यमन परोक्ष है। हमको अपने भावमनका प्रत्यक्ष भी हो जाता है। दूसरेके भावमनका अनुमान सुल्मतासे हो जाता है। अतः भावमनके अभावसे द्रव्यमन परोक्ष हो। व्यापक अभाव (व्यापक) अनुमित हो जाता है। जैसे कि वन्ह्यभावसे धूमाभावका अनुमान कर लिया जाता है। व्यापक वस्तुका अभाव व्याप्य यानी अल्पदेशवृत्ती हो जाता है और व्याप्य पदार्थका अभाव व्यापक यानी बहुदेशवृत्ती हो जाता है। यो इस हेतुसे वे असंज्ञी जीव अमनस्क जाने जाते हैं। तिस कारण संज्ञीपन और असंज्ञी-पनसे जीवोंका समनस्कपना और अपनस्कपना व्यवस्था करानेके लिये युक्तिपूर्ण है।

इति सूत्रत्रयेणाक्षमनसां स्वामिनिश्रयः। संज्ञासंज्ञिविभागश्र सामर्थ्याद्विहितोंजसा॥ ६॥

इस प्रकार तीन सूत्रों करके इन्द्रिय और मनके स्वामी हो रहे जीवोंका निश्चिय कर दिया गया है। तथा संज्ञी जीवोंका विभाग करते हुये परिशेष न्यायकी सामर्थ्यसे असंज्ञी जीवोंका विभाग भी झटित कर दिया गया समझ छेना चाहिये। अर्थात्—'' वनस्पत्यंतानामेकम् '' कृमिपिपी- क्रिकाश्रमरमनुष्यादीनामेकैकहृद्धानि '' इन दोनों सूत्रोसे पांचों या छऊ इन्द्रियोंके अधिकारी या स्वामी

हो रहे जीवोंका वर्णन किया है तथा तीसरे " संज्ञिनः समनस्काः " इस स्त्रसे संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंका पृथग्भाव श्री उमास्त्रामी महाराजने कह दिया है। एक एक स्त्रमें अपरिमित वाच्यार्थ भरा पड़ा है।

यथा स्पर्शनस्य वनस्पत्यंताः स्वामिनः, क्रम्यादयः तस्य रसनवृद्धस्य, पिपीलिकादय-स्तयोघीणवृद्धयोः, भ्रमरादयस्तेषां चक्षुर्वृद्धानां, मनुष्यादयस्तेषामिप श्रोत्रवृद्धानां तथा संक्षिनो मनस इति प्रतिपत्तव्यं । ये तु मनसोऽस्वामिनः संसारिणस्ते च संक्षिनः इति संज्ञ्यसंक्षि-विभागश्च परमार्थतो विद्दितः ।

तिस प्रकारकी पहिली स्पर्शन इन्द्रियंक पृथित्रीक्षे प्रारम्भ कर वनस्पतिपर्यंत जीव स्वामी हैं, और रसना इन्द्रियंसे वृद्धिको प्राप्त हो रही उस स्पर्शन इन्द्रियंक स्वामी लट, जौंक आदिक जीव हैं । तथा प्राण इन्द्रियंसे वढ रहीं उन स्पर्शन और रसना यों दो मिलकर तीन इन्द्रियोंके स्वामी चीटी, खटमल, आदिक जीव हैं एवं चौधी चक्षु:इन्द्रियंसे वढ चुकीं होकर उन स्पर्शन, रसना, प्राण, इन्द्रियोंके स्वामी मोंरा, मक्खी, पतंगा, आदि प्राणी है, तथेव पांचवी श्रोत्र इन्द्रियंसे अधिक हो रहीं उन स्पर्शन, रसना, प्राण, और चक्षुके स्वामी तो मनुष्य, घोडा, हाथी, आदि जीव हैं । तिस प्रकार ही संज्ञी जीव उन पांचोंके और मनके स्वामी हैं, यों समझ लेना चाहिये। यहां यथाके साथ तथाका अन्वय कर पंक्तिका अर्थ लगा देना । और जो जीव मनके स्वामी नहीं हैं वे संसारी जीव तो संज्ञी नहीं हैं । इस प्रकार वास्तविक रूपसे संज्ञी और असंज्ञी जीवोंके विभागका विधान इस सूत्रहारा किया जा चुका है । केवलज्ञानी जीवोंमें संज्ञीपन, असंज्ञीपनका भेद नहीं है । वे दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं ।

तदेवमान्हिकार्थमुपसंहरकाह्।

तिस कारण इस प्रकार प्रकरणोंके समुदायभूत आन्हिकके अर्थका उपसंहार (संकोच) कर रहे श्री विद्यानन्द महाराज अग्रिम वार्तिकको वंशस्थ छंदद्वारा स्पष्ट कहते हैं ।

इति स्वतत्त्वादिविशेषरूपतो निवेदितं तु व्यवहारतो नयात्। तदेव सामान्यमवांतरोदितात्स्वसंश्रहात्तदुद्वितयश्रमाणतः॥७॥

दितीय अध्यायके आदिमें इस उक्त प्रकार जीवके निजतन्त, लक्षण भेद, इन्द्रिय, आदिका सामान्य रूपसे कथन कर पुनः ल्यवहार नय करके विशेष रूपसे उन स्वतन्त्र आदिका इन प्रकरणोंमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजद्वारा दार्शनिक और भन्यजीवोंके सन्मुख निवेदन किया जा चुका है। वह सामान्य निरूपण ही ल्याप्य विशेषको कहनेवाले स्वकीय, संप्रक, ल्यवहार, ऋजुसूत्र, नयोंद्वारा विशेष रूपसे कह दिया जाता है तथा दोनों सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको विषय करनेवाले प्रमाणसे सब कह दिया गया समझ लेना चाहिये। नय और प्रमाणोंके विषय हो रहे धर्म, धर्मियों, करके जीवतन्त्र गुन्फित हो रहा है। प्रत्यक्ष परोक्षास्तरूप दोनों प्रमाणोंसे सम्पूर्ण विषय परिज्ञात होजाते हैं।

प्रमाणनयैरिधगम इत्युक्तं तत्र जीवस्य स्वतन्त्रमिष्ट सामान्यं संप्रहादवांतरीक्तादिभिनंतं निवेदितं तद्भेदाः परीपश्चमिकादयो व्यवहारनयात् यज्जीवस्य स्वतन्त्वं तदौपश्चमिकादिभेदस्य-मिति । पुनरप्योपश्चमिकादिसामान्यं तत्संग्रहात् तद्भेदो व्यवहारात् । यदौपश्चमिकसामान्यं तिह्नभेदं, यत्शायिकसामान्यं तन्नवभेदः यन्मिश्रसामान्यं तद्दष्टादशभेदं, यदौद्यिकसामान्यं तद्देकविंश्वतिभेदं, यत्पारिणामिकं सामान्यं तिविभेदं इति । पुनरिष सम्यक्त्वादिसामान्यं तत्संग्रहात् तद्भेदो व्यवहारादिति संग्रहव्यवहारिनरूपणपरंपरा मायुजुसूत्राद्दवर्गतव्या । सामान्य-विशेषात्मकं तु स्वतन्त्वं सकलं प्रधानभावात् प्रमाणतोधिगतं निवेदितं सूत्रकारेण । एवं जीवस्य छक्षणं भेद इन्द्रियं मनस्तद्विषयः तत्स्वामी च सामान्यतः संग्रहाद्विश्वेषतो व्यवहारात् प्रधानभावार्षितसामान्यविशेषतः प्रमाणादिधगम्यते ।

प्रमाण और नयोंकरके जीवादि पदार्थोंका अधिगम होता है। यह पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है। उन सात तत्वोंमेंसे जीवतत्त्वंका निजतत्त्व तो यहां द्वितीय अध्यायके पहिले सूत्रमें जो सामान्य कहा गया है, वह नयके अवान्तर व्याप्य भेदोंमें कहे गये संप्रह्रनयसे जान लिया गया कहा जा चुका है। हां, जीवके स्वतत्त्वके भेद हो रहे दूसरे औपशमिक, क्षायिक, आदि भाव तो न्यवहार नयसे यों गिनाये गये हैं कि जीवके जो स्वतत्त्व हैं वे औपशमिक, क्षायिक, आदि मेदस्वरूप हैं। फिर भी उस औपशमिक आदि सामान्यको संप्रहनयसे जानकर उन औपशमिक आदिके भेदोंका अधिगम व्यवहारनयसे यों जान लिया कह दिया है कि जो औपरामिक सामान्य है, वह दो भेदवाला तत्त्व है, और जो क्षायिक सामान्य स्वतत्त्व है, वह नी भेदोंको धार रहा है, तथा जो जीवका निजतत्त्व मिश्र सामान्य है, वह अठारह भेदोंमें विभक्त है, एवं जो संप्रहनयसे सामान्य अनुसार एक ही औदियिक निजतत्त्व है, वह व्यवहारनयसे इकईस मेदोमें बटा हुआ है। जी पारिणामिक सामान्य भाव है, वह व्यवहारनयसे वह तीन भेदवान् है, इस प्रकार संग्रह और व्यवहारनयसे स्वतत्त्वके भेद प्रभेदोंका निरूपण आदिके सात सूत्रोंमे किया गया है, फिर भी वहीं सम्यक्त आदि सामान्यको जो संप्रहसे जाना गया है, उसके भेद व्यवहारसे जान छिये जाते हैं। व्यवहारनयसे जाने चुकेके ऋजुस्त्रनयसे पुनः प्रमेद जान लिये जाते हैं । इस ढंगसे संग्रह और व्यवहारद्वारा निरू-पण करनेकी परम्परा सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयसे पहिलेत मसम्ब लेनी चाहिये। अर्थात-जबतक एक समयवर्ती सूक्ष एक है। पर्यायतक नहीं पहुंचे, तबतक पहिलेके भेद प्रभेदोंको संप्रह और व्यवहारम ही खतियाना चाहिये, जैसे कि प्रासादके दृढ भाण्डागारमें बढा सन्दूक है, वहां बढी तिजीरीमें डिन्ना रक्ता है। डिन्नेमें डिनिआ और डिनिआमें नस्रवेष्टित हो रहे रत्नभूषण सुरक्षित हैं। उसी प्रकार पिहेले व्यवहारिसे जाने गयेको संप्रहका विषय बनाकर पुनः उसके व्याध्य विषयको व्यवहारीस जानी, फिर भी यदि विषयोंके परतींमें छीटे छोटे अनेक परत दीखें तो उस व्यवहारनयके विषयकी

संस्थाया जानकर उसके भी व्याप्यको पुन व्यवहारनयसे जानो, जबतक ऋजुसूत्र नयका निषय विश्वोक्तर न होय तबतक संग्रह, व्यवहार नयोंकी परम्पराको बढाये जानो । जीन परार्थका सम्पूर्ण निजतल तो सामान्य निशेषासक है, नयोंद्वारा कोई भी एक धर्म या धर्मी प्रधान निवक्षित हो जाता है। शेष अंदा अप्रधान समझा जाता है। हां, प्रमाणद्वारा तो संपूर्ण सामान्यिवशिष आत्मक स्वतल्व प्रधानरूपसे जान लिया ग्रह्मा । सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके निवदन कर दिया गया है। इस प्रकार सात सूत्रोंद्वारा जीवका लक्षण तथा पांच सूत्रोंद्वारा जीवको सद एवं अप्रिम पांच सूत्रोंकरके जीवकी इन्द्रियां और मन भी तथा आगेके दो सूत्रोंकरके जीवकी छह इन्द्रियोंके विषय तथेव तीन सूत्रों करके जीवकी छह इन्द्रियोंके स्वामी ये सब जान लिये जाते हैं। यहांतक द्वितीय अध्यायके चौवीस सूत्रोंका निरूप्य अर्थ बता दिया है। सामान्यरूप करके संग्रहनयसे उक्त विषय जाना जाता है और विशेष रूप करके व्यवहारनयसे उक्त स्वतल्व लक्षण आदिको जान लिया जाता है तथा सामान्य और विशेष दोनोंको प्रधानरूपसे निवक्षा प्राप्त करनेपर प्रमाणसे उक्त सिदान्त निर्णीत कर लिया जाता है।

इति तत्त्वार्थश्चोकवार्तिकालंकारे द्वितीयाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् ।

यहांतक तत्त्वार्थसूत्रके अलंकारस्वरूप तत्त्वार्थक्षोकवार्तिक प्रन्थमें द्वितीय अध्यायका श्री विद्यानन्द स्वामी कृत पहिला आहिक समाप्त हुआ ।

ॐ चीं श्रीं द्वादश्चाङ्गप्रभृतिकयनघं मन्त्रग्नुचारयन्तः । शुक्लध्यानात्मिकां यां मतिमवधिमनःपर्ययौ चावहेल्य । श्रद्धाचष्टाङ्गपूर्णामनुपदमृषयोभावयन्त्युप्रभक्त्या पापाज्जीवस्वतक्त्वाद्यधिगतिकुश्वला साईती भारती नः ॥ १ ॥

---×**×----

इसके अनन्तर जिज्ञासा होती है कि संसारी जीवके मर जानेपर यानी भुज्यमान आयु:कर्मके भुगत चुक्तनेपर पूर्वजन्म सम्बन्धी शरीरके नष्ट होते सन्ते विचारक द्रव्यमनका भी विनाश हो चुका है, ऐसी दशामें असहाय आत्माकी भविष्यमें जन्म छेने योग्य क्षेत्रके प्रति अभिमुखपने करके प्रदृत्ति सका कैसे होगी है बताओ । ईखर, खुदा, यमदूत आदि तो जैनसिद्धान्त अनुसार क्षेत्रान्तरमें छे जाकर जन्म करा देनेबाछे माने नहीं गये हैं । उनके पक्षपाती पण्डितोंने जैसे वे माने हैं वैसे ईखर कादि आतम्म सिद्ध भी नहीं हैं । इस प्रकार सप्रतारण जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज इस बिक्य सुत्रका अवतार करते हैं ।

विग्रह्यती कर्मयोगः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण शारीरोंके प्ररोहका बीजभूत वह ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मोंका समुदायभूत कार्मण शारीर ही यहां कर्म कहा जाता है। मन बचन कायके उपयोगी वर्गणाओं मेंसे किसी भी एकका निमित्त पाकर हुआ आत्मप्रदेशोंका सकरपना योग माना जाता है। उत्तरभव सम्बन्धी शारीरके प्रहण करनेके लिये हो रही गतिमें कर्मयोग निमित्त हो जाता है। अर्थात्—उत्तर भवमें जन्म लेनेके लिये आकाश प्रदेश श्रीणियों चे जा रहे जीवके कार्मणयोग हो रहा गतिका सम्पादक है। जगतमें जड पदार्थ बहुत विस्मयजनक कार्योको कर रहे हैं। चेतनको अनेक वर्षोतक उनकी शिष्यता प्राप्त करना मान् आवश्यक हो जाता है। वैज्ञानिक विद्यानोंद्वारा जडके चमत्कारक कार्यदृष्टि गोचर करा दिये जाते हैं। चेतन तो मूर्व सरीखा उनके तन्मुख देखता ही रह जाता है। चेतनके भूक, प्यास, शीत, उष्णता, बाधा, रोग आदिको जड ही मेटता है जीवित शरीरमें भी चेतन जीव पोंगा सरीखा खडा रहता है, जिस समय कि शारीरिक प्रकृति अनेक आश्चर्यकारक कार्योका सम्पादन कर रही है अतः जीवकी शरीरके लिये गतिमें अथवा पुद्रलके आधानके निरोधके साथ हो रही गतिमें कर्मयोग प्रेरक निमित्त हो रहा है।

विग्रहो देहः गतिर्गमनिकया विग्रहाय गतिः विग्रहगितः अश्वघासादिवदत्र शृक्तिः कर्म कार्मणं शरीरं कर्मेव योगः । कार्मणशरीरालंबनात्मपदेशपरिस्पंदरूषा क्रियेत्यर्थः । विग्रहगतौ-कर्मयोगोस्तीति प्रतिपत्तव्यं, तेन पूर्वे शरीरं परित्यज्योत्तरश्चरीराभिग्रुखं गच्छतो जीवास्यांत-राले कर्मादानसिद्धिः ।

विग्रह शब्दके अर्थ देह, राजनीति सम्बन्धी छह गुणोंमें एक गुण, युद्ध, विस्तार, ये कई हैं। किन्तु यहां सूत्रमें पड़े हुये विग्रह शब्दका अर्थ देह पकड़ना चाहिये। विग्रहके छिये जो गति होती है वह विग्रहगति होती है। यहां कोई प्रश्न करे कि "रथाय दारुः रथदारुः कटकाय सुवर्ण कटकसुवर्ण" रथके छिये काठ है, कड़ेके छिये सोना है, इस प्रकार "प्रकृतिविकृतिभाव" सम्बन्ध होनेपर उसके छिये काठ है, कड़ेके छिये सोना है, इस प्रकार "प्रकृतिविकृतिभाव" सम्बन्ध होनेपर उसके छिये इस अर्थमें चतुर्थी तत्पुरुष समासवात्ति हो सकती है। किन्तु यहां तो शरीरको बनानेके छिये गति कोई प्रकृति नहीं है। अतः समास होना कठिन है। इसके छिये प्रथमसे ही आचार्य कह देते हैं कि विग्रहगती यहां "अश्ववास, छात्राल, इत्यादिके समान समासवात्ति कर छेनी चाहिये, घोड़ेके छिये भास है, विद्यार्थीके छिये अल रखा है, यहां प्रकृति विकृति भाव नहीं होते हुये भी तदर्थपनेको कह रही चतुर्थी समासवृत्ति हो जाती है। तथा कर्मका अर्थ आत्मामें प्रवाह रूपसे उपाचित हो रहा कार्मण शरीर है। कर्मस्वरूप ही जो योग है वह कर्मयोग है। यानी कार्मण शरीरका अवरुम्ब छेकर हुयी आत्मप्रदेश कम्पन स्वरूप क्रिया इस कर्मयोगका अर्थ है, विग्रहके छिये गतिमें कर्मका थोग है यह समझ छेना चाहिये। तिस कारण पूर्वशरीरको छोडकर उत्तरमव सम्बन्धी शरीरके आभिमुख गमन कर रहे जीवके मध्यवर्ती अन्तरालमें कर्मोके ग्रहण करनेकी सिद्धि हो जाती है। कार्मणकाय योगहारा उस समय भी कार्मण वर्गणाओंका आकर्षण होकर जीवके ज्ञानवरणादि कर्म बनते रहते हैं।

कुतः पुनर्विप्रहगती जीवस्य कर्मयोगोस्तीति निश्रीयत इत्याह ।

फिर यह बताओ कि विप्रहरातिमें जीवके कर्मयोग विद्यमान है, यह किस प्रमाणसे निश्चित किया जाता है ! इस प्रकार प्रश्नस्वरूप बाणके छूटनेपर बालबालकी रक्षा करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामी वजनवन्दरूप समाधान वचनको कहते हैं।

गतौ तु विष्रहार्थायां कर्मयोगो मतोन्यथा । तेन संबंधवेधुर्यादुव्योमविष्नवृतात्मवत् ॥ १ ॥

विग्रह के उपार्जन अर्थ हो रही गतिमें तो कर्मयोग प्रेरक कारण माना गया है, अन्यथा यानी कर्मयोग नहीं माननेपर उस समय उन कर्मों के सम्बन्ध से रीते रह जाने के कारण यह जीव आकाशके समान सर्वथा कर्मशून्य हो जायगा अथवा कर्मशुक्त हो रहा जीव मुक्तजीवों के समान बन बैठेगा । ऐसी दशामें तो मर जानेपर सभी जीवों को कर्मारिक हो जाने से मुक्तिछाभ प्राप्त हो जायगा । संसारपरिवर्तन नहीं हो सकेगा, जोकि किसी भी आस्तिक यहां अभीष्ट नहीं किया गया है।

येषां विग्रहनिमित्तायां गतौ जीवस्य कर्मयोगो नाभिमतस्तेषां तदा पश्चाद्वा नात्मा पूर्वकर्म-संबंधवान्कर्मयोगरहितत्वादाकाशवन्युक्तात्मवच विपर्ययमसंगो वा ।

जिन प्रतिवादियों के यहां शरीरके निमित्त हो रही जीवकी गतिमें कर्मयोगको कारण नहीं माना गया है उनके यहां उस समय अथवा पीछे भी आत्मा (पक्ष) पूर्व कर्मों के सम्बन्धवाला नहीं सम्भवता है (साध्य) कर्मयोगसे रहित होने के कारण (हेतु) आकाशके समान और मुक्त आत्माक समान (दो अन्वयद्द्यान्त) पहिला दृष्टान्त तो सर्वथा कर्मों के अयन्तामावको साध रहा है और दूसरा दृष्टान्त कर्मों के सद्भावपूर्वक रिक्तता (धंस) को पुष्ट करता है । अथवा दूसरी बात यह भी है कि विपर्यय हो जाने का भी प्रसंग होगा । अर्थात् भारते समय कर्मों से सर्वथा रीता हो गया आत्मा पुनः जन्मान्तरों के फलोपयोगी कर्मों का नवीन ढंगसे यदि उपार्जन कर लेता है तो कर्मों के भूत, वर्तमान, भविष्य, विकाल, संसर्गाविष्ठित्र अत्यन्तामावको धार रहा आकाश अथवा कर्मों के वर्तमान, भविष्य, कालद्दय संसर्गाविष्ठित धंस हो धार रहा मुक्त आत्मा भी पुनः कर्म लित हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है।

आत्मनः परममहत्त्वात् गतिमत्त्वाभावाद्विग्रहगतिरसिद्धा । तथोत्तरज्ञरीरयोग एव पूर्वश्वरीरवियोग इत्येककालत्वात्तयोर्नान्तरालमदृष्ट्योगरहितं यतो पूर्वकर्मसंबंधभागात्मा न स्यादिति कश्चित् । तं प्रत्याह ।

यहां कोई वैशेषिक कह रहा है कि विभु द्रव्योंमें पाये जानेवाले परम महस्व परिमाणका धारी होनेसे आत्माके गतिमान्पनेका अभाव है। अतः विप्रहके लिये गति करना जीवके असिद्ध है तथा एक बात यह मी है कि उत्तर शरीरके साथ सम्बन्ध हो जाना ही तो पूर्वशरीरका वियोग है। इस प्रकार पूर्वभवकी मृत्यु और उत्तर भवके जन्मका एककाल होनेसे उन दोनोंका अन्तराल तो पूर्वक्ती

अद्दृक्ते योगसे रहित नहीं है। जिससे कि आत्मा पूर्वकर्मके सम्बन्धको धारनेवाला न हो सके। अर्थात आत्मा व्यापक है, उत्तरभवके जन्मस्थानोंमें पहिलेसे ही ठहरा हुआ है। अदः उत्तर स्थितो प्रहृण करनेके लिये गमनकी कोई आवश्यकता नहीं है। पहिलेके योग और कर्मबन्ध सब, वैसेके वैसे ही बने रह सकते हैं। फिर हमारे ऊपर आकाश या मुक्तात्माके समान कर्मरहितपनेका प्रसंग अथवा विपर्यय हो जानेका प्रसंग व्यर्थमें क्यों उठाया जाता है? यहांतक कोई कटाक्ष कर रहा है। उस वैशेषिकके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य वार्त्तिकों हारा समाधान कहते हैं।

गतिमत्त्वं पुनस्तस्य कियाहेतुगुणस्वतः । लोष्ठवद्वेतुधर्मोस्ति तत्र कायिकयेक्षणात् ॥ २ ॥

उस जीवको गतिसहितपना तो कियाके हेतु, गुण, से युक्त होनेके कारण सिद्ध हो जाता है, जैसे कि फेके जा रहे डेलमें कियाका हेतु वेगगुण विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मामें किया करनेका हेतु प्रयत्न या जीवविपाकी गतिकर्मके उदयसे होनेवाला गातिभावनामक गुण (पर्याय) विद्यमान है। अब हेतुके असिद्ध हो जानेकी शंका हो जानेपर पुनः हेतुको साध्य कोटिपर लाया जाता है कि उस आत्मामें हेतु धर्म हो रहा कियाका हेतुभूत गुण विद्यमान है। क्योंकि शरीरमें उसके द्वारा की गयी किया देखी जाती है। अर्थात्—देखो, जिस समय देवदत्त हाथको उपर उठा रहा है या चल रहा है उस समय आत्मामें कियाका उत्पादक प्रयत्न गुण अवश्य है। अन्यथा शरीरके अवयवोंमे उठाना या पावोंका चलाना आदि कियायें नहीं देखी जा सकती थी। हाथ या मानोंकों ओतपोत हो रही आत्मा ही उठती चलती फिरती है। उसके साथ शरीर या उसके अवयव तो विन्व जाते हैं। जैसे कि धिसहारे मनुष्यके चलनेपर उसके सिरपर रखी हुई घासकी पोटरी भी उसके साथ घिसटती चली जाती है। इस ढंगसे दो हेतुओं द्वारा आत्माकी गतिको साध दिया गया है।

सर्वगत्वाद्गतिः पुंसः खवन्नास्तीति ये विदुः । तेषां हेतुरसिद्धोस्य कायमात्रत्ववेदनात् ॥ ३॥

आत्माके (पक्ष) देशसे देशान्तर होनारूप गित नहीं है (साध्य) जगत्के सभी स्थानोंमें प्राप्त हो चुका होनेसे (हेतु) त्रिमु आक्षाशके समान (अन्ययदृष्टान्त), इस प्रकार जो नैयायिक मान बैठे हैं, उनके यहांका स्त्रीकृत सर्वगत्व हेतु असिद्ध है । पक्षमें नहीं वर्तता है । क्योंकि इस जीवका केवल गृहीत शरीरमें ही उतने ही लम्बे चौडे, मोटे परिमाणको विषय कर रहा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है । अपने अपने शरीरके बाहर आत्माका सम्वेदन किसीको नहीं होता है । अतः आत्मा अणुपरिमाण या महापरिमाण दोनोंसे रीता हो रहा मध्यम परिमाणवाला है । अन्यथा व्यापक मान लेनेपर बडा भारी व्यवहारसांकर्य होकर गुटाला मच जायगा । " सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं त्रिमुत्वं" यह त्रिमुत्ना आत्मामें नहीं है ।

विभुः पुमानमूर्तत्वे सति नित्यत्वतः खवतं । इत्यादि हेतवोप्येवं प्रत्यक्षहतगोचराः ॥ ४ ॥

फिर वैशेषिक पंडित अनुमान करते हैं कि आत्मा (पक्ष) व्यापक है (साध्य) पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच मृतीसे भिन्न होते सन्ते नित्य होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वयद्द्यान्त) तथा आत्मा व्यापक है (प्रतिज्ञा) क्योंकि अणुपरिमाणका अधिकरण नहीं हो रहा सन्ता नित्यहच्य है (हेतु), जैसे कि आकाश न्यापक है (दृष्टांत) । अथवा देवदत्तकी अंगनाका शरीर या देशदत्तके सैकडों हजारों कोस दूर बन रहे वस्त्र, अलंकार, कांटे, विष, अंगूर, सेव, आदिक पदार्थ (पक्ष) संयक्त हो रहे देवदत्तकी आत्माके गुणोंद्वारा सम्पादित किये जाते हैं (साध्य) क्योंकि कार्य होते हुये वे उस देवदत्तके उपकारक हैं (हेतु) जैसे कि कौर, गायन, अध्ययन, आदिक हैं। इस अनुमानसे भी आत्माके न्यापक सिद्ध हो जानेपर ही देशान्तरचर्ती भोग्य. उपभोग्य पदार्थीसे संयुक्त होकर किया कराना बन पाता है। तथा पुण्य पाप (पक्ष) अपने आश्रय आत्माके साथ संयुक्त (समवेत) हो रहे सन्ते ही दूसरे आश्रयोंमें क्रियाका आरम्भ करते हैं (साध्य), क्योंकि एक द्रव्यके गुण होते हुये वे कियाके हेतुभूत गुण हैं (हेतु), प्रयत्नके समान (अन्वय दृष्टांत)। एवं आत्मा (पक्ष) सर्वन्यापक है (साध्य), सर्वत्र जाने जा रहे गुणोंका आधार होनेसे (हेतु) आकाशके समान (दण्टांत) तथा बुद्धिका अधिकरण हो रहा आत्मा द्रव्य व्यापक है (साष्य), क्योंकि नित्य होते हुये अस्मदादिकोके द्वारा जानने योग्य गुणोंका आर्ष्रष्ठान होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वयदृष्टांत) और भी आत्मा सर्वगत है (प्रतिज्ञा), द्रव्य होते हुए अमूर्त होनेसे (हेतु) आकाशके समान । अन्य भी अनुमान लीजिये । आत्मा व्यापक है (प्रतिज्ञा) मनसे मिन होता हुआ स्पर्शरहित द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाशके समान । अब आचार्य कहते हैं कि आत्माको व्यापकल सिद्ध करनेमें दिये गये इसी प्रकार अमूर्त होते हुये निल्यपना आदिक हेत तो प्रलक्षवाधित सान्यको विषय कर चुकनेपर प्रयक्त हो रहे हैं। अतः बाधित हे वामास हैं। जब कि रासनप्रवाधने मिश्रीका मीठापन प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा गृहीत हो रहा है, ऐसी दशामें दो चार तो क्या सहस्रों हेतु भी मिश्रीको कटू सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। उसी प्रकार शरीरमें ही आत्माका स्वसम्वेदन हो रहा है। अत: आत्माके र्थापकत्वको साधनेवाछे सभी हेतु अकिंचित्कर हैं। तथा आत्मा (पक्ष) परममहा परिमाणवान नहीं है (साध्य) क्योंकि द्रव्यांतरोसे उस साधारण हो रहे सामान्यका आधार हो रहा सन्ता अनेक हैं (हेत्) घट,पट, आदिके समान (अन्वयद्यात) तथा आत्मा सर्वगत नहीं है, दिक, काल, आकारासे भिन्न होता हुआ देन्य होनेसे पुस्तकके समान । एवं आत्मा विभु नहीं है, क्रियात्रान् होनेसे बाण आदिके समान । इत्या-दिक अनुमानींसे भी आत्माका व्यापकल विगाड दिया जाता है। तब तो पूर्वीक सभी हेत संप्रतिपक्ष हेलांमास हो जाते हैं।

हेतुरीश्वरबोधेन व्यभिचारी च कीर्तितः । तस्यामूर्तत्विनत्यत्वसिद्धेरिवभुता भृतः ॥ ५ ॥ अनित्यो भावबोधश्रेन स्यात्तस्य प्रमाणता । गृहीतग्रहणानो चेत् स्मृत्यादेः शास्त्रबाधिता ॥ ६ ॥

आचार्य महाराज दूसरी बात कहते हैं कि वैशेषिकींद्वारा आत्माके विभुत्वको साधनेमें प्रयुक्त किया गया हेत तो ईश्वरज्ञान करके न्वाभिचार दोषवान् भी प्रसिद्ध हो रहा है। देखिये, वैशेषिकों के यहां दिक, काल, आत्मा, आकाश, ये चार द्रव्य व्यापक माने गये हैं । इनके गुण तो परम महापरि-माणवाले नहीं हैं। क्योंकि गुणमें पुनः दूसरे गुण नहीं ठहरते हैं, ज्ञान गुणमें परिमाण गुण नहीं वर्तता है " गुणो गुणानंगीकारात । " " निर्गुणा गुणाः " । जबिक पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, इन पांच मूर्तद्रव्योंसे भिन्न हो रहा वह ईश्वर ज्ञान अमूर्त है, और नित्य भी सिद्ध है, किन्तु अव्या-पकत्वको धारनेवाले उस ज्ञानको ज्यापकपना नहीं माना गया है, अतः ईश्वरज्ञानमें हेतुके अविकल ठहर जानेसे और साध्यके नहीं वर्त्तनेसे व्यभिचार दोष हुआ । इस व्यभिचार दोषको हटानेके छिये वैरापिक यदि ईश्वरज्ञानको अनित्य कहें तब तो गृहीतप्राही होनेसे उस ईश्वराज्ञानको धारवाही ज्ञानके समान प्रमाणता नहीं हो पायगी । पहिले ज्ञानने जिन पदार्थीको विषय किया था दूसरे ज्ञानने भी भी नवीन उपज कर उन्हीं पदार्थीको जाना, यह गृहीतोंका ही प्रहण हुआ । हां, ईश्वर ज्ञानको नित्य, एक, मान छेनेपर तो गृहीतको है। पुनः दूसरे ज्ञानसे भी प्रहण करना यह प्रसंग उठानेका अवसर ही नहीं आता है। यदि तुम वैशेषिक गृहीतग्राही होनेपर भी ईश्वरज्ञानकी अग्रमाणता नहीं मानोगे तब तो स्मृति, प्रत्यभिन्नान, धारावाहि ज्ञान आदिको भी प्रमाणता आ टपकेगी, जोकि तम्हारे शाखोंसे बाधित है. साथमें आत्माका न्यापकपना तो सर्वोगीण निर्दोष उन धर्मी प्राहक प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे बाधित हो रहा है। यह समझे रही।

गतिमानात्मा क्रियाहेतुगुणसंवंधाङ्घोष्टवत्। क्रियाहेतुगुणसंवंधोस्त्यात्मिनि काये तत्कृतक्रियोपलंभात्। यत्र यत्कृतिक्रियोपलंभः तत्र क्रियाहेतुगुणसंवंधोस्ति यथा वनस्पतौ वायुकृतिकियोपलंभाद्वायौ तथा चात्मकृतिक्रियोपलंभः काये तस्मादात्मिनि क्रियाहेतुगुणसंवंधोस्ति इति
निश्चीयते। कः पुनरसावात्मिनि क्रियाहेतुगुणः १ प्रयत्नादिः। प्रयत्नवता ह्यात्मना बुद्धिपूर्विका
क्रिया काये क्रियते, अबुद्धिपूर्विका तु धर्माधर्मवतान्यथा तदयोगात्।

आत्मा (पक्ष) गमन करना रूप कियावाला है (साध्य) कियाके हेतु हो रहे गुणोंका सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे (हेतु) ढेल या गोलीके समान (अन्वयदृष्टान्त)। पुनः आचार्य हेतु रखको साधते हैं कि आत्मामें (पक्ष) कियाके हेतुभूत गुणोंका सम्बन्ध हो रहा है (साध्य)

शरीरमें उन गुणोंसे की गई कियाका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे (हेत्) जहां जिसके द्वारा की गयी कियाका उपलम्भ हो रहा है, वहां कियाने हेतुमृत गुणका सम्बन्ध है। या किया हेतुभूतगुणके समवायी द्रव्यका सम्बन्ध विद्यमान है (अन्वयदृष्टान्त) जैसे कि वृक्षस्वरूप वनस्पतिमें वायु द्वारा की गई कियाका उपलम्भ होनेसे वायमें कियाहेतगुण वेग या कंपानेवाला ईरण (धका देना) विद्यमान है (अन्वयदृष्टान्त) तिसी प्रकार कायमें आत्मा द्वारा की गयी कियाका उपलम्म हो रहा है (उपनय) तिस कारणसे शरीरी आत्मामें क्रियाके हेतुमृत गुणोंका सम्बन्ध है (निगमन)। यो अनुमानसे निश्चय-कर लिया जाता है। यहां कोई प्रश्न करता है कि फिर यह बताओ ? कि आत्मामें क्रियाका हेत हो रहा वह गुण कीनसा है ? आचार्य उत्तर कहते हैं कि प्रयत्न, वीर्य, उत्साह, बळ, आदिक गुण आत्मामें क्रियाके सम्पादक हैं। चुंकि प्रयत्नवाले आत्मा करके कायमें बुद्धिपूर्वक क्रिया की जाती है जिससे कि खाना, पीना, चलना, प्रमना, उडना, भित्ती (कुश्ती), भिरना, शास्त्र लिखना, खेळना, सीमना, कसीदा काढना, आदि कियायें हो जाती है। हां, शरीरमें हुई अबुद्धिपूर्वक क्रियायें तो पुण्य पापवाले आत्मा करके अन्यक्त परुषार्थ द्वारा बनाली जाती हैं. जिससे नख. केश. आदिकी बृद्धि होना. रक्त संचार, अन परिपाक, मल उपमलोंका बनना, आदि कियाओंका सम्पादन हो जाता है। अन्यया यानी प्रयत्नवान् आत्माके विना शरीरमे उन बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक हुई क्रियाओंकी निष्पत्ति होनेका अयोग है। अतः क्रियाके सम्पादक गुणींका सम्बन्ध हो रहा होनेसे आत्मामें गति क्रिया सिद्ध हो जाती है।

नतु च कियाहेतुगुणयुक्तः कश्चिदन्यत्र कियामारभमाणः कियावान् दृष्टो यथा वेगेन युक्तो वायुर्वनस्पतौ, कश्चित्पुनरिक्तयो यथाकाशं पतित्रिणि तथात्मा कियाहेतुगुणयुक्तश्च स्याद-कियश्चेति नायं हेतुः कियावच्चं साधयेदाकाशेन व्यभिचारात् इति कश्चित्, सोत्रैवं पर्यनुयो-किव्यः। केन कियाहेतुना गुणेन युक्तमाकाशमिति १ वायुसंयोगेनेति चेन्न, तस्य कियाहेतुत्वा-सिद्धः। वनस्पतौ वायुसंयोगात् कियाहेतुरसाविति चेन्न, तस्मिन् सत्यप्यभावात्। विशिष्टो वायुसंयोगः कियाहेतुरिति चेत्, कः पुनरसौ १ नोदनमिष्ठातश्चिति। किं पुनर्नोदनं कश्चाभिचातः १ वेगवदद्रव्यसंयोग इति चेत्, तिहं वेग एव कियाहेतुस्तदभावे भावात् तदभावे चाभावात् न त्वाकाश्चस्य वेगोस्तीति न कियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं ततो न तेन साधनस्य व्यभिचारः।

यहां कोई बैरोषिक मतका अनुयायी अपने आत्माके क्रियारहितपन मन्तन्यका और भी अव-धारण कर रहा है कि कोई कोई पदार्थ तो क्रियाके हेतुभूत गुणसे युक्त हो रहा अन्य पदार्थोंमें क्रियाका आरम्भ कर रहा सन्ता वह क्रियाबान् देखा गया है, जैसे कि क्रियाके कारण वेग गुणसे सिंदत हो रहा वायु दूसरे वनस्पस्तियोंमें हल्न, कम्पन, क्रियाओंको उपजाता है। किन्तु कोई कोई पदार्थ तो फिर क्रियारिहत होता हुआ ही दूसरे पदार्थोंमें क्रियाका आरम्भ कर देता है। जैसे कि आकाश द्रव्य

दसरे पक्षी या पतंगेमें कियाको करा देता है। तिसी प्रकार आत्मा कियाके कारण गुणोंसे युक्त भी बन्ध रहे और किया रहित भी बना रहे कोई क्षति नहीं है। इस कारण अनुकुछ तर्कका अभाव हो जानेसे तुम जैनों का यह " कियाकारणगुणल " हेतु तो आत्मामें गमनकियासहितपनको नहीं साथ सकेगा । क्योंकि आकाशके साथ व्यक्तिकार दोष हो रहा है। पूर्व प्रकरणोंमें बायु वनस्पतिके संयोगके सहस वाय आन्द्राश संयोग आकाशमें वर्त रहा क्रियाहेतगण साथा जा चुका है। किन्त आकाश क्रियात्रान नहीं है। यहांतक कोई प्रतिवादी कह चुका है, अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा वह प्रतिवादी यहां यों पर्यनुसोग् लगाने योग्य है। अर्थात्—उसके ऊपर यह अभियोग् लगा देना चाहिये कि भाई बताओ, कियाके हेतुभूत किस गुणसे युक्त आकाश हो रहा है ? हम तो समझते हैं कि आकाशमें कोई भी कियाका हेतु गुण नहीं है । यदि तुम वैशेषिक यों कहा कि वायुसंयोग नामक कियाहेत गुणसे यक्त आकाश है सो यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि उस आकाशवरी वायुसंयोगको कियाका हेतुपना असिद्ध है। यदि तुम वैशोधिक पुनः यह कहो कि वनस्पस्तिमें बाह्य संयोगसे किया हो जाती है ! अतः वह वायुसंयोग कियाका हेत् मृत मान क्रिया जाय । आज्ञार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस वायुसंयोगके होनेपर भी वृक्षमें क्रियाका अभाव हो रहा है। अर्थरित्रिमें वायुका मन्द संचार होनेपर भी वृक्ष अरुम्प रहे आते हैं। यदि तम विरोधताको प्राप्त हो रहे वायुसंयोगको कियाका कारण मानोगे यो कहनेपर तो हम पूछेंगे कि तम्हारे यहां '' अभिघातो नोदनञ्च शह्रहेत्रिहादिमः, शह्वाहेतुर्दितीयः स्यात् '' इस प्रकार संयोगके दो भेद माने गग्ने हैं। अब फिर तुम यह बताओं कि कौनसा वह नोदन अथवा अभिचात नामका विशिष्टसंयोग भला कियाका कारुण है ? तथा यह भी बताओं कि फिर वह नोदन क्या है ? और अभिघात क्या है ? इसके उत्तरमें यदि तम यों कहो कि शब्दका हेतुभूत संयोग अभिघात है, जैसे कि आट करते हुये ताली बजाते समय हाथोंका अभि-घात संयोग है और शब्दको नहीं उपजानेवाला संयोग तो नोदन है। शब्द किये विना हाथको चुपकेसे दूसरे हाथसे मिला देना नोदन है। यहां वेगवाले द्रव्यके साथ अन्यद्रव्यका विशिष्ट संयोग ही कियाका हेतुः इष्ट है, तब तो हम जैन कहेंगे कि वेग ही कियाका हेतु हुआ। संयोग गुण तो किया संपादक नहीं बना । क्योंकि उस वेगके होनेपर कियाकी उत्पत्तिका अभाव है । यह अन्ययन्यतिरेक पूर्वक वेग और कियाका कार्यकारण भाव सिद्ध है। किन्तु आकाशद्वव्यके तो वे गुण नहीं हैं। " क्षितिर्जन्तं तथा तेजः, पत्रनो मन एव च । परापरत्वमूर्तत्वित्रयावेगाश्रया अमी " इस सिद्धांत अनुसार तुमने पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्योंमें ही वेगगुण, माना है। आकाशमें वेग नहीं है " षहेत्र चाम्बरे " आकारामें संख्या, परिमाण, प्रथक्त, संयोग, विभाग, शब्द, ये छह, गुण, माने, गये हैं। अतः वेगके नहीं होनेसे कियाके हेतुमृत गुणसे युक्त आकाश नहीं है। तिस कारम उस आकारासे हमारे हेतुका व्यभिचार दोष नहीं लगता है। क्रियाहेतुगुणकुल इस निर्दोष हेतसे आस्मासा गतिसहितपना सिद्ध हो जाता है। , i अयं मतं न गतिमानात्मा सर्वमतत्वादाकाश्चवदित्पश्चमानाद्गतिमेखस्य मतिषेषादश्चमानाद्गतिमेखस्य मतिषेषादश्चमानाद्गति । विरुद्धः पक्षं इति । तद्युक्तं, पुंसः सर्वमतत्वासिद्धः काय प्व तस्य संवदनोत् तती षष्टिः संवित्त्यमानात् । सर्वमतः पुमान् नित्यत्वे सत्यम्तित्वादाकाश्चविदिति चैका, अस्य कालात्यया-पदिष्टत्वात् साधनस्य धर्मिप्राहकप्रमाणवाधितत्वात् प्रत्यश्चविरुद्धपक्षनिर्देश्चानंतरमयुक्तत्वात् श्चाती-प्रिद्रिच्यत्वात् जलवदित्यादिवत् ।

अब यदि बैशेपिकोंका यह मन्तच्य होय कि आत्मा (पक्ष) गमनिकयावाछा नहीं है, (साध्य) सर्वत्र न्यापरहा होनेस (हेत्) आकाशके समान (अन्वयद्दष्टान्त) यों आत्माके गति-सहितपनका बढिया निषेध हो जानेसे तुम जैनोंका आत्माको कियाका साधक प्रतिद्वास्यरूप पक्ष तो इस अनुमानसे विरुद्ध पड गया । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तुम्हारा वह कहना युक्तिरहित है। क्योंकि आत्माका सर्वगतपना असिद्ध है। शरीरमें ही उस आत्माका सम्बेदन ही रहा है। उससे बाहर दूसरे शरीरमें या घट, पट, अथवा अन्तरालमें आत्माकी सम्वित्ति नहीं हो रही है। अतः सम्हारे हेत स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। यदि वैशेषिक पुनः अनुमान उठाकर हेतुको यो सिद्ध करें कि आत्मा (पक्ष) सर्वत्र व्यापक है (साध्य) नित्य होते सन्ते अमूर्तपना होनेसे (हेतु) आकाशके समान (इण्टांत)। अकेला नित्यत्व हेतु देनेसे प्रथिश आदिकी परमाणुर्ये और मनसे व्यभिष्कार हो जाता। अतः अमूर्तत्व भी कहना पडा। क्योंकि ये मूर्त हैं और यदि अमूर्तत्व ही हेतु कहा जाता तो अनित्य गुणोंसे व्यभिचार आता । अतः " नित्यत्वे सति अमूर्तत्व " इतना हेत् दिया गया है । प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यह तुम्हारा साधन तो शरीरमें ही आत्मा नामक धर्मीके प्राहक प्रमाणसे बाधित हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरुद्ध हो रहे पक्षके निर्देश अवन्तर प्रयक्त होनेसे कालात्ययापदिष्ट हेत्वामास है, जैसे कि अग्नि शातल है, द्रव्य होनेसे जलके समान, अथवा आकाश अल्पपरिमाणवाला है, द्रव्य होनेसे, घटके समान, इत्यादिक अनुमानोंके हेत बाधित हेत्वाभास हैं।

एतनामूर्तद्रव्यत्वात्सर्वत्रोपलभ्यमानग्रणत्वादित्येवमादयो इतवः प्रत्याख्याताः प्रत्यक्ष-बाधितविषयत्वाविशेषात् । किं च, नित्यत्वे सत्यमूर्तत्वादित्ययं इत्तरीश्वरक्षानेन अनैकांतिकः तस्यासर्वेगतस्यापि नित्यत्वामूर्तत्वसिद्धेः नित्यं दीश्वरक्षानमनाधनंतत्वात् स्नुरवर्त्मवत् । तस्य सादिपर्यतत्वे सति मद्देश्वरस्य सर्वार्थपरिच्छेदविरोधात् ।

बैशोषिकोंने आत्माको व्यापक साधनेके लिये अमूर्तद्रव्यपन हेतु दिया है। उनके यहां पृथिवी, जल, तेज, बांबु, मन, ये पांच द्रव्य मूर्त माने गये हैं। शेष आकाश, काल, दिशा, आत्मा, ये चार क्रम्य व्यापक ही हैं। तीसरा हेतु सर्वत्र देखे जा रहे गुणसे सहितपना दिया है। चीथा हेतु '' अणु-

परिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात् '' दिया है । इत्यादि इस प्रकारके अन्य भी व्यापकत्व-साधकहेतओंका इस उक्त कथनसे प्रत्याख्यान कर दिया गया है। जब कि निजशरीरमें ही मध्यम परिमाणको धार रहे आत्माका बालिका, पशु, पक्षियोंतकको अत्यक्ष प्रमाणद्वारा सम्बेदन हो रहा है, तो नित्यत्वे सित अमूर्तत्व हेतुके समान इन हेतुओंमें भी प्रत्यक्षवाधित विषयका साधकपना अन्तर-रहित है। अतः ये सब हेत्वाधित हेत्वाभास हैं। दूसरा दोष यह भी कि नित्य होते सन्ते अमूर्तपना यों विशेषण विशेष्यदळवाळा यह हेतु तो ईश्वरज्ञान करके व्याभिचार दोषवान् है। देखिये, अभीष्ट-साध्यसे शून्य हो रहे, अन्यापक भी उस ईश्वरज्ञानको नित्यपना और अमूर्तपना सिद्ध है। पांच मूर्त इन्योंके अतिरिक्त सभी द्रव्य या गुण, कर्म, आदिक पदार्थ तुम्हारे मतमें अमूर्त माने गये हैं। अमृर्तद्रव्यत्व लगानेसे सम्भवतः तुम्हारी कुछ रक्षा हो सकती थी । किन्तु इसका विचार पहिले कर दिया गया है । ईश्वरका ज्ञान नित्य तो है ही । यदि नहीं मानना चाहते हो तो इस अनुमानद्वारा मानना ही पडेगा कि ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) नित्य है (साध्य), अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रवर्त्त रहा होनेसे (हेतु) देवोंका मार्ग यानी आकाशके समान (अन्वयद्ध्यन्त) । यदि उस ईश्वर ज्ञानको सादि, सान्त, माना जायगा तो हमारा हेतु अवस्य असिद्ध हेलाभास जायगा । किन्तु साथमें तुम्हारे अभीष्ट देवता महेश्वरको सम्पूर्ण अर्थोकी करनेका विरोध हो जायगा । पदार्थोंके अधीन होकर दूसरे दूसरे क्षणमें उपजने, नशनेवाछ ज्ञान द्वारा लाखों या असंख्याते वर्षीमें भी ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थीको जान नहीं सकता है। अतः आत्माके व्यापकत्वको साधनेवाला तुम्हारा हेत् व्याभेचारी है।

योप्याह, अनित्यमीश्वरङ्गानग्रुत्पत्तिमन्त्रात् कल्ञादिवत् उत्पत्तिमन्तदात्मांतःकरण-संयोगापेक्षत्वादस्मदादिङ्गानवत् । योगज्धर्मानुग्रहीतेन हि मनसेश्वरस्य संयोगे सित सर्वार्थे ज्ञानग्रुत्पाधते । न नैवं, तदादिपर्यतवत् संतानरूपतयानादिपर्यतत्वोपपत्तेः । योगसंतामो हि महेन्नस्यानादिपर्यतः सदा रागादिमलेरस्पृष्टत्वात् । अनादिशुद्धधिष्ठानत्वान्ततश्च धर्मविश्चेषः तदनुग्रहश्च मनसः तेन संयोगश्चेति तिन्निमित्तं सर्वार्थज्ञानमनादिपर्यतग्रुपपद्यते प्रमाणफल्ला-केश्वरङ्गानमनित्यं नित्यत्वे तस्य प्रमाणफल्लाविरोधात् विश्चेषगुणत्वाच्च तदनित्यं ग्रुत्वादि-वदिति, तस्यापि ग्रहीतग्राहीश्वरङ्गानमायातं । ततश्च न प्रमाणं स्मरणादिवत् ग्रहीतग्राहिणोपि तस्य प्रमाणत्वे प्रमाणसंप्लववादिनामनुभूतार्थे स्मरणादेः प्रमाणत्वानुषंगः केन निवार्येत ।

वैशेषिकके मतको पृष्ट कर रहा जो भी कोई यों कह रहा है कि ईस्वरका ज्ञान (पक्ष) अनित्य है (साध्यदछ) उत्पत्तिवाछा होनेसे (हेतु) कछश, कपडा, आदिके समान, (अन्वयदृष्टान्त)। पुनः हेतुके स्वरूपासिद्ध हो जानेकी कोई शंका न करे। अतः वैशेषिक इस हेतुको साध्यकोटिपर छाते हैं कि वह ईश्वरज्ञान (पक्ष) उत्पत्तिवाछा है (साध्य) आत्मा और मनके संयोगकी अपेक्षा

रखनेवाळा होनेसे (हेतु) हम आदिकोंके झानसमान (अन्वयदृष्टान्त)। देखिये, योगाभ्याससे उत्पन्न हये श्रति, प्रराण, प्रसिद्ध धर्मसे अनुप्रहील हो रहे मनके साथ ईस्वर आत्माका संयोग हो जानेपर ईश्वरको सम्पूर्ण अर्थीमें ज्ञान उपजा दिया जाता है। इस प्रकार ज्ञानको उत्पत्तिमान् साध देनेसे वह ज्ञान आदि, अन्तवाला हो जावेगा, यह नहीं समझ बैठना । हम बीजाङ्कर न्याय अनुसार सन्तानरूपसे ईश्वरज्ञानको अनादि अनन्तपना उचित बताते हैं । कारण कि महेश्वरके योगकी सन्तान धाराप्रवाह अनादिकालसे अनन्तकालतक वह रही है। क्योंकि ईसर सदा ही राग, क्रेश, विपाकाशय, आदि मलों करके अलता रहा है, अनादिकालसे शुद्धिका अधिष्ठान है। अतः यों उस योगसन्तानसे विशेष चमत्कारक धर्म उत्पन्न होता है और उस धर्मका अनुग्रह मनके ऊपर हो जाता है। पश्चाद उसी मनका ईश्वर आत्माके साथ संयोग होता है। उस ईश्वर मनः संयोगको निमित्त पाकर अनादि, अनन्त, कालतक, ईखरके सम्पूर्ण अर्थोका ज्ञान होना बन जाता है। ईश्वर ज्ञानको अनित्य सिद्ध करनेके लिये दूसरा तर्क यह भी है कि ईस्वरका ज्ञान अनित्य है (प्रतिज्ञा) प्रमाणका फल होनेसे (हेतु) देखिये, कारणोंसे उत्पन हो रहे सभी फल अनित्य होते हैं । यदि उस ईश्वर ज्ञानको नित्य माना जायमा तव तो उसको प्रमा-णके फळपनका विरोध होगा । तीसरी बात यह भी है कि वह ईश्वरज्ञान विशेषगुण होनेसे अनित्य है जैसे कि आत्माके सुख आदि गुण (अन्वयदृष्टांत) । इमने आत्मामें संख्या, परिमाण, पृथक्त, संयोग, त्रिभाग ये पांच सामान्य गुण और बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये नी विशेष गुण यों चौदह गुण माने हैं । ईश्वरमें भी पांच सामान्य गुण और ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न ये तीन विशेष गुण यों आठ गुण इष्ट किये हैं। आत्मा द्रव्यमे सभी विशेषगुण अनित्य हैं। '' योपि '' से प्रारंभ कर यहांतक वैशेषिक कह चुका । अब आचार्य कहते हैं कि उस वैशेषिकके यहां भी यों तो ईश्वरका ज्ञान प्रहीतका ही प्रहण करनेवाळा प्राप्त हुआ और तिस कारणसे यानी गृहीतप्राही होनेसे वह ज्ञान विचारा स्मरण, धाराबाहि ज्ञान आदिके समान प्रमाण नहीं हो सक्ता है। नैयायिक या वैशेषिकोंने गृहीत विषयको ही पुनरपि उतना ही विषय करनेवाले ज्ञानको प्रमाण नहीं माना है। फिर भी भक्तिवश यदि उस गृहीतप्राहक ज्ञानको प्रमाण मानोगे तब तो प्रमाणसंच्छववादी नैयायिक, वैशेषिक, जैन, मीमांसक, आदि विद्वानोंके यहां अनुभव किये जा चुके विषयमें प्रवर्त रहे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, आदिको मी प्रमाणपनेका प्रसंग मळा किसके द्वारा रौका जा सकेगा? अर्थात् अर्थमें विरोष अंशोंको जाननेवाले अनेक प्रमाणोंकी प्रतृति हो जानेको प्रमाणसम्प्लव कहते है । नैया-यिक '' प्रमाणसम्ब्व '' को इष्ट करते हैं । अतः कुछ अंश जाने जा चुकेका भी पुनः अन्य प्रमाणों-द्वारा सम्बेदन हो सकता है। ऐसी दशमें स्मरण आदिको भी प्रमाणता बन बैठेगी। कोई माईका छाछ रोक नहीं सकता है।

स्मान्मतं, ममाणांतरेणात्रहीतस्य सकल्रह्माद्यर्थस्य महेश्वरज्ञानसंतानेन ग्रहणात्र तस्य ग्रहीतग्राहित्वमिति । तदसत् । घारावाहिज्ञानस्याप्येवं ग्रहीतग्राहित्वाभावात् प्रमाणतापत्तेः । तस्वयाणस्वोष्णमे तथैव ममाणांतराष्ट्रहीतप्राक्षनुभवस्मरणप्रत्याभिक्षानादिसंतानस्य प्रवर्तमानस्यापृद्दीतप्राहित्वात् प्रमाणत्वमस्तु । यदि पुनरनुभवादीनामेकसंतानत्वेष्यनुभवपृद्दितेषे स्मरणदिः
प्रवृत्तरप्रमाणत्वं तदा प्रथमक्कानेन परिच्छिक्षेषे तदुत्तरोत्तरधारावाहितिक्कानानां कुतः प्रमाणत्वं ।
तदुपयोगविश्वेषादिति चेत्, तत एव स्पृत्यादीनां प्रमाणत्वमस्तु सर्वथा विशेषाभावात् । तथा
सति प्रमाणसंख्यानियमो न व्यवतिष्ठेतेत्युक्तं पुरस्तात् । तस्मादनेन पृद्दीतप्राहित्वात्कस्यचिद्विक्कानस्याप्रमाणत्वप्ररीकुर्वता महेश्वरक्कानस्याप्युत्तरोत्तरस्य पूर्वक्कानपरिच्छिक्कार्थग्राहित्वाद्वप्रमाणत्वं दुःशकं परिहर्ते ।

यदि इसपर वैशेषिक अपना मन्तव्य यों बतावें कि दूनरे दूसरे प्रमाणोंसे नहीं जाने जा चुके सम्पूर्ण सूक्ष्म, न्यबहित, विप्रकृष्ट, आदि अर्थीका महेश्वरकी झानसन्तान करके प्रहण हो रहा है। अतः वह ईश्वर ज्ञानकी संतान गृहीतप्राही नहीं है, अगृहीत विषयों का प्राहक है, यों कह चुकनेपर आचार्य कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो घट है, घट है, घट है, ऐसे धाराबाहिक ज्ञानको भी गृहीतग्राहीपना न होनेसे प्रमाणपनेका प्रसंग आ जावेगा । धाराबाही ज्ञानमें भी ज्ञानोंकी लम्बी सन्तान अगृहीत विषयका प्रहण कर रही है। यदि उस धाराबाहि ज्ञानकी सन्ता-नका प्रमाण होना स्त्रीकार कर छोगे, तब उन है। प्रकार प्रमाणान्तरोंने नहीं गृहीत हो चुके अधीका प्रहण करनेवाले अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्भ, आदि ज्ञानोंकी प्रवर्तरही सन्तानको भी अमृहीत-प्राहक होनेसे प्रमाणपना हो जाओ । यदि फिर तुम बैशेषिक यों कहो कि अनुभव, स्मरण, प्रत्यिभ-क्कान, आदि ज्ञानों की एक सन्तान होनेपर भी अनुभव द्वारा प्रहण किये जा चुके अर्थमें स्मरणकी और स्मरणसे जाने जा चुके अर्थमें प्रत्यभिज्ञान आदिकी प्रवृत्ति हो रही है। अतः वे स्मरण आदिक गृहीत-प्राही होनेसे प्रमाण नहीं हैं, तब तो हम जैन कहेंगे कि प्रथम ज्ञान करके जाने जा चके अर्थमें उसके उत्तर और उसके भी पीछे पछि अने क वह रहे धारावाही विज्ञानों को प्रमाणपना कैसे आ सकता है ? अर्थात -- कैस भी नहीं । यदि तम वैशेषिक उसमें विशेष उपयोग होनेसे प्रमाणपना लाओगे तब तो उस ही कारणसे यानी विशेष त्रिशेष उपयोग होनेसे ही स्मृति आदिकोंको भी प्रमाणपना हो जाते। सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। प्रत्युत भाराबाही ज्ञानोंकी अपेक्षा अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिज्ञानोंमें बिशेष उपयोग हो रहा अच्छा जाना जा रहा है। और तिस प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदिको कातिरिक्त प्रमाण माननेपर तुम्हारी नियत की गयी प्रमाणोंकी संख्या व्यवस्थित नहीं हो सकेगी; इसको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं। तिस कारण गृशितप्राही होनेसे किसी भी विज्ञानको अप्रमा-णपना स्वीकार करनेवाले इस वैशेषिक पण्डित करके पूर्वसमयवर्ती ज्ञान द्वारा जाने जा ज्वके अधीका प्राहक होनेसे महेरनरके उत्तरोत्तरसमयवर्ती ज्ञानों हा अप्रमाणपना कठिनतासे भी नहीं हटाया जा सकता है । जतः महेरास्के ज्ञानको अनित्य माननेमें अनेक विपक्तियां लडी हो जायंगी ।

यद्युकां, महेश्वरक्षानस्य नित्यवे ममाणफलस्वाभाव इति, तद्य्ययुक्तं । तस्योपचारतः ममाणफलक्षोपपत्तेः । यथैच ईश्वरस्यांतःकरणसंयोगादिसामग्री नित्यक्षानस्याभिष्यञ्जिकत्वा-दुणचारतः ममाणं तथा तद्यंग्यत्वाश्वित्यस्यापीश्वरक्षानस्योपचारतः ममाणफलत्वप्रुपपयत एव । न चाभिव्यक्तिरुत्पित्तिरेव सामान्यदेः स्वव्यक्तिभिरभिव्यंग्यस्योत्पत्तिमक्त्वप्रसंगात् । ततो नित्यमेवेश्वरक्षानमिति । तेन हेतोर्व्यभिचार एव ।

और भी वैशेषिकोंने जो यह कहा था कि महेश्वरका ज्ञान यदि नित्य माना जायगा तो वह प्रमाणका फल नहीं हो सकेगा। आचार्य कहते हैं कि यों वह कहना भी युक्तियोंसे रीता है। कारण कि ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना सथता है। जिस ही प्रकार तुम्हारे यहां ईश्वरके साथ अंतःकरणका संयोग होजाना आदि सामश्री ईश्वरके नित्यज्ञानकी अभिन्यञ्जक होनेसे उपचारसे प्रमाण मान की गयी है, उसी प्रकार उस सामश्रीस व्यंग्य होनेसे नित्य भी ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना वन जाता ही है, सर्वज्ञके झानमें प्रमाणका के एकपना अभिन्न ही है, उपचारसे प्रमेणका फलपना वन जाता ही है, सर्वज्ञके झानमें प्रमाणका कह को, साथमें ज्ञासिको फल कहको। सामग्रीदारा अभिन्यित होजाना ही ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं है। अन्यथा अपनी अभिन्यंजक आश्रय व्यक्तियोंसे प्रकट होने योग्य सामान्य (जाति) समत्राय, आदिको भी उत्पत्तिमान् हो जानेका प्रसंग होगा। किन्तु सामान्य और समवाय पदार्थको तुमने नित्य माना है। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि ईश्वरक्ता ज्ञान नित्य होते हुये अमूर्तपन हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्थ ही रहा। ईश्वरका ज्ञान नित्य है। अमूर्त भी है किन्तु व्यापक नहीं है। आत्माको व्यापक माननेवाके वैशेषिकोंने आत्माके ज्ञानगुणको व्यापक नहीं माना है, शरीरावच्छेदेन आत्मामें ज्ञान नहीं है। ऐसा उनका अभिमत है।

भवतु वा महेश्वरज्ञानमनित्यं तथापि सिळिलपरमाणुरूपादिभिरस्यानैकांतिकता दुष्य-रिहरेत्यलं प्रसंगेन, सर्वथात्मनो गतिमत्त्वस्य प्रतिषेद्ध्मञ्चकः ।

अथवा तुम्हारे मन्तव्य अनुसार भन्ने ही महेश्वरका ज्ञान अनित्य हो जाओ । अतः पूरा हेतु नहीं घटनेसे ईश्वर ज्ञानकरके व्यभिचार दोष नहीं हो सकता है तो भी जल परमाणुके या अग्नि-परमाणुके रूप रस आदि करके इस प्रकृतहेतुका व्यभिचार दोष आना कथमपि टाला नहीं टल सकता है। पृथ्विविक परमाणुओं के रूप, रस, आदिक अनित्य हैं। वे पाकज माने गये हैं। किन्तु जल, केज, वासुके परमाणुओंके रूप, रस, आदि गुण नित्य हैं। साथमें जलपरमाणु या अग्नि परमाणु मले ही मूर्त होय, किन्तु इनके गुण तो मूर्त नहीं हैं। अमूर्त हैं। अतः नित्यत्वे सित अमूर्तक हैतका पूरा शरीर घटित हो जानेसे और व्यापकत्व साध्यके नहीं ठहरनेसे।

व्यमिचार दोष तदवस्य रहा । अब अधिक प्रसंग बढानेसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं निकलता है । तुम्हारे आक्षेपोंका मुख, पराङ्मुख, उत्तर हो चुका है । अब तुम्हारे बूते आत्माका गतिमान्पना सभी प्रकारोंसे निषेधा नहीं जा सकता है । क्रियाहेतु गुणके सम्बन्धसे आत्मा गतिमान् डेलके समान सिद्ध करा दिया जाता है, कोई प्रत्यूह नहीं रहा ।

कथं पुनरत्ररीरस्यात्मनो गतिरित्याह ।

महाराज जी ! यह बताओ, कि शरीर सम्बन्धवाले आत्माकी गति तो प्रसिद्ध ही है । किन्तु मरकर शरीररहित हो गये आत्माकी गति फिर किस प्रकार होती है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

लोकके बीचसे प्रारम्भ कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, छऊ दिशाओं में बरफीके समान छह पैलवाली अखण्ड परमाणुसे नापे गये सम संख्यावाले प्रदेश इस अखण्ड लोका-काशमें तदात्मक होकर जड रहे हैं | दोनों ओर समसंख्यावाले पदार्थोंका सबसे छोटा ठीक बीच दो होता है । चारों ओर सम संख्यामें फैल रहे पदार्थोंका बीच चार होता है तथा छऊ ओर सम संख्यावाले पदार्थोंका बीच आठ होता है | लोकके ठीक मध्य सुदर्शन मेरुकी जडमें स्थित हो रहे गोस्तन आकारवाले आठ प्रदेशोंसे छऊ ओर अखण्ड आकाशमें प्रदेशोंकी श्रेणियां गढ ली जाती हैं । उस श्रेणीके आनुपूर्व्य करके जीवोंकी अन्य भवोंका संक्रमण करनेपर मरणकालमें गति होती है ।

आकाशमदेशपंकिः श्रेणिः अनोरातुपूर्व्ये दृत्तिः श्रेणेरातुपूर्व्येणातुश्रेणि जीवस्य पुद्रस्य च गतिरिति मतिपत्तव्यं । जीवाधिकारात्पुद्रस्रस्यासंमत्ययः इति चेश्व, पुनर्गति-प्रहणात्तत्संमत्ययात् क्रियांतरनिष्टृत्यर्थिमह् गतिग्रहणिमति चेश्व, अवस्थानाद्यसंभवात् क्रियां-तरिवृत्तिसिद्धेः । उत्तरसूत्रे जीवग्रहणाचेह शरीरपुद्रस्य जीवस्यातुश्रेणिगतिः संप्रतीयते ।

लोक, अलोक, पूरे आकाशमें प्रदेशोंकी लम्बी पंक्ति बन रही श्रेणि कही जाती है। अनु-अव्ययका अनुपूर्वीपना अर्थ होनेपर श्रेणिपदकी अनु उपसर्गके साथ अव्ययीमान समास हाति हो जाती है। श्रेणिके आनुपूर्व्य करके जीव और पुद्रलकी श्रेणि अनुसार गति हो जाती है। यह समझ लेना चाहिये। कोई आक्षेप करता है कि यहां प्रकरणमें जीवद्रव्यका अधिकार होनेसे पुद्रलकी भी श्रेणि अनुसार गति होनेका समीचीनज्ञान नहीं हो सकता है। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि " विष्रहगती कर्मयोगः " इस सूत्रसे गतिका अधिकार चला ही आरहा था। पुनः इस सूत्रमें गति शब्दका प्रहण किया है। इससे उस पुद्रलकी गतिका संप्रत्यय हो जाता है। अन्यथा यदि जीवकी ही श्रेणि अनुसार गति इष्ट होती तो पुनः गति शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ

पडता । अत्यल्प बोलनेवाले सूत्रकारके वचन व्यर्थ नहीं हो सकते हैं । अतः यहां सम्पूर्ण गतिवाले पदार्थोंका प्रइण कर लिया जाता है । कोई पण्डित गति प्रहणका प्रयोजन यों कह रहा है कि अन्य क्रियाओंकी निवृत्तिके लिये यहां सूत्रमें गति कहा गया है, जिससे जीवकी गतिक्रिया है। ली जाय, अन्य क्रियायें नहीं पकड़ी जायं । आचार्य कहते हैं कि यह प्रयोजन तो ठीक नहीं है । क्योंकि दूसरे शरीरको प्रहण करनेके लिये उद्युक्त हो रहे जीवके बैठना, सोना, बढना, जगना, नमना, पढना आदि क्रियाओंकी तो संभावना ही नहीं है । अतः स्वतः ही अन्य क्रियाओंकी निवृत्ति सिद्ध है । " सम्भवव्यिभचाराभ्यां स्यादिशेषणमर्थवत् " । दूसरी बात यह है कि अव्यवहित उत्तरकालमें कहे जानेवाले " अविप्रहा जीवस्य " सूत्रमें जीवका प्रहण है । अतः इत सूत्रमे शरीर या पुद्गल और जीवकी भी श्रेणि अनुसार गति हो रही अच्छी जानी जा रही है ।

नतु च कुतो जीवस्य पुद्रलस्य चानुश्रेणिगतिर्निश्चिता ज्योतिरादीनां विश्रेणिगतिदर्शः नात् तिश्रयमानुपपत्तेरिति कश्चित् । तं प्रत्याह ।

यहां शंका उठती है कि जीव और पुद्गलकी गति श्रेणि अनुसार ही है, यह सिद्धान्त कैसे निर्णीत कर लिया जाय १ जब कि सूर्य, चंद्रमा आदि ज्योतिष्क विमान, चक्र, व्यजन, आदि अथवा विद्याधर या खिलाडी बाल को आदिकी श्रेणिका व्यातिकम कर भी टेडी, मेडी, चूमती, फुदकती, आदि अनेक प्रकारकी गतियां देखी जारही है। अतः आकाशकी ठींक बनी हुयी श्रेणियोंके अनुसार सीधी रेखामें ही गति होनेका नियम नहीं बन सकता है, यहांतक कोई कह रहा है, जिसका कि नाम या मत अनिर्वचनीय है। उसके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

सिद्धा गतिरनुश्रेणि देहिनः परमागमात् । लोकांतरं प्रतिद्वेयं पुद्गलस्य च नान्यथा ॥ ७ ॥

जीवकी मरण समय या मुक्त अवस्था होनेपर अन्य लोक या सिद्ध लोकके प्रति और पुद्रलोंकों भी लोकपर्यंत प्राप्त करानेवाली गित श्रेणि अनुसार होती है, यह मन्तव्य सर्वज्ञोक्त परम आगमसे सिद्ध है। अन्य प्रकारोंसे नियम नहीं हैं, यह समझ लेना चाहिये। अर्थात—श्रेणि अनुसार ही गित होती है, इसमें काल और देशका नियम है। कालनियम तो यह है कि संसारी जीवोंकी मरणकालमें अन्य भवका संक्रमण करते समय और मुक्त जीवोंकी ऊर्घ्व लोकके तनुवातवल्यमें स्थित सिद्धालयतक गमन करते समय प्रदेशपंक्तियोंके अनुसार सरल रेवा बनाती हुयो गित होती है। तथा देशका नियम भी यह है कि ऊर्घ्व लोकसे अधोलोकमें जानेपर या अधोलोकसे ऊर्घ्व लोकमें गित करनेपर अथवा तिर्थम् लोकसे अधोगित या ऊर्घ्व गित जहां होगी वह श्रेणि अनुसार ही होगी। इसी प्रकार पुद्रलोंकी लोकके अन्ततक प्राप्त करानेवाली गित भी श्रेणी अनुसार ही होगी। हां, नियमसे अतिरिक्त दशामें घूममा, नाचना, आदि गितियां भी हो सकती है।

कः पुनरसौ परमागमस्तदावेदकः कृतो वास्य प्रमाणत्विमित्याह ।

फिर कौनसा उत्कृष्ट आगम भला उस गतिका निवेदन करनेवाला है ? बताओ और उस आगमको प्रमाणपना कैसे सिद्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर भी विद्यानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं।

षोढा प्रक्रमयुक्तोयमात्मेति वचनं प्रमम् । संप्रदायात्सुनिर्णीतासंभवद्वाधकत्वतः ॥ ८॥

यह जीव छह प्रकारके गमन करना स्वरूप प्रक्रमसे युक्त हो रहा है यह वचन प्रमासिहत है। क्योंकि संविद्यां परम्परासे संप्रदाय चला आरहा है और बाधक प्रमाणोंके असंभव होनेका भले प्रकार निर्णय कर लिया गया है। अर्थात्—जीवका ऊपरसे नीचे जाना या ऊपरसे ठीक नीचे जाना अथवा पश्चिमसे पूर्व या पूर्वसे पश्चिम एवं दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिण ये छह प्रकारके गमनोंको कहनेवाला वचनप्रमाण है। इस सत्य सिद्धांतका कोई बाधक नहीं है।

षद्मक्रमयुक्तो जीव इति परमागमः स्वतः संप्रदायाविच्छेदात्प्रमाणं सुनिर्णीतासंभव द्वाधकत्वाद्वा मोक्षमार्गवदिति निरूपितपायं। ततो जीवस्य पुद्गलस्य च देशकालनियमादनु-श्रोणि गतिः सिद्धा बोद्धव्या।

छह प्रक्रमोंसे युक्त हो रहा जीव है यह परम आगम (पक्ष) स्वतः प्रमाण है (साध्य) सर्वज्ञ युक्त सम्प्रदायका विच्छेद नहीं होनेसे (पिहला हेतु) अथवा बाधकोंके असम्भवका अच्छा निर्णय हो चुका होनेसे (दूसरा हेतु) सभी आस्तिकोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अतीन्द्रिय मोक्ष मार्गके समान (अन्वयद्धांत) इस बातको हम पूर्व प्रकरणोमें बहुलतासे कह चुके है। तिस कारण जीव और पुद्रलकी विशेष देश और विशेष कालका नियम कर देनेसे श्रेणि अनुसार ही गति सिद्ध हो चुकी समझ लेनी चाहिये।

मुक्तस्यात्मनः कीदृशी गतिरित्याह ।

त्रिविध कर्मीसे अनन्तकाळतकके लिये छूट चुके मुक्त आत्माकी गति कैसी है ? ऐसी जिज्ञास होनेपर श्री उमास्वामी महाराज भविष्य सूत्रको समाधानार्थ उतारते हैं उसको क्वेलियेगा।

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कुटिलता कर रहित है अर्थात्—ऊर्घ लोकके ठीक बीचमें पैतालीस लाख योजन लंबा चौडा गोल सिद्ध क्षेत्र है और उतना ही लंबा चौडा मनुष्य क्षेत्र मध्य लोकमें है। मनुष्य लोकमें कहींसे भी मोक्ष होगी उसी समय यह जीव ठीक ऊपर सीधा सिद्धलोक प्रति गमन कर जाता है। कर्मभूमिके तपस्या स्थानोंक अतिरिक्त सभी समुद्र, पर्वत, भोगभूमि, सुमेर आदि स्थलोंसे संहरण अपेक्षा जीवोंकी मोक्ष हो चुकी है। सिद्ध लोक सर्वत्र द्वस रहा है। एकप्रदेश मात्र भी सिद्ध आत्माओंसे खाली नहीं है। प्रत्युत प्रत्येक स्थल या परमात्माओंमें अनन्तानन्त मुक्तजीव निराबाध संप्रविष्ट हो रहे हैं, तब कहीं सिद्धलोक अनादिकालीन अमूर्त सिद्धोंका आश्रय बन चुका है और वर्तमान इन सिद्धोंसे अनन्तानन्त गुणे सिद्धपरमेष्टी भविष्यकालमे होकर वहां विराजमान होनेवाले हैं। उनमें और आकाशमें अनन्त अवगाह शक्ति है। आकाशके एक प्रदेशपर भी संपूर्ण जीवोंसे अनंतगुणी पुद्रल परमाणुयें बैठ सकती हैं, फिर अमूर्तद्रव्योंका तो कहना ही क्या है।

उत्तरसूत्रे संसारिग्रहणादिह मुक्तस्य गतिः । विग्रहो व्यायातः कौटिल्यमिति यावत्, न विद्यते विग्रहोस्या इत्यविग्रहा मुक्तस्य जीवस्य गतिरित्यभिसंबंधः । कुतः इत्याह ।

उत्तरवर्ती " विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः " इस सूत्रमें संसारी जीवोंका ग्रहण हो जानेसे यहां मुक्तजीवकी गति समझी जाती है। विग्रहका अर्थ व्याघात हो जाना है, कुटिलता करना, यह विग्रहका तात्पर्य अर्थ है। जिस गतिमें विग्रह यानी कुटिलता नहीं विद्यमान होय इस प्रकारकी मुक्त जीवकी गति अविग्रह है, यों आवश्यक पदोंका उपस्कार कर सूत्रका वाक्यार्थ करते हुये पदोंका चारों ओरसे सम्बन्ध करलेना चाहिये। कोई पूछता है कि मुक्तजीवकी गति कुटिलतारहित है, यह कैसे समझा जाय ? इसके लिये ग्रंथकार समाधानवचन कहते हैं।

गतिर्मुक्तस्य जीवस्याविष्रहा वक्रतां प्रति । निमित्ताभावतस्तस्य स्वभावेनोर्ध्वगत्वतः ॥ १ ॥

चौदहमें गुणस्थानके अंत समयमें सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मीका नाश कर उत्तर क्षणमें मुक्त हो रहे जीवकी गति कुटिलतारहित है। कारण कि गतिकी वक्रताके प्रति होनेवाले निमत्तकारणोंका अभाव है। क्योंकि उस मुक्तजीवका स्वभाव करके ही ऊर्घ्य लोक प्रति गमन करनेका परिणाम विद्यमान है। जैसे कि अप्रिकी ज्वाला स्वभावसे ही ऊपरको जाती है। हां, सुनार या पाचककी इंकनी द्वारा प्रेरी गयी वायुका निमित्त पाकर भले ही तिरछी, नींची, ली चली जाय। इसी प्रकार वक्रताका निमित्त कारण शेष नहीं रहनेसे ऊर्घ्यगतिस्वमाववाले जीवकी मुक्त हो जानेपर कुटिलता रहित ऋजुगति होजाती है।

ऊर्ध्वव्यास्वभावो जीव इति युक्त्यागमाभ्यायुत्तरत्र निर्णेष्यते, ततो युक्तस्यान्यत्र गमने तद्वक्रीभावे च कारणाभावाद्वक्रीभावाभावादाविष्रहा गतिः।

यह जीवद्रन्य ऊर्ष्य गमन करनेके स्वभावको सर्वदा छिये हुये है, इस सिद्धांतका उत्तरवर्त्तां प्रन्थमें युक्ति और आगमप्रमाण करके निर्णय कर दिया जावेगा । तिस कारण मुक्तजीवका अन्य स्थानोंमें तिरछा, ऊंचा, नीचा, गमन करनेमें और उस गमनके अनुसार वक्रता होनेमें कोई प्रेरक

निमित्त कारण अवशिष्ट नहीं रहा है। अतः अकुटिलको कुटिल होनेका अभाव हो जानेसे मुक्तजीवका नमन बाणके समान कुटिलता रहित है।

संसारिणः कीदशी गतिरित्याइ।

कोई जिज्ञासु कह रहा है कि मुक्तजीवकी गतिका अवधारण किया । हे कृपासिन्धो ! अब यह बताओ कि संसारी जीवकी गति पूर्वभवका आयुष्य पूर्ण हो जानेपर कैसी ? यानी टेडी या चूमती अथवा इतराती चळती कैसी होती है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तर-सूत्रको कहते हैं।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

मर कर उत्तरभवसम्बन्धी आयुका उदय आ जानेपर संसारी जीवकी चार समयोंसे पहिले अर्थात्—तीन समयतक क्रिटलतात्राली भी गति हो जाती है। अर्थात्—जीवको ऊपर, नीचे या तिरछे देशमें ठीक पंक्तिके अनुसार यदि जन्म लेना है तब तो इप्रुगति है। हां, यदि उससे कुछ नीचा ऊंचा या बगलमें जन्म लेना होगा तो एक मोडा लग जायगा। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके, अधीन कुछ और भी टेडी विदिशामें जन्म लेना पड़े, तो जीवको वहां जानेमें दो मोडे लग जायंगे। डां. ऊर्घ्वलोक्रमें मृदंग (पखबाज) और अधीलोक्रमे आधे मृदंगके आकारवाले लोक्रमें जीवको ब्रह्म-लोकके निकटवर्ती तिरछे डेढ राजू परली ओरके स्थावर लोकमेंसे यदि नीचे महातम:प्रभाके निकट-वर्ती दो राजू परे स्थावरलोकों कुछ वगलमें चलकर जन्म लेना है, ऐसी दशामें वह जीव ऊर्घ **न्छोकसे एक दम** सीधा अधोलोक्रमें नहीं उतर सकता है । क्योंकि मध्यमें अलोकाकारा पडता है। वहां गमनका उदासीनकारण धर्मद्रव्य नहीं है। अतः ऊर्ध्वलोकके स्थायर लोकसे वह जीव तिरहा चलकर पहिले समय बहालोकमें आयगा। वहांसे पहिला मोडा लेकर त्रसनालीमें उत्तरता ्**ड्रआ सातर्वी** पृथिवीपर आ जायगा । वहांसे दूसरा मोडा लेकर तिरछा चलता **ड्रआ सातवें नरकके पार्श्ववर्ती** स्थावरत्नेकमें आ जायगा । वहांसे तीसरा मोडा छेकर कुछ इधर उधर चारों दिशाओंमें किसी निवक्षित दिशाके स्थानपर चौथे समयमें जन्म लेता हुआ आहार कर लेता है। एक समयमें चौदह राजुतक सीधी छळांग मार सकनेवाले जीवके लिये लोकमें चौथा मोडा लेनेके लिये कोई स्थान शेष नहीं 🔰 । अधिकसे अधिक तीन मोडेमें ही जीवकी कहींसे भी किसी भी स्थानतक अव्याघात गति हो जाती है।

च शद्वादिवग्रहा चेति समुचयः तेन संसारिणो जीवस्य नाविग्रहगतेरपवादो, विग्रह-बत्या विश्वानादिति संप्रत्ययः कालपरिच्छेदार्थः प्राक् चतुर्भ्यः इति वचनं । आङ्गे ग्रहणं स्रव्यं कर्तव्यमिति चेन्न, अभिविधिमसंगात् । उभयसंभवे व्याख्यानतो मर्यादासंप्रत्यय इति चेन, भतिपत्तर्गीरवात् । प्रतिपत्तिगौरवाद्दरं ग्रंथगौरवं इति वचनाच प्राग्रहणमस्तु ।

सूत्रमें पढ़े हुये च शहका अर्थ समझय है। इस कारण च शहूसे अकुटिछ गति भी पकडी जाती है। तिस कारण संसारीजीक्की कुटिछताबाछी गतिका विधान कर देनेसे अकुटिछ गति होनेका अपत्राद नहीं हो जाता है । हां, च अव्ययके स्थानमें एव होता तो अकुटिल गतिकी व्यावृत्ति हो जाती, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार यहां समीचीन विश्वास कर छेना चाहिये। कालकी मर्यादा करनेके लिये सुत्रमें चार समयसे पहिले ऐसा बचन पढ़ा गया है। कोरे लाघवकी ओर टकटकी लगाकर बैठा हुआ कोई वावदूक आक्षेप करता है कि लाववगुणके लिये सूत्रकारको आङ्का प्रहण करना चाहिये था । अर्थात्—" प्राक् चतुर्म्यः " के स्थानपर " आचतुर्म्यः " कह देनेसे परिमाणकृत लाघव है। यदि पतले शरीरवाले चंचल मनुष्यसे कार्य बन सके तो स्थूल-काय पुरुषको दुर्बल टट्टूपर चढाकर प्रामान्तरके प्रति भेजना अनुचित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि आकु अव्ययके, ईषत्अर्थ, अभिन्याप्ति, मर्यादा, अभिविधि ऐसे कई अर्थ हैं। तेन विना मर्यादा, तत्सिहतोऽभिविधिः, उससे रहित मर्यादा होती है और अभिविधि उस विवक्षितसे सहित होती है। आङ् कह देनेसे अभिविधि अर्थ भी लिया जा सकता था। ऐसी दशामें चौथा समय भी वकता करनेमें धिर जाता है। यो जीवको पांचवें समयमें आहार करनेका प्रसंग आवेगा, जो कि इष्ट नहीं है। यदि कोई यों कहे कि मर्यादा और अभिविधि इन दोनों अर्थीके सम्भव होनेपर व्याख्यान करनेसे आङ्के अर्थ मर्यादाका ही सम्प्रत्यय हो जायगा । पचासों स्थलोंपर विवादापन विषयका व्याख्यान कर देनेसे निर्णय कर छिया जाता है। '' व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणं ''। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों पहिले संरायापन कहना, फिर कटाक्षोंका आघात सहना, उसको दूर करनेके लिये न्याख्यानका मठा बढाना, ऐसा करनेसे प्रतिपत्ति होनेमें व्यर्थ गौरव हो जाता है। अतः प्रतिपत्तिके व्यर्थगौरवसे प्रन्थका गौरव करना कई गुणा श्रेष्ठ है। ऐसा सभी विद्वानोंके यहां कहा भी गया है। तिस कारण श्रगडेके बीज आङ् प्रयोगकी अपेक्षा प्रशान्तिवर्द्धक प्राक् पदका प्रहण ही स्पष्टार्थ बना रहो ।

कुतश्रतुर्भ्यः समयेभ्यः प्रागेव विग्रहवती गतिः संसारिणो न पुनश्रतुर्थे समये परत्रेत्या-शंकायामिदमाह ।

कोई शिष्य पूंछता है कि चार समयोंसे पहिले ही यानी तीन समयतक संसारी जीवकी गति वकतावाली है । क्योंजी ! फिर चौथे समयमें या परले समयोंमें मोडे क्यों नहीं लेती है ? जब कि नर्त्तकी या खिलाडी बालक पचासो मोडे लेकर गमन करता है, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं ।

संसारिणः पुनर्वकीभावयुक्ता च सा मता । चतुर्भ्यः समयेभ्यः प्राक् परतस्तदसंभवात् ॥ १॥

चार समयोंसे पहिले पहिले संसारी जीवकी वह गति फिर कुटिलपन करके युक्त मानी गयी है। क्योंकि चौथे समयमें या उससे परले समयोंमें उस कुटिलगतिके होनेका असम्भव है।

त्रिवक्रगतिसंभवः कुत इत्याह ।

तीन मोडेवाळी गतिका सम्भव किस ढंगसे हैं १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं।

निष्कुटक्षेत्रसंसिद्धेस्निवक्रगतिसंभवः । एकद्विवक्रया गत्या कचिदुत्पत्त्ययोगतः ॥ २ ॥

बात यह है कि छह पैछ आठ कोनवाले वरफीके समान सम्पूर्ण अलोकाकाशके ठीक बीचमें अनादिनिधन लोकका विन्यास यों हो रहा है कि पूर्व, पश्चिम, दिशाकी ओर नीचे सात राज् है कमसे घटता हुआ सात राज् ऊपर चढकर एक राज् चौडा रह गया है। पुनः कमसे बढता हुआ साढे दस राज् ऊपर चढकर पांच राज् चौडा है, फिर अनुक्रमसे घटता हुआ चौदह राज्की ऊंचाईपर एक राज् हो गया है। दक्षिण, उत्तरमें, सर्वत्र सात राज् मोटा है। जीव और पुद्रलको गमनमें सहायक हो रहा धर्मद्रल्य तो लोकमें ही व्यापक है। इस कारण अलोकमें कोई भी जीव गमन नहीं कर पाता है। जीवको सीधे जानमें अलोकाकाश पडे ऐसे निष्कुट क्षेत्रमें, टेढा, मेढा, जन्म लेने का जब अवसर आ जाता है, तब जीवको तीन मोडा, लग जाते हैं। यह लोक सर्वथा गोल या अण्डाके समान लम्बा गोल अथवा चौकोर, तिकोर, नहीं है। अतः टेढे कोठावर्ती क्षेत्रसे तिरछे कोनवाले क्षेत्रतककी रचनाको धारनेवाले निष्कुट क्षेत्रकी अवधित जिनागम द्वारा निर्देषिसिद्ध हो जानेसे तीन वकतावाली गित हो जानेका सम्भव है। कहीं कहीं टेढमें पड गये उस निष्कुट क्षेत्रमें एक मोडा, या दो मोडा-वाली गति करके उपजनेका अयोग है। अतः वहां जन्म लेनेवाले जीवको तीन मोडावाली गति करनी पडती है।

यदि होकवका गतिः स्याद् द्विवकैव वा तदा वेत्रासनाद्याकारे लोके निष्कुटक्षेत्रे कवि-त्यदेशे जीवस्य कुतिश्विदेशांतरादागतस्योत्पत्तिर्न स्यात् ।

यदि शंकाकारके विचारानुसार एक मोडावाली अथवा दो मोडावाली ही गति मानी जाय, तब तो अथोलोकमें वेत्रासन (मृद्धा या स्टूल) और मध्यलोकमें झल्लरी (बजाये जानेवाली विशेष ढंगकी थाली) तथा ऊर्ध्व लोकमें मृदंग (पखवाज या लोटे मुंह बड़े पेटवाली ढोलक) ऐसे आकारवाले लोकमें किसी किसी निष्कुट क्षेत्र बन चुके प्रदेशमें किसी भी देशान्तसे आये हुये जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः तीन मोडेवाली गतिका आश्रय लेना समुचित है।

सूक्ष्मबादरकेर्जीवैः सर्वो छोको निरंतरं। निश्चितः सर्वदेत्येतद्भचः कास्तु तथा सति ॥ ३॥

अनन्तानन्त सूक्ष्मजीव तथा अनंत और असंख्यात छोक प्रमाण बादर जीवोंकरके सर्वदा यह संपूर्ण छोक छिद्ररहित ठसाठस भरा हुआ है, यह परम आगम सिद्धान्तोंका वचन है। यदि तिस प्रकार एक या दो मोडेवाछी गतियां हां मानी जायंगी तो तैसा होनेपर यह वचन कहां रक्षित रहा। अर्थात्—सूक्ष्म या बादर जीव भछा जन्म, मरणसे रहित तो नहीं है। छोकमें किसी भी स्थानसे चाहे किसी भी स्थानपर जन्म छे सकते हैं। छोकमें ठेडे, मेडे कोनेवाछे अनेक स्थछ आगये हैं। अतः वहां तीन मोडेवाछी गतिसे ही जन्म छेना सधता है। एक दो मोडेवाछी गतिसे वहां वक्र-स्थानोंमें पहुंचना नहीं वन सकता है।

सूक्ष्मैजीवैः सर्वछोको निरंतरं निचितः बादरकैश्व यथासंभविमिति परमागमवचनं । तथैकेन जीवेन सर्वछोकः प्रतिप्रदेशं क्षेत्रीकृत इति बकावक्रमछभत । ननु द्विबक्रया गत्या यतो यत्र व्याप्तिः संभवति ततस्तत्र जीवस्योत्पत्तेः सर्वमसमंजसमेतद्वचनमिति चेत्, सर्वस्मा-छोकप्रदेशात्सर्वस्मिन् छोकप्रदेशांतरे जीवस्य गतिरिति सिद्धान्तच्याइतिप्रसंगात् ।

यह सम्पूर्ण लोक सूक्ष्मजीवों करके खचाखच छदरिहत दुस रहा है और बादर जीवों करके भी वहां ही यथायोग्य स्थानपर सम्भवते अनुसार भरपूर हो रहा है। यह सर्वज्ञधारासे चले आ रहे ऋषिप्रोक्त परम आगमका वचन है। तथा पंच परावर्त्तनोंमें क्षेत्रपरिवर्त्तन करते समय एक जीवने भी प्रत्येक प्रदेशोंका स्पर्श करते हुये सम्पूर्ण लोकको अपना जन्म क्षेत्र कर लिया है। इस कारण जीवका गमन वक्रपन और अवक्रपनको प्राप्त हो चुका है। यहां यदि कोई शंका यों करे कि दो मोडेवाली गित करके जहांसे जहां क्षेत्रतक न्यापना सम्भवता है, वहांसे वहांतक जीवकी उत्पत्ति हो जायगी। दो, तीन, बार जन्म लेकर निष्कुट क्षेत्रमें भी उपज जायगा, एक ही जन्ममें निष्कुट क्षेत्रन तक पहुंचनेकी क्या आवश्यक्ता पडी है! जब कि एक दो मोडेवाली गितसे ही निर्वाह हो सकता है, तो ये सब परमागमके वचन न्यायोचित नहीं हैं। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों तो " सभी लोकाकाशके प्रदेशोंसे चाहे जहां सभी लोकके अन्य प्रदेशोंमें जन्म लेते हुये जीवकी गिति हो जाती है " इस प्रकार सिद्धान्त वचनोंके न्याघात हो जानेका प्रसंग होगा। चाहे जहांसे लोकमें चाहे जहां कहीं भी जन्म हो जाता है, यह सिद्धांत अट्ट है।

येषां च चतुरस्नः स्यालोको वृत्तोपि वा मतः । निष्कुटत्वविनिर्मुक्तस्तेषां सा न त्रिवकता ॥ ४ ॥ किन्तु जिन प्रवादियों है यहां लोक चौकोर अथवा गोछ भी माना गया होय उनके यहां तो टेढे कौनदार या पैलदार स्वरूप निष्कुटपनेसे सर्वथा रीता यह लोक हुआ। अतः उनके यहां तीन कक्रपना नहीं बनता है। एक दा वक्रताओंसे कहींसे भी किसी भी स्थानमें जीवकी गति बन जाती है। एक समयमें एक ओर चाहे जितना सीधा चलनेवाले जीवको यदि अपने समतलसे उत्पर नीचे टेडे स्थानमें जन्म लेना है तो दो मोडे अवश्य लगेंगे। इससे अधिककी आवश्यकता नहीं है। हां, परमागम अनुसार लोकरचना मान लेनेपर निष्कुट क्षेत्रमें गति करना तो तीन मोडा लेकर ही सम्भवता है।

मा भूदित्ययुक्तं, तथा पाणिम्रुक्ता लांगलिका गोमूत्रिका चैकद्वित्रिवका संसारिणो गतिरिति सिद्धांतिवरोधात् । तदविरुद्धमनुरुध्यमानैः त्रिवका तु गतिरभ्युपगंतन्या, न चासौ निष्कुटत्विविर्मुक्ते चतुरस्रे कृते वा लोके संभवतीति न तदुपदेशसंभवः।

यदि कोई अतिसाहसी प्रवादी यो कह देवे कि जीवकी गतिमें तीन मोडे मले ही नहीं होवें, हमारी क्या क्षिति है। टेढेपनको कमकर जीवमें जितनी सरलता बढे उतना ही अच्छा है। आचार्य कहते हैं कि यों किहांतवाक्यका अतिक्रमण कर मलमानुषी दिखाते हुये प्रशंसा छूटना अनुचित है। क्योंकि तिस प्रकार त्रिवकपने का अभाव मान लेनेपर इस सिद्धान्तप्रश्यसे विरोध हो जायगा कि संसारी जीवकी लम्बे बाहु या हाथ को ऊपर झुका देनेपर तत्सदृश हुई पाणिमुक्ता गित तो एक मोडेन वाली है और दो स्थानीपर टेढे झुक रहे हलके समान आकारवाली लंगिलका गित तो दो वक्रतानाली है तथा चलते हुये बैलके मूत्र समान आकारवाली गोमूत्रिका गित तो तीन वक्रताओंको धारती है, ये सिद्धान्तके वचन अक्षुण्ण हैं। निर्दोष निर्वाध उन सिद्धान्त वचनोंके अविरुद्ध अनुरोध मानकर प्रवक्तनेवाले विद्वानों करके तीन मोडेवाली गित तो अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिये और वह तीन मोडेवाली गित निष्कुटपनसे सर्वथा निर्मुक्त हो रहे चौकोर अथवा गोल लोकमें नहीं सम्भवती है। इस कारण लोकके चौकोरपन या गोलपनका वह उपदेश देना सम्भव नहीं है।

कियत्समया पुनरवका गतिरित्याह ।

गुरुजी महाराज ! अब यह बताओ, फिर नहीं मोडा छेनेवाळी गति भळा कितने समयोंमें पूरी होती है ? ऐसी शिष्यकी तीव्र आकांक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

एकसमयाविग्रहा ॥ २९ ॥

गतिवाले जीव पुद्रलोंकी जिस गतिमें मोडा नहीं है वह लोकपर्यन्त भी हो रही गति एक समयवाली है। अर्थात् सरल्रूपसे गमन करनेका अवसर मिल जानेपर जीव और पुद्रल एक समयमें असंख्यात योजनोंवाले चौदह राज्तक चले जाते हैं। गतिका उदासीन कारण धर्मद्रव्य यदि लोकके बाहर भी होता तो असंख्याते राजुओंपर्यन्त जा सकते थे। किन्तु परवश हो जानेके कारण चौदह राज्से अधिक गमन करनाः निषद्ध हो जाता है।

गतिरित्यतुर्वतेनेन सामानाधिकरण्यात्सीलिंगनिर्देशः कृतः । एकः समयोजस्या इत्यकः समया, न विद्यते विद्यहो न्याघातोस्या इत्यविद्यहा ऋज्वी गतिरित्यर्थः । कृतधैविपत्याह ।

"अनुश्रेणिगतिः " इस स्त्रसे गति इस शद्भकी अनुवृत्ति करके समान अधिकरणपना है। जानेसे गतिकी अपेक्षा एक समया और अविग्रहा शद्भोंका कीलिंगमें कथन किया गया है। जिस गतिका समय एक ही है इस कारण वह एक समय कही जाती है। इस एक समयमें होनेवाली गतिका विग्रह अर्थात्—आधात यानी कुटिलता नहीं विद्यमान है। इस अविग्रहाका अर्थ यह हुआ कि एक समयमें होनेवाली गति बाणगमनके समान सरल है। कोई पूंछता है कि इस प्रकार गतिका सरल्पना कैसे निर्णीत किया जाय? यों आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानकारक अग्निम वार्तिकको कहते हैं।

अविष्रहा गतिस्तत्र शोकैकसमयासिला । प्राप्तिः समयमात्रेण लोकाष्ट्य तनोरपि ॥ १ ॥

उन गतियों में एक समयवाली सम्पूर्ण गतियां तो कुटिलता रहित हो रहीं सरल हैं। कारण कि केवल एक समय करके ही लोकके अप्रवर्ती दूसरे शरीरकी भी प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् ऊर्च लोकमें सबसे ऊपर स्थित हो रहे पन्द्रहसी पिचत्तर बढ़े घनुष मोटे तनुवातवलयके ऊपरके पन्द्रहसी भागमें उसी समय जाकर मुक्तजीव लोकाप्रमें विराज जाते हैं। सबसे बढ़ी सिद्धोंकी अवगाहना पांचसी पचीस छोटे धनुषकी है और सबसे छोटी अवगाहना साढ़े तीन हाथकी है। पन्द्रहसी पिचत्तर धनुषक उपरिम तनुवातवलयको पांचसीसे गुणा कर देनेपर छोटे धनुष हो जाते हैं। उनमें बढ़ी अवगाहनाका भाग देनेसे पन्द्रह सी लब्ध आते हैं तथा साढ़े तीन हाथ यानी सात बटे आठ धनुषकी छोटी अवगाहनाका भाग देनेसे नी लाख लब्ध आते हैं। तनुवातवलयके पन्द्रहसीमे भागमें बढ़ी अवगाहनाके सिद्ध हैं और नी लाखमें भागमें छोटी अवगाहनाके सिद्ध हैं। मध्यवर्ती अवगाहनाओंके अनेक भेद हैं। मध्य तिष्ठन्ति मध्यमाः।

लोकाग्रवापणी गतिर्धुक्तस्य तावदेकसमया समाविर्धृतानंतवीर्यस्य तस्यैकसमयमात्रेण लोकाग्रवाप्ययोगः । पूर्वतनुपरित्यागेन तन्वंतरप्रपिणी ऋजुगतिरेकसमयेव संसारिणोपि, समाप्ताहम्बीर्योतरायक्षयोपश्चमस्य लोकांतरवितन्याः तनारिप समयमात्रेण प्राप्तिघटनात् । ततः सकलाप्यविग्रहा गतिरेकसमयत्युपपनं । सामर्थ्योदेकवका द्विसमया, द्विवका त्रिसमया, त्रिवका चतुःसमयति सिद्धं ।

मुक्तजीवकी छोकके उपरिम अप्रभागमें प्राप्त करानेवाछी गति तो एक समयमें पूरी हो जातीं है। क्योंकि नीर्यान्तराय कर्मका क्षय हो जानेसे जिस मुक्त जीवके अनन्तवीर्यगुण भछे प्रकार प्रकड

हो गया है, उस जीवकी केवल एक समयमें ही लोकके अप्रभागमें प्राप्ति हो जाना बन जाता है। हां, संसारी भी जीवकी पूर्वशरीरका परित्याग करके दूसरे भवके शरीरान्तरको प्राप्त करानेवाली ऋजु गति भी एक समयवाली ही है। तिस प्रकारका राजुर्जीतक का लम्बा उछलने के उपयोगी वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपराम जिस जीनको भले प्रकार प्राप्त हो गया है उसको एक ही समयमें लोकान्तमें वर्त रहे शरीरकी भी प्राप्ति हो जाना घटित हो जाता है। अर्थात - ऊर्घ छोकके तनुवातवलयमें स्थित बात कायिक जीव मरकर उसी समय अधोलोकके वातवलयमें चौदहराज नीचे जन्म ले लेता है या नीचेके वातवलयका जीव चौदह राजू ऊपर जाकर ऊपरके वातवलयमें उसी समय जनम जाता है। सातों प्रथिवियोंमें दक्षिणकी ओर मरकर प्रथिवीकायिक जीव उसी समय सात राजू चल सातों पृथि-वियोंमें उत्तरकी ओर जन्म है हेता है। क्योंके होक सर्वत्र दक्षिण उत्तर सात राज, मोटा है। कोई भी एकेंद्रिय जीव एक ओरसे दूसरी ओर एक समयमें ऊंचा, नीचा, तिरछा, सीधा सात राजू गमन कर जाता है। उतने अनन्त अविभागप्रतिच्छेदोंको धार रहा उनके वीर्यगुणका विकास हो रहा है। सुरुमनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके जघन्य ज्ञानमें अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं और अनन्त चतुष्टय धारीके केवलज्ञानमें भी अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं । हां, यह अनन्त उस अनन्त संख्यासे अनन्तानन्तगुणा बडा है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवके जघन्य वीर्य गुणमें अनन्त शक्त्यंश 🐉 और अनन्तचतुष्टयवारी जीवन्मुक्त या मुक्तजीवके भी वीर्य गुणमें भी अनन्तानन्त **इक्त्यंश** वर्त रहे हैं। मलें ही वे पिंढले अंशोंसे अनन्तानन्त गुणे अधिक हैं। एकेन्द्रिय जीव भी चौदह राजू ऊपर या नीचेतक गमन करनेकी शक्तिको रक्षित रखता है। पूर्वभव सम्बन्धी मरण और वहांसे उत्तरभवके लिये चौदह राजूतक गमन करना तथा वहां जाकर नवीन शरीरका प्रहण कर लेना ये सब एक ही समयमें हो जानेवाले कार्य हैं। हां, पहिले पीछे होते हैं। किन्त समयभेद नहीं है एक समयमें भी असंख्यातासंख्यात शक्त्यंश हैं। तिस कारणसे सम्पूर्ण भी कुटिलतारिहत गतियां एक समयमें ही निष्पन कर ली जाती हैं, यह सिद्धान्त बन चुका है। साथमें विना कहे ही सामर्थ्येस यह भी सिद्ध हो चुका है कि एक मोडेवाली गति में दो समय चिरते हैं, दो मोडेवाली गति तीन समयमें संपादित होती है, तीन मोडेको घारनेवाली गति तो चार समयमें निष्पन होती है।

यद्यवं सर्वत्राहारको जीवः मसक्त इत्याकृतं भतिषेधयञ्जाह ।

यदि उस प्रकार अविप्रहागतिमें जीव सदा आहारक बना रहता है, यानी पाहिले समयमें भी आहार करता हुआ मरा था और अप्रिम समयमें झट वहां पहुंचकर उसी समय नोकर्मका आहार कर छिया, उसी प्रकार सभी एकवका, दिवका, त्रिवका, गतियों में भी जीवको आहारी बना रहनेका प्रसंग प्राप्त हुआ। इस प्रकारके सिद्धांतविरुद्ध कुचेष्टितका निषेध करते हुये श्री उमास्वामी महाराज अप्रवर्ती सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

एकं द्वी त्रीन् वानाहारकः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, मोडेवाली गतियोंमें यह संसारी जीव यथाक्रमसे एक या दो अथवा तीन समयोंतक अनाहारक रहता है। अर्थात्—कार्माण काययोगद्वारा केवल आयुरहित सप्तिविध कर्मोंका ही प्रहण करता रहता है। नोकर्मका प्रहण नहीं कर पाता है। वहां पहुंचकर जन्म लेनेके अगले समयमें आहारक बनता है। उसके पिहले एक, दो, तीन, समयतक वह जीव आहारी नहीं है।

एकं वा समयं द्वी वा समयी त्रीन् वा समयाननाहारक इति संत्रत्येयं, त्रत्यासचेः समयस्याभिसंवधात्, वा त्रब्दस्य त्रत्येकं परिसमाप्तेश्व । सप्तमी त्रसंग इति चेन्न, अत्यंतसंची मास्य विवक्षितत्वात् ।

वा राब्दका अर्थ यहां विकल्प है | उसका एक, दो, तिन, प्रत्येकमें परिसमाप्तिसे अन्वय कर देना चाहिये | निकटवर्ती होनेसे | "एकसमयाविष्रहा" इस सूत्रसे अनुवृत्ति कर प्राप्त हुये समय शद्धका यहां तीनोंमें सम्बन्ध हो जाता है । अतः चाहे एक समय अथवा दो समयतक किम्बा तीन समयतक संसारी जीव अनाहारक रहता है, यह पक्का विश्वास रखना चाहिये | यहां किसीकी शंका है कि आहार कियाका काल तो अधिकरण है | अतः एक, दो, तीन, इन संख्या वाचक शब्दोंमें सप्तमी विभक्तीकी प्राप्ति हो जानेका प्रसंग आता है, आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना | क्योंकि यहां अत्यन्त संयोग की विवक्षा हो रही है । जहां अति अधिक संयोग विवक्षित होता है वहां सप्तमीका अपवाद कर दितीया विभक्ति कर दी जाती है ।

कः पुनराहारो नाम येनाहारको जीवः स्यादित्यभिधीयते—त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्रल्प्रहणमाहारः तदभावाद्विग्रहगतावनाहारकः न हि तस्यामाहारकश्चरीरस्य संभवः, नाप्यौदारिकवैक्रियिकश्चरीरयोः षण्णां पर्याप्तीनां व्याघातात् । पुनरात्मैकसमये द्वी त्रीन् वानाहारको न पुनश्चतुर्थमपीत्याह ।

कोई पूछता है कि फिर यह बताओ कि आहार मला क्या पदार्थ है ? जिस आहार करके कि जीव आहारी हो जावेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी करके यों उत्तर कहा जाता है कि औदारिक, वैकियिक, आहारक, इन तीन शरीरों और आहारपर्याप्ति १ शरीरपर्याप्ति २ इन्द्रिय-पर्याप्ति ३ स्वासत् उस्वास पर्याप्ति ४ भाषापर्याप्ति ५ मनःपर्याप्ति ६ इन छइ पर्याप्तियोंके योग्य हो रहे पुद्रलद्रव्यका प्रहण करना आहार है । यानी जैसे मूंख, प्यास, लगनेपर यह जीव पित्त अग्नि हारा अन्न, जलका आहार कर लेता है । उसी प्रकार विशेष कर्मोका उदय होनेपर योग द्वारा यह जीव अतीन्द्रिय नोकर्म वर्गणाओंका आहार करता है । कारण नहीं मिल्रनेपर विप्रहगतिमें उस आहारका अभाव हो जानेसे जीव अनाहारक माना जाता है । उस विप्रहगतिमें तीसरे आहारक शरीरकी तो

सम्मादना ही नहीं है। क्योंकि आहारकशरीर नामक नामकर्मका उदय होनेपर असंयमका परिहार या गृढिविषयोंमें उपजे हुये सन्देहको दूर करनेके छिये छठे गुणस्थानवत्ती किसी ऋदि प्राप्त मुनिके प्यान करते समय आहारक शरीर निपजता है। अधिकसे अधिक चौथे गुणस्थानमें हो रही विप्रह-गितिकी दशामें आहारक शरीरके उपजनेकी योग्यता प्राप्त नहीं है। अतः उस समय आहारक शरीरका प्रहण नहीं है। तथा औदारिक, वैकियिक शरीरोंका प्रहण करना भी असम्भव है। क्योंकि प्याचात है। मोड़ा छेते समय आहारिकया कथमि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार छह पर्याप्तियोंके वोग्य पुत्रछ द्रव्यके प्रहणका भी व्याचात है। अर्थात जैसे कि कोई बहुत पिट रहा या अत्यधिक परिक्रम कर रहा अथवा परवश अधिक दौड रहा मनुष्य खाना पीना भूछ जाता है। उसी प्रकार विप्रह गितिकों नोकर्भ आहारका व्याचात है। उस समय तो फिर आत्मा एक मोडा छेनेपर एक समयमें अथवा दो मोडवाछी गतिमें दो समयतक तथा तीन मोडेवाछी गतिमें तीन समयतक अनाहारक रहता है। फिर चौथे समयमें भी अनाहारक नहीं है। आहार अवश्य कर छेता है, इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकों हारा कह रहे हैं कि—

एकं समयमात्मा हो त्रीन् वा नाहारयत्ययं । शरीरत्रयपर्याप्तिप्रायोग्यान् पुद्गलानिमान् ॥ १ ॥ चतुर्थे समयेवश्यमाहारस्य प्रसिद्धितः । ऋज्वामिष्ठगतौ प्राच्ये पुंसः संसारचारिणः ॥ २ ॥ द्वितीये पाणिमुक्तायां लांगलायां तृतीयके । यथा तद्वत्त्रिवकायां चतुर्थे विष्रह्महः ॥ ३ ॥

यह संसारी जीव एक समयतक या दो समयतक अथवा तीन समयतक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके स्वयोग्य होरहे नोकर्मवर्गणास्त्ररूप पुद्रलोंका आहार नहीं कर पाता है। चौथे समयमें अवस्य ही आहारकी सिद्धि होजाती है। धनुषपरसे फेंक दिये गये बाणकी गतिके समान सर्छ (सीधी) ऋजुगतिमें तो इस संसारअमण करनेवाले जीवका पूर्वसमयमें ही आहार होजाता है। पूर्वमबका वियोग, उत्तरभवके प्रति गमन, वहां जाकर नोकर्मवर्गणाओंका आहार करलेना और पर्याप्तियोंका कार्य प्रारंभ होजाना ये सब कार्य एक समयमें ही सम्पन्न होजाते हैं। मुडे हुये हाथके समान एक मोडेवाली पाणिमुक्ता नामकी गतिमें तो दूसरे समयमें जीवको आहारकी प्राप्ति होजाती है। हुछ या सिंहपुच्छके समान दो मोडेवाली लांगलिका गतिमें जैसे तीसरे समयमें नोकर्म आहारकी प्राप्ति हो जाती है उसीके समान तीन मोडेवाली गोमूत्रिका गतिमें चौथे समययें जाकर शरीरका प्राप्ति हो जाती है उसीके समान तीन मोडेवाली गोमूत्रिका गतिमें चौथे समययें जाकर शरीरका प्राप्ति हो जाती है।

संमृति क्षणिकाधेकांतव्यवच्छेदेन स्याद्वादपक्ष एव विग्रहगतिजीनस्य संभवतीत्याह्।

अब इस समय क्षणिकपन, नित्यपन, आदि एकान्त पक्षोंके व्यवच्छेद करके स्याद्वाद पक्षमें ही. जीवकी विप्रह गति होना सम्भवता है, इस रहस्यको श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमश्रार्तिकों द्वारा स्पष्ट खोळ कर कहते हैं।

क्षणिकं निष्कयं चित्तं स्वशरीरप्रदेशतः। भिन्नं चित्तांतरं नैव प्रारभेत सविष्रद्दं ॥ ४ ॥ सर्वकारणश्रन्ये हि देशे कार्यस्य जन्मनि। काले वा न कचिज्ञातुमस्य जन्मन सिद्ध्यति ॥ ५ ॥

पहिले क्षणमें उत्पन्न होकर दूसरे क्षणमें समूल चूल नष्ट हो गया कियारिहत क्षणिक चित्त तो अपने शरीर प्रदेशसे मिन्न दूसरे शरीरसिहत चित्तको नहीं उत्पन्न कर सकेगा। सम्पूर्ण कारणोंसे शून्य हो रहे देशमें अथवा कारणिकिल कालमें यदि कार्यका जन्म माना जायगा तब तो कहीं भी देश या कालमें इस कार्यका जन्म नहीं जाना जा सकता है। अतः किस कारणसे किसका जन्म हुआ ? यों कार्यकारणमान सिद्ध नहीं हो सकता है। अर्यात् नेबिद्ध आत्मद्रव्यको क्षणिक, निष्क्रिय, अणु, विज्ञान स्वरूप मानते हैं। पिहले समयका चित्त सर्वथा नष्ट हो जाता है। दूसरे समयमें सर्वथा नवीन चित्त उपजता है। उनके यहांकी यह दशा बालक, युना, वृद्ध, अवस्थाओं में भी घटना कठिन है। क्षणिक चित्त जन्मान्तरमें जाकर उपज जाय, यह तो असम्भन ही है। बौद्ध तो बाणका भी देशांतरमें पहुंच जाना नहीं मानते. हैं। पूर्व प्रदेशोंपर स्थित हो रहा बाणस्कर्ण अवयवोंकी राशि सर्वथा नष्ट हो जाती है। अगले प्रदेशोंपर दूसरे समयमें अन्य ही बाण उपजता है। यही उत्पादिननाशका कम लक्ष्यदेशकी प्राप्ति तक बना रहता है। बहुका नहीं बण लक्ष्यतक नहीं पहुंच पाता है। बौद्धोंको असत्के उत्पाद और सत्के विनश जानेका डर नहीं है। घूमते हुये चाकमें भी वे कियाको न मानकर प्रत्येक प्रदेशपर नवीन नवीन चाकका उत्पाद विनाश स्वीकार करते हैं। ऐसा सिद्धान्त माननेपर निष्क्रिय चित्त मला जन्मान्तरमें जाकर दूसरे चित्तको नहीं उत्पन्न करा सकता है। अतः बौद्धोंके यहां विग्रहगति नहीं सम्भवती है।

क्टस्थोपि पुमानेव जहाति पाच्यविष्रहं । न गृह्णात्युत्तरं कायमनित्यत्वप्रसंगतः ॥ ६ ॥

सर्वथा नित्यपक्ष लेनेपर कूटस्थ आत्मा भी पूर्वजन्मके शरीरको नहीं छोड पाता है और उत्तरमवसम्बन्धी कायको नहीं प्रहण कर सकता है। क्योंकि यों तो अनित्यपनेका प्रसंग है जावेगा, किसीका प्रहण करना अन्यका त्याग करना तो कथंचित् अनित्य पदार्थके ही सम्मवता है, कूटस्थके नहीं।

परिणामी यथा कालं गतिमानाहरत्यतः । स्वोपात्तकर्मसृष्टेष्टदेशादीन् युद्गलान्तरं ॥ ७॥

अतः न तो क्षणिक और न कूटस्थ, किन्तु परिणामी जीव गतिमान् हो रहा सन्ता अपने पूर्वजन्मोंमें प्रहण किये गये कमी द्वारा रचे गये इष्ट देश, इष्ट फल, आहार्य पदार्थ आदिकोंका यथा-समय आहार कर लेता है तथा अपने योग्य अन्यपुद्रलोंका भी आहार कर लेता है। अर्थात्—एक दो अथवा तीन समयोंको टालकर अपने पुण्य, पाप, अनुसार यह उत्पाद, व्यय, धौव्य, स्वरूप-परिणामका धारी और देशसे देशान्तरको जानेवाला जीव अनेक जातिके न्यारे न्यारे पुद्रलोंका आहार कर लेता है।

इति विम्रहसंप्राप्त्ये गतिर्जीवस्य युज्यते । षड्जिः सूत्रैः सुनिर्णीता निर्बाधं जैनदर्शने ॥ ८ ॥

इस प्रकार शरीरकी मछे प्रकार प्राप्ति करने के छिये संसारी जीवकी गति होना युक्त हो जाता है। श्री अरहन्त देव द्वारा आद्य प्रतिपादन किये गये जैनदर्शनमें अथवा स्वरचित "तत्त्वार्थशास्त्र" नामक जैनदर्शन प्रन्थमें " विग्रहगती कमयोगः, अनुश्रेणि गतिः, अविग्रहा जीवस्य, विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः, एक समयाविग्रहा, एकं द्वी त्रीन् वानाहारकः " इन छह सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने जीवकी गतिका बाधारिहत अच्छा निर्णय कर दिया है। योई खटका नहीं रह जाता है।

अर्थेवं निरूपितगतेर्जीवस्य नियतकालात्मलाभस्य पष्ठिकाद्यात्मलाभवत्संभाव्यमानस्य जन्मभेदमतिपादनार्थमाइ।

अब इसके अनन्तर जिस जीवकी गतिका इस प्रकार निरूपण किया जा चुका है, नियत किये गये कालमें आत्मलाम कर रहे और साठी, चावल, वाजरा, कांगुनी, आदिके आत्मलाम समान सम्भावना किये जा रहे उस जीवके जन्मभेदोंका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कह रहे हैं। मावार्थ—साठी "चावल जैसे साठ दिनमें पकते हैं, न्यून अधिक समयमें नहीं, इस प्रकार कई धान्य और अनेक फलोंके परिपाकका समय नियत है। गायें, मैंसे, तथा किन्हीं किन्हीं खियोंके गर्भधारणका समय भी नियमित रहता है। उसी प्रकार जीव भी नियत कालमें अपने उत्पत्ति क्षेत्रको प्राप्त कर लेता है। वहां जाकर जीवके कितने प्रकार जन्म होते हैं? उसका निर्णायक सूत्र यह है। इसको अब समझियेगा।

संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

सन्मूर्क्रन, गर्भ, और उपपाद य तीन संसारी जीवोंके जन्मके प्रकार हैं।

समंततो मूर्छनं श्ररीराकारतया सर्वतः पुद्गलानां सम्मूर्छनं, शुक्रशोणितगरणाद्गभेः मातृ-प्रयुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा, उपेत्य पद्यतेस्मिश्नित्युपपादः । एतेषामितरेत्रयोगे द्वन्द्वे संमूर्छनस्य ग्रहणमादावितस्थूलत्वात् अल्पकालजीवित्वात् तत्कार्यकारणप्रत्यक्षत्वाश्च, तदनंतरं गर्भस्य ग्रहणं कालप्रकर्षनिष्यत्तेः, उपपादस्य ग्रहणमंते दीर्घजीवित्वात् । त एते जीवस्य जन्मेति प्रत्येयं ।

तीनों छोकमें ऊपर, नीचे, तिरछे, कहींसे भी चारों ओरसे भी देहके अवयवीको रच छेना संमर्छन है। पद्रलोंका सब ओरसे शरीरके आकारपने करके अवयव गढ जाना सन्मर्छन जन्म है। जैसे कि सडे हुये मल, मूत्र, फल, राटी, दाल, आदिमें जीव, आकर चारों ओरसे उन्हीं पदार्थीका शरीर रच छेता है। खिंके उदरमें परुषके शक और माताके रक्तका मिश्रण हो जानेसे गर्भ नामका जन्म होता है अथवा माताके द्वारा खाये गये आहारको अपने अधीन करनेसे गर्भ माना जाता है । गर्भमें हाथी, घोडे, बोलक, बालिका, तोता, मैना, हिरण, बन्दर, आदिक जीव अपनी माताके खाये हुये आहारको अपने शरीररूप मिलाते रहते हैं । जिन कोमल शय्यास्थान या मकर मुख, आदि स्थानोंको प्राप्त होकर इनमें जन्मा जाय, इस कारण यह उपपाद है। देव या नारिक्योंके उत्पत्ति स्थानकी विशेषसंज्ञा उपपाद है। इन सम्मूर्छन, गर्भ, उपपादोंका चाहे कैसे भी आगे पीछे रखकर इतरेतर योग नामक द्वन्द्र समास करनेपर सम्पूर्छन शद्धका आदिमें प्रहण हो जाता है। कारण कि सम्पूर्छन शरीर अधिक स्थल है, अर्थात्-हजार योजन ऊंचा कमल, बारह योजन लंबा संख, तीन कोस लंबी गिंजाई. चार कोस लंबा भौरा और हजार योजन लंबा राघव मत्स्य ये सब जीव मोटे सन्मर्छन शरीरको धार रहे हैं। कमलका क्षेत्रफल सातसी पचास योजन है। संखका घनफल तीनसी पेंसठ योजन है। गिंजाईका क्षेत्रफल सत्ताईस योजनके इक्यासी सौ बानवैमे भाग है। भ्रमरका क्षेत्रफल तीन बटे आठ योजन है। स्वयंभूरमण समुद्रमें निवास करनेवाले मत्स्यका धनफल साडे बारह करोड योजन है। इन जीवोंके सम्भूर्छन जन्म है। नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर अधिकसे अधिक पांचसी धनुष है। देवोंका भी मूलशारीर पञ्चीस धनुषसे अधिक नहीं है, उत्कृष्ट भोगभूमिक भी मनुष्योंका शारीर तीन कोस लम्बा है। यहां कर्मभूमिमें मनुष्य शरीरकी अपेक्षा घोडे, वृक्ष आदिमें जो वृद्धिका तारतम्य है, वहीं तारतम्य भागभिमें लगाया जा सकता है। अतः गर्भज, और उपपादजकी अपेक्षा सम्मर्कन शरीर अधिक मोटा है, तथा वैसे भी सम्पूर्छन शरीरकी गढंत गर्भ, उपपादवालोंकी अपेक्षा मोटी है। प्रन्थकार स्वयं " परम्परं सूक्ष्मं " आगे कहनेवाले हैं । दूसरी बात यह है कि गर्भजन्मवाले और उपपादजन्मवाले जीवोंकी अपेक्षा सम्पूर्छन प्राणी अस्पकाल जीवित रहते हैं । देखी, सम्पूर्छन मत्स्यकी आयु सातहजार क्रप्पनके ऊपर सत्रह बिन्दी लगाकर जितनी संख्या होती है उतने वर्ष प्रमाण

अर्थात् कोटि पूर्ववर्षकी उत्हृष्ट है। किन्तु गर्भजन्मवाले मनुष्यकी उत्हृष्ट आयु तीन पल्य है और उपपाद जन्मवाले देव, नारिकयोंकी आयु तेतीस सागर उत्हृष्ट है। जिनमें कि असंख्याते वर्ष कीनेमें पड़े हुये हैं। उपपाद जन्मवाले की जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है और गर्भजन्मवालोंकी जघन्य आयु कुछ बड़ा अन्तर्भुहर्त्त है। किन्तु सम्मूर्क्छन जीवोंकी जघन्य आयु नाडीगित कालके अठारहमें भाग है। अतः अल्पकालतक जीवनेवाले विचारे सम्मूर्क्छन जन्मवालोंका आदिमें प्रहण करना उचित है। तीसरी बात यह है कि गर्भ और उपपाद जन्मके कार्य और कारणका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। किन्तु उस सम्मूर्क्छन जन्मके कार्यकारण दोनोंका बहिरंग इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष हो भी जाता है। सम्मूर्क्छन शरीरके कारण गले सड़े पदार्थों या बीज, शाखा, आदिका लोकमें प्रत्यक्ष हो रहा है। तथा उनके कार्य बन गये लट, गिराड, अंकुर आदिका भी प्रायः प्रत्यक्ष हो जाता है। उस सम्मूर्क्षनके पश्चात् गर्भका प्रहण है। क्योंकि सम्मूर्क्षनके पश्चात् गर्भका लिए विरेष्या मुर्गी किरिआ, कुत्ती, खी, घोडी भैंस आदिके शरीरमें मास, दो मास, लड़ मास, नौ मास, बारह मास, तक बननेकी अपेक्षा है। सबके अन्तमें दीर्घकालनक जीवित बना रहना होनेसे उपपादका प्रहण किया है। व सब इस जीवके जन्म हैं, यह विश्वास रखना चाहिये।

संमुर्छनादिभेदात् जन्मभेदे वचनभेदमसंग इति चेश्व, जन्मसामान्योपादानात्तदेकत्वोपपत्तः।

यहां किसीकी शंका है कि सम्पूर्च्छन आदिके भेदसे जब जन्मके तीन भेद हैं, तब ती जन्मशद्भके बहुवचन रूपसे भेद करनेका प्रसंग आता है। अर्थात्—जब जन्मके प्रकार तीन हैं तो " जन्मानि " यों बहुवचन होना चाहिये। तभी सामानाधिकरण्य बनेगा। आचार्य कहने हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जाति अर्थमें प्रयुक्त किये गये जन्म शद्ध करके जन्म सामान्यका उपादान है। अतः उस जन्मशद्भकी एकवचन रूपसे सिद्धि हो जाती है। सामान्यको कहनेमें एक वचन कहा जाता है। जैसे कि " जीवाजीवास्त्रववंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तस्वं " यहां विधेय दलमें एक वचनान्त तस्व शद्धका प्रहण करना साधु है।

कुतः पुनः संमूर्छनादय एव जन्मभेदा इत्याह ।

स्वामीजी महाराज ! फिर यह बताओ कि संमूर्छन आदि कही जन्मके भेद किस कारणासे हो जाते हैं ? अर्थात् — सम्मूर्छन आदिक तीन ही जन्मके प्रकार हैं, अधिक क्यों नहीं हैं ? तथा ऐसे जन्मोंका कारण क्या है सो स्पष्ट कहिये, ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकको कहते हैं।

संमुर्छनादयो जन्म पुंसो मेदेन संप्रहात । सतीपि जन्मभेदस्य परस्यांतर्गतेरिह ॥ १ ॥ सामान्य रूपसे जन्मका एक भेद ही है। विशेषतया सैकडों, हजारों, जन्मके भेद हैं। हां, कित-पय भेदों करके ही संग्रह करनेसे जीवके सम्मूर्छन आदिक तीन जन्म कहे गये हैं। यद्यपि दूसरे दूसरे भी जन्मके विशेष भेद विद्यमान हैं, किन्तु उन विशेष भेद, प्रभेदोंका, इन तीन जन्मोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अतिरिक्त प्रकारोंके माननेकी आवश्यकता नहीं है।

संस्वेदोन्नेदादयः परे जन्मभेदाः संमूर्छनात् तेषां तत्रैवांतर्गमनात् । भेदेन तु संप्रमाणं जन्म त्रिविधं व्यवतिष्ठते संमूर्छनादिभेदः पुनर्जीवस्य तत्कारणकर्मभेदात्, सोपि स्वनिमित्ता-ध्यवसायभेदादिति प्रतिपत्तव्यं ।

लट, डांस, जुआं, आदिक जीव पसीनासे उत्पन्न हो जाते हैं, इनका स्वदेज जन्म कहा जाता है। वृक्ष, वेलि, आदिक उद्भिज हैं। शरीरमें पुण्पमाला पहिननेसे पुण्पोंके रूप आदिकी परावृत्ति हो जाती है। अतः अनुमान किया जाता है कि ऊष्मा या स्वेद निकलता रहता है, जिससे कि जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है तथा भूमिको भेद कर ऊपर निकल आये उद्भितसे जन्म लेनेवाले वृक्ष, घास, आदि हैं। इस प्रकार संस्वेद, उद्भेद, आदिक दूसरे भी जन्मके भेद हैं। किन्तु समन्तात् मूर्लन, होनेसे उन अतिरिक्त प्रकारोंका उन तीन जन्मोंमें ही अन्तर्गमन हो जाता है। हां, मेदकरके संप्रह किये जा रहे जन्म तो तीन प्रकारके ही व्यवस्थित हो रहे हैं। हां, फिर जीवके सम्पूर्लन आदिक जन्मभेद तो उनके कारण कर्मोंके विशेष भेदोंके अनुसार हो जाते हैं और वह कर्मोंका भेद भी अपने निमित्त कारण हो रहे कषायोंके अध्यवसाय स्थानोंके भेदसे बन बैठता है। मावार्थ—जीवोंके परिणाम असंस्थात लोक प्रमाण हैं। उनको निमित्त पाकर कर्मबन्धोंके असंख्याते विकल्प हो जाते हैं। उनकामित पाकर कर्मबन्धोंके असंख्याते विकल्प हो जाते हैं। उनकामेंके अनुसार सम्मूर्लन आदिक जन्मके तीन प्रकार हो जाते हैं। विशेषतया विचारनेपर उन्हीं कर्मोंके अनुसार संख्यात और असंख्यात भी जन्मके प्रकार हैं। जो कि पूर्णरूपसे श्रुतज्ञान या केवल ज्ञानहारा गम्य हैं। इस प्रकार समझ लेना चाहिये।

तद्योनिमतिपादनार्थमाह ।

उन जन्मोंके योनिस्थानोंकी प्रतिपत्ति करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको स्पन्न कह रहे हैं।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चेकशस्तद्योनयः॥३२॥

सचित्त १ शीत २ संवृत ३ और इनसे इतर अर्थात्—अचित्त ४ उष्ण ५ विवृत ६ तथा इनके मिले हुये यानी सचित्तअचित्त ७ शीतोष्ण ८ सम्वृत विवृत ९ ये नौ उन जन्मोंकी एक एककी योनियां हैं। अर्थात्—सचित्त आदि स्थल विशेषोंमें जीव उन तीनों जन्मोंको यथायोग्य धारते हैं।

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तं, शीतः स्पर्शविशेषः, संवृतो दुरुपलक्ष्यः । सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः, शीतोस्यास्तीति शीतः, संत्रियते संवृतः । सचित्तश्च श्लीतश्च संवृतश्च सचित्तश्च सिचत्रश्चातसंवृताः सहतरैरचित्तोष्णविवृतैर्वर्तते इति सेतराः समितपक्षाः, मिश्रग्रहणसुभ-यात्मसंग्रहार्थे ।

आत्माके चेतन्यान्यित विशेषपरिणामको चित्त कहते हैं। आठ प्रकारके स्पर्शोमें शीत एक स्पर्शविशेप है, जो कि प्रसिद्ध ही है। संवृतका अर्थ मले प्रकार आच्छादित हो रहा यह जो प्रदेश बढ़ी काठनतासे देखा जा सके या नहीं देखा जा सके वह संवृत है। चित्तके साथ जो वर्तता है, इस कारण वह सचित्त कहा जाता है, शीतस्पर्श नामक गुण जिसके विद्यमान है, इस कारण यह चोनिस्थान शीत है, गुणवाचक शीत शब्दसे मत्वर्थीय अच् प्रत्यय कर लेना। जो मले प्रकार ढक दिया जाय वह संवृत है। सचित्त और शीत तथा संवृत इस प्रकार इतरेतर योग इन्द्र समास करने पर "सचित्तशीतसंवृताः" पद बन जाता है। ये सचित्त, शीत, संवृत, यदि इतर हो रहे, अचित्त, उष्ण, विवृतोंके साथ वर्त जाते हैं, इस कारण सेतर यानी प्रतिपक्षसहित हो जाते हैं। इस सूत्रोम मिश्रका प्रहण करना तो सचित्त, अचित्तका उभय और शीत उष्ण दो अवयववाला उभय तथा संवृत, विवृत इन दोनों आत्मक उभयका संप्रह करनेके लिये हैं।

च श्रद्धः पत्येकं समुच्चयार्थ इत्येकं, तद्युक्तं, तमंतरेणापि तत्प्रतितः, शृथिच्यप्तेजी-वायुरिति यथा। इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु युक्तश्रश्चद्धः, एकशो प्रहणं क्रममिश्रमतिपत्त्यर्थे तेन सचित्तोचित्तो मिश्रश्च श्रीतउष्णो मिश्रश्च संष्ठतो विष्ठतो मिश्रश्चेति नवयोनिभेदास्तस्य जन्मनः प्रतियंते तच्छद्धस्य प्रकृतापेक्षत्वात्।

कोई एक विद्वान यों कह रहे हैं कि सूत्रमें पड़ा हुआ च शब्द तो प्रत्येकका समुचय करने के लिये है । अर्थात्—प्रत्येक साथ च शब्द लगा देनेपर ही नो भेद हो सकते हैं । अन्यथा यानी च शब्द नहीं डाला जायगा तो सचित्त, शीत, संवृत, जब सेतर होकर मिल जांय, तब योनियां हो जाती हैं, यह अर्थ निकल पड़िगा । और च शब्द कर देनेसे प्रत्येक प्रत्येक योनि हो जाती हैं । प्रत्येकार कहते हैं कि उनका कहना युक्तिरहित हैं । क्योंकि उस च शब्द के विना भी प्रत्येकका समुच्चय हो सकता है । जैसे कि " पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि" यहां च शब्द के विना ही और बहुवचनान्त प्रयोगके विना ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये प्रत्येक प्रत्येक होकर चार तत्त्व हैं, यह अर्थ निकल आता है । हां, संक्षेप प्रतिपादक सूत्रमें योनियोंके जो अन्य भेद नहीं कहे गये हैं, उनका समुचय करने के लिये तो च शहका प्रयोग करना समुचित है । इस सूत्रमें एक एक इस प्रकार वीप्सामें शस् प्रत्येय कर एकशः शहका प्रदेश करना तो कमपूर्वक मिश्र योनियंकी प्रतिपत्तिक लिये हैं । तिस " एकशः " शह करके सचित्त और अचित्त रूप मिश्र तथा शील और उष्ण

रूप मिश्र एवं संदत और विवृत रूप मिश्र यों जान लिया जाता है। सचित्त शीतका मिला हुआ या शीत और संवृतका मिला हुआ मिश्र नहीं समझ बैठना चाहिये। इस प्रकार उस जन्मकी योनियोंके नी भेद प्रतीत हो रहे हैं। सूत्रमें पड़ा हुआ तत् शह्र तो प्रकरण प्राप्त सम्मूर्छन आदि जन्मोंकी अपेक्षा रख रहा है।

सिनादीनां द्वंदे पुंत्रज्ञावाभावी भिन्नाश्रयत्वादित्येके, तदयुक्तं । पुल्लिंगस्य योनि-श्रद्धस्यहाश्रयणात्तस्योभयलिंगत्वात् । स्नीलिंगस्य वा प्रयोग औत्तरपदिकद्दस्यत्वस्य विधानात् द्वृतायां तपरकरणे पध्यमविलंभित्तयोख्यसंख्यानिष्यत्र द्वंद्वेपि तस्य दर्शनात् ।

कोई एक पण्डित यहां कह रहे हैं कि सिचित्ता, अचित्ता, आदि सिलिंग पदोंका हन्द्र समास करनेपर विभिन्न आश्रय होनेसे पुंबद्भाव होकर हूस्व नहीं हो सकता है। यानी जब कि सिचित्ता योनि न्यारी है और शीता योनि भिन्न है तो एकाश्रय नहीं बनता है। हां, सिचत्तस्वरूप ही जो अचित्ता यों सामानाधिकरण्य होता तो पुंबद्भाव हो सकता था। आचार्य कहते हैं कि वह उनका कहना अयुक्त है। क्योंकि • "योनिर्द्रयों" यों अमरकोषके वाक्य अनुसार वह योनि शह पुष्ठिङ्ग और बीलिंग दोनों लिंगोंमें प्रवर्तता है। यहां पुष्ठिङ्गके योनि शहका आश्रय किया गया है। अतः सिचित्तः, शीतः, संवतः, यों पुष्ठिङ्ग शहीका समास कर " सिचत्तशीतसंवताः " शह बना लेना चाहिये। अथवा बीलिङ् भी योनि शहका प्रयोग करनेपर उत्तर पदके अनुसार हस्व होनेका विधान है। मध्यमा च विलंबिता च " मध्यमविलंबिते " यहां द्वतायान्तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरपसंख्यानं इस वार्त्तिक अनुसार उत्तर-पदके परे रहते उस हस्व हो जानेका विधान देखा जाता है।

योनिजन्मनोर्गविश्वेष इति चेन्नः, आधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः । सचित्तग्रहणमादौ तस्य । चेतनात्मकत्मात्तदनंतरं श्रीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् । अंते संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् तत्राचित्तयोनयो देवनारकाः, गर्भजा मिश्रयोनयः, शेषास्त्रिविकल्पाः ।

कोई आक्षेप करता है कि योन और जन्ममें कोई अन्तर नहीं है। जो ही जन्म है वही योनि है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना। क्योंकि आधार और आधेयके भेदसे योनि और जन्ममें विशेषता बन रही है। योनि आधार है, जन्म आधेय है। सिचित्त आदि योनियोंमें जीव सम्पूर्छन आदि जन्मों करके पुद्रलोंका प्रहण करता है। यहां सूत्रके आदिमें प्रधान चेतन आत्मक होनेसे सिचत्तका प्रहण किया है। उसके पश्चात् उस सिचत्त अर्थकी वृद्धिका कारण होनेसे शितका कथन किया गया है। अन्तमें गुप्तरूप होनेसे संवतका प्रहण है। उन नौ योनियोंमें देव और नारकी जीवोंकी योनि अचित्त है। क्योंकि उनके उपपाद स्थानोंमें किसी भी जीवका सम्बन्ध नहीं है। गर्भव जीवोंकी योनि सिचित्त, अचित्त मिली हुयी है। अर्थात्—माताके उदरमें शुक्त, शोणित, तो अचित्त हैं। किन्दु गर्भाशयका स्थान जीवित हो रहा सिचत है। मरे हुये गर्भाशयमें यदि शुक्त, शोणित, रख दिये जाय

तो बालक या अण्ड आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा शेष द्वीन्द्रिय या वृक्ष, आदिक जीव तीनों भेदबाले हैं। अर्थात्—किसीकी योनि सचित्त है, अन्य किसीकी योनि अचित्त है तथा अन्योंकी सचित्त, अचित्त है।

श्रीतोष्णयोनयो देवनारकाः, उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः, इतरे त्रिप्रकाराः, देवनारकैकेंद्विपाः संवृत्तयोनयः, विकलेंद्रिया विवृतयोनयः, मिश्रयोनयो गर्भजाः तद्भेदाश्रश्रद्धसम्बत्ताः
प्रत्यक्षज्ञानदृष्टाः, इतरेषामागमगम्याश्रतुरशीतिशतसद्धसंख्याः। तदुक्तं—" णिश्चिदरधादुसत्तयतस्दसवियलिदिए दो दो अ । सुर्णिरयतिरियचदुरो चोद्दस मणुए सदसद्दस्सा "।

देव और नारिक्योंके योनि स्थान कुछ शीत प्रदेशवाले हैं और कुछ उष्ण प्रदेशवाले हैं। जैसे कि चौचे नरकतक उन स्थानोंमें उष्णता अधिक है और छठे, सातमें, नरकमें शीत वेदनावाछे ही प्रदेश हैं। पांचमें नरकमें ऊपर दो लाख बिले उष्ण स्थान हैं। और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत अत्यधिक है. देवोंके योनिस्थानोंमें भी सुखकी उत्पादक कहीं शीत व्यवस्था है, और कचित मनोहर उष्णता है। *तेजस्कायिक जीवोंके योनिस्थान उष्ण हैं, दियासलाईके रगडते ही ली उठनेपर झट उस उष्णस्थान में तेजस्कायिक जीव जन्म छे छेते हैं। इसी प्रकार लक्षडीके जलनेपर या तारमें विजलीका प्रवाह बहकर चमक जानेपर उस उष्णस्थलमें अग्निकायके जीव उत्पन्न हो जाते हैं। अन्य शेष जीव कोई तो उच्चा प्रदेशोंमें उपजते हैं । इनसे मिन्न कोई शीत या शीतोच्या स्थालोंमें जन्म धारते हैं । तथा देव. नारकी और एकेन्द्रिय इन जीवोंकी योनियां संवृत हैं। जन्मते समय इनके उत्पादस्थान ग्राप्त रहते हैं। हां, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनके योनिस्थल स्फूट हैं। गोबर, मल, द्विदल, सड़ा-कुल, इनमें त्रसजीव उपज रहे शीघ प्रतीत हो जाते हैं। हां, गर्भज जीवोंकी उत्पादस्थान संवृत्त. विवृत. मिले ह्रये हैं । समुच्चय अर्थको कहनेवाले च शब्द करके उन नी योनियोंके भेद प्रभेद संग्रहीत कर लिये जाते हैं। उन चौरासी लाख संख्यावाली योनियोंको विशदरूपसे केवलज्ञानियोंने प्रत्यक्षज्ञान द्वारा देख लिया है। हां, अन्य संज्ञी जीवोंमेसे किसी किसीको योनियोंक भेद, प्रभेदका बान आगमप्रमाणद्वारा परोक्षरूपसे हो जाता है। उन्हीं प्रभेदों को सिद्धान्तप्रनथों में यो कहा है कि बनस्पति कायके भेद हो रहे नित्यनिगोद और इतर गति निगोदवाले जीवोंकी सात सात लाख योनियां ┇. प्रथिबीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, जीवींकी भी सात सात लाख योनियां हैं। बनस्पतिकायमें प्रत्येक जीवोंकी दस छाख योनियां हैं, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवोंकी दो छाख योनियां हैं। देव और नारिकयों तथा पंचेंद्रिय तिंयेचोंकी न्यारी न्यारी चार चार छाख योनियां हैं। मनुष्योंकी चीदह लाख योनियां हैं।

अयैतेषां योनिभेदानां सन्द्रावे युक्तिग्रुपदर्शयति ।

इसके अनन्तर योनियोंके इन भेदोंका सद्भाव साधनेमें श्रीविद्यानन्द आचार्य युक्तिको अभिम-वार्तिकोद्यारा दिखलाते हैं।

तस्यापि योनयः संति सिचताद्या यथोदिताः । स्वावारेण विना जन्म क्रियाया जात्वनीक्षणात् ॥ १ ॥ तद्वैचित्र्यं पुनः कर्मवैचित्र्याद्विनियम्यते । कार्यवैत्रित्र्यसिद्धेस्तु कर्मवैचित्र्यनिर्णयः ॥ २ ॥

उस जन्मके भी इस सूत्रमें कह चुके अनुसार सिचत्त आदिक योनियां हैं (प्रतिक्का) अपने (जन्मको) ढकनेवाले (योनिस्थान) के बिना जन्म लेना रूप कियाका कदाचित भी देखना नहीं होता है (हेतु) उन योनियों और जन्मकी विचित्रता तो फिर अन्तरंग कारण हो रहे कमींकी विचित्रतासे हो जाती है। यों विशेषरूपसे नियम किया जा रहा है और सुख, दु:ख आदिक कार्योंके विचित्रपनकी सिद्धिसे तो कर्मीकी विचित्रताका निर्णय हो रहा है। भावार्थ—परिदृष्ट कारणोंका व्यभिचार हो जानेपर अतींद्रिय कारणोंकी सिद्धि हो जाती है। जब कि सुख, दु:ख आदि अनेक प्रकारके विलक्षण पदार्थ दिख रहे हैं, अतः योनि, कुल, कर्म, आदिकी युक्तियोंसे सिद्ध कर ली जाती है।

न हि स्वभावत एव प्राणिनां सुखदुःखानुभवादिकार्यवैचित्र्यं नियमाभावपसंगात् । काळादेवेति चायुक्तं, एकस्मिन्नपि काळे तद्दैचित्र्यानुभवात् । भूतवैचित्र्यात्सुखादिवैचित्र्यमिति चेत् न, सुखादेः भूतकार्यत्वनिषेधात् । ततः कर्मवैचित्र्यमेव सुखादिकार्यवैचित्र्यं गमयति, तद्यतिरेकेण दृष्टकारणसाकल्येपि कदाचिदनुत्पत्तेः, तत्र कर्मवैचित्र्यमस्य जन्मनिमित्तमिति पर्याप्तं प्रपंचकेन ।

अनेक प्राणियोंका सुख, दु:खंके अनुभव या धन, पुत्र, आदिकी प्राप्ति अथवा शोक, हास्य, आदिकी दशामें डुवे रहना, उत्कृष्ट विद्वान् या मूर्ल वने रहना इत्यादिक कार्योक्षी देखी जा रहीं विचित्रतायें स्वभाव ही से तो नहीं हो जाती हैं। दूसरे निमित्त कारणोंके विना ही सुख: दु:ख, आदिकी उत्पत्ति माननेपर तो नियमके अभावका प्रसंग होता है। चाहे कोई भी जीव सुलभतासे विद्वान्, रोगी, मूर्ख, धनवान्, सुकुलवान्, दरिद, आदि वन बैठेगा। कोई देश, काल, व्यक्ति, आदिका नियम नहीं बन सकेगा। किन्तु उक्त कार्योंके होनेमें नियम देखा जा रहा है। अतः ये कार्य स्वभावसे ही न होकर किन्हीं अतीन्दिय निमित्तोंसे होरहे मानने पडते हैं। कालसे ही सुखदु:ख, आदि कार्योंकी विचित्रता बन बैठती है यह कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि एक भी किसी कालमें उन कार्योंकी विचित्रताका अनुभव हो रहा है। अर्थात्—उसी समयमें किसीको लाभ होता है अन्यको व्यापारमें हानि हो रही है। कोई बीमार हो रहा है, कोई उसी समय नीरोग, बलिष्ठ, खडा हुआ है, एक ऋतुमें कोई बक्ष फलता फूलता है, दूसरा बक्ष सूख जाता है, यहांतक कि अक्तीआ, खरबूजाकी बेल, रास्ना, वायसुर्रह, आदिक

कार पाया वर्षा कारण में सूख जाती हैं, जब कि अन्य असंस्य वनस्पतियां हरीं भरीं रहतीं हैं। अतः काल साधारण कारण में ही होय किन्तु असाधारण कारण काल नहीं है। यदि कोई यों कहे कि पृथिवी, जल, तेज, इन भूतोंकी विचित्रतासे सुन्त आदि कार्योंकी विचित्रता वन जाती है, जैसा जहां भूतद्रव्य होगा वैसा यहां सुख दु:ख, ज्ञान, आदि हो जावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि भूतके कार्य सुख, दु:ख, आदि है। इसका पूर्वप्रकरणोंमें निषेध किया जा चुका है। अतः अन्वय, व्याभिचार, व्याभिचार, दोष आजानेसे काल, भूत, दुग्ध, व्यापार, गुरु, स्थान, औषि, आदि पदार्थ तो सुखादि कार्योंके विचित्रपनका अव्धर्थ संपादन नहीं कर पाते है। तिस कारण परिशेष न्यायसे कर्मोंकी विचित्रता ही को सुखादि कार्योंका विचित्रपना ज्ञापित कराता है। उस कर्मकी विचित्रताके विना दृष्टकारणोंकी पूर्णता होनेपर भी कभी, कहीं, उन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं देखी जा रही है। वही कर्मोंकी विचित्रता यहां प्रकरणमें इस जन्म या योनियोका निमित्त कारण समझी जाती है पूर्व प्रकरणोंमें पौद्रलिक कर्मोंकी विलक्षण शक्तियोंका हम निरूपण कर चुके है। यहा अधिक विस्तार-लिखनेकी अपेक्षा इतनेसे ही पूरा पड़ो। अधिक प्रकरण बढ़ानेसे कुळ विशेष प्रयोजन नहीं साधता है।

केषां पुनर्गर्भजन्मेत्याह ।

संसारवर्ती कोन कोन प्राणियोंके गर्भ नामका जन्म होता है ? अथवा क्या सम्पूर्ण प्राणियोंके नियम विना चाहे कोई भी जन्म हो जाता है ? बताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको उतारते है ।

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

जरायुमें उत्पन्न हुये मनुष्य, बळरा, पडरा, आदि प्राणियोक्षे और अण्डेसे उत्पन्न हुये तोता, मैना, कबूतर, आदि जीवोंके तथा उदरसे निकलते ही उळलने दौडनेवाले हिरण आदि पोत तिर्यचोंके गर्भ नामक जन्म होता है।

जालवत्त्राणिपरिवरणं जरायुः जरायौ जाता जरायुजाः, शुक्तशोणितपरिवरणग्रुपाच-काठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं, अंडे जाता अंडजाः, पूर्णावयवः परिस्पंदादिसामध्यों-पलक्षितः पोतः । पातज इत्ययुक्तमर्थभेदाभावात् । आत्मा पोतज इति चेन्न, तस्यापि पोतप-रिमाणादात्मनः पोतत्वात् । जरायुजाश्च अंडजाश्च पोताश्च जरायुजांडजपोता इति सिद्धं ।

प्राणियोंके ऊपर जालके समान चारों ओरसे ढकनेवाला झिल्ली स्वयूप पदार्थ जरायु कहा जाता है, जो कि फैले हुये मांस और श्रेणितका पत्तर है। जरायुमें जो उपजते हैं वे जीव जरायुज हैं। पुर्लिंग तिर्थचका वीर्थ और स्त्रीलिंग तिर्थचका रक्त अपनी अवस्थाको बदलकर काठिन्यको प्रहण करता हुआ नखके बकला सरीखा कुछ लम्बाई लेता हुआ गोल पदार्थ अण्ड कहा जाता है।

अर्थात् - ग्रुक्त और रक्तसे जीवका आद्य नोक्षम शरीर बनता है। उनके कुछ बचे हुये भागसे लीची फलके छिलका समान अण्डेका उपिरम कठार भाग बन जाता है। पश्चात् बह अन्य आहार्य पदार्थीसे भी बनकर बढ़ता रहता है। उस अण्डेमें उत्पन्न हुये जीव अण्डज कहे जाते है। िकसी ढक्कनके बिना ही पिरपूर्ण अवयववाला होता हुआ योनिसे निकलते ही चलना, फिरना, आदि कियाओंके करनेकी सामर्थ्यसे युक्त हो रहा शरीरी पोत कहा जाता है। कोई कोई जरायुज और अण्डजके समान पोतज शद्ध झट मुंहसे निकाल बैठते है, उनका कथन अयुक्त है। क्योंकि पोत और पोतजमें कोई अर्थका भेद नहीं है। यदि तुम यों कहो कि पोत नो शरीर है और उस पोतमें उत्पन्न हुआ आत्मा पोतज है, यों अर्थका भेद बन गया। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पोतजन्मधारी शरीरके अनुसार उस आत्माका भी पोत परिणतिसे परिणाम हो जाता है। अतः आत्मा भी पोत समझा जाता है, पोतज नहीं। जरायुज और अण्डज तथा पोत इस प्रकार इतरेतरयोग नामक इन्द्र समास करनेपर "जरायुजाण्डजपोताः" यह सूत्र उक्तपद सिद्ध हो जाता है।

द्वंद्वे जरायुजग्रहणमादावभ्यहिंतत्वात् कियारंभशक्तियोगात् केषांचिन्महाप्रभावत्वान्मार्ग-फल्लाभिसंबंधाच । तदनंतरमंडजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यहिंतत्वात् । एतेषां गर्भ एव जन्मेति सुत्रार्थः ।

जरायुज, अण्डज, पोत, इन तीनों पदोंको चाहे कैसे भी आगे पीछे बोलकर द्वन्द्व समास करने पर पूज्य होनेसे जरायुज शद्धका प्रहण आदिमें प्रयुक्त हो जाता है। जरायुज जीवोंके पूज्य होनेमें ये तीन कारण है कि बढिया कियाओंके आरम्भ करनेकी शक्तिका योग जरायुज जीवोंमें है। अर्थात् उत्तम भाषा बोलना, अध्ययन करना, बड़े बड़े आविष्कार करना, अनेक ऋद्धियें प्राप्त करना, ये अद्भुत कियाये जरायुजोंमें है तथा जरायुजोंमें सभी तो नहीं किन्तु कोई कोई चक्रवर्ती, बासुदेव, रुद्र तपस्त्री आदि जरायुज जीव महान् प्रभाववाले होते हैं। तीसरे सम्यदर्शन आदिक मोक्ष मार्गके फल हो रहे मोक्षसुखका परिपूर्ण सम्बन्ध जरायुजोंके ही पाया जाता है। अन्य जीव मोक्षके साक्षात् अधिकारी नहीं है। उस जरायुजके अव्यवहित पीछे अण्डज जीवोंका प्रहण है। क्योंकि पोत जीवोंसे अण्डज जीव अभ्यहित है। अण्डजोमें तोता, मैना, आदिक तो अक्षरोंका उच्चारणतक करते हैं। कबूतर, हंस, आदिक जीव तो कदाचित् दूतका कार्य भी कर देते हैं। कतिपय पक्षी तो शत्रुके सद्भाव या ठीक प्रातःकाल समयको बता देना, आंधीकी सूचना देना, आदि कर्म करनेमें कुशल समझे जाते हैं। इन तीन प्रकारके जीवोंके गर्भ नामका ही जन्म होता है, यह इस सूत्रका अर्थ है।

उद्देशे च निर्देशो युक्त इति चेन्न, गौरवपसंगात् । शेषाणां संमूर्छनिमति लघुनोपायेन गर्भोपपादानंतरं वचनोपपत्तेः ।

कोई शंका करता है कि उदेशके अनुसार ही निर्देश करना उचित था। जब कि जन्मोंमें ही सम्मूर्छन जन्म पहिले कहा गया है तो सन्मूर्छन जन्मवाले जीवोंका सूत्रकारको प्रथम निरूपण करना

चाहिये। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेसे बढ़े भारी प्रन्थगौरव दोष हो जानेका प्रसंग होगा। गर्भजन्म और उपपाद जन्मके अनन्तर रोषजीवोंके सन्मूर्छन जन्म होता है, इस प्रकार छघु उपाय करके निर्देश करना अच्छा बन जाता है। अर्थात्—यदि आदिमें सन्मूर्छन जन्मवाले जीवोंका कथन किया जाता तो एकेंद्रिय, दीन्द्रिय, प्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा कितने ही बहु भाग पंचेन्द्रिय तिर्थेच और छब्ध्यपर्याप्त मनुष्यके सन्मूर्छन जन्म होता है। इतना छम्बा सूत्र कहनेसे शासका व्यर्थ बोझ बढ़ जाता। किन्तु दो प्रकारके जीवोका निरूपण कर, पुनः शेषोंके सन्मूर्छन जन्म होता है।

कुतः पुनर्जरायुजादीनां गर्भ एव युक्त इत्याह ।

जरायुज आदिक जीवोंके गर्भ ही होता है यो निधय दलमें एवकार लगाना, फिर किस प्रमा-णसे युक्त सिद्ध कर दिया गया है ² बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि—

युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भोवधारणात् । देवनारकरोषाणां गर्भाभावविभावनात् ॥ १ ॥

जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्भ जन्म मानना युक्त है। क्योंकि यों उद्देश्य दलमें एवकार द्वार् अवधारण कर देनेसे देव और नारको तथा शेष एकेन्द्रियादि जीवोंके गर्भके अभावका विचार कर लिया जाता है। तथा विधेय दलमें एवकार लगानेसे जरायुज आदि जीवोंके गर्भसे अतिरिक्त उपपाद और सम्मूर्छन जन्मेंका निपेध हो जाता है। अतः अन्ययोगव्यवच्छेदक और अयोग व्यवच्छेदक दो एवकारों द्वारा दोनों ओर ताले लगाकर अवधारण कर दिया है अथवा पहिला अवधारण ही लगाना ठीक है। "देवनारकाणामुपपादः" और "शेषाणां संमूर्छनं" इन सूत्रोंके उद्देश्य दलमें एवकार लगाना आवश्यक ही होगा। उसीसे ही यहाके "गर्भ एव" इस अवधारण द्वारा होने योग्य कार्यको साध लिया जावेगा।

यदि हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात्तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु सप्रसज्येत । यदा तु जरायुजादीनामंवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः ।

कारण कि जरायुज आदिक जीवोके गर्भ ही होता है, यदि इसी प्रकार विघेय दलके साथ एवकार लगाकर अवधारण किया जाता तब तो जरायुज आदिक जीव अकेले गर्भ जन्मसे ही नियत होते, उनके सन्मूर्लन जन्म और उपपाद जन्मकी व्यावात्ति हो जाती, किन्तु उन ही जीवोंमें गर्भ तो नियत न होता। अतः देव और नारकी तथा रेाष एकइन्द्रियादि जीवोंके भी वह गर्भजन्म प्रसंग प्राप्त हो जाता जोकि इह नहीं है। हा, जब जरायुजादिकोंके ही गर्भ होता है यों पूर्व दलमें एव लगाकर अवधारण

किया जाता तब तो उन देवनारक और रोष जीवोंमें गर्भका अभाव निर्णीत किया जा सकता है। इस कारण जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्भ होता है, यह अवधारण कर कथन करना युक्तिपूर्ण है।

केवलग्रुपपादेपि जरायुजादीनां प्रसक्ती ताश्रिवारणार्थमिदमाह ।

अथवा " जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः" इस सूत्रमे पूर्व अवधारण कर जरायुज, अण्डज, पोत, जीबोंके ही गर्भ होता है, यें। अर्थ करिवया जाय, तब तो केवल जरायुज आदिकोंके ही गर्भ हुआ, देव नारिकयोंके गर्भके प्रसंगका निवारण होगया, किन्तु जरायुज आदि जीबोंके दूसरे उपपादमें भी जन्म छेनेका प्रसंग आता है। क्योंकि विधेय दलमे अवधारण तो है नहीं। अतः उस प्रसंगका निवारण करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको कहते है।

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

देव और नारकी जीवोंके उपपाद नामका जन्म होता है।

स्याद्देवनारकाणामुपपादो नियतस्तथा । तस्याभावात्ततोन्येषां तेषां जन्मांतरच्युतेः ॥ १ ॥

देव और नारक जीवोंके तिस प्रकार उपपाद जन्म ही नियत हो जायगा। क्योंकि उन देव नार-कियोंसे भिन्न हो रहे दूसरे जीवोंके उस उपपाद जन्मका अभाव है। तिस कारण उन देव नारिकयोंके उपपादसे अतिरिक्त अन्य गर्भ, सन्मूर्छन जन्मोंकी निवृत्ति सिद्ध हो जाती है।

देवनारकाणामेवोपपाद इति हि नियमे देवनारकंषु नियत उपपादः देवनारकास्तूपपादे न नियता इति गर्भसंमूर्छनयोरिप प्रसक्ताः पूर्वीत्तरसूत्रावधारणात् तत्र निरवधारणोसौ । उपपाद एव देवनारका अवतिष्ठंतं न गर्भे संमूर्छने वा प्रसज्यते, ततस्तेषां जन्मांतरच्युतिसिद्धे-रुपषाद एव ।

चूंकि देव और नारिकयोंके ही उपपाद जन्म होता है, ऐसा नियम कर देनेपर देव और नारकियोंमें ही उपपाद जन्म नियत हो जाता है। ऐसा होनेपर जरायुज आदिक और शेष जीवोंके उपपाद
जन्मकी व्यावृत्ति हो जाती है। किन्तु देव और नारिक जीव तो उपपाद जन्ममें नियत नहीं हुये। इस
कारण गर्भ और सम्मूर्छम जन्मोंमें भी देव और नारिकयोंके उपज जानेका प्रसंग आ जाता है। हां,
वहां पूर्वसूत्र " जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः " और उत्तर सूत्र " शेषाणां संमूर्छनं " इनमें उद्देश्यदलमें
अवधारण लगा देनेसे वह उपपाद जन्म अवधारणरहित होता हुआ ही प्रसंगको टाल देता है।
आगे पीछेके सूत्रोंमें अवधारण लगा देनेसे देव और नारिकी उपपाद जन्ममें ही उपस्थित रहते हैं।

गर्म अथवा संमूर्छनमें जन्म लेनेंक लिये प्रसंग प्राप्त नहीं हो पाते है। तिस कारण उन देवनारिकयोंके उपपादके सिवाय अन्य जन्मोंकी च्युतिकी सिद्धि हो जानेसे उपपाद जन्म ही नियत हो जाता है। इस सूत्रके विधेय दलमें एवकार लगानेकी आवश्यकता नहीं है, जैने कि पूर्व सूत्रके विधेय दलमें एवकार लगानेकी आवश्यकता नहीं पड़ी थी।

नन्वेत्रं जरायुजादीनां देवनारकाणां च संपूर्छनिपि पसिक्तरित्याख्यातं प्रतिघ्नशाह ।

यहां शंका है कि जब गर्भ एव, उपपाद एव, इस प्रकार दोनों सूत्रोंके विधय दलमे एवकार नहीं लगाया गया है तब तो जरायुज, अण्डज, आदि जीवोंका और देव नारिकयोंका संमूर्छन जन्म होनेमे भी प्रसंग आता है। भले ही उक्त दोनों सूत्रोंके उदेश्य दलमें एवकार लगाकर जरायुजादिकोंके उपपाद जन्मका निराकरण कर दिया जाय और देवनारिकयोंके गर्भजन्मका निवारण कर दिया जाय। किन्तु इन जीवोंके संम्मूर्छन जन्मका निवारण उन एवकारोंसे हो नहीं सकता है। इस प्रकारके भाषितका साटोप खण्डन करते हुये थ्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को स्पष्ट कह रहे है।

शेषाणां संमूर्छनं ॥ ३५ ॥

गर्भ जन्मवाले जीव और उपपाद जन्म धारनेवाल जीवोक्षे शेष बच रहे एकेद्रिय, द्वान्द्रिय आदि जीवोंके सम्मूर्छन जन्म होता है।

शेषाणामेव संमूर्छनिमत्यवधारणीयं। के पुनः शेषाः कुतो वा तेषामेव संमूर्छनिमत्याह।

पूर्वोक्त दो सूत्रोके समान इस मूत्रके उद्देश्य दलमें भी एवकार लगाकर शेप जीवोके ही सम्मू-र्छन जन्म होता है यों अवधारण कर लेना चाहिये। कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराज बताओ, वे शेप जीव फिर कौन हैं ? और क्या कारण है कि उनके ही सम्मूर्छन जन्म माना गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अश्रिम वार्त्तिकको कहते है।

निर्दिष्टेभ्यस्तु शेषाणां युक्तं संमूर्छनं सदा । गर्भोपपादयोस्तत्र प्रतीत्यनुपपत्तितः ॥ १ ॥

निर्दिष्ट कर दिये गये जरायुज आदिकोंने और देवनारकोंने अतिरिक्त शेप वच रहे एकेन्द्रि आदि जीवोंके सर्वदा नम्पूर्छन जन्म होना ही युक्तिपूर्ण है । क्योंकि उन एकेन्द्रियादि जीवोंमे गर्भ जन्म. और उपपाद जन्मकी प्रतीति हो जाना सिद्ध नहीं है ।

उक्तेभ्यो जरायुजादिभ्यो देवनारकेभ्यश्च अन्ये शेषास्तेषामेव संमूर्छनं युक्तं सदा गर्भो-पपाद्यास्तत्र मतीत्यनुपपत्तः । तर्हि संस्वेदजादीनां जन्ममकारोन्यः मूत्रयितव्य इत्याशंकाम-पसारयकाद । कहे जा चुके जरायुज आदिक और देवनारक जीवोंसे अन्य बच रहे जीव यहां शेष जीव माने जाते हैं उन शेष जीवोंके ही सम्पूर्छन जन्म मानना समुचित है। क्योंकि उनमें गर्भ और उपपाद जन्मकी प्रतीति होना सर्वदा नहीं बनता है। यहां कोई पुनः शंका उठाता है कि तब तो जीवोंको अच्छा अपजानेवाले पसीना, कीच, आदिसे उपजते हुये स्वेदज, लट, जुंआं, डांस, आदि और भूमिको फोडकर निकले हुये उद्धिज्ज, बृक्ष गुल्म आदि जीवोंका भिन्न चौथा जन्मका प्रकार न्यारे सूत्र द्वारा उमास्वामी महाराज करके कहना चाहिये ! इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण करते हुये श्री विधाननद स्वामी अगली वार्तिकको कहते हैं।

तथा संस्वेदजादीनामपि संमूर्छनं मतं । जन्मेति नापरो जन्मप्रकारो सूत्रितोस्ति नः ॥ २ ॥

तिन एकेदियादि रोप जीत्रोके समान उस ही प्रकारसे स्वेदज आदिक जीव्रोंके भी सम्मूर्छन जन्म माना गया है। इस क्रारण जन्मके तीन प्रकारोसे अन्य कोई चौथा, पांचवा, प्रकार हमारे जैन सिद्धान्तमें नहीं है। अतः सूत्रद्वारा हमने सूचित नहीं किया है।

इत्येवं पंचिभः सूत्रैः सूत्रितं जन्मजन्मिनां । भेदप्रभेदतिश्चित्यं युक्त्यागमसमाश्रयं ॥ ३॥

यहातक इस प्रकारके " संमुळेन गर्मोपपादा जन्म, सिचचशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चेकशस्त-चोनयः, जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः, देवनारकाणामुपपादः, शेषाणां संमूर्छनं " इन पांच सूत्रों करके जन्मवाले संसारी प्राणियोंका सूचन किया जा चुका है। युक्तिप्रमाण और आगम प्रमाणका अच्छा आश्रय रम्वते हुये विद्वानो करके मेद, प्रमेद, रूपसे उस जन्मका अन्य भी प्रामर्श कर लेना चाहिये। भूत्रमे तो संक्षेपसे ही प्रमेय कहा जा सकृता है।

अथ जीवस्य कति शरीराणीत्याह ।

हे करुणानिधान! अत्र यह बताओ कि संसारी जीवके कितने शरीर होते हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्पष्टरूपसे कह रहे हैं।

औदारिकवैकियिकाहारकतेजसकार्मणानि श्ररीराणि।३६।

ओदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्मण ये पांच शरीर है।

शरीरनामकर्मोदये सति शीर्येत इति शरीराणि । शरणिकयात्र व्युत्पत्तिनिमित्तं मन्नति निमित्तं तु अरीरनामकर्मीदय एवोदितः शरीत्वपरिणामः न पुनरर्थोतरभूतशरी-इत्वसामान्यं तस्य विचार्यमाणस्यायोगात् । नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियोंमें गिनाये गये शरीर नामक कर्मका उदय होनेपर जो किदने, मिदनेवाले पिण्ड वन जाते हैं, इस कारण ये पांच शरीर कहे जाते हैं। यहां शरीर शहमें सरण किया तो व्याकरण द्वारा शहकी साधुता प्रतिपादक व्युत्पत्ति करनेका ही निमित्त है। रूढी किया व्युत्पत्यर्थैंव, किन्तु प्रवृत्तिका निमित्तकारण तो शरीर नामक अतीन्द्रिय हो रहे नामकर्मका उदय ही कहा गया है, जो कि जैनसिद्धान्त अनुसार शरीरपना स्वरूप परिणाम है। जैनसिद्धान्तमें पौद्रिलिक शरीरसे सर्वथा मिन्न हो रहा नित्य एक और अनेकमें समवेत ऐसा शरीरत्व नामका सामान्य (जाति) नहीं माना गया है। क्योंकि उस वैशेषिकोंके यहां माने गये सामान्यका यदि विचार चलाया जाय तो उसकी सिद्धि होनेका योग नहीं बैठता है। मानार्थ— श्रृ हिंसायाम् धातुसे शरीर शह बनता है इसका अर्थ छिदना, भिदना, पिटना, नष्ट हो जाना है। यदि शहकी निरुक्तिको ही लक्षण मान लिया जाय तो घट, पटमें अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः रूढि शहोंमें धार्व्यरूप किया केवल ब्युत्पत्तिके लिये ही मानी गयी है। वस्तुतः लक्षणका बीज तो शरीर नाम कर्मका उदय ही है। वैशेषिकोंने शरीरत्वको एक विशेष जाति माना है, जो कि व्यापक, नित्य, एक और अनेकोंमें समवाय सम्बन्ध द्वारा वर्तनी है। पश्चात् संकरदोष आजानेके भयसे " चष्टाश्रयत्वं शरीरत्वं" चष्टाश्रयपनको शरीरत्व मानकर सखण्डोपाधि निर्णात किया है। किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार सदश परिणाम ही सामान्य है, जो कि शरीरसे अभिन्न है। सदश परिणामास्तर्यक् खण्डमुण्डादिषु गात्ववत् (परीक्षामुख)।

केन पुनः कारणेन जन्मांतरं शरीराण्याहुरित्युच्यते ।

किसीका प्रश्न है कि महाराजजी! यह बताओं कि किस कारणसे अन्य जन्म छेनेको प्राणियाँके शरीर कह देते हैं ? ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा यों समाधान कहा जाता है।

स्वयोनो जन्म जीवस्य शरीरोत्पत्तिरिष्यते । तेनात्रौदारिकादीनि शरीराणि प्रचक्षते ॥ १ ॥

अपने अपने योग्य योनिमें जीवका जन्म लेना ही यहा शरीरकी उत्पत्ति मानी जाती है। कारण औदारिक, वैक्रियिक, आदिक शरीर है यों आचार्य महाराज बढिया ढंगसे स्पष्ट कह देते हैं।

औदारिकादिशरीरनामकर्मविशेषोदयापादितानि पंचेत्रौदारिकादीनि शरीराणि जीवस्य यदुत्पत्तिः स्वयोनौ जन्मोक्तं, न हि गतिनामोदयमात्रं जन्म, अनुत्यक्षशरीरस्यापि तत्मसंगात् ।

नामकर्मकी उत्तर प्रकृति शरीरसंज्ञक है। उस शरीर प्रकृतिके उत्तर भेद १ औदारिक शरीर नामकर्म २ वैक्रियिक शरीर नामकर्म ३ आहारक शरीर नामकर्म ४ तैजस नामकर्म और ५ कार्मण नामकर्म, ये पांच हैं। आहार वर्गणाको उपादान कारण मानकर और औदारिक नामकर्म, वैक्रियिक नामकर्म, आहारक नामकर्म, इन पौद्रलिक अतीन्द्रिय प्रकृतियोंको अंतरंग निमित्त पाकर व्यक्त, अव्यक्त,

पुरुषार्थ द्वारा जीवके औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, ये तीन शरीर बन जाते हैं। तैजस नामकर्मका अन्तरंग निमित्त पाकर तैजसवर्गणा जीवके अव्यक्त पुरुषार्थ द्वारा तैजस शरीररूप परिणत हो जाता है। तथा आत्मामें बंधे हुये पूर्वकाल संचित कार्मण शरीर नामक नामकर्मका उदय होनेपर जीवके अव्यक्त पुरुषार्थसे योगद्वारा गृहीत हुई कार्मण वर्गणायें ही कार्मण शरीर बन बैठती हैं, यों औदारिक आदि शरीर नामकर्मिविशेषोंके उदय होनेपर आत्मलाम कर चुके, औदारिक आदि पांच ही शरीर जीवके हैं। जिनकी कि उत्पत्ति हो जाना ही जीवका स्वकीय योनिमें जन्म कहा जा चुका है। केवल गतिनामकर्मका उदय ही जन्म नहीं है, अन्यथा यानी गतिनामकर्मके उदयको यदि जन्म मान लिया जायगा तो विम्नह गतिमें जिस जीवके नोकर्म शरीर उत्पन्न नहीं हुआ है, उसके भी जन्म होनेका मसंग हो जायगा। यद्यपि पूर्वशरीरको छोडते ही झट परभवकी आयुका उदय हो जाता है। विम्नहगतिमें जो एक दो या तीन समय लगते हैं, वे परभव सम्बन्धी गिनतीके आयुष्य निषेकोंमें परिगणित है। फिर भी स्वयोनियोंमें नोकर्मशरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ हो जानेपर जीवका जन्म माना गया है, गतिका उदय तो जन्म हो चुक्तनेपर मध्य अवस्थामे भी है। किन्तु जन्म और मरणके बीचमें तो पुनः जन्म नहीं माने जाते हैं।

तत्रोदारं स्थूलं प्रयोजनमस्येत्यौदारिकं उदारे भवमिति वा, विकिया प्रयोजनमस्येति वैकियिकमाह्रियते तदित्याहारकं, तेजोनिमित्तत्वात्तेजसं, कर्मणामिदं कार्मणं तत्समृहो वा एतेषां द्वंद्वे, पूर्वमौदारिकस्य प्रहणमतिस्थूळत्वात् उत्तरेषां क्रमवचनं स्रक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थे ।

उन रारीरोंमें पिहले औदारिक रारीरिकी न्युत्पत्ति यों करनी चाहिये कि उदार रान्दका अर्थ स्थूल है, जिस रारीरिका प्रयोजन स्थूलपन है इस कारण वह औदारिक है अथवा उदार यानी स्थूल में जो उपजनेवाला है इस कारण वह औदारिक रारीर है। उदार रान्दसे प्रयोजन अर्थ अथवा मय अर्थमें उन प्रत्यय कर औदारिक रान्द बना लेना चाहिये। छोटा बढ़ा, लम्बा, नाना प्रकार रारीर कर लेना, विक्रिया है। जिस रारीरिका प्रयोजन विक्रिया करना है इस कारण वह वैक्रियिक है। विक्रिया रान्दसे प्रयोजन अर्थमें उन प्रत्यय कर वैक्रियिक रान्दको साध लेना चाहिये। छटे गुणस्थान वर्त्ती मुनि करके तत्वमें सन्देह होनेपर निर्णय करनेके लिये जो रारीर आहार प्राप्त किया जाता है, इस कारण वह आहारिक रारीर है। आङ्पूर्वक ह धातुसे कर्ममें खुल प्रत्यय करनेपर आहारिक रान्द बन जाता है। रारीरमें तेज उपजानेका निमित्त होनेसे तैजस रारीर है, तथा कर्मोका बनाया हुआ यह ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म समुदायक्ष्प रारीर अथवा उन कर्मोका समृह कार्मण है। तेजस रान्द और कर्मन् रान्दसे अण् प्रत्ययक्ष तैजस और कार्मण रान्दोंकी सिद्धि कर लेना चाहिये। इन औदारिक, वैक्रियिक, आहार क्ष, तैजस, कार्मण, परोंका इतरेतरयोगद्वन्दसमास करनेपर सबके आदिमें औदारिकपदका प्रहण हो जाता है। क्योंकि यह औदारिक रारीर अधिक स्थूल है। घोडा, बैल, पर्या, क्षी, कीट, परंग, मनुष्य आदिके स्थूल रारीरोंका बहिरंग इन्दियों द्वारा प्रहण हो जाता है। क्योंकि यह औदारिक रारीर अधिक स्थूल हो। जाता

है। हां, उत्तरवर्त्ता वैक्रियिक आदिकोंका क्रमशः पाठ पढना तो क्रम क्रमसे सूक्ष्मताकी प्रतिपत्तिके हिर्दे हैं, जो कि अप्रिम सूत्र द्वारा उत्तरोत्तर शरीरोको सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, अतिसूक्ष्म, रूपसे कुटा ही जायगा।

कार्मणग्रहणमादौ युक्तमौदारिकादिशरीराणां तत्कार्यत्वादिति चेन्न, तस्यात्यंतपरोक्षत्वात् । औदारिकमपि परोक्षमिति चेन्न, तस्य केषांचित्मत्यक्षत्वात् । तथाहि—

किसीकी रांका है कि सभी शरीरांका अधिष्ठाता, निमित्त, जन के, आदि होनेसे पिताके समान प्रधान कार्मणशरीरका आदिमें प्रहण करना समुचित्त है। क्योंकि औदारिक आदिक पांचो शरीर उसके कार्य हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि वह कार्मणशरीर अत्यन्त परीक्ष है। जैसे प्रत्यक्ष योग्य घट आदि कार्यों करके अतीन्द्रिय सूक्ष्म परमाणुओका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार औदारिक आदि अथवा सुख, दुःख, आदिकी विचित्रताओंकी उपलिश्यसे अतीन्द्रिय कार्मण शरीरका अनुमान कर लिया जाता है। अतः ऐसे सूक्ष्म या अतीन्द्रिय पदार्थकी सर्व साधारण प्राणियोंमें प्रधानता नहीं मानी जाती है। अतः अधिक मोटा औदारिक ही सबको प्रधान, भाग्यशाली, प्रतीत हो रहा है। कोई पुनः शंका करता है कि साधारण जीवो या मूक्ष्म जीवों अथवा छोटे छोटे दीन्द्रिय आदिकोंके औदारिक शरीर भी तो परोक्ष है। इनमें बहुतसे बहिरिन्दियों द्वारा नहीं देखे जा सकते है प्रम्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस औदारिकका किन्हीं किन्हीं जीवोको तो प्रत्यक्ष हो ही जाता है। इसी बातको प्रमाण द्वारा साधने हुये प्रन्थकार यों प्रसिद्ध कर दिग्याते है।

सिद्धमौदारिकं तिर्यञ्चानुषाणामनेकथा । शरीरं तत्र तन्नामकर्मवैचित्र्यतो बृहत् ॥ २ ॥

उन शरीरोंमें सृष्टा नामकर्मकी विचित्रतासे अनेक प्रकारका और मोटा हो रहा वह तिर्थच और मनुष्योंका औदारिक शरीर सिद्ध ही है।

बृहद्धि अरीरमौदारिकं मनुष्याणां तिरश्चां च प्रत्यक्षतः सिद्धं तेषु शरीरेषु मध्ये। तचा-नेक्था तन्नामकर्मणोनेकविधत्वात् ।

कारण कि उन पांच शरीरोंके मध्यमें प्रथम प्रोक्त मनुष्य और तिर्यंचोंका मोटा औदारिक शरीर तो प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध ही है और वह औदारिक शरीर वृक्ष, वेछ, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, पतंगा, मिट्टी, ाछ, आदि ढंगका अनेक प्रकार है। क्योंकि उसके कारण हो रहे नामकर्मके अनेक प्रकार हैं। कारणोंकी विचित्रतासे विचित्र कार्य उपज जाते हैं।

शेषाणि कृतः सिद्धानीत्याह।

किन्हीं किन्हीं जीवों हा मीटा औदारिक हारीर तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध किया किन्तु रोष वैक्रियिक आदि हारीर मला किस प्रमाणसे सिद्ध हैं १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

संभाव्यानि ततोन्यानि बाधकाभावनिर्णयात्। परमागमसिद्धानि युक्तितोपि च कार्मणं॥ ३॥

उस स्थूल औदारिक से मिन्न हो रहे सूक्ष्म औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आंहारेक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर तो वाधक प्रमाणोंके अभावका निर्णय हो जानेसे संभावना करलेने योग्य है, अर्थात् अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है, तथा वे शरीर आप्तोक्त परम आगमसे भी सिद्ध हैं, और कार्मणशरीर तो युक्तियोसे भी सिद्ध हो जाता है।

ननु कर्मणामिदं कार्मणमित्यस्मिन् पक्षे सर्वमौदारिकादि कार्मणं पसक्तमिति चेन्न, प्रतिनियतकर्मनिमित्तत्वात् तंषां भेदोपपत्तः । कर्मसामान्यकृतत्वादभेद इति चेन्न, एकमृदादि-कारणपूर्वकस्यापि घटोदंचनादेभेददर्शनात् कार्मणप्रणालिकया च तिन्नष्यत्तिः स्वापादान-भेन्नद्वदः प्रसिद्धः ।

यहां किसीकी शंका है कि अतीन्द्रिय कर्मीके द्वारा बनाया गया यह कार्मण शरीर है, "तस्येदम् " इस सूत्र करके तिद्धतमें कर्मन् शद्धसे अण् प्रत्यय करनेपर "कार्मण " शद्ध साध-जाता है। यो इस पश्चमें सभी औदारिक, वैकियिक, आदि शरीरोंको बडे अच्छे ढंगसे एकंसा कार्मण शरीर बनजानेका प्रसंग प्राप्त हुआ। क्योंकि सभी शरीर पूर्वोपार्जित कर्मोंको सामध्येसे गढे गये हैं। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि प्रत्येकके छिये न्यारे न्यारे नियत हो रहे कर्मोंको निमित्त मानकर उपजना होनेसे उन शरीरोंका मेद सिद्ध हो जाता है। भावार्थ—इस दृश्यमाण औदारिक शरीरका निमित्त प्रयक्त न्यारा अदृश्य औदारिक शरीरका निमित्त प्रथक् ही वैकियिकका निमित्त पृथक् ही वैकियिकका निमित्त पृथक् ही वैकियिकका निमित्त पृथक् हो वैकियिक शरीरका है, आहारकका निमित्त आहारक शरीरका है। तैजस शरीरका निर्मात्त अख्या ही तैजसशरीर नामकर्म हैं और एकसी अडताळीस प्रकृतियोंका पिण्ड हो रहे कार्मण शरीरका निमित्त तो एकसी अडताळीस प्रकृतियोंको एक कार्मण शरीरनामक नामकर्म हैं। मंजका पूरा मंजसे ही बांचा जाता है। पुनः किसीकी शंकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि मही, कुम्हार, चाक, डोरा, आदि एक कार्यणोंद्वारा पूर्ववर्ती होकर बनाये गये घडा, घडिया, दीवळा, सकोरा, भोछुआ, आदिका मेद देखा जाता है। कारणोंकी विशेषताओंसे हो रहे न्यारे कार्योंको सामान्य कारण फिर अभेदकी और नहीं झुका सकता है। बस्तुतः भिन्न भिन्न भन्न कारणोंसे ही न्यारे न्यारे कार्य उपजैते

हैं। कार्मणशरीरकी प्रणालिका (द्वार) करके उन शरीरोंकी निष्पत्ति हो जाती है। अतः निमित्त नैमित्तिक भेदसे उन शरीरोंका पृथग्भाव है। और एक बात है कि अपने अपने उपादान कारणोंके भेदसे उन शरीरोंका भेद प्रसिद्ध हो रहा है। अर्थात्—उपादानकारण आहार वर्गणासे जीवका औदारिक, वैकिथिक और आहारक शरीर बन जाता है। तेजीवर्गणाका विवर्त्त तैजस शरीर है और कार्मणवर्गणाका उपादेय कार्मण शरीर है।

पृथगुपलंभमसंग इति चेन्न, विश्वसोपचयेन स्थानात् क्रिन्नगुडरेणुश्लेषवदौदारिकादीनां कार्मणनिमित्तत्त्वे कार्मणं किं निमित्तमिति वाच्यं १ न ताविन्निर्निमत्तं तदिनमीक्षमसंगादभाव-मसंगाद्दा अरीरांतरिनिमत्तत्वे तु तस्याप्यन्यशरीरिनिमित्तत्वे अनवस्थापित्तरिति चेन्न, तस्यैव निमित्तभावात् । पूर्वे हि कार्मणं कार्मणस्य निमित्तं तदिप तदुत्तरस्थेति निमित्तनेमित्तिक-भावोऽविरुध्यते, न चैवमनवस्थापितः कार्यकारणभावेन तत्संतानस्यानादेरिवरोधात् ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि न्यारे न्यारे उपादान कारणोसे जब पांच शरीर भिन्न भिन्न निष्पन्न (तैयार) हुये है तो उनके पृथक् प्रथक् उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा। किन्तु यथासम्भव पाये जानेवाले औदारिक, तैजस, कार्मण, या वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, आदि शरीर प्रथक प्रथक तो नहीं दीख रहे हैं। आचार्य कहते है कि यह कटाक्ष नहीं करना। क्योंकि विस्नसोपचय करके उन शरीरोका अवस्थान हो रहा है। जैसे कि स्वामाविक परिणामसे गीले गडपर छोटी छोटी धूल चुपटकर अवस्थित हो जाती है, उसी प्रकार कार्मण शरीरमें औदारिक आदिकोका विस्नसोपचय-रूपसे अवस्थान हो रहा है, अतः उनमें नानापन सिद्ध है। भावार्थ—जैसे गीले गुडमें भूल चुपट जाती है, उसी प्रकार प्रवाहरूपसे अनादिकाळीन संचित हो रहे कार्मण शरीरमे नोकर्म शरीर लग बैठते हैं। पुनरपि कर्म, नोकर्म, शरीरोंके ऊपर '' जीवादोणन्तगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससो वचया, जीवेण य समवेदा एककेकं पंडिसमाणा हु '' इस गाथानुसार विस्तसोपचय लदा रहता है । पनः किसीका आक्षेप है कि औदारिक, बैक्रियिक, आदि शरीरोका निमित्तकारण यदि कार्मण शरीर माना जायगा तो फिर कार्मण शरीरका निमित्त कारण क्या होगा ? यह कहो। वह कार्मण विचारा निमित्तकारणसे रहित तो नहीं है । अन्यथा यानी कार्मणको निमित्तरहित माननेपर उसकी मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग आवेगा । जिस सत् पदार्थका हेत् नहीं है, उस निख पदार्थका कभी विनाश नहीं हो सकता है।ऐसी दशामे किसी भी जीवकी मोक्ष नहीं हो सकेगी।सदा कर्म चिपके रहेंगे। तथा एक बार कर्मीपिण्डसे मुक्ति पा जानेपर भी पुनः कर्म चिपट जायंगे । उनका कोई निमित्तकारण मिथ्यादर्शनादि तो अपेक्षणीय है ही नहीं। क्यों कि आप उन कमीं को निर्निमित्त मान चुके हैं अथवा कार्मण शरीरका निमित्त यदि कोई हेतु नहीं माना जायगा तो खरविषाण के समान उस कार्मण शरीरके अभावका प्रसंग होगा। इन दो दोषोंको टालनेके लिये कार्मणशरीरका निमित्त यदि दूसरा शरीर माना जायगा तब तो उस

दूसरे शरीरका भी निमित्तकारण न्यारा तीसरा शरीर एवं तीसरेको चौथा और चौथेको पांचवां आदि निमित्त कारणोंकी कल्पना करते करते कहीं दूरतक भी ठहरना नहीं होनेसे अनवस्था दोष हो जानेकी आपित्त है। प्रत्थकार कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना। क्योंकि कार्मण शरीरका निमित्त वहीं कार्मण शरीर है। वर्तमान कार्मण शरीरका निमित्त पूर्वसंचित कार्मण और वह वर्तमान कार्मण शरीर भी उसके उत्तरकालमें होनेवाल कार्मणशरीरका निमित्त वन नता है। इस ढंगसे संतानरूप करके निमित्त नैमित्तिक भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। रुपयोंसे रुपया उपजता है। मनुष्य मनुष्यका निमित्त है। पठन पाठन व्यवस्था बहुत दिनसे चली आ रही है। इसी प्रकार बीजांकुर न्यायसे कार्मण शरीरकी धारा बहरही हैं। यदि कोई यो पूंछ बैठे कि इस प्रकार तो अनवस्था दोष हो जानेकी आपित्त है, आचार्य कहते है कि यह अनवस्था दोष नहीं है। क्योंकि उन कर्मोकी धारावाहिक अनादिकालीन सन्तानका कार्यकारणमात्र करके चले आनेमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात्—अनवस्था सर्वत्र दोष नहीं है। कचित्त गुण भी है। व्यसन या पापोंको छोडकर प्रायः सभी दोष लौकिक अवस्थाओंमें कदाचित् गुणस्वरूप परिणम जाते हैं। अन्योन्याश्रय, अनवस्था, संकर, विरोध, अभिमान, संशय, अज्ञान, धनाभाव, इत्यादिक दोषाभास कई स्थलोपर गुण हो जाते हैं तथा पण्डिताई, एकता, धन, शीघता, कार्यदक्षता, प्रशंसा, यौवन, अधिकार दीर्घदर्शिता ये लौकिकगुण अनेक स्थलोपर दोष गिने जाते है। कार्यकारण भावकी रक्षा कर रही अनवस्था यहां गुण है।

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच नानिमित्तं कामणं ततो नानिर्मोक्षप्रसंगः । तचैवंविधं पर-माननात्सिद्धं वैक्रियिकादिवत् युक्तितश्च यथाप्रदेशं साधियष्यते ।

एक बात यह भी है कि मिध्यादर्शन, अविरति, आदि निमित्तकारणों द्वारा उपजना होनेसे कार्मण शरीर निमित्तरहित नहीं है, तिस कारण उसके निश्शेष रूपसे मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग नहीं आता है। अर्थात्—कार्मण यदि निमित्तरहित होता तो किसीकी भी मोक्ष नहीं हो पाती यह प्रसंग टळ गया और तिस कारण इस प्रकारका वैक्रियिक आदिके समान वह कार्मण शरीर सर्वज्ञश्रतिपादित परम आगमसे सिद्ध हो जाता है तथा युक्तियोंसे भी सिद्ध हो जाता है। प्रकरण आनेपर यथायोग्य प्रदेश प्रन्थस्थळमें वह कार्मणशरीर युक्तियोंसे साथ भी दिया जायगा। शीष्रता न करो।

ननु यद्यौदारिकं स्थूछं तदा परं परं कीद्दशमित्याह

यहां किसिका प्रश्न है कि यदि औदारिक शरीर स्थूल है तो परले परले वैक्रियिक आदिक शरीर भला कैसे हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

सूत्रमें पढ़े गये अनुसार औदारिकसे परले, परले, वैक्रियिक आदिक शरीर गढ़न्तकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। औदारिकसे सूक्ष्म वैक्रियिक है और वैक्रियिकसे आहारक सूक्ष्म है। आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण अतिशय सूक्ष्म हैं।

परशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः पृथग्भूतानां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देशः तेनौदारिकात्परं वैकियिकं सूक्ष्मं न स्थूलतरं, ततोप्याहारकं, ततोपि तेजसं सूक्ष्मं, ततोपि कार्मणिमिति संप्रतीयते ।

पर शह्नके व्यवस्था, भिन्न, प्रधान, इष्ट, शत्रु, ऐसे कई अर्थ हैं। किन्तु अनेक अर्थ होनेपर भी यहां विवक्षासे व्यवस्था अर्थ जाना जाता है। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन, संख्या, आदि करके पृथक् पृथक् हो चुके भी शरीरोंका सूक्ष्म गुणके साथ वीप्सा करके कथन किया गया है। उस वीप्सा निर्देशसे यों मले प्रकार प्रतीति कर ली जाती है कि औदारिकसे परले ओरका वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है, किन्तु मोटे औदारिकसे वैक्रियिक शरीर और भी अधिक मोटा नहीं है, उस वैक्रियिकसे भी आहारक शरीर सूक्ष्म ढंगसे रचा गया है, उस आहारकसे भी तैजसशरीर सूक्ष्म है तथा उस तैजससे भी कार्मण शरीर सूक्ष्म है। रुई, तेल, वायु, अग्निज्वाला, विद्युत्रभा, बिजलीका करन्ट, की पौद्रलिक रचनाओं में जिस प्रकार सूक्ष्मपना प्रसिद्ध है, उसी प्रकार शरीरों लगा लेना चाहिये।

मदेशतः परं परं कीदृगित्याह ।

पुनः किसीका प्रश्न है कि पांचों शरीर उत्तरोत्तर जब सूक्ष्म हैं, तब तो परछे परछे शरीर विचारे प्रदेशोंसे भी न्यून होवेंगे । यदि प्रदेशोंसे न्यून नहीं है तो बताओं प्रदेशोंकी अपेक्षा परछे शरीर किस ढंगके रचे हुये हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं । कर्णकुहरको पवित्र करते हुये उसको सुनियेगा ।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तेजसात् ॥ ३८ ॥

अवगाहकी अपेक्षा नहीं किन्तु परमाणुस्वरूप प्रदेशों करके उत्तरोत्तरशरीर ये तैजस शरी-रसे पहिछे पहिछे असंख्यात गुणे है । अर्थात्—पल्यका असंख्यातवां भागरूप असंख्यात यहां असंख्यात शद्धेसे पकडा गया है । औदारिक शरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुणे परमाणु वैक्रियिक शरीरमें के परमाणुओंसे आहारक शरीरके परमाणु असंख्यात गुणे अधिक हैं ।

प्रदेशाः परमाणवस्ततोऽसंख्येयगुणं परंपरमित्यभिसंबंधः । प्राक्तेजसादिति वचनात् न तैजसकार्मणयोरसंख्येयगुणत्वं । किं तर्हि १ औदारिकाद्वैक्तियिकं प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं तती-प्याहारकमिति निश्चयः ॥ जिन करके आकाश आदिकोंका क्षेत्रविभाग संकेतित किया जाय अथवा जो स्वयं घट आदिकोंमें अवयवपने करके निर्दिष्ट किये जायं वे परमाणु यहां प्रदेश करे जाते हैं, परछे परछे उत्तरोत्तर शरीर उन प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणे हैं। इस प्रकार वाक्यका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर छेना चाहिये। सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने "तेजस शरीरके पाहिछे" यों कण्ठोक्त निरूपण किया है। इस कारण तेजस और कार्मण शरीरमें असंख्यात गुणपन नहीं है तो फिर सूत्रकारका अभिप्राय क्या है ऐसी जिज्ञासा होनेपर यों निश्चय करछेना चाहिये कि औदारिकसे वैकियिक शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणा बहै, और उस वैकियिकसे भी आहारक शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणा अधिक है।

तैजसकार्मणे किंगुणे इत्याह ।

आदिके तीन शरीरोंमें वर्तनेवाले दो असंख्यात गुणोंका निरूपण किया, अब यह बताओ कि अन्तके तैजस और कार्मणशरीर भला प्रदेशोंकी अपेक्षा किस गुणाकारको धार रहे हैं! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्पष्ट रूपसे कहते हैं।

अनंतग्रुणे परे ॥ ३९ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा आहारकशरीरसे तैजस शरीरमें परमाणु अनन्तगुणे हैं और तैजस शरीर जितने परमाणुओंसे बना हुआ है उनसे अनन्तगुणे परमाणुओं करके कार्मणशरीर सम्पन्न हुआ है यहां अनन्तका अर्थ अभन्य जीवोंसे अनन्तगुणा और सिद्ध जीवोंके अनन्तमें भागस्वरूप कोई मध्यवर्ती जिनदृष्ट अनन्त (संख्या) छिया गया है। अतः पिछ्छे दो तैजस और कार्मण शरीर परमाणुओं सद्भावकी अपेक्षा अनन्त गुणे हैं।

प्रदेशतः इत्यतुवर्तते परं परमिति च, तेनाहारकात्परं तैजसं प्रदेशतोऽनंतगुणं ततोपि कार्मणमनंतगुणमिति विद्यायते । तत एव नोभयोस्तुल्यत्वमाहारकादनंतगुणत्वाभावात् । अन्यदेव हि आहारकादनंतगुणत्वं तेजसस्य, तेजसाचान्यत् कार्मणस्य तस्यानंतविकल्यत्वात् ।

पूर्वके " प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तेजसात् " सूत्रसे प्रदेशतः इस पदकी अनुवृत्ति कर ही जाती है। और " परं परं सूक्ष्मं " सूत्रसे " परं परं " इस पदकी अनुवृत्ति हो जाती है। तिस कारण सूत्रवाक्यका अर्थ विशेषरूपसे यों जान हिया जाता है कि आहारक शरीरसे परहा तेजस शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंतगुणा है और उन तेजस शरीरसे भी परहा कार्मणशरीर उसके आद्यजनक परमाणुओंकी गणना करनेपर अनन्त गुणा है। तिस ही कारणसे दोनोंकी तुल्यता नहीं हुंपी। क्योंकि आहारकसे अनन्तगुणपना दोनोंमें एकसा नहीं है। अर्थात्—परहा परहा कह देनेसे तेजस और कार्मण दोनों शरीरोंमें परमाणुओंकी संख्या तुल्य नहीं ठहरती है। आहारकसे अनन्तगुणा

तैजस है, किन्तु आहारकसे अनन्तानन्तगुणा कार्मण है। मले ही सामान्यरूपसे कार्मण शरीरको आहारक या तैजससे अनन्तगुणा कह दिया जाय, किन्तु उस अनन्तके प्रकार अनंतानन्त हैं। आहारक शरीरसे तैजसशरीरका अनन्तगुणपना भिन्न ही है और तैजस शरीरसे कार्मणशरीरका अनन्तगुणा निराला ही है। पांच रुपयोंसे एक हजार हो जानेपर सैकडों गुणी वृद्धि कही जाती है। और चार हजार हो जानेपर भी सैकडों गुणी बढवारी समझी जाती है।

परस्मिन् सत्यारातीयस्यापरत्वात्परे इति निर्देशो न प्रसञ्यते बुद्धिविषयञ्यापारा-दुभयोरिप परत्वोपपत्तेः । व्यवहितेपि वा परश्रद्धभयोगात् ।

यहां किसी जिज्ञासका आक्षेप है कि भले ही सैकडों, हजारों, पदार्थ क्यों नहीं होय, परशद्भसे अन्तका एक ही पकडा जावेगा, जैसे कि छाखोंमेंसे आद्य एक ही छिया जाता है। अतः " आबे " या " परे " इस प्रकार द्विवचनान्त पदका प्रयोग करना ही अलीक है। " परापरे " कह सकते हो। परछे एक कार्मण शरीरके होते सन्ते उसके निकट पूर्ववर्ती तैजस शरीरको परपना नहीं प्राप्त होता है। इस कारण तैजस और कार्मणके छिये सूत्रमें मूत्रकार द्वारा प्रयुक्त किया गया द्विवचनान्त "परे" यह यों कथन करना प्रसंगप्राप्त नहीं हो पाता है। एक यचनांत ''परम् '' शद्ध कहना चाहिये। अब आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग उठाना ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धिके विषय हो रहे व्यापारसे दोनों तैजस, कार्मण शरीरोंको भी परपना बन जाता है। अर्थात्—पदार्थीकी परिणति तुम कहते हो वैसी ही है। आद्य पदार्थ या पर पदार्थ एक ही हो सकता है। किन्त अपनी अपनी बुद्धिक विचार अनुसार दो, चार, दस, बीस, पदार्थ भी आद्य या पर कहे जा सकते हैं। जैसा मनमें विचार छिया जाता है बैसा बिहर्रगमें व्यवहार कर दिया जाता है। अपनी अपनी बुद्धि विचारोंके सभी जीव स्वायत्त शासन करने-वाले राजा हैं। अतः दोनों शरीरोंमें भी वृद्धिकृत परत्व सथ जाता है। बृद्धिमें तिरछा फैलाकर आहारसे परले दो तैजस, कार्मण, शरीरोंको " अनन्त गुणेका " व्यपदेश है। शद्भके उचारणके क्रमसे दो में परपना कथमपि नहीं आ सकता है। दूसरी बात यह है कि व्यवधान युक्त पदार्थमें भी पर शहूका प्रयोग हो रहा देखा जाता है। जैसे कि काशीसे सम्मेदशिखर तीर्थ परे है, उसी प्रकार यहां आहारकसे तैजसको परत्व समचित है। साथमें तैजससे व्यवधानको प्राप्त हो रहे भी कार्मणको आहारककी अपेक्षा परपना है।

नतु च यदि प्रदेशापेक्षया परं परवसंख्येयगुणमनंतगुणं चोच्यते सूक्ष्मं कथमित्याह ।

यहां कोई शंका करता है कि प्रदेशोंकी अपेक्षा करके यदि परले, परले, शरीरोंको असंख्यात गुणा और अनन्तगुणा कहा जाता है तो ऐसी दशामें वे परले परले शरीर सूक्ष्म कैसे कहे जा सकेंगे ? परमाणुओंके बढ जानेसे परले, परले शरीर लम्बे चौंडे महान् बन बैठेंगे, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

क्षेत्रावगाहनापेक्षां कृत्वा सूक्ष्मं परं परं । तैजसात्प्रागसंख्येयगुणं ज्ञेयं प्रदेशतः ॥ १ ॥ स्थूलमाहारकं विद्धि क्षेत्रमेकं विधीयते । तथानंतगुणे ज्ञेये परे तैजसकार्मणे ॥ २ ॥

यद्यपि प्रदेशोकी अपेक्षा तैजससे पिहिलेके औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर उत्तरोत्तर असंख्यात गुणें हैं तो भी क्षेत्रके अवगाहकी अपेक्षा करके परले परले शरीर सूक्ष्म समझ लेने चाहिये। औदारिक शरीर स्थूल है, इससे वैक्रियिक सूक्ष्म है, और वैक्रियिक तो स्थूल है। इससे आहारक सूक्ष्म है। तथा हस्तप्रमाण एक क्षेत्रको अनन्तानन्त परमाणुओं द्वारा बनकर अपना आधार कर रहे आहारक शरीरको स्थूल समझो। इसकी अपेक्षा परले तैजस और कार्मण शरीर अनन्तगुणे समझ लेने चाहिये। अर्थात्—जैसे कि पांच सेर रुईको कितना भी दबा दिया फिर भी दश सेर लोहेका गोला बहुत प्रदेश होनेपर भी अल्प परिमाणवाला रहता है। लोहेसे सोना, या पारा छोटे परिमाणवाला है। अतः परमाणुओके अन्यिक होनेपर भी अवगाहनकी अपेक्षा छोटे क्षेत्रोंमें वे समाजाते हैं। जस्तेको अग्निमें जलाकर फूला हुआ बहुत सफेदा बना लिया जाता है।

तर्हि समतिघाते ते माने इत्याह।

किसीका प्रश्न है कि तैजस और कार्मण शरीरमें जब परमाणुएं ठसाठस खचित हो रही हैं, तब तो वे तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात सिंहत प्राप्त हुये। देखिये, मूर्तिमान् सघन बाण यदि वृक्ष या पाषाणसे टकरा जाता है तो वेग अनुसार थोडा घुसकर पुनः रुक जाता है। इसी प्रकार तैजस और कार्मण भी मूर्तिमान् द्रव्यसे टक्कर खाकर रुक जावेंगे ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको उतारते हैं। इस सूत्रका अर्थ समझियेगा।

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

किसी मोटेसे मोटे भी पदार्थका अमूर्त पदार्थके साथ व्याघात होता नहीं है। किन्तु सूक्ष्म परि-णाम होनेसे मूर्त भी तैजस और कार्मण शरीरका किसी मूर्तिमान् पदार्थके साथ भी व्याघात नहीं हो पाता है। पर्वत, नदी, भूभियां, वज्रपटल, सूर्य, चन्द्रमा, आदिको व्याघात नहीं पहुंचा कर और स्वयं छिन, भिन, नहीं होते हुये तैजस, कार्मण, शरीर सर्वत्र चले जा सकते हैं। मरकर केवल तैजस और कार्मण शरीरको धार रहे संसारी जीवकी तीन लोकमें कहींसे कहीं भी गति रुक नहीं सकती है। अतः तैजस और कार्मणशरीर प्रतीघातरहित हैं।

प्रतिवाती मुर्देपतरव्यावातः स न त्रियते ययास्तेऽपतीवाते तैजसकार्मणे। कृत इत्याह।

प्रतीचात शद्धका अर्थ अन्यं पूर्त पदार्थीस टकरा कर व्याधालकी प्राप्त हो जाना है। वह गिर जाना या छिन्न भिन्न हो जाना अथवा रुक जाना कोई सा भी प्रतीचात जिन शरीरोंके विद्यमान नहीं है वे तैजस और कार्मणशरीर "अप्रतीचात " मीने जाते हैं। कोई सीवनय प्रश्न करता है कि यह अप्रतीचात किस कारणसे हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आर्चीर्थ उत्तरवार्तिकांको कहते हैं।

सर्वतोप्यप्रतीघाते परिणामनिर्मित्ततः । न सर्वतो प्रतीघाते परिणामनिरोपतः ॥ १॥

तैजस और कार्मणशरीरका परिमाण इस ढंगका सूक्ष्म है जिस कारण कि निमित्तसे वे तैजस, कार्मण शरीर सभी स्थानोंमें प्रतीघात रहित हैं, परिणाम विशेष होनेसे । दूसरे वैकियिक और आहारक शरीर सर्वतः प्रतीघातरहित नहीं हैं । अर्थात्—वैकियिक शरीर त्रसनाठीमें यथायोग्य कुछ योजन या डेड राजू चार, पांच, छह, राजू, तेरह राजूतक गमन करनेकी शक्ति रखता है । आहारक शरीर ढाई द्वीपमें सर्वत्र अप्रत्याहत जा सकता है, इससे बाहर जानेपर वैकियिक या आहारक शरीर टूट, फूटकर, नष्ट अष्ट हो जायगा, जा ही नहीं सकेगा । किन्तु तैजस और कार्मण शरीरकी परिणित उन सूक्ष्म विशेषताओंको लिये हुये हैं, जिनसे कि वे लोकमें सर्वत्र विना रोक टोकके अक्षुण्ण चले जाते हैं ।

वैक्रियिकाद्दारकयोरप्यमतीयातत्विमिति न मंतव्यं, सर्वतोऽमतीयातस्य तयोरभावात् । न हि वैक्रियिकं सर्वतोऽमतीयातमाद्दारकं वा मितिनयतिवषयत्वात्तद्मतीयातस्य । तैजसकार्मण पुनः सर्वस्य संसारिणः सर्वतोमतीयाते ताभ्यां सह सर्वत्रोत्पादान्यथानुषपत्तेः ।

कोई मान बैठा है कि स्थूल औदारिक मले ही पर्वत, वन्नपटल, आदिसे रक जावे, किन्तु वैक्रियिक या आहारक शरीरका तो पर्वत, भित्ते, सूर्य, विमान, आदिमें (से) कोई प्रतीघात नहीं होता है। अतः तैजस, कार्मणके समान वैक्रियिक और आहारकको भी प्रतीघातरहितपना है। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं माननां चाहिये। क्योंकि लोकमें सब ओरसे सभी स्थलोंमें उनके अप्रतीघातका अभाव है। देखिये, वैक्रियिक अथवा आहारक शरीर सर्व स्थलोंमें प्रतीघात रहित नहीं हैं। क्योंकि उनका अवतीघात तो प्रतिनियत स्थानोंमें मर्यादित हो रहा है। त्रसनालीके बाहर स्थावर लोकमें आहारक या वैक्रियिक शरीर नहीं जा पाते हैं। किन्तु फिर सम्पूर्ण संसारियोंके तैजस और कार्मण तो सभी स्थानोंसे समी स्थलोंके लिये जाने, आने, में प्रतीघातरहित हैं। क्योंकि उन तैजस और कार्मण शरीरके साथ इस संसारी जीवकी सभी स्थलोंमें उत्पत्ति होना अन्यथा यानी तैजस कार्मण को अप्रतीघात माने विना बन नहीं सकता है। जबतक संसार है तबतक तैजस और कार्मण तो लगे हो। इनके साथ ही जीवका अन्ता, जानो, हो संकता है।

ततस्ति सत्रे सर्वतो ब्रह्णं कर्तृत्यमिति केत् न्य प्रस्पाद्य प्रतिप्रतस्त्रात्र विवासितत्वात्। कृतः पुनस्तादको अतीघात इति चेत्, सह्मणुरिणामित्रिक्षेषाद्वयस्थिहे तेज्ञोत्वयवस्थाद्वर्

कोई पण्डित आक्षेप करता है कि तैसा होनेसे यानी सर्वत्र अप्रतीघातकी विवक्षा करनेपर तब तो इस सुत्रमें सर्वतः यह पदप्रहण करना चाहिये, जब कि सर्व स्थलेंसे लोकके सभी स्थलोंमें वे प्रतीघातरहित हैं ! आचार्य वहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि मुख्य प्रती-घातकी यहां विवक्षा प्राप्त हो रही है । अतः विना कहे ही " सर्वत्र अप्रतीघात " यह अर्थ कह दिया जाता है। यों थोडी थोडी दूरके स्थानोंमें तो स्थूल औदारिकका भी अप्रतीघात बन रहा. है, इससे क्या हुआ ? सूत्रकारको यहां मुख्य प्रतीघातकी विवक्षा हो रही है। तैजस और कार्मण शरीरमें परिपूर्णरूपसे मुख्य प्रतीघात नहीं है । पुनः यहां कोई पूंछता है कि क्या कारण है ! जिससे तैजस और कार्मण शरीरका तिस प्रकारका सर्वत्र अप्रतीचात है ? कहीं भी इनको कोई रोक नहीं सकता है ? यो कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि छोहपिण्डमें जैसे तैजोद्रव्यका अनुप्रवेश हो जाता है, तबेमें नीचेसे अग्न घुसकर ऊपरकी रोटीमें संयुक्त हो जाती है, उसी प्रकार सूक्ष्म विशेषपरिणाम होनेसे उनका कहीं भी प्रतीचात नहीं होता है। भावार्थ- घडेमें भीतर पानी भर देनेपर कुछ आईता ऊपर झलक आती है । पाषाणमें, तेल घुस जाता है । ताडपीनका तेल चर्ममें प्रविष्ट होकर परली ओर निकल जाता है। चौसाक्षेकी सील सात सन्द्रकोंके भीतर घुस जाती है। जब स्थूलपरिमाणत्राले पदार्थ भी नियत् पदार्थीमें अन्तः प्रविद्य हो जाते हैं, उसी प्रकार स्क्मपरिण् विशेष हो जानेसे तैजस और कार्मण शरीर सर्वत्र अप्रत्याहत चल्ने जा सकते हैं। जैनसिद्धान्तर्में कारण अनुसार कार्यव्यवस्था मानी गयी है। कोई पोछ नहीं है। जिस पदार्थमें जैसा जैसा जहां जहां प्रतीघात, अप्रतीघात, होनेका परिणामिनशेष होगा, वह पदार्थ वहांतक प्रतीघातवाला या अप्रती-घातवाळा माना जायगा। दीपक या मसालका प्रकाश चर्म, मांस, कपडा, पत्र, आदिको भेदकर भीतर नहीं घुस सकता है। किन्तु " ऐक्सरे " नामक यंत्रद्वारा बिजळीका प्रकाश तो चर्म आदिके। पार कर जाता है। खद्दरमेंसे पानी छन जाता है, प्रका्श नहीं। किन्तु कांचमेंसे प्रकाश निकल जाता है, पानी नहीं !

य त्वाहुः, पूर्व पूर्व सक्ष्मं युक्तं मदेशतोत्पत्वादिति तान पत्याह ।

जो भी कोई विद्वान यों कह रहे हैं कि परमाणुओंकी संस्थाके अल्प, अल्प, होनेस तो पहिले पहिले शरीरोंको सूक्ष्म कहना युक्त है। उनके प्रति तो श्री विद्यानन्द आचार्य यों समाधान कहते हैं।

पदेशतोत्पतातारतम्यं कायेषु ये विदुः । सक्ष्मतातारतम्यस्य साभनं ते कृतार्किकाः ॥ २ ॥

तस्य कार्णसिपंडेनानेकांताच्छिथिलात्मना । प्रदेशबहुतातारतम्यवत्स्यौत्यबंधने ॥ ३॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा अल्पपनेका तारतम्य ही शरीरोंमें सूक्ष्मपनेके तारतम्यका ज्ञापक हेतु है, इस प्रकार जो नैयायिक समझ बैठे हैं वे खोटी तर्कको धारनेवाले है। क्योंकि उस हेतुका शिथिलस्वरूप फूल रहे रुईके पिण्ड करके व्यभिचार दोष हो जाता है। जैसे कि स्थूलपनके बन्धनको साधनेमें प्रयुक्त किये गये प्रदेशबहुतपनेका तारतम्य हेतु रुईसे व्यभिचारी हो जाता है। अर्थात्—जिसमें प्रदेश बहुत होते हैं, वह स्थूल होता है। यह हेतु लोहपिण्डसे व्यभिचारी है। उसी प्रकार जिसमें प्रदेश थोडे होते है वह अल्पपरिमाणवाला सूक्ष्म पदार्थ है। इस व्याप्तिका हेतु भी धुनी हुई रुईसे व्यभिचार दोषको धार रहा है। थोडे प्रदेश होनेपर भी शिथिल रुई लम्बे चौडे स्थानको घेर रही है, जब कि बहुप्रदेशी लोहपिण्ड छोटे स्थानमें समजाता है।

यथैव प्रदेशबहुत्वतारतम्यमुत्तरांत्तरशरीरेषु स्थूलत्वप्रकर्षे साध्ये निबिडावयवसंयोग-परिणामेनायस्पिडेनानेकांतिकमिति न तत्र स्थूलतातारतम्यं साधयति तथा प्रदेशाल्पत्व-तारतम्यमपि पूर्वश्वरीरेषु न सूक्ष्मतातारतम्यमिति स्वहेत्विशेषसांनिध्यात् तैजसकार्मणवार-नंतगुणत्वेपि पूर्वश्वायात्स्यक्ष्मपरिणामः सिद्धः सर्वतोप्रतीघातत्वं साधयत्येवायस्पिडे तेजोतुप्रवे-शवदिति सुक्तं। न हि तेजसोयस्पिडेन प्रतीघाते तत्रानुप्रवेशो युज्यते।

जिस ही प्रकार पिछले पिछले शरीरोंमें स्यूलताके प्रकर्षको साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया प्रदेशोंके बहुतपनेका तारतम्य रूप हेतु तो अवयवों के सघन संयोग हो जाना रूप परिणामको धारने-वाले लोहिपिण्डकरके व्यभिचारी है, इन कारण वह हेतु उन उत्तरोत्तर शरीरोंमें स्यूलपनके तारतम्यको नहीं साध पाता है, तिसी प्रकार प्रदेशोंकी अन्पताका तारतम्य होना रूप ज्ञापक हेतु भी पूर्व पूर्व शरीरोंमें सूक्ष्मताके तारतम्यको नहीं साध पाता है। इस कारण अपने अपने हेतु विशेषोंकी सिन्नकटतासे तैजस और कार्मणको अनन्तगुणा होते हुहे भी पूर्वश्रिरसे सूक्ष्म परिणाम सहितपना सिद्ध हो जाता है, जो कि सब ओरसे उन दोनोंके अप्रतीधातपनेको साध ही देता है, जैसे कि लोह पिण्डमें तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश हो जाता है। तभी तो इस बातको हम पहिली वार्तिकोंमें बहुत अच्छा कह चुके हैं। यदि तेजोद्रव्यका लोहिपिण्ड करके प्रतीधात माना जायगा तो ऐसी दशामें वहां लोहेमें अग्निका प्रवेश नहीं हो सकेगा। किन्तु लोहेके तवेमें या पीतल, तांबे के पात्रमें तेजोद्रव्य धुस जाता दीखता है, बिजली तो हजारो मील लम्बे ठोस तारमें धुसी चली जाती है।

स्यान्मतं, तेजसः संयोगविशेषादयस्पिडावयवेषु कर्मोत्यवते ततो विभागस्ततः संयोग-विनाशस्ततोपि तस्यायस्पिडावयविनो विनाशस्ततोप्यीष्ण्यापेक्षादित्रसंयोगात्तदवयवेष्वतुष्णा- श्रीतस्पर्शिवनाशः परस्मादिप्रसंयोगादुष्णस्पर्शोत्पत्तिः ततस्तदुपभोक्तुरदृष्ट्विशेषवशाद्वयणुकादि प्रक्रमेण तादृश्ययेवायस्पिद्वस्योत्पत्तिः । एवं च नायस्पिद्धे तद्वस्थे तेजसोनुप्रवेशोस्ति यतांऽ- प्रतीधातस्य विधाने निदर्शनीकियंति । तद्युक्तं, प्रतीतिविरोधात् । स एवायमयस्पिद्धस्ते- जांच्याप्तः प्रतिभाति यः पूर्वमनुष्णः सम्रुपलब्ध इति प्रतीतः । परत्रं प्रक्रियामात्रस्य जातुचिद्द- प्रतीतेने भ्रांतत्वं । सदृशापरोत्पत्तेस्तथा प्रतीतिरिति चेश्च, एकत्वादिवत् । न हि किंचिन्मूर्त- मित प्रविश्वद्यूर्ते दृष्टं । च्योमदृष्ट्यिति चेश्च, तत्र मूर्तमित मूर्तेष्वपि तथा प्रसंगात् । तथा च तत्कथंचित्पत्यभिज्ञानादेकत्वसिद्धिः। वाधकरहितात्ततस्तत्सिद्धौ कथमयस्पिद्वेपि प्रत्य- भिज्ञानादेकत्वं न सिध्येत् १ न हि तत्र किंचिद्धाधकमस्ति ।

यदि यहा वैशोषिकोंका मन्तव्य ऐसा होवे कि छोहे के तवेमें अग्नि नहीं घुसती है। किन्तु लाल तपा हुआ तबा एक नया पदार्थ ही उत्पन्न हो जाता है। पहिला तबा रहता ही नहीं है। वह पहिले तवेके नाशकी और नये लोइपिण्डके उत्पादकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि तेजोद्रव्यके निरेषसंयोगसे लोइपिण्ड के अवयवोंमें पहिले किया उपजनी हैं | किया या अनेक कियाओंके उपज-जानेके पीछे दूसरे समयमें उन लोह अवयत्रोंका त्रिमाग हो जाता है। अर्थात्-मिले हुये अवयव उस कियाके द्वारा पृथक् पृथक् दूकडे हो जाते है। विभागगुण संयोगगुणका नाशक है। अतः पहिले हो रहे संयोगका विभागकरके तीसरे समयमें नाश हो जाता है । उसके भी पीछे संयोगका नारा हो चुकनेपर उम लोहपिण्ड अवयवीका विनारा हो जाता है । स्थल अवयवीका भी नारा होते होते परमाण रह जाते है । उसके पीछे उष्णताकी अपेक्षा रखनेवाले अग्निसंयोगसे उन परमाणस्वरूप लोह अवयवोंमें अनुष्णशीत स्पर्शका विनाश हो जाता है। अर्थात् — वैशेषिक्रोने प्रथिवीमें अनुष्णाशीत स्पर्श माना है। जब कि लोहा प्रथित्री है। अतः उसका स्पर्श अनुष्णाशीत था, अगले क्षणमें अनुष्णाशीत स्पर्शका नारा हो गया। साथमे उन कियाओंका भी नारा हो गया। वैरोषिकोंके यहां किया चार क्षणमे अधिक नहीं ठहरती है। पहिले क्षणमें किया हुई दूसरे क्षणमें उसने विभागकों किया, तीसरे क्षणमें पूर्व संयोगका नारा, चौथे क्षणमें उसी क्रियासे उत्तरदेश संयोग होकर पांच क्षणमें क्रियाका नारा हो जाता है। पनः अन्य क्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं। यहांतक अवयवी उसके अवयव उसके भी छोटे छोटे अवयव इस ढंगसे लोह पिण्ड के परमाणुयें हो गये हैं । यो अबतक पूर्विपिण्डका विनाश हो चुका। अब नवीन पिण्डका उत्पाद सुनियं। पुनः दूसरे अग्निसंयोगसे उन परमाणुओंमें नवीनस्पर्शकी उत्पत्ति होती है, उसके पश्चात् उस उष्णलोहिपण्डद्वारा रसोई जीमना, भूरस जाना, आदिका उपभोग करनेकाले जीवोंके विशेष पुण्य, या पापकी अधीनतासे परमाणुओंमें किया होनेसे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तररूप होना विभाग उपजाता है। विभागसे अन्य क्षेत्रके साथ हो रहे पूर्वसंयोगका विनाश हो जाता है। पीछे दूसरे परमाणुके माथ संयोग हो जाता है। दो दो परमाणुओंका संयोग हो चक्रनेपर पीछे बगणकोंकी उत्पत्ति होजाती है। तीन, तीन बणुकोंसे वहां सब छोह अवयवींके त्र्यणक बन जाते हैं। चार चार त्र्यणकांके सब चतुरणक बन जाते हैं, यों पंचाणुक, षडणुक, इस क्रमसे एक वैसे ही अन्यणा नवीन लोहपिण्डकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार हम वैशेषिकींके यहां वैसाका वैसे ही लोहपिण्डके अवस्थित बने रहनेपर तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश नहीं माना गया है। जिससे कि अप्रतीघातका विधान करनेमें आप जैनलोग लोहपिण्डमें अग्निक प्रवेशको दृष्टान्त कर तकें। यहांतक वैशेषिक कह चुके हैं। अब आचार्य कहते है कि यह कथन युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि प्रतीतिओंसे विरोध आता है। यह वहीं लोहपिण्ड भला तेजोदन्यसे न्याप्त हो रहा प्रतिभासता है. जो लोहपिण्ड पहिले अनुष्ण भले प्रकार दीख चुका था, ऐसी बालक, बालिकाओंतकको प्रतीति हो रही है। दसरे वैशेषिकोंके यहां जो उत्पादविनाशकी केवल प्रक्रिया गढ दी गयी है, उसकी तो किसीको कभी प्रतीति नहीं होती है। यदि नीचे अग्नि जलानेसे अनुष्ण लोहा या तांबेका बर्तन टट फ्रुट जाता तो उसमे का दूध या घी फैल जाता, किन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। किन्तु यह वही लोहपिण्ड है, वहका वही बर्तन है, यह प्रतीति हो रही है, जो कि भ्रान्तिस्वरूप नहीं है। यदि यहां वैशेषिक यों कहें कि सदश ही दूसरे दूसरे छोहपिण्डोंकी उत्पत्ति हो जानेसे तुमको तिस प्रकार " यह वहीं है " ऐसी प्रतीति हो गयी है, जैसे कि दीपकिलकाओं में या किसी चूर्णमें यह वहीं है, यह सादश्यको कारण मानकर प्रतीति हो जाती है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि घटके एकपन तदेवपन, आदिके समान छोहपिण्डमें एकत्व प्रतीति भी समीचीन है। मुर्तिमान पदार्थीमें प्रवेश कर रहा कोई अमूर्त पदार्थ नहीं देखा गया है। यदि कोई यहां यों कहे कि अमूर्त आकाश तो मूर्तिमाम घटादि में प्रवेश कर जाता है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उस आकाशके मूर्तिमान् होते सन्ते ही घट, पट, आदि मूर्त्त पदार्थीमें भी तिस प्रकारका प्रसंग हो जावेगा । अर्थात्-आकाश मूर्त नहीं है, क्रियावान् भी नहीं है । अतः वह मूर्त्तीमें प्रविष्ट नहीं हो सकता है। (यहांका यह पाठ कुछ अप्रकृतसा दीखता है विशेष बुद्धिमान् पुरुष पूर्वापार संदर्भको ठीक मिला लेवें) । और तैसा होनेपर कथंचित् एकत्वको विषय करनेवाले प्रत्यभि-ज्ञानसे एकपनेकी सिद्धि होजाती है, बायक प्रमाणोंसे रहित हो रहे उस प्रत्यभिज्ञान द्वारा उस एकप-नकी सिद्धि होना मान चुक्रनेपर छोहपिण्डमें भी एकत्व प्रत्यभिज्ञानसे भला एकत्व क्यों नहीं सिद्ध हो जायगा ? कारण कि वहां भी तो कोई बाधक प्रमाण विद्यमान नहीं है।

स्यान्मतं, तेजोऽयरिपढे तदवस्ये नातुपविश्वति मूर्तत्वाछोष्ठवदित्येतद्वाधकामिति तदस-देतोः संदिग्धविपक्षच्याष्ट्रिकत्वात् सर्वक्षत्वाभावे वक्तवादिवत् । न हि किंचिन्मूर्तिमति पवि-श्वदमूर्ते दृष्टं । व्योम दृष्टमिति चेत्, तत्र मूर्तिमतोतुपवेशात्तथा प्रतितेरबाधत्वादित्यलं प्रसंगेन ।

यदि वैशेषिक पाण्डित '' यह वही छोह पिण्ड है '' इस प्रत्यभिज्ञानमें बाधकप्रमाण उपास्थित करते हुये अपना मन्तव्य यें। प्रकाशित करें कि छोहपिण्डकी ठींक वैसीकी वैसी है। अवस्था बनी

रहनेपर उसमें तेजोद्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता है (प्रतिज्ञा) मूर्त होनेसे (हेत्) डेलके समान (अन्त्रय दृष्टान्त) अर्थात्—डेल जिसमें प्रवेश करता है वह पदार्थ वैसाका वैसा ही नहीं बना रहता है। इसी प्रकार लोहमें अग्निके घुस जानेपर लोहा विनष्ट होकर दूसरा बदल जाता है। यह तुम्हारे एकत प्रत्यभिज्ञानका बाधक प्रमाण खडा हुआ है। आचार्य कहते हैं कि उन वैशेषिकोंका इस प्रकार कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि उनके हेत्की विपक्षमें व्यावृत्ति होना संदिग्ध हो रहा है, जैसे कि अर्हन या बद्धको सर्वन्नपनेका अभाव साधते समय दिये गये वक्तृत्व, पुरुषत्व, हाथ पांव सहितपन आदि हेतुओं भी विपक्षसे ज्यावृत्ति होना संदिग्ध है। अर्थात्—अर्हन्त (पक्ष) सर्वज्ञ नहीं हो सकते है (साध्य) वक्ता होनेसे (हेतु) गळीके मनुष्य समान (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमानका वक्तापन हेत संदिग्धव्यभिचारी है। क्योंिक सर्वज्ञमें भी वक्तापन संभावित है। ज्ञानके प्रकर्ष होनेपर कोई वक्ता-पनका अपकर्ष हो रहा नहीं देखा जाता है। बल्कि ज्ञानके बढनेपर वक्तत्व शक्ति बढ रही प्रतीत होती है। अथवा विपक्ष हो रहे सर्वज्ञमें पुरुषपना भी वर्त्त सकता है। इसी प्रकार मूर्तत्व हेत भी संदिग्ध व्यभिचारी है। अतः वहका वही मूर्त पदार्थ बना रहनेपर भी तेजोद्रव्य प्रवेश कर सकता है । छेदोंवाली भीतमें डेला प्रवेश कर जाता है, किन्तु भीत वह की वही बनी रहती है। गढमें गोली घस जानेसे सहसा अवस्था नहीं बदल जाती है। पेटमें अन्न, पान, का प्रवेश करलेने पर देवदत्तके शरीरकी सर्वथा परावृत्ति नहीं हो जाती है । मूर्तिमान पदार्थमें मूर्तपदार्थ प्रवेश करता है। मूर्त्तमें कोई भी अमूर्त्त प्रवेश करता हुआ नहीं देखा गया है। आकाश, धर्म, अधर्म, और काल ये अमूर्त, पदार्थ तो जहांके तहां अवस्थित हैं । ये कहीं जाकर प्रवेश नहीं करते। इनमें मले ही कोई मूर्त पदार्थ प्रवेश कर जाय। हां, शुद्ध जीव मोक्षगमन करते समय ऊर्ध्वलोक प्रति गमन करता है। वह कोई बाण, डेल आदिके समान प्रवेश करनेवाला नहीं माना गया है। शेष संसारी जीव तो कर्म बन्धकी अपेक्षा मूर्त्त ही बने बनाये हैं। यदि यहां कोई यों आंक्षेप करे कि देखो आकाशद्रव्य अमूर्त्त हो रहा मूर्त्तपद्गलोंमें प्रवेश कर रहा देखा गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां भी आकाशमे मूर्तिमान्का प्रवेश है। मूर्तिमान्में आकाशका प्रवेश नहीं है। आकाश तो व्यापक है कहांसे कहां जाय ? बादलोंके चलनेपर किसी किसीको चन्द्रमा चलता दीखता है। कभी काले बादलोंमें चंद्रमा घुसता दीखता है, यह सब भ्रांति है। अतः लोइपिण्डमें तिस प्रकारकी एकत्व प्रतीतिका कोई बाधक नहीं है। बाधारहित एकत्व प्रत्यभिज्ञानसे वहां एकत्व सिद्ध हो जाता है। वाबद्दक वैशेषि मों भे सन्मख हमने सारमूत कवन कह दिया है। अधिक प्रसंग बढानेसे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा उनका उत्पाद विनाश प्रक्रियाको दिखलाना कोरा फटाटोप मात्र है।

नतु कर्मैव कार्मणमित्यास्मिन् पक्षे न तच्छरीरं पुरुषिवेशेषगुणत्वाद्वुध्यादिवदिति कश्चित्तं मत्यादः। यहां नैयायि त या नैशेषिककी ओरसे स्वपक्षका अवधारण है कि स्वार्थमें अण् प्रत्यय करनेपर कर्म ही कार्मण रारीर है यों इस पक्षमें वह कार्मण तो कोई शरीर नहीं है, प्रत्युत वह अदृष्ट तो बुद्धि, सुख, दुःख आदिके समान पुरुषका विशेष गुण है, जिसको आप जैन कर्म कहते हैं। उसको हमारे यहां अदृष्ट यानी पुण्य, पाप, कहा गया है। इस प्रकार अनुमान बनाकर कोई वैशेषिक कह रहा है, उसके प्रति आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं, उसको सुनियं।

कर्मैव कार्मणं तन्न शरीरं नृगुणत्वतः । इत्यसद्द्रव्यरूपेण तस्य पौद्गलिकत्वतः ॥ ३ ॥

कर्म ही कार्मण है जो कि धर्म, अधर्म, कहे जाते हैं वह कर्म (पक्ष) शरीर नहीं है, (साध्य) आत्माका विशेष गुण होनेसे (हेतु) बुद्धिके समान (अन्वयदृष्टान्त) यों वैशेषिकोंका कहना सत्यार्थ नहीं है। क्योंकि उस कर्मको द्रव्यरूपसे पुद्रलों करके निर्मितपना सिद्ध हो रहा है। अर्थात्—कर्म यदि आत्माके गुण होते तो आत्माको पराधीन नहीं कर मक्ते थे। जो जिसका गुण होता है वही उसको परतन्त्र नहीं बना देता है। जब कि यह संसारी जीव परवश हो रहा है, अतः सिद्ध हो जाता है कि कर्म विजातीय पौद्रलिक द्रव्य है। द्रव्यका निज गुण उसको विभाव अवस्थामें नहीं पटक देता है। निजगुणोंको नाश करनेके लिये मुमुक्षुका प्रयत्न नहीं होता है। अन्यथा आत्म द्रव्यका ही नाश हो जायगा।

न हि कर्म धर्माधर्मरूपमदृष्टसंक्षकं पुरुषविशेषगुणस्तस्य द्रव्यात्मना पौद्रलिकत्वात्ततो नाशरीरत्वसिद्धिः।

वैशेषिकोंके यहां जिनकी संज्ञा अदृष्ट मानी गयी है, ऐसे धर्म, अधर्मस्वरूप कर्म तो आत्माके विशेष गुण नहीं हैं। क्योंकि द्रव्यस्वरूपसे वे पुद्रलके गढ़े हुये है। तिस कारण कर्मोको शरीर रहितपनकी सिद्धि नहीं है। संसारी आत्माका सूक्ष्मशरीर पौद्रलिककर्म है, जो कि आत्मद्रव्यसे मिन्न द्रव्यपुद्रलका वन रहा औपाधिक शरीर है, जैसे कि अस्थिमांस रक्तमय यह दश्यमान स्थूल शरीर पुद्रल निर्मित है।

भावकर्मैवात्मगुणरूपं न द्रव्यकर्म पुद्गलपर्यायत्वमात्मसात्कुर्वत्र्वसिद्धमिति मन्यमानं मत्याह ।

बैदोषिक कहते हैं कि जैन पण्डित भी राग, द्वेष, अज्ञान, ईर्ष्या, अनुत्साहको भावकर्म मानते हुये आत्माका गुण (विभावपरिणाम) मानते ही हैं। सच पूछो तो आत्मामें अज्ञान, राग, द्वेष, आदि भारकर्म ही आत्माके गुणस्त्ररूप हो रहे विद्यमान हैं। पुण्यक्तमें तो पुद्रस्त्रके पर्यायपनको अपने अश्रीन करता हुआ कोई आजतक अभिद्र नहीं है। कोई भी दार्शनिक विचारा अमूर्त आत्माके

जपर जम रहे पौद्रिकित क्षमीको नहीं स्वीकार कर रहा है। इस प्रकार मान रहे वैशेषिकोंक प्रति आचार्य महाराज समाधानवचन कहते हैं।

कर्म पुद्गलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते । पारतंत्र्यनिमित्तत्वात्कारागारादिबंधवत् ॥ ४ ॥

जीवके कर्म तो पुद्रलकी पर्याय समझे जा रहे हैं (प्रतिज्ञा) जीवकी परतंत्रताके निमित्त कारण होनेसे (हेतु) कारागार (जेळखाना) सांकल, लेज, आदिक बंध समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात् —देवदत्त या गायको जेळ घर या सांकलमे बांध दिया जाय ऐसी दशामें वह बंधन उन आत्माओका निजगुण नहीं है, किन्तु पौद्रलिक है। इसी प्रकार जीवकी परतंत्रताका निमित्तकारण हो रहा कर्म पदार्थ भी आत्मासे विजातीय द्रव्य माने गये पुद्रलकी पर्याय है।

कोधादिभिर्च्यभिचार इति चेक्न, तेषामपि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तत्वे पौद्गलिकत्वो-पपत्तेः । चिद्र्पतया संवेद्यमानाः कोधादयः कथं पौद्गलिकाः प्रतीतिविरोधादिति चंत् न, निर्हेतोर्व्यभिचारायोगात् तेषां पारतंत्र्यानिमित्तत्वाभावात् । द्रव्यक्रोधादय एव हि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तं न भावकोधादयस्तेषां स्वयं पारतंत्र्यरूपत्वाद्द्रव्यकोधादिकर्मोदये हि सति भावकोधाद्यत्पत्तिरेव जीवस्य पारतंत्र्यं न पुनस्तत्कृतमन्यितिविदित्यव्यभिचारी हेतुर्नीगमकः सदा ।

यदि कोई यों कहे कि कोघ, अभिमान, आदि करके आप जैनों के हेतुका व्यभिचारदोष आता है। देखो, कोघ आदिक भाव भछा जीवको परतंत्र करने के निमित्त तो हैं, किन्तु पुद्रछकी पर्याय नहीं है। जीवके औदियक भाव ये कोघआदिक तो स्वतत्व माने गये है। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जीवको पराधीनताके निमित्त होनेपर उन कोघ आदिकोको भी पुद्रछ निर्मितपना बन जाता है। हेतुके रहनेपर साध्य भी रहजाय ऐभी दशामें व्यभिचारदोष नहीं आता है। यहीं तो पुद्रछ निमित्त है, कचित्त पुद्रछ उपादान कारण है, वे सभी कार्य पौद्रछिक है। यदि वैशेषिक फिर यों कहें कि क्रोध आदिक तो जीवके निज़ चैतन्य रूप करके सम्वेदन किये जा रहे हैं, वे आत्मीय पदार्थ भछा कैसे पुद्रछके परिणाम माने जा सकते हैं ? क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा, यानी क्रोध आदिक यदि पुद्रछके परिणाम माने जा सकते हैं ? क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा, यानी क्रोध आदिक यदि पुद्रछके परिणाम माने जा सकते हैं ? क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा, यानी क्रोध आदिक यदि पुद्रछके परिणाम माने जा सकते हैं ? क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा, यानी क्रोध आदिक यदि पुद्रछके परिणाम होते तो घट, पट, आदिके समान बहिर्मूत देखे जाते और साधारण जीव भी उनको वहिरंग इन्द्रियों हारा देख छेते। किन्तु देवदत्तके क्रोधका उसीके अंतरंगमें चेतन आत्मकपने करके सम्वेदन हो रहा है। दूसरे जीवोंको देवदत्तके क्रोधका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो नहीं पता है। प्रधक्तर कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना। क्योंकि हेतुके नहीं ठहरनेसे व्यभिचार नहीं हो पता है। जुंध हेतु तो ठहर जाय और साध्य नहीं ठहरे वहां व्यभिचार दिया जा सकता है।

हेतुके नहीं ठहरते हुये साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यभिचार दोष नहीं लग पाता है। देखिये, उन कोधा-दिकोंको परतंत्रताके निमित्त कारण होनेका अभाव है, पुद्रलकी कार्मणवर्गणाओंसे बनाये गये द्रव्य कोध, द्रव्यमान, आदिक ही जीवकी परतंत्रताके निमित्त हैं। उन द्रव्यकोध आदिके निमित्तसे हुये जीवके भाव कोध, अभिमान आदिक जीवपर्याय तो परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं। वे भावकोध आदिक तो स्वयं परतंत्रता स्वरूप है। क्योंकि पुद्रल द्रव्यके बने हुये कोध आदिक कर्मोका उदय हाते सन्ते ही भाव कोध आदि जीव परिणामोंकी उत्पत्ति हो रही जीवकी परतंत्रता है। उन पुद्रल निर्मित द्रव्य कोध आदि हारा की गयी फिर अन्य कोई भी पदार्थ परतंत्रता नहीं है। अर्थात्—क्षमास्वरूप जीवका कोध रूप हो जाना ही पराधीनता है। सबको जान लेना इस स्वभावको धारनेवाले जीवका पौद्रलिक ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेपर अज्ञानभाव हो जाना है। तो जीवकी पराधीनता है। इस कारण हेतुके नहीं घटित होनेपर और साध्यके भी नहीं ठहरनेपर भावकोध द्वारा व्यभिचार नहीं हो सकता है। हमारा प्रयक्त किया गया परतंत्रताका निमित्तपना हेतु व्यभिचार दोषरहित है। अतः सर्वदा अगमक नहीं है। किन्तु पुद्रल पर्यायपन साध्यका सर्वदा ज्ञापक है।

अत्रापरः स्वप्नांतिकं शरीरं परिकल्पयति तमपसारयन्नाइ ।

यहां कोई दूसरा बौद्ध उक्त पांच शरीरोंमें अतिरिक्त स्वप्नमें होनेवाले स्वप्नान्तिक शरीरकी परि-कल्पना कर रहा है उसके मतका निराकरण करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

> स्वप्नोपभोगसिष्यर्थं कायं स्वप्नान्तिकं तु ये। प्राहुस्तेषां निवार्यंते भोग्याः स्वप्नांतिकाः कथम् ॥ ५॥ भोग्यवासनया भोग्याभासं चेत्स्वप्नवेदिनां। शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनं न किम् ॥ ६॥

स्वप्न दशामें अनेक प्रकारके सुख दुःख मोगने पडते हैं। कभी कुयेमें गिर पडता है, कभी मोजन करनेका स्वप्न आता है, कभी नावमें बैठकर जाता है, इत्यादिक स्वप्नके उपभोगोंकी सिद्धिकी प्राप्ति करनेके लिये जो बौद्धपण्डित एक स्वप्नान्तिक शरीरको अच्छा कह रहे हैं, उनके यहां तो स्वप्न दशामें होनेवाले स्वप्नान्तिक भोग्यपदार्थ भला कैसे निवारे जा सकते हैं ! अर्थात्—स्वप्नान्तिक शरीरके समान स्वप्नान्तिक घोडा, नाव, धन, कूप, नदी, भोजन, अलंकार, आदिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। जैसे कि यह स्थूल शरीर खाटपर सो जाता है, किं बाहर नाव, घोडापर, चढ नहीं सकता है, खाता, पीता, चलता, फिरता नहीं है, हां, दूसरा स्वप्नान्तिक शरीर उक्त कियाओंको सुलभनतासे कर लेता है, उसी प्रकार निकटवर्ती भोग्य पदार्थ तो यथास्थान रखे रहते हैं। स्वप्न अवस्थामें

न्यारे ही घोडे, भोजन, वस्त, स्त्री, धन, आदिक भोग्य पदार्थ गढ छेने चाहिये | इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि स्वप्नका ज्ञान करनेवाछे जीवोंके पूर्वकाछसे छगी आ रही भोग्यपदार्थोंकी वासना करके भोग्यपदार्थोंका प्रतिभास हो जाता है। मिध्यावासना द्वारा असंस्य झूंठे पदार्थोंका शोकी, मदोन्मत्त, मूर्छित, जीवोंके ज्ञान हो रहा देखा जाता है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो शरीरकी भी केवछ वासनासे ही शरीरका आभास हो जावो, वास्तवमे वहां कोई न्यारा शरीर नहीं है, जैसे कि भोग्य पदार्थ नदी, उपवन, पर्वत, मृतपिता, मित्र, आदिक कोई न्यारे वहां नहीं है। विचारा जाय तो किसी भयंकर पदार्थक स्वप्नमें दीख जानेपर इस स्थूछशरीरमें ही कम्प या हृदयमें घडकन हो रही प्रतीत होती है, युवा पुरुषोंको विशेष स्वप्न आनेपर इस स्थूछ शरीरमें ही विकार हुआ करते हैं। यों मूर्छित, उन्मत्त, भ्रान्त, दशाओंमें अनेक प्रकारके विपरीत ज्ञान होते हैं। उनके छिये कहांतक झूंठे मूठे अप्रमाणिक शरीरोंकी कल्पना करोंगे ?

यथैव हि स्वप्नदशायां भोगोपलिधः स्वप्नांतिकं श्वरीरमंतरेण न घटतं इति मन्यते तथा भोग्यानर्थानंतरेणापि सा न सुघटेति भवद्भिमननीयं, जाग्रदशायां शरीर इव भोग्येष्विप सत्सु भोगोपलब्धेः सिद्धत्वात् । यदि पुनर्भोग्यवासनामात्रात्स्वप्नदर्शिनां भोग्याभास इति भवतां मितस्तदा शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनिमिति किं न मतं १ तथा सित स्वप्न-मितभासस्य मिथ्यात्वं सिध्येत्, अन्यथा शरीरमतीतेरिप भोग्यमतीतेः सुखादिभोगोपलब्धेः स्वप्नत्वप्रसंगात्। ततो न सौगतानां स्वप्नांतिकं शरीरं कल्पयितुं युक्तं नापि स्वाभाविकमित्याह ।

कारण कि जिस ही प्रकार जीवका स्वप्न अवस्थामें भोग, उपभोगोंकी उपलब्धि करना स्वप्नान्तिक रारीरको माने विना घटित नहीं होता है, यों बौद्ध मान रहे हैं। तिसी प्रकार भोग्य अर्थोंके विना भी वह भोगोंकी उपलब्धि भी मले प्रकार घटित नहीं हो पाती है। इस कारण आप बौद्ध करके स्वप्नान्तिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। क्योंकि जागृतदशामें जैसे शरिरके होनेपर ही भोगोंकी उपलब्धि होती है। अतः स्वप्नमें भी एक न्यारा शरीर मानना पडता है। उसी प्रकार जाप्रत दशामें भोग्य पदार्थोंके होनेपर ही भोगकी उपलब्धि होती है। इससे सिद्ध है कि स्वप्नमें विलक्षण प्रकारके भोग्य पदार्थोंके होनेपर ही भोगकी उपलब्धि होती है। इससे सिद्ध है कि स्वप्नमें विलक्षण प्रकारके भोग्य पदार्थों ने कवल वासनाओंसे ही भोग्योंका आभास हो जाता है, आचार्य कहते हैं कि यों आपका विचार होय तब तो शरीरकी केवल (कोरी) वासनासे स्वप्नमें शरीरका प्रतिभास हो जाता है, यह क्यों नहीं मान लिया जावे? तैसा होनेपर ही स्वप्न प्रतिभासको मिथ्यापन सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा यानी स्वप्नान्तिक भोग यदि मान लिये जायेंगे तो स्वप्न सच्चा बन बैठेगा अथवा शरीरकी प्रतीति हो जानेसे भोग्योंकी प्रतीति हो रही है, इस कारणके जामत दशाके सुख आदि भोगोंकी उपलब्धिको स्वप्नपनेका प्रसङ्ग हो जावेगा। तिस कारण बौद्धोंको निराले स्वप्नान्तिक शरीरकी

कल्पना करना उचित नहीं है । साथमें म्यामात्रिक गरीर कल्पना करना भी युक्त नहीं है । इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिक द्वारा कह रहे हैं ।

स्वाभाविकं पुनर्गात्रं शुद्धं ज्ञानं वदंति ये । कुतस्तेषां विभागः स्यात्तच्छरीरशरीरिणोः ॥ ७ ॥

जो बौद्ध विद्वान् फिर जीवके शुद्ध ज्ञानको स्वामाविक शरीर कह रहे है, उन बौद्धोंके यहा शरीर और शरीरवाले जीव का विभाग भला कैसे होगा ? बताओ। अर्थात्—ज्ञानादैतवादी बाद्ध यदि ज्ञानको ही शरीर कह देगे तो फिर शरीरधारी आत्मा उनके यहां क्या माना जायगा ? बौद्ध ज्ञानवान् आत्माको स्वतन्त्रतत्त्व मानते नहीं है।

तदेव ज्ञानमशरीरिव्याष्ट्रच्या शरीरी स्यादशरीरव्याष्ट्रच्या शरीरमिति सुगतस्य शुद्ध-ज्ञानात्मनः शरीरत्वं, शरीरित्वं च विभागेन व्यवतिष्ठते कल्पनासामर्थ्यादिति न मंतव्यं, तत्र्याष्ट्रचेरेव तत्रासंभवात । सिद्धं हि तस्य शरीरत्वे वा शरीरिणः शरीराच व्याष्ट्रचिः सिध्येत् तत्सिद्धौ च शरीरित्वमशरीरित्वं चेति परस्पराश्रयाश्रीकस्यापि सिद्धिः । तता न स्वाभाविकं शरीरं नाम ।

बौद्ध जनोंका यह मन्तव्य है कि ज्ञान परार्थ तो उपाब्याओंस रहित है, उसमे कीई वस्तुम्त पदार्थ नहीं ठहरता है। घटत्व, पटत्व, कीई पदार्थ नहीं है। अघटपनकी व्याद्यत्ति ही घटत्व है, और अपटपनकी व्याद्यति पट्च है, पटत्व कोई सदश परिणाम या जाति अथवा सखण्डोपाधि धर्म नहीं है। इसी प्रकार बुद्ध मगवान्के शरीर और शरीरंपन कोई धर्म नहीं है। ज्ञानांद्वेतवादियोंके यहा वह ज्ञान ही शरीरेरहितपनेकी व्याद्यत्ति करके शरीरी कहा जाता है और शरीरेरहितपनकी व्याद्यत्ति करके वह ज्ञान ही शरीरे कह दिया जाता है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञानस्वरूप बुद्ध मगवान्के शरीरेपन और शरीरेपन ये दो धर्म विमाग करके व्यस्थाको प्राप्त हो जाते है। अन्यापोह या अतद्व्याद्यत्तिकी कल्पनाकी सामर्थ्यसे वस्तुम्त नहीं होते हुये धर्म भी ज्ञानमें गढ लिये जाते हैं। जगत्में भी यही व्यवस्था करनी पड़ेगी कि धनवान्का अर्थ "दिर नहीं " इतना ही है। पण्डितका अर्थ "मूर्ख नहीं " एनत्मात्र है। पूर्ण धनवान् होना या पूर्ण पण्डित होना तो बहुत बड़ी बात है। सुंदर बल्वान, कुलीन, पुष्ट, व्याख्याता, स्त्राद्ध भोजन, आदि प्रशंसनीय पदार्थोको अर्थ केवल अन्यापोह मात्र है। अब आचार्य कहते है कि यह तो बौद्धोंको नहीं मानना चाहिय। क्योंकि उसका स्वभाव माने विना उससे भिन्नकी व्याद्यत्ति हो जानेका ही उसमें असम्भव है। कारण कि उस ज्ञानको शरीरीपना यदि गाठका सिद्ध होता तब तो शरीरीकी शरीरसे व्याद्यत्ति सिद्ध हो जाती और उस व्याद्यत्तिके सिद्ध हो जानेपर शरीरीपन और अशरीरीपन सिद्ध ोते। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो जानेसे एककी भी सिद्धी नहीं

हो सकती है। अर्थात्—अग्नि गांठकी उच्च है तब तो अनुच्च जल आदि पदार्थीसे उसकी व्यावृत्ति हो सकती है। किन्तु जो निजस्वरूपसे उच्च पदार्थ नहीं है उसकी अनुच्चव्यावृत्ति असंभव है। जन्यच्या जलके भी अनुच्चव्यावृत्ति बन बैठेगी। दूसरी बात यह है कि ज्ञान आत्मक बुद्धको शरीरीपना वस्तुभूत सिद्ध हो जाय, तब तो शरीरीसे भिन्न शरीर आदिसे उसकी व्यावृत्ति सध्याये और अशरीरीपन सधसके। तीसरी बात यह भी है कि चालिनी न्यायसे बुद्धमें किसी भी व्यावृत्तिकी कल्पना नहीं हो सकती है। क्योंकि शरीरत्व सिद्ध करते समय शरीरसे भिन्न शरीरीपन या अशरीरीपन भी व्यावृत्ति हो जायगा। बुद्धमें इनकी भी व्यावृत्ति हो जायेगी तथा शरीरीपनको साधते समय शरीरित्वसे भिन्न शरीरत्वकी भी व्यावृत्ति बुद्धमें घुस जावेगी। तिस कारण उक्त पांच शरीरोंसे न्यारा कोई स्वाभाविक शरीर नाममात्रको भी नहीं है।

यत्युनरातिवाहिकं नैर्माणिकं च तदस्मदिभमतमेवेत्याह ।

जो भी फिर किसीने आतिबाहिक और नैर्माणिक ये दो शरीर माने हैं, वे तो इमको अभीष्ट ही हैं, इसी बातको प्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं |

कार्मणांतर्गतं युक्तं शरीरं चातिवाहिकं। नैर्माणिकं तु युचेषां तन्नो वैिक्रयिकं मतं॥८॥

दोनोंमें पहिला आतिबाहिक शरीर तो कार्मण शरीरमें अन्तर्भूत हो जाता है। अतः मले ही आतिबाहिक शरीर मान लो उचित ही है और जो उनके यहां नैमीणिक शरीर माना गया ह बह तो हम जैनोंके यहां बैक्रियिक शरीर माना जा चुका है। अर्थात्—यहां वहां अनेक योनियोमें परि-भ्रमण करानेवाला आतिबाहिक शरीर कार्मण शरीर ही तो है तथा स्वल्प कालमें अधिक भोगोंकी भोगनेके लिये रचे गये नैमीणिक शरीर बैक्रियिक शरीर ही समझे जाते हैं। अतः जैनिसिद्दांतसे कोई विरोध नहीं आता है।

सांभोगिकं पुनरौदारिकादिशरीरत्रयमप्रतिषिद्धमेवेति न श्ररीरांतरमस्ति ।

जिनका प्रयोजन सम्भोग करना है ऐसे साम्भोगिक शरीर तो फिर औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर जैनोंके यहां माने ही गये हैं। अतः साम्भोगिक शरीरका हम निषेध नहीं करते हैं। किन्तु वह माने गये पांच शरीरोंसे कोई न्यारा शरीर नहीं है।

नन्वीदारिकाद्यानि भिन्नानि पार्थिवादिश्वरीराणि संति ततोन्यत्रीपसंख्यातच्यानीति केचित् तान् मृत्यादः।

यहां वैशोषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जो औदारिक शरीरसे मिन्न हो रहे पृथिनी-निर्मित शरीर या जळनिर्मित शरीर अथवा तैजस और वायवीय शरीर हैं उनको उस औदारिकसे न्यारा 30 कथन करना चाहिये। यदि सूत्रकारकी त्रुटि हो गयी है तो वार्तिककारको उपसंख्यान द्वारा वह त्रुटि पूरी कर देनी चाहिये, यहांतक कोई कह रहे हैं, उनके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

पार्थिवादिशरीराणि येऽतो भिन्नानि मेनिरे । प्रतीतरपलापेन मन्यतां ते खवारिजम् ॥ ९॥

जो वैशेषिक पण्डित इस औदारिक शरीरसे भिन्न पार्थिव शरीर, जलीय शरीर आदिको मान बैठे है, प्रतीतिका अपलाप करके चाहे जिस अन्ट, सन्ट, पदार्थको मान लेनेवाले वे वैशेषिक यों आकाशकमलको भी मान लेवें, इसमें क्या आश्चर्य हैं।

न हि पृथिन्यादीनि द्रन्याणि भिन्नजातीयानि संति तेषां पुद्रलपर्यायत्वेन प्रतीतेः परस्परपरिणामदर्शनाद्धिन्नजातीयत्वे तदयोगात् । न ह्याकाशं पृथिवीरूपतया परिणमते कालादिर्वा । परिणमते च जलं मुक्ताफलादि पृथिवीरूपतया । ततो न तज्जात्यंतरं युक्तं येन पार्थिवादिशरीराणि संभान्यंते ।

पृथिवी, जल, आदिक द्रव्य कोई मिन्न जातिवाले न्यारे त्यारे तत्व नहीं है। क्योंकि उन पृथिवी, जल, आदिकोंकी पुद्रलके पर्यायपने करके प्रतीति हो रही है, परस्परमें एक दूसरेकी पर्याय हो जाना देखा जाता है। यदि पृथिवी, जल, आदिक द्रव्योंको मिन्न मिन्न जातिवाला तत्वान्तर माना जावेगा तो उस परस्पर परिणाम होनेका योग नहीं बन सकेगा। तुम वैशेषिकोंके यहां भी पृथिवी स्वरूप करके आकाश द्रव्य नहीं परिणमता है अथया काल, आत्मा, आदिक द्रव्य भी पृथिवी या जल नहीं बन जाते है। अतः ये भिन्न जातिवाले द्रव्यान्तर है। किन्तु सीपके मुखमें पड़ा हुआ जल कुछ कालमें मोती हो जाता है, मेघजल ही अनेक वनस्पतियां बन जाता है, जलके लकडी, पाषाण आदि परिणाम हो जाते हैं, जो कि कठिन होनेसे आपके मतमें पृथिवी पदार्थ माने गये है। आकाशमें, विशेष वायुयें जल होकर वरस जाती है। अप्रिकी भस्म पृथिवी हो जाती है। कपड़ा, लकडी, आदिक पार्थिव पदार्थ जलकर अप्रि होजाते है। दीपकसे काजल बन जाता है। इस ढंगसे परस्परमे पृथिवी, जल, तेज, वायु-ओंका परिणामपरिणामी भाव देखा जाता है। तिस कारणसे उन पृथिवी, जल आदिकोंको न्यारी न्यारी जातिवाला कहना उचित नहीं है, जिससे कि पार्थिव शरीर या जलीय शरीर, आदिक न्यारे शरीरोंके सद्वावकी संभावना की जा सके।

संत्यिप तानि नेतेभ्यः शरीरेभ्यो भिकानि पतीतेर्विषयभावमनुभवंति व्योमारविंदवत्। मार्थिवं हि शरीरं यदिंद्रलोके यच्च तेजसमादित्यलोके यदाप्यं वरुणलोके यच्च वायव्यं वायुलोके वेदितव्यं, तद्वेकियिकमेव देवनारकाणामीपपादिकस्य शरीरस्य वैक्रियिकत्वात्। यच चातुर्भू-

तिकं पांचभौतिकं वा कैश्विदिष्टं शरीरं मनुष्यातिरश्वां तदौदारिकमेव च, न ततोन्यदिति पंचैव यथोक्तानि शरीराणि व्यवतिष्ठंते सर्वविशेषाणां तत्रांतभीवात् ।

और ये पार्थिव, जलीय, आदि शरीर विद्यमान हैं तो भी वे इन पांच शरीरोंसे भिन्न होते हये प्रतीतिके विषयपनको नहीं अनुभव कर रहे हैं। जैसे कि आकाशपर लगा हुआ कमल कोई सङ्गत प्रमेय नहीं हैं । उसी प्रकार इन औदारिकादि शरीरोंसे भिन्न कोई पृथित्री तत्त्व निर्मित या जलतत्व निर्मित अथवा अकेले तेजो द्रव्यसे निर्मित तथा कोरी वायसे बने ह्रये शरीर नहीं जाने जा रहे हैं। तम वैशेषिकोंने प्रथिवीका बना हुआ जो शरीर इन्द्रलोकमें प्रसिद्ध माना है तथा जो सूर्यलोकमें तैजस शरीर कहा है और जो वरुण लोकमें जलनिर्मित शरीर माना गया है एवं वायुलोकमें जीवोंका शरीर जो वायुनिर्मित स्वीकार किया गया है वे तो सब शरीर वैक्रियिक ही हैं। देव और नारिक्योंके उपपाद जन्मसे निपजे ह्रये शरीर वैक्रियिक हुआ करते हैं। हां, जरायुज, मनुष्य, गाय, भैंस, आदिक और अण्डज पक्षी सर्प आदिकोंका योनिज शरीर तथा गिडार, डांस, बूक्ष आदिकोंका अयोनिज शरीर जो पार्थित माना गया है वह तो औदारिक ही है। जलकायके जीवोंका शरीर हो रहा सचित्त जल भी औदारिक शरीर है। इसी प्रकार अग्निकायिक जीव और वायुकायिक जीवोका सचित्त शरीर भी अग्नि और वायुस्वरूप होता हुआ औदारिक रारीर है। जो भी वैरोषिक यों मान बैठे हैं कि मनुष्य और तिर्यचोंका रारीर तो प्रथियी, जल. तेज, वायु, इन चार भूतीका बना हुआ है अथवा इन चारमै आकाशको मिलाकर पांच भूतोंसे बन रहा माना है । अर्थात्—मनुष्य और घोडा, हाथी, तोता, मैना, सांप, आदिके शरीगेंमें कठिन भाग पृथिर्वाका है, दव भाग जलका है, उदरामि या उष्णता तो अमिका भाग है, उक्त रारीरोंमें वाय भी है. इस कारण चारों धातुओंसे ये शरीर बने हुये हैं। उक्त शरीरोंमें भीतर पोल भी हैं वह आकाशका भाग है, यों पांच भूतोंसे बने हुये ये शरीर किन्हीं बादियों करके इष्ट किये गये हैं। आचार्य कहते है कि वह मनुष्य या तिर्यचोंका शरीर तो हमारे यहां औदारिक शरीर ही माना गया है । उनसे न्यारा कोई शरीर नहीं है। इस कारण आम्नाय अनुसार सूत्रकार द्वारा कहे गये शरीर पांच ही व्यवस्थित हो रहे है। शरीरके अन्य सभी भेद प्रभेदोंका उन पांचमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।

नतु चामूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तिमद्भिः शरीरैस्संबंधो मुक्तात्मवदित्याशंकामपतुदश्चाह ।

यहा किसीकी शंका है कि मुक्त आत्माके समान अमूर्त हो रहे आत्माका भछा मूर्तिवाले शरी-रोंके साथ केसे सम्बन्ध हो जाता है? अन्यथा मुक्त परमात्माके भी शरीरके साथ सम्बन्ध बन बैठेगा। इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण कर रहे श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिमसूत्रको कह रहे हैं।

अनादिसंबंधे च ॥ ४१ ॥

वे तैजस और कार्मण शरीर दोनों आत्माके साथ अनादि कालसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। अर्थात्—मोक्ष होनेक पूर्व कालोंमें अनादि कालसे यह जीव प्रवाह रूप करके कर्मीके साथ बंधा रहनेके करण मूर्त है। संसारी जीव विचारा मुक्तारमा या आकाशको समान अमूर्त नहीं है। अतः मूर्तजीवका ही मूर्त शरीरोंको साथ सम्बन्ध हो जाता है। अमूर्तका मूर्तद्रव्यके साथ बंध नहीं हो सकता है।

अनादिः संबंधो ययोगात्मना ते यथा तैजसकार्मणकारीरे, च श्रद्धात्सादिसंबंधे ते प्रति-प्रच्यो । ततो नैकांतेनामूर्तत्वमात्मनः परभगिरसंबंधात्पूर्व येन तद्बुपपत्तिः तत्संबंधात् प्रागपि सस्य तैजसकार्मणाभ्यां संबंधसञ्ज्ञावात् । ततः पूर्वपप्यपराभ्यां ताभ्यामित्यनादितत्संबंध-संतानः प्रतिविश्विष्ठतेजसकार्मणसंबंधात् सैव सादिता ।

जिन तैजस और कार्मणका आत्मांके साथ सम्बन्ध अनादिकालसे चला आता है, वे तैजस और कार्मण शरीर थथायोग्य अनादि सम्बन्धवाले कहे जाते हैं। सूत्रमें समुद्ययाचक च शह भी पढ़ा हुआ है। इस कारण वे तैजस और कार्मण शरीर सादि सम्बन्धवाले भी समझ लेने चाहिये। अर्थात्—तैजस शरीर ल्यासठ सागरसे अधिक नहीं ठहरता है। कोई भी वर्तमानका कार्मण शरीर सत्तर कोटाकोटी सागरसे अधिक नहीं ठहर सकता है। किन्तु कार्यकारणभावकी सन्तानसे उनका प्रवाह अनादिकालसे चला आ रहा है। तभी तो विशेष विशेष तैजस शरीर या कार्मण शरीरकी अपेक्षासे वे सादि सम्बन्धवाले भी हैं। जैसे कि बीज और बृक्षकी सन्तान अनादि है, किन्तु विशेष बीज या कोई एक पकड लिया गया बृक्ष तो सादिकालका है। तिस कारणसे दूसरे शरीरोंके सम्बन्धसे पहिले आत्माको एकान्तरूपसे अमूर्तपना नहीं है। जिससे कि उस शरीरके सम्बन्धकी असिदि हो जाय। जिस समय तैजस और कार्मण शरीरोंको बर्तमानमें सम्बन्ध हो रहा है, उस सम्बन्धसे पहिले भी उस आत्माका पूर्वक्ती तैजस और कार्मण शरीरोंके साथ सम्बन्धका सद्भाव था। और उससे भी पहिले तीसरे उन तैजस कार्मण शरीरोंके साथ आत्माका सम्बन्ध था। इसी प्रकार अनादिकालके जीवकी अनादिकालसे उन तैजस, कार्मण, शरीरोंके सम्बन्धकी सन्तान बन रही है। हां, प्रत्येक विशिष्ट विशिष्ट असाधारण किसी तैजस या कार्मणका सम्बन्ध हो जानेसे वही सादिपना उनका व्यवस्थित है। विशिष्ट असाधारण किसी तैजस या कार्मणका सम्बन्ध हो जानेसे वही सादिपना उनका व्यवस्थित है।

नह्य कस्यचिकानादिसंबंधे तेऽतः परशरीरसंबंधानुपपिचरित्याशंकायामिदमाह ।

यहां कोई शंका करता है कि सम्भवतः किसी किसी जीवके वे तैजस, कार्मण, शरीर तो अनादि सम्बन्धवाळे नहीं हैं। अतः जिस आत्माके तैजस या कार्मणका सादि सम्बन्ध हुआ है, उस अमूर्त आत्माके इस कारण दूसरे औदारिक आदिक मूर्त शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी असिद्धि हो जावेगी। इस प्रकार आशंका होनेपर श्री उमास्वामी इस अगळे सूत्रको कह रहे हैं।

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके ये दोनों ही शरीर होते हैं। अर्थाद्—कोई भी संसारी जीव ऐसा नहीं है जिसे कि वे तैजस कार्मण शरीर प्रवाह रूप करके अनादि काळसे छगे हुये नहीं होंय। सभी संसारी जीव कर्मोंसे बंध रहे हैं।

सर्वस्य संसारिणस्तैजसकार्यणग्नरीरे तथानादिसंबंधे न पुनः कस्यचित्सादिसंबंधे येना-त्मनः शरीरसंबंधानुपपत्तिः । कुतः इत्याह ।

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके वे तैजस कार्मण शरीर तिस प्रकार धारारूपसे अनादि सम्बन्धवाठे हैं। किन्तु फिर किसी भी एक जीवके वे मूळ्रूपसे सादि सम्बन्धवाठे नहीं है, जिससे कि आत्माके साथ औदारिक आदि शरीरोंके सम्बन्ध हो जानेकी असिद्धि हो जाय। कोई यहां आक्षेप करता है कि किस प्रमाणसे आपने यह जाना कि वे दोनों शरीर सभी जीवोंके अनादि सम्बन्धवाठे हैं! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अगळी वार्तिकर्मे यों समाधान वचन कहते हैं।

सर्वस्यानादिसंबंधे चोक्ते तैजसकार्मणे । शरीरांतरसंबंधस्यान्यथानुपपत्तितः ॥ १ ॥

सभी जीवोंके वे तैजस और कार्मण शरीर (पक्ष) अनादि कालसे सन्बन्ध रखनेवाले कहें जा चुके है (साध्य) अन्य शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे (हेतु) अर्थात्—मूर्त पदार्थका ही दूसरे मूर्त पदार्थके साथ सम्बन्ध हो सकता है। अमूर्त आकाशमें तलवार या विष अपना प्रभाव नहीं जमा सकते हैं। परतंत्र हो रहा यह आत्मा विजातीय पदार्थके साथ तभी बंध सकता है जब कि पहिलेसे अनादि कालीन कर्मोंके साथ बंध रहा मूर्त होय, अन्यथा नहीं। एतावता जीवके साथ उन दो शरीरोंका अनादिसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

तैजसकार्मणाभ्यायन्यच्छरीरमौदारिकादि तत्संबंधोस्पदादीनां तावत्सुप्रसिद्ध एव सः च तैजसकार्मणाभ्यां संबंधोनादिसंबंधमंतरेण नोपपद्यते स्रुक्तस्यापि तत्संबंधप्रयोगात् ।

तैजस और कार्मण शरीरोंसे न्यारे शरीर औदारिक आदिक है। उन औदारिक आदिकोंका सम्बन्ध तो हम आदि संसारी जीवके भछे प्रकार प्रसिद्ध ही है और वह तैजस और कार्मणके साथ हो रहा सम्बन्ध माने विना नहीं बन सकता है। अन्यथा मुक्तजीवके भी उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेका प्रयोग होने छग जावेगा, जो कि किसीने नहीं माना है। अतः तैजस और कार्मणका जीवके साथ अनादिकाछीन सम्बन्ध मानना चाहिये। तभी जीवका औदारिक आदि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना बन सकेगा जो कि प्रायः सभी जीवोंके प्रत्यक्षगोचर है।

अथैतानि शरीराणि युगपदेकस्मिन्नात्मनि कियंति संभाव्यंत इत्याइ।

यहां श्री उमास्त्रामी महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि ये शरीर एक आत्मामें एक समयमें अधिक से अधिक कितने हो रहे सम्भव जाते हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्पष्टकर कह रहे हैं ।

तददीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

उन तैजस और कार्मणशरीरको आदि लेकर विकल्प प्राप्त किये जा रहे ये शरीर एक कालमें एक आत्मामें चारतक हो सकते हैं।

तद्ग्रहणं मकृतशरीरद्व्यमितिनिर्देशार्थमादिशब्देन व्यवस्थावाचिनान्यपदार्था वृत्तिः, तेन तैजसकार्मणे आदिर्येषां शरीराणां तानि तदादीनीति संमतीयते । भाज्यानि पृथक्कर्तव्यानि । पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणमनर्थकमिति चेत्, तंश्वेकस्यचिद्वित्रिचतुःशरीरसंबंधविभागोपपत्तेः। युगपदिति कालैकत्वे वर्तते, आङ्गिविध्यर्थः । तेनैतदुक्तं भवित कचिदात्मिन विग्रहगत्यापसे द्वे एव तैजसकार्मणे शरीरे युगपत्संभवतः, कचित् त्रीणि तैजसकार्मणवैक्रियिकाणि, तेजसकार्म-णौदारिकाणि वा कचित्रत्वारि तान्येवाहारकसहितानि वैक्रियिकसहितानि वा ।

प्रकरण प्राप्त तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरोंका प्रतिनिर्देश (परामर्श) करनेके छिये इस सूत्रमें तत् राब्दका प्रहण किया है । सर्वज्ञकी आम्नाय धाराप्ते चले आ रहे आगमके अनुसार व्यवस्थाको कहनेवाले आदि शब्दके साथ तत् शब्दकी अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली बहुवीहि समास वृत्ति कर ही जाती है। तिस कारण पूर्वसूत्रोंमे व्यवस्थाको प्राप्त हो रहे शरीरोंकी आनुपर्वी अनुसार जिन शरीरोंकी आदिमें तैजस और कार्मण शरीर है. वे तदादीनि इस पदके द्वारा भछे प्रकार प्रतीत कर लिये जाते हैं । अवयवके साथ विग्रह है और वृत्तिका अर्थ समदाय है । अतः तैजस और कार्मण भी छे लिये जाते हैं । सूत्रमें पड़े हुये भाज्यानि इस शब्दका अर्थ ''संभावना प्रयुक्त पृथक् पृथक् करने योग्य है " यह समझ छेना । यदि यहां कोई यों शंका करे कि ये शरीर परस्पर में और जीवसे पृथक्भूत है ही, क्योंकि जीव उपयोगमय न्यारा है और वर्ण, गंध, स्पर्श, रस, वाले शरीर न्यारे हैं, अतः सूत्रमें भाज्यका प्रहण करना व्यर्थ है । यों कहनेपर तो आचार्य कहते है कि वह शंकाकारका वचन ठीक नहीं है । क्योंकि किसी किसी एक आत्माके दो, तीन, अथवा चार शरी-रोंके साथ सम्बन्ध हो जानेका विभाग बन रहा है । यह भाज्य शहका तात्पर्य है । इस सूत्रमें पडे ह़ये " युगपत् " इस शद्धका अर्थ कालके एकपनेमें प्रवर्तता है । आङ्का अर्थ अभिविधि है, जिससे कि चार संख्यावाळे शरीर भी प्रइण कर छिये जाते हैं। आङ्का अर्थ मर्यादा करनेपर चार शरीरका सम्बन्ध छूट जाता । तिस कारण सूत्रका समुदित वाक्य बनाकर यह कह दिया जाता है कि मरकर विप्रह गतिको प्राप्त हो रहे किसी एक आत्मामें नैजस और कार्मण ये दो ही शरीर एक कालमें संभवते हैं । हां, जन्म छे चुकनेपर किसी देव या नारकी जीवके तैजस, कार्मण, और वैक्रियिक ये तीन शरीर पाये जाते हैं अथवा कहीं मनुष्य या तिर्थेचके तैजस, कार्मण, और औदारिक ये तीन शरीर संभव जाते हैं। कहीं छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके ये ही तीनों शरीर आहारकसे सिहत होते हये चार पाये जाते हैं अथवा वे तैजस, कार्मण, और औदारिक यदि वैत्रियिक शारीरसे सहित हो जांय तो भी एक समयमें एक साथ चार शरीर संभव जाते हैं । यद्यपि वैक्रियिकयोग द्वारा प्रइण की गई आहारवर्ग- णासे स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा देव नारिकयों करके बना लिया गया वैक्रियिक शरीर ही यथार्थ रूपसे वैक्रियिक शरीर है, फिर भी " बादरतेऊवाऊपंचिदियपुण्णगा विगुन्वंति, ओरालियं सरीरं विगुन्वणणं हवे जेसि " इस गाथा अनुसार कतिपय तैजस कायिक, वायुकायिक या कोई कोई पंचिन्द्रिय तिर्थेच अथवा भोगभूमियां, चक्रवर्ती आदि मनुष्योंके जो पृथक् या अपृथक् विक्रियात्मक शरीर हैं वे भी वैक्रियिक शरीर माने जाते हैं। अतः तैजस, कार्मणसे युक्त हो रहे औदारिकके साथ वैक्रियिक शरीरके संभव जानेसे एक जीवके ये चार शरीर भी युगपत् सम्बद्ध हो रहे पाये जाते हैं।

पंच त्वेकत्र युगपन संभवंतीत्याह ।

पांचों शरीर तो एक जीवमें एक समय (एकदम) में नहीं संभवते हैं, इस बातको श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा कह रहे है।

तदादीनि शरीराणि भाज्यान्येकत्र देहिनि। सक्त्संत्याचतुर्भ्यो न पंचानां तत्र संभवः॥१॥

रारीरधारी एक आत्मामें एक समयमें विकल्प प्राप्त हो रहे उन तैजस, कार्मण दो रारीरोंको आदि लेकर चार रारीरोंतक पाये जाते हैं। उस आत्मामें पांचों रारीरोंके होनेकी एक बारमें संभावना नहीं है। क्योंकि " वेगुव्वियआहारयिकरिया ण समं पमत्तविरदिष्ट " छटे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक रारीरका सद्भाव हो जानेपर उसी समय वैक्रियिक रारीर नहीं उपज सकता है। वैक्रियिक और आहारकका विरोध है।

न हि वैकियिकाहारकयोर्थुगपत्संभवो यतः कचित्यंचापि स्युः ।

सहानवस्थान नाम किरोध होनेसे वैकियिक और आहारकका युगपत् सद्भाव नहीं पाया जाता है। जिससे कि किसी किसी आत्मामें पांचों भी शरीर सम्भव जाते। अर्थात्—तेजस और कार्मणका सदा सहचरभाव होनेसे एक आत्मामें एक समय केवळ एक शरीर भी नहीं सम्भवता है, जैसा कि ज्ञानोंमें अकेळा केवळज्ञान संभव गया था। तथा वैकियिक और आहारक ऋदिका विरोध पड रहा होनेसे पांचशरीर भी एक साथ नहीं पाये जाते हैं।

किं पुनरत्र शरीरं निरूपभोगं किं वा सीपभोगमित्याह।

कोई प्रश्न उठाता है कि इन पांचों शरीरोंमें फिर कौनसा शरीर उपमोगरिहत है ! अथवा कौनसा शरीर उपमोगसिहत है ! अर्थात्—पंचिन्द्रिय जीव अपने औदारिक शरीरके रूप, स्पर्श, ताडन, अमिघात, आदिकी जैसे इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि कर लेता है, वैसे पौद्रलिक पांचों शरीरोंके रूप, रस, या उन शरीरोंके अवयवोंका संयोग अथवा विभाग हो जानेपर उपजे हुये शद्धका इन्द्रियों

द्वारा ज्ञान क्या हो जाता है ? अथवा क्या किसी किसी शरीरके पौद्राठिक भावोंका इन्द्रियोंसे उपलम्भ नहीं भी हो पाता है ? बताओ । इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते है ।

निरुपभोगमंत्यम् ॥ ४४ ॥

शरीरोंको गिनानेवाली सूत्रकथनीके अनुसार अन्तमें प्रयुक्त किया गया कार्मण शरीर तो अन्त्य है। इन्द्रियों द्वारा उसके शद्ध, रूप, रस, आदिकी उपलब्धि नहीं हो सकनेसे कार्मण शरीर उपभोगरहित है।

पागपेक्षया अंत्यं कार्मणं तिम्रुक्षभोगिमिति । सामर्थ्यादन्यत्सोपभोगं गम्यते । कर्मा-दानसुखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोगं कार्मणिमिति चेन्न, विवक्षितापरिक्षानात् । इंद्रियनिमित्ता हि श्रद्धाद्युपलब्धिरूपभोगस्तस्मानिष्कांतं निरुपभोगिमिति विवक्षितं ।

पूर्ववर्ती चारों शरीरोंकी अपेक्षा करके अन्तमें कहा गया पांचवां कार्मण शरीर अन्त्य है. वह इन्द्रियों द्वारा उपभोग करने योग्य नहीं है। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी अथवा केवलज्ञानी महाराज यद्यपि कार्मण शरीरके रूप, रस, शद्ध, आदिकोंका विशद प्रत्यक्ष कर छेते हैं, किन्तु वे भी बहिरंग इन्द्रियों द्वारा कार्मण शरीरके रूप रस आदिका सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान नहीं कर पाते हैं। जैसे कि सर्वज्ञको परमाणुके रूप, रस, आदिका इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं हो पाता है, शृंगार रसमें इब रहा पुरुष क्षींक औदारिक या वैक्रियिक शरीरमें पाये जा रहे गन्ध, स्पर्श, रूप, आदिका उपभोग कर सकता है. दिन रात भोगोंमे लीन हो रहा देवेंद्र भी देवियोंके कार्मण शरीरका इन्द्रियों द्वारा परिभोग नहीं कर सकता है। अतः अन्तका शरीर इन्दियों द्वारा उपभोग्य नहीं है। इस कार्मण शरीरके उपभोग होनेका निषेध कर देनेसे विना कहे ही शद्धसामध्ये द्वारा यह अर्थ जान लिया जाता है कि शेष अन्य शरीर तो इन्द्रियों द्वारा उपभोगसिंहत हो रहे हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि कार्मण शरीरका अवलम्ब लेकर आत्मा अपने योगनामक प्रयत्न (पुरुषार्थ) करके कर्मोंका प्रहण करता है । कार्मण शरीर द्वारा आत्मा सुखका अनुभव करता है । अतः कर्मप्रहण, सुखानुभव, शरीररचना, वचन बोळना आदिका हेतु होनेसे कार्मणशरीर भी उपभोग सिंहत है, जैसे कि भोग, उपभोग योग्य सामग्रीका साधन होनेसे रुपया उपभागसिंहत माना जाता है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना । क्योंकि प्रकरण अनुसार विवक्षा प्राप्त हो रहे उपमोगका शंकाकारको परिज्ञान नहीं है। कारण कि इन्द्रियोंको निमित्त कारण मान कर हुई राद्व, रूप, आदिकोंकी ज्ञान हो जाना यहां उपभोग माना गया है। उस उपभोगसे जो बाहर निकाल दिया गया है, बह मिरूपभोग है, यह अर्थ यहां विवक्षाप्राप्त है।

तैजसमप्येवं निरुपभोगमस्त्वित चेन्न, तस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारात् । यदेव हि योगनिमित्तमौदारिकादि तदेव सोपभोगं मोच्यते निरुपभोगत्वादेव च कार्मणमौदारिका-दिभ्यो भिन्नं निश्रीयत इत्याह ।

यहां किसीका प्रश्न है कि बहिरंग इन्द्रियोंद्वारा जिसके शब्द, रूप, आदिको नहीं जाना जा सकें, वह शरीर यदि निरुपभोग है, तब तो इस प्रकार तैजसशरीर भी उपभोगरहित होजाओ । ऋद्विधारी मुनि या सर्वाविधज्ञानी अथवा देवेंद्र, अहमिन्द्रोंतकको इन्द्रियोंद्वारा तैजसरारीरके रूप, रस. आदिकी ज्ञित नहीं हो पाती है। आचार्य कहते है यह तो नहीं कहना। क्योंकि योगका निमित्त-कारण नहीं होनेसे उस तैजसशरीरका यहां प्रकरणमे अधिकार नहीं है। जब कि जो ही आत्म-प्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योगके निमित्तकारण हो रहे औदारिक वैक्रियिक आदिक शरीर हैं, वे ही उपभोगसहित भल्ने प्रकार कहे जा रहे हैं। निरुपभोग होनेसे ही कार्मण शरीर इन औदारिक आदिकोंसे भिन्न हो रहा निश्चय किया जा रहा है। भावार्थ —सात प्रकारके काययोगोंके निमित्त कारण औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और कार्मण ये चार शरीर हैं। औदारिक काययोग, औदा-रिक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग, कार्मण काययोग, अथवा सत्य, असऱ्य, उभय, अनुभय, मनोयोग या वचनयोग इन फद्रह योगोंमेंसे यथायोग्य जिस समय कोईसा भी एक योग होगा, उसी योग करके आहार वर्गणा. भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणाके समान तैजस वर्गणा भी इनके साथ विसटती हुई चली आती है। जब कि वचनयोगसे आहारवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा, खिच आतीं है। अथवा विग्रह गतिके कार्मणयोगसे सूक्ष्म स्थूल शरीर भाषा और मनके उपयोगी वर्गणाओंका आक-र्षण हो रहा है, ऐसी दशामें तैजस योगको माने विना भी तैजस वर्गणाका आकर्षण हो सकता है। बात यह है कि तैजसवर्गणा आत्माके प्रदेश परिस्पन्दका अवलम्ब नहीं है। भिन्न भिन्न पदार्थीमें न्यारी न्यारी जातिकी शक्तियां हैं। जाडेके दिनोंमें शीतजल दातों या शरीरको कंपा देता है, अग्नि या उष्णजळ नहीं कंपा पाता है, आत्मप्रदेश परिस्पन्द स्वरूप द्रव्ययोगका अन्तरंग कारण भावयोग है। " पुग्गळिबिबाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स, जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगी "। जो कि पहिले गुणस्थानसे लेकर तेरहवें तक पाया जा रहा आत्माका पुरुषार्थ विशेष है। जैसे लोटाका जल, घडेका जल, यों उसी जलके आश्रय भेदसे कई भेद कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार संचित मन, वचन, काय, या प्रहण करने योग्य वर्गणाओंका अवलम्ब हो जानेसे योगके पन्दह भेद कर दिये गये हैं तैजस शरीरके निमित्तसे आत्मामें कंप नहीं होने पाता है हम क्या करें १। अतः योगके निमित्त हो रहे शरीरों के उपभोगसिहतपन और उपभोगरहितपनका यहां निर्णय किया गया है। औदारिक शरीरीके हाथोंकी ताली बजानेपर हुये शद्धकी या औदारिकके रूप, गंध, आदिकी इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि हो रही है। वैक्रियिक शरीरके रूप आदिकोंका देव और नारिक्योंको प्रत्यक्ष हो रहा है। यदि देच दिखाना चाहें तो उनके शरीरके रूपको मनुष्य भी नेत्र द्वारा देख छेते हैं। नाकसे गंधको सूंघ छेते हैं। हस्तप्रमाण घौछा आहारक शरीर भी अतीन्द्रिय नहीं है। हां, तैजस और कार्मण अतीन्द्रिय हैं। इन्द्रियों द्वारा उनका उपभोग नहीं किया जा सकता है। इसी बातको प्रन्थकार श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज अभिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

अंत्यं निरुपभोगत्वाच्छेषेभ्यो भिद्यते वपुः। शब्दाद्यनुभवो ह्यस्मादुपभोगो न जायते ॥ १॥

अन्तमें होनेवाळा कार्मण शरीर तो उपभोगरहित होनेसे योगनिमित्त हुये अविशष्ट शरीरेंसे । भिन्न होजाता है । कारण कि इस कार्मणशरीरसे शद्ध, रूप आदिका अनुभव होजाना रूप उपभोग नहीं उत्पन्न हो पाता है ।

औदारिकं किंत्रिशिष्टमित्याह।

कोई पूंछता है कि किन विशेषणोंसे युक्त हो रहा औदारिक शगैर है ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अगले सूत्रको कह रहे है।

गर्भसंमूर्छनजमाद्यम् ॥ ४५॥

मनुष्य या तिर्थचोक्रे गर्भ और संमूर्छन जन्मसे उत्पन्न हुये शरीर तो आदिके औदारिक शरीर माने जाते है।

गर्भसंपूर्छनजं पाटापेक्षयाद्यमौदारिकं तद्वर्भजं संमूर्छनजं च प्रतिपत्तव्यं। तत एव सोप-भौगाभ्यामपि पराभ्यां शरीराभ्यां तद्भिद्यते इत्याह ।

गर्भजन्य और संमूर्छनजन्यका अर्थ यह है कि " औदारिकवैकियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि " इस सूत्र पाठ की अपेक्षा करके आदिमें उपात्त किया गया औदारिक शरीर है, वह गर्भ-जन्मा जीवोंके और संमूर्छन जन्मवाले जीवोंके सम्भवरहा समझ लेना चाहिये। तिस ही कारणसे उप-भोगसहित होरहे परले वैकियिक और आहारक दो शरीरोसे वह औदारिक शरीर मिन होरहा है। इसी बातको ग्रंथकार श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

आद्यं तु सोपभोगाभ्यां पराभ्यां भिन्नमुच्यते । गर्भसंमूर्छनाद्वेतोर्जायमानत्वतो भिदा ॥ १ ॥

सूत्रक्रमकी अपेक्षा आदिमें होनेवाला अथवा मोक्षप्राप्तिकी अपेक्षा प्रधान होरहा आद्य औदा-

उन वैक्रियिक, आहारक, दो शरीरोंसे भिन्न हो करके गर्भहेतु, और सैमूर्छनहेतुसे उपज रहा होनेसे (हेतु) अर्थात्—उपभोगसिंहत तीन शरीरोंमें गिनाया जा रहा, औदारिक शरीर अपने हेतु माने गये गर्भ, संमूर्छन जन्मका भेद होजानेसे शेष दो शरीरोंकी अपेक्षा निराला ही है।

्यथैव कार्मणं निरुपभागत्वात्सोपभागभ्यो भिन्नं तथीदारिकं सीपभागमपि कारणभे-दात् पराभ्यां भिन्नमभिधीयते ।

जिस ही प्रकार कार्मणशरीर उपभोगरहित होनेसे उपभोगसहित शेष शरीगेंसे मिन है, उसी प्रकार उपभोगसहित भी औदारिकशरीर अपने कारणोंका भेद हो जानेसे परले दो शरीरोंसे भिन्न हो रहा कहा जाता है।

. वैकियिकं कीदशमित्याह ।

औदारिक शरीरसे परली ओर कहा गया वैक्रियिक शरीर भला कैसा क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज भविष्य सूत्रका अवतार करते हुये कह रहे हैं ।

औपपादिकं वैकियिकम् ॥ ४६ ॥

उपपाद जन्मसे होनेवाला देव, नारिकयोंका औपपादिक शरीर तो वैक्रियिक शरीर है।

उपपादो व्याख्यातः तत्र भवमौपपादिकं तद्वैिकायिकं बोद्धव्यं । कुतः पुनरीदारिकादिदं भिन्नमित्याह ।

" संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म " इस सूत्रके विवरणमें उपपादका व्याख्यान किया जा चुका है। देव और नारिक्योंके उपजनेका स्थानविशेष उपपाद कहा जाता है। उस उपपादमें उपज रहा शरीर औपपादिक है, वह सब वैक्रियिक शरीर समझ लेना चाहिये। कोई पूछता है कि किस कारणसे यह वैक्रियिक शरीर फिर औदारिक्से भिन्न है ! बताओ। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकको कहते हैं।

ं औपपादिकतासिद्धेर्भित्रमौदारिकादिदं । ं तावद्वैकियिकं देवनारकाणामुदीरितम् ॥ १ ॥

उपपाद जन्मसे उपजनेकी सिद्धि हो जानेसे यह देव नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर तो सूत्र-द्वारा उस औदारिकसे मिन्न कहा जा चुका है।

न श्रीदारिकमेव वैक्रियिक ततोन्यस्यीपपादिकस्य देवनारकाणा शरीरस्य वैक्रियिक-त्वात् । तच कारणभेदादीदारिकाद्वित्रग्रुच्यते । कारण कि औदारिकशरीर ही तो वैक्रियिक नहीं है। किन्तु उससे न्यारे देव नारिकर्योंके औपपादिक शरीरको वैक्रियिकपना है और वह वैक्रियिक शरीर अपने कारणोंकी विभिन्नता द्वारा औदारिकसे भिन्न कहा जाता है।

किमेतदेव वैक्रियिकमुतान्यद्पीत्याह ।

क्या यह उपपादजन्मवाला शरीर ही वैक्रियिक शरीर है ! अथवा क्या अन्य भी कोई शरीर वैक्रियिक है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं ।

लिब्धप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

लिधको कारण मानकर उपजा हुआ विकियात्मक औदारिक शरीर भी वैकियिक शरीर माना गया है |

तपोतिशयद्धिर्रुविधः सा प्रत्ययः कारणमस्येति लब्धिपत्ययं वैक्रियिकमित्यनुवर्तते च शब्दस्तुक्त सम्रुच्चयार्थस्तेन लब्धिपत्यमीपपादिकं च वैक्रियिकमिति संप्रत्ययः।

अतिशययुक्त तपस्या करनेसे विशेषऋदिकी प्राप्ति हो जाना यहां प्रकरणमें लिन्ध कही गयी है। जिस शरीरका कारण वह लिन्ध है, वह लिन्धप्रत्यय वैकियिक शरीर है। जैसे कि श्री विष्णुकुमार महाराजने स्वकीयऋदि स्वरूप पुरुषार्थ द्वारा लम्बा चौडा वैकियिक शरीर बनाया था। पूर्व सूत्रसे "वैकियिकं" इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है, और इस सूत्रमें पडा हुआ च शब्द तो पूर्वमें कहे जा चुके वैकियिककी विधिक्ता समुच्चय करनेके लिये है। तिन वैकियिक पदकी अनुवृत्ति और समुच्चय वाचक च शब्द करके सूत्रका अर्थ यो मले प्रकार जान लिया जाता है कि लिन्धको कारण मानकर हुआ शरीर वैकियिक है, तथा उपपाद जन्मसे उपजनेवाले देव नारिकयोंका शरीर तो वैकियिक है, यह पूर्व सूत्रमें कहा ही जा चुका है।

नन्विद्मीदारिकादेः कथं भिन्नमित्याह ।

यहां किसीका प्रश्न उठता है कि औदारिकशरीरधारी तपस्वियोंके ऋदिविशेषसे उत्पन्न हुआ शरीर तो औदारिक ही होना चाहिये। जब कि उन मुनियोंके वैक्रियिक काययोग नहीं है, तो उनका वह शरीर वैक्रियिक नहीं हो सकता है। अतः बताओ कि यह लिधसे उपजा शरीर मला औदारिक आदिसे भिन्न किस ढंगमे माना गया है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान करनेके लिये अप्रिम वार्त्तिकको कहते है।

किंचिदौदारिकत्वेषि लब्धिप्रत्ययता गतेः। ततः पृथक् कथंचित्स्यादेतत्कर्मसमुद्भवं॥१॥

विकिया करनेवाले मुनियोंका औदारिकशरीर ही अनेक प्रकारकी रचनाओंको प्राप्त हो गया है। अतः विकियायुक्त शरीरमें कुछ कुछ औदारिकपना होते हुये भी लिन्धको उसके कारणपनेका निर्णय हो जानेसे यह लिन्धजन्य उत्पन्न हुआ शरीर उस औदारिकसे कथं-चित् भिन्न समझा जायगा । तथा इस वैक्रियिक शरीरनामक नामकर्मका उदय हो जानेपर उत्पन्न हुये देव नारक शरीरोंसे भी यह कथंचित् भिन्न है। मनुष्य या तिर्यचोंके तो विकिया करते समय भी औदारिक शरीरसंज्ञक नामकर्मका ही उदय है। मनुष्यगतिमें १०२ एक सौ दो प्रकृति तथा तिर्यच गतिमें १०७ एक सौ सात प्रकृतियां उदय होने योग्य हैं। इनमें वैक्रियिकशरीर नहीं गिनाया गया है। अतः विकियाक्त मनुष्योंका औदारिक शरीर होते हुये भी अणु, महत्, आदि विविधकरणस्वरूप विकियाके प्रयोजनवाला होनेसे लिन्धिं किन्हीं पंचेंद्रिय तिर्यच मनुष्योंके कदाचित् वैक्रियिक शरीरका गरीरका विकियक जीव और किन्हीं किन्हीं पंचेंद्रिय तिर्यच मनुष्योंके कदाचित् वैक्रियिक शरीरका भी सद्भाव कहा है।

यथीदारिकनामकर्मसमुद्धवमीदारिकं तथा वैकियिकनामकर्मसमुद्धवं वैकियिकं युक्तं तथा तदल्रिश्यन्त्ययं वैकियिकं । न हि ल्रान्थिरेवास्य कारणं वैकियिकनामकर्मोदयस्यापि कारणत्वादन्यथा सर्वस्य वैकियिकस्य तदकारणत्वप्रसंगात् । तेनेदमीदारिकत्वेपि कथंचिदौ-दारिकाद्भिनं लन्धिमृत्ययत्विनश्रयात् । किंचिदेव हि लन्धिमृत्ययं वैकियिकिमिष्टं न सर्वम् ।

जिस प्रकार औदारिक शरीर संज्ञक नामकर्मके उदयसे अच्छा उत्पन्न हुआ शरीर औदारिक कहा जाता है, तिस ही प्रकार नामकर्मकी शरीरनामक प्रकृतिके उत्तर मेद हो रहे वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मसे बहुत अच्छे उत्पन्न हुये शरीरको वैक्रियिक शरीर कहना उचित है। किन्तु तिस प्रकार वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ वह देव नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर तो लब्धिको कारण मानकर नहीं उपजा है और तपस्त्रियोंके वैक्रियिक शरीरमें कारण तो लब्धि है। इस वैक्रियिक शरीरका कारण केवल लब्धि ही नहीं है। किन्तु देव, नारिकयोंके, शरीरमें वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक शरीरोंके कारण नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा। तिस कारण औदारिक शरीरपना होते हुये भी यह तपस्त्रियोंका विक्रियात्मक शरीर सार्विदक औदारिकसे कथंचित् भिन्न है। क्योंकि उस विक्रियात्मक शरीर लब्धियोंका विक्रियात्मक शरीर सार्विदक औदारिकसे कथंचित् भिन्न है। क्योंकि उस विक्रियात्मक शरीर लब्धिनामक कारणसे जन्य माना गया है। सभी वैक्रियिक शरीर तो लब्धिप्रत्य नहीं हैं। देव नारक्योंका वैक्रियिक शरीर न्यारा है तथा औदारिक शरीरधारी चक्रवर्ती आदिकोंका विक्रियात्मक शरीर भी इस लब्धिप्रत्य वैक्रियिक शरीरसे निराला है, व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडक नामक सिद्धांत शाखोंके प्रकरणोंमें मनुष्योंके वैक्रियिकशरीरका करारिसे निराला है, व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडक नामक सिद्धांत शाखोंके प्रकरणोंमें मनुष्योंके वैक्रियिकशरीरका करारिसे निराला है, व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडक नामक सिद्धांत शाखोंके प्रकरणोंमें मनुष्योंके वैक्रियिकशरीरका करारिसे निराला है, व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडक नामक सिद्धांत शाखोंके प्रकरणोंमें मनुष्योंके वैक्रियिकशरीरका करारिस्त होना इष्ट किया है।

तैजसमपि किंचित्ताहश्रमित्याह।

श्री उमास्वामी महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि क्या तैजस शरीर भी कोई तिस प्रकार कियको कारण मानकर उपज जाता है ? आज्ञा दीजिये, यों विनीत शिष्यकी जिज्ञासाको हृदयङ्गत कर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अप्रिम सूत्रको कह रहे हैं |

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

किन्हीं किन्हीं तपित्रयों के तैजस शरीर भी छव्धिको कारण मानकर उपज जाता है। छव्धियत्ययमित्यज्ञवर्तते, तेन तैजसमिप छव्धियत्ययमिप निश्चेयं।

पहिलेके " लिश्चप्रत्यंय च " सूत्रसे लिश्चप्रत्यंय इस पदकी अनुशृत्ति कर ली जाती है तिस कारण तैजस शरीर भी कोई कोई लिश्चभो कारण मानकर भी उपज बैठता है, यह निश्चय कर लेना चाहिये। पहिला अपि शद्ध बैक्रियिक का साहित्य करने के लिये है और दूसरा अपि शद्ध तो सभी संसारी जीवों के साधारण अलिश्चप्रत्यय तैजस शरीरका सहभाव करने के लिये सार्थक है।

तदपि ल्लिभ्यत्ययतागतेरेवं भिन्नमौदारिकादेरित्याह ।

लिश्वको कारण मानकर उपजनेकी इति हो जानेसे ही वह लिश्वप्रत्यय तैजस शरीर भी औदारिक, वैक्रियिक, आदिक शरीरोंसे भिन्न है, इसी बातको प्रन्थकार अप्रिमवार्तिक ढारा कह रहे हैं।

तथा तैजसमप्यत्र लिब्धप्रत्ययमीयतां। साधारणं तु सर्वेषां देहिनां कार्यभेदतः॥ १॥

जिस प्रकार ठाब्धप्रत्यय वैक्रियिक हारीर है उसी प्रकार यहां तैजत हारीर भी ठिब्धप्रत्यय समझ लेना चाहिये। हां, पिहले गुणस्थानसे प्रारम्भ कर चोदहवें गुणस्थानतक सम्पूर्ण संसारी जीवोंके पाया जानेवाला साधारण रूपका जो तैजस हारीर है वह तो अपने अपने कर्तव्य कार्योंके भेदसे निराला है अर्थात्—तेजोर्वगणासे बन कर सभी संसारी जीवोंके पाया जा रहा सूक्ष्म तैजसहारीर न्यारा है, जिसका कि कार्य सभी संसारी जीवोंके हारीरमें साधारण रूपसे प्रभाकी उत्पत्ति कर देना है। हारीरमें विलक्षण कांति या विशेष लावण्य तो आदेय संद्रक नामकर्मका कार्य है, तथा नियतदेशमें सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, अग्निदाह, आदि कर देना इस लिब्धप्रत्यय तैजसहारीरका कार्य है। इस कारण कार्मणहारीरके साथी साधारण तैजसहारीरसे इस लिब्धप्रत्यय तैजसहारीरका कार्य है। श्रीदारिक, बौकियिक, आहारक और कार्मणसे तो इसका भेद सुप्रसिद्ध ही है।

लिधमत्ययं तैजसं द्विविधं, निस्सरणात्मकमिनःसरणात्मकं च । द्विविधं निःसरणात्मकं च श्रवस्तामवास्तभेदात् लिध्यमत्यत्वादेव भिन्नं न्नरीरांतरं गम्यतां, यत्तु सर्वेषां संसारिणां साधारणं तेजसं तत्स्वकार्यभेदाङ्किम्मीयतां ।

लिखको कारण मानकर उपजा जो तैजस शरीर है, वह दो प्रकारका है। एक तो शरीरसे बाहर निकल हुआ निस्सरणात्मक है और दूसए शरीरसे बाहर नहीं निकल रहा अनिस्सरणात्मक है। पिहला निस्सरणात्मक तैजसशरीर तो प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है। जो तप्स्ती ऋषिके प्रसादकी अपेक्षा रखता हुआ और दुर्भिक्ष, महामारी रोग, आदि ज्याधियोंका निराकरण करता हुआ सुभिक्ष, सुख, शान्ति, अनुप्रह, आदिका संपादक है, वह प्रशस्त तैजस है। और जो अत्यन्त कुद्ध हुये द्वीपायन मुनिके समान ऋषिके वामबाहुसे निकलकर इधर उधर कितने ही नियत क्षेत्रको दग्ध करता हुआ पुनः मुनिके मूलशरीरको भी दग्ध कर देता है वह पुतला अप्रशस्त तैजस है। छठे या सातवें गुणस्थानसे उत्तरकर अत्यन्त कुद्ध हुये मुनिके पहिला गुणस्थान होजाता है। लिधस्वरूप कारणसे उत्पन्न हुआ होनेसे ही यह तैजसशरीर भिन्न हो रहा अन्य शरीरोंस निराला समझ लेना चाहिये। किन्तु जो सम्पूर्ण संसारी जीवोंके साधारण रूपसे पाया जा रहा तैजसशरीर है वह तो अपने अपने कार्यके भेदसे भिन्न ही समझ लिया जाओ। औदारिक, बैकियिक, और आहारक, शरीरोंके भीतर प्रविष्ट होरहा शरीरोंकी सामान्यदीतिका कारण आनेस्सरणात्मक तैजस है।

तैजसर्वेकियिकयोः लन्धिमत्ययत्वाविशेषाद्मेदमसंग इति चेख, कर्मभेदकारणकत्वाद्धे-दोपपत्तेः। सत्यपि तयोर्लन्धिमत्ययत्वे तैजसर्वेकियिकनामकर्मिक्शेषोदयापेक्षत्वाद्भेदो युक्यत एव।

यहा कोई शंका करता है कि लिब्धको कारण मानकर जब कोई तैजसशरीर उपज रहा है और लिब्धनामक कारणसे किसी वैक्रियिक शरीरका भी उपजना स्वीकार किया गया है, ऐसी दशामें कारणके अभेदसे कार्यका भी अभेद होजायगा। दोनों शरीरोंकी उत्पत्ति करनेमें लिब्धको कारणपना विशेषतारहित होकर विद्यमान है। अतः तैजस और वैक्रियिक शरीरोंकी अभेद होजानेका प्रसंग आता है। आचार्य कहते है यह तो नहीं कहना। क्योंकि मिन भिन कर्मोंको कारण मानकर वे दोनों शरीर उपजते हैं। अतः दोनोंमें भेद बन रहा है। यधिए उन दोनोंमें लिब्धकरययपना सामान्य रूपसे विद्यमान है, तो भी तैजस या वैक्रियिक इन दो विशेष नामकर्मोंके उदयकी अपेक्षा रखनेवाले होनेसे उनमें भेद पड जाना युक्तिपूर्ण ही है। अर्थात्—तपस्वियोंमें या अन्य तियेच, मनुष्योंमें वैक्रियिकशरीर नामकर्मका उदय नहीं है, बब्ध करके विक्रिया करते समय मुनिके शौदारिक शरीर नामक नामकर्मका ही उदय है। किन्तु विक्रियासक प्रयोजनको धारनेवाले बिशेष औदारिक शरीर नामक नामकर्मका नामकर्म " यह विशेष संज्ञा दे दी गई है। तेजीवर्गणासे साधारण सूक्ष्म तैजसशरीर बनाया जाय, अथवा लिब्धप्रत्यय तैजस पुतला बनाया जाय, सर्वदा तैजसशरीर संज्ञक नामकर्मका उदय बना रहना स्पष्ट ही है। दूसरी बात यह है कि लिब्ध शहू भन्ने ही एकाहश होय किन्तु दोनों लिब्धयोंकी जाति न्यारी न्यारी है। मिन कारणोंसे मिन कार्य हो जाना समुन्नित है।

संमत्याहारकं शरीरमुपदर्शकृति 🕂

वैक्रियिक शरीर और प्रसंगप्राप्त विशेष तैजस शरीरका निरूपण कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अब वर्तमान कालमें प्रकरण प्राप्त आहारक शरीरका निर्धारण कराते हैं।

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्येव ॥ ४९ ॥

श्चभकर्म माने गये आहारक काययोगका कारण होनेसे आहारक शरीर शुभ है। स्वयं मूलमें भी क्रम है, जैसे कि क्रम या परम अतीन्द्रिय सुखका कारण होरही अहिंसा निज गांठकी भी अभ और परम सुखस्वरूप है । और पूर्व कालमें उपार्जित विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीर विराद है। निजस्तरूपमें भी विराद है, अवल है, यानी सर्वार्थसिद्धिके देवोंके शरीर समान स्वष्छ श्रक् वर्ण है। आहारक शरीरसे किसी अन्य पदार्थको आघात नहीं पहुंचता है। अन्य पर्वत, जल, अग्नि आदि पदार्थीसे आहारकशरीरका भी व्याचात नहीं हो पाता है। ऐसा आहारक शरीर छठे गुणस्थान वर्ती प्रमादयुक्त संयमी मुनिके ही कदााचित् पाया जाता है। अर्थात्--छठे गुणस्थानवर्ती मुनि कभी लिब्बविशेषको जाननेके लिये या कभी सूक्ष्मपदार्थका निर्णय करनेके लिये. जिनचैत्यालयोकी वंदना करनेके लिये अथवा असंयमको दूर करनेके लिये, स्वकीय अन्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आहा-रक शरीरको रचते हैं। निकटवर्ती स्थानोंमें केवली या श्रुतकेवलीका सिन्नधान नहीं होनेपर उक्त प्रयोजनोंको साधनेके छिये दूरवर्त्ती केवछियोंके पास पहुंचनेमें स्थूछ औदारिक शरीरसे गमन करते हुये महान् असंयम हो जाना संभावित है। औदारिक शरीरसे वहां इतना शीघ्र पहुंच भी नहीं सकते है । अतः मुनि महाराज इस धातुरहित, संहननरहित, शुभसंस्थान, स्वच्छ घौछे, अन्याघाति, आहारकशरीरको बनाकर अपने उत्तमांग शिरसे निकालते हैं। आहारकशरीरमें आंखे. कान, नाक, हथेली, अङ्गली आदि सम्पूर्ण अंग, उपांग पाये जाते हैं । ढाई द्वीपमें कहीं भी विराज रहे केवली या श्रुतकेवली मुनिका दरीन कर वह लौट आता है। अथवा जिनचैत्यालय या तीर्थकर महाराजके तपःकल्याणकका निरीक्षण कर छोट आता है, एक बार बनाया गया आहारकशरीर अन्तर्महर्त्ततक टिका रह सकता है, पश्चात् विघट जायगा ।

शुभं मनःपीतिकरं विशुद्धं संक्षेत्ररिहतं अन्याघाति सर्वतो न्याघातरिहतं च श्रद्धादु-क्तविशेषणसमुचयं । एवं विशिष्टमाहारकं शरीरमरित्नमात्रं प्रमत्तसंयतस्यैव मुनेर्नान्यस्येति प्रतिपत्तन्यं ।

सूत्रमें पड़े हुये शुभ शद्धका अर्थ मनको प्रीति कर देनेवाला है। विशुद्धका अर्थ तो वह आहारक शरीर संक्रेश परिणामोंसे रहित है। सब ओरसे न तो अपना व्याघात होय और न अपनेस दूसरे पदार्थीको आघात पंहुचे ऐसा व्याघातरहित आहारक शरीर अव्याघाति है। सूत्रमें पड़े हुये च शद्धसे उक्त दो विशेषणोंका समुन्चय हो जाता है। इस प्रकार कई विशेषणोंसे युक्त हो रहा यह हस्त (अरित्न)

प्रमाण कोतीसे छेकर सबसे छोटी अंगुलीतक लम्बे हाथकी नापको अरिन कहते हैं। आहारक शरीर अतिशय युक्त ऋद्रिधारी प्रमक्तसंयमी मुनिके ही होता है। अधिकसे अधिक या न्यूनसे न्यून छठवें गुणस्थानसे अन्य गुणस्थानोंको धारनेवाल मनुष्योंके नहीं हो पाता है। देव, नारकी, और तिर्यच जीवके आहारक शरीर होनेका असम्भव है, यह समझ छेना चाहिये। आहारकके स्वामी कहे गये प्रमक्तसंयतके साथ एवकार लगा देनेसे प्रमक्तसंयमीके ही आहारकशरीर है, या अवधारण करना उचित है। प्रमक्तसंयमीके आहारक ही है, यह अनिष्ट अधारण नहीं कर बैठना। अतः उक्त मुनिके औदारिक या बैकियिक शरीरकी निवृत्ति नहीं हो पाती है।

तच्छरीरांतरात्कृतो भिन्नमित्याइ।

श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि शरीरोंमें परस्पर भेदको साधते हुये आप युक्तियां देते हुये चले आ रहे है। तदनुसार यह बताओ कि औदारिक, बैक्रियिक आदि अन्य शरीरोंसे वह आहारक भला किस कारणसे भिन्न हो रहा है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचन कहते है।

आहारकं शरीरं तु शुभं कार्यकृतत्वतः । विशुद्धिकारणत्वाच विशुद्धं भिन्नमन्यतः ॥ १॥ अञ्याघातिस्वरूपत्वात्प्रमत्ताधिपतित्वतः । फलहेतुस्वरूपाधिपतिभेदेन निश्चितम् ॥ २॥

औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, ये नहीं किन्तु आहारक शरीर (पक्ष) शुम है, (साध्य) शुमकार्य आहारक काययोगको करनेवाला होनेसे अथवा शुमकियाओं द्वारा बनाया जा चुका होनेसे (हेतु)। इस अनुमान द्वारा आहारक शरीरमें शुमपना सिद्ध होजाता है जो कि अन्य शरीरोंसे आहारकको भिन्न कर देने का जापकलिंग है। तथा दूसरा अनुमान यह है कि आहारकशरीर (पक्ष) विशुद्ध है (साध्य) विशुद्धिका कारण होनेसे (हेतु)। बहुवीहि हात्ति करनेपर निरवध विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे यह अर्थ भी निकल पडता है (हेतु)। इस अनुमानदार। विशुद्धता सिद्ध होजानेपर वह विशुद्ध आहारक शरीर अन्य चार शरीरोंमेंसे निराला साध लिया जाता है। अन्याधाति स्वरूप होनेसे और जिसका स्वामीपना प्रमत्तसंयमी, मुनि महाराजको है। प्राप्त होरहा होनेसे वह आहारक शरीर अन्यस्वामिक होता हुआ अन्य शरीरोंसे भिन्न है। यों श्री उमास्वामी महाराज द्वारा इस सूत्रमें कहे गये फल, हेतु, स्वरूप और अधिपतिके भेद करके आहारक शरीरमें भेदका निश्चय कर लिया गया है। शुमं, विशुद्धं, अन्याधाति, ये आहारक शरीरके तीन विशेषण प्रथमा विभक्तिवाले है तथा पण्डी विभक्तिका अर्थ स्वामी कर प्रमत्तसंयतस्य का पर्याय

वाची शह " प्रमत्तत्वामिकं " बना लिया जाता है। प्रथमा विमक्तिवाले विशेषण मी कांचिर श्रापिक हेतु अधिमें तत्पर माने जाते हैं। जैसे कि " गुरवा राजमाषा न मक्षणीयाः " प्रकृतिमें मारी हैं मिसे रमास नहीं खाने चाहिये, उसी प्रकार इतर शरीरोंसे व्यावृत्तिको साधनेके लिये आहारक शरीरिके सम्पूर्ण विशेषणोंको यहां अव्यक्तिचारी ज्ञापक हेतु बना दिया गया है। पहिला श्रुमविशेषण तो आहारक शरीरका फल है। दूसरा विशुद्ध विशेषण आहारक शरीरका कारण है। तीसरा अव्यावाति विशेषण तो आहारक शरीरका स्वरूप है और चौथा विशेषण आहारक शरीरके अधिपतिका बखान करनेवाला है। भेद सिद्ध करनेके लिये ये विशेषण पर्याप्त है।

आहारकं वैक्रियिकादिभ्यो भिश्वं थुभफलत्वादिस्यत्रानैकातिकस्वं हिताः वैक्रियिकादेरिप ग्रामफलस्योपलेभादिति न मंतव्यं, नियमेन ग्राभफलत्वस्य हेतुत्वात् । विश्वद्धिकारणत्वात् ततो भिश्वमित्यत्रापि लब्धिमत्ययेन वैकियिकादिना हेतोरनेकांत इति नाशंकनीयं, नियमेन विश्व-द्धिकारणत्वस्य हेतुत्वात् । सम्रद्भूतलब्धेरिप कोधिदिसंक्छेशपरिणामवशादिकियदिनिवर्तनादि-ग्राद्धिकारणत्वनियमाभावात् ।

यहां किसीका आक्षेप है कि आपने जो पहिला अनुमान यह फेहा है कि ग्रीम फलवाला होनेस आहारक शरीर वैकियिक आदिकोंसे भिन्न है। यों इस अनुमानमें सुम्हारा दिया हुआ शुभ फलव हेत तो व्यभिचार हेत्वाभास दोषवाला है। क्योंकि कोई बैक्रियिक, औदारिक आदि शरी-रोंके भी शुभफल सहितपना देखा जाता है। यानी उपकारी पुरुष, ब्रह्मचारिणी विशल्या या परिहार विराद्धि संयमवाले अथवा औषध ऋदिधारी मुनियोंके औदारिक रहिर तथा संपंक्तियोंके वैक्रियिक शरीर या उपन्नारी देवोंके वैक्रियिक शरीर भी शुभ फलदायक हैं। आचार्य कहते हैं 👫 यह तो आक्षेपकारको नहीं मानना चाहिये । क्योंकि इमने हेतुमें नियमेन यह शह जीड दिया है जो नियम करके राभ फलवाला होय वह आहारक ही है। बहुतसे कपायी, हिंसक, मनुष्य पशु पंक्षिओंके औदारिक या संक्रिष्ट असुरोंके वैक्रियिक शरीर तो नियमसे शुभफळ्याले नहीं हैं। अतः व्यक्तियार दींपका निवारण ही जाता है। दूसरे हेतुमें पुनः किसीकी आशंका है कि आहारक शरीर (क्क्ष) उन वैकियिक आदिकोंसे भिन्न है (साध्य) विद्युद्ध कारण होनेस (हेतु) यों इस अनुमानमें भी लिधकारणक वैक्रियिक आदि करके विद्युद्धकारणत्व हेतुका व्यभिचार हो जाता है, मुनियंकि दुआ वैश्रियिक शरीर भी विश्वद्ध कारणवाला है । प्रशस्त तैजस शरीर भी विश्वद्ध कारण है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि यहां भी हेतु दलमें नियमको कहमेवाला एककार समा देना चाहिये । सभी बैकियिक या तैजसशरीर विद्याद्रि कारण नहीं हैं। '' प्रमत्तसंयतस्यैव '' यहां अंतर्मे पडे हुये एवकारको पूर्वपदोमें भी अन्वित कर छेना चाहिये। नियम करके विश्वद्विकारण आहारक है। है। जिमको निरोध सपस्यासे ऋदि उत्पन हो चुकी है, ऐसे मुनिक भी कदाचित औष, अरित,

शाहि संकेश परिणामींको अधीनतास विकिया, तैजस, आदिका बना छेना देखा जाता है। अतः वैकि-विक या तैजसम्बर्गियों विद्युत कारणपनेका सार्विकक, सार्विदक, सार्वव्यक्तिक, नियम नहीं है। यों व्यभिचार दोषकी निष्टिक हो जाती है।

अन्यायातिस्वरूपत्वादाहारकं शरीरांतराद्धिकामित्यस्मिकापि तैजसादिनो हेन्नोर्न्यभि वार इत्यचोद्यं, प्राणिवाधापरिहारलक्षणस्याच्याधातित्वस्य हेतुत्वात् । प्रमत्ताथिपतित्वमपि नाहार-कस्य शरीरांतराद्धेदे साध्येनैकांतिकं, विशिष्टममत्ताधिपतित्वस्य हेतुत्वात् । ततः स्नूकं फलहेतु-स्वरूपाधिपतिभेदेन भिद्यमाहारकमन्येभ्यः शरीरेभ्यो निश्चितमिति ।

पनः किसीका तीसरे अनुमानपर कचोषा उठता है कि अन्याचातिस्वरूप होतेसे आहारक-राधेर अन्य वैक्रिपिक आदि राधिरोंसे भिन्न है। यो इस अनुमानमें भी तैजस आदि राधिरों करके अन्याघातिपन हेतुका न्यभिचारदोष आता है । सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवीका औदाहिक शरीर अन्याघातिः है, कही रुकता नहीं है, किसीको रोकता भी नहीं है । तैजस और कार्मणशरीर तो " अप्रतीघाते " इस सूत्रकरके व्याघातरहित साध ही जा चुके है, वैक्रियिक शरीर भी पर्वत या वज्र पटलमें हो हर चले जाते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह पर्यनुयोग हमारे ऊपर नहीं उठाया जा सकता है। क्योंकि प्राणियोंकी बाधाका परिहार कर देना यही अन्याघातिपनका स्वरूप यहां हेतकोटिमें विवक्षित है। आहारकशरीर जहां होकर निकल जाता है, बहांके श्राणियोंकी रोग, भय, आदि वाधायें दर होती चली जाती हैं। वैकियिक शरीरधारी इन्द्रकी शक्तिका भी प्रतिघात हो जाना सुना गया है। किन्तु आहारकशरीरकी सामर्थ्य अप्रतिहत है। जिसके शरीरमें एक बार होकर निकल जाता है, उसको बार बार आहारक शारीरके आने, जाने, की अभिलाषायें बनी रहती हैं। प्राणियोक्षी बाधाओंका परिहार जितना आहारकशरीरसे होता है, उतना अन्य शरीरोंसे नहीं हो पाता है। आहारक शरीरके स्वामी छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयमी हैं। यह चौथा हेत भी आहारकशरीरके इतर शरीरोंसे भेदको साध्य करनेमें व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि सभी छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके नहीं, किन्तु हजारों, लाखों, मेंसे किसी एक विशिष्ट प्रमत्तसंयमी मुनिको आहारक शरीस्का अधिपतिपना प्राप्त हो सकता है। उस विशिष्टताके लगा देनेसे प्रमत्ताधिपतिल हेत् निर्दोष बन जाता है। तिस कारण श्री उमास्त्रामी महाराजने सूत्रमें या मुझ विचानन्द स्वामीने उक्त दो वार्तिकोंमे यों बहुत अच्छा कहा था कि फल १ हेत २ स्वरूप ३ और अधिपति ४ के मेद करके ये आहारक शरीर अन्य चारों शरीरेंसे मिन ही बिर्णात कर दिया गया है। यहांतक पांचों शरीरेंका निरूपण समाप्त होचुका है।

> चतुर्दशभिरित्येवं सूत्रेरुक्तं प्रपंचतः । शरीरं तीर्थिकोपेतशरीरविनिवृत्तये ॥ ३ ॥

यहांतक यों उक्त प्रकार चौदह सूत्रों करके विस्तारसे संसारी जीवोंके शरीरोंको श्री उमास्त्रामी महाराजने अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकार किये गये अनेक कल्पित शरीरोंकी विशेषतया निवृत्ति करनेके छिये स्पष्ट कह दिया है। अर्थात्—" औदारिकवैक्रियिकाहारकतेजनकार्मणानि शरीराणि " से प्रारंभ कर "शुमं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव" इस सूत्र पर्यन्त चौदह सूत्रों करके पांच शरीरोंका व्याख्यान सूत्रकारने किया है, जो कि अन्य मतावलिक्यों द्वारा माने गये शरीरोंकी निवृत्ति करता रहता है। कोई पंडित स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दो हींको स्वीकार करते हैं। वैशेषिक तो योनिज और अयोनिज इस प्रकार शरीरके दो भेद मानते हैं। बौद्धजन स्वप्नान्तिक अथवा स्वाभाविक शरीरोंको भी मान बैठे हैं। नैयायिक समाधिअवस्थाम योगी, स्नी, पुत्र, राज्य, आदि भोगोंको भोगनेके लिये अनेक शरीरोंका निर्माण कर लेता है, भोगे विना कर्मोका नाश नहीं हो पाता है, ऐसा मान बैठे हैं। इत्यादि मन्तव्योंकी निवृत्तिके लिये आचार्योंने पांच ही शरीरोंका अन्यूनानतिरिक्तरूपसे निरूपण किया है। अब न्यारा प्रकरण चलाया जाता है।

अथ के संसारिणो नपुंसकानीत्याह।

कोई जिज्ञासु पूंछ रहा है कि कौनते संसारी जीव नपुंसकिछिगी हैं १ ऐसी आकाक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते है ।

नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

सात नरकों में निवास करनेवाले नारकी तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिन्द्रिय, जीव और पंचेन्द्रियों में अनेक तिर्यच एवं मनुष्यों में लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य ये संमूर्छन जन्मवाले जीव नपुंसक- लिङ्गी हैं । अर्थात्—अवाकी अग्निके समान कषायवाले इन जीवोंके मैथुनसंज्ञाजन्य तीववेदना बनी रहती है । इस कारण इनकी आत्मामें सर्वदा कलुषता रही आती है । स्त्री या पुरुषों में पाये जानेवाले स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख इनको नहीं प्राप्त होते है ।

नारकाः संमूर्छिनश्च नपुंसकान्येव भवंति ।

धनांगुल परिमित प्रदेशोंकी संख्याके दूसरे वर्गमूलसे गुणा की गयी जगच्छ्रेणीके प्रदेशों बराबर सम्पूर्ण नारकी जीव असंख्याताऽसंख्यात है। तथा सम्मूर्छन जन्मवाले अनन्तानन्त संसारी जीव हैं। ये सब नपुंसक ही होते है। मावार्थ—इनमे स्त्री, पुरुष, व्यवहार नहीं है, कभी कभी दो मिन्ख्यां चिपटी हुई देखी जाती हैं। ये उनकी केवल शारीरिक किया है। कोई गर्भधारण किया नहीं है। यों तो कोई कोई खिलोने भी चिपटे हुये देखे जाते है, चीटियोंके अण्डे भी उनके पेटसे निकले हुये नहीं हैं। केवल यहां वहां मल, मूत्र स्थानोमेंसे सडे, गले, हुये पुदलोंको लेकर वे विशेष स्थानोंमें धर लेती है, कालान्तरमें वहा जीवींका जन्म होकर वहीं पुदल चीटियोंका शरीर बन

जाता है। मधु मक्खी, खटमल, झींगुर, जंआ आदि जीवोंकी भी यही व्यवस्था है। माता पिताके शुक्र, शोणित, से गर्भाशयमें इन जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती है। यों तो किव लोगोंने घडा घडी, कटोरा कटोरी, नद नदी, चादर चादरा, आदि जड पदार्थीमें भी स्नीलिंग, पुल्लिंगका व्यवहार कर लिया है। वैज्ञानिकोंने केला केली, भी मान लिये हैं। स्नियोंके पाद प्रहार या कुल्ला करनेसे कई वृक्षोंका फलना, फलना, अभीष्ट किया गया है। इसमें कल्पना भाग बहुत है। सम्मूर्छन शरीरोंके उपयोगी साधनोंके जुटानेमें सहाय कर देना मात्र भित्तिपर भारी कल्पनायें गढ ली गयी हैं, जो कि नियत कार्यकारणभावका भंग कर देनेवाली हैं। सिद्धांत दृष्टिसे विचारनेपर सम्पूर्ण सम्मूर्छन जीव नपुंसक लिंगी ही सिद्ध होंगे। वृक्षोंमें स्नी या पुरुषोंके समुचित अंगोपांग ही नहीं है। द्वीन्द्रिय, त्रीदिय, चौइन्द्रिय जीवोंके गर्भाशय नहीं हैं। अतः आचार्योंने जो इन्हें नपुंसक लिंगी कहा है, वह युक्तिपूर्ण है।

देवेषु तत्प्रतिषेधमाइ।

देत्रोंमें उस नपुंसक लिंगका सर्वथा निषेध करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे है ।

न देवाः ॥ ५१ ॥

चारों निकायके सम्पूर्ण देव नपुंसक ठिंगवाले भी नहीं है । सम्पूर्ण देविया स्नीलिंग हैं तथा देव सम्पूर्ण पुर्लिंग ही हैं ।

देवा नपुंसकानि नैव संभवंतीति सामर्थ्यात् पुंमासो देवाः स्त्रियश्च देव्यो भवंतीति गम्यते । क्रुत इत्याह ।

देव गतिवाले जीवोंमें नपुंसक लिंगकी सम्भावना नहीं है, यों निषेध कर देनेसे विना कहे ही शद्धकी सामर्थ्यसे विधिमुख करके यह जान लिया जाता है कि देवनिकायमें पुर्लिगवाले देव होते हैं। और खीलिंगवाली देवियां होती हैं। कोई पूंछता है कि यह उक्त सिद्धान्त किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम दो वार्तिकोंमें युक्तियोंको कहते हैं।

नारका देहिनस्तत्र पोक्ताः संमुर्छिनश्च ये। नपुंसकानि ते नित्यं न देवा जातुचित्तथा॥१॥ स्त्रीपुंससुखसंप्राप्तिहेतुहीनत्वतः पुरा। नपुंसकत्वदुःखाप्तिहेत्वभावाद्यथाक्रमं॥२॥

नारकी जीव और सम्पूर्छन शरीरधारी प्राणी जो वहां प्रकरणोंमें अच्छे ढंगसे कहे जा चुके हैं, व सम्पूर्ण जीव अपनी अवत्यापर्यन्त सर्वदा न र्स किंगी ही बने रहते हैं। हां, देव तो कभी भी तिस प्रकार चपुंसकिंगी नहीं हैं। इब दो सूत्रोंके प्रमेयमें वे वक्ष्यमाण दो ज्ञापक हेतु हैं कि पूर्व जन्ममें लियोंके उचित सुखों और पुरुषोंके समुचित सुखोंकी अच्छी प्राप्तिके कारण होरहे शुभ कियायोंका अनुष्ठान या पुण्यविक्षेषकी हीनता हो जानेसे नासक और सम्पूर्छन जीव स्वकीय पापोदयसे इस जन्ममें नपुंसकिंगी होजाते हैं। जैसे कि पुण्यहीन अवस्थामे पापकर्मका उदय आजानेपर कई घोडे या बैळ बहिरा रूपसे नपुंसक कर दिये जाते हैं अथवा कोई कोई गर्मज मनुष्य या पशु भी नपुंसक देखे जाते हैं। देव नपुंसकिंगी नहीं हैं। क्योंकि पूर्वजन्ममें आधुनिक नपुंसकिपनेके दुःखकी प्राप्तिका कारण मानी गर्यी अञ्चमित्रया या नपुंसकवेदकर्मका उपार्जन नहीं होनेसे देव स्वकीय इस जन्ममें. नपुंसक नहीं होपाते हैं। यो दोनों सूत्रोंमें दोनों हेतुओको यथाकमसे लगा लेना चाहिये।

नारकाः संमृधिनश्च प्राणिनो नपुंसकान्यंव, स्नीपुंससुलसंपाप्तिकारणरहितत्वात् पूर्व-स्मिन् भवे नपुंसकत्वसाधनानुष्ठानात् । देवास्तु न कदाचित्रपुंसकानि जायंते नपुंसकत्वदुःखा-प्तिकारणाभावादिति यथाक्रमं साध्यद्वये हेतुद्वयं प्रत्येयं ।

श्री विद्यानन्द स्वामी दो अनुमान बनाते हैं कि नारक जीव और संमूर्छन प्राणी (पक्ष) नपुंसक ही होते हैं, (साध्य) । अधिख और पुरुष सुखकी समीचीन प्राप्तिके कारणोंसे रहित होनेसे (हेतु) साथमें पूर्वभवमें नपुंसकपनेके साधनोंका अनुसान कालेसे (हेतु)। अर्थात्—वर्तमानके नारक या संमूर्छन जीवोंने पूर्वभवमें ऐसे प्रशस्त कार्य नहीं किये थे जिससे कि इस जन्ममें स्नीसुख, या पुरुषसुखकी प्राप्ति हो जाती। अधिक छन्जा करना, कोरा श्रंङ्गार करनेमे समय यापन करना, अधिक अभिमान करना, दन्त्र बने रहना, संज्ञी विचारशाली सामर्थ्यवान होते हुये भी महान कार्योंको नहीं कर सकता, पुरुषोसे भ्रेमप्राप्तिके भाव रखना, इनसे और इनके अतिरिक्त कुछ द्युमकर्म करनेसे भी मविष्यमे स्त्रीसुखोंकी प्राप्ति हो जाती है तथा अल्पक्रोध, स्वदारसन्तोष, श्रृङ्गार करनेमें अनादर, महान् कार्यीमे पुरुषार्थ करना, चित्तमें उदारता रखना, वीरता आदि क्रियाओंसे भविष्यमें पुरुष उचित सुलोंकी प्राप्ति होती है । ये दोनों प्रकारके कार्य नारकी और संमुर्छन जीवोंने नहीं कर पाये हैं। तथा प्रचुर क्रोध, गुप्त जनन इन्द्रियोंका घात, स्त्रीपुरुषोंके, कामसेवन अंगोंसे भिन्न अंगोंमें आसक्ति करना, व्यसन सेवना, परश्लीमें छोछपता रखना, तीत्र अनाचार आदिक नपुंसकत्वके साधनोंका पहिले जन्मोंने अनुष्ठान किया है। इस कारण इस जनमें नपुंसककिंगवाला होता पडा है। इनके श्री और पुरुषोमें पाया जा रहा सनोज्ञ पंचेदियोंके विषय माने गये शहू, गन्य, रस, स्पर्श, रूपके, निमित्तसे होनेवाळा स्वल्प भी सुख नहीं है। तथा दूसरा अनुमान यो है कि देव ती (पक्ष) कभी भी नपुंसक लिंगवाले नहीं उपजते हैं (साध्य)। नपुंसकपन दुःखकी प्राप्तिके कारणींका अभाव होनेसे (हेतु), मोगोपभोगी, बालेख, धनाड्य, प्रेससूक दुम्पतिके समझन (अन्वयद्दशान्त) अर्थात्—देव देवियोंने पूर्वभवमें अत्यधिक छोमपरिणाम द्युमकार्योमें अनुसाह, व्यभिचार आदि कारणों द्वारा नपुंसकत्वके साधनों को नहीं मिला पाया है, किन्तु प्रशस्त कृतियों द्वारा खीडुख, और पुरुष

सुंखंकी, प्रांतिके कारणींको जुटाया है। अतः वे खीसम्बन्धी और पुरुषसम्बन्धी निरंतिशय सुखका अनुभव करते रहते हैं। यो देव नपुंसकिलगवाले नहीं हैं। इस प्रकार दोनों साध्योंमें यथाकम दो हेतु-औंको लगाकर समझ लेना चाहिये। सूत्रकारके प्रतिज्ञावाक्योंमें ही समर्थहेतु लिया हुआ है। आनु-यानिक विद्वानीकी दृष्टिमें अतीन्दिय पदार्थ मी प्रत्यक्षवत् प्रतिभास जाते हैं।

शेषाः कियद्वेदा इत्याह ।

नारक, संमूर्छन, प्राणी और देवोंसे अवशिष्ट रहे जीवोंके कितने वेद है, ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री उमास्वामी महाराज नवीन सूत्रको कहते हैं।

रोषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

उक्त तीन प्रकारके जीवेंसि शेष रहे गर्भजन्य जीवेंके खीळिंग, पुर्क्किंग, और नपुंसकळिंग ये तींनो वेद होते हैं।

उक्तेम्ये। वे शेषा गर्भजास्त्रिवेदाः मतिपस्तव्याः । क्रुत इत्याह ।

कहे जो चुके जीवोंसे जो शेष रहे गर्भज प्राणी हैं। वे तीनों वेदवाले समझ लेने चाहिये। कोई शिष्य जिज्ञासा करता है कि यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे साधा जा चुका समझा जाय १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं।

त्रिवेदाः प्राणिनः शेषास्तेभ्यस्ताहक् स्वहेतुतः । इति सुत्रत्रयेणोक्तं लिंगं भेदेन देहिनाम् ॥ १ ॥

तिन नारक, सम्मूर्छन, और देवजीवोंसे शेष रहे प्राणी (पक्ष) स्री, पुछिंग, नपुंसक, तीनों वेदवाले हैं (साध्य) तिस प्रकारके अपने अपने हेतुओंसे निष्पत्ति होनेसे (हेतु) तीन लिगवाले प्रसिद्ध सपोंके समान (अन्त्रय दृष्टान्त)। भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके विकल्प हो रहे वेदत्रयके उदयसे जो वेदा जाय वह वेद है। इसका अर्थ द्रव्यलिग या भावलिंग हो जाता है। कहीं द्रव्यलिंगके अनुसार ही भावलिंग होते हैं। हा, कर्मभूमिमें विषमता भी हो जाती है। स्रियोंके पुंवेदका उदय और पुरुषोंमें स्रीवेद या नपुंसक वेदका उदय भी कदाचित् पाया जाता है। गर्मज जीवोंमें अपने अपने नियंत कारणोंसे यथायोग्य तीनों वेद पाये जाते हैं। इस प्रकार "नारकसंमूर्छिनों मपुंसकानि, न देवाः, शेषास्त्रवेदाः " इन तीनों सूत्रीं करके शरीरधारी प्राणियोंके भिन्न भिन्न रूपसेन् लिंग कह दिये गये हैं।

श्रीवदोदयादिः श्रीवदस्य हेतुः पुंचेदोदयादिः पुंचेदस्य, नपुंसकवेदोदयादिः नपुंसक-वैदर्श्वेति । तत एव प्राणिनां स्वीकिंगादित्रयसिद्धिरिति भेदेन लिंगं सकलदेहिनां भूत्रप्रयेणोक्तं वेदितन्यं । वर्तमानमें किसी जीवके अन्तरंगकारण खीवेदका उदय होना या बहिरंगमें मृदुभाषण करना, पुरुषके साथ रमण करनेकी अभिलाषा रखना, अधिक श्रृंगार करना, स्वादिष्ट रस युक्त भोजन करना, आदिक कारण खीवेदके हेतु है। और अन्तरंगमें पुम्वेदका उदय होना और बहिरंगमें लोकमें उक्तष्ट गुणोंका स्वामित्व प्राप्त करना, स्वादिष्ट गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करना, रसायन सेवन, वीररसवर्द्धिनी कियायें करना, आदि कारण जीवके पुम्वेद हो जानेमें हेतु है, तथा नपुंसक वेदके कारण तो नपुंसक वेदके पदार्थीका सेवन आदिक हैं। तिस ही कारणसे (नौमें गुणस्थानतक) संसारी प्राणियोंके खीलिंग आदि तीनों वेदोंकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न रूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंके लिंगकी श्री उमास्वामी महाराजने केवल तीन सूत्रों करके ही कह दिया है। यह समझ लेना चाहिये।

के पुनरत्र शरीरिणां ऽनपवर्त्यायुषः के वापत्रत्यीयुष इत्याह ।

उक्त देहधारी जीवोंमें फिर कौन जीव यहा अपवर्तन नहीं करने योग्य आयुष्यवाले हैं ! और किन जीवोंकी आयुक्त बाह्य कारणोंसे हास हो जाता है ! बताओ । अर्थात्—चारो गतियोंके जीव क्या अपनी सम्पूर्ण आयुक्तो मोग कर मरते हे ! अथवा क्या पूर्णआयुक्ता भोग नहीं करके भी मरकर अन्य गतियोंको प्राप्त हो जाते हैं ! बताओ । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज शिष्योंकी न्युत्पत्ति बढानेके लिये अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं ।

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

उपपाद जन्मको धारनेवाले देव और नारकी जीव तथा चरम उत्तम शरीरको धारनेवाले तीर्थंकर महाराज एवं असंख्यात वर्षोतक जीवित रम्बनेवाली आयुको धारनेवाले भोगभूमिया, या कुभो-गभूमियां, निर्यच या मनुष्य इन जीवोंकी आयुका मध्यमें व्हास नहीं हो पाता है। परिपूर्ण आयुको भोगकर ही ये उत्तरगतिको प्राप्त करते हैं।

श्रीपपादिका देवनारकाः चरमींत्यस्तज्जन्यनिर्वाणाईस्य देदः उत्तम उत्कृष्टः चरमश्रासी उत्तमश्र चरमोत्तमश्ररमिवश्रेषणप्रत्तमस्याचरमस्य निष्टत्यर्थे उत्तमग्रहणं चरमस्यानुत्तमत्व-च्युदासार्थे । चरमोत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः । उपमाप्रमाणगम्यमसंख्येयवर्षायुर्येषां ते द्वंद्वश्वत्या निर्दिष्टाः संसारिणोऽनपवर्त्यायुषो भवंति इति वचनसामर्थ्यात्ततोन्ये अपवर्त्यायुषो गम्यंते ।

औपपादिक शब्दका अर्थ देव और नारकी जीव है। चरम शब्दका अर्थ सब शरीरोंके अंतमें होनेवाळा मोक्षगामी जीवका पिछळा शरीर है, जोकि उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य रखनेवाळे जीवकी देह है। उत्तमका अर्थ उत्कृष्ट है। चरम होरहा संता जो वह उत्तम देह है, वह चुरमोत्तम

कहा जाता है। यों चरम और उत्तम शहूमें कर्मधारय वृत्ति कर छी गयी है। उत्तमका विशेषण चरम दिया है । वह उत्तम शरीरके अन्तिमरहितपनेकी निवृत्तिके छिये है । अर्थात्-उत्तमशरीर अन्तमें मोक्षगामी जीवको प्राप्त होता है। अन्य संसारी जीवोंका उत्तमशरीर भी चरम नहीं है तथा चरमके विशेष्य दलमें उत्तम शहका प्रष्टण करना तो चरमशरीरके उत्तमरहितपनकी व्यावृत्ति करनेके लिये है। अर्थात-व्यभिचारकी संभावना होनेपर ही विशेष्यविशेषणभाव सार्थक माना गया है। जैसे कि नीछं उत्पर्छ, यहां उत्पर्छ दूसरे रंगका भी संभावित है तथा कम्बरु, भौरा, जामुन भी नीले होते हैं। किन्तु प्रक-रण प्राप्त होरहा कुवलय नीला कुवलय ही है। इस संघटित अवस्थामें विशेष्यविशेषणभाव बन रहा है। उसी प्रकार यहां भी चरमशरीरी अन्तकृत्केवली भी होते हैं। एवं ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती या वसुदेवके पुत्र श्री कृष्ण नारायण भी उत्तमशरीरवाले माने गये हैं। अतः चरमशरीरवाले होते हुये भी उत्तम देहधारी यहां तीर्थंकर महाराजका प्रहण किया गया है, ऐसा मेरी छघु बुद्धिमें आ रहा है। तत्त्वार्थसूत्रकी श्रुत-सागर आचार्य विरचित टीकामें चरमोत्तमदेहधारी पदसे तीर्थंकर परमदेव ही समझाये गये हैं । वहां यों लिखा है कि " चरमोंऽत्यः उत्तम उत्कृष्टो देहः शरीरं येषां ते चरमोत्तमदेहाः । तज्जन्मनिर्वाणयोग्या-स्तीर्थेकरपरमदेवा ज्ञातव्याः । गुरुदत्त पांडवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनात् नास्यऽनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति । तथा चोत्तमदेहत्वेऽपि सुभौमन्नसदत्तापवर्त्वायुर्दर्शनात । कृष्णस्य च जरत् कुमारबाणेनापमृत्युदरीनात्मकलाई चक्रवर्तिनामध्यनपवर्त्यायुर्नियमा नास्ति इति राज-वार्त्तिकालंकारे प्रोक्तमस्ति '' । इसका अर्थ यह है । चरम यानी अन्तिम उत्तम यानी उत्कृष्ट देह अर्थात--शरीर जिन जीवोंका है वे जीव चरमोत्तम देहवाले हैं। जो कि उसी जन्ममें निर्वाण होनेके योग्य हैं । ये चरमोत्तम शरीरधारी जीव तीर्थंकर परमदेव ही समझने चाहिये । क्योंकि गुरुदत्त मुनी, तीन पांडव, या अन्य भी कितने ही महान् उपसर्ग सहनेवाले अन्तकृत्केवली महाराजोंकी उपसर्ग करके मुक्ति होना शास्त्रीमे देखा जाता है। अतः सम्पूर्ण चरमशरीरियोंके छिये आयुके हास नहीं होनेका नियम नहीं है। यों प्रभाचन्द्र स्त्रामीने न्यायनुमुदचन्द्रोदय नामक प्रन्थमें कहा हुआ है। तथा उत्तम देहवाले होते हुये भी सुभीम और ब्रह्मदत्त सकलचक्रवर्तीकी आयुका मध्यमें अपवर्त हुआ देखा जाता है एवं उत्तमशरीरवारी अर्वचकी कृष्ण नारायणकी जरतकुमारके बाण करके अपमृत्यु सुनी जाती है। अतः सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती उत्तमदेहधारियोंकी आयुके मध्यमें नहीं छिन होनेका कोई नियम नहीं रहा । इस बातको श्री अकलंक देवने राजवार्तिकमें बहत स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि " अंत्यचक्रधरवाद्यदेवादीनामायुषोपवर्त्तदर्शनादव्याप्तिः (वार्त्तिक) उत्तमदेहाश्वक्रधरादयोऽनपवर्त्यायुष इत्येतत् लक्षणमन्यापि । कुतः ? अत्यस्य चक्रघरस्य ब्रह्मदत्तस्य वासदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषां च तादृशानां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्त्तदर्शनात् । न वा चरमशद्भस्यो-त्तमिवरोषणत्वात् । (वार्त्तिक) न वैष दोषः किं कारणं ? चरमशद्धस्योत्तमविरोषणत्वात् । चरम उत्तमो देह एषां ते चरमोत्तमदेहा इति '' इसका अर्थ यह है कि चरमदेहधारी और उत्तमदेहधारी यों 88

न्यास न्यास अर्थ करनेपर दितीय दलमें अन्यापि दोष आता है। कारण कि अन्तिम चक्रवर्ती और वाह्यदेव आदिकांकी आयुका रास्त्राचात आदि कारणोंसे मध्यमें ही अपकर्ष हो गया देखा गया है। उत्तम देहवाले च अवर्ती आदिक भी परिपूर्ण आयुको भोगते हुये अन्छित आयुवाले है, यो यह लक्षण अध्यापि दोषवान है। क्योंकि अन्तके चक्रधारी ब्रह्मदत्त और वसदेवके अपत्य कृष्ण तथा अन्य भी तैसे पाइव आदिकोंकी आयका बहिरंग निमित्तोंकी अधीनतासे अपवर्त देखा गया है। इस अन्याप्ति दोषका निराकरण करते हुये श्री अकलंक देव उत्तरवार्त्तिकको कहते है कि यह दोष हमारे यहां नहीं आता है। क्योंकि चरम देइधारी और उत्तम देहधारी ये दो स्वतंत्र वाक्य नहीं माने गये हैं। किन्त उत्तमका विशेषण चरम शद्ध है। जिन जीवोंका देह चरम होता हुआ उत्तम है वे ही अन्छिम आसंबारे है। अथवा " उत्तमविशेषणत्वाद " यह। बहुब्रीहि समास करनेपर चरमका विशेषण उत्तम समझ लिया जाय । इस प्रकार कहनेसे चरमशरीरियोमें तीर्थ कर परम देवाधिदेवकी आयु ही अनपवर्ष्य है । शेष मोक्षगामी जीवोंकी आयुके अनपत्रत्ये होनेका नियम नहीं, यह किद्रान्त स्थिर हो जाता है। महान् उपसर्ग सहते हुये भी मुनि महाराज छडे गुणस्थानमें आयुष्य कर्मकी उदीरणा कर कतिपय अन्तर्मुहूर्तीमें क्षपकश्रेणी या बारहवें, तेरहवे, चौदहवे गुणस्थानोंके कर्त्तन्योंको समाप्त कर झिटिति मुक्तिलाभ कर छेते हैं। मनुष्य आयु कर्मकी उदीरणा छहेतक ही मानी गयी है। हां. " ओक्करणकरणं पुण अजोगिसत्ताण जोगिचरिमोत्ति " इस गाथा अनुसार मनुष्य आयुका अ**ष**कर्षण करण तो तेरहवें गुणस्थातक अभीष्ट किया है । उदीरणाके अन्य नियमोंको अन्तकृत केवलीके सिनाय अन्यत्र जीवोंमे छागू रखना जिससे कि सिद्धान्तविरोध नहीं होय । संजयंत, गजकुमार, आदि मुनि-योंने उपसर्ग सहते हुये मध्यमें आयुक्तो छित्र कर मुक्तिलाम किया है। " असंख्येयवर्षाय " का अर्थ यह है कि अलोकिकगणितके मुख्य रूपसे संख्यामान और उपमामान ये दो मेद हैं। पत्य, सागर, आदि प्रमाणोंसे जिन जीवोंकी आयु नापकर जानी जाती है वे जीव " असंस्थेयवर्षायुषः " कहे जाते हैं । औपपादिक और चरमोत्तम देहधारी तथा असंख्यात वर्षीकी आयवाले यों इन्द्र समास इत्ती करके सूत्रमे कहे जा चुके संसारी जीव अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं। इस नियमकारक वचनकी सामर्थ्यसे विना कहे ही यों समझ छिया जाता है कि इनसे अन्य संसारी जीवोंकी आयका अपर्वत हो जाता है । भावार्थ- '' विसवेयणस्त्रक्षयभयस्त्थग्गहणसंकिलेसेंहि । उस्सासाहाराणंः णिरोह्दो क्रिज्जदे आऊ ''। बिष, शूल, आदिकी तीन वेदना, रक्त, आदि धातुओंका क्षय, तीन भय, शक्तघात, विशिष्ट संक्लेश, तथा श्वासीच्छ्रस या आहारका निरोध होजाना इन कारणोंसे अपमृत्यु होकर बीचमें ही आख क्रिन होजाती है । पूर्वजन्ममें आयुष्य कर्मका बन्ध करते समय क्षाय अनुसार आयु कर्ममें जिसामी स्थिति डाकी थी उतनी स्थितिका पूरा भोग नहीं कर मध्यमें ही विष, शक्कवात, आदि द्वास मिक्कों आने योग्य आयुष्योंके निषेकोंको स्वल्पकालमें भोग लेना ही अपमृत्यु है । जैसे कि छड घंटेमें पचने योग्य अन्नका वडवानल चूर्ण द्वारा अतिशीघ पाँचन कर लिया जाता है, अथवा आसकल, नीचू,

आदि पश्चिको भी मध्यकालमें शीव पचा लिया जाता है, उसी प्रकार लम्म्यपर्यातक जीव या कर्म भूमिके बहुतसे ममुष्य तिर्थचोंकी आयु मध्यमें ही हासको प्राप्त होजाती है।

कुतः पुनरनपवर्त्यमायुरीपपादिकादीनामित्याइ।

कोई जिह्नासु कटाक्ष करता है कि फिर किस प्रमाणसे आप उक्त सिद्धान्तको साधते हैं कि औपपादिक आदिकोंकी आसु बाह्य कारणोंसे हासको प्राप्त नहीं हो पाती है? जितने कालमें भोगने योग्य आसु जन्होंने पूर्व जन्ममें बांधी थी उतने कालके एक समय पहिले भी वे मरते नहीं हैं। चाहे कितने ही वज्जधात, मेघवर्षण, आदि उत्पातोंका प्रकरण प्राप्त होजाय, किन्तु ये परिषूर्ण आयुक्तो भोगकर ही अन्य गतियोंको प्राप्त होते हैं। बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विकानन्द स्वामी उत्तरवर्त्सी वार्तिकोंको कहते हैं।

अत्रोपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन । स्वोपात्तमायुरीदक्षादृष्टसामर्थ्यसंगतेः ॥ १ ॥ सामर्थ्यतस्त्रतोन्येषामपवर्त्यं विषादिभिः । सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वतः ॥ २ ॥

यहां प्रकरणमें औषपादिक आदि जीनोंकी निज पुरुषार्थ द्वारा पूर्वजन्ममें उपार्जन की गयी आयु (पक्ष) निज, राज, आदि बाह्य कारणों द्वारा कदाचित् मी ज्वासको प्राप्त नहीं होती है (साच्य)। क्योंकि इस प्रकार आयुको छिन नहीं होने देनेवाछ पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्टकी सामर्थ्य उन जीनोंको भछे प्रकार प्राप्त हो रही है (हेतु)। अर्थात्—नारको अकालमें ही मरना चाहते हैं। किन्तु उन्होंने पूर्वजन्ममें ऐसा पापकर्म कमाया है, जिससे कि वे दुःखाकीर्ण पूरी आयुको मोग करके ही मरते हैं। छीकान्तिक देव या अन्यसर्वार्थिसिद्धिक देव आदिक सो शीव्र ही मनुष्य जन्म छेकर संयमको साधना चाहते हैं। किन्तु पहिछे जन्ममें उपार्ज गये बहुतकालमें छोकिक सुख मुगताने थोग्य अखाण्डपुण्यकी सामर्थ्यसे ये बीचमें नहीं मर सकते हैं। तथा बहुतसे इन्हिय्छोष्टपी देव बिचारे आयुष्यसे भी अधिक कालतक जीवित रहना चाहते हैं। किन्तु भरपूर आयुको मोग चुक्तनेपर उनका मरण अवस्यमावी है। मुज्यमान आयुका उत्कर्षण करण नहीं हो सकता है। पिरपूर्ण आयुको भोगनंको छिये श्री तीर्थकर महाराज केवल्हान हो जानेपर भी कुछ मुहूर्त्ती अधिक हो रहे खाठ वर्षसे कमिरी कोटिर्व वर्षतक अधिकसे अधिक संसारमें टिके रहते हैं। जीवनमुक्त आयमाका संसारमें छहरना एक प्रशास हा वन्धन है। चार अधातिया कमीके वशमें पढ़े रहना परम सिदिका अधिक है। किर भी आयुका नहात नहीं होनेसे वे मन्यमें ही झाटीते सिद्धालयके अलिकी

नहीं बन सकते हैं। अतः शुभ कहो या अशुभ कहो अनुकूल कहो या प्रतिकृल कही आयुको मध्यमें नहीं छिन्न होने देनेवाले विलक्षण स्वकीय पुण्यपापकी सामर्थ्य द्वारा औपपादिक आदि जीवोंकी आयु परिपूर्णरूपसे भोगी जा रही है। विना कहे ही सूत्रोक्त शद्धोंकी सामर्थ्यसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि उन औपपादिक आदि जीवोंसे शेष बच रहे अन्य जीवोंकी विष, वेदना, आदि बहिरंग कारणोंसे आयु अपवर्तनको प्राप्त हो जाती है। अन्यथा रोगीकी चिकित्सा (इलाज) करना या जीवोंपर दया करना, अभयदान देना, आदिकोंकी निष्फलता बन बैठेगी, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात् अनेक जीवोंकी अपमृत्यु हो जाती है। पांवके नीचे दबकर कीट, पिपीलिका, आदिक मर जाते हैं। यदि नहीं दबते तो नहीं मर पाते। देखिये, निर्धन या अज्ञानी रोगी योग्य चिकित्सा हुये विना मध्यमें ही कालकवालित हो जाते हैं। भयके मारे अनेक जीव तत्काल प्राणोंको छोड देते हैं, तभी तो उनकी चिकित्सा करना, दया करना, उनको निर्भय कर देना, आदि क्रियाये सफल समझी गयी हैं। अतः बहुभागमें जीवोंकी अपमृत्यु होना सम्भव रही है।

बाह्यमत्ययानपवर्तनीयमायुः कर्म प्राणिदयादिकारणविशेषोपार्जिते तादृशादृष्टं तस्य सामर्थ्यग्रुदयस्तस्य संगतिः संप्राप्तिस्ततो भवधारणमौपपादिकादीनामनपवर्त्यमिति सामर्थ्या-दन्येषां संसारिणां तद्विपरीतादृष्टविशेषाद्पवर्त्यं जीवनं विषादिभिः सिद्धं, चिकित्सित्।दीनामन्यया निष्फळत्वप्रसंगात् ।

प्राणियोंके ऊपर दया करना, नियतकालतक आप्रहपूर्वक क्लेश पहुंचाना, अनेक देशकालके जीवोंको पूर्णरूपसे मोक्षमार्गमें लगानेकी मावना रखना, अखण्ड प्रतिदिन दान देना, आदिक कारणिवशेषोंसे देव, नारकी, तीर्थकर महाराज, भोगभूमियां, जीवोंने पूर्वजन्ममें एक तिस प्रकारका अदृष्ट उपार्जित किया है। जिससे कि इनका आयुःकर्म वर्तमान कालमें किसी विष आदि बाह्य-कारणसे अपवर्त होने योग्य नहीं है। उस अदृष्टकी सामर्ध्य तो इस भवमें उसका समुचित उद्य होना है। उस उदयकी संगति अर्थात्—मले प्रकार प्राप्ति कतिपय जीवोंको हो रही है। तिस कारण देव, नारक, आदि जीवोंका संसारमें धरे रखनेवाला अथवा आत्माको इसी गृहीत शरीरमें ठूंसे रखनेवाला आयुष्यकर्म हास होने योग्य नहीं है। यहांतक पहिली वार्त्तिकके उत्तरार्थका विवरण कर दिया है। दूसरी वार्त्तिकका तात्पर्य यह है कि विना कहे ही केवल सूत्रोक्त पदोंकी सामर्थ्यसे यह सिद्ध हो जाता है कि उस विलक्षण जातिवाले अदृष्टके विपरीत हो रहे दूसरे जातिवाले निर्वल अदृष्ट विशेषसे अन्य संसारी जीवोंका संसारमें जीवित रहना तो विषप्रयोग, शक्षघात, आदि कारणोंद्वारा हास हो जाने योग्य है। अन्यया चिकित्सा करना, दयाधर्मका उपदेश करना, दुष्काल पीडितोंके लिये अन्न वस्त्र देना, अग्निकाण्ड, जलकाण्डसे प्राणियोंकी रक्षा करना, आदिके निष्कलपनेका प्रसंग होगा। जब कि वे वीचमें मरेंगे ही नहीं तो उक्त कियायें क्यों की जा रही हैं? किन्तु चिकित्सा

आदिक कियारों व्यर्थ नहीं हैं । कोई पक्षी या कीट, पतंग, यदि जलप्रवाहमें गिर पड़े तो दयालु पुरुष उनको जलवाधासे उद्धार कर किनारेपर धर देता है, यह उनको अपमृत्युसे बचानेका ही उपाय है । यदि दयालु पुरुष उन जीवोंको नहीं निकालता तो उन जीवोंकी आयु:कर्मके निषेकोंका उत्कर्षण या उदीरणा होकर हास होते हुये बीचमें ही मरण हो गया होता। जैसे कि असंख्याते जीव वर्तमानमें बचानेका निमित्त नहीं मिल्लेसे मध्यमें ही अपमृत्युके प्राप्त हो रहे हैं । हत्यारी चिरैयायें उडती हुई हजारों लाखों मिल्लयोंको खा जाती हैं, छपकिल्यां असंख्य कीटोंको निगल जाती हैं, उल्ल्य, चील, नीलकण्ठ आदि पक्षी, सिंह, व्याप्त, मेडिया, बिल्ली, वीज्, आदि पश्च तथा अनेक जलचर मांसमक्षी प्राणी ये सब हत्यारे जीव उन निर्वल खेलते, खाते, पीते, प्राणियोंकी अक्ताल्में हत्या कर डालते हैं । खेग, हैजा, आदि रोगोंमें लाखों प्राणियोंकी अपमृत्युचें हो जाती हैं । बाल्लेख या योग्य औषधियोंके न मिल्लेसे लाखों बच्चे मर जाते हैं । इस निकृष्ट पंचम काल्में तो बहुत थोडे जीवोंको परिपूर्ण आयु मोगकर मरनेका सीभाग्य प्राप्त होता होगा । अनेक जातिके रोग, चिन्तायें, वैधव्य, दरिहता, अनिष्ठ बांधवोंकी संगति, टोटा, पराजय, अधमर्णता, कुप्रामन्नास, विधवाकन्याप्रयुक्त शोक अवस्था, आजीविकाकी क्षति, परामन, आदि कारणोंसे बहुतसे जीव आयुको पूर्ण किये विना मध्यमें ही मृत्यु मुखमें पड जाते हैं । जलकायिक, अग्निकायिक, घास, फल, पुष्प, शाक, तरकारी, आदि बहुभाग एकेंद्रिय जीवोंकी आयु छिल कर दी जाती हैं ।

न श्वामात्रकालस्य मरणाभावः लङ्गमहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात् । प्राप्तकाळस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्, कः पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वाः द्वितीयपक्षे सिद्धसाध्यता, पथ-मपक्षे खङ्गमहारादिनिरपेक्षत्वपसंगः सकलबिहःकारणिवशेषिनरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युका-लब्यवस्थितेः। श्रक्षसंपातादिबहिरंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्तेः।

कोई आग्रही पण्डितम्मन्य यों समझ बैठा है कि जिस जीवका मृत्युकाछ प्राप्त नहीं हुआ है, उसका कथमि मरण नहीं होता है। विषप्रयोग या अग्निकाण्ड अथवा जलप्रवाहसे भी जीव रिक्षित (वचना) हो जाते हैं। गोली लग जानेपर भी पुनः वीसो वर्षतक जीवित रहते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना चाहिये। क्योंकि खड्गके प्रहार, तोप गोलेका लगना, तीव विषप्रयोग, प्रचण्ड अग्निदाह, अतिसंक्षेश, आदि घातक कारणोंसे जीवोंका मरण होना देखा जा रहा है। मले ही किचित् देवकृत या देवकृत रक्षा हो जानेसे अथवा घातक कारणकी अल्पशक्ति होनेसे अपमृत्यु नहीं हो सके। एतावता अपमृत्युका निराकरण नहीं हो सकता है। एक पुण्यशाली मनुष्य थोडा अपराध बन जानेसे एक, दो, तीन, वार तोप द्वारा उडाये जानेपर भी मर नहीं सका। जयपुर निवासी अमरचन्द दीवान सिंहके पींजरेमें बाल बाल बच गये। घुना अन पीसनेवाली चाकीमें कोई एक दो कीट नहीं मरे, दो पाटोंके बीचमें होकर भी वे जीवित निकल आये, जैसे कि पीसती हुई चाकोंमेंसे कोई गेंहूं

जाहर निकल आता है। इतनेसे ही कदून, लोप, द्वारा हजारों मर चुके या चाकीमें छाखों पिस सुके जीवोंकी अपसूत्यु विधानका विधात नहीं हो सकता है। यदि वह आप्रही शंकाकार यों कहे कि जिसको आप मध्यमें आयुका हास कर अपमृत्युको प्राप्त हो जानेवाला जीव कहते हो क्क जीवकी भी तिस प्रकार पूर्ण आयुष्य काल प्राप्त हो चुकनेपर ही उस निमित्तसे मृत्यु क्दर देखी जाती है। यों कहनेपर तो आचार्य विकल्प उठाकर उस आग्रहीको पुंछते हैं कि कताओं वह इष्ट पुष्ट तगड़ा युवा बिचास गोर्छ। या विषक्षे प्रयोगसे स्वल्पकालमें जो मरगया है या द्वष्ट हिस्तकोंने मार्गमें द्वतगतिसे जा रहे सांपको लाटियोंसे कुचल डाला है, छपकलीने मक्लीको लील लिया है, क्या वे जीव फिर अपने पूर्ण मरणकालको प्राप्त हो चुके थे ? अथवा क्या मध्यमें ही उनका ·अपकृष्ट मृत्यु **होनेका काल प्राप्त होगया है ? बताओ | दूसरा पक्ष प्रहण करनेपर तो तुम्हारे उत्पर** सिद्धसाध्यता दोष हैं। क्योंकि साधने योग्य उसी अपमृत्यु काळको हम सिद्ध कर रहे हैं, उसीको तुम मान बैठे हो । ऐसी दशामें हमारा तुम्हारा कोई विवाद ही नहीं है। हां, पहिला पक्ष प्रहण करनेपर तो उनकी मृत्युमें असिप्रहार. विषप्रयोग, घातकप्राणी द्वारा शरीरका विदारण किया जाना आदि कार-ब्योंकी अपेक्षा नहीं रखनेका प्रसंग होगा । किन्तु जाना गया है कि बलिष्ठ योद्धा, युवा, मक्खी, हिरण, जादि जीवोंको यदि खड़ग प्रहार बुसुक्षित छपकली या व्याप्तका अवसर प्राप्त नहीं होय तो वे दीर्घ-काळतक जीवित बने रहते हैं। इत्यारे मनुष्यको फांसी देकर मार दिया जाता है। यह उसकी अपमृत्यु नहीं तो क्या है ! हां, जो संक्रेश, असिप्रहार आदि अपघातक कारणोंके विना पूर्ण आयु भोग कर मरता है, वह अपमृत्युशंहित होरहा मछ मृत्यु फालको प्राप्त हुआ कहा जाता है। क्योंकि सम्पूर्ण बहिरंग कारण माने गये अन्निनिरोध, फांसी, विष, आदि विशेषोंकी नहीं अपेक्षा रख रहे मृत्युकारणको ही पूर्ण मृत्युका काल, व्यवस्थापित किया गया है । कांतिपय मनुष्य बैठे बैठे या जाप्य करते हुये मर नाते हैं । कोई वृक्ष थों ही सूख जाते हैं । चीटियां, मिक्ख्यां, भी बहुतसी घातक कारण विना यों ही मर जाती हैं । घास पक्कर सख जाती है । यह जीशेंका मृत्यकाल माना गया है । हां, जिस मृत्यका शकाघात, विश्वत्वात, जलोदर, कसाई द्वारा इता जाना, आदि बहिरंग कारणोंके साथ अन्वय व्यातिरेक का विधान पाया जाता है, अर्थात्-शाक्षसम्पात होनेपर मृत्युका होना और शक्षाघात यदि नहीं होता तो कथमपि मृत्य नहीं होती. यह अन्वय व्यतिरेक होरहा है, उस मरणकालकी अपमृत्यकाल-यना यक्त माना गया है।

त्तद्भावे पुनराधुर्वेदभाषाण्यांचाकित्सितादीनां क सामर्थ्योपयोगः । दुःत्वप्रतीकारादा-विति चेत्, तथैवापमृत्युप्रतीकारादी तदुपयोगीस्तु तस्योभयथा दर्शनात् ।

यदि रोग, विष, आदि द्वारा उस अपमृत्युकाल होनेको नहीं माना जायगा तो फिर आयुर्वेद या चिकित्साशासका प्रमाणपन अथवा चिकित्सामें नियुक्त होरहे सद्वैष, रोगप्रतीकारक मंत्र,तंत्र, आदिकोंकी स्क्रमार्थका उचयोग होता कहां समझा जावका ? आधु छिन नहीं होनेवाले जीवोंकें लिये ये सब प्रयोग व्यर्थ हैं। आयर्वेद या चिकित्सा करना विभाषहारक मंत्र ये कोई आयध्यकारको बढ़ा नहीं देते हैं। हां, अपमुख्यको जुटे हुये कारणोंका विष्यंस कर देते हैं । मुज्यमान आयुष्यसे एक समय अधिक भी जीवित रख छेना इन्द्र, अहमिंद्र, प्रह्न, योगिनी, क्षेत्रपाछ, मंत्र, तंत्रके बृते अशक्यानुष्ठात है। हां, प्रतिबन्धकोंकी शक्तिका नाश करनेमें जो औषधि आदि समर्थ कारण हैं, वे मध्यमें अपकर्षण या उदीरणाको प्राप्त हो रहे आयुष्यकर्मके निषेकोंकी अवस्थाका धंस कर उतने ही पूरे नियत समयोंमें उदय आने योग्य कर देते हैं। आयुर्वेदके प्रमाणपन अनुसार या मंत्र आदि शास्त्रोंके यथार्थपन अनुसार मध्यमे मरता हुआ जीव यदि बचा लिया जाय, ये क्या थोडी सामर्थ्य है ? पूर्वजन्ममें बांधी हुई आयुको मध्यमें ही तोड सकनेवाले प्रतिबन्धक रोगोंका समुचित चिकित्सा प्रक्रिया द्वारा निराकरण समझाया जाकर पूर्ण आयुको भोगनेके छिये जिन शाखोंसे ज्ञान सम्पादन किया जाता है, वे आयुर्वेद शास्त्र हैं । न्याय प्रन्थ, ज्याकरणविषयक प्रन्थ, सिद्धान्तशास्त्र, ज्योतिषशास्त्रके समान आयुर्वेद भी एक आवश्यक वैद्यक विषयके प्रन्थोंका समुदाय है, कोई ऋग्वेद, युजुर्वेदके समान एक नियत प्रन्थ ही आयुर्वेद नहीं है। यदि कोई यहां यों कहे कि दु:खका प्रतीकार हो जाना, कुछ कुछ सुख मिल जाना, चलने फिरने लग जाना, आदिक कार्योमें ही चिकित्साराम्ब या वैद्योंके पुरुषार्थकी सफलता हो जाती है। अर्थात---त्रालन्याधि या कुछ, जल्लेदर आदि रोगों की चिकित्सा केवल इस लिये की जाती है कि रोगीका दु:ख कम हो जाय, उसकी कुछ कुछ चैन पड़ने लग जाय, कुछ चल, फिर सके, खा, पी ले, थोडी नींद ले लेवे, रोमका उपराम हो जाय, बस, इसीलिये रोगीकी चिकित्सा की जाती है। उसका मरना तो आयुके पूर्ण होनेपर ही होगा, और तब आयु पूरी हो जानेषर महान् सद्वैदा, बढे बढे चरक, सुश्रुत, वाग्मह, या मंत्र तंत्र शास्त्रके प्रन्थ व्यर्थ धरे रहेंगे । जीवन एक विपल (एक सेंकिन्डका ढाईमां भाग) भी वह नहीं सकता है। यों कहनेपर तो आचार्य महते हैं कि जिस प्रकार असाता वेदनीयके उदयसे प्राप्त हुये दुःखके प्रतीकार आदिमें शास, वैद्य, गारुडिक, तंत्र आदिकी सामर्थ्य होना माना जा रहा है, उसी प्रकार अपमृत्युका प्रतीकार आयुष्य कर्मकी उदीरणा नहीं होने देने आदि कार्यीमें भी उनका उपयोग माना जाओ ! जो कारण दु:खका प्रतीकार कर सकते है यानी दःख देनेवाले पापोदयको ठाल सकते हैं वे अपमृत्युको भी इटा सकते है । उनकी उस सामर्थ्यका उपयोग होना दोनों प्रकारसे देखा जाता है । दुःखोंके प्रतीकार हो जाते है। अपमृत्यका विनाश भी साथमें हो जाता है। चतुर वैश्व किसी सेगमें कुछ दिनोंके छिये दु:खकी अधिक बढाकर भी रोगीकी अपमृत्युका विनाश कर देता है। गले संडे अंगको शक्वचिकित्सा द्वारा काट कर रोगीको अपमृत्यसे बचा लिया जाता है, सिनपात रोगसे ज्वर रोगमें ठाकर पुन: ज्वरका विनाश करता हुआ वैध उस रोगीको मध्य मूखुसे रक्षित कर छेता है। सतानेवाछे व्यक्त रोग और वर्तमानमें नहीं दुःख दे रहे रोगोंकी चिकित्सा होना दोनों प्रकारसे देखा जाता है।

नन्वायुःश्चयनिमिचोपमृत्युः कथं केनचित्प्यतिक्रियते तर्श्वसद्वेद्योदयनिमित्तं दुःसं कथं केनचित्प्यतिक्रियतां १ सत्यप्यसद्वेद्योदयेन्तरंगे हेतौ दुःखं बिहरंगे वातादिविकारे तत्प्रतिपश्चौ-पथोपयोगोपनीते दुःखस्यानुत्यचेः प्रतीकारः स्यादिति चेत्, ति सत्यपि कस्यचिदायुरुद-येतरंगे हेतौ बिहरंगे पथ्याहारादौ विच्छिको जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधान-मेवापमृत्योरस्तु प्रतीकारः ।

यहा किसी अन्यवादीका स्वपक्ष अवधारण है कि आयुष्य कर्मका कारणवरा पुरा खिर जाना-रूप क्षयको निर्मित्त पाकर होनेवाली अपमृत्यु भला किसी भी एक औषधि, मंत्र या अनुष्ठान आदि करके कैसे प्रतीकारको प्राप्त की जा सकती है ? अर्थात --- अपने अपने नियत समय अनुसार ही जीवोंका मरण होना अभीष्ट करनेवाला वादी यों कह रहा है कि चाहे किसीकी भी मृत्य या अप-मृत्यु क्यों न होय, वह पूर्व उपार्जित आयुष्यकर्मके क्षय होनेपर ही होगी । मध्यमें उसका प्रतीकार करना व्यर्थ है। लिखे, बदेसे एक क्षणमात्र भी आयु: न्यून या अधिक नहीं होपाती है। इस कुत्सित अवधारणका प्रत्याख्यान करते हुये आचार्य कहते हैं कि तब तो असातावेदनीयकर्मके उदय को निमित्त मानकर हुआ दुःख भला किस ढंगसे किस चिकित्सा, मंत्र, आदि करके प्रतीकारको प्राप्त किया जा सकेगा ? बताओ । जैसे आप " नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरिप " इस सिद्धान्त अनुसार आयुष्यकर्मका पूरा भोग होकर ही जीवोंका मरण होना स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार असातावेदनीयकर्म भी अपना परिपूर्ण कार्य दुःख देना कितने ही दिनों, महिनोंतक पीडा पहुंचाना, परिताप कर देना, आदि फलोंको देकर ही निवृत्त होगा। औषधि आदिसे असदेखका प्रतीकार नहीं किया जा सकेगा, किन्तु आप पहिले चिकित्सा आदि द्वारा दुःखींका मध्यमें ही प्रतीकार हो जाना स्वीकार कर चुके हैं। यदि तुम यों कहा कि दृःखके अभ्यन्तर कारण असतावेदनीयकर्मका उदय होते संते भी और दु:खके बहिरंगकारण वातन्याधि, उदरशूल, नेत्रपीडा, मस्तकवेदना आदि रोग या वात. पित्त, कफ, दोषजन्य विकारोंकी प्राप्ति हो जानेपर हुये उस दु:खको मेटनेवाळी प्रतिपक्ष औषधिके उपयोगका प्रसंग मिल जानेपर दु: नकी उत्पत्ति नहीं होनेसे ही दु: खका प्रतीकार होना समझ लिया जायगा । तुम्हारे यौ कहनेपर तब तो हम जैनसिद्धान्ती भी कह देंगे कि किसी जीवके जीवित रहनेके अंतरंगकारण छंबे चौडे आयु:कर्मका उदय होते रहते हुये भी यदि जीवित रहनेके बहिरंग कारण पथ्यआहार उचित जलवायुसेवन, पाकाशयकी शुद्धि, आदिका विच्छेद प्राप्त होजानेपर जीवित रहनेके अभावका प्रसंग प्राप्त हो चुका समझो । ऐसी दशामें उस आयुःके मध्यविच्छेदको रोककर उसी दीर्घ जीवनका संपादन करनेके छिये जीवित रहनेको वैसाका वैसा ही पुनः संधारण कर छेना ही अप-मृत्युका प्रतीकार होजाओ । भावार्थ-'' यत्पूर्व विधिना छ्ळाटिळाखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः '' इस निय-मको सर्वत्र छगा बैठना। आत्माके पुरुषार्थ या अन्य कारणोंसे जैसे खींच छी गयी कार्मण वर्गणायें कर्म

बना छी जाती हैं। बंधे हुये वे कर्म पुन: नियत समय अनुसार उदयावछीमें प्राप्त होकर आत्माको सुखदुःख देना, स्थूल शरीरमें रोके रहना, आदि फल देते हैं, उसी प्रकार आत्मपुरुषार्थ या अन्य नियत कारणों द्वारा उन कमींकी उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, उपश्रम, निधत्ति, निकाचना, आदि अवस्थाये भी की जा सकती हैं। हां, भुज्यमान आयुकी बढानेके लिये या ज्ञानावरणका उपराम कर-नेके लिये अथवा नामकर्मका क्षयोपराम करनेके लिये आत्मा यदि ऐसे अराक्यानुष्ठान कार्योका प्रयत्न करेगा तो उसका परिश्रम या कारणोंका व्यापार पहाडसे माथा टकरानेके समान सर्वथा व्यर्थ पडेगा। किन्तु उचित कालसे पूर्वकालमें ही आयः कर्मकी उदीरणा या अपकर्षण करनेवाले अथवा उस आय-ष्यको मध्यमें ही विच्छेद करनेके लिये मुख फाडे बैठे हुये कारणोंकी सामर्थ्यको नष्ट कर देनेवाले कारणोंका व्यापार व्यर्थ नहीं जाता है। आयुको मध्यमें छेद करनेवाला विष, शस्त्रवात, आदि कारण पूर्ण समर्थ होता हुआ यदि प्रतीकारक मंत्र, औषधि, आदिकी शक्तियोंका भी ध्वंस कर देगा तो आयुका न्हास अवस्थम्भावी है । किन्तु आयुःके मध्यमें छेदनेवाले कारणोंकी शक्तिका चिकित्सा आदि समर्थ कारणों द्वारा विनाश कर दिया गया है तो " अनी टल जानेपर हजार वर्षकी आयू" इस प्रामीण किम्बदन्ती अनुसार दीर्घ जीवन बना बनाया ही है। बात यह है। कि चिकित्सा प्रणाली द्वारा अपमृत्युका प्रतीकार किया जा सकता है, जैसे कि सुखके या दु:खनिवृत्तिके कारण मिछा देनेपर असद्वेष. अरति, शोक, आदि कर्मीके उदय निमित्त परिणामीका प्रतीकार कर दिया जाता है। जो खाया हुआ पदार्थ प्रमाद दशा होनेपर छह चण्टेमें पच पाता वह व्यायाम या सानन्द वाय सेवनार्थ स्वक्रम्द गमनरूप प्रस्पार्थ द्वारा तीन घंटेमें ही पचा लिया जाता है।

सत्यप्यायुषि जीवनस्याभावप्रसक्तौ कृतपणाशः स्यात् इति चेत्, तर्हि सत्यप्यसद्देघोदये दुःखस्योपशमने कथं कृतपणाशो न भवेत् ?

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि दीर्घ काळतक जीवित रखनेके उपयोगी आयुः कर्मका सच्च होते हुये भी यदि मध्यभे ही जीवित रहनेके अभावका प्रसंग मिळ जाना माना जायगा तब तो कृतका विनाश होजाना, यह बडा भारी दोष आंता है। यानी "जो करता है वह अवश्य भरता है" "न कर तो कुछ भी नहीं डर" ऐसी छो कर्पासि हिया हैं। किये हुवे कर्मों का यदि फळ दिये विना ही बढिया माश होजाय तब तो दान, पूजा, अध्ययन, अध्यापन, सभी शुभकर्म व्यर्थ पडेंगे। हिंसक, व्यभिचारी जीब भी दयावान् ब्रह्मचारी पुरुषोंकी पंक्तिमें साथ बैठ जायंगे, यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो असहेदनीय कर्मका उदय होनेपर भी यदि चिकित्सा आदि द्वारा दुःखका उपशम होना माना जायगा तो तुम्हारे ऊपर भी कृतका नाश हो जाना दोष किस प्रकार नहीं बन बैठेगा? बताओ। भावार्थ—तुम जो समाधानं उस दुःखके उपशम हो जानेमें करते हो वही समाधि इस अपमृत्युमें भी कर देना। यदि किसी जीवने पहिले पुण्यका उपार्जन किया पश्चात् तीव पाप कर लिया ऐसी दशामें पुण्यकर्मका पापकर्म रूपसे संकर्मा हो बाने पर कोई कृतअगाश नहीं है। सपैके मुखमें पडे हुये

जलका परिणाम निष होजाता है, निरोष सीपमें प्राप्त हुये जलका बिंदु मोती बन जाता है। जिस तमस्यासे सीमर्म इन्द्र स्वीकान्तिक देव, सर्वार्धिसिद्धिके देव इन पदों भी अथवा मुक्तिकी भी प्राप्ति हो सकती है, लोखपी जीव निदान नामक पुरुषार्थ हारा छोटेसे फलको प्राप्त करनेमें ही परितृप्त होजाता है। यह कमीकी अवस्थाओंका परिवर्तन होना ही तो है। इसमें इतप्रणाश क्या हुआ ? व्यायाम कर अनको शीघ्र पना लिया या औषि करके रोगसे शीघ खुटी था ली इसमें कोई इतप्रणाश दोष नहीं है। सातिश्वम पुण्यक्तीन जिलान बीर प्रितिशम पुण्यक्तील जीव अलपपुरुषार्थसे बहुत लाभ उठा लेता है, जब कि पुण्यक्तीन किसान बीर प्रितिशम हारा अत्यल्प आय कर पाता है। इसमें इतप्रणाश कुछ भी नहीं है। जो नियम यों कर रहा है कि इस जीवको दस वर्षतक दुःख या मुख भोगना है अथवा जीवित रहना है सार्थमें वही नियम यों भी कह रहा है कि यदि इसके प्रतिकृत्र कारण द्वय, क्षेत्र, काल, भाव, मिल जायंगे तो अलप कालमें मी उन कमीका भोग होकर निवारण कर दिया जायगा। केवली भगवान भी तेरहवें गुण-स्थानमें केवली समुद्धालस्वरूप स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा तीन अधातिया कमीकी स्थितीको अपने आखुष्य कमीकी स्थितीके समान छोटी कर लेते है। इसमें इतप्रणाश रत्ती भर भी नहीं है। छोकमे भी कारण वश सवार्ये घटा दी जाती है।

कडुकादिभेषजोपयोगजपीडामात्रं स्वफलं दत्वैवासद्देदस्य निष्टत्तर्ने कृतप्रणाश्च इति चेत् , तक्षीयुषोप्ति जीवनमात्रं स्वफलं दत्त्वैव निष्टत्तः कृतप्रणाश्चो मा भूत् विश्विष्टफलद्रानाभावस्त् -भयत्र समानः। ततोस्ति कस्यचिदपपृत्युश्चिकित्सितादीनां सफलत्वाम्यथानुष्पत्तेः कर्मणामयथा-कालविपाकोपपत्तेश्चाम्रफलदिवत्।

प्रतिख्यदी कहता है कि कड़वी, कपैली, उणा, पीडाकारक, आदि नहीं कचनेवाली औप-धियोंके उययोगसे उत्पन्न हुई वेदनामात्र ही अपने फलको देकर असद्वेदनीय कर्मकी निवृत्ति हो जाती है। अतः दुःखके उपराम करनेमें कृतकर्मका समूल्यूल नास नहीं हुआ। अर्थात्—कड़वी औपधी (दनाई) पी लेने या हुई। चढ़ाते समय मर्दन (मालिश्च) का दुःख सुमतने अथवा क्षेपमें चारों ओरसे दुबक कर पसीना लेने एवं शकहारा चीर पढ़बकी वेदना सहने आदि फलोंको देकर ही असद्देदनीय कर्मकी निवृत्ति हुई है। फल दिये विना कोई कर्म टलता नहीं है। अतः की जा जुकी करनीका प्रणाश नहीं हुआ, यों कहनेपर हम जैन भी कह देंगे कि तब वो अपवर्तनीय आयुवाले जीवोंके आयुःकर्मकी भी स्वल्पजीवनमें ही अपसा पूरा रस दे देना मात्र अपना फल देकर ही निवृत्ति हुई है। अतः कृतका प्रणाश मत होओ। यानी सेरभर खांडमें जितमी मधुरता है तोले भर मिठाईका सार भी उतना ही मीठा है। भले ही सारसे डेड सेर तीलमें लज़्द नहीं बन सके, किन्तु मिएजल (सरबत) उतना ही बन जायगा जितना एक सेर खांडसे मीठा पासी हो जावा है। यह फल क्या न्यून है?। यदि तुम यों कही कि अषमृत्यु सान लेनेपर आयुष्य कर्मका परिपूर्ण काकृतक विश्विष्ट पत्छ देना तो। नहीं हुआ, ऐसी दशामें हम जैन भी कह सकते हैं कि जो परिपूर्ण काकृतक विश्विष्ट पत्छ देना तो। नहीं हुआ, ऐसी दशामें हम जैन भी कह सकते हैं कि जो परिपूर्ण काकृतक विश्विष्ट पत्छ देना तो। नहीं हुआ, ऐसी दशामें हम जैन भी कह सकते हैं कि जो

ज्वर रोग चार दिनतक संक्रेश देता, वह कड़नी कुटकी, चिरायतामिक्षित औषर्थिक पी लेमेंपर एक ही दिनमें उपशान्त हो जाता है. यहां भी तो असंदेख द्वारा पूर्ण कालतक विशिष्ठ फरू दिया जाना नहीं है। अतः पूर्व व्यवस्था अमुसार कर्मीके त्रिशिष्टफल देनेका अभाव तो हमारे, बुम्हारे, दोनोंके यहां समान है। तिस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि किसी किसी जीवकी मध्यमें ही अपमृत्यु हो जाती हैं। (प्रतिज्ञा) चिकित्रेतात, मंत्रप्रयोग, पुरुषार्थविशेष आदिक्रोंक्ती सफलता अन्यया यानी अपमृखुको स्वीकार किये जिना नहीं बन पाता है (हेतु)। एक बात यह भी है कि नियत काळका अतिकागण कर भी अपकर्षण, उत्कर्षण, अनुसार कर्मीक विपास आगे, पीछे, हो जाते हैं । जैसे कि आम्रफल, पनस, नीबू, खस्बूजा, आदि फल समयसे पूर्व ही भुस, रुई, आदिमें पन्ना लिये जातें हैं। अपीत्— मुर्गी, या कबृतर्राके उदरमें विशेष उष्णताको पहुंचाकर नियत कालसे पाईले प्रसक करा छिया जाता है। उपयोगमें छाने या आतपमें अधिक रखनेसे वस शीव्र जीर्ण हो। जाता है। गीला कपडा फैला देनेसे शीघ सूख जाता है। थोडी उमरमें ही गृहस्थीका बोच आपडनेपर समझके पहिले बुद्धि परिपक हो जाती है। गम्भीरता आ जाती है। इसी प्रकार अपमृत्य दशामें आयु:कर्मके निषेक श्रीम झड जाते हैं। दस वर्षतक उदयमें आनेके छिने रची गयी आयुष्यकर्मकी पंक्तिको शीघ उदयमें लाकर भोगता हुआ जीव मध्यमें मर जाता है। अपमृत्युवाले जीवके भी आयुष्य कर्मकी भेग (फल प्रांति) भोग कर ही निवृत्ति हुई है। अनुम्हरूप निर्वराके समान कमीकी उपक्रम क्रिजेस भी बौती है। कार्बीका फल यथा अवसरपर है। सुनवानेवाले जैसे सारण हैं उसी प्रकार मिक्यमें उदय आनेवाले कर्मकी कारण द्वारा वर्तमानमें भी उदय प्राप्त किया जा सकता है। मूर्व छोकरा यवा अवस्थाकी परिपकताके प्रथम ही मोह-वरा युवल मार्चोको प्राप्त कर लेता है। वृद्धल और मृत्युको भी शीघ बुला लेता है। अतः निर्मात हो जाता है कि देव, नारकी, और तीर्थकर महाराज तथा भोगभूमियां, कुमोगभूमियां, जीवोंके अति-रिक्त शेष संसारिजीमेंकी आयका मध्यमें हास हो सकता है।

यश्चाइ, विचारापन्नाः माणानः सापवर्त्यायुपः श्वरीरित्वादिद्विपवस्त्वाद्वाः मसिद्धसापकः र्त्यायुष्कप्राण्यितः ते कामपवर्त्यायुषस्तत एवीपपादिकवदिति, सोपि न युक्तपादीरयुपदर्शयति ।

जो भी कोई आक्षेपकार यों अनुमान क्ला कर कह रहा है कि विवादमें प्राप्त हो रहे देव, नारकी, तीर्थिकर और भोग्रभूमियां, प्राणी भी (पक्ष) हासको प्राप्त होने योग्य आयुसे सहित हैं (साध्य) राणिरधारी होनेसे (प्रथम हेतु) अथवा इन्द्रियवाछे होनेसे (दितीयहेतु) अपवर्तसहित आयुवाछे प्रसिद्ध कर्मभूमिमां मनुष्य, तिर्धिच, प्राणियोंके समान (अन्वयदष्टान्त) । इस अनुमानसे देव आदि जीकोकी आयुक्ता हास होना सभ जाता है । अथवा जैनसिद्धान्तको बिगाइनेके छिये दूसरा अनुमान यह भी किया जा सकता है कि वे कर्मभूमियां मनुष्य या एकेन्द्रिय, द्वीन्त्रिय, आदि जीव भी (पक्ष) आक्षण्डनीय आयुवाछे हैं (साध्य) उस ही कारणसे अर्थात् नशरीरवासी होनेसे अथवा इन्द्रियवाछे। होनेसे (हेतुद्रय) देव, नारकी जीवोंके समान (अन्वयदष्टान्त)। अब अन्वार्ध कहते हैं कि वहा

आक्षेपकार भी युक्तिपूर्ण वाद करनेकी टेन्नको रखनेवाला नहीं है। भावार्थ—जैनसिद्धान्त कोई बचोंका खेल नहीं है, जो कि चाहे जब बिगाड लिया जाय और बना लिया जाय। जैनसिद्धान्तकी भित्ति द्वन्यके वस्तुभूत परिणामेंपर अवलिवत है। जैसे जलका दृष्टान्त देकर अग्निमें अनुष्णत्व सिद्ध करनेवाला द्वन्यत्व हेतुं अथवा अग्निका दृष्टान्त देकर जलमें भी उष्ण स्पर्शको साधनेवाला द्वन्यत्व हेतु, व्यभिचार, बाध, सत्प्रतिपक्ष दोषोंसे परिपूर्ण है। उसी प्रकार शरीरसिहतपन या इन्द्रियधारीपन हेतु भी व्यभिचार आदि हेत्वाभास दोषोंसे दूषित है। अतः अविनाभावस्वरूप प्राणको धारनेवाले जीवित हेतुओंसे नियत साध्योंकी सिद्धिको चाहनेवाले निद्धानोंको अनिनाभाविकल मृतहेतुओंसे (हेत्वाभासोंसे) अन्ट सन्ट साध्यको साधनेके लिये कुत्सित प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अन्यथा घृणापात्र बननेके अतिरिक्त उन्हें बाध, अनिष्टप्रसंग, अपसिद्धान्त, अप्रमाणिकपन, आदि दोषोंको भी झेलना पढेगा। इसी बातका श्री विद्यानन्द स्वामी अग्निम दो वार्त्तिकों द्वारा प्रदर्शन कराते हैं।

तदन्यतरदृष्टत्वाच्छरीरित्वादिहेतुभिः । सर्वेषामपवर्त्यं तत्रापपवर्त्यमितीरयन् ॥ ३ ॥ प्रबाध्यते प्रमाणेन स्वेष्टभेदाप्रसिद्धितः । सर्वज्ञानिविरोधाश्च मानमेयाव्यवस्थितेः ॥ ४ ॥

उन अपनर्तनीय आयुनाले और अनपनर्तनीय आयुनाले कर्मभूमियां या देन, नारकी आदि जीन इन दोनोंमेंसे किसी एकमें इष्टसाध्यके साथ देखा जा चुका होनेसे शरीरधारीपन, इन्द्रियधारीपन, प्राणयुक्तपन, संतारीपन, आदि हेतुओं करके यदि सभी शरीरधारी जीनोंकी वह आयु न्हास होने योग्य है अथना नहीं न्हास होने योग्य है, इस प्रकार कथन कर रहा आक्षेपकार (पक्ष) अच्छे प्रकार प्रमाणों करके बाधित हो जाता है (साध्य) अपने इष्ट भेदोंकी अप्रसिद्धि होजानेसे (प्रथम हेतु) और सर्वज्ञ, जगत्कर्तृत्व, आकाशव्यापकत्व आदि सिद्धान्तोंका निरोध प्राप्त होजानेसे (ष्टितीय हेतु) तथा प्रमाणों हारा जानने योग्य प्रमेय पदार्थीकी अव्यवस्था प्राप्त होजानेसे (तृतीय हेतु)। अर्थात्—पक्ष और निपक्षमें सामान्य रूपसे पाये जा रहे धर्म करके जो दूसरेके निर्दोष सिद्धान्तपर कुठाराधात करता है वह स्वयं प्रमाणोंसे बाधित होरहा संता अपने अभीष्ट मेद, प्रमेदोंको नहीं साध सकता है। वह सर्वज्ञ आदिको भी नहीं मान सकेगा। उसकी मानी हुई प्रमाणप्रमेयव्यवस्था सब ल्रुस होजायगी। मनुष्यत्व हेतुसे दर्धिका धनिकपना, या मूर्खका पण्डितपना, व्यभिचारीका ब्रह्मचारीपन, साधुका गृहस्थपन, वादीका प्रतिवादीपन, अपसिद्धांतीका सिद्धांतीपन, पराजितका जेतापन, स्वामीका मृत्यपन, आदि भी सन सध जायंगे। भारी पोळ मच जायगी। अतः अनिनामानसे निकल होरह सामान्य हेतुओं करके निरोष साध्यक्ष निर्कष्ट करना स्वयं अपने क्रिये कुठाराघात है। बालक भी अपने छिये कांटे बखेरना महीं चाहता है।

न ग्रापवर्त्यानपवर्त्ययोरायुषोरन्यतरस्यापि प्रतिक्षेपं कुर्वन् प्रमाणेन न बाध्यते, अनुमाने-नागमेन च तस्य बाधनात् स्वेष्टभेदमसिध्या चायं प्रबाध्यते । स्वयमिष्टं हि केषांचित्माणिनाम-ल्यायुः केषांचिदीर्घे तत्र शक्यं वक्तुं । विवादापन्नाः प्राणिनोल्यायुषः शरीरित्वात् प्रसिद्धाल्या-युष्कवत् ते वा दीर्घायुषस्तत एव प्रसिद्धदीर्घायुष्कवदिति स्वेष्टविभागसिद्धिः प्रबाधिका ।

विपक्षको अन्वयदृष्टांत बनाकर व्यभिचारी हेतुओं द्वारा अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय दो आयुओं मेंसे किसी भी एक आयुके निराकरणार्थ आक्षेप कर रहा स्थूळबुद्धि पंडित प्रमाण करके बाधित नहीं होता है, यह नहीं समझ बैठना । क्योंकि अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणसे उस आक्षेप कर्तीके मन्तव्यकी बाधा होजाती है। जब कि प्राणिदया आदि कारण विशेषोसे उपार्जित किये गये तिस प्रकारके अदृष्टकी सम्प्राप्ति होजानेसे देव आदि जीवोंकी आयुको अनुमान द्वारा अनपवर्तनीय साधा जा चुका है तथा उसके विपरीत माने गये विशेष अदृष्टके वश हुये कर्मभूमियां जीवोंकी आयुका विष ' आदि द्वारा ऱ्हास हो सकना सिद्ध कर दिया गया है, ऐसी दशामें आक्षेपकारके अनुमानाभास उक्त निरवद्य दो अनुमानोंसे बाधित हो जाते है एवं सिद्धान्तप्रन्थोंमें आयुका परिपूर्ण भोग और कदाचित मध्यिबच्छेद होना भी समझाया गया है। अन्तकृद्दशांगमें दारुण उपसर्ग सह कर कर्मका क्षय करनेवाले जीवोंकी वर्णना है। अनुत्तरीपपादिकदशांगमें भी उपसर्गवाले मुनियोंका वर्णन है। तथा सिद्धान्तप्रन्थ अनुसार गोम्मटसारमें आयुःकर्मके संक्रमण बिना नी करण स्त्रीकार किये हैं। " संकमणा करणूणा णव करणा होति सन्य आऊणं "। वैद्यक प्रन्थोंमें भी आयुःका पूर्ण भोग होना अथवा किसी जीवकी आयुः का मध्यमें हास हो जाना भी परिपुष्ट किया है। अतः आक्षेप-कारके मन्तव्यको आगमप्रमाणसे भी बाधा (करारी ठेस) प्राप्त हुई । तथा यह सर्वत्र पोल चलानेवाला आक्षेपकार अपने अभीष्ट किये गये भेदोंकी प्रसिद्धि करके भी चोखा बाधित कर दिया जाता है। देखिये । इस आक्षेपकारने स्वयं किन्हीं किन्हीं चींटी, मक्खी, गिडोरे, घास, पतंग, प्राणियोंकी अल्प 🗸 आयु अभीष्ट की है और किन्हीं किन्हीं वृक्ष, हाथी, बिछ मनुष्य, सर्प, आदि जीवोंकी लम्बी आयुः मानी है। उस दशामें हम भी इसके ऊपर कटाक्ष करते हुये यों कह सकते हैं कि जिन जीवोंकी **उम्बी आयु तुमने मानी है वे विवादप्रस्त हो रहे बृक्ष आदि प्राणि भी (पक्ष) अल्प कालवाली** आयुको धारते हैं (साध्य), शरीरधारी होनेसे (वही तुम्हारे घरका हेतु) अल्प आयुवाले प्रसिद्ध घास जीव या रातको दीपकके चारों ओर चुमनेवाले पतंग आदिके समान (अन्वयद्द्यान्त) अथवा दूसरा अनुमान यो भी बनाया जा सकता है कि अल्प आयुवाले अभीष्ट किये गये वे खटमल मेंढकी, गिडार, राजयक्मा रोगवाले प्राणी (पक्ष) दीर्घ आयुवाले है (साध्य) तिस ही कारणसे अर्थात्— तुम्हारा अभ्यस्त लालित, पालित, वही शरीरधारीपन हेत उनमें घटित हो रहा है (हेत), प्रसिद्ध हो रहे दीर्घ आयुत्राले वटवृक्ष, हाथी, मञ्ज पुरुष, आदि जीवोंके समान (अन्वयद्यान्त)। यहां प्रशं-साकी बात तो यही है कि हमने तुम्हारे अभीष्ट हो रहे हेतुसे ही। तुम्हारे अभिमतसिद्धान्तका निरा-

करण कर दिया है। मिनमरामण के अमीन माने जा रहे शककर के नारायण द्वास प्रतिनारायण का खायन का दिया जाता है। इस प्रकार आक्षेपकार द्वारा अपने इस हो रहे अल्पआयुवाले और दीर्घ आखुवाले जीवोंको दो किमागोंकी क्षिति करना भी उस अनपनर्तनीय आयुवाले जीवोंको सामकर्त आयु उक्त साधनेनाले और सामकर्त आयुवाले प्राणियोंकी आयुक्तों हासरहित साधनेनाले अनुमानोंको भले प्रकार वाध देता है। यो अपने इस निमागकी सिद्धि उसीकी प्रवाधिका हो जाती है।

सर्वज्ञादिषियोगाणासी नाध्यते तथाहि-विवादापनाः पुरुषः सर्वज्ञां वीतरामी वा न भवति त्रसीहित्वाङ्न्यपुरुषवत् वेदार्थक्षो वा न भवति जैभिन्यादिस्तत एव तद्वत् विपर्यसमसंगीः वेति प्रस्थानस्य कर्तुं शक्यत्वात् ।

लथा वह आक्षेय तसका निस्सार अभिमत तो सर्वज्ञ, ज्यापक आत्मा या सत्करीसे स्वर्धप्राप्ति आदि स्वीकृतियोंसे निरोध आ जानेके कारण भी काथित हो जाता है। उसी बातको यो स्पष्टरूपसे कहते हैं कि बौदों करके माना गया बुद्ध या सांख्यों द्वारा माना गया कापिल अथवा और भी विवादमें पड़ा हुआ पुरुष (पक्ष) सर्वत्र अववा वीतराग नहीं है (साध्य) शरीरधारीपना होनेसे (हेढ़) अन्य रथ्या पुरुष, या किसान आदि मनुष्योंके समान (अन्वयद्दशन्त)। तथा मीमांसक पण्डित तो जैमिन, मन, आदि पुरुषोंको बेदके अर्थका ज्ञाता स्त्रीकार करते है। उनके ऊपर अनुमान द्वारा यह कटाक्ष किया जा सकता है कि जैमिन, मन, याज्ञवल्क्य आदिक पुरुष (पक्ष) वेदके अर्थको जाननेवाले नहीं है (साध्य) उसी शारीस्वारीपन होने हे (हेतु) ग्रामीण पुरुषोके समान (व**दी पहिला अन्वयदश्चन्त**) | नैसायिक पाण्डित आकाश, काल, दिशा, आत्मा, इन द्रव्योंको व्यापक मासने हैं। उनके उत्पर भी यों अनुसान बनाकर फेका जा सकता है कि आत्मा या आकाश (पक्ष) न्यापक नहीं है (साध्य) द्रन्य होनेसे (हेतु) घट, पट, आदिके समान (अन्वयदद्यान्त) , एवं घट पट आदि पदार्थ असिस नहीं हैं (प्रतिक्रा वाक्य) द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाराके समान (अन्तरप्रक्रम्त)। मीमां सर्वोके अमेतिकोम आदि सभकर्म (पक्ष) स्वर्गको देनेवाले नहीं हैं (साध्य) कर्म होतेसे (हेत्) कर्छ जमक्षण, चोरी करना, मनुष्यवध आदि कक्रत्योंके समान (अन्वयद्दृष्ट्रात) । अवना निपरीत हो जानेका भी प्रसंग प्राप्त होगा । अर्थात्—रथ्या पुरुष (पक्ष) सर्वज्ञ है (साध्य) राधिस्थारी होवेसे (हेत्) बुद्ध, कपिछ आदिके समान (अन्वयदशन्त)। तथा प्रामीण पुरुष मी रातीत्वारी होनेसे जैमिन, आदिके समान वेदार्थीका झाता है। एवं घट, पट, आदि भी द्रव्य होनेसे आकाराके समान व्यापक क्यों नहीं मात लिये जांय ! मीमांतकोंके अद्यास अनुष्ठान भी अग्रिष्टोम आदिके साम्रत स्वर्गप्रापक हो जांच ! यों आक्षेप्र धारके ऊपर पूर्वोक्त प्र धार असद उत्तर रूपते प्रसम्भान (जाति) किया जा सकता है। जैसे कि उन्होंने बिना सोचे समझे हम जैनोंके ऊपर दो अनुमान स्वरूप अंडउआ (एएण्ड) की तोष लगा दी थी, जो कि फुस्स होकर रह गयी। परिणाम कुछ नहीं निकला, व्यर्थमें अपयश बीचमें भोगना पड़ा ।

प्रमाणमम्याञ्यवस्थानाचायं बाध्यते । संबर्ग हि चवतुं विवादाध्यासितः प्रमास्त्र प्रमाणहितः शरीरित्वात् सिवादाधुंलवत् समयस्य वा तं परिष्ठिचा ततं एव तद्भदिति । ततः प्रमाणप्रमेयञ्यवस्थिति कुतिश्वरस्थीकुर्वन् सर्वज्ञादिन्यवस्थिति स्वेष्टविभागसिदि या नानप्रतस्थितस्य वायुषः प्रतिक्षेपं कर्तुमहीति तस्य प्रतीतिसिद्धत्वादिति दर्शवति ।

चौथी बात यह कि यह आक्षेपकार (पक्ष) प्रमाण और प्रमेयोंकी अध्यक्या हो जानेसे (हेत्) शून्यवादीके समान (अन्त्रयदृष्टान्त) स्वयं वाधितं हो जांता है (साध्य) । देखिवे । उसके समान हम भी अनुमान गढकर यों कह सकते हैं कि तुम्हारा अभीष्ट हो रहा किन्तु इस समय हमारे लुम्हारे मध्यवर्ती क्रियादमें पड़ा हुआ प्रमाणका कर्ता आत्मा (पक्ष) प्रमाणकानसे रहित है (साध्य) शरीरवारी होनेसे (हेतु) सन्निपाल, सर्पदंश, अपस्मार (मृगी) मूच्छी आदिसे आकुळित हो रहे मनुष्यके समान (अन्वयदृष्टाम्त)। अथवा दूसरा अनुमान वों कीजिये कि विवादप्रोप्त आत्मा (पक्ष) घट आदि प्रमेयोंका परिज्ञापक नहीं है (साध्यं) उस ही कारणंस अर्थात्-शरीस्थारी होनेसे ही (हेत्) उन्हीं सिनिपात आदिसे प्रसित हो रहे मनुष्योंके समाम (अन्वयद्दशन्त) । इत्यादिक चाहे जितने असत् कटाक्ष उठाये जा सकते हैं। किन्तु यह अशिष्ट आचार प्रामाणिकपुरुषोंको शोमा नहीं देता है। समीचीन हेतओंद्वारा स्वपक्षसाधन करना या परपक्ष दुष्ण देना बादी, प्रतिवादियोंको शोभता है। तिस कारणसे यह आक्षेपकार यदि प्रमाण या प्रमेयोंकी व्यवस्थाको अथवा प्रमाता या प्रमेयकी व्यवस्थाको यदि किसी भी प्रमाणसे स्त्रीकार कर रहा है और सर्वज्ञ, वीतराग, व्यापकपन आदिकी व्यवस्थाको यदि अभीष्ट कर रहां है तथा अपने इन्हें तत्त्रीके विभागकी सिद्धिको यदि अभिमत कर रहा है तो ऐसी दर्शामें नहीं हास होने योग्य को उसी न्यार हात होने योग्य आय:का खण्डन करनेके ठिये समर्थ नहीं ही सकता है । क्योंकि किसी किसी जीवकी आयु मध्यमें हास होने योग्य नहीं है तथा किसी किसी प्राणीकी आयु (उन्न) हाल होने योग्य है । यो उस आयुको प्रमाणिसद प्रतीतियों द्वारा साथा जा चुका है । इसी बातको श्रीविधानन्द स्वामी मालिमी छन्ददारा वार्तिकमें दिखलाते हैं।

> इति सति बहिरंगे कारणे केपि मृत्यी-र्न मृतिमनुभवंति स्वायुपी द्वान्यभावे । ज्वलितहृतभुगंतःपातिनां पंचतापि । प्रतिनिकतत्वृतां जीवित्तस्थापि दक्षेः ॥ ५ ॥

इस प्रकार व्येक्सें कोई कोई नगरकी, देव, योगभूमियां, आदि जीव तो अपमृत्युके बीहरंग कारण, शस्त्रघात, भाव, आदिको होनेपर भी अपमृत्युको वान्तरंगकारण मानी माई आयुःकर्मकी उदी-रणा नहीं होते सन्ते अपने उपार्कित आयुःकी हानि नहीं होनेपार पृत्यु (अपमृत्यु) से मध्यमें ही मरण हो जानेका अनुभव नहीं कर पाते हैं ॥ तथा काम्बन्यमान आप्निके भीतर पड जानेवाळे कीट, पतंग मनुष्य, आदि जीत्रोंका तत्काल मध्यमें मरण होना भी देखा जाता है और जिन जीत्रोंके शरीर परिपूर्ण आयुक्तो भोगनेके लिये प्रतिनियत हो रहे है, उन जीत्रोंका जीक्ति रहना भी देखा जाता है। भावार्थ—इस सूत्रमें कहे गये देव आदि जीत्रोंकी तो अपमृत्यु होती नहीं है। िकन्तु कर्मभूमिमें भी अनेक जीव ऐसे है जिनको कि अपमृत्यु होजानेके कातिपय कारणोंका योग मिल जानेपर भी विशिष्ट आयुक्ता संसर्गबल बना रहनेसे वे नहीं मर पाते है। तिखने घरके ऊपरेंस गिर पडना, गोली लग जाना, सर्प द्वारा काटा जाना, तोपसे उडाये जानेका अवसर मिल जाना, राजाङ्का अनुसार भूखे सिह के पिजरेंमें प्रवेश कर जाना, भीत गिर जाना, नदीमें डूब जाना, आदि अपमृत्यु कारणोंका प्रकरण मिल जानेपर भी कई पुण्यशाली जीव मरनेसे बाल बाल बच जाते हैं। अखण्ड जीवदया, परोपकार आदि विशेष कारणोंसे उपार्जित किये पुण्यविशेषका साथी विशिष्ट आयु:कर्म ही यहां बचानेवाला है। हां, तिस प्रकारका पुण्य या नारकीयोकासा विलक्षण पाप जिनके पास नहीं है, ऐसे असंख्य जीवोंकी आयुका बाह्य कारणों द्वारा मध्यमें विच्छेद भी हो सकता है।

तदेवं युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धोनपवर्त्येतरायुर्विभागः सूक्त एव । इति द्वितीयमान्हिकम् । तिस कारण इस प्रकार सर्वज्ञ आम्नायसे चले आरहे सूत्रवचन अनुसार श्री विद्यानन्द स्वामीने युक्ति और आगमप्रमाणसे अविरुद्ध होरहा अनपवर्त्य और सापवर्त्य आयुका विभाग बहुत अच्छा ही कह दिया है । यहांतक द्वितीय अध्यायका दूसरा आन्हिक परिपूर्ण हुआ ।

स्वं तत्त्वं लक्षणं भेदः करणं विषयो गतिः। जन्मयोनिर्वे शिंगमहीनायुरिहोदितम्।। १।।

इस दूसरे अध्यायमें श्री उमास्तामी महाराजने जीवके निज तत्त्व पांच औपशमिकादिक भावोंका निरूपण किया है, जीवके लक्षण उपयोगका कथन किया है, उस उपयोगके भेदों या जीवके संसारी, मुक्त, पृथिर्वाकायिक, आदि भेदोंका प्ररूपण किया है, ज्ञानके करण हो रहे द्रव्य इन्द्रिय, और भाव इन्द्रियो तथा उनके स्पर्श आदि विषयोंकी निरूपणा की है, नवीन शरीरको प्रह्रण करनेके लिये या मोक्ष जानेके लिये हो रही जीवकी गतिका वर्णन किया है। पश्चात्—संसारी जीवके तीन जन्म, नौ योनियां, पाच शरीर और तीन लिंगोंका सूत्रण करते हुये स्वामीजीने आयुका हास नहीं कर पूर्ण आयुको भोगनेवाले जीवोंकी प्ररूपणा की है।

इति श्रीविद्यानंदि आचार्यविरचिते तस्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकारे द्वितीयो अध्यायः समाप्तः ॥२॥
इस प्रकार सर्वञ्चकल्प श्री जमास्वामी महाराज विरचित तस्वार्थसूत्रोंके ऊपर
श्री विद्यानन्दि आचार्य महाराज द्वारा विशिष्टक्रपक्षे रचे गये
श्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् प्रथमें
दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

द्वितीयाध्यायकी विषयसूची.

इस द्वितीय अध्यायके प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम हा श्री विद्यानन्द स्वामीने औपशिमक आदि भावोंको युक्ति और दृष्टान्तके बळसे बढिया साथ दिया है। अतीन्द्रिय कमौंके उद्यक्तो स्पष्ट समझा दिया है। उक्त भाव जीवके ही हो सकते हैं। प्रधान आदिके नहीं। मोक्षमें भी कुछ भाव पाये जाते हैं। पुनः छक्षणके ऊपर अच्छा विचार करते हुये अधिकिया, सादस्य, वैसादश्य, को साधकर आत्माको अनादि, अनन्त, सिद्ध कर दिया है। चार्वाकके मतका प्रत्याख्यान कर जीवका तदात्मक छक्षण उपयोग ही करना पर्याप्त बताया है। नाना जीव अपेक्षा बारह प्रकारके उपयोगों अध्या एक जीव अपेक्षा उनमेंसे किसी एक उपयोगको छक्षण बनाते समय छक्ष्य जीव कितना समझा जाय, इस बातका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण कर दिया है। जीवके मेदोंका निरूपण करते समय एकत्व प्रवादका निराकरण करते हुये संसारी, असंसारी, तथा अयोगकेवळी सभी जीवोंका संप्रह कर छिया गया है। आत्माके व्यापकत्वका खण्डन कर एकेन्द्रिय जीवोंको युक्ति और आगमसे साध दिया है। ज्ञानका अत्यन्त अपकर्ष भस्म आदि जड पदार्थोमें नहीं, किन्तु एकेन्द्रिय जीवोंमें है। पांच इन्द्रियोंके भेद, प्रभेदको युक्तिपूर्वक साधते हुये छटे नोइन्द्रिय मनके भी उसी प्रकार मेद हो रहे बतला दिये हैं। तत्पश्चात्—इन्द्रियोंके विषय दिखलानेमें नवीनताको छाते हुये इन्द्रियोंके स्वामी जीवोंकी युक्तिपूर्ण सिद्धि की है। संज्ञी जीवोंकी संज्ञाका विचार कर द्रव्यमनको साधा है। प्रथम आन्हिकको समाप्त करते हुये औपशमिक आदि भावोंमें नयभंगी जोड दी है।

इसके आगे द्वितीय आन्हिकमें आत्माके व्यापकत्वका निराकरण कर आत्माका यहां वहां गमन करना पुष्ट कर दिया है। ईश्वरके ज्ञानकी नित्यता, अनित्यतापर चोखा विचार चलाया है। जीवोंकी आकाशप्रदेश श्रेणी अनुसार गतिके छह प्रकार प्रक्रम बताकर लोकके चौकोर संस्थान या गोल रचनापर आक्षेप करते हुये अनाहारक अवस्था बतायी है। जन्म या योनिके कारण होरहे कमोंकी विचित्रतापर प्रकाश डालते हुये पुनः गर्म, उपपाद, सम्मूर्छन जन्मके अधिकारी जीवोंके साथ उदेश्य दल्में एवकार लगाकार अनिष्टकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। शरीरोंकी रचनाका कारण कार्मणशरीरको बताते हुये नामकर्मके वैचित्रय की प्रशंता की गयी है। शरीरोंकी रचनाका कारण कार्मणशरीरको बताते हुये नामकर्मके वैचित्रय की प्रशंता की गयी है। उत्तरेत्तर शरीरोंमें अधिक परमाणुओंके होते हुये भी सूक्ष्म संस्थानको युक्ति-योंसे साथ कर कर्मको पौद्रलिक बतला दिया है। बौद्ध, वैशेषिक, चार्वाकोंके कल्पित शरीरोंका निरास कर पांच ही शरीर नियत किये गये हैं। धाराप्रवाह रूपसे तेजस, कार्मण,का अनादिसम्बन्ध प्रसाध कर एक समयमें पांचों शरीरोंका असम्भन बता दिया गया है। तेजस शरीरके निरुप-मोगापनके स्पष्ट कथनकी आवश्यकता नहीं समझी गयी है। शरीरोंको विधेय दलमें डाल कर गर्म, संमूर्छनज आदि उदेश्य दलोंको लक्षण सरीखा बनाते हुये लक्षणके फल इतर व्यावृत्ति होनेको अच्छा घटा दिया है। शरीरोंका परस्पर मेद सिद्ध करनेके लिये निर्दोष हेत्र दिये गये हैं। आहारक

शरीरको अन्य शरीरोंसे मिन साधनेमें चार हेतु सर्वीग सुन्दर मनोहर बताअये हैं। शरीरोंका प्रतिपादन करनेवाले चौदह सूत्रोंका विवरण कर जीवोंकी लिंगन्यवस्थाको अनुमानों द्वारा सुदृद्ध कर दिया है। परिशेषमा जाकर हास होने योग्य और नहीं हास होने योग्य आयुष्यवाले जीवोंका बहुत बिद्धया प्रति-पादन कर मुमुक्षु श्रोताओंको परितृप्त कर दिया है। अन्य वादियोंके ऊपर मीठा कटाक्ष करते हुये आयुक्त और अनपर्वतको साध कर मालिनी छन्दः द्वारा दितीय अध्यायके विवरणको जयहार (जीतकी माला) पहना दिया है।

जीवमणद्धा सुनिभिद्धितीयाऽध्याये स्वतत्त्वेन्द्रियगोचरेनाः । गत्युक्रवी योनिशरीरिकङ्गाऽन्हासायुषश्चोत्किकता यथार्षे ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्दः स्वामीकृतः महाशास श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिककी आगरा मंडलान्तर्गत चान्त्रीयामनिवासी न्यायाचार्यः, तर्करत्न, न्यायदिवाकर, सिद्धान्तमहोदाि , स्यादादवारिशियदधी-विभूषित माणिकचन्द्र कृत तत्त्वार्थिचन्तामणि नामक हिन्दीभाषाटीकामें दितीय अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

---×**×---

अथ तृतीयोऽध्यायः

चतुरस्रधनाकारा स्नोकस्यं वो विक्रोकयन्। इस्तामलकवल्लोकं श्री सुपार्श्वः श्रियं कियात् ॥ १ ॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने प्रथम अध्यायमें जीवके स्वामाविक अनुजीवी ग्रुण हो हो सम्पन्दर्शन, और चारित्र या जीवके पार्श्ववर्षी आनुषंगिक तत्त्व तथा ज्ञान और नयोंका निरूपण किया है। हूसरे अध्यायमे विशेष भेदहिष्ट अनुसार जीवके अन्तरंग आधार क्षेत्र स्वतत्त्व, उपयोग, आदिका वर्णन करते हुये जीवके बहिरंग क्षेत्रकी ओर उश्य देकर योनि, जन्म, शारीरोंका प्रतिपादन किया है। अब तीसरे अध्यायमें भेददिष्टिको बढाते हुये जीवके उपचरित असद्भूतन्यकृहारनय अनुसार बहिरंग क्षेत्रके भी बहिरंग हो रहे स्थानविशेषोंका निर्णय कराते हुये अछोकस्थ, छोकाकाशके अधोछोक और मध्य छोककी प्रतिपत्ति शिष्योंको करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज तृतीय अध्यायको स्वते हैं।

मोक्षमार्ग हो रहे सम्यादर्शनके विषय जीवादि पदार्थीकी विशेषतया विश्वति कस्मेके छिये यह लोकालोकका विभाग समझ लेना अखपयोगी है। अनुप्रेक्षा चितन या ध्यान करनेमें भी इसकी आवश्यकता है। जगतके सम्पर्ण पदार्थीमें सबसे अधिक लम्बा, चौडा, मीटा, कृष्य आकाश है। " सञ्जायासमणंतं " अनन्तानन्त नामकी संख्याके मध्य भेदोंमें सर्वज्ञद्वष्ट और मणितःशास द्वारा हम हो विर्णीत एक बिरोप संख्या अनन्तानन्त है। उस अनन्तानन्त परिमाणबाले प्रदेशों बराबर लम्बा और उतना ही चौड़ा तथा ठीक उतना ही मोटा वन चौकोर आकाश द्रव्य है। आकाशको पदि गोल माना जायगा तो सब ओर आकाश अनन्तानन्त प्रदेशवाला है. इस सिद्धान्तसे विरोध पड जायगा । गोल बस्तके मध्यभाग पेठको पूर्वसे पश्चिम या उत्तरसे दक्षिण नापा जाय तो उसके प्रदेश ठीक उतने ही बराबर बैठ जायंगे । किन्तु गोल वस्तुकी बगल्से अपर नीम्बेका देश नापा जायगा तो प्रदेशोंकी संख्या उत्तरोत्तर अटती जायगी । यहांतक कि गुर्काईके अप्रभागमर पहुंचते हुये तो अत्यत्प प्रदेशों या एक प्रदेशकी ही उचाई, निचाई, रह जायगी । जब कि आकाश सब ओरसे ठीक उतने ही पानी न्यून अधिक नहीं अनन्तानन्त प्रदेशोंका धारी है तो तिकोगा, पचकोना, गोछ या लंबोतरा. चौकोर आदि संस्थान उसके कथमपि नहीं हो सकते हैं। श्री नैमिचन्द्र सिद्धान्तचकवर्ती चिरचित त्रिलोकसारमें द्विरूप वर्गधाराका निरूपण करते समय " सिविड जडकणाणंतं बमासलाद-लिखदी समाविषदं, जीवी पोग्गल कालो सेढी आगास तप्पदस्म् '' इस गापा अनुसार जक्य अनम्तरे अनन्त स्थान आगे चलकर दिरूपवर्गधारामें जीव राशिकी अक्षय अनन्तानन्त परिमाण संख्या आई बताई है। उससे अनन्तानन्त गुणी प्रहुल राशि है। युद्रलीसे भी अनन्तनन्त गुणे व्यवहार बालके समय

समझाये हैं । कालसमयोंसे अनन्त स्थान चलकर दिरूपवर्गधारामें एक प्रदेश लंबी और एक प्रदेश चौडी तथा अनन्तानन्त राजू छन्नी पूरे आकाशकी सूची श्रेणी आई बताई है । इसका एक बार वर्ग करने पर दिरूप वर्ग धाराके अगले भेदमें उतना अनन्तानन्त प्रदेश लंबा और उतना ही चौडा प्रत-राकाश गिना गया है। जब कि सूची आकाश, प्रतर आकाशको कंठोक्त कह दिया है तो " सन्त्रा-यासमणंतं '' सत्र ओरसे आकाश समानरूपसे अनन्तानन्त प्रदेशों वाला है, इस नियमसे उतना अन-न्तानन्त प्रदेशी मोठा घनस्वरूप भी स्वतः सिद्ध होजाता है । फिर भी स्पष्ट प्रतिपत्ति करानेके अर्थ सिद्धांतचक्रवर्तीने कृपा कर द्विरूप धनधारामें '' पञ्चचणं विंदंगुरुजगसेदी रोयपदर जीवघणं, तत्तो पढमं मूळं सव्वागासं च जाणेजो '' इस गाथा अनुसार जीवराशिके घनसे अनन्त स्थान चलकर सम्पूर्ण आकाशकी लंबाई, चौडाई, मोटाई, को धनखरूप स्पष्ट कह दिया है। तथा आचारसारके तृतीय अध्यायमें चौबीसवां स्ठोक '' व्योमामृति स्थितं नित्यं, चतुरस्रं समं धनं, भावावगाहहेतुश्वानन्तानंतं प्रदेशकम् '' यों है। श्री वीरनन्दि सिद्धांतचक्रवर्तीने अनन्तानन्त प्रदेशवाले आकाशको सब ओर समान होरहा घन चौकोर बताया है। बफीके समान घनचतरस्र अलोकाकाशके ठीक बीचमें लोकाकाश न्यवस्थित है, जो कि दक्षिण, उत्तरमें सर्वत्र सात राजू है और पूर्व, पश्चिम, दिशामें नीचे सात राजू तथा क्रमसे घटता हुआ सात राजू ऊपर आकर एक राजू रह गया है। पुनः क्रमसे बढता हुआ साडे दश राजू ऊपर पांच राजू फैलकर और चौदह राजू ऊपर क्रमसे घटता हुआ एक राजू रह गया है। एक राज् आकाशमें असंख्याते योजन समा जाते हैं। जगच्छ्रेणीका सातवां भाग राज् है। अद्धा-प्लयके अर्धच्छेदोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण धनांगुलोंका प्रस्पर गुणाकार करनेपर श्रेणी नामकी संख्या उपजती है । अद्धापल्यके अर्धच्छेदप्रमाण अद्धापल्योंको परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुल नपता है। यानी एक प्रदेश छंबे, चौडे और आठ पडे जौके बरावर अंगुल ऊंचे आकाशमें असंख्यात पल्योंके समयोंसे भी अधिक परमाण बराबर प्रदेश हैं। सूच्यंग्रूक्के प्रतरको प्रतरांग्रूल और घनको घनां-गुळ कहते हैं । घनांगुळसे पांचसी गुणा प्रमाणांगुळ होता है, जो कि अवसर्पिणीके चतुर्थ कारूकी आदिमें द्वये चक्रवर्तीके पांचसी धनुष छंत्रे शरीरका अंगुल है। पांच अंगुलियोंमें अंगुठाकी चींढाई मानी गयी है। अकृत्रिम पदार्थ लोक, सुमेरु, सूर्य, कुलाचल, द्वीप, समुद्र, भूमियां, स्वर्गविमान, बातवलय, आदिकोंकी नाप बंडे यौजनोंसे की गयी है, जो कि छोटे योजनसे पांच सी गुणा अधिक है। लोकाकाशका ठीक बीच तो सुदर्शन मेरुकी जड़के मध्यमें विराजे हुये आठ प्रदेश हैं। एक, तीन, पांच, सात, आदि संख्याओंको विषम संख्या कहते हैं और दो, चार, छह, आठ, आदि केवल ज्ञान पर्यन्त दो से दो दो बढती हुई संख्याको समधारामें कहा गया है। जब कि राज्के प्रदेश सम-धारामें पड़े हुये हैं तो चीदह राजू छंत्रे या सात राजू चौड़े और मध्य छोकमें एक राजू मोटे छोका-काराका ठीक बीच आठ निकलता है, अर्थात्—ऊपरसे नीचे और उत्तरसे दक्षिण तथा पूर्वसे पश्चिम तक जिस पदार्थके प्रदेश समसंख्यावाले हैं ऐसे घन संख्यावान् पदार्थीका बीच आठ बैठता है।

समसंख्यावाळी पंक्तिका बीच एक निकाळना गगनकुसुमके समान असम्भव है । सुदर्शन मेरुकी जडके पासवाछी चित्रामें चार और नीचली वजामें चार यों गोस्तन या गोस्तनी दाख (बडा अंगूर) के आकारको धारनेवाले आठ प्रदेश हैं। पुद्रल परमाणुसे या काल पर-माणुसे नापे गये अखण्ड आकाराके किंपत अंशको प्रदेश कहते हैं । जैसे आकाश जितना ही लम्बा उतना हो चौडा और उतना ही ऊंचा है, उसी प्रकार परमाणु भी जितना ही लम्बा है, उतना ही चौडा और उतना ही ऊंचा है। उससे छोटा टुकडा न हुआ, न है, न होगा। अतः परमाणु अविभागी कहा जाता है। परमाणुमें सामान्य गुण प्रदेशवस्व अवश्य है, उस गुणके द्वारा परमाणुका आकार लम्बाई, चौडाई, मोटाई, कुछ अवस्य होनी चाहिये। गेंदके समान परमाणुको गोल माननेपर तो लोकाकाशमें कालाणुओंके मध्य पोल रह जायगी। गोल पदार्थीका ढेर कहीं निरन्तर ठसा-ठस नहीं भरा जा सकता है। लोकमें ठसाठस भरे हुये धर्म, अधर्म, या आकाशकी ठीक ठीक पूरी नाप सबसे छोटे गोल टुकडेसे नहीं हो सकती है। अतः परमाणु वर्फीके समान चौकोर मान लेना चाहिये । परमाणुमें पुनः कोई अंश नहीं है और अंशोंसे वह बनाया गया भी नहीं है । अतः निरंश है। किन्तु पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्च्च, अधः, छहों दिशाओंसे छह परमाणु आकर मध्यवर्ती एक परमाणुसे चिपट जाते हैं । इस कारण परमाणु षडंश भी हैं । द्वरणुक बनते समय छह पैठवाठे एक परमाणुकी एक ओरकी भीतसे दूसरे परमाणुकी एक ओरकी भीत भिड जाती है, तब दो प्रदेश-वाला बणुक बन जाता है। यद्यपि एक परमाणुमें अनन्त परमाणु भी सर्वाङ्गीण संयुक्त या बद्ध होकर एक प्रदेशमें विराज रहे हैं। किन्तु लम्बे, चौडे, घडे, पुस्तक, पर्वत, आदि अवस्वी पदार्थीको बनानेके लिये परमाणुके साथ दूसरे परमाणुका एक ओरकी भीतसे ही परस्पर संसर्ग मानने पर्डेंगे। अन्यथा सुमेरु और सरसोंका आकार समान हो जायगा । यदि गोल परमाणुसे छह गोल परमाणु चारों ओरसे चिपट बैठेंगे तो बीचमें पोल अवस्य रह जायगी। रवडके सदश परमाणु घटता बढ़ता नहीं है। अतः परमाणुको बर्फीके समान छह पैछत्राछा मानो । " अत्तादि अत्तमञ्ज्ञं अत्तत्तं गेव इंदिये गेरजम् , जदव्यं अविभागी तं परमाणुं विआणोद्दि " का भी यही अभिप्राय निकालना चाहिये । सिद्रान्त चक-वर्ती श्री वीरनन्दी आचार्यने आचारसारके तृतीय अधिकार सम्बन्धी तेरहवें स्ठोकमें परमाणुको स्पष्ट रूपसे चौकोर अभीष्ट किया है। " अणुश्च पुद्रछोऽभेदावयवः प्रचयशक्तितः, कायश्च स्कन्धभेदो-त्यश्चतुरस्रस्वतीन्द्रियः "। परमाणु सूक्ष्म है उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म आकाश है। यह जो दिन या रातमें उजेळा या अंधेरा दीखता है वह तो पुद्रळकी पर्याय है। सूक्ष्म आकाशको तो सर्वाविधज्ञानी भी नहीं देख सकता है। केक्ळज्ञान या आगमप्रमाणसे आकारा जाना जाता है। सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, पदार्थीमें सर्वज्ञभारा प्राप्त आगम ही प्रमाण है। जो कुछ युक्तियां थोडी बहुत मिछ जांय उनको सेंत मेंतकी समझ कर खट छो । अधिकके छिये हाथ मत बढाओ । आगमप्रमाण ,सम्पूर्ण प्रमाणींका शिरोभूषण है। चार बर्फियोंके ऊपर दूसरी चार बर्फियोंको धर देनेपर जो दशा (सूरत) बन जाती है,

मही जोकके मन्यवर्ती आठ प्रदेशोंकी आकृति (हुलिया) है। उसको मनयुवती गायके स्तनोंकी या बडे अंगूरकी उपमा देना तभी तक शोभता है, जक्तक कि दार्ष्टन्त समझमें नहीं आवे । दार्ष्टन्तके समझ म्<mark>छेनपर तो वे उपमार्थे देना अधिक महत्वका नहीं समझा जाता है। आचार्य महाराजने एक स्थानपर क्रिखा</mark> ाँदै कि अन्धे पुरुषके सन्मुख क्षीरान (खीर) की कुक्छताको बतानेके क्रिये बगुलाकी उपमा देना और वगुल्क्का झान करानेके लिये अपने मुंडे हुये हाथको अन्धेके हाथमें पकडा कर समझाना, किंचित् काल ही शोभा देता है। एक बात यहां यह भी समझ छेनी चाहिये कि छोकाकाशकी दक्षिण, उत्तरमाली भीतें एकदम सीधी चौदह राजू ऊंची है। अतः दक्षिण, उत्तर, कालाणुओं या धर्मद्रव्य अथवा बातवलयकी मित्तियां चिकनी सपाट हो रहीं सीवी हैं, खरदरी नहीं हैं । किन्तु पूर्व, पश्चिममें कमसे घटना या बढना होनेसे चिकनी भीत नहीं हो पायी है। छह पैलदार विना कटी ईटोंसे यदि घटती बढती हुई मित्ति बनायी जाती है तो उसमे ईंटोंके कोंब निकले रहते है। उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम कोनाकाशों परमाणुओंके कोन निकल रहे समझ छेने चाहिये। छोक्रमें उसाउस भरी हुई कालाणुओंकी रचनाका भी यही क्रम है। छोक बराबर छम्बे, चौडे, ऊंचे, धर्मद्रन्य और अधर्मद्रन्यका आकार भी लोकके मीचे ऊपर और दक्षिण उत्तरमें सपाट चिकना सरीखा है। किन्तु पूर्व, पश्चिमकी घटाई बढाईमें खरदरे धर्मद्रव्यके भी जीनाकी सीढियोंके समान असंख्याते पैळ निकले हुये है। पुरुल परमाणु, कालाणु, और आकाशके कल्पित प्रदेशकी रचना छह पैलवाली बर्फीके समान एकसी है। जगत्में सबसे छोटा आकार परमाणुका है, जो एक प्रदेशी है और सबसे वडा आकार अनन्तानन्त **प्रदेशी आकाशका है। दोनोंका सांचा एकसा है। सुदर्शन मेरुका भूमि**भें गढा हुआ एक हजार योजन निचला भाग चित्रा पृथिवीमें ही गिना जाता है। अतः सात राज लम्बी एक राज चौडी हजार योजन गहरी चित्रा प्रथिवीके सबसे निचले भागमे ठीक बीचके चार प्रदेश और यजाके सबसे जपरले भागमें ठीक बीचके चार प्रदेश यों मिलाकर आठ प्रदेश लोकका मध्यभाग है । चौदह राज् जंचे छोकको ठीक बीचसे काट देनेपर चित्राके निच्छे चार प्रदेशोंके समतळसे प्रारम्भ कर जपरछे सात राज् ऊंचे या एकसी सेतालीस धन राज् भागको ऊर्घलोक कहते हैं। तथा बन्नासम्बन्धी उपरिम चार प्रदेशोंके समतळसे प्रारम्भ कर सात राजू नीचेका या एकसी छियानवे घन राजूबाळा भाग अधोकोक समझा जाता है। मध्यकोकके ठिये कुछ भी स्थान नहीं बचता है तो भी मध्यकोकसे या मध्यलोकके मध्यम पैतालीस लाख लम्बे चौडे ढाई द्वीपेस मोक्षमार्ग चान्द्र है। विकलत्रय या असंज्ञी, संत्री, तिर्येच भी मध्यलोकमें ही पाये जाते हैं। अतः ऊर्ध्वलोकके निचले भागमेंसे सात राज् लम्बे एक राजू चौडे और सुमेरुकी उचता बराबर एक काख चाळीस योजन ऊंचे भाग हो (कई) छेकर मध्यलोक मान लिया गया है। श्री उमास्त्रामी महाराज इस तृतीय अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन करेंगे । तहां प्रथम ही अधोलोकका वर्णन करनेके लिये उपक्रमकारक सुत्रको रचते हैं।

रत्नशर्करावाळुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताघोऽधः ॥ १ ॥

रत्नप्रभा, राकीराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रमा, ये नीचे नीचे सात भूमियां है, जो कि सातों ही घनवातके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। घनवात तो अखुवातपर स्थित हो रहा है और तनुवातके ऊपर अम्बुवात आधेय है, तनुवातका आधार आकाश है, जो कि महापरिमाणत्राला होनेसे स्त्रमें ही प्रतिष्ठित है। आन्नाशका आलम्बन कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। अर्थात-जहां अस्मदादिक मनुष्य निवास करते है वह रत्नप्रभाका ऊपरछा भाग है। यहांसे प्रारम्भ कर दक्षिण, उत्तर, सात राजू लम्बी, एक राजू चौडी और एक लाख अस्सी हजार योजन नीचेकी ओर मोटी रत्नप्रभा है। चूंकि रत्नप्रभाका ऊपरला एक हजार योजन मोटा चित्रामाग ऊर्घ्वलीकके सात राजुओं में वट चुका है। अधोरोक्के सात राजु रहमभाके बन्नाभागसे प्रारन्भ किये गये हैं। तथा अयोलोकके उपरले एक राजुमें सबसे उपर रत्नप्रभा और सबसे नीचे शर्कराप्रभा है। अतः रत्नप्रभासे दो लाख ग्यारह हजार योजन कमती एक राजू उतर कर प्रारम्भ हुयी दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बी, पूर्वपश्चिम एक स्ही छह बटे सात राजू चौडी और बत्तीस हजार योजम मोटी शर्कराप्रभा भूमि है । शर्करा प्रभासे अहाईस बजार योजन कमती एक राजू नीचे उत्तर कर मिल गयी सात राजू लम्बी दो सही पाच बटे सात राजू चौड़ी और अहाईस हजार योजन मोटी वालुका प्रभा अनादि निधन वनी हुई है। वालुका प्रभासे चौवीस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उत्तरकर पा गर्थी दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बी और पूर्व पश्चिम तीन सही चार बटे सात राजू चौडी तथा चौबीस हजार। योजन मोटी पंकप्रभा विद्यमान है। पंकप्रभासे बीस हजार योजन क्षमती एक राजू नीचे उतर कर लग गयी सात राज लम्बी चार सही तीन बटे सात राजू चौडी और बीस हजार योजन मोटी धूमप्रभा है। भूमप्रभासे सोलह हजार कमती एक राज् नीचे उत्तरकर प्राप्त होगयी सात राज् लम्बी पांच सही दो बटे सात राजू चौडी और सोछह हजार योजन मोटी तमःप्रमा भूमि जम रही है । तमःप्रमासे आठ हजार योजन कम एक राजू नीचे उतरकर छू छी गयी सात राजू छम्बी छह सही एक बटे सात राज् पूर्व पश्चिम चौडी और ऊर्ष्व अधः आठ हजार योजन मोटी महातमःप्रभा है। सातों भूमियोंमेंसे प्रत्येक्को निचे और छोकके तसमें साठ साठ हजार योजन मोटा वातवळय है। ऊषर ऊर्ष्वलोकमें साल राज् लम्बी एक राज् पूर्व पश्चिम चौडी आठ योजन मोटी ईष॰ ध्यागमास नामक आठवीं भूमिके नीचे भी साठ इजार योजन मोटा वातवलय है। श्री त्रिलोकसारमें ''जोयण वीससङ्स्सं बहुलं वलयत्त्रयाण पत्तेयं भूळोयतले पासे हेडादो जाव रम्जुति'' इस गाथा अनुसार उक्त अभिप्रायक्षा निरूपण किया है। छोक या आठ- भूमिभी के नीचे वीस ह जार योजन मोटा वनवाल

उसके निर्चे वीस सहस्र योजन मोटा अंबुवात है अन्बुवातके नीचे वीस हजार योजन मोटा तनुवात है, आकाश तो ऊपर निर्चे अगळ बगळ सर्वत्र ही है। लोकके पूर्व, पश्चिम या दक्षिण उत्तर अथवा ऊपर सिरमें जो वात्रक्षय लिपट रहा है, उसमें नीचे घनवात, उसके ऊपर अम्बुवात और उसके ऊपर तनुवात है। लोकके सबसे ऊपरेल भागमें विराजमान अनन्तानन्त सिद्धपरमेष्ठी भगवान् तनुवातवल्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। जिन सम्पूर्ण सिद्धपरमेष्ठी परमात्माओं के सिरके ऊपरेल भागका अलोकाकाशके साथ संयोग हो रहा है। इवर उधर या नीचे तनुवात संयुक्त है। उन शुद्ध आत्माओं को में त्रियोग से नमस्कार करता हूं। इन तीनों वात लियों वायु काय के असंख्याते जीव हैं। कचित्, कदाचित, जीवरिहत जडनवायु भी फैली हुई है। यों सूत्रकारने अवोलोककी सामान्य रचनाको समझा दिया है।

रत्नादीनामितरेतरयोगे द्वंदः, मभाश्रद्धस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिश्चेजिवत् । साइचर्यात्ता-च्छन्यसिद्धिर्यष्टिवत् ।

रत्न और शर्करा और वालुका और पंक्ष और धूम और तम और महातमः इन सात पदोंका परस्पर जोड करते हुये इतरेतरयोग नामक बन्द्र समासमें " रत्नत्रर्शरात्राळकापंकश्चमतमःमहातमांसि " यों इन्द्र समासत्राठा पद बना छिया जाता है। इन्द्र समासके अन्तमें पडे इये प्रभा शहकी रत-शर्करा. आदि प्रत्येक्तमें पूर्णरूपते समाप्ति कर देनी चाहिये। जैसे किसीने कहा कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त, इनको भोजन करा दो। यहां भोजन कियाका प्रत्येक तीनोंमें अन्वय कर दिया जाता है। रत्नप्रभा, शर्करा-प्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा, ये सात भूमियोंके नाम उनकी कांतिका अत्रल्ख लेकर अनादिसे चले आ रहे हैं । १ घर्मा २ वंशा ३ मेघा ४ अंजना ५ अरिष्टा ६ मध्यी ७ माध्यी ये सात नाम भी सात नरहों ही अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे हैं। यहि (उकडीके) समान सह चरपनेसे उन रत्नशर्करा, आदिकी प्रभाओं अनुसार रत्नप्रभा आदि शह्यें द्वारा बाच्यपनेकी सिद्धि कर दी जाती है। अर्थात्—जैसे लाक्षणिक यष्टिपद द्वारा यष्टिके सहचरपनेसे यष्टिघर देव-दत्तको भी लकडी कह दिया जाता है। या आम बेचनेवालेको आमका साहित्य होनेसे ओ आम या तांगाबालेको तांगा कहकर पुकार लिया जाता है। उसी प्रकार चित्र, रत्न, वेज्ञरत्न, वैद्वर्यमणि, छोहनणि, गोमेर, प्रवाङ (मूंगा) आदि रत्नोक्ती सी प्रभाका सनिधान होनेसे पहिछी भूमि रत्न-प्रभा मानी गयी है। इस भारत वर्षमें भी किसी देशमें छाछ, कहीं काछी कचित् पीछी किसी स्थछपर अधिक काली आदि कई रंगोंकी भूमियां शोभ रही हैं। ककरीकी प्रभा समान प्रभासे यक्त होरही भूमि शर्कराप्रमा है। वाछके समान कान्तिको धारनेवाळी वाछकाप्रमा है। कीचकीसी खुतिको पंकप्रमा धार रही है। धूमप्रभामें धूमकी सी छवि है। तमःप्रभाकी कान्ति अन्धकारके से रंगको छिये हुये है। गाढ अन्यकारकीसी शोभाको धार रही महातमःप्रभा है। अन्यकार या प्रकाशके साथ दुःखका, सुखका, कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है। अन्यकारमें भी विशेष आनन्द आ सकता है। कवित् प्रकाशमें भी जीव

वेदनाके मारे छट पटाता रहता है। अंधरेमें कई जीव कूएमें गिर पडते हैं, तो दीपककी ज्योतिमें मी अनेक पतंग कीट अपने प्राणोंको होम देते हैं। आचार्य महाराजने उन भूमियोंमें जैसी कांति है, उसका प्रतिपादन कर दिया है। सभी पौद्रिक पदार्थीसे मन्द या तीव्र कांति अवश्य निकलती रहती है। यानी इनका निमित्त पाकर वहां मरे हुये पुद्रलस्कर्णोंका वैसा चमकीला परिणाम हो जाता है। यदि घरकी पोलमेंसे पुद्रलोंको कथमपि निकाल दिया जाय तो प्रकाशक द्वारा प्रकाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि वे पुद्रल ही तो प्रकाशित होकर चमकते थे। सुधा (कर्ल्ड्से) पुते हुये कमरे और काले हो रहे रसोई घरमें रात या दिनको बैठकर उनकी भूरी, काली, कान्तिओंका स्पष्ट अनुमव हो जाता है। अतः स्वकीय प्रभा अनुसार भूमियोंके सात नामोंकी योजना हो रही है।

तमः प्रभेति विरुद्धमिति चेन्न, तत्स्वात्मप्रभोपपत्तेः । अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशा-द्वेष्टगोपवत् रत्नप्रभादिसंज्ञाः पत्येतच्याः । रूढिश्रद्धानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेन्न, सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात्तेषामिष गमकत्वोपपत्तेः ।

यहां वैशेषिककी शंका है कि तमः तो अन्ध्रकार है और प्रभा प्रकाश है. अन्ध्रकारके होनेपर प्रभा नहीं और प्रभाके होनेपर अन्धकार नहीं सम्भवता है। यो विरोध हो जानेसे छठी प्रथिवीका नाम तमःप्रभा यों कहना विरुद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन अन्ध-कार या महा अन्यकारके अपनी अपनी निजयभाकी सिद्धि हो रही है। केवल धौली, पीली, चमकको ही प्रभा नहीं कहते हैं । किन्तु सम्पूर्ण पौद्रलिक पदार्थीमें अपनी अपनी काली, घूसरी, आदि प्रभायें प्रसिद्ध हो रहीं हैं । तभी तो इस काले मनुष्यकी छवि चिक्रनी काली है और अमुकके काले शरीरकी लौन रूखी है। काली लोहितमणि या डामर अथवा वर्षाकालकी अमावस्या रात्रिके अन्धकारमें प्रभा दृष्टिगोचर हो रही है, अन्धकार तेजो भाव पदार्थ नहीं किन्तु पौद्रछिक है। अन्धकारकी छविसे कार्ति-पय पदार्थ काले हो जाते हैं। अन्य भी कई नवीन नवीन परिणाम अन्धकार करके साध्य हैं। तसवीर उतारनेवालोंसे पुछियेगा । दूसरी बात यह है कि अनादि कालसे तिस प्रकारके हो रहे परिणामका अवलम्ब पाकर इन भमियोंका रत्नप्रभा आदि नाम निर्देश हो रहा है. जैसे कि किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय धार्मिक पुरुषने पुत्रका नाम अपना अभीष्ट गोप या गोपाल रख लिया। इसमें शहके अर्थ माने गये गायको पाठनेकी अपेक्षा नहीं है अथवा चौमासेके प्रारम्भमें ठाठ मखमठी कीडोंको इन्द्रगोप या रामकी गुडिया कह देते हैं. सीधर्म आदि इन्द्रोने उन कीठोंको ।विशेष रूपसे पाला नहीं है । हां, कोई कोई मनुष्य मेघको भी इन्द्र कह देते हैं । मेघके वरसनेपर वे मखमठी कीडे सम्मूर्छन उपज जाते है । केवल इतना ही निमित्त पाकर उन कीटों का इन्द्रगोप नाम कह दिया जाता है। इसी प्रकार रत्नप्रभा, शर्कराप्रमा, आदि संशायें समझ लेनी चाहिये । यहां किसीका आक्षेप है कि यों रतनप्रभा आदि रूढि शहोंको पदके अवयव बन रहे प्रकृति, प्रत्ययके नियत अर्थोंकी घटना नहीं होनेसे भेदकी सिद्धिमें गमकपना नहीं है। अर्थात् — जैसे पाचक, पाठक, पाछक, पादप, पानक, आदि शहांके अत्रयवींका अर्थ घटित हो जानेसे अर्थभेद भी सिद्धि हो जाती है, उस प्रकार रूढि राद्वों करके वाच्यार्थींका भेद नहीं सभ पाता है। आचार्य कहते हैं भि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सूत्र केयल प्रतिपत्ति करानेका उपाय है व्याख्यान कर देनेसे या समुदाय शक्ति द्वारा उन रूढि शद्धोंको भी पदार्थींके भेदका ज्ञापक-पना बन जाता है। इधर उधरसे अन्य पदार्थींका उपस्कार कर लघुसूत्र द्वारा भी महान् अर्थकी प्रति-पत्ति हो जाती है।

भूमिप्रहणमधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थे, घनादिग्रहणं तदालंबननिर्झानार्थे, सप्तग्रहणमिय-त्तात्रधारणार्थे । सामीप्याभावादघोऽध इति द्वित्वातुपपत्तिरिति चेन्न, अंतरस्याविवक्षितत्वात् ।

इस सूत्रमे भूमिका प्रदण तो अधिकरण विशेषकी प्रतिपत्तिके छिये है । अर्थात — जैसे स्वर्ग-पटल भिका आश्रय नहीं करके जहांके तहां व्यवस्थित हो रहे हैं, उस प्रकार नारकी जीवोंके स्थान नहीं हैं. नारिक्रयों के आवास तो भूमिका आश्रय लेकर ही प्रतिष्ठित है। इस सूत्रमें घनाम्ब आदिका प्रहण तो उन भूमियोंके आलम्बनका परिज्ञान करानेके लिये हैं। अर्थात्—स्वाश्रय होते हुये भी पक्षी जैसे वायुके सहारे आ हारामें उड रहा है, उभी प्रकार ये सभी भूमियां घनोद्धि नामके वातवल यपर आश्रय पारही हैं और घनोद्धि वातबलय तो घनवातपर इट रहा है तथा तनुवातपर घनवात या अम्ब्यात अवलम्बित है। सूत्रमें सप्त शह्या प्रहण तो भूमियों भी संख्याके इतने नियत परिमाण होनेका अवधारण करनेके छिये हैं जिससे कि अधोछोककी सात ही भिमयां समझी जांय छह या आठ नहीं । यहां किसीकी शंका है कि तिरछी हो रही रचनाकी निवृत्तिके छिये सूत्रमें अध:का वचन आवश्यक है, किन्तु भूमियोंमें जब असंख्याते योजनोंका मध्यमें अन्तर पड़ा हुआ है. ऐसी दशामें समीपपन नहीं घटित होनेसे "अधः अधः " इस प्रकार अधः शद्धके दो पनेकी सिद्धि नहीं हो पाती है। हां, वातवलयोमे अन्तर नहीं होनेसे ''अधः अधः '' शद्ध अच्छा घटित हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि मध्यमें पड़े हुये अन्तरकी यहा विवक्षा नहीं की गयी है। सजातीय पदार्थ करके व्यवधान होता तो शंकाकारका कहना ठीक था। आकाशका अन्तर अगण्य समझा गया है। यहां विशेष यह कहना है कि पहिले घनवातका दूसरा नाम घनोद्रधिवात है। दूसरे अम्बुवातका अपर नाम घनवात भी है। ये सब चेतन या अचेतन वाय ही है। यहां जड जल या सचेतन जल नहीं है। कोरा नाम घर दिया गया है। पहिली घनोदध नामक वायुमें उद्धि शद्ध द्वारा मोटे जल या भापकी अभिन्यक्ति हो जाती है।

कुतः पुनरेताः संभाव्यंत इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि महाराज फिर यह बताओ कि वे नीचे नीचे व्यवस्थित हो रहीं सात भूमियां भला किसी प्रमाणसे ज्ञात होकर सङ्गावको प्राप्त हो रहीं है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते है |

घनां खुपवनाकाशप्रतिष्ठाः सप्तभूमयः । रत्नप्रभादयोऽधोधः संभाव्या बाधकच्युतेः ॥ १ ॥

नीचे नीचे प्रदेशोंमें रचनाको प्राप्त हो रहीं और प्रत्येक भूमियां यथाक्रमसे घनवात, अम्बुवात, तनुवात, और आकाशपर दृढ प्रतिष्ठित हो रहीं ये रत्नप्रभा आदिक सात भूमियां (पक्ष) स्वकीय अस्तित्व करके संभावना करने योग्य हैं (साध्य), अस्तित्वके बाधक प्रमाणोंकी च्युति होनेसे (हेतु)। अर्थात्—सत्ताके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे वस्तुका सद्भाव निर्णात कर छिया जाता है। वही उपाय सात भूमियों और उनके आलम्बनोके सद्भावका अन्पर्थ प्रसाधक है।

न हि यथोदितरत्नमभादिभूमिप्रतिपादकवचनस्य किंचिद्वाधकं कदाचित् संभाव्यते इति निरूपितपायं।

सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार कह दी गयीं रत्नप्रभा आदिक भूमियोंका प्रतिपादन करनेवाले सूत्र वचनका कभी कोई भी बाधकप्रमाण नहीं सम्भव रहा है, इस बातको हम कई बार अन्य प्रकरणोंमें कह चुके है कि बाधक प्रमाणोंके असम्भवसे पदार्थका अस्तित्व साध लिया जाता है।

नन्वेता भूमयो घनानिलप्रतिष्ठाः घनानिलस्त्वंबुवातप्रतिष्ठः सोपि तनुवातप्रतिष्ठस्तनु-वातः पुनराकाशप्रतिष्ठः स्वात्पप्रतिष्ठमाकाशमित्येतदनुपपन्नं, व्योपवदभूमीनामपि स्वात्पप्रति-ष्ठत्वप्रसंगात् भूम्यादिवद्वाकाशस्याधारांतरकल्पनायापनवस्थाप्रसंगात् । ततो नात्र वाधकस्युति-रिति कश्चित्तं प्रत्याह ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि आप जैनोंने जो यह कहा है कि ये सातों भूमियां घनवात पर प्रतिष्ठित होरही हैं और घनवात तो अम्बुवातपर आश्रय पारहा है तथा वह अम्बुवात भी तनुवातक अवलम्बपर सधा हुआ है। तनुवात किर आकाशपर प्रतिष्ठित हे तथा आकाश अपने स्वरूपमें ही आधार, आध्य, बन रहा स्वाश्रित है। यों जैनियोंका यह कथन सिद्धिको प्राप्त नहीं होपाता है। क्योंकि या तो आकाशके समान भूमियोंको भी अपने अपने निज स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेका प्रसंग आता है अथवा भूमि या घनवात, आदिके समान आकाशका भी अन्य आधार मानना पड़ेगा और उस आधार के भी छड़े, सातवें, आठवें आदि न्यारे ज्यारे अन्य आधारोंकी कल्पना करते करते जैनोंके ऊपर अनवस्था दोष आनेका प्रसंग होता है। तिस कारण यहां बाधकच्युति नहीं है। अर्थात्—भूमि और उनके आधारोंके सद्भावकी सिद्धि करनेमें जो बाधकामात्र हेतु दिया गया है, वह हेतु पक्षमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वाभास है। इस प्रकार कोई अपना नाम नहीं छेता हुआ आक्षेप कर रहा है, उसके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान कहते हैं।

स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं विभुद्रव्यत्वतोन्यथा । घटादेरिव नैवोपपद्येत विभुतास्य सा ॥ २ ॥

आकाश (पक्ष) अपने निजस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित होरहा है (साध्य) व्यापक द्रव्य होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी आकाशको स्वप्रतिष्ठित नहीं मानकर यदि आकाशको भी अन्य अन्य अधि-करण माने जायंगे तब तो घट, पट, आदिके समान इस आकाशका वह व्यापकपना नहीं बन सकेगा । अर्थात्—आकाशके अधिकरण माने गये द्रव्यका जहांसे प्रारम्भ होगा वहींतक आकाशकी सीमा समझी जायगी । घरकी पोळरूप आकाशका अधिकरण यदि आंगनको मान ळिया जायगा तो ऐसे छोटे छोटे अनन्त आकाशोंकी असद्भूत कल्पना करनी पडेगी। आकाशकी व्यापकता भी नष्ट हो जायगी, जो कि इष्ट नहीं है ।

परममहदन्यत्मितिष्ठितं वेति व्याहतमेतत् । ततो व्योम चात्ममितिष्ठं विश्वद्रव्यत्वाद्यचु न स्वात्ममितिष्ठं तम विश्वद्रव्यं यथा घटादि, विश्वद्रव्यं च व्योमिति न तस्याप्याधारांतरकल्पनया-नवस्था स्यात् । नापि भूम्यादीनामपि स्वशितष्ठत्वमसंगस्तेषामविश्वद्रव्यत्वादिति न प्रकृतवाधकत्वं ।

इधर आकाशको परम महापरिमाण वाला कहना और उधर आकाशको दूसरे अधिकरण द्रव्यपर प्रतिष्ठित कर देना ये दोनों बातें परस्पर व्याघातदोष युक्त हैं। परम महत् कहते ही आकाशका अन्य द्रव्यपर प्रतिष्ठित रहना उसी समय रोक दिया जाता है अथवा घटादिकका अन्य स्थलेंपर घरा रहना कहते ही उसी क्षण महापरिमाणसिहतपना निषिद्ध होजाता है। अन्योन्य विरुद्ध होरहे धर्मोमेंसे किसी एककी विधि करते ही वच रहे दूसरे धर्मका उसी समय झट निषेध हो जाता है। दोनो धर्मकी विधि या दोनोंके युगपत निषेध करनेका असम्भव है। तिस कारणसे सिद्ध होजाता है कि व्यापक द्रव्य होनसे (हेतु) आकाश (पक्ष) स्वयं अपनेमें ही आधार आधेयमूत प्रतिष्ठित होरहा है (साध्य) जो स्वास्म प्रतिष्ठित नहीं है वह तो विसु द्रव्य भी नहीं है जैसे कि घट, पट, आदिक पदार्थ हैं (व्यतिरेकव्यातिपूर्वक व्यतिरेकदृष्टान्त)। यह आकाश व्यापक द्रव्य है (उपनय) इस कारण वह स्वयं अपना अवलम्ब है (निगमन)। अतः पुनः उसके भी अन्य आधारोंकी कल्पना करके अनवस्था दोष नहीं हो पायगा। तथा आकाशके समान भूमि, वायु, आदिकोंको भी स्वप्रतिष्ठितपनेका प्रसंग नहीं आ पाता है। क्योंकि वे भूमि आदिक तो अव्यापक द्रव्य है। अतः वे स्वाश्रय नहीं हो सकते हैं। इस कारण हमारे प्रकरणमें प्राप्त सात भूमियां या उनके आधारोंकी निर्वाध, निर्दाष, हेतु द्वारा सत्तासाधनमें तुम्हारा आक्षेप बाधक नहीं हो सकता है। तब तो बाधकच्युति हेतु पक्षमें ठहर गया।

नज्ञु कथमिदानीं व्योम तज्जुवातस्याधिकरणममूर्तत्वात्तत्यातिवंधकत्वादित्यपरस्तं प्रत्याह ।

पुनः किसीका आक्षेप है कि मूर्त होनेस भूमियोंका अधिकरण घनत्रात या घनवातका आधार अम्बुवात अथवा अम्बुवातका आश्रय तनुवात भले ही हो जाओ, किन्तु अमूर्त होनेसे भला आकाश इस समय तनुवातका अधिकरण कैसे हो सकता है ? क्योंकि उसके प्रतिबन्धकपनका अभाव है । अर्थात्—पुस्तकका आधार चौकी है, मनुष्यका आश्रय मूंढ़ा है, यहां आध्यके अधःपतनका प्रतिबन्धक होनेसे चौकी, मूढ़ाको आध्यका आधार माना गया है । किन्तु अमूर्त और सबको सर्वत्र अवगाह देनेवाला आकाश तो तनुवातके अधःपातका प्रतिबन्धक नहीं है। तनुवातके नीचे ऊपर, तिरले, सर्वत्र आकाश भर रहा है। अतः तनुवातका आधार आकाश नहीं सिद्ध होता है। यहांतक कोई दूसरा आक्षेपकार कह रहा है। उसके प्रति (उन्मुख) श्री विद्यानंद स्वामी वार्तिक द्वारा उत्तर वचन कहते हैं।

तनुवातः पुनर्व्योमप्रतिष्ठः प्रतिपद्यते । तनुवातविशेषत्वान्मेघधारणवायुवत् ॥ ३ ॥

फिर तनुवात तो (पक्ष) आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहा समझा जाता है (साध्य) विशेष स्वरूप धारी तनुवात होनेसे (हेतु) मेघको धारनेवाले वायुके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—आकाशमें फैल रहे मेघको जैसे अदृश्यवायु धारे रहता है, उसी प्रकार तनुवातको आकाश धारे हुये है । मळलीके चारों ओर फैल रहा जल मळलीको आधार है । मूमिमें सैकडों कीड मकोडे आश्रय पा रहे हैं । वायुके आधारपर पक्षी उड रहा है ।

मेघधारणो वातावयवी वाय्ववयवमितिष्ठ इति चेत् न, अनंतशः पवनपरमाणूनां पवनाव-यवत्वात् तेषां वाकाशमितिष्ठत्वादिभित्रस्य कथंचित्पवनावयिवनोपि तदाधारत्वोपपत्तेन साध्य-विकलमुदाहरणं, नापि संदिग्धविपक्षच्यावृत्तिको हेतुः, कस्यचिद्प्यनाकाशाधारस्य तनुवातस्या-संभवात् । ततः तस्यामूर्तस्यापि पवनाधारत्वमुपपत्रं आत्मनः शरीराद्याधारत्ववत् तथा मती-तेरवाधितत्वात् ।

यदि यहां कोई वैशेषिक यों कहे कि छोटे छोटे अत्रयत्र वायुओंसे बना हुआ अवयत्री हो गया, वायु जो कि मेघको धारनेवाला कहा गया है, वह तो अपने समवायी कारण हो रहे अवयवोंपर प्रतिष्ठित है, आकाशमें नहीं है। अतः आपका हेतु वाधित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अनन्ते अनन्ते वायुके परमाणुऐं उस अवयवी पवनके अवयत्र हैं। जब कि वे अवयव अन्तमें जाकर आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहे माने जाते हैं, तो उन अवयवोंसे कथंचित् अभिन हो रहे अवयत्री वायुका भी वह आकाश आधार बन जायगा। अर्थात्—वायुके आधार वैशेषिकोंने वायुके अवयव माने हैं। उन अवयवोंका आधार उनके भी अवस्व हैं, सो चलते चलते पडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक, पर पहुंचकर चतुरणुकोंके आधार ज्यणुक और ज्वणुकोंके आधार बणुक तथा

बणुकोंके आधार वायुपरमाणुओंको स्वीकार किया है। पुनः परमाणुओंका आधार आकाश अभीष्ट किया है। ऐसी दशामें अवयव और अवयवीका कथंचित् अभेद हो जानेसे तनुवातका अधिकरण यदि आकाशको कह दिया तो इसमें तुम्हारी क्या हानि हो गयी ? सभी आस्तिकोंने सर्व द्रव्योंका आधार परिशेषमें आकाशको ही स्वीकार किया है। अतः कोई वाकछटा दिख्ळाना निष्णात विद्वानोंको नहीं शोभता है। वार्त्तिक द्वारा कहा गया हमारा अनुमान निर्दोष है। उस अनुमानमें दिया गया उदाहरण साध्यसे रीता नहीं है । क्योंकि मेवको धारनेवाला वायुका आकाशमें प्रतिष्ठित रहना साध दिया गया है तथा हमारे हेतुका विपक्षते व्यावृत्त होना गुण भी संदेवप्राप्त नहीं है। क्योंकि आकाराके आधारपर नहीं डट रहे किसी भी एक तनवातका असम्भव हो रहा है। जब कि सभी वायुर्वे अथवा अन्य पदार्थ भी आकाशपर स्थान पा रहे है, ऐसी दशामें हेतुकी विवक्षन्यावृत्ति निर्णीत हो चुकी है। इस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि उस अमूर्त आकाशको भी वायुका आधारपना युक्त है । जैसे कि शरीर, इन्द्रिय, अष्टविभक्तर्म, आदिका आधारपना आत्माको अविन्न रूपसे समुचित माना गया है, आप वैरोषिकोंने "जगतामाश्रयो मतः" इस वचन अनुसार कालको यावद् जगतका आश्रय माना है। शरीर, इन्द्रिय, आदिका अधिकरण आत्मा हो रहा है। बैठा हुआ देवदत्त यदि अपनी बांदकी ऊंचा, नीचा, कर रहा है, इसका तापर्य यह है कि देवदत्त अपनी बांहसे संयुक्त हो रही आत्माको स्वयं ऊंचा नीचा कर रहा है । उस आत्माके साथ बंध रही पौद्रलिक बांह तो आत्माके साथ घिसटती हुयी ऊपर, नीचेको, जा रही है। देवदत्त मार्गमें चल रहा है। यहां भी देवदत्तकी गतिमान् आत्मा चल रही है । उस आत्मापर धरा हुआ शरीर तो उसी प्रकार आत्माके साथ विमटता चलता है, जैसे कि शरीरके साथ कपड़े, गहने, या घोड़े द्वारा खींची गयी गाडीपर बैठे हुये सेठजी खिचरते छदे जा रहे हैं। सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीरके उपयोगी वर्गणाओंसे आत्मामें ही पौद्रलिक शरीर बन कर वहीं ठहर जाते हैं। अतः शरीर आदिका आधार आत्मा माना जाय यही अच्छा है अमूर्त भी मूर्त पदार्थका आधार हो सकता है। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीतियोंका अवाधितपना प्रसिद्ध है। नैयायिकोंने अमूर्त दिशाको भी मूर्तपदार्थीका आधार माना है। मीमांसक बौद्ध आदि विद्वान भी अमृतींको मृतिका आधार मान बैठे हैं। छोकमें भी मृतींके आधार अमृति द्रव्यकी निर्वाध प्रतीति हो रही है।

तजुवातः कथमंबुवातस्याधिकरणं समीरणस्वभावत्वादिति चेदुच्यते ।

यहां कोई प्रश्न करता है कि जब तनुवात ही स्वयं प्रेरक वायुस्त्रभाव हो रहा गति या कम्पनको कर रहा है तो वह हलता, चलता, तीसरा वायु तनुवात भला दूसरे वायु अम्बुवातका अधिकरण कैसे हो सकेगा ! प्रमाण दो, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा वार्तिक कहा जाता है।

तद्भृतश्रांबुवातः स्याद्धनात्मार्थस्य धारकः। अंबुवातत्वतो वार्द्धेर्वीचीवायुविशेषवत् ॥ ४॥ उस तीसरे तनुवात करके भछे प्रकार धारण कर छिया गया दूसरा अंबुवात तो कठिन स्वरूप अर्थ तीसरे घनवातका धारक है (प्रतिज्ञा) अंबुवात होनेसे (हेतु) जैसे कि समुद्रको धारनेवाछी छहरोंकी विशेष वायु है (दृष्टांत) । अर्थात्—वायु स्वभाव भी तनुवात ऊपरछे अंबुवात नामक वायुका आधार हो जाता है और कुछ कुछ पतला, मोटा, अंबुवात तो ऊपरछे सघन, स्यूल, घनवातका आधार संभव जाता है, जैसे कि विशेषताओंसे युक्त छहरीछी वायु समुद्रको धारे रहती है ।

स च तनुवातमिष्ठींबुवातो घनवातस्य स्थितिहेतुः सोपि भूमेर्न पुनः कूर्मादिरित्यावेदयति।

यों वह पतले पतले स्कन्धोंको धार रहे तनुवातवलयपर प्रतिष्ठित हो रहा दूसरा अम्बुवात तो ऊपरले घनवातकी स्थितिका कारण हो रहा प्रतिष्ठापक है और वह घनवात भी रत्नप्रमा भूमिका आधार है । पृथिवीके फिर कोई कष्लप, शूकर, गोश्रृंग, आदि आधार नहीं है । इसी बातकी प्रन्थकार विज्ञिप्त कराते है ।

घनानिलं प्रतिष्ठानहेतुः कुर्मः स एष नः । न कूर्मादिरनाधारो दष्टकूर्मादिवत्सदा ॥ ५ ॥ तिश्रवासजनादृष्टविशेषवद्यातो यदि । कूर्मादिराश्रयः किं न वायुर्देष्टान्तसारतः ॥ ६ ॥

भूमिके वहां के वहा प्रतिष्ठित बने रहनेका कारण वह घनवात हैं। हम जैनोंके यहा कछवा माना गया है। कोई दूसरा कच्छप प्राणी या शूकर आदि जीव तो भूमिके आधार नहीं हैं। क्योंकि वे कच्छप आदि स्वयं दूसरे आधारपर टिके हुये नहीं माने गये है। कछवा या शूअर अन्य आधारके विना ठहर नहीं सकता है, जैसे कि आजकल देखे गये कछवा, सूअर आदिक जीव अन्य आधारसे रहित होरहे सन्ते किसीके अधिकरण नहीं बन पाते है। अन्य आधारोंकी कल्पना की जायगी तो अनवस्था दोष होगा। अतः देखे हुये कछवा आदिके समान वह पौराणिकोंके कछवे, सूअर आदि भी भूमिको धारनेवाले नहीं माने जासकते है। अर्थात्—इस रन्नभ्रमाके नीचे सात राजू लंबे, एक राजू चौडे वीस हजार योजन मोटे घनवात या साठ हजार योजन मोटे वातवलयको भले ही किवयोंकी भाषामें कछवा या सूअरकी उपमा दी जाय। यदि कोई विष्णुके कच्छप अवतार, वराह अवतार, आदिमें अंधमिकको धार रहा पौराणिक यों कहे कि भूमियोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंके पुण्य, पाप, विशेषकी अधीनतासे वे निराधार भी कच्छप भगवान् या वराह भगवान् इस भूमिके आश्रय होजाते हैं। आचार्य कहते हैं कि तब तो प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा देखे हुये पदार्थके अनुसार होनसे वायु ही भूमिका आश्रय क्यों नहीं मान लिया जाय? जब कि मेब, वायुयान, विमान, पक्षी, ये बहुतसे पदार्थ वायुपर उट रहे हैं

तो मूमिका आधार भी वायु मानना उचित है। वायुमें अनन्त शक्ति है। कछवा या सूअर कितने भी लंबे चौंडे बड़े माने जांय वे आधार विना ठहर नहीं सकते हैं।

सीयं कूर्म वराहं वा स्वयमनाधारं भूमेराश्रयं कल्पयन् दृष्टहान्या निर्धार्यते ।

यह वही प्रासिद्ध पौराणिक किसी अन्य आधारपर नहीं डट रहे यो ही अनंत आकाशमें स्वयं निराधार होरहे कछवा अथवा शृक्षरको इस लम्बी चौडी भूमिका आश्रय कल्पित कर रहा विचारा दृष्टहानि करके निर्धारण कर लिया जाता है । अर्थात् —पौराणिककी कल्पनामें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा विरोध आता है । ऐसी दृष्टविरुद्ध गुपोंको अभीष्ट करनेवाला अंधभक्त वादी प्रामाणिक पुरुषो द्वारा पृथक्भूत समझ लिया जाता है ।

कश्चिदाइ—न स्थिरा भूमिर्दर्पणाकारा। किं तिई १ गोलकाकारा सर्वदोध्वीधो भ्राम्यति, स्थिरं तु नक्षत्रचक्रं मेरोः पादक्षिण्येनावस्थानात्। तत एव पूर्वदिदिग्देशभेदेन नक्षत्रादीनां संप्रत्ययो न विरुध्यते। तथोदयास्तमनयोश्चंद्रादीनां भूमिसंक्रप्रतया प्रतीतिश्च घटते नान्यथेति, तं प्रति वाधकम्रपदर्शयति।

कोई आधुनिक विद्वान् अपना पूर्वपक्ष यों कह रहा है कि आप जैनोंके यहां लम्बी, चौडी, पतली, सपाट दर्पणके समान जो भूमि मानी गयी है, वह उत्नप्रभा भूमिका आकार ठीक नहीं है। तथा भूमि जो स्थिर मानी गयी है और नक्षत्र मण्डलको मेरूकी प्रदक्षिणा करता हुआ ढाई द्वीपमें भ्रमणशील माना गया है, वह भी ठीक नहीं है। तो भूमि कैसी है ! इसपर हमारा पक्ष यह है कि यह भूमि गेंद या नारंगी के समान गोळ आकारको धारती है। उसका आकार चपटा नहीं है। भूमि सर्वदा स्थिर भी नहीं किन्तु सर्वदा ऊपर, नीचे, घमती रहती है। हां, सूर्य, चंद्र, या शनि, शुक्र आदि प्रष्ट, अश्विनी, भरणी, आदि नक्षत्रचक्र तो मेरूके चारों ओर प्रदक्षिणारूपसे जहांका तहां अवस्थित हो रहा है, चूमता नहीं है। तिस ही कारणसे यानी नक्षत्र-मण्डलकी स्थिरतासे और भूमिका भ्रमण होनेसे ही पूर्व, उत्तर, आदि दिशाओं या विदेह आदि देशोंके भेद करके नक्षत्र, सूर्य, आदिकोंका समीचीन ज्ञान हो रहा विरुद्ध नहीं पडता है तथा उदय होते समय या अस्त होनेके अवसरमें चन्द्र, सूर्य, शुक्र आदि ज्योति कोकी भूमिमें संख्यपने करके प्रतीति होना घटित हो जाता है, अन्यथा नहीं । अर्थात्—कदाचित् अपरिचित स्थानकी नदीमें नाव-पर बैठे हुये हम इधर उधर आत्रें जावें तो दिशा श्रान्ति हो जाती है, इसी प्रकार घूमती हुई प्रधिवी-पर बैठे हुये हमको नक्षत्र मण्डल यहांसे वहां हो गया दीखता है। उदय होता हुआ सूर्य दरवतीं भूमिमें चिपट रहा दीखता है, यह सब भूमिके श्रमणसे सम्भव जाता है। अन्य कोई उपाय नहीं हैं। अब आचार्य महाराज उस विद्वान्के सन्मुख यूम रही गोल पृथिवीके मन्तव्योंका बाधक प्रमाण (णोको) वार्तिक द्वारा दिखळाते हैं।

नोर्घाधोध्रमणं भूमेर्घटते गोलकात्मनः । सदा तथैव तद्ध्रांतिहेतोरनुपपत्तितः ॥ ७ ॥

गोल स्वरूप हो रही भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण होना घटित नहीं हो पाता है। क्योंकि सर्वदा तिस ही प्रकार उस भूमिके भ्रमणके कारक हेतुकी सिद्धि नहीं हो चुकी है। चौबीस घन्टे या ऋतु अनुसार पृथिवीको तिस ही प्रकार घुमानेवाले कारणोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। नियत कारणके विना नियत कार्य नहीं हो सकता है।

वायुरेवोध्वीधो श्रमत्सर्वदा भूमेस्तथा श्रमणहेतुरिति न संगतं, प्रमाणाभावात् । आगमः प्रमाणमिति चेन्न, तस्यानुप्राहकप्रमाणांतराभावात् । तस्यानुपानमनुप्राहकमस्तीति चेन्न, अविनाभाविद्धिंगाभावात् ।

यदि आधुनिक पण्डित यों कहें कि वायु ही ऊपर नीचे भ्रमण कर रही संती तिस प्रकार भूमिके सर्वदा नियमित भ्रमणका हेतु हैं। आचार्य कहते हैं कि यह कहका तो संगतिप्रस्त होकर हृदय स्पर्शी नहीं है, असम्बद्ध है। क्योंकि यूम रही वायुके अनुसार भूमिके भ्रमणको साधनेवाला कोई पृष्ठ प्रमाण नहीं है। यदि आप इस विषयमें आगमप्रमाणको प्रस्तुत करें कि आर्यमङ्गने अपने प्रथमें पृथिवीको चळती हुई साधा है। अपनी कक्षासे बाहर गमन नहीं करना सो ही अचलपना है और भी कितनी ही इंग्रेजी पुस्तकोंमें पृथिवीका भ्रमण सिद्ध किया गया है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस आगमका अनुप्रहकारक कोई दूसरा प्रमाण नहीं है। जबतक आगममें कही हुई बातको परिपृष्ट करनेके लिये अन्य प्रमाण सहायता नहीं देते हैं, तबतक चाहे जिस आगमके उपन्यासोंके समान किसी भी प्रमेयको आंख भीचकर नहीं मान लिया जाता है। यदि कोई भूभ्रमणवादी यों कहे कि उस आगमका अनुप्रहकारक अनुमान प्रमाण विद्यमान है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि उस अनुमानमें अविनाभावको धारनेवाला समीचीन लिंग नहीं है। अन्यथानुपपत्ति करके रीते हो रहे हेतुसे समीचीन अनुमान क्रान नहीं उपज पाता है।

नतु च यत्पुरुषप्रयत्नाद्यभावेषि श्राम्यति तद्श्रमद्वायुद्देतुकं श्रमणं यथाकाशे पर्णादि तथा च भूगोल इत्यविनाभावि लिंगमतुमानं पुरुषप्रयत्नकृतचक्रादिश्रमणेन पाषाणादिसंघट्टकृत-नदीजलादिश्रमणेन च व्यभिचाराभावात् । न च पुरुषप्रयत्नाद्यभावोऽसिद्धः पृथिवीगोलक-भ्रमणे महेन्वरादेः कारणस्य निराकरणात् । पाषाणसंघद्वादिसंभवाभावात् भूगोलश्रमणमित्दं इति न मंतव्यं तदभावे तत्स्थजनानां चंद्राकीदिविंबस्योद्यास्तमनयोभिंभदेशादितया प्रतीतेर-पटनात् । सास्ति च प्रतीतिस्ततो भूगोलश्रमः प्रमाणसिद्ध इति कश्चित् ।

भूभमवादी अपने मन्तव्यका अवधारण करनेके छिये हेतुमें अविनामाधको विखलाते हुये यों अनुमान प्रमाण कहते हैं कि जो पदार्थ पुरुषके प्रयत्न या पत्थरकी टक्कर आदिक कारणोंके नहीं होनेपर भी चूम रहा है (हेतु) उसका वह श्रमण चूम रहीं वायुको कारण मानकर हुआ है (साध्य) जैसे कि आकाशमें आंधी चलते समय पत्ते, तिनके, आदि पदार्थ चूमली हुई वायु द्वारा यूम जाते हैं (अन्वयदद्यान्त) तिस ही प्रकार भूगोल यूम रहा है (उपनय) अतः वायुअमण असुसार भूगोल मान लेना चाहिये (निगमन) इस प्रकार अविनाभाववाले हेतुसे इस अनुमानका उत्थान हुआ है। हेतुमें पुरुषके प्रयत्न आदिका अभाव यह विशेषण तो व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये दिया है। अतः प्रस्पेक प्रयत्न द्वारा की गयी चाक आदि की भांति करके और पत्थरकी या वेगयुक्त जल आदिभी अन्छी टक्कर लग जानेसे किये गयें नदिजल, समुद्रजल, आदिके भवरों करके व्यभि-चार नहीं हो पाता है। यहा भ्रमणमें पुरुषप्रयत्न, पाषाणघटन, आर्दिका अभाव असिद्ध नहीं है। क्योंकि प्रधिर्वालक्ष्प गोलाके भ्रमण करनेमें महेश्वर, विधाता, आदि कारणोंका निराक्तरण. कर दिया है और पत्यरों भी टक्कर, त्रिषुत्प्रकाह आदि कारणोंकी भी संमावना नहीं है । अतः हेतुका विशेषण दल पक्षमें वर्तता हुआ सिद्ध होजस्ता है। भूश्रमवादी ही कहे जा रहे हैं कि पृथिवी स्वरूप गोलेका भ्रमण करना असिद्ध होय यह मान बैठना भी उचित नहीं है। क्योंकि उस भ्रमणका अभाव मान हेने पर तो उस भूमिमें ठहरनेवाले मनुष्योंको चंद्रविंब, सूर्यविंब, शुक्र आदिके उदय या अस्त होनेपर भिन्न मिन्न देश क्लीपन या न्यारे न्यारे आकार आदिपने करके प्रतीति होना नहीं घटित हो पावेगा और वह भिन्न भिन्न देशवर्ती आदिपने करके प्रतीति तो होरही है। तिस कारणसे भूगोलका स्नमण होना प्रमाणसे तिस है, यो भ्रमण हेतु पक्षमें ठहर जाता है। इस प्रकार ननुसे छेकर यहांतक कोई एक पण्डित कह सहा है।

सीत्रैवं पर्यमुयाक्तन्यः । अश्रमः कस्मास भवतीति तदाविदिनः अवचनस्य संद्रावात् । अतिनियतानेकदेशादितयाकिदीनां प्रतीतेरिष घटनात् भूश्रमणहेतीर्बिरुद्धत्वोपपत्तः । भूगोल-श्रमणे साधनस्यानुमानादिवाधितपक्षतानुषंगात् । कारणाभावात् अश्रमोवितिष्ठत इति चेत् तथाविधादष्टवैचित्र्यात्तद्श्रमणोपपत्तेः ।

अब आचार्य कहते हैं कि उस भूअमबादिक जपर यहां प्रकरणमें इस प्रकार चोद्य उठाना चाहिये कि भूअमणके समान नक्षत्र मण्डल या सूर्य आदिकोंका अमण हो रहा क्यों नहीं माना जाता है ? जब कि उस ज्योतिष चक्रिक अमणका आवेदन करनेवाले आसवाक्य स्वरूप आगमका सद्भाव हो रहा है, उदय, अस्त, दशामें सूर्यका दूर स्थित भूमिके साथ स्पर्श हो रहा दीखना और मध्यान्हमें जपर दीखमा तथा बीचमें तिर्वक् जंचा दीखना वो प्रतिनियत अमेक देश या दिशा आदिमें स्थितपने करके सूर्य आदिकोंकी प्रतिति होना भी तभी घटिल होता है, जब कि पृथितिको अचला

और ज्योतिर्पण्डलको यून रहा माना जायगा। अतः भूजमणके सिद्ध करनेवाले तुम्हारे हेतुको विरुद्ध हैत्यामास्यका वन रहा है। भूयोलके अमणको समझानेमें दिये गये हेतुके साध्य या पक्षमें अनुमान आदि प्रमाणों हुआ वाधा उपस्थित हो जानेसे उस हेतुको बाधित हेत्यामासपनका प्रसंग आता है। अत्यक्षसे भी भूकमण बाधित है। पक्षी या विमान मीलों उंचे या हजारों कोस तिमले चक्कर बहांके वहीं नियत स्थानपर लीट आते हैं। उत्तर दिसामें ध्रुवतारा वहांका वहीं दीखता रहता है। यदि कोई यों कहे कि ध्रुमानेवाले कारणोंका अभाव हो जानेसे ज्योतिश्वकका अमण नहीं हो स्केगा। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि जहांके तहां बैठे रहेंग। यों कहनेपर तो हम जैन यह उपपत्ति देते हैं कि तिस प्रकारके पुण्य, पापकी, विचित्रतासे उन सूर्य आदिकोंका अमण वन जाता है। किन्हीं किन्हीं कमींके फल विचित्रतासे अनुभवे जाते हैं। गमन पर्यायमें ही रमण कर रहे अभियोग्य जातिक देवों करके ज्योतिष्क विमान नियतगति अनुसार धुमाये जाते हैं।

भूगोलभ्रमणे तु वायुभ्रमणं न कारणं भवितुमईति सर्वदा तस्य तथा भ्रमणनियमानु-पपत्तरनियतगतित्वात् । ततो नाभिमेतदिगभिमुखं भ्रमणं भूगोलस्य स्यात् । प्राण्यदृष्टवश्चाद्धा-योर्नियतं तथा तदसिद्धेः । प्रसिद्धे भ्रमणमिति चेन्न, तत्कार्यासिद्धौ तदसिद्धः । प्रसिद्धे हि मुखादिकार्ये निर्विवादे दृष्टकारणन्यभिचारे चादृष्टं तत्कारणमनुमीयते न द्याभिमेतवाञ्चभ्रमणं निर्विवादं सिद्धं यतो न दृष्टकारणन्यभिचारे तत्कारणमदृष्ट्मनुमीयत ।

हां, तुम्हारे भूगोलके अमणमें तो वायुका अमण कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि उस जड वायुके द्वारा सदा उस पृथिवीके तिस प्रकार नियम अनुसार अमण होते रहनेकी उपपास नहीं है। क्योंकि वायुका कोई नियत गति नहीं है। कभी पूर्वकी वायु चलती है। कभी पांधमकी वायु बहती है। कभी दिवण दिशाकी वायु उमड पड़ती है। तिस कारण भूगोलका अभीष्ट हो रहीं कर्ष्विदिशा या अघोदिशाके अभिमुख अमण नहीं हो सकेण। अतः चारो ओर लिपटी हुई वायुके अनुसार भूगोलका अमण मानना स्वयं अपनेको चक्करमें डालना है। यदि कोई यहां यों आक्षेप करे कि प्राणियोंके पुण्य, पापकी अधीनतासे वायुका तिस प्रकार नियत हो रहा अमण हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस अदृष्टके कार्य माने जा रहे वायुक्षमण या पृथिवीक्षमणकी जवतक सिद्धि नहीं हो सकेगी, तवतक उस वायुक्षमणके कारण अदृष्टकी सिद्धि नहीं हो सकेगी, तवतक उस वायुक्षमणके कारण अदृष्टकी सिद्धि नहीं हो पाती है। देखिये, सुख, दुःख आदि अनुसवे जा रहे कार्योके विवादरहित प्रसिद्ध हो जानेपर ही परिदृष्ट बहुधन, दूध, श्री, वख, हवेली, आदि या प्रामवास, अल्पकुदुम्ब, अल्पधन, आदि दृष्ट कारणोंका अन्वयन्यमिनार और व्यतिरेकन्यमिनार दोष आ जानेपर को उन सुख आदिकांके कारण युण्य, प्रामक्षप अदृष्टका अनुमान कर लिया जाता है। किन्तु यहां आपको अभीष्ट हो रहा वायुक्षमण हो सम्भीको निर्विवाद सिद्ध सहीं है, जिससे कि वायुक्षमणके दृष्ट कारणोंका ज्यमिनार हो जानेपर को स्वर्ण कारणको क्यायको क्यायको हिस्स हो जानेपर को सम्बर्ण के स्वर्ण कार्यका क्यायको क्यायको क्यायको क्यायको क्यायको ह्यायको क्यायको हिस्स हो जानेपर को सम्भिनार हो जानेपर को स्वर्ण कारणोंका ज्यायको है। किन्तु यहां आपको अभीष्ट हो रहा वायुक्षमण हो सम्भिनार हो जानेपर

उसके कारण अदृष्टका अनुमान करनेके लिये परिश्रम कराया जाता है। हम जैन तो अभी वायुके भ्रमणमें ही विवाद उठा रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा या आकाशमें उडाये गये पत्ते अथवा पतंगों द्वारा जिस साधारण वायुका ज्ञान किया जाता है, उस वायुकी गति कोई नियत नहीं है। वह वायु चौबीस घंटे या अडतालीस घंटेमें कोई नियत कार्य करती हुई नहीं जानी जाती है। अतः हम तो समझते हैं कि पृथिवीमण्डलको गाडीके पहिये समान ऊपर नीचे घुमानेवाली कोई वायु नहीं है।

भूभ्रमात् मवहद्वायुसिद्धिरिति चेम, तस्यापि तद्वदसिद्धः । नानादिग्देशादितय।र्कादि-मतीतिस्तु भूभ्रमेपि घटमाना न भूभ्रमं साधयतीति । कयं १ अनुमितानुमानादप्यदृष्टविशेष-सिद्धिरिति सक्तं न भूमेरूर्ध्वाधोश्रमणं षट्चक्रवदेकानुभवं संपरिश्वत्तिर्वा घटते तद्भ्रमणहेतोः पराभ्युपगतस्य सर्वयानुपपद्यमानत्वात् परेष्टभूश्रमादिवदिति ।

यदि भूश्रमणवादी यों कहे कि भूका श्रमण हो रहा है, इस ज्ञापक हेतुसे प्रकाण्ड रूपसे वह-रही, घमती हुई, वायुकी सिद्धि हो जाती है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उस वायुभ्रमणके समान उस मुभ्रमणकी सिद्धि नहीं हो सकी है। अन्योन्याश्रय दोषवाले असिद्ध हेतुओंसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है । पूर्व, पश्चिम, दिशाओंमें या बंगाल, पंजाब, यूरोप, अमेरिका, आदि देशोंमें दीखना अथवा लाल पीले, घों छे, आकार धार छेना, प्रहण पड जाना, भूमिमें लग जाना, आदि ढगोंकरके सूर्य आदिकी हो रही प्रतीति तो नक्षत्रमण्डल या सूर्य आदिके भ्रमण माननेपर भी घटित हो रही संती भूभ्रमण की सिद्धि नहीं करा पाती है। इस कारण अनुमित किये गये हेतुद्वारा पुनः उठाये गये अनुमानसे भी भळा अदृष्ट विशेषकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात्—मूख्रमणवादीने कारक पक्षमें अदृष्ट विशेषसे वायुका भ्रमण और वायुभ्रमणसे भूभ्रमण होना माना है और ज्ञापक पक्षमें भूभ्रमणसे बायुके अमणकी ज्ञाति और वायुभ्रमण नामक कार्य हेत्रसे अदृष्टकी सिद्धि (ज्ञाति) की है , आचार्य कहते हैं यों अनुमित अनुमानसे भी तुम अदृष्टकी सिद्धि नहीं कर सके हो। इस कारण हमने वार्तिकमें बहुत अच्छा कहा था कि छह पहियेवाले यंत्रके समान या चरखाके समान समिका ऊपर नीचे भ्रमण होना नहीं घटित होपाता है अथवा एक व्यक्तिके अनुभन्न अनुसार भन्ने प्रकार परिवर्तन होना नहीं घटित होता है। क्योंकि दूसरोंके द्वारा माने गये उस प्रथिवीकी भ्रान्तिके हेतुओंकी सभी प्रकारोंसे उप-पत्ति नहीं होपाती है। जैसे कि अन्य वादियों के यहां इष्ट किया गया पृथिवीका गेंद या नारंगीके समान तिरछा घूमना आदिके हेतुओंकी सिद्धि नहीं हो सक्ती है। यहां आदि पदसे प्रार्थविके पतन आदि भी लिये जा सकते हैं। कोई वादी भारी पृथिवीका नितरां अधोगमन होना भी मान बैठे हैं तथा कोई आधुनिक पण्डित अपनी डेड बुद्धिमें यों जान बैठे हैं कि पृथिवी दिनपर दिन सूर्यके निकट होती चली जारही है। इसके विरुद्ध कोई यों कह रहे हैं कि अनुदिन सूर्यसे पृथिवी दूरतम होती चली जा

रही है। इसी प्रकार कोई परिपूर्ण जलमागसे पृथिबीका कुछ काल्से उदय हुआ इष्ट किये हैं। कुछ दिनोंमें भूमाग मिटकर जलभाग होजायगा तथा कोई जलमाग कम होकर पृथिवी भागका विस्तार कल्पित कर रहे हैं, किन्तु उक्त कल्पनायें प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं होपाती हैं। थोडेसे ही दिनोंमें परस्पर एक दूसरेका विरोध करनेवाले विद्वान् खडे होजाते हैं। पहले पहले विज्ञान या जोतिषयंत्रके प्रयोग मी युक्तियों द्वारा बिगाड दिये जाते हैं। यों छोटे छोटे परिवर्तन तो दिन रात होते रहते हैं। इनसे क्या होता है ? यहांतक उक्त वार्तिककी व्याख्या कर दी गयी है।

तथा दृष्ट्याघाताच न सोस्तीत्याइ ।

तथा एक बात यह भी है कि देखे हुये पदार्थोंका न्याचात होजानेसे वह दूसरोंका माना गया भूअमण नहीं चटित होपाता है, इस बातको श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

दृश्यमानसमुद्रादिजलस्थितिविरोधतः । गोले भ्राम्यति पाषाणगोलवत्क विशेषवाद् ॥ ८ ॥

भूगोळका श्रमण होना मानते संते तो समुद्र, नदी, सरोवर आदिके जळेंकी देखी जारही स्थितीका विरोध होजाता है। जैसे कि पाषाणके गोळाको घूमता हुआ माननेपर उसपर अधिक जळ ठहर नहीं पाता है। अतः भू अचळा है, श्रमण नहीं करती है, पृथियीको घुमा दे और जळको ठहराये रहे ऐसा कथन कहां संभव सकता है श अर्थात्—गंगा नदी जैसे हरिद्वारसे कळकत्तेकी ओर बहती है, पृथिवीके गोळ होनेपर वह उल्टी भी बह जायगी। समुद्र या कूपजळ गिर पडेंगे। चूमते हुये पदार्थ पर मोटा जळ नहीं टिककर गिर पडेगा। पवनमें अन्य कोई विशेषता नहीं है।

न हि जलादेः पतनधर्मणो भूयसो आम्यित पाषाणगोले स्थितिर्देष्टा यतो भूगोलेपि सा संभान्यत । धारकवायुवकात्तत्र तस्य स्थितिर्न विरुध्यत इति चेत्, स धारको वायुः कथं मेरकवायुना न प्रतिहन्यते १ प्रवाहतो हि सर्वदा भूगोलं च अपयन् समंततापि तत्स्थसमुद्रा-दिधारकवायुं विघटयत्येव मेघधारकवायुमिव तत्प्रतिपक्षवात इति विरुद्धैव तदवस्थितिः, सर्वथा विश्लेषपवनस्थासंभवात ।

भारी होनेसे अथः पतन धर्मवाले बहुतसे जल, बाद्ध रेत, आदि पदार्धोंकी पाषाण गोलेके घूमते सन्ते वैसीकी वैसी ही स्थिति होरही नहीं देखी जाचुकी है जिससे कि भूणोलके घूमते सन्ते भी बह जलकी स्थिति वैसीकी वैसी संभव जावे । यदि कोई यों कह बैठे कि घूमते हुये उस भूगोलमें भी जलको धारे रहनेवाले वायुकी अधीनतासे उस जलकी स्थिति बनी रहनेका कोई विरोध नहीं आता है, यों कहनेपर तो हम जैन पूलेंगे कि क्योंजी वह धारक बायु भला प्रेरक वायु करके क्यों नहीं प्रति-धात को प्राप्त होती है ? पृथिबीको धुमानेवाली बलवान् प्रेरक वायु करके जलधारक निर्बल वायुका अतिघात होजाना चाहिये । जैसे कि आक्तारामें मेघ छाये रहते हैं, किन्तु जब उनके अतिपक्ष नायु नहती है तो वह प्रतिकृष्ठ वायु उस मेघको धारनेवाली वायुका विम्नंस कर देती है । मेघ तितर बितर होकर स्वष्ट होजाते हैं या देशांतरमें क्ले जाते हैं । उसी प्रकार अपने बल्यन् प्रवाहसे सर्वदा भूगोलको सब औरसे घुमा रही प्ररेक वायु भी बहां स्थिर होरही समुद्र, सरीवर आदिको धारनेवाली वायुका विघटन करा ही देवेगी । इस प्रकार उस जलकी अवस्थिति बनी रहना विरुद्ध ही है । कोई विशेष जातिकी पवनका तो सर्वथा असंभव है । अतः बल्यान् प्रेरक वायु भूगोलको अविराम धुमाती रहे और निर्वल जल धारक वायु अक्षुण्ण बनी रहे ये नितान्त असंभव कार्य है ।

अत्र पराकृतमाशंक्य प्रतिषेधयति ।

पृथिवीमें आकर्षण शाक्तिको माननेवाळे दूसरे पण्डितोंके मन्तञ्यचेष्टाकी आकांक्षा कर अनुवाद करते हुये प्रथकार उस मन्तव्यका प्रतिषेध अप्रिम वार्तिक द्वारा करते हैं ।

गुर्वर्थस्याभिमुख्येन भूमेः सर्वस्य प्राद्धतः । तिस्थितिश्रेद प्रतीयेत नाधस्तात्पातदृष्टितः ॥ ९॥

पूर्वपक्षी कह रहा है कि पृथिकीमें आकर्षण शक्ति है। तदनुसार सम्पूर्ण भारी अर्थीका भूमिके अभिमुखपने करके पतन होता है। भूगोलपरसे जल गिरेगा तो भी पृथिवीकी ओर ही गिरकर वहाका वहीं ठहरा रहेगा। अतः उस जलकी स्थिति होना प्रतीत हो जावेगा। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि भारी अर्थीका नीचेकी ओर पडना ही दृष्टिगोचर हो ग्हा है। अर्थाद—पृथिवीमें एक हाथ लम्बा चौडा गढ्डा खोदकर उस मिट्टीको गढ्डेकी एक ओर ढलाऊं उंचा बिछाकर यदि उसपर गेंद धर दी जाय ऐसी दशामें वह गेंद नीचीकी ओर गढ्डेमें ढुलक पडती है, जब कि ऊपरले भागमें मट्टी अधिक है तो विशेष आकर्षण शक्ति होनेसे गेदको ऊपर देशमें ही विपटा रहना चाहिये था। अतः कहना पडता है कि भले ही पृथिवीमें आकर्षण शक्ति होय, किन्तु उस आकर्षण शक्ति सामर्थ्यसे जलका चूम रही पृथिवीसे तिरका परली ओर गिर जाना नहीं रक सकता है।

भूगोले भ्राम्यति पतदपि समुद्रजलादि स्थितमिव भाति तस्य तदाभिमुख्येन पत्तनात् । सर्वस्य गुरोरर्थस्य भूमेरनिममुखतया पतनादर्शनादिति चेक्नेवं, अधस्तात् गुर्वर्थस्य पातदर्शनात्, तथाभितोभिघाताद्यभावे स्वस्थानात् प्रच्युतोधस्तात्वर्तात गुरुत्वालीष्टादिवत् । न क्रि तत्राभिघातो नोदनं वा प्रुरुषयत्मादिकृतमस्ति येनान्यथागतिः स्यात् । न चात्र हेतोः कंदुका-दिना व्यभिचारः, अभिघाताद्यमाने सत्तीति विशेषणात् । नापि साध्यसाधनविकलो दृष्टान्तः साधनस्य गुरुत्वस्य यथोक्तविशेषणस्य साध्यस्य वाधस्तात्यवनस्य लोष्टादौ प्रसिद्धत्वात । तत्र भूभमकादी सत्त्वात् । क्रि च—

मुजनजंत्रादी कह रहा है कि मूंगीलका अमंग ही रहे सन्ते अधः पतनशील समुद्र जल आदिक गिरते हुये भी स्थित हो रहे के समान ही दीखते हैं। क्योंकि उस जलका उस भूमिके अमि-मुखपने करके पतन हो रहा है। सम्पूर्ण भारी पदार्थीका मृषिके अभिमख नहीं ही करके पतन होना नहीं देखा जाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना । क्योंकि गरुपदार्थीका जहां स्थित है, वहांसे ठीक परली और नीचे गिरना देखा गया है तथा तुम्हारे पक्षका बाधक दूसरा अनु-मान यह है कि समुद्रजल, लोहगोलक, फल आदि पदार्थ (पक्ष) यदि स्वस्थानसे च्युत है। जांच तो अवस्य ठीक नीचे पढ जाते हैं (साध्य) इधर उधरसे बळवान प्रेरक पदार्थका शह जनक अभिघातनाम ह संयोग या प्रतिकृष्ठ वायु आदिका अभाव होते संते भारी होनेसे (हेतु) डेल, मेघजल, आदिके समान (अन्वयद्दष्टान्त)। उस समुद्रजलमें राद्वहेतु संयोग अथवा पुरुषप्रयन्न, विवृत् प्रयन्न, आदि द्वारा किया गया कोई शद्वहेत् हो रहा प्रेरक संयोग तो नहीं है, जिससे कि भूमिपर रखें हुये जलकी दूसरे प्रकारसे यानी भूमिसे परली और नहीं गिर कर भूमिमाऊं ही जलकी गति हो जाय । तथा इस अनुमानमें दियें गये गुरुत्व हेतुका गेंद या बन्दूककी गोली आदिसे व्यभिचार नहीं हो सकता है। क्योंकि हमने हेतुका विशेषण " अभियात आदिकका अभाव होते सेते " यह दे रक्तवा है । वैगवार्ट हाथ हारा भिमें चोट खाकर नीचे नहीं गिरती हुई गेंद ऊपरकी उन्नल जाती है। बन्दूकशी गोली तिरछी चली जाती है, कबूतर ऊपरको उड जाता है, इनमें अभिघात आदि कारण हैं, जहां अभिघात आदि नहीं है वहां गुरुपदार्थीका अवस्य अवःपात हो जाता है। हमारा दिया हुआ डेल आदि दृष्टान्त मी साध्य और साधनसे रीता नहीं है। क्योंकि पूर्वमें कहे जा चुके अनुसार अभिवात आदिकका अमाव इस क्रिंगणसे युक्त हो रहे गुरुव हेतुकी डेंच आदिमें प्रसिद्धि हो रही है और पूर्वसंयुक्त स्थानसे प्रतिकृत परली ओर नीचे गिर जाना इस साध्यकी भी डेल आदिमें प्रसिद्धि है । तिस कारणसे विकर्ण द्वारा जान लिया जाता है कि ऊपर, नीचे, पृथिवीका अम्मण मांग रहें अदिकि समान यह प्रहोंकी आकर्षणशक्ति अनुसार पृथिवीका तिरङ्गा या टेंढा, मेढा, भ्रमण मानमेवाला वादी भी संस्यवचन कहनेवाळा नहीं है। एक बात यह भी समझ छेनेकी है कि---

> भूत्रमागमसत्यत्वेऽभूत्रमागमसत्यता । किं न स्यात्सर्वथा ज्योत्तिज्ञानसिक्रेरभेदतः ॥ १० ॥ द्रयोः सत्यत्विमष्टं चेत्काविरुद्धार्थसा तथाः । प्रवक्त्रोरास्ता नेषं सुगतेश्वरकोरिकः ॥ ११ ॥

जिन्होंने आर्यमह या इटिंग, योरोप, आदि देशोंके वासी विद्वानोंकी पुस्तकोंके अनुसार मू का असण स्वीकृत किया है, उनके प्रति हमाश यह आक्षेत्र है कि यदि मूख्रमणका प्रतिपादन करने-

वाले आगमको सत्य माना जाता है तो अचला पृथिवीके भ्रमणको नहीं कहनेवाले आगमका सल्पपना क्यों नहीं समझ लिया जाय ? क्योंकि ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञानकी सिद्धि होनेका सभी प्रकारसे अभेद है । प्रथिनीको अचला या सचला माननेवाले दोनों विद्वानीके मतानुसार सूर्यप्रहण, दिन रातका व्यवहार, राशिपरिवर्तन, शुक्रका उदय, अस्त होना आदि ज्योतिष शास्त्रके ज्ञान एकसे सघ जाते हैं । यदि प्रथिवी भ्रमण और ज्योतिष्कचक्रका भ्रमण कहनेवाले दोनों भी आगमोंका सत्यपना अभीष्ट है तब उन दोनों आगमोंको अविरुद्ध अर्थका प्रतिपादकपना कहां रहा ? और इस प्रकार तो बुद्ध और महेक्चरके समान दोनों प्रकृष्ट मामे जा रहे विरुद्ध वक्ताओंको आसपना यानी सत्यार्थ वक्तापन नहीं आ सकता है। अर्थात-बुद सृष्टिके कत्तीको नहीं मानते हुये सभी पदार्थीको क्षणिक मानते हैं। किन्तु ईश्वरवादी पण्डित तो प्रथित्री आदि हो। बनानेत्राले ईश्वरकी कल्पना करते हुये पदार्थीको नित्य या कालान्तरस्थायी मान रहे हैं. परस्पर विरुद्ध अर्थको कह रहे ये दोनो ता बढिया वक्ता नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रथिवी को सचला या अचला माननेवाले भी आप नहीं हो सकते हैं। कमसे कम एक पण्डितके आगम का सत्यपना रक्षित नहीं रह सकता है। अपरिचित स्थलमें नांव द्वारा श्रमण कर रहा पुरुष भले ही नावका बुमना नहीं मानकर नगर या तीरस्थ प्रासादोंका भ्रमण अभीष्ट कर छे, एतावता उसके दिशा विश्वमका समाधान भी भले ही हो जाय, किन्तु वस्तुतः विचारनेपर नगरका स्थिरता और नावका चलपना माना जायगा । इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा ज्योतिष चक्र ही भ्रमण कर रहा प्रतीत हो रहा है। साधारण मनुष्य या पशुको थोडा त्रूम जानेसे ही आंखोंमें चूमनी आने छग जाती है। कमी कभी खण्डदेशमें अत्यल्प भूचाल (भूकम्प) आनेपर शरीरमें कपकपी, मस्तकमें भ्रान्ति होने लग जाती है। यदि डांकगाडीकी गतिसे भी अधिक वेगवाली पृथिवीकी चाल मानी जायगी, ऐसी दशामें मस्तक, शरीर, पुराने गृह, कूपजल, समुद्र आदिकी क्या व्यवस्था होगी ! इस बात का बुद्धिमान् स्वयं विचार कर सकते हैं।

मतांतरम्पदर्श्य निवारयशाह ।

अब श्री विद्यानन्द आचार्य भूअमणसे अतिरिक्त दूसरे मतोंका संकेत मात्र दिखलाकर उनका निवारण करते हुये अप्रिम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं ।

> सर्वदाधः पतन्त्येताः भूमयो मरुतोऽस्थितेः । ईरणात्मत्वतो दृष्टप्रभंजनवदित्यसत् ॥ १२ ॥ मरुतो धारकस्यापि दर्शनात्तोयदादिषु । सर्वदा धारकत्वस्यानादित्वात्तत्र न क्षतिः ॥ १३ ॥

किसी अन्यवादीका मन्तव्य है कि ये भूमियां सर्वदा (पक्ष) नीचे गिरती रहती हैं (साध्य)। क्योंकि चंचळ और कंपन स्वभाववाळी होनेसे वायुकी एक स्थानपर स्थिति नहीं होने पाती है (हेत)

जैसे कि देखी जा चुकी वायु है (अन्वय दृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि यह कहना मिण्या है। क्योंकि मेघ, पक्षी, आदि पदार्थीमें धारनेवाली वायु मी देखी जाती है। अनादि होनेसे सदा धारकपनेकी उस वायुमें कोई क्षति नहीं है। अर्थात्—जो कंपनेवाली चंचल वायु है, वह मूमियोंको दृढ नहीं डाट सकती है, किन्तु बादलोंको जैसे धारक वायु देरतक धारे रहती है, उसी प्रकार अनादि कालसे पृथिवीको धार रहे तीन वातवलय चंचल या कंपनेवाले नहीं होनेसे मूमियोंको अविचल धार रहे हैं। कोई हानि नहीं हो पाली है।

न हि भूभ्याधारो वायुरनवस्थितस्तस्येरणात्मत्वाभावात् । तवासंभवाषायणीरणात्म-कत्वरिक्तो मरुचोयदादिधारणात्मकस्यापि दर्भनात् । सर्वदाधारकत्वं न दृष्टं इति चेत्, सादे-रनादेवी १ सादेश्वेत् सिद्धसाध्यता । यदि पुनरनादेरपि सर्वदाधारकत्वं पवनस्य न स्यासदा-त्माकाभादेरप्यमूर्तत्विवश्चत्वादिधर्मधारणविरोधः । अत्राधाराधययोरनादित्वात्सर्वदा तद्भाव इति चेत्, भूमिगन्धभृतोरपि तत एव तथा सोस्तु । तथा सर्वदाधः पतंति भूमयः प्रमाणाभावात् ।

भूमियोंका अधिकरण हो रही वाय कीई अस्थिए नहीं है। क्योंकि वह धारक वाय गमन स्वभाव वाळी या चंचळ स्वभाववाळी नहीं है। अतः असंभव होनेसे वह भूमियोंके सर्वदा नीचे गिरते रहनेका मन्तव्य प्रशस्त नहीं है। " ईरणात्मत्वाभाव " हेत्को यो पष्ट करते हैं कि यह भूमियोंका आधार होरही वायु (पक्ष) ईरण स्वभावसे रहित है (साध्य) क्योंकि वायुका बादछ आदिकोंको धारे रहना स्वरूप भी देखा जाता है (हेत्)। अर्थात् ---कई दिनोंतक वायुके आधारपर बादल आकाशमें डटे रहते हैं। शरीरमें कृषित होगयी वाय किसी नसमें रक्तको कई वर्षातक डाटे रहती है, चलायमान नहीं होने देती है। काचकी शीसी या नलीमें भर दी गयी काय गोलीको डाटे रहती है। यदि यहां कोई यों कहे कि बाब कुछ देरतक भले ही बादल. रक्त. गोळी आदिको धारे रहे किन्त सर्वदा धारकपना किसी भी बायुमें नहीं देखा गया है, यों कहनेपर तो इस विकल्प उठाते हैं कि कुछ कालसे उपजी हुई सादि बायुको सदा धारकपने हा निषेध करते हो ? अधवा क्या अनादिकालसे सहश परिणामोंको धार सही अकन्य अनादि वायुको भी प्रथितीके सदा धारनेका निषेध करते हो ? बताओ। यदि प्रथम पक्ष अनुसार आदि वायुको प्रविवीका धारकपना निषेधते ही तो तुम्हारे ऊपर सिद्धसाध्यता (सिद्ध साधन) दोष लगता है जिसको हम सिद्ध मानते हैं। उसको पुनः साधनेकी क्या आवस्यकता पडी है ? निरर्थक बातोंको सुननेका इमको अवसर बड़ी है, सादि वायुको इम प्रथमसे ही पूर्वि गियोंका धारक नहीं मान रहे हैं। हां, यदि फिर द्वितीयं विकल्प अनुसार अनादि कालीन रह वायुको भी सदा प्रियवीयोंका धारकपना नहीं माना जायगा तब तो आत्मा, आकाश, आदिक द्व्योंको भी अमूर्तपन, **ज्यापकपन, गुजसदितपन, आ**दि धर्मी के धारनेका विरोध हो जायगा। जैसे आत्मा, आकाश, आदिक व्रध्य अनादि कालसे अमूर्तपन आहि । वर्मी के चारक माने जारहे हैं, उसी प्रकार अनादि वायु भी सदासे पृथिवीयोंको धार रही बनी बैठी है। यदि कोई यहां यों कहे कि इन आत्मा आदिक आधार और अमूर्तपन आदि आधेयोंमें अनादि होनेसे सदा वह "आधारआधेयभाव " बन रहा है। यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी अनादि होनेसे ही भूमि और गन्धवाह यानी वायुका भी तिस प्रकार सदा वह आधार आधेय भाव हो जाओ। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि भूमियां सर्वदा नीचे नीचे नहीं पडती रहती हैं, क्योंकि इसमें कोई पृष्ट प्रमाण नहीं है।

एतेन सर्वदोत्पतंत्येव तिर्यगेव गच्छंतीति ना निरस्तं, धारकस्य वायोरबाधितस्य सिद्धेस्तदवस्थानाविरोधात्।

इस उक्त कथन करके इन मतोंका भी खण्डन कर दिया गया समझो कि भूमियां सर्वदा उछ-छती ही रहती है अथवा भूमियां सर्वदा तिरछी ही। चलती रहती है, क्योंकि इन दोनों मतोंका पोषक बलवान् प्रमाण नहीं है, जब कि भूमियोंको धारनेवाले वायुकी बाधारहित हो रही। सिद्धिकी जा चुकी है। इस कारण उन भूमियोंके ठीक ठीक ज्यों के त्यो अवस्थित बने रहनेका कोई विरोध नहीं आता है।

कश्चिदाइ-विवादापना भूमिर्भूम्यंतराधारा भूमित्वात्तधा प्रसिद्धभूमिवत् । साप्यपरा भूमिर्भूम्यंतराधारा भूमित्वात्तथा प्रसिद्धभूमिवत् साप्यपरा भूमिर्भूम्यंतराधारा तत एव तद्व-दिति शश्वदपर्यता तिर्यगधोपीति तं पत्याह ।

यहां कोई विद्वान् पूर्वपक्ष उठाकर कर रहा है कि विवादमे प्राप्त हो रही भूमि (पक्ष) अन्य दूसरी भूमिक आधारपर जमी हुई है (साध्य) भूमि होनेसे (हेतु) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही इस वित्रा भूमिक समान (अन्वयदद्यान्त)। और वह नी चिछी दूसरी भूमि भी (पक्ष) अन्य तीसरी भूमिक आधारपर स्थिर है। (साध्य) भूमि होनेसे (हेतु) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही वजा भूमिक समान (अन्वयदद्यान्त)। तथा वह तीनरी निराछी भूमि भी (पक्ष) भिन्न चौधी भूमिपर धरी हुई है (साध्य) तिस ही कारणसे यानी भूमि होनेसे (हेतु) उस ही प्रसिद्ध हो रही वैडूर्य भूमिक समान (अन्वयद्यान्त)। इस प्रकार चौधी भूमि पाचवीपर और पांचवी छडीपर यों पुनः पुनः निरन्तर चलते हुये इथर उधर तिरछी अनन्त और नीचे नीचे भी अनन्त भूमियां हैं। अनादि कालके समान भूमियोंका कोई पर्यन्त स्थान नशी है, यहांतक कोई ज्ञानलवदुर्विदग्ध कह रहा है, उसके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान वचन कहते हैं।

नापर्यंता धराधोपि सिद्धा संस्थानभेदतः। धरवत्खमपर्यंतं सिद्धं संस्थानवन्न हि ॥ १४ ॥

नीचे नीचे भी पृथ्वियां अनन्त संख्यावालीं सिद्ध नहीं हैं (प्रतिज्ञा) विशेष रचना होनेसे (हेन्) पर्वतके समान (अन्वयद्यान्त)। जो परिदृष्ट निशेष संस्थानवाला नहीं है वह पदार्थ

मर्यादारहित हो रहा अनन्त है जैसे कि आकाश (व्यतिरेक दृष्टान्त)। पृथिवी तो विशेष संस्थान-वाली हो रही सान्त ही है।

धरः पर्वतः संस्थानवान् सपर्यन्तो इष्टो यः पुनरपर्यतः स न संस्थानवान् यथाकाशा-दिरिति विपक्षात्राष्ट्रतो हेतुः पर्यतवत्तां धरायाः साधयत्येव ।

धर यानी पर्वत (पक्ष) निशेष रचना या आकारवाळा है (साध्य) अतः मर्यादा युक्त लम्बाई, चौडाई, मोटाई, को ले रहा पर्यन्तसिहत देखा गया (हेतु) जो जो संस्थानवान् है, वह समर्याद है, जैसे घट (अन्वयदृष्टान्त)। और जो पदार्थ फिर अनन्त है वह परिमित संस्थानवाळा नहीं है, जैसे कि आकाश, दिशा, आदि हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) इस प्रकार विपक्षसे व्याहृत्त हो रहा संस्थानविशेष सदेतु फिर पृथिवीक मर्यादासहितपनको साध देता है।

यत्पुनरभ्यधायि-विवादापन्ना धरा धराधारा धरात्वात्मसिद्धधरावदिति । तदयुक्तं, हेतोरादित्यधरादिनानेकांतात् न हि तस्याधरांतराधारत्वं सिद्धमंतरालाधानमसंगात् । ततः पर्यतवत्या भूमय इति निरारेकं प्रतिपत्तव्यं ।

जो फिर तुमने यों पिहले अनुमान द्वारा कहा था कि विवादमें पडी हुई भूमि (पक्ष) दूसरी पृथिवीके आधारपर है (साध्य) पृथिवी होनेसे (हेतु) प्रसिद्ध धराके समान (अन्वयदृष्टान्त) वह कथन अयुक्त है । क्योंकि तुम्हारे हेतुका सूर्यकी पृथिवी या चंद्रकी पृथिवी आदि करके व्यक्षिचार हो जाता है । देखो, उन सूर्य, चन्द्रमाकी पृथिवियोंका पुनः अन्य पृथ्वियोंके आधारपर स्थित रहना सिद्ध नहीं है । अन्यथा अन्तरालके अभावका प्रसंग हो जायगा । अर्थात् बढे योजन अनुसार अडतालिस वटे इकसट या छण्पन वटे इकसट योजन लम्बा चौडा और इससे आधा मोटा जो सूर्य विमान या चन्द्र विमान है अथवा जितना भी कुछ मोटा सूर्य विमान या चन्द्र विमान तुमने माना है उतनी मोटी पृथिवीके नीचे यदि दूमरी पृथिवी और दूसरीके नीचे तीसरी, चौथी, आदि पृथिवियां यदि मानी जायगीं तो यहां इस भूमितलसे सूर्य और चन्द्रमातक जो अन्तराल दीख रहा है, अनेक आधारभूत अन्य पृथ्वियोंके नीचे नीचे भर जानेपर वह व्यवधान नहीं रह पायगा । किन्तु हमकी यहांस सूर्यतकका पृथ्वियोंकी किता हो रहा व्यवधान दीख रहा है । अतः पृथ्वियोंके आधारभूत पुनः अनेक पृथ्वियोंकी कल्पना करना अयुक्त है । तिस कारणसे सम्पूर्ण भूमियां छहों दिशामें पिनित मर्यादाको ले रहीं अन्तवाली हैं। इस जैनसिद्धान्तको संशयरहित समझ लेना चाहिये।

नतु चाधोधः सप्तसु भूमिषु जीवस्य गतिवैचित्र्यं विरुद्धं ततो अमूभ्यः शून्याभिस्ताः भिर्भवितन्यं । तथा च तत्कल्पनावैयर्थ्यं जीवाधिकरणविश्लेषपरूपणार्था हि तत्पार्कल्पनां श्रेयसी नान्ययेति वदंतं प्रत्याह । अब यहां किसीकी दूसरे प्रकारकी शंका खडी होती है कि नीचे नीचे सात भूमियों जीवोंकी विचित्रक्षपसे गित होना तो विरुद्ध है। यदि समतलपर सातों भूमियां होती तब तो कोई जीव कहीं और अन्य जीव दूसरी भूमियोंमें चला जा सकता था। कई भूमियोंको भेदकर नीचे जीवका जाना कठिन है। तिस कारण उन अन्तरालकर्ती भूमियोंसे उन भूमियोंको शून्य (रीता) होना चाहिये और तिस प्रकार अन्तरालरहित भूमियोंके हो जानेपर उन सात भूमियोंकी कल्पना करना व्यर्थ है। उत्तरोत्तर अधिक पापको धारनेवाले जीवोंके विशेष अधिकरणोंकी प्रक्रपणांके लिये ही तो उन भूमियोंकी लम्बी, चौडी, संख्याओंमें कल्पना करना श्रेष्ठ था। अन्यथा नहीं। केवल एक भूमि मानना ही पर्यात है, उसीमें जीवोंको गित सुलभतासे सम्भव जाती है। इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं।

नाधोधो गतिवैचित्र्यं विरुद्धं प्राणिनामिह । ताद्यक् पापस्य वैवित्र्यातित्रमित्तस्य तत्त्वतः ॥ १५ ॥

इन भूमियों में नीचे नीचे प्राणियों भी गतिभी विचित्रता विरुद्ध नहीं है। क्यों कि वास्तविक रूपसे उस विचित्र गतिके निमित्त हो रहे तिस जातिके पापकी विचित्रता पायी जा रही है। अर्थात् मर जानेपर संसारी जीवकी गति लोकमें सर्वत्र अप्रतीचात है। मात्र तैजस कार्माण शरीरोंको धार रहा जीव कहीं से कहीं भी जाकर जन्म ले सकता है। भूमि, पर्वत, स्मुद्ध, कोई उसे रोक नहीं सकते हैं।

मित्रं हिताबद्ग्रभफलं कर्मे पापं तस्य मकर्षतारतम्यं तत्फलस्य मकर्षतारतम्यादिति माणिनां रत्नमभादिनरकभूमिसग्रुद्भूतिनिमित्तभूतस्य पापविश्वेषस्य वैचित्र्यात्तद्गतिर्वेचित्र्यं न विरुध्यते तिर्यगादिगतिर्वेचित्र्यवत् । यत एवं—

अशुभ फलेंको देनेकला पापकर्म तो जगत्में प्रसिद्ध ही है, उस पापके फलकी प्रकर्षताका तारतम्य देखा जाता है। इस कारण उस पापके प्रकर्षका तारतम्य मी सिद्ध है। अर्थात्—दिद्री, दुःखी, पीडाक्रान्त, रोगी, जीवोंमें अनेक जातिक पाप फलेंकी अतिशय दृद्धियां देखी जाती हैं। किसीको अल्प रोग है। अन्यको विशेष वेदनावाल रोग है। तृतीयको असाध्य रोग है। अथवा कोई अल्पधनी है, दूसरा दिद्ध, तीसरेको भरपेट मोजन भी नहीं मिलता है, चौथा उच्लिण्ट मांगकर भी उदरज्वालाको शांत नहीं कर सकता है, यों पापके फलोंकी प्रकर्षता बढती बढती देखी जा रही है। इसी प्रकार नरकगामी प्राणियोंके राजप्रमा, शर्कराप्रमा, आदि नरक भूमियोंमें ठीक उत्पन्न करा देनेके निमित्त हो चुके विशेषपापकी विचित्रतासे उन उन पृथ्वियोंमें नीचे नीचे गमन कर जानेकी विवित्रताहा होई विशेष नहीं आता है जैसे कि तिर्थच आदि गतियों ही विचित्रताका अविरोध प्रसिद्ध

है। अर्थात्—कोई जीव मरकर एकेन्द्रिय दृक्ष हो जाता है। अन्य जीव गेंडुआ, मक्खी, गधा, छदीआ घोडा, आदि तियंचोंमें जन्म छे छेता है। कतिपय जीव धनिकोंके हायी, घोडे वछध होकर उपजते हैं। यह सब कर्मोंकी विचित्रता अनुसार यहां वहां गमन करना, जन्म छेना सिद्ध हो जाता है, जिस कारणेंसे इस प्रकारका सिद्धान्त ज्यवस्थित है। इसका विधेय दछ अप्रिमकारिकामें देखो।

ततः सप्तेति संख्यानं भूमीनां न विरुध्यते । संख्यांतरं च संक्षेपविस्तरादिवशान्मतं ॥ १६ ॥

तिस कारणसे भूमियोंकी सात यह नियत संख्या करना विरुद्ध नहीं पड़ता है। यदि चाहे तो संक्षेप, विस्तार, मध्यसंक्षेप, मध्यविस्तार, अतिविस्तार आदिकी विवक्षाके वशसे भूमिकी अन्य संख्यायें भी मानी जा सकती हैं। अनेकान्तवाद अनुसार व्यर्थका आग्रह करना हमको अभीष्ट नहीं है। वे सब हमको स्वीकृत हैं।

न हि संक्षेपादेकाधोभूमिरिति विरुध्यते विस्तरतो वा सैकर्वित्रातिभेदा सप्तानां मत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पात् ।

सात भूमियोंको नहीं मानकर संक्षेपसे एक ही अधोभूमि मान छी जाय यह कोई विरोध करने योग्य नहीं है, अधवा सात भूमियोंमेंसे प्रत्येकके जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट, भेद कर देनेसे वह अधोभूमि विस्तारसे इनकीस भेदवाछी कह दी जाय, इस मन्तन्यका भी हम विरोध नहीं ठानते हैं। पटछोंकी अपेक्षा उनंचास ४९ भेद कर दिये जांय, उसको भी हम माननेके छिये संनद्ध हैं।

तद्गतनरकसंख्यात्रिशेषपद्गतनार्थमाइ ।

अब उन भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नरक स्थानोंकी संख्या विशेषका प्रदर्शन करानेके लिये श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशत-सहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

उन भूमियोंमें सर्वत्र नारकी नहीं रहते हैं, किन्तु उन रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें यथात्रमसे तीस काख, पद्मीस लाख, पद्मह लाख, दश लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख और केवल पांच ही यों चौराशी लाख नरकविल बने हुये हैं, जो कि वातवलयान्त या अलोकाकाशको छू रहीं लम्बी चौडी भूमियोंके त्रसनाली भागमें ही कचित् स्थित हैं।

त्रिशम पंचविश्वतिश्च पंचदश च दश च त्रयश्च पंचोनैकं चेति दृंद्वः, नरकाणां शतसह-माणि नरकञ्चतसहस्राणि च तानीति स्वपदार्था द्यत्तिः, तास्थिति रक्षप्रभादिभूमिपरामशः, यथाक्रमवचनं यथासंख्याभिसंबंधार्थ। तेन रत्नप्रभायां त्रिश्चरकञ्चतसहस्राणि, शर्कराप्रभायां पंचविश्वतिः, वाङ्काप्रभायां पंचदश, पंकप्रभायां दश, धूपप्रभायां त्रीणि, तपःप्रभायां पंचो-नैकं नरकञ्चतसहस्रं, महातमःप्रभायां पंचनरकाणि भवंतीति विश्वायते। कुतः पुनिस्त्रञ्जक्षादि-संख्या रत्नप्रभादिषु सिद्धेत्याह।

तीस और पचीस और पन्द्रह और दश और तीन और पांच कम एक इस प्रकार विमहमें बहुतसे चकारोंको देकर तीस आदि पदोंका परस्पर सम्बन्ध करते हुथे इन्द्रसमास करना चाहिये। पुनः "नरकोंके लाख " यों पष्ठी तत्पुरुष समास कर त्रिशत् आदिक जो वे नरक लक्ष है, इस प्रकार समासघटित निज पदोंके अर्थकी प्रधानताको लिये हुये कर्मधारय समास कर लेना चाहिये। "ताखु" इस तत् शद्ध करके रत्नप्रभा आदि भूमियोंका परामर्श किया जाता है। सूत्रमें यधाकम शद्धका बचन तो रत्नप्रभा आदिके साथ तीस लाख आदिका यथा संख्य व्यवस्था अनुमार सम्बन्ध करनेके लिये है। तिस यथाकम शद्धकी सामध्य करके रत्नप्रभामें तीस लाख शर्कराप्रभामें पचीस लाख, वालुकाप्रभामें पन्द्रहलाख नरक, पंकप्रभामें दशलाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमः प्रभामें पांच कम एक लाख, और सातवीं महातमः प्रभामें केवल पाच है। नरक हैं यह समझ लिया जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि किस युक्तिसे फिर रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें तीस लाख आदि नरकोंकी संख्या सिद्ध की गयी है श्रिकाओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्थामी वार्तिक हारा समाधान कहने हैं।

त्रिंशस्थादिसंख्या च नारकाणां सुसूत्रिता। रत्नप्रभादिषुक्तासु प्राण्यदृष्टविशेषतः॥१॥

श्री उमास्वामी महाराजने कही जा चुकी रत्नप्रमा आदि पृथ्वियोंमें नरकोकी तीस लाख, पश्चीस लाख, आदि संस्था बहुत अच्छी सूत्र द्वारा समझा दी है, जो कि नारक प्राणियोके तिस प्रकार पूर्व जन्म उपार्जित विशेष अदृष्टसे हो रही नियत है।

ताहशाः प्राणिनां तिश्ववासिनामदृष्टविशेषाः पूर्वोपात्ताः संभाव्यंते यतस्तासु त्रिंशल्ल-क्षादिसंख्या नरकाणां रत्नप्रभादिसंख्या च सिध्यतीति शोभनं सूत्रिता सा ।

उन नरकोंमें निवास करनेवा श्रे प्राणियों के पूर्व जन्ममें उपार्जित और तिम प्रकारकी जातिको धार रहे ईषद् पुण्यमिश्रित पापविशेष सम्भावित हो रहे हैं जिनसे कि उन भूमियों में नरकों भी तीस काख आदि संख्यां ये और रत्नप्रभा आदि भूमियोंकी सात संख्यायें सिद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराजने सुन्दरतापूर्वक सूत्रमें उस संख्याको दर्शा दिया है। भावार्थ — सूर्य, चन्द्रमा, आदि अकृत्रिम पदार्थ अनादिसे निर्मित हैं तो भी जहां सूर्य चन्द्रमाका प्रकाश हो रहा है, ऐसे स्थानोंमें जीवोंका जन्म लेना पुण्य, पापसे, सम्बन्ध रखता है। तीर्थकर महाराजके पुण्य अनुसार पहिलेसे ही सुन्दर स्थानोंका निर्माण हो जाता है, तथा पापी जीवोंके निवान स्थान अतीव घृणास्पद बन चुके रहते हैं, यद्यपि ये सात भूमियां और चौरासी लाख विले अनादि अनन्त अकृत्रिम हैं। फिर भी अनादि अनन्त कालीन अनन्तानन्त नारिक्षोंके समुदित पुण्य, पाप, अनुसार स्कुट या बिचिपचे स्थानोंमें जन्म लेना अदृष्ट अनुसार समझा गया है, पुण्य और पापमें बडी विलक्षण शक्तियां भरी हुई हैं।

इति सूत्रद्वयेनाधोलोकावासविनिश्रयः। श्रेयान् सर्वविदायातस्याम्नायस्य विलोपतः॥ २॥

इस प्रकार '' रत्न, शर्करा '' प्रमृति और '' तासु त्रिशत् '' आदि इन दोनों सूत्रीं करके सूत्रकारने सर्वज्ञकी घारासे चर्ला आ रही आन्नायको अिच्छेद हो जानेसे अधोलोकर्ने अकृत्रिम बन रहे निवास स्थानोंका विशेष रूपसे श्रेष्ठ निर्णय कर दिया है, अथवा यों अनुमान बना लो कि अधोलोकके निवास स्थानोंका विशेष रूपसे निश्चय कर लेना (पक्ष) श्रेष्ठ है (साध्य) क्योंकि लोक, अलोकको प्रत्यक्ष देखनेवाले सर्वज्ञकी चली आ रही आग्नायका अभीतक विच्छेद नहीं हो पाया है।

न हि सर्वविदायातत्वमेतदाम्नायस्यासिद्धं बाधकाभावात् स्वर्गाद्याम्नायवत्, प्राक्-चितितं चागमस्य प्रामाण्यमिति नेह प्रतन्यते ।

गुरुपन्परासे चले आ रहे इम श्री उमास्त्रामी महाराजके समीचीन उपदेशको सर्वज्ञ धारासे चला आयापन असिद्ध नहीं है (प्रतिज्ञा) बायक प्रमाणों का अभाव होनेसे (हेतु) स्वर्ग भोगभूमि, मोक्ष, आदिके सम्प्रदाय समान (अन्वयदद्यान्त) इस अनुमानसे इस सूत्रके अर्थकी सर्वज्ञ धारासे प्राप्ति होना सध जाता है। आगमकी प्रमाणताका हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुत अच्छा विचार कर चुके हैं, इस कारण यहां संक्षित व्याख्यानोंमें उसका अधिक विस्तार बढाया नहीं जाता है। थोडे शद्बोंद्वारा अधिक प्रमेयकी प्रतिपत्ति कर छेनेकी टेवकी बढाओ।

कोडशलेश्यादयस्तत्र प्राणिनो वसंतीत्याह ।

उन नरकोंमें किस जातिकी लेक्याबाले या किस ढंगके परिणाम आदिको धारनेवाले प्राणी निवास करते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

नारका नित्याश्चभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ 🌂

नरकोंमें निवास करनेवाले जीव नित्य ही अत्यन्त अशुभ लेख्यावाले बने रहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, इन लेख्याओंके निकृष्ट अंश उन जीवोंके पाये जाते हैं। नारकी जीवोंके क्षेत्र विशेषकी अपक्षा हुये अत्यन्त अशुभ परिणाम हैं, जो कि दिन, रात, अंतरंग, बहिरंग, अत्यन्त दुःखोंके कारण बन रहे हैं। नारक जीवोंके शरीर अशुभनामकर्मके उदयसे उपने विकृत पृणित आकृतिवाले अत्यन्त अशुभ हैं। अन्तरंग, बहिरंग कारणोंसे हुई नारिकयोंकी वेदना अतीव अशुभ है, तथा नारिकयोंके भले ही अच्छी विकिया बनानेकी इच्छा हो किन्तु उनके तीव पापके फल अनुसार अशुभ शरीर विकृतियां बन बैठती है, जिससे कि स्व और परको अतीव दुःख उपजाया जा सके, नारिकयोंके ये भाव नीचे नीचे अधिक अशुभ बढते हुये समझ लेने चाहिये।

लेक्यादिशब्दा उक्तार्थाः । तिर्यग्वयपेक्षयातिश्वयनिर्देशः पूर्वोपेक्षा वाधागतानां । नित्य-प्रहणाल्लेक्याद्यनिवृत्तिप्रसंग इति चेन्न, आभीक्ष्ण्यवचनत्वानित्यश्रद्धस्य नित्यप्रहसितवत् ।

होता है। यहा नारकी जीवोंकी अशुमतर हेरया आदिका तिर्यगातिमें होनेवाले अशुम हेरया आदिकी अपेक्षा करके अतिशयरूप कथन किया गया है। अथवा पिहेली पिहेली भूमियोंमें निवास करनेवाले नारिकयोंकी अपेक्षा उनसे नीचे, नीचे भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नारिकयोंकी हेरया आदिक अतिशयको लिये हुये अशुम है। यदि कोई यहां यों कहें कि नारिकयोंके हेरया आदिक जब सर्वदा अति अशुम हो बने रहते हैं, तब तो उनकी हेरया आदिकी कभी निवृत्ति या परावृत्ति नहीं हो सक्तनेका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। एक ही हेरया बनी रहेगी। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यहां नित्यका अर्थ आकाशके समान अविचलमात्र बना रहना नहीं है, किन्तु यहां नित्य शहका अर्थ अभीक्ष्ण इष्ट किया गया है। जैसे कि "नित्यः प्रहासितो देवदत्तः" देवदत्त नित्य हा हसता रहता है, यहां नित्यका अर्थ बहुत कालतक ही समझा गया है। खाते, पीते, सोते, पढते उसका हसना छूटे ही नहीं यह अर्थ नहीं है। अभीक्ष्णका अर्थ प्रायः, बहुत या बहुमाग अथवा पुनः पुनः है।

के पुनरेवं विशेष्यमाणा नारकाणामित्याह ।

महाराज फिर यह बताओं कि इस प्रकार निशेषित हो रहे ने जीन भला कौनसे हैं ! जिनकी अपेक्षा नारिकयों की छेस्या, परिणाम, आदिक अधिक अशुभ कहे गये हैं । ऐसी जिक्कासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अप्रिमवार्त्तिक द्वारा समाधान नचन कहते हैं ।

तिर्यंचोऽशुभ्रेखाद्यास्तेभ्योप्यतिशयेन ये। प्राणिनोऽशुभ्रेख्याद्याः केविते तत्र नारकाः॥ १॥ जगत्में अशुभ छेश्या, अशुभ परिणाम, अशुभ देह, आदिको धारनेवाछ जीव तिर्येच हैं, उन तिर्येचोंसे भी अतिशय करके अशुभ छेश्या आदिको धारनेवाछ जो कोई भी प्राणी हैं, उन संसारी जीवोंमें वे प्राणी नारकी समझे जाते हैं। इस ढंगसे श्री विधानन्द स्वामीने श्री उमास्वामी भग-वान्के सूत्रको छक्ष्य लक्षण भाव या हेतु साध्यभावके अनुसार घटिल कर दिया है।

तिर्यचस्तावद्युभक्षेत्रयाः केचित्मसिद्धास्ततोप्यतिश्वयेनाशुभक्षेत्रयाः माणिनी नारकाः संभाव्यंते अशुभतरलेक्याः, मथमायां भूमौ एवमशुभतरपरिणामादयोपीति मसिद्धा एव मति-पादितविशेषाधारा नारकाः, ततोप्यतिश्वयेनाशुभक्षेत्रयादयो द्वितीयायां, वृतीयायां, ततोपि चतुर्थ्यां, ततोपि पंचम्यां, ततोपि षष्ट्यां, ततोपि सप्तम्यामिति ।

गिडार, मकडी, चिरईया, कीआ, सांप, मेडिया, बिद्धी, उल्द्र आदि किन्हीं किन्हीं तिर्येचोंके तो अग्रुम छेस्या हो रही प्रसिद्ध ही है। उनसे भी आतिशय करके अग्रुम छेस्यावाछ नारकी प्राणी संभावित हो रहे है। अतः पहछी पृथ्वीमें नारिकयोंको अग्रुम प्रसिद्ध ही होरहे हैं। उनकी अपेक्षा अनेक तिर्येचोंके परिणाम, शरीर, वेदना, आदि भी अग्रुम प्रसिद्ध ही होरहे हैं। उनकी अपेक्षा अत्यधिक अग्रुम परिणाम आदिको धारनेवाछ पहिछी भूमिके नारकी जीव कहें जा चुके विशेषोंके आधार होरहे प्रसिद्ध हो जाते है। उन पहिछी पृथिवीक्षि नारिकयोंसे भी अतिशय करके अग्रुम छेस्या, परिणाम, आदिको धारनेवाछे जीव दूसरी पृथिवीमें हैं, उन दूसरीवाछोंसे भी तीसरीमें, उस तीसरीसे भी चौथीमें, उस चौथीमें भी पांचवीमें, उस पांचवीसे भी छठी भूमिमें और उस छठीसे भी सातवा भूमिमें नारिकयोंके अग्रुम छेस्या, परिणाम आदिक अतिशय करके बढते जाते हैं। इस प्रकार धनांगुछके दितीय वर्गमूछसे गुणित जगच्छेणी प्रमाण संपूर्ण नारिकयोंके छेस्या, परिणाम आदिक नीचे नीचे मूमियोंमें अधिक अधिक निकृष्ट होते चछे गये हैं।

कथं पुनरेतदशुभत्वतारतम्यं सिद्धमित्याइ।

यह लेक्या आदिकोंके अञ्चभपनका उत्तरोत्तर तरतम रूपसे बढना फिर किस प्रमाणसे सिद्ध है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

संक्लेशतारतम्येनाशुभतातारतम्यता । सिष्येदशुभलेश्यादितारतम्यमशेषतः ॥ २ ॥

नीचे नीचे भूमियोंमें नारकी जीवोंके संक्लेशकी तरतमतासे छेश्या आदिकोंके कारण अञ्चभपन का तरतमपना सिद्ध होजाता है, और उसी तरतमतासे अञ्चभ छेश्या आदिकोंका तरसमपना सम्पूर्ण रूपसे सब जावेगा।

संब्छेशो जीवस्याविद्युद्धिपरिणामो मिथ्यादर्शनादिस्तस्य तारतम्यादशुभत्वतारतम्यम-श्रेषतीप छेज्यादीनां सिध्धेदिति न तदहेतुकं यतोतिष्रसज्येत ।

जीवके विशुद्ध नहीं हुये मिध्यादर्शन, क्रोध, असातवेदन, आदि अशुद्ध परिणामोंको संक्रेश माना गया है। उस संक्रेशके तारतम्यसे सम्पूर्ण रूपसे भी छेश्या, परिणाम, आदिकोंके अशुभपनका तारतम्य सिद्ध होजावेगा। इस कारण वह नीचे नीचे छेश्या आदिकोंका अशुभपना स्वकीयकारक हेतु- ऑसे रहित नहीं है, जिसे कि नारिक्योंसे आतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ मनुष्य या देवोंमें भी अशुभतर छेश्या आदिके पाये जानेका अतिप्रसंग हो जाता। अर्थात्—नारिक्योंके समान अन्य जीवोंमें कारण नहीं होनेसे अशुभतर छेश्या आदिक विवर्त नहीं पाये जाते हैं।

नतु चैकांति कदुःखयोगिना नारकाः सुखदुःखयोगिनां तिर्यङ्मतुष्यवचनात्, ऐकांतिक-त्ररीरसुखयोगिनां देवत्वाभिधानात् । तत्र किसुदीरितदुःखास्ते नारका इत्याह ।

यहां किसी शिष्यकी समीचीन शंका है कि नारकी प्राणियोंके तो एकातरूपसे सर्वथा दुःखों-का ही योग छग रहा है और सामान्य रूपसे तिर्थच या मनुष्योंमें न्यून या अधिक रूपसे सुख और दुःखका सम्बन्ध होना कहा गया है तथा एकात रूपसे शारीरिक सुखका योग धारनेवाले प्राणियोंको देवपना कहा गया है । अर्थात्—एकांतरूपसे दुःखी नारकी जीव हैं और एकात रूपसे शारीरिक सुखवाले देव हैं । अर्थात्—मनुष्य और तिर्थच तो कदााचित् सुखी और कदाचित् दुःखी समझे गये हैं । दिद्र पुरुषोंको त्योहारके दिन कुछ अच्छा भोजन भिल जानेसे आपेक्षिक उतना ही सुख मिल जाता है जितना कि धनिकोंको महीनोंतक षद्रस प्रित भोजन करनेसे प्राप्त होता है । पटरानी या सेठानीको रजजबित सूवर्ण भूषणोंसे जितना आनन्द भिलता है उससे कहीं अधिक कौडी, गोंगची, पीतल, कांच, आदिके बने हुये आभूषणोंको पद्मनेवाली भीलिनिको आभिमानिक सुख प्राप्त होजाता है । अधिक परित्रम या क्षेत्र उठानेवाले पद्मपश्चियोंमें भी कुछ आपेक्षिक सुख होरहा है, जीवको अनु-कुछ होरहे तिर्थच शरीरमें आत्माको ठेते रहनेवाली तिर्थगायुः कर्मका पुण्यप्रकृतियोंमें पाठ है । यहां उस नारकियोंके विषयमें हमको यह पूंछना है कि क्या वे नारकी उदीरणाको प्राप्त हुये दुःखके भोगनेवाले भी हैं ? ऐसी आशंका होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज समाधानकारक अभिम सूत्रको कहते हैं।

परस्परोदीतिदुःखाः ॥ ४ ॥

भवप्रत्यय अवधि करके नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दूरसे ही दुःखका कारण समझाकर शृगाछ आदिके समान अन्तरंगकारण असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा द्वारा परस्परमें अतितीव दुःखको उपजाते रहते हैं। अर्थात्—उन नारिक्योंमें परस्पर करके दुःख उपजाया जाता है।

नतु च कोपोत्पचौ सत्यां परस्परं दुःखोदीरण दृष्टं नान्यथा न च तेषां तदुत्पचौ कारणमस्ति न चाकारिणका सातिप्रसंगादिति चेक, निर्दयत्वाचेषां परस्परदर्शने सित कोपो-त्पचेः श्ववत् । सत्यंतरंगे कोधकर्पोदये बहिरंगे च परस्परदर्शने तेषां कोपोत्पचिनिहेतुका यतोतिप्रसंगः स्यादिति ।

कोई शिष्य शंका करता है कि तीव्र कोपकी उत्पत्ति होते संते, तीतरों, मैसों कुत्तों मुर्गी आदिके समान कातिपय जीवोंमें परस्पर दुःखकी उदीरणा (प्रवाहित होना) देखी गयी है। अन्यथा नहीं। यानी कोधकी उत्पत्ति हुये विना सञ्जन, छिरिया, आदिकोंके दुःख उफनता हुआ नहीं देखा गया है। जब कि उन नारकी जीवोंके उस कोधकी उत्पत्ति होनेमें कोई कारण ही नहीं है तो ऐसी दशामें कारणको निमित्त नहीं पाकर वह कोधकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि कारणोंके विना ही निष्कारण कोध उपज बैठेगा, तब तो अतिप्रसंगदोष हो जायगा। अर्थात् सञ्जन साधुक पुरुषोमें भी तीव कोच पाया जावेगा। अतः कोधके विना नारिकयोंमें दुःखकी उदीरणा नहीं हो सकती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि निर्दय होनेसे कुत्तोंके समान उन नारिकयोंके परस्पर एक दूसरेको देखते सन्ते ही कोपकी उत्पत्ति हो जाती है। अन्तरंग कारण पोद्रलिक कर्मका उदय होनेपर और वहिरंगकारण परस्परका दर्शन होनेपर उन नारिकयोंके कोधकी, उत्पत्ति हो रही हेनुओंसे रहित नहीं है, जिससे कि साधुओंमें भी इसी प्रकार कोध उपजानेका, अतिप्रसंग होता। कोधको सकारण मान छेनेपर अतिज्यापि टल जाती है। जगत्के यावत् कार्य नियत कारणोंसे ही बनाये जाते हैं।

तथा तैर्नारकेर्दुःखं परस्परमुदीर्यते । रौद्रध्यानात्समुद्भूतेः कुद्धैर्मषादिभिर्यथा ॥ १ ॥ निमित्तद्देतवस्त्वेतेऽन्यान्यं दुःखसमुद्भवे । बहिरंगास्तथाभूते सति स्वकृतकर्मणि ॥ २ ॥

तथा खोटे रौद्रध्यानसे नरकमें उत्पत्ति होनेके कारण उन क्रोधी नारिकयों करके परस्परमें दुःख उभार दिया जाता है, जैसे कि उत्साहसहित छ्छकारनेसे कुपित हो रहे मैदा, मुर्गा, दुष्टजन, आदिकों करके परस्परमें दुःख उभार छिया जाता है। अतः तिस प्रकार तीत्र दुःखके अन्तरंग जारण निज उपार्जित कर्मों के होते संते परस्पर दुःखके उपजानेमें नारकी जीव बहिरंग निमित्तकारण हो जाते हैं।

ततो नेदं परस्परोदीरितदुःखत्वं नारकाणायसंभाव्यं युक्तिमच्चात्।

तिस कारण युक्तियों का सद्भाव हो जानेसे यह नारकी जीवों के परस्परमें उदीरित हुये दुःखसे. सहितपना असम्भव नहीं है।

अन्योदीरितदुःखाश्च ते इत्याइ।

तथा अन्य कारणोंसे भी उदीरणा प्राप्त हुये दुःखों को घारनेवाले वे नार की जीव हैं, इस सिदान्तको प्रकट करनेके लिये श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

चतुर्थी भूमिसे पिहेल यानी तीसरी तक संक्षेशको प्राप्त हो रहे कतिपय असुरकुमार जातिके दैवों करके उदीरणाको प्राप्त किये जा रहे दुःखको भ्रेळनेवाले भी नारकी है।

पूर्वभवसंक्षेत्रपरिणामोपात्ताशुभकर्मोदयात् सततं क्षिष्टाः संक्षिष्टा असुरनामकर्मोदयाद-सुराः संक्षिष्टाश्च तेऽसुराश्चेति । संक्षिष्टविशेषणमन्यासुरनिवृत्त्यर्थे, असुराणां गतिविषयनियम-भदर्श्वनार्थे माक्वतुर्थ्या इति वचनं । आक्षो ब्रहणं स्रव्यर्थिमिति चेन्न, संदेदात् ।

पूर्व जन्ममें भावना किये गये अत्यन्त संक्रेश परिणाम करके उपार्जित अश्म कर्मका उदय हो जानेसे नित्य ही क्रेश युक्त हो रहे जीव संक्रिप्ट कहे जाते हैं। देव गतिकी उत्तरोत्तर भेदरूप असर **नामकर्म प्रकृतिके उदयसे हुये जीव असुर हैं । संक्रि**ष्ट हो रहे जो वे असुर देव है इस प्रकार कर्मधारय पति करके " संक्रिष्टासुरा: " शद्भको बना छेना चाहिये । सम्पूर्ण असुरक्रमार देव तो नारिकयोंको दाल नहीं उपजाते हैं। किन्तु अम्बावरीष आदि कोई कोई असुरकुमार ही कलहिंपय हो रहे उन नारिकयोंको भिडाते रहते हैं। इस कारण अन्य भद्र असुरोंकी निवृत्तिके छिये मूत्रमें असुर शहका विशेषण " संक्रिष्ट " पद दे रक्खा है । दुःख वेदनाशी उदीरणाके कारण बन रहे संक्रिष्ट असुरोंकी गति तीन पृथ्वियोंमें ही है, इससे नीचे नहीं है। इस गति विषयक नियमका प्रदर्शन करानेके छिये सम्रमें चतुर्यीते पहिले पहिले यह बचन कहा है। कोई प्रश्न करता है कि प्राक् शद्धकी अपेक्षा आकृता प्रहण लाघवके लिये उचित है " प्राक्चतुर्ध्याः " की अपेक्षा आचतुर्ध्याः कहनेमें परि-जामकृत लावन है। सूत्रकारको एक एक मात्राके लावनपर लक्ष्य रखना चाहिये। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तुष्छता प्रदर्शक ठाघव तो नहीं दिख्छाना चाहिये, क्योंकि संदेह हो जायगा । आड् निपातका अर्थ तदरित मर्यादा और तत्सिहत अभिनिधि दोनों होते हैं । ऐसी दशामें संशय हो सकता है कि चतुर्धी भूमि भी छी गयी है ! अथवा क्या उससे प्रथम तीसरी भूमितक ही असुर जाते हैं ! । ऐसी दशामें कोई चतुर्थी भूमिको भी के छेते। अतः संदेहकी निवृत्तिके छिये स्पष्ट रूपसे प्राकृ शहका कथन करमा सूत्रकारको समुचित पडता है।

चश्रद्धः पूर्वहेतुसमुच्यार्थः ! अनंतरत्वादुदीरितप्रहणस्यहानर्थनयमिति चेका, तस्य वृत्ती परार्थत्वात् । वानयवचनमिति चेका, उदीरणहेतुमकारप्रदर्शनार्थत्वात् पुनरुदीरितप्रहणस्य । तेन कृंभीपाकाद्यदीरितदुःखाश्रेति प्रतिपादितं भवति । कथं पुनः—

इस सूत्रमें पडा हुआ च शद्ध तो पूर्वमें कहे जा चुके हेतुओंका एक श्रीकरण करनेके लिये है। अर्थात्—तीसरी भूमितक अञ्चरकुमार भी नारिकयोंको दुःख उपजाते हैं, और पूर्वसूत्र अनुसार परस्परमें भी उनको दुःखकी उदीरणा की जालकी है। अन्यथा यानी च शद्धका कथन नहीं करनेपर पहिली तीन भूमियोंमें पूर्वोक्त हेतुओंके अभावका प्रसंग आवेगा जो कि इष्ट नहीं है। यहां किसीका आक्षेप है कि पूर्व सूत्रमेंसे अन्यवहित होनेके कारण उदीरित शहूकी अनुवृत्ति होय ही जायगी।पुनः इस सन्नमें उदीरित शद्भका प्रहण करना व्यर्थ है । प्रन्थ कार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि वह पूर्व सूत्रका उदीरित शहू तो समास वृत्तिमें दूसरेके लिये विशेषण होकर गीण हो चुका है। अर्थात् —'' पदार्थः पदार्थेनान्वेति नन्वेकदेशेन '' पदार्थका पूरे पदार्थके साथ अन्वय होता है, एक देशके साथ नहीं । देखो. मृत्यको यदि जल लानेके लिये कहा जाय या भोजन बनना देखनेको कहा जाय तो उस मृत्यका केवल हाथ या आखें ही नहीं चले जाते हैं, किन्तु अंगोपांगसहित पूरा शरीर जाता है, अथवा कर्मचोर भृत्यका कोई भी अवयव नहीं जाता है। इसी प्रकार समासमें गौण हो चुके केवल उदीरित शद्ध भी अनुवृत्ति नहीं हो सकती है । यदि आक्षेपकार पनः यों कहे कि तब तो और मी अच्छा हुआ। समसितपद नहीं कहकर सूत्र कारको यों वाक्य ही कह देना चाहिये कि " परस्प-रेण उर्दारितदुःखाः, संक्लिष्टासुरैश्च, प्राक् चतुर्ध्याः '' अर्थात्—नारकी परस्पर करके उदीरित हुये दु:खवाले हैं और चौथी पृथ्वीसे पाहिले संक्लिष्ट असरों करके उदीरित हुये दु:खको भी भूगत रहे हैं. आचार्य कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं। क्योंकि ऐसी दशामें उदीरित शद्ध अवश्य ही व्यर्थ पड़ेगा। किन्तु आचार्यके व्यर्थ होरहे शद्धमें भी अटूट प्रमेय धन भरा हुआ है। अतः पुनः उदीरित शद्धका प्रहण करना तो उदीरणाके कारण होरहे इतर प्रकारोंका प्रदर्शन करनेके लिये है. तिल करके यह भी कह दिया गया समझा जाता है कि कुम्मीपाक, लोहघनघात, आदि कारणोंसे भी नारिक्योंको दुःख की उदीरणा होरही है। नरकोंमे तप्त छोहेके स्तम्भोंसे चिपटना, तीखे तल्यार या छुरेसे काटा जाना, तपे तैलमें डूबो देना, हाइयांमें पक्षा देना, लोहके मौगरोंसे पीटा जाना, कोल्हमें पिछना, तथा स्वयं नारिकयों द्वारा विक्रिया कर छिये गये रींछ, न्याघ्र, लिहारिया, बिल्ली, नौला, गृद्ध, उल्लू, कौआ, चील, आदि वैकियिक देहधारी प्राणियों करके खाया जाना, आदिक कारणोंसे भी भारी दुःख उपजाये जारहे हैं। अब कोई पूंछता है कि सूत्रकारका उक्त सिद्धान्त फिर किस युक्तिके आधारपर समझ लिया जाय ! इसका समाधान करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिकोंको कहते हैं।

> संक्लिष्टेरसुरेर्दुःखं नारकाणामुदीर्यते । मेषादीनां यथा तादक्ल्पेस्तिसृषु भूमिषु ॥ १ ॥ परासु गमनाभावात्तेषां तद्वासिदेहिनां । दुःखोत्पत्तो निमित्तत्वमसुराणां न विद्यते ॥ २ ॥

एवं सूत्रत्रयोत्रीतस्वभावा नारकांगिनः। स्वकर्मवरातः संति प्रमाणनयगोचराः॥ ३॥

उपरछी तीन भूमियों में नारिकयों को संक्रिष्ट असुरों करके दुःखकी उदीरणा कराई जाती है जैसे कि तिस जातिके संक्रेश स्वरूपवाले प्रतिमक्ष या मेढा आदिको छडानेवाले कछह थिय मनुष्यों करके मेढा, तीतर, बैल, आदिके दुःखोंकी उदीरणा करा दी जाती है। उन असुरकुमारोंका परली चौथी, पांचवीं, आदि भूमियोंमें गमन नहीं होता है। तिस कारण उन चौथी आदि भूमियोंमें निवास करनेवाले शरीरधारी नारिकयोंके दुःखकी उत्पत्तिमें उन असुरकुमारोंको निमित्तकारणपना विद्यमान नहीं है। इस प्रकार " नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामवेदनाविक्रियाः, परस्परोदीरितदुःखाः, संक्रिष्टासुरोदीरितदुखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः" इन तीन सूत्रों करके नारक प्राणियोंके परिणाम आगम-प्रमाणद्वारा भले प्रकार समझ लिये गये हैं। अपने पूर्व उपार्जित कर्मोकी अधीनतासे नारकी जीव तिस प्रकार अशुभ परिणाम या दुःखोंके भाजन बन रहे हैं। वे तिस प्रकारके नारकी जीव तो प्रमाण और नयके विषय हो रहे जान लिये जाते हैं। अतः आगमके समान युक्तियोंका भी वहां अवकाश है।

प्रमाणं परमागमः स्याद्वादस्तद्विषयास्तावद्यथोश्रीता नारका जीवाः साकल्येन तेषां ततः प्रतिपत्तेः नयविषयाश्च विप्रतिपत्तिसमाक्रांतैकदेशप्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरिति प्रमाणनयैर-धिगमो नानानारकाणामृह्यः ।

सर्वोत्कृष्ट आगमप्रमाण स्याद्वाद सिद्धान्त है, उसके विषय हो रहे वे पूर्वोक्त कथन अनुसार नारकी जीव ज्ञानल्क्षणप्रत्यासित द्वारा जान लिये गये ही हैं। क्योंकि उस आगमप्रमाणसे उन नारकियोंकी सम्पूर्णरूपसे प्रतिपत्ति हो जाती है तथा नय ज्ञानके भी विषय होरहे नारकी जीव है। क्योंकि विवादस्थल्में भले प्रकार प्राप्त हुये विषयकी एक देशसे प्रतिपत्ति होनेकी अन्यथा यानी नय-प्रवृत्तिके विना असिद्धि है, इस प्रकार अनेक नारकियोंका प्रमाण और नय करके अधिगम करना, विचार लेना चाहिये। अर्थात्—वस्तुकी साकल्येन प्रतिपत्ति करानेवाला प्रमाणज्ञान है और वस्तुके एक देशकी प्रतिपत्ति करानेवाला नय है, इनके द्वारा नारकियोंकी सम्पूर्ण व्यवस्था जानी जाती है। नरक भूमियोंके प्रस्तार, इन्द्रकबिल, श्रेणी बिल, पुष्पप्रकीर्णक बिल, उष्णनरक, शीतनरक, संख्यात या असंख्यात योजनवाले बिले, शारीरकी उच्चाई, मोजन, पान, आदि व्यवस्थाओंको स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा निर्णय कर लेना चाहिये। संक्षेप कथनका लक्ष्य होजाने पर विस्तृत कहनेकी रुचि नहीं होती है। "प्रमाणनयैरिधिगमः" यह सूत्र सर्वत्र अन्यित हो रहा है। तदनुसार अल्प रुचिवाले या मध्यम रुचिवाले अथवा विस्तृत विचारवाले श्रोताओंको बैरो वैसे साधनोंद्वारा प्रमेयोंकी प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये।

अथ रत्नप्रभादिनरकेषु त्रिञ्चल्लक्षादिसंख्येषु यथाक्रमं स्थितिविश्वेषप्रतिपत्त्यर्थमाह।

इसके अनन्तर अब श्री उभास्त्रामी महाराज तीस छाख, पचीस छाख, आदि संख्यावाछे रल-प्रभा आदि भूमियोंमें स्थित हो रहे नरकोंमें यथाक्रमसे उपार्जित आयुष्य कर्म द्वारा हो रही स्थिति विशेषकी प्रतिपत्ति करानेके छिथे अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयश्चिशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

उन चोरासी लाख नरकोंमे निवास करनेवाले नारक प्राणियोंकी अनुक्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सबह सागर, बाईस सागर, तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है।

सागर उपमा येषां तानि सागरोपमाणि, सागरस्योपमात्वं द्रव्यभूयस्वात् । एकत्रिसप्त-दशसप्तदशद्वाविश्वतित्रयत्रिशत्सागरोपमाणि यस्या सा तथेत्येकादीनां कृतद्वन्द्वानां सागरो-पमविश्लेषणत्वं ।

अलौकिक मान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भेदोंसे चार प्रकारका है। तिनमें द्रव्यमानके संख्या-प्रमाण और उपमा प्रमाण दो भेद हैं । उपमा प्रमाणके आठ भेदोंमें सागर नामका भी प्रकार है, जिन मानों या आधुओंकी उपमा छवण समद है, वे सागरोपम हैं। अछौकिक मानोंमे सागरको उपमापना तो जल दन्यकी बहुलतासे दिया गया है। अद्धापल्यते दश कोटाकोटी गुणी बडी और सुन्यंगुलके अस-क्यातवें माग छोटी सागर नामक एक उपमा प्रमाणसे नापी गयी संख्याविशेष है। एक योजन छम्बे. चौडे, गहरे, गर्तको, जन्मसे सात दिन भीतरके भैढाके कर्तरीसे पुनः क्रिन नहीं हो। सके ऐसे बाळा-प्रोंसे भरकर पुनः सौ सौ वर्ष पीछे निकालते हुये जितना समय लगता है, वह व्यवहार पत्य समझा जाता है। व्यवहार पल्यसे असंख्यात गुणा उद्धारपत्य है, अद्धापत्य तो इससे भी असंख्यात गुण है। एक योजनवाले पल्यके समान दो लाख योजन चौडे और पाच लाख योजन व्यासवाले हजार योजन गहरे छवण समुद्रको वैसे ही रोमोंसे भरा जाय और छह केर्रोको धरनेवाछे जलके उछीचनेमें यदि पद्मीस समय छमें तो पूरे छवण समद्रको खाछी करनेमें कितने समय छमेंगे १ यों त्रैराशिक की जाय तब दश कोटी लब्ध आ जाता है। यह सागर परिमाणकी उपपत्ति है। जिस स्थितिका एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस, तेतीस, सागरोपम परिमाण है, वह स्थिति उस प्रकार '' एकत्रितसदशसप्तदा-विश्वतित्रयिक्षशत् सागरोपमा " कही जाती है। इस प्रकार एक और तीन और सात और दश और सत्रह और बाईस और तेतीस यों इन्द्र समास किये जा चुके एकत्रि आदि पदोंकी सागरोपमका विशेषण होना समझ छिया जाता है।

रत्नप्रभादिभिरानुपूर्व्येण संबंधा यथाकमानुष्ट्रकः । नरकप्रसंगस्तेष्विति वचनादिति चेक, रत्नप्रभाद्यपलक्षितानि दि नरकाणि त्रिंशच्छतसहस्रादिसंख्यानि तेष्वित्यनेन परामृश्यंते, साइचर्याद्वा ताच्छव्यात्सिद्धिः । ततो यथोक्तसंख्यनरकसाइचर्याद्रत्नप्रभादयो नरकशब्द-वाच्याः प्रतीयंते । यद्येवं रत्नप्रभादिष्वधिकरणभूतास्त्र नरकाणां स्थितिः प्रसक्तेति चेत्, सक्तानामिति वचनात् । परोत्कृष्टा न पुनिरिष्टा परशब्दस्यष्टवाचकस्येहाग्रहणात् ।

्दसरे सुत्रमें पडे हुये " यथात्रामम् " षदकी अमुवृत्ति कर छेनेसे एक आदिकोंका रत्नप्रभा आदिके साथ आनुपूर्व्य करके संबंध कर छेन। चाहिये। यदि यहां कोई यों आक्षेप करें कि सूत्रकी आदिमें '' तेषु '' ऐसा बचन है । इस कारण तत्पदद्वारा नरकोंका परामर्श किया जाकर नरकोंकी स्थितिको एक, तीन, सागर आदिके होनेका प्रसंग आवेगा । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि रत्नप्रभा आदिके आधेय होकर उपलक्षित हो रहे जो तीस लाख, पश्चीस लाख आदि संख्याबाळे नरक हैं, पूर्व परामरीक तेषु इस पदकरके उन नरकोंका ही परामरी किया जाता है। अथवा सहचरपनेसे भी उसी शब्दद्वारा कहाजानापन हो रहा है । सहारनपुरका साहचर्य होनेसे सहारनपुरकी स्टेशन हो भी सहारनपुर कह दिया जाता है, यहांके गन्तोंको भी सहारनपुर कह देते है । अतः रत्नप्रमा आदि मूमियोंको भी नरक राद्ध द्वारा कथन किये जानेकी सिद्धि हीजाती है । तिस कारण पूर्वमें यथायाग्य कही गयी संख्याको धारनेवाले नरकोंके साहचरीसे स्त्रप्रमा आदि भूमियां नरक शद्ध द्वारा कडी जारही प्रतीत होजाती हैं। जैसे कि वम्बईसे सहचरित होरहे प्रान्त देशको वम्बई कह देते हैं। पुनः किसीका आक्षेप उठता है कि इस प्रकार तत् राद्व वाच्य नरकोंसे यदि रक्षप्रभा आदि भूमियोंको पकडा जायगा तत्र तो अधि-करण होचुकी रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें आधेय होरहे नरकोंकी स्थिती एक, तीन, आदि साग-रोंकी प्रसंगप्राप्त हुयी। यह स्थिति नारकी जीवोंकी तो नहीं समझी गयी। यो कहनेपर तो प्रन्थकार कहते हैं कि भाई, इसीळियें तो सूत्रकारने " सत्त्वानां " यह पर प्रहण किया है। यह स्थिति उन नरकोंमें रहनेवाले प्राणियों की है, नरकों की नहीं। नरकाबिने तो अनादिसे अनन्त कान्तक जहां के तहां स्थित हो रहे हैं। पर। शद्वका अर्थ उत्कृष्ट है फिर इष्ट अर्थ नहीं। क्योंकि इष्ट अर्थको कहनेवाडे पर शद्वका यहां प्रहण नहीं किया गया है। अतः यह नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति यों समझ लेनी चाहिये।

कुतः सोत्कृष्टा स्थितिः सन्वानां प्रसिद्धेत्याह ।

कोई पूछता है कि नारक प्राणियोंकी वह उत्कृष्ट स्थिति भला किस प्रमाण या युक्तिसे प्रसिद्ध है ! बताओ, ऐसी ओरका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्त्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं।

> नरकेष्दितैकादिसागरोपमसम्मिता । श्वितरस्यत्र सत्त्वानां सद्भावाचादगावुषः ॥ १ ॥

संक्षेपादपरा त्वत्रे वक्ष्यमाणा तु मध्यमा । सामर्थ्यादुबहुधा प्रोक्ता निर्णेतव्या यथाक्रमं ॥ २ ॥

इन नरकोंमें नारक प्राणियोंकी स्थिति (पक्ष) कहे जा चुके अनुसार एक, तीन, आदि सागरोपमोंसे मले प्रकार नाप की जाती है (साध्य) जीवोंके तिस तिस प्रकारको आयुका सद्भाव हो जानेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा नारिक्योंकी आयु साध दी जाती है । नारिक्योंने पूर्वजन्ममें नरकायुःकर्मका इतना बड़ा भारी पुद्रक्षिण्ड बांध लिया है जिसका कि कमकमसे उदय आनेपर हजारों वर्ष या असंख्याते वर्षोमें भोग हो पाता है । अंजुलीका जल शीघ्र निकल जाता है, किन्तु बड़ी टंकीमें भरे हुये पानीको बूंद बूंद अनुसार निकलते हुये बहुत दिन लग जाते हैं । इस सूत्रमें नारिक्योंकी उत्कृष्ट स्थितिका निरूपण किया है । यदि यहां ही जधन्यस्थितिका वर्णन किया जाता तो प्रन्थका विस्तार हो जाता । अतः संक्षिप्तप्रन्थसे जघन्य स्थिति तो आगे चतुर्थ अध्यायमें कही जानेवाली है । जो कि "नारकाणां च द्वितीयादिषु, दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां" इन दो सूत्रों करके कह दी जायगी । उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थितिका कण्ठोक्त निरूपण कर देने मात्रसे विना कहे ही सामर्थ्यसे बहुत प्रकारको मध्यमा स्थिति अच्छी कह दी गयी समझ ली जाती है, जो कि सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार चले आ रहे आगम अनुसार निर्णय कर लेने योग्य हैं । नरकोंके उनंचास पटलोंमें भी आगम अनुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितियोंका निर्णय कर लेना चाहिये ।

परा स्थितिरस्ति प्राणिनां परमायुष्कत्वान्यथानुपपत्तेः । परमायुष्कत्वं पुनः केषांचित्त-देतुपरिणामविशेषात्स्वोपात्ताञ्चवन बाध्यते मनुष्यितिरश्चामायुःप्रक्षेप्रसिद्धेः । तत्र रत्नप्रभायां नरकेषु सत्त्वानां परास्थितिरेकसागरोपमप्रमिताः, शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमप्रमिताः, वालुका-प्रभायां सप्तसागरोपमप्रमिताः, पंकप्रभायां दश्चसागरोपमप्रमिताः, धूमप्रभायां सप्तदश्चसागरोपम-प्रमिताः, तमःप्रभायां द्वाविश्वतिसागरोपपप्रमिताः, महातमःप्रभायां त्रयस्त्रिश्वत्सागरोपम-प्रमिताः इति वचनसामध्यान्मध्यमा स्थितिरनेकथा यथागमं निर्णीयते । जधन्यायाः स्थित-स्त्वत्र संक्षेपाद्वस्यमाणत्वादित्यलं प्रपंचेन ।

किन्हीं विवादापन प्राणियोंकी स्थिति उत्कृष्ट है (प्रतिज्ञा) अन्यथा परम आयुका धारना बनता नहीं है। फिर किन्हीं किन्हीं जीवोंके परम आयुष्यका धारकपना तो उसके कारणभूत हो रहे निज उपार्जित परिणाम विशेषोंसे हो रहा बाधित नहीं है। क्योंकि कतिपय मनुष्य और तिर्वचोंके आयुष्यका प्रकृष हो रहा प्रसिद्ध ही है। अर्थात्—अपने अपने विशेष परिणामोंद्वारा अविक स्थिति वाछे आयुष्य कर्मका उपार्जन कर जीव उत्कृष्ट स्थितियोंको धार रहे प्रसिद्ध है। उन स्थितियों यह विवरण समझियेगा कि रत्नप्रभामें विन्यासको प्राप्त हो रहे नरकोंमें स्थित प्राणियोंकी एक सांगरोंपमको

धार रही उत्कृष्ट स्थिति है और शर्कराप्रभामें नारितयों की उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम प्रमाण है । वालुकाप्रभामें नारितयों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम परिमित है । पंकप्रभामें नारिकयों की उत्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम प्रमाणसे भरपूर है । धूमप्रमामें नारिकयों की उत्कृष्ट स्थिति सत्रह सागरोपम परिमाणवाली है । तमः प्रभामें नारिकयों की उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपमसे नाप दी गयी है और सात्रवां महातमः प्रभामें निवास कर रहे असंख्याते नारिकयों की उत्कृष्ट स्थिति उपमा प्रमाणद्वारा तेतीस सागरकी परिमित कर दी गयी है । इस प्रकार सूत्रकारने कण्ठोक्त उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन कर दिया है । विना कहे ही परिशेष वचनकी सामर्थ्यमें अनेक प्रकारकी मध्यमा स्थितिका आगमको अतिक्रमण नहीं कर निर्णय कर लिया जाता है । क्योंकि " तन्मध्यपतितस्तद प्रहणेन गृह्यते " इस नीति अनुसार उत्कृष्ट और जघन्यके बाँचकी मध्यमा स्थिति तो यो ही गम्यमान हो जाती है । इस प्रथमें संक्षेपसे कथन करनेका उत्त्य रखनेके कारण जघन्य स्थिति को स्वयं सूत्रकार चौथे अध्यायमे कहनेवाले हैं । अतः स्थितिका अधिक विस्तार पूर्वक कथन करनेसे पूरा पडो, बुद्धिमानोंके सन्मुख इंगित (इशारा) मात्र पर्यात है । अधिक बढाकर भी यदि लिख दिया जाय फिर भी तो उससे कहीं अधिक लिखे जानेकी आकांक्षायें वनां रहती हैं । " श्रेयसि कस्नुप्यति " ।

इह प्रपंचेन विचितनीयं शरीरिणोधोगतिभाजनस्य । स्वतत्त्वमाधारविशेषशिष्टं बुंधैः स्वसंवेगविरक्तिसिष्दुयै ॥२॥

उपेन्द्रवज्ञा छन्दः द्वारा श्री विद्यानन्द स्त्रामी तृतीय अध्यायके प्रथम आन्द्रिकको समाप्त करते हुँ य यहातक कहे जा चुके प्रकरणका उपसंहार करते हैं कि विद्वान् पुरुषों करके अपने संवेगभाव और वैराग्यभावोंकी सिद्धिके लिये इन छह सूत्रोंमें अधोगतिके पात्र हो रहे बैकियिक शारीरधारी नारक जीशोंका आधार विशेषरूपसे सिखा दिया गया निजतत्त्व तो विशेषरूप करके विचार लेने योग्य है, अथवा नारिकयोंका निकृष्ट आचार विशेषसे परिशेषमें भोगना पढ़ा उनका निजतत्त्व विचारने योग्य है, जिससे कि बुद्धिमान् जीवोंको संसारसे मीरुता और वैराग्यकी प्राप्ति हो जाय । भावार्य नारकी जीवोंका वर्णन करना मुनुक्षु जीबोंके संवेग और वैराग्यका वर्धक है । दशलक्षण-पर्वमें जिनवाणीकी पूजा करते समय तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय या सूत्रोंको अर्घ्य चढाया जाता है, इसका ताल्प्य यही है कि इन सूत्रोंके प्रमेयोंको अर्घ्य नहीं चढाते हैं । किन्तुं इनके ज्ञानकी हम पूजा करते हैं, जिसके कि संवेग और वैराग्य परिणाम बढें ।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे तृतीयाध्यायस्य पथममान्हिकं समाप्तं । यो शुभ भावनाओंको भावते हुये विवरण कर श्री विद्यानन्द स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके स्लोकवार्तिक अलंकाररूप व्याख्यानमें तृतीय अध्यायका पहिला प्रकरणोंका समुदाय खरूप आन्हिक यहांतक समाप्त कर दिया है।

चला नृलोके ज्योतिष्काः सर्वत्राष्ट्री स्थिरा भ्रुवः । दुःखार्ता नारका ध्याता संवेगात्यै भवन्तु नः ॥ १ ॥

अधोलोकका वर्णन कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अब मध्यलोक या तिरछे फैल रहे तिर्यक्लोकका वर्णन करते हुये द्वीप, समुद्रोंको समझाते हैं।

जम्बृद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

सात राज् लम्बे, एक राज् चौडे, और मेरुसमान एक लाख चालीस योजन ऊंचे मध्यकोकमें या एक राज् लम्बी चौडी और चौदह राज् ऊंचीमेंसे केवल मेरुसम ऊंची इतनी चौकोर त्रसनालीमें इक्षुवर, घृतवर, नन्दीश्वर, ऐसे शुमनामबाले असंख्याते जम्बूद्वीप, धातकी द्वीप, आदिक द्वीप और लघणसमुद्र, कालोदक समुद्र आदिक समुद्र स्वयम्भूरमणपर्यन्त तिरछे गोल रचित हो रहे हैं।

प्रतिविशिष्टजंबृष्टक्षासाधारणाधिकरणाज्जंबृद्वीपः, लवणोदकानुयोगाल्लवणादः । आदिशद्धः प्रत्येकमभिसंबध्यते तेन जंबृद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयः समुद्रा इति संप्रत्ययः। द्युभनामान इति वचनादश्वभनामत्विनरासः।

अञ्जिम, अत्यधिक सुन्दर, सपरिवार, जम्बुवृक्षका असाधारणरूपसे अधिकरण होनेसे यह मध्यवर्त्तीद्वीप जम्बूदीप कहा गया है। अर्थात्—उत्तरकुरु भोगभूमिमें सुदर्शन नामका पृथ्वीमय, जम्बूनुक्ष, अनादि ानिधन, रत्नमय, बना हुआ है, जो कि नृक्ष अन्य द्वीपींमें हो रही साधारण रचनासे असाधारणपनेको धार रहा है । इस जम्बृब्धके सहचारसे द्वीपका नाम जम्ब-द्वीप पड गया है। वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि शद्ध तो संख्याते ही हैं और ढाई सागरके समयों प्रमाण संख्यावाले दीप, समुद्र, असंख्याते हैं । ऐती दशामें उन द्वीपोंमे लाखों जम्बूदीप होंगे और लाखों ही लवणसमुद्र नामको धारनेवाले समुद्र होंगे । करोडों धातकी खण्ड द्वीपोंकी सम्भावना है । अत: इस मध्यवर्ती द्वीपकी जम्बद्वीप यह संज्ञा अनादिकालसे यो ही निमित्तान्तरानपेक्ष चली आ रही है। यहाँ उत्तर धीमानोंको संतोषकारक है। छत्रण समुद्रके जलका स्वाद नोंन मिले हुये जल सरीखा है। अतः लवणमिश्रितजल सारिखे जलका योग हो जानेसे पाहिले समुदका नाम लवणोद पड गया है। इन्द्र समासके अन्तमें पड़े हुये आदि शह्नका सम्पूर्ण पदोंमेंसे प्रत्ये ५पदके साथ सम्बन्ध कर छिया जाता है। तिस आदि राद्व करके जम्बूदीप आदिक दीप और छत्रणोद आदि अनेक समुद्र यह भंछ प्रकार निर्णय हो जाता है। सूत्रमें " शुभनामानः " ऐसा कथन करनेसे द्वीप समुदोंके अशुभनाम सहितपनका निराकरण हो जाता है। अधीत् — जम्बूद्वीप, लवणोद, धातुकीखण्ड, कालोद, पुष्करवर, पुष्करोद् वारुणीवर, वारुणोद, क्षीरवर, क्षीरोद, वृतवर, घृतोद, इक्षुवर, इक्षुद्र, नन्दीश्वर, नन्दीश्वरोद, अरुणवर् अरुणोद, अरुणाभासवर, अरुणाभासोद, कण्डलवर, कण्डलोद, रुचकवर, रुचकवरोद, मुजगवर, मुज- गोद, आदि शुभ नामवाले द्वीप समुद्र हैं । विटदीप, क्षारदीप, उल्कदीप, वक, विडाल, उण्डू, तस, संप्रज्वलित, आदि अञ्चभ संज्ञाओंको धारनेवाले दीप समुद्र नहीं हैं।

किं विष्कंभाः किं परिक्षेपिणः किमाकृतयश्च ते इत्याह ।

यहां प्रश्न कि जम्बूद्दीप, ख्वणसमुद्र आदिक कितनी कितनी चौडाईको धारते हैं ? और किस किसका परिक्षेप (घेरा) रखनेबाले हैं ? तथा कैसी कैसी आकृति यानी रचनाको प्राप्त हो रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रका उच्चारण करते हैं ।

द्विर्द्विविष्कंभाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

जम्बूद्दीपको आदि लेकर असंख्याते द्वीप और लगण समुद्रको आदि लेकर असंख्यात समुद्र ये सब दूने दूने विष्क्रम्भ यानी विस्तारको लिये हुये विराज रहे हैं। पहिले पहिले द्वीप या समुद्रको परला प्राप्त या समुद्र परिक्षेप यानी वेष्टित (लपेटे) किये हुये हैं तथा ये सभी कंकणकीसी आकृ-तिको धारे हुये चारों ओरसे गोल है।

द्विद्विरिति वीप्साभ्याष्ट्रतेवचनं विष्कंभद्विगुणत्वच्याप्त्यर्ये, पूर्वपूर्वपरिक्षेपिण इति वच-नादिनष्टिनिवेशिनिष्टात्तः, वख्याकृतय इति वचनाचतुरस्नादिसंस्थानिष्टितः । जंबृद्वीपस्य द्विकिं-ष्कंभत्वपूर्वपरिश्लेपित्ववख्याकृतित्वाभावादच्यापीनि विश्लेषणानीति चेत् न, जंबृद्वीपस्यैतदपवाद-इक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । ' तन्मध्ये ' इत्यादि सूत्रस्यानंतरस्य सद्भावात् ।

स्त्रमें द्विर् द्विर् इस प्रकार वीप्सापूर्वक अभ्यावृत्ति होनेसे (का) जो कथन किया गया है वह चौंडाईके दूनेपनको न्यापक करनेके लिये हैं। एक लाख योजन चौंडे जम्बूद्वीपसे दूना दो लाख योजन चौंडा लिया ने लिया है। इस प्रकार दूनी दूनी चौंडाई सर्वत्र समझ लेनी चाहिये। यहां द्विः द्विः ऐसी वीप्सा और अभ्यावृत्तिका सूचक सुच् प्रत्यय भी दो वार किया है इसने अन्तके स्वयम्भू रमणसमुद्र पर्यंत अधिक दूरवर्ती असंख्याते स्थानोंमें दूनी दूनी चौंडाईका अन्वय वहा दिया जाता है, जिससे पचास, सौ, द्वीप ही दूने दूने चौंडे हो सकते हैं, आगेके द्वीप नहीं, इस अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति होजाती है। शद्वप्रयोग करनेवाले मनुष्यकी एक ही बार अनेकोंमें न्याप्त करनेकी इच्छाको वीप्सा कहते हैं। " वीप्साय पदस्य " इस सूत्रसे दिः होजाता है। वीप्सा अर्थ चोत्य होनेपर पदको दिल्व होजाता है। तथा सूत्रकारके " पूर्वपूर्वपरिक्षापणः " इस वचनसे अनिष्ट सिनेवशकी निवृत्ति होजाती है, जिससे कि प्राम उपवन, नगर, प्रासाद, आदिके समान उन दीप समुद्रीका अनिष्ट विनिवेश नहीं समझ लिया जाय। जम्बूद्दीप लगण समुद्रसे और लगण समुद्र धातुकी खण्डसे वेष्टित होरहा है। यों अन्तके स्वयम्भू रमणनतक लगण समुद्रसे और लगण समुद्र धातुकी खण्डसे वेष्टित होरहा है। यों अन्तके स्वयम्भू रमणनतक लगा लगा निवा " वल्याकतयः " इस वचनसे चौकीर, तिकोने, लहकोने, अठपैल, आदि

अनिष्ट संस्थानकी निवृत्ति होजाती है। कोई कोई अनुमान प्रेमी विद्वान् साधारण स्वरूपके प्रतिपादक विशेषणोंका निरादर कर अव्यभिचारी उद्देश्य दलको हेत और विधेय दलको साध्य बनाते हुये सर्वत्र विधायक वाक्योंको अनुमान मृद्रामें गढ छेते हैं । तद्नुसार इस सूत्रमें कहे गये १ दिदिविष्कंमाः, २ पूर्वपूर्वपरिक्षोपिणः, ३ वळयाकृतयः, इन तीन विशेषणोंके साथ और जम्बृद्धीप ळवणसमुद्र आदि इस विशेष्य दलके साथ उदयउक्षणमाव और हेत हेतमद्भाव बना छेना चाहिये। तभी उक्षणके अन्याप्ति अतिन्याप्ति, असम्भव, दोषोंका निवारण और हेतुके व्यभिचार, विरोध आदि दोषोंका प्रत्याख्यान करना अच्छा शोभता है। यहां किसीकी शंका है कि आपने जम्बूदीपको आदि छेकरके सभी द्वीप समु-होंको उद्देश्य दलमें डालकर विधेयारा रूपसे यह सूत्र कहा है, किन्तु सबके आदिवर्ती जम्बूद्वीपके दूना चौडापन और पूर्वको घेरे रहना तथा कंकणकीसी आकृतिका धारकपना नहीं घटित होता है। इस कारण ये लक्षणकोटिमें पडे हुये तीनों विशेषण अन्याप्ति दोषसे प्रसित हैं, अथवा अनुमानमुद्रा अनुसार तुम्हारे तीनों हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास हैं । यदि अतद्गुण सम्यग्ज्ञान बहुब्रीहि समासका आश्रय कर जिनके आदिमें जम्बूदीप हैं यों अर्थ करते हुये जम्बूदीपको टाल दिया जायगा तो लवणसमुद्र भी टल जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। साथमें जम्बूद्वीपके शुभनामपनका और द्वीपपनका भी निराकरण बन बैठेगा। अतः '' शुक्छवाससमानय '' इसके समान तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहिका आश्रय ही छेना पडेगा। ऐसी दशामें हमारी शंका परिपृष्ट होजाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जम्बूदीपको छोडकर अन्यं सम्पूर्ण द्वीपसमदोंमें ये तीनों छक्षण घटित होते हैं। जब कि जम्बूद्वीपके छिये "तन्मध्ये मेरुनाभिः" इत्यादि अन्यवहित उत्तरवर्ती सत्रका सद्भाव है तो उस अपवाद मार्गको टालकर उत्सर्ग विधियां प्रवर्तेगी । इन तीनों लक्षणोंका अपवाद कर जम्ब्रद्वीपका लक्षण निकट भावेष्यमें कह दिया जायगा, अतः अन्याप्ति दोषको बालाप्र भी स्थान नहीं मिलता है। " अपवादपथं परित्यज्योत्सर्ग-विधयः प्रवर्तन्ते "।

क पुनिरमे द्वीपसम्रदा इत्याह।

फिर ये अनेक द्वीप और असंख्य समुद्र भठा कहां स्थित होरहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानको कहते है ।

सप्ताधो भूमयो यस्मान्भध्यलोको बलाद्गतः । तत्र द्वीपसमुद्राः स्युः सूत्रद्वितयवर्णिताः ॥ १ ॥

जिस कारणसे अधोलोकमें सात नीचे नीचे भूमियां कही जा चुकी हैं। अतः बिना कहे ही सामर्थ्यसे अर्थापत्था मध्यलोक जान लिया ही जाता है। अर्थात्—अधोलोकसे ऊपर ऊर्ध्वलोक नियत ही है। तथा ऊर्ध्व और अधःके बीचका मध्यलोक विना कहे यों ही समझ लिया जाता है। उस मध्यलोकमें अनेक दीप, समुद्र, हो सकते हैं जो कि सूत्रकारने उक्त दो सूत्रोंसे वर्णित कर दिये हैं।

ऊर्ध्वाधोलोकवचनसामर्थ्यान्मध्यलोकस्तावहत एव यस्माद्घोरत्नभायाः सप्तभूमयः प्रतिपादितास्तास्मन् मध्यलोके द्वीपसमुद्राः संक्षेपादभिष्ठिताः सूत्रद्वयेन प्रपंचतोसंख्येयास्ते यथागमं प्रतिपत्तव्याः।

उर्घ्व छोक और अधोछोकके कथन कर देनेकी सामर्थ्येसे मध्यलोक तो अपने आप जान छिया जाता ही है जिस कारणसे कि अधोछोकमें रानप्रभा आदिक सात भूमियां कही जा चुकी हैं। उस मध्यलोकमें दीप समुद्र हैं जो कि संक्षेपसे दो सूत्रों करके श्री उमास्त्रामी महाराजने कह दिये हैं विस्तारसे कथन करनेपर वे द्वीप समुद्र पचीस कोटा कोटी उद्धार पत्योके समय प्रमाण नियत संख्या-वाछे असंख्यात हैं। उनको आसोक्त आगम अनुसार समझ छेना चाहिये। छत्रण समुद्रका जछ ऊंचा उठा हुआ है, पुष्कर द्वीपके मध्यमे मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है, नन्दीश्वर द्वीपमें सोछह बावडी और बावन जिन चैत्यालय अनादि निधन बने हुये हैं, ढाई द्वीपसे बाहर तिर्थक्लोकमें जघन्य भोगभूमिकी सी रचना है। अन्तिम आधे द्वीप और अन्तके समुद्र तथा मध्यछोककी त्रसनालीके चारो कोनोंमें कर्मभूमिकीसी प्रक्रिया है। मोक्षमार्गकी व्यवस्था नहीं है। तथापि पांचवें गुणस्थानको भी धारनेवाले असंख्य तिर्थेच वहां स्वयंप्रभ पर्वतके परली ओर पाये जाते है, इत्यादिक विशेष व्याख्यानको आकर प्रन्थोंक अनुसार समझ छेना चाहिये।

क पुनरयं जंबृद्वीपः कीदृशश्चेत्याह ।

यह जम्बूद्वीप फिर कहां और किस प्रकारका व्यवस्थित हैं ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमा-स्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको कहते हैं |

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कंभो जंबुद्वीपः

उन सम्पूर्ण पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप विराजमान है और उस जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमे सुमेरुपर्वत नाभिके समान व्यवस्थित है। जम्बूद्वीप थालीके समान गोल है। और एक लाख योजन चौडा है।

तच्छद्वः पूर्वद्वीपसमुद्रनिर्देशार्थः । जंब्द्वीपस्य निर्देशपसंगः पूर्वोक्तत्वाविशेषादिति चेत्, तस्य प्रतिनियतदेशादितया प्रतिपाद्यत्वात् तत्परिक्षेपिणामेव परामर्श्वोपपत्तः । ति पूर्वोक्तसमु-द्रद्वीपनिर्देशार्थस्तच्छद्व इति वक्तव्यं जंब्द्वीपपरिक्षेपिणां समुद्रादित्वादिति चेन्न, स्थितिक्रमस्या विवक्षायां पूर्वोक्तद्वीपसमुद्रनिर्देशार्थ इति वचनाविरोधात्, यत्र कुत्रचिद्वस्थितानां द्वीपानां समुद्राणां च विवक्षितत्वात् । द्वीपश्रद्धस्यान्याच्तरत्वाच द्वंद्वे पूर्ववचनेपि समुद्राद्य एवार्थान्त्यान्यात् परामृद्वयते । तत इदमुक्तं भवति तेषां समुद्रादीनां मध्यं तन्मध्यं तिस्मन् जंब्द्वीपः ।

सूत्रमें पड़ा हुआ तत् शह तो पूर्वमें कहे जा चुके द्वीप, समुद्रों, का परामर्श करनेके लिये है। यहां कोई शंका करता है कि जब पूर्वमें कहा जा चुकापन जम्बूद्वीपमें विशेषतारहित है तो जम्बूद्धीपके निर्देश हो जानेका भी प्रसंग हो जायगा। अर्थात्—तत् शद्ध करके जब सभी द्वीप समुद्रोंका आकर्षण हो जाता है तब तो अन्यद्रीप समुद्रोंके समान उस जम्बूद्रीपके मध्यमें भी जम्बूद्दीपके विराजनेका प्रसंग आता है, जो कि असंगत हैं । कैसा भी नरम वस्त्र होय या छोटा घडा होय स्वयं अपने मध्यभागमें पूरा नहीं समा सकता है । निश्चयनयसे भी अपने परिपूर्ण निजस्वरूपमें भले ही पदार्थ ठहर जाय, किन्तु अपने किचित् मध्यभागमें तो कोई वस्तु नहीं ठहर पाती है। यों शंका करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि प्रतिनियत हो रहे देशमें स्थित होने या प्रतिनियत आकार लम्बाई, चौडाई, आदि रूप करके वह जम्बूदीप तो जब समझाने योग्य ही हो रहा है। अतः उस जम्ब्रद्धीपको घेरे रहनेवाले समुद्र और द्वीपोंका द्वी तत् राद्व द्वारा परामर्श दोना युक्त है । जैसे कि प्रन्थके बीचका पत्र निकाल लो या पच्चीस विद्यार्थियोंके बीचके विद्यार्थीको बुला लाओ । यहां प्रतिपादनीय नियत व्यक्तिको अगण्य कर शेष बहुभागका मध्य पकड छिया जाता है। पुनरिप किसीका आक्षेप है कि तब तो पूर्वोक्त समुद्र और द्वीपोंके निर्देशके लिये तत् शद्ध है यों कहन। चाहिये था । क्योंकि जम्बूदीपको परिक्षेप (घेरा) करनेवाले द्वीप, समुद्रोंमें सबका आदिभूत लवण समुद्र है । अतः उन समुद्र और द्वीपोंक मध्यमं जम्बूद्वीप है, यह कहना ठीक है । किन्तु उन द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है यों कहनेपर तो पहिले द्वीपपदसे जम्बूद्वीप ही पकडा जायगा । ऐसी दशामें जम्बूदीपके मध्यमें स्वयं जम्बूदीपका विराज जाना होनेसे हमारी पूर्वोक्त आत्माश्रय दोषवार्छ, शंका परिपृष्ट हो जाती है। पहिले द्वीपपदसे यदि घातकी खण्ड लिया जाय तब तो लवण समुद्र द्वारा जम्बूद्वीपका घिरा रहना छूट जायगा । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि द्वीप, समुद्रों की स्थितिके कमकी नहीं विवक्षा करते सन्ते पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके निर्देशके लिये तत् शद्ध है। इस हमारे वचनका कोई विरोध नहीं आता है। जहां भी कहीं आगे या पीछे अवस्थित हो रहे द्वीप और समुद्रोंकी विवक्षा यहां उपजायी गयी है। अतः भले ही जम्बूद्वीपको सबसे पाइले घेरनेवाळा ळवण समुद्र है, तो भी इस स्थितिके क्रमका विचार नहीं कर श्री उमास्वामी महाराजने उन दीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीपका विन्यास हो रहा कह दिया है। यद्यपि जम्बूद्वीपको घेरनेवाले द्वीप और समुद्रोंमें द्वीपोंकी अपेक्षा समुद्रोंकी संख्या एक अधिक है। तथा सबकी आदिमें जम्बूदीपका घेरा देनेवाला भी समुद्र ही है । सबके समुद्र पड़ा हुआ सबको घेर रहा है, फिर भी हम क्या करें व्याकरणके नियमोंकी अधीनतासे शद्बीका उचारण करनेके छिये इम या सूत्रकार महाराज पराधीन हैं। दंद समासमें जिस पदमें अल्पसे अल्प अच् (स्वर) होंगे वह पद पहिले आजायगा । चाहे द्वीप और समुद्र यों समास करो अथवा अपनी इच्छानुसार समद्र और द्वीप यों इतरेतर योग करो द्वीप शद्भका पहिले निपात होकर " द्वीपसमुद्ध " शद्ध बन जाता है । तेलमें सिललके डालनेपर या जलमें तेलको गिरा देनेपर तेल ही उपर आजायगा । यहां भी समुद्ध शद्धमें तीन स्वर हैं और द्वीप शद्धमें दो अच् हैं अतः अल्प अच् सिहतपना होनेसे भले ही शद्धसंबंधी न्यायसे दंद्धमें द्वीप शद्धका पूर्वमें उच्चारण होजाय तो भी अर्थसम्बन्धी न्यायसे द्वीप समुद्रपदसे समुद्र आदिका ही परामर्श किया जाता है । तिस कारणसे सूत्रकार द्वारा यह कह दिया गया समझा जाता है कि उन समुद्र आदिकोंके मध्यको इस सूत्रमें तन्मध्यपदसे लिया गया है । उन समुद्र आदिकोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है। यचि " जंबूद्वीपल्जणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्धाः " इस सूत्रमें शद्धशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनोंके अनुसार द्वीपसमुद्धाः कहना शोभता है । अन्यथा जम्बूद्वीपको समुद्रपना और ल्जणोदको द्वीपपना प्राप्त हो जायगा । फिर भी "द्विद्विविकंगाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो बलयाकृतयः " और " तन्मध्ये मेरुनामिर्कृतो योजन शतसहस्न-विकंभो जम्बूद्वीपः " इन दोनों सूत्रोंमें अर्थसम्बन्धी न्यायके अनुसार समुद्र, द्वीप, यो समाम्नाय करनेसे समीचीन प्रतिपत्ति हो जाती है । यथायोग्य सन्तोष हो जानेपर फिर भी कुचोबोंका तांता नहीं तोडनेके लिये सदा मुंह उठाये रखना गम्भीर शास्त्रीय विद्वानोंको शोभा नहीं देता है ।

स च मेरुनाभिरुपचरितमध्यदेशस्थमेरुत्वात् । दृतो न चतुरस्रादिसंस्थानः । तत्परि-क्षेपिणां बल्लयाकृतिवचनादेव तस्य दृत्तत्वं सिद्धामिति चेन्न, चतुरस्रादिपरिक्षेपिणामिष बल्लया-कृतित्वाविरोधात् । योजनञ्जतसहस्रविष्कंभ इति बचनात् तद्विगुणद्विगुणविष्कंभादिनिर्णयः शेषसमुद्रादीनां कृतो भवति । एवं च ।

और वह जम्बूदीप उमरी हुई नामिक समान मेरुको मध्यमें धार रहा है। क्योंकि उसके उपचारसे माने गये मध्यदेशमें मेरु स्थित हो रहा है। मेरुस्थानको जम्बूदीपका उपचारसे मध्यभाग यों माना गया है कि लोकका मध्य तो सुदर्शन मेरुके जडमें केन्द्रीभूत हो रहे आठ प्रदेश है। अतः मध्यलोक स्वयं ऊर्ध्वलोकमें विराज रहा उपचरित है। अधोलोकसे ऊपर और ऊर्ध्वलोकके निचले भागमें सात राजू लम्बे, एक राजू चौडे और मेरुसम ऊंचे स्थानको यदि मध्यलोक माना जाता है तो इसका ठीक मध्य भी मुदर्शन मेरुकी जडमें स्थित आठ प्रदेशोसे पचास हजार वीस ५००२० योजन ऊपर चलकर चार प्रदेश मिलेंगे। जहां कि जम्बूद्वीप कथमपि विद्यमान नहीं है, वहां तो सुदर्शन मेरु खडा हुआ है। हां, ऊर्ध्व अधो दिशाका लक्ष्य नहीं कर केवल मध्यलोकके निचले हजार योजन दुकडेकी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, चार ही दिशाओंका मध्यभाग लिया जाय तो जम्बूदीपको मध्यमें स्थित हो रहा कह सकते हैं। क्षा पृथिवीक उपरिम मध्यवर्ती समतल प्रदेशोंपर मेरु पर्वत धरा हुआ है, वह लोकका मध्य मले ही कह दिया जाय, किन्तु वंह स्थल जम्बूदीपका मध्य तो कथमपि नहीं कहा जा सकता है। अतः मेरुके (मेरुकी जडके) ठहरनेके स्थानको जम्बूदीपका मध्य उपचारसे माना गया है। वह जम्बूदीप

" वृत्तः " यानी चकरेके समान गोल है। गेंदके समान गोल या चौकौर, तिकोना, आदि संस्थानोंकौ धारनेवाला नहीं है। यहां कोई आक्षेप करता है कि उस जम्बूद्वीपका घेरा देकर फैल रहे द्वीप सम-दोंकी आकृतिको पूर्व सूत्रमें कंकण के समान कह देनेसे ही उस जम्बूदीपका चाकीके समान गोल्पना स्वतः सिद्ध हो जाता है । पनः इस सत्रमें ''वृत्तः '' यानी रुपयाके समान गोल कहनेकी क्या आवश्य-कता है। प्रनथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि चौकोर, छह कोन, तिकोने आदि आकार-वाले पदार्थको धरा देनेवाले अन्य द्वीप समुद्रोंके भी कंकण आकृतिधारीपनका कोई विरोध नहीं है। जैसे कि चौकोर प्रासादको गोल बेदिकासे घेरा जा सकता है। गोल फैली <u>हई गढकी</u> ऊंची भीतोंसे भीतरके तिकोने, छह पैछ महल या कोठियां भी घेर ली जाती हैं। गोल सूर्य मण्डलपर अनेक चौकोर महल बने हुये हैं। भले ही कुछ स्थान रीता पड़ा रहा रहे, इससे हमें क्या प्रयोजन है ! घेर-नेवाला पदार्थ दुरवर्ती गोल हो कर मध्यवर्ती कैसे भी तिकोने, चौकोने, पदार्थको परिक्षेप कर बैठेगा। देखो छह कलाचलों या देवारण्य, भूतारण्य हो, जम्बुदीपकी वेदिका वेद रही है, अतः जम्बुदीपकी ठीक रचनाको समझानेके लिये इस सूत्रमें वृत्त शद्ध कहा है। इस सूत्रमें यों सौ हजार (एक लाख) योजन चौडे जम्बुद्वीपका कथन कर देनेसे शेष बचे हुये समुद्र आदिकोंकी उस जम्बुद्वीपसे दुगुनी दग्नी. चौडाई और पूर्व पूर्वका परिक्षेप करना आदिका निर्णय कर दिया समझ लिया जाता है। अर्थात् — रोष समुद्रोंकी दूनी दूनी चौडाई किसकी अपेक्षासे समझी जाय ! इसके लिये पहिले जम्बू-द्वीपको एक छाख योजन चौडा कहा है । द्वीप समुद्रोंकी दुनी दुनी चौडाई तो प्राम. नगर. नदी. पर्वत, आदिके समान रचना होनेपर भी सम्भव जाती है। अतः " पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः " कहना सार्थक है तिकान, चौकान, होम कुण्डोंकी कटनियोंके समान दूनी दूनी चौडाई या पूर्व पूर्वको धेरे रहना तो त्रिकोण, चतुष्कोण पदार्थका भी संभव जाता है। अतः द्वीप समद्रोंकी आकृति वस्रयके समान कहना वस्तुस्थितिका द्योतक है और यों इस प्रकार जम्बुद्वीपका वर्णन कर देनेपर:---

तन्मध्ये मेरुनाभिः स्याज्जंबृद्वीयो यथोदितः । सुत्रेणैकेन निःशेषकुमतानां व्ययोद्दनात् ॥ १ ॥

उन समुद्र द्वीपोंके मध्यमें मेरुको नाभिके समान धारनेवाला जम्बूद्वीप है जो कि आर्ष आम्नाय अनुसार इमने एक सूत्र करके स्पष्ट बखान दिया है, इतनेसे ही सम्पूर्ण खोटे मतोंका निरा-करण होजाता है।

सकस्मर्वथैकांतिनराकरणे हि न्यायवलादिहिते स्यादाद एव व्यवतिष्ठते परमागमः, स च यथोदितजंबुद्दीपमकाज्ञक इति भवेदेवं सूत्रितो जंबुद्दीपः सर्वथा बाधकाभावात् अत्र ।

सर्वथा एकान्तवादी पण्डितमन्योंके सम्पूर्ण एकान्त मतोंका न्यायकी सामर्थ्यसे निराकरण कर चुकनेपर जिनोक्त स्यादाद सिद्धान्त ही परम आगम व्यवस्थित होजाता है, और वह आसोक्त आगम ही आम्नायका अतिक्रमण नहीं कर कहे जा चुके जम्बूद्वीपका प्रकाशक हो सकता है। इस प्रकार एक सूत्र द्वारा जंबूद्वीपका यों सूचन कर दिया जा चुका है। क्योंकि इस आगममें सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंका अभाव है।

तत्र कानि क्षेत्राणीत्याह ।

उस जंबूद्वीपमें कितने निवासक क्षेत्र हैं ? ऐसी विनीत शिष्यकी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि॥

उस जंबूद्वीपमें छह कुलाचलोंसे विभक्त होरहे भरत वर्ष १ हैमत वर्ष २ हरिवर्ष ३ विदेह वर्ष ४ रम्यक वर्ष ५ हैरण्यवत वर्ष ६ और ऐरावत वर्ष ७ ये सात क्षेत्र पूर्व पश्चिम लंबे और उत्तर, दक्षिण, चौडे व्यवस्थित होरहे हैं।

भरतक्षत्रिययोगाद्धरतो वर्षः अनादिसंज्ञासंबंधत्वाद्वा आदिमदनादिरूपतोपपत्तेः । स च हिमबत्सश्चद्रत्रयमध्ये ज्ञेयः । तत्र पंचाश्चोजनविस्तारस्तदर्धोत्सेधः सक्रोशषड्योजनावगाहो रजताद्रिविजयार्धोन्वर्थः सकलचक्रधरविजयस्यार्धसीमात्मकत्वात् ।

दक्षिण ओरके पिहले क्षेत्रकी "भरत " यह संज्ञा कैसे बन रही है ! इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक अवसर्पिणीके चौथ कालकी आदिमें नरत नामका पहिला चक्रवर्ती इसके छह खण्डोंको मोगता है । अतः भरत नामके क्षित्रियात स्वस्वामिमाव सम्बन्ध हो जानेसे पिहले क्षेत्रको भरतवर्ष कहते हैं, अथवा दूसरा सिद्धान्त उत्तर यह है कि जगत् अनादि है, अनादिकालीन निज परिणतिके अनुसार इसकी भरतसंज्ञा चर्ळा आ रही है । वैयाकरणोंने जैसे शद्धके व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो पक्ष स्वीकार किये हैं, मीमांसक और मांत्रिकोंने तो शद्धकी अनादितापर ही सन्तोष प्रकट किया है । उसी प्रकार भरतक्षत्रियके योगसे आदिमान् स्वरूपसे सहितपना अथवा अनादिकालीन संज्ञाका सम्बन्ध हो जानेसे भरतवर्षको अनादिस्वरूपपना समुचित समझ लिया जाता है । वह भरतवर्ष ने उत्तर दिशामें हिमवान् और पूर्व, दक्षिण, पिश्चम, दिशाओंमें तीनो ओरसे घर रहे तीनं समुद्रोंके मध्यमे विराज रहा जान लेना चाहिये । उस भरतक्षेत्रके ठीक बीचमें फैल रहा पूर्व, पश्चिम, लम्बा और दक्षिण उत्तर पचास योजन चौडा तथा उससे आधा पचीस योजन उत्ता एवं एक कोससहित छह योजन यानी सवा छह योजन गहरा रजतबहुल एक विजयाई नामक पर्वत है जो कि सम्पूर्ण चक्रवर्तीके विजयकी आधी सीमा स्वरूप होनेसे " विजयाई " इस अन्वर्थ नामको धारता है । अर्थात—उसका नाम अपने वाच्य अर्थको लिये हुये ठीक घट जाता है ।

हिमवतोऽदृरभवः सोस्मिनस्तीति वा हैमवतः स च श्रुद्रहिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये, तन्मध्ये श्रद्धवान् वृत्तवेदाङ्यः। इरिवर्णमनुष्ययोगाद्धरिवर्षः स निपधमहाहिमवतोर्मध्ये, तन्मध्ये विकृतवान् वेदाङ्यः । विदेइयोगाञ्जनपदेपि विदेइव्यपदेशः निषधनीळवतोरंतरे तत्संनिवेशः । स चतुर्विधः पूर्वविदेहादिभेदात् । रमणीयदेशयोगाद्रम्यकाभिधानं नीळक्विम-णोरंतराछे तत्संनिवेशः तन्मध्ये गन्धवान् वृत्तवेदाङ्यः । हिरण्यवतोऽद्रभवत्कादीरण्यवतव्य-पदेशः रुविमशिखरिणोरंतरे तद्विस्तारः तन्मध्ये माल्यवान् वृत्तवेदाङ्यः । ऐरावतक्षत्रिययोगादैरावताभिधानं शिखरिसम्बद्धत्रयांतरे तद्विन्यासः, तन्मध्ये पूर्ववद्विजयार्धः ।

हिमवान पर्वतसे जो दर नहीं किन्त निकटमें विद्यमान हो रहा हैमवतक्षेत्र है अथवा वह हिमवान पर्वत जिस देशमें है वह हैमवत नामक वर्ष है। हिमवान शहसे " अदूरभवश्व " या '' तदस्मिनस्तीति देशे तन्नाम्नि '' सुत्रोद्वारा अणुप्रत्यय करनेपर '' हैमवत '' शह बन जाता है और वह हैमहतक्षेत्र तो लघु हिमवान पर्वतसे उत्तरकी ओर और महाहिमवान पर्वतसे दक्षिणकी ओर मध्यमें तिष्ठा है। उस हैमवत क्षेत्रके मध्यमें राद्ववान, नामका वृत्तवेदाक्य पर्वत है। ढोलके समान गोल होनेसे वृत्त माना गया है । इसकी प्रदक्षिणा देकर रोहितास्या नदी पश्चिम समद्रकी ओर वहीं जाती है और प्रदाक्षिणा करती हुई रोहित नदी पूर्व भी ओर वह जाती है। हुरि यानी सिंहके वर्णसमान शक्ल वर्णवाले मनुष्यों के योगसे हरिवर्ष क्षेत्र विख्यात होरहा है । वह हरिवर्ष निषय पर्वतके दक्षिणकी ओर और महाहिमजानके उत्तरकी ओर तथा पूर्व पश्चिम छवण समुद्रके अन्तराख्में स्थित है। उस हरिवर्षके मध्यमें विकृतवान् नामका ढील समान गोल वेदाव्य पर्वन है। हरिकान्ता नदी आधा योजन दूरसे उसकी प्रदाक्षिणा करती हुई पश्चिम समुद्रकी ओर चर्छा जाती है और हारित नर्द। इस वेदाव्यकी प्रदक्षिणा कर पूर्वकी ओर बह रही है। विदेहके योगसे देशमें भी विदेह यह नाम-निर्देश कर दिया जाता है। अर्थात्-वहां सर्वदा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति बनी रहनेने अनेक मनुष्य कर्म-बन्धका उच्छेद कर देहरहित होजाते हैं। मुनिवर इस स्थूल देह और सून देहका उच्छेद करनेके लिये प्रयत्न कर रहे विदेहपनको प्राप्त होजाते हैं । अतः मुनियोंमें रहनेवाला विदेहत्व धर्म तद्धिकरण क्षेत्रमें भी उपचरित होरहा है, जैसे कि यष्टित्य धर्मको यष्टिवान् देवदत्तमें धर दिया जाता है। दक्षिणोंने निषध और उत्तरमें नीलवान् पर्वत और पूर्व, पश्चिम, लवण समुद्रके अन्तरालमें उस विदेह क्षेत्रका सिनिवेश है । वह विदेहक्षेत्र पूर्व विदेह, उत्तर विदेह, देवकुरु, उत्तर कुरु,इस प्रकार चार प्रकारका है । सुदर्शन मेरुसे पूर्व दिशामें बाईस हजार योजन चौडे भद्रसाल बनका उल्लंघन कर सीता नदीके दक्षिण उत्तरमें आठ आठ विदेह हैं। इसी प्रकार सुदर्शन मेरुसे पश्चिम दिशाकी ओर सीतोदा नदीके दोनों ओर आठ आठ विदेह हैं। यो एक मेरुसम्बन्धी बत्तीस विदेहोंकी रचना है। तथा रमणीय देशों, नदी, पर्वत, वन, आदि करके युक्त होरहा होनेसे पांचवे देशका रम्यक यह नाम निर्देश है । नील पर्वतसे उत्तर और रूक्मी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्वापर समद्रोंके अन्तरालमें उस रम्यक देशकी रचना होरही है। उस रम्यकके मध्यमें गन्धवान नामका वृत्तवेदाक्य पर्वत है जिसकी प्रदाक्षणा कर नारी, नरकान्ता, नदियां पूर्व, पश्चिम, समुद्रकी ओर बह जाती हैं। दूसरे रुक्मी नामको धारनेवाले हिरण्यवान् पर्वतसे जो अदूर होरहा है, इस कारण उस छठे क्षेत्रका नामनिर्देश हेरण्यवत है। रुक्मीसे उत्तर और शिखरी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्व, पश्चिम, समुद्रों के मध्यमें उसका विस्तार (चौडाई छम्बाई) समझ छेना चाहिये। उस हैरण्यवतके मध्यमें माल्यवान् नामका वृत्त वेदाल्य शैल है। जिसके कुछ भागोंकी प्रदक्षिणा देकर सुवर्णक्ला, रुप्यक्ला, नदिया पूर्व और पश्चिम समुद्रकी ओर बढ़ी जा रहीं हैं। भरतके समान ऐरावत नामक चक्रवर्तीके सम्बन्धसे सात्रवें क्षेत्रका नाम ऐरावत है। शिखरी पर्वतसे उत्तर और तीनों ओर समुद्रोंके मध्यमें उसकी रचना वन रही है। उस एरावतके मध्यमें भी पहिले भरतक्षेत्रके विजयार्ध समान एक पूर्व, पश्चिम छंवा विजयार्ध पर्वत पड़ा हुआ है।

किमर्थे पुनर्भरतादीनि क्षेत्राणि सप्तोक्तानीत्याह ।

महाराज फिर यह बताओ कि अतिरिक्त सूत्र द्वारा ये भरत आदिक सातक्षेत्र भला किस लिये कहे गये हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री तिद्यानन्द स्वामी समाधानकारक वार्त्तिकको कहते हैं।

क्षेत्राणि भरतादीनि सप्त तत्रापरेण तु । सूत्रेणोक्तानि तत्संख्यां हंतुं तीर्थ(थि)ककल्पिताम् ॥ १ ॥

पौराणिक या अन्य दार्शनिक पण्डितों द्वास कल्पना की गयी उन क्षेत्रोंकी संख्याका घात करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने इस न्यारे सूत्र करके तो उस जम्बूदीपमें भरत आदि सात क्षेत्र निश्चित रूपसे कह दिये हैं।

कुतः पुनस्तीर्थककित्यता क्षेत्रसंख्यानेन प्रतिहन्यते वचनस्याविशेषात् स्याद्वादाश्रयत्वा-देतद्वचनस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः संवादकत्वात्सर्वथा बाधवैधुर्यात्सर्वथैकांतवादिवचनस्य तेन प्रति-घातसिद्धेरिति निरूपितप्रायं ।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि अन्य मतावलम्बयों द्वारा कल्पित कर ली गयी क्षेत्रोंकी संख्या भला इस सूत्र करके कैसे प्रतिघात की प्राप्त हो जाती है ? जब कि उनके वचनसे और तुम्हारे वचनका कोई अन्तर नहीं दीख रहा है। उनके वचनोंमें विष और तुम्हारे वचनोंमें अमृत नहीं मरा है। शास्त्र या पत्र भी समान हैं। ऐसी दशामें दोनों ही वचन प्रमाण या दोनों ही समान रूपसे अप्रमाण ठहर जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि स्यादादिस्तान्तका आश्रय होनेसे इस श्री उमास्वामी महाराजके वचनको प्रमाणपना उचित हो रहा है। यह सूत्रकारका वचन सम्वादक भी है और सभी अकारकी बाधाओंसे रहित भी है। अर्थात्—बाधवैध्यं होनेसे वचनको सम्वादकपना है और सम्वादक होनेसे स्यादादिसद्वान्तका अवलम्ब लेकर कहे हुये वचनों को प्रामाण्य बन रहा है। इस कारण उस बाधिरेड्र, सम्बारक, प्रमाण मूत और स्यादादात्र अम्बी सूत्र करके सर्वथा एकान्तवादियोंके

वचनका प्रतिघात होना सिद्ध हो जाता है। इस बातका हम बहुत बार स्थान स्थानोंपर निरूपण कर चुके हैं। अनेकान्त वादियोंके प्रमाण कुठारोंकरके सर्वधा एकान्तवादियोंकी बुद्धि शाखायें खण्ड खण्ड होकर नष्ट, अष्ट, कर दी जाती हैं।

जिन पर्वतों करके विभागको प्राप्त किये गये ये सात क्षेत्र कहे जा चुके हैं, यह तो बताओ े वे पर्वत कौन और किस ढंगसे व्यवस्थित हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर अप्रिम सूत्र कहा जाता है।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाळी टेवको धार रहे और पूर्व पश्चिमकी ओर लम्बे हो रहे १ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषय ४ नील ५ रुक्मी और ६ शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं। अर्थात्—क्षेत्र परस्पर मिल नहीं सकें इस ढंगसे उन क्षेत्रोंका विभाग कर देनेवाले होनेसे पूर्वतोंको वर्षधर कह दिया गया है। अनेक प्रान्तोंमें भूमिके नीचे ऊपर पर्वत फैल रहे हैं। जहां पर्वत अधिक होते हैं वहां भूकम्प न्यून होता है। ज्वालामुखी पर्वत भले ही उच्चाताके वेग होनेसे ही प्रान्तभूमिको कंपा देवें, किन्तु शेष पर्वत तो भूडोलको रोकते रहते हैं। हिश्चयां शरीरको धारे रहती हैं। शरीर हिश्चोंको नहीं धारता है। मेंस या हाथीको पीठके हिश्चेपर सम्पूर्ण शरीर लटक रहा है। यही दशा बैल, मनुष्य, घोडा, लिखिंग, आदिकी समझ लेनी चाहिये। अतः यों चल, विचल, कम्प, नहीं होने देनेकी अपेक्षा प्रध्वीको धारे रहना कार्य करनेसे भी पर्वतोंकी अर्थधर संज्ञा अन्वर्थ कही जा सकती है।

हिमाभिसंबंधतो हिमवद्यपदेशः भरतहैमवतयोः सीमनि स्थितः, महाहिमविश्विति चोक्तं हैमवतहरिवर्षयोर्भागकरः, निषीदंति तस्मिश्चिति निषधो हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः, नीलवर्णयो-गाशीलव्यपदेशः विदेहरम्यकविनिवेशविभाजी, रुक्मसद्भावतो रुक्मीत्यभिधानं रम्यकहैरण्य-वतविवेककरः, शिखरसद्भावाच्छिखरीति संज्ञा हैरण्यवतैरावतसेतुबंधः शिखरी।

हिम (बर्फ) का चारों ओर सम्बन्ध होनेसे पहिले पर्वतका " हिमवान् " यह नाम निर्देश हो रहा है। अन्य पर्वतोंमें या इस भरत क्षेत्र सम्बन्धी आर्य खण्डके हिमालय पर्वतमें भी हिमका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः रूढि पक्षका अवलम्ब लेना ही सन्तोषाधायक है। यह हिमवान् पर्वत तो भरत क्षेत्र और हैमवत क्षेत्रकी सीमामें व्यवस्थित हो रहा है। तथा महाहिमावान्के सम्बन्धमें हम यों कह चुके हैं कि हिमके सम्बन्धसे हिमवान कहा जाता है, महान् जो हिमवान वह महाहिमावान् है। मले ही हिम नहीं होय तो भी रामकी गुडियाके समान नाम रख देनेमें कौनसी भारी क्षति हुई जाती है। हैमवत क्षेत्र और हरिवर्षका विभाग कर रहा यह महाहिमवान् पर्वत विन्यस्त है। देव और देवियां तिसमें क्षीडा करनेके लिये विराजते हैं, इस कारण पर्वहका नाम निषध है, जो कि

रूढि होरहा हरि और विदेह क्षेत्रकी मर्यादाका हेतु है। नील वर्णका सम्बन्ध होनेसे पर्वत नील कहा जाता है, जो कि विदेहके उत्तर और रम्यकके दक्षिण भागमें विनिवेशको प्राप्त होरहा विदेह और रम्यक क्षेत्रका विभाजक है। रुक्म यानी सुवर्णका सद्भाव होनेसे पांचेंव पर्वतका रुक्मी ऐसा नाम पड गया है जो कि रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रके पृथग्भावको कर रहा है। शिखर यानी क्टोंके सद्भावसे छड़े पर्वकी शिखरी यह संज्ञा है। जो कि हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रका माना पुल ही बंधा हुआ है, ऐसा शिखरी पर्वत शोभ रहा है। इन सम्पूर्ण पर्वतों के नाममें योगिक अर्थ गोण है, रूढि अर्थकी प्रधानता है।

हिमबदादीनामितरेतरयोगे दृंद्दे। अवयवभधानत्वात्, वर्षधरपर्वता इति वचनमवर्षधराणां वर्षधराणां पर्वतानामपर्वतानां च निरासार्थे। तद्विभाजिन इति वचनात् भरतादिवर्षविभाग-हेतुत्वासिद्धिः, पूर्वापरायता इति विशेषणादन्यथ।यतत्वमनायतत्वं च व्युदस्तम्।

हिमवान्, महाहिमवान् आदि शद्बोंका इतरेतर योग होनेपर दंद समाप्त होजाता है। क्योंकि " सर्वपदार्थप्रधानो दृंद्धः " दृंद्ध समासके सम्पूर्ण घटकावयव पद प्रधान हुआ करते हैं। इस सूत्रमें "वर्षघर-पर्वताः " यह निरूपण करना तो अवर्षधर पर्वत और वर्षधर अपर्वतोंका निराकरण करनेके लिये हैं। अर्थात्—न्यभिचार निवृत्ति करनेवाले विशेषणोंको सार्थक समझा जाता है। " नीलोत्पलं " यहां नील कमलमें नील शद्ध तो अनील उत्पलों यानी लाल, क्षेत कमलोंकी न्यावृत्ति कर रहा है। और उत्पल शद्ध तो नील होरहे अनुपलों जामुन, भोरा आदिकी निवृत्ति करनेको चिल्ला रहा है। इसी प्रकार जंब-द्वीपमें कई पर्वत, यमकगिरी, शद्भवान, विकृतवान, गन्धवान, मान्यवान, गन्धमादनगजदंत, सीमनसगजदंत, सुदर्शन मेरु ये पर्वत होते हुये भी क्षेत्रींके विभाजक नहीं होनेके कारण वर्षधर नहीं हैं। अतः अवर्षधर पर्वतोंका व्यवच्छेद करनेके लिये हिमवान . महाहिमवान आदिमें वर्षधर पर्वतपनेका विधान सार्थक है, तथा इसी जंबद्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंके उत्तर, दक्षिण, भागोंका विभाग जैसे इन हिमवान आदि पर्वतोंने किया है, उसी प्रकार उक्त क्षेत्रोंके पूर्वापर विभागको करनेवाले पूर्वापर ळवण समुद्र भी तो हैं । भरत और ऐरावत क्षेत्रोंका तो तीनों ओरसे समुद्रने विभाग कर रक्खा है । विदेह क्षेत्रमें बड़े भदसाल वनके साथ देवकुरु, उत्तरकुरुका विभाग गजदंत पर्वतोंने कर रक्ला है । इसी भरतमें दक्षिणभरत या उत्तरभरतके विभाजक विजयार्घ और षट्खण्डोंका विभाग करनेवाली गंगा सिन्धु नदियां भी हैं। जम्बुद्वीपके बत्तीस विदेहोंमें वत्सा, सुवत्सा, आदि एक एक जनपद ही भरत और ऐरावत क्षेत्रोंसे कई गुना बडा है, जिनको कि वक्षार पर्वत या विभंगा नदियोंने न्यारा २ विभक्त बना रक्खा है। इस युक्ति द्वारा पर्वत भिन्न समुद्र आदि भी वर्षधर माने जा सकते हैं। अतः वर्षधर पर्वत कह देनेसे हिमवान् आदिमें वर्षधर अपर्वतपनेका निराकरण हो जाता है। इस सूत्रमें " तद्विभाजिनः " यो कथन कर देनेसे हिम्नान आदि पर्वतोको भरत आदि क्षेत्रोंके विभागका हेतुपना सिद्ध हो जाता है तथा '' पूर्वापरायता '' पूर्व, पश्चिम, लम्बे इस विशेषणासे दूसरे ढंगका लम्बाईपन और लम्बाई रहितपनका न्युदास कर दिया गया है । अर्थात् -ये पर्वत पूर्व पश्चिमकी ओर छम्बे पड़े हुये हैं, दक्षिण उत्तर या विदिशाओंकी ओर छम्बे नहीं हैं। तथा ये पर्वत छम्बे नहीं होकर गोछ चौकोर, तिकोने, आकारवाछे होय, इस सम्भावनका भी आयतपदसे प्रत्याख्यान हो जाता है। अतः ये विशेषण उन पर्वतोंकी ताहश सिद्धि करनेमे सद्धेतु बना छिये जांय या उन छक्ष्यभूत पर्वतोंके निर्दोष छक्षण भी बना छिये जांय तो कोई क्षति नहीं होगी। इस बातका हम जैन न्यायसिद्धान्त अनुसार ढिंढोरा पीटनेके छिये संनद्ध हैं।

कि परिणामास्ते इत्याह ।

वे पर्वत किस धातुके बने हुये परिणाम यानी विवर्त हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको बोलते हैं ।

हेमार्ज्जनतपनीयवैद्धर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

ये हिमनान्, महाहिमनान्, आदि पर्वत यथाकमसे हेममय, अर्जुनमय, तपनीयमय, वैडूर्य-मय, रजतमय, हेममय है। विकार या प्राचुर्य अर्थमें मयट् प्रत्यय किया है। इन पर्वतोंके वर्ण विशेष भी उन उन धातुओंके रंगके समान हैं। अवयव या विकार अर्थमें मयट् प्रत्यय हो जाता है।

हेममयो हिमवान्, अर्जुनमयो महाहिमवान्, तपनीयमयो निषधः, वैद्वर्यमयो नीलः, रजतमयो रुक्मी, हेममयः शिखरीति । हेमादिपरिणामा हिमबदादयः तथानादिसिद्धत्वादन्य-थोपदेशस्य परमागममतिहतत्वाद् ।

चीन देशीय कोंशेयके समान वर्णको धारनेवाला हेममय हिमवान् पर्वत है। अर्जुन जातिके सुवर्ण समान रंगको धारनेवाला महाहिमवान् पर्वत शुक्लवर्णका अर्जुनमय है, तपनीय जातिके सुवर्णकी प्रचुरताको धारनेवाला निषय है, जो कि मध्याह्मकालके सूर्वकी प्रभा समान आभाको धारता है, मयूरप्रीवाके वर्ण समान वैद्वर्यमणिमय नीला नीलपर्वत है, चांदीका विकार हो रहा शुक्र रुक्मी पर्वत है और हिमवान्के समान हेममय थोडा पीला चीनाई रेशमके समान कान्तिको धारनेवाला हिममय शिखरी पर्वत है। अर्थात्—वर्तमानमें सुवर्ण स्थूलतासे एक प्रकारका प्राप्त हो सहस्रनाममें भगवान् के शरीर कान्तिकी परनिमित्त या स्वयं भिन्नताओं को धारनेवाली मानकर कई जातिके सुवर्णोसे उपमा दी गयी है। " भर्माभः, सुप्रभः, कनकप्रभः, सुवर्णवर्णो, रुक्मामः, सूर्यको-टिसमप्रभः, तपनीयनिभत्तुंगो बाळार्कामोऽनलप्रभः, संन्याश्रवश्र्हेमाभस्तक्षचामीकरच्छिवः, निष्टतकन-कच्छायः कनत्काञ्चनतिभः, हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः, शातकुग्मनिभप्रभः, धुग्नमा जातरूपामो दीप्तजान्वनद्युतिः, सुधौतकल्यौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकस्रुतिः " इन स्तुतियोंके स्लोको हारा प्रतीत हो जाता है कि सुवर्ण कई रंग और अनेल कान्तियाँसे युक्त है। भन्ने ही अमरकोषमें " स्वर्ण सुवर्ण जाता है कि सुवर्ण कई रंग और अनेल कान्तियाँसे युक्त है। भन्ने ही अमरकोषमें " स्वर्ण सुवर्ण

कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्, तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्मकर्बुरम्, । चामीकरं जातरूपं महारज-तकाञ्चने, रुक्मकार्तस्यरं जाम्बूनदमष्टापदोऽक्षियाम् " ये उनीस पर्यायवाची नाम सोनेके गिनाये हैं। 'फिर भी " जेतियमित्ता सदा तेतियमित्ता हु होंति परमत्था " इस नियम अथवा एवम्भूत नयकी अपेक्षासे सुवर्णका नानापना अनिवायं है। यद्यपि आजकल भी प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल, रात्रिके समय एक ही प्रकारके सुवर्णको देखनेपर परिनिमित्तोंसे नाना कान्तियां प्रतीत हो जाती हैं। करकेंद्राके रंग समान सोना स्वयं भी कान्तियोंको बदलता रहता है। तथापि देखे जा रहे कई जातिकी चांदियां अनेक प्रकारके सुवर्ण नाना ढंगके हीरकमणियोंका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। शुक्र विमान, सूर्य-मण्डल, बृहस्पति, बुधमह, या अन्य ताराओंमें मणियोंकी अनेक जातियां प्रत्यक्ष गोचर हैं। अतः इस विषयमें अभिक विस्तार करना न्यर्थ है। ये हिमवान्, महाहिमवान् आदिक पर्वत सुवर्ण आदिके बन रहे परिणाम है। क्योंकि तिस प्रकारके ही वे अनादि कालके स्वयं सिद्ध हो रहे हैं। यदि अन्य प्रकारोंसे इनका उपदेश किया जायगा जैसा कि भासकराचार्य या अन्य पौराणिक विद्वानोंने स्वीकृत किया है, उस मिध्योपदेशका इस परमागम करके प्रतिवात कर दिया जाता है। अतः सूत्रोक्त न्यवस्थाको निर्दोष समझ लीजियेगा।

पुनरपि किं विशिष्टास्त इत्याह।

फिर भी वे पर्वत किन मनोहर पदार्थोंसे विशिष्ट हो रहे हैं, ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री उमा-स्वामी महाराज अग्रिम मूत्रको कहते हैं।

मणिविचित्रपाइर्वाः ॥ १३ ॥

प्रभाव, कान्ति, शक्ति, आदि अनेक गुणोंसे युक्त होरहीं मणियों करके विचित्र होरहे पार्श्व-भागोंको धारनेवाले वे पर्वत हैं।

मणिभिर्विचित्राणि पार्श्वाणि येषां ते तथा । अनेन तेषामनादिपरिणाममाणिविचित्रपा-र्श्वत्वं प्रतिपादितं ।

जिन पर्वतोंके पसवाडे भळा मणियों करके चित्र, विचित्र, हो रहे वे पर्वत तिस प्रकार " मणिविचित्रपार्श्वाः " कहे जाते हैं। इस विशेषण द्वारा उन पर्वतोंका अनादि काळसे परिणाम होरहा यह मणियों करके विचित्र पसवाडोंसे सहितपना कह दिया गया समझ छिया जाता है।

तद्विस्तरविशेषप्रतिपादनार्थमाइ।

उन पर्वतों के विशेष रूपसे विस्तारको प्रतिपादन करनेके छिये श्री उमास्त्रामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं।

उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १४ ॥

वे हिमवान् आदिक पर्वत ऊपर भाग और मूळ भागमें समान चौडाईको लिये हुये हैं। अर्थात्-भीतके समान ऊपर नीचे बीचमें उनकी चौडाई एकसी है।

च श्रद्धान्मध्ये च, तथा चानिष्टविस्तारसंस्थाननिष्टात्तः प्रतीयते ।

सूत्रमें पड़े हुये च शह्नसे मध्यमें भी उनका समान विस्तार समझ लेना चाहिये, और तिस प्रकार ऊपर, नीचे, बीच, में तुल्यविस्तारका कथन करनेसे अनिष्ट विस्तारबाले संस्थानोंकी निवृत्ति प्रतीत होजाती है। अर्थात्—सुमेरुके समान नीचेसे ऊपरकी ओर घटते घटते रहना या विजयार्थके समान कटनियोंका होना अथवा मानुषोत्तर पर्वतके समान एक ओर मीतका आकार और दूसरी ओर ढला हुआ आकार इत्यादि संस्थान इन कुलाचलोंका नहीं है। ये तो पक्की भीतके समान ऊपर नीचे बीचमें तुल्यविस्तारबाले है।

तदेवं सूत्रचतुष्ट्यंन पर्वताः शोक्ता इत्युपसंहराति ।

तिस कारण इस प्रकार उक्त चारों सूत्रों करके कुछाचछ पर्वतोंका वर्णन सूत्रकारने अच्छा कह दिया है। इस बातका श्री विद्यानन्द स्थामी वार्तिक द्वारा उपसंहार करते हैं। अर्थात्— '' मणिविचित्रपार्श्वाः '' और '' उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः '' ये दो सूत्र हैं। एक नहीं, दो इनके पूर्वमें हैं यों चार सूत्र हुये।

पूर्वीपरायतास्तत्र पर्वतास्तद्विभाजिनः । षदप्रधानाः परेणैते प्रोक्ता हिमवदादयः ॥ १ ॥

उस जम्बूदीपमें उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले पूर्व, पश्चिम, लम्बे पडे हुये ये हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत सूत्रकार द्वारा न्यारे मूत्रों करके अच्छे कहे जा चुके है।

सूत्रेणित पूर्वश्लोकादनुवृत्तिः परेणिति सूत्रविशेषणं तेन क्षेत्राभिषायिस्त्रतात्परेण सूत्रेण हिमक्दादयः षद्भधानाः पर्वताः मोक्ताः इति संबंधः कर्तव्यः। पूर्वपरायतास्तद्विभाजिन इति विशेषणद्वयवन्नं हेमादिमयत्वमणिविचित्रपार्श्वत्वोपरि मूले च तुल्यविस्तारत्वविशेषणान्नामुपलक्षणार्थे । हेमादिमयाः मणिभिविचित्रपार्शाः तथोपरि मूले च तुल्यविस्ताराः प्रोक्ताः सूत्रत्रयेण।

इस वार्त्तिकसे पहिली '' क्षेत्राणि भरतादीनि सप्त तत्रापरेण तु । सूत्रेणोक्तानि तत्संख्यां हंतुं तीर्थिककल्पिताम् '' उक्त वार्त्तिक स्ठोकसे सूत्रेण इस पदकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये । इस वार्तिक समें पड़ा हुआ '' परेण '' यह शद्ध उस सूत्रका विशेषण हो जाता है । तिस कारण क्षेत्रोंका क्यन करनेवाले '' भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि '' इस सूत्रमे परली ओरके

"तिहैमाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवानिषयनीलरुक्निशिखरिणो वर्षधरपर्वताः " इस सूत्र करके सूत्रकार द्वारा हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत बहुत अच्छे कहे जा चुके हैं। यों वार्तिकके परोंका सम्बन्ध कर संगत अर्थ कर छेना चाहिये। पर्वतोंके प्रतिपादक पहिछे सूत्रमें जो पूर्व, पश्चिम, छम्बे और उन क्षेत्रोंका विभाग कर रहे यों पर्वतोंके इन दो विशेषणोंका कथन तो अगछे तीन सूत्रोंमें कहे गये हैम, अर्जुन, आदिका विकारपना और मणियोंसे विचित्र पसवाडोंका धारना तथा ऊपर या जडमें समान विस्तार सहितपना इन तीन विशेषणोंका उपछक्षण करनेके छिये है, जो कि पर्वत श्री उमास्वामी महाराजने उत्तरवर्ती तान सूत्रों करके हेम आदिके परिणाम और मणियोंसे विचित्र पसवाडोवाछे तथा ऊपर, नीचे, बीचमें, तुन्य विस्तारवाछे यों मछे प्रकार तीन सूत्रों द्वारा कहं जा चुके हैं। अर्थात्— छक्ष्यछक्ष्यण भावकी अपेक्षा भविष्यके तीन सूत्रोंमें कहे गये प्रमेयका पहिछे सूत्रमें ही आकर्षण कर " तिहिभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्मदाहिमविश्वधनीछक्षिमशिखरिणो वर्षवरपर्वताः " इस पहिछे सूत्रको ही छह कुछाचछोका निशेष सर्वाङ्गीण छक्षण समझ छेना चाहिये। वही चारों सूत्रोंकी एक्वाक्यता हो जानेपर निष्कर्ष निकछता है।

तेषां हिमवदादोनाग्रुपरि पद्मादिहृदसद्भावनिवेदनार्थमाह ।

उन हिमनान् आदि पर्वतोके ऊपर पद्म आदि सरोवरोने. सङ्गावका निवेदन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते है।

पद्ममहापद्मितिगिंछकेसरिमहापुंडरीकपुंडरीका-हृदास्तेषामुपरि ॥ १५ ॥

उन हिमवान्, महाहिमवान् , आदि छह पर्वतोंके ऊपर ठीक बीचमें यथाक्रमसे पद्म, महा-पद्म, तिंगछ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक, इन नामोंको धारनेवाले सरोवर हैं।

हिमवत उपरि पद्मो इदः, महाहिमवता महापद्मः, निषधस्य तिर्गिछः, नीलस्य केसरी, रुक्मिणः महापुंडरीकः, शिखरिणः पुंडरीक इति, संबंधो यथाक्रमं वेदितव्यः। पद्मादिजलकुसुम-विश्वेषसहचरितत्वात् पद्मादयो इदा व्यपदिश्यंत, तथा रूढिसज्जावाद्दा हिमवदादिव्यपदेशवत् ।

हिमत्रान् पर्वतके ऊपर पद्मनामका ह्द है । महाहिमत्रान् पर्वतके ऊपर ठीक बीचमें महापद्म संज्ञक सरोवर है । निषध पर्वतके ऊपर तिगिछ नामत्राला पद्माकर है । नील पर्वतके ऊपर केसरी अभिधात्राला अगाध जल भरा हुआ तड़ाग है । रुक्मी पर्वतपर महापुण्डरीक इस नामका धारी हद है तथा शिखरी पर्वतके ऊपर पुण्डरीक संज्ञात्रान् आयतचनुरस्न सरोवर है। इस प्रकार लह पर्वतोंके ऊपर यथाकममे छह हदोका सम्बन्ध हो रहा समझ लेना चाहिये। उन हदोंमें विराज रहे और पद्म, महापद्म, आदि नामोंको धारनेवाले निशेष कमलोंके सहचरितपनेसे हदोंका भी पद्म, महापद्म, आदि नामों करके निर्देश कर दिया जाता है। अथवा सिद्धान्त उपाय वही है कि जैसे हिमकी या महाहिमकी प्रधानता नहीं कर अनादि कालीन रूढिके सद्भावसे पर्वतोंका हिमवान, महाहिमवान, आदि व्यपदेश है, उसी प्रकार अनादि, अनन्त, रूढिके सद्भावसे इन हदोंका नाम भी पद्म, महापद्म, आदि रूप करके अनादि निधन प्रवर्त रहा है।

पद्मादयो हदास्तेषामुपरि प्रतिपादिताः । सूत्रेणैकेन विज्ञेया यथागमसंशयम् ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने इस एक सूत्र करके उन पर्वतोंके ऊपर पग्न आदि हदोंका शिष्योंकी व्युत्पनिके लिये प्रशस्त प्रतिपादन कर दिया है। विशेष वर्णना युक्त उन पर्वतोंको आगम अनुसार संशयरहित होते हुये समझ लेना चाहिये। अर्थात्—वे पर्वत पूर्व पश्चिम लम्बे हैं, उत्तर दक्षिण चोंडे हैं नाना माणि, सुवर्ण, रजत धातुओंसे उनके तट चितरे गये हैं। उनमें निर्मल स्वच्छ अक्षय जल भरा हुआ है उनके चारों ओर वनखण्ड शोभ रहे है ! जलप्रवाह तोरण आदि कहा कैसे व्यवस्थित हैं ! इन सब बातोंको जिनोक्त आगम अनुसार हृदयंगत कर लेना चाहिये।

तत्र प्रथमो इदः किमायामविष्रंभ इत्याह ।

उन छह हर्दोमें पहिला हद कितनी छम्बाई और चौडाईको धार रहा है ? यो जिज्ञासा हाने-पर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं ।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कंभो हदः ॥ १६ ॥

उन छह हदोंमें पहिला पद्म नामका हद तो बडे योजनोंसे एक सहस्र योजन लम्बा और उससे आधा यानी पांचसो योजन चौडा है।

सूत्रपाठापेक्षया मथमः पद्मो ह्दः योजनसहस्रायाम इति वचनादन्यथा तद्दैर्घव्यवच्छेदः, तद्र्धविष्कंभ इति वचनात् पंचयोजनशतविष्कंभत्वप्रतिपत्तिरन्यथा तद्विस्तारनिरासः प्रतिपत्तव्यः।

हदों के प्रतिपादक पूर्व सूत्रमें कहे अनुसार पाठकी अपेक्षा करके पहिला गिना गया दक्षिण ओरका पम नामका हद तो सहस्रयोजन लम्बा है, यों कथन कर देनेसे अन्य प्रकारों करके गढ़ ली गयी उसकी दीर्घताका न्यवच्छेद हो जाता है। अर्थात्—पम हद हजार योजनसे न्यून य अधिक लम्बा नहीं है और यह लम्बाई पूर्व पश्चिम है, दक्षिण, उत्तर, की ओर नहीं है। हदके दूसरे विशेषण उससे आधा चौड़ा यों कथन कर देनेसे पांचसों योजन चौड़ाई की प्रतिपात्ति हो जाती है। अतः अन्य प्रकारोंसे कल्पित किये गये उसके विस्तारका निराकरण समझ लेना चाहिये।

किमवयाहोसावित्याह ।

वह पहिला हद कितने अवगाह (गहराई) को धारता है ! ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज सूत्रको कहते हैं ।

दशयोजनावगाहः॥ १७॥

यह पहिला हद दश योजन अवगाहको धार रहा है।

पृथग्योगकरणं सर्वद्रदासाधारणावगाहप्रतिपत्त्यर्थे ।

पिंडेले पद्म हदकी लम्बाई, चौडाईका सूचन करनेवाले पूर्व सूत्रसे इस सूत्रका पृथक् योग करना तो सम्पूर्ण हदोंके न्यारे न्यारे असाधारण अवगाहोंकी प्रतिपात्ति करानेके लिये हैं।

संस्ययायामविष्कंभावगाहगतया हदः । सूत्रद्वयेन निर्दिष्टः प्रथमः सर्ववेदिभिः ॥ १॥

सर्व पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञोपम श्री उमास्वामी महाराज श्रुतज्ञानीने उक्त दोनों सूत्रोद्वारा सहस्न, पांचसौ और दश योजनवाली संख्याके साथ लम्बाई, चौडाई, और गहराईको प्राप्त हो रहेपन करके पहिले हदका निरूपण कर दिया है।

सामर्थ्यादेकेन सूत्रेण हिमबदादीनामुपरि षट्पद्यादया इदा निर्दिष्टा इति गम्यते, तत्पाटापेक्षया पद्मस्य इदस्य प्रथमत्ववचनात् ।

उक्त दो सूत्रोंमें कहे गये प्रयेयके वर्णनकी सामर्थ्यसे ही "पग्न, महापग्न, तिगंछ, आदि " एक सूत्र करके हिमनान् आदि पर्वतोंके ऊपर छह पग्न आदि इद कहे जा चुके हैं यों वार्तिकमें कहे विना ही समझ लिया जाता है। क्योंकि उसी पंद्रहर्वे सूत्रके पाठकी अपेक्षासे ही तो सोल्ह्वें, सत्र-ह्वें, सूत्र द्वारा क्लाने गये पग्न हृदको प्रथमपनका वचन कहा गया है।

अय वन्मध्ये विश्विष्ट परिणामं पुष्करं मतिपादयति ।

अबं इसके अनन्तर उन इदोंके मध्यमें अनेक विशेषणोंसे युक्त होरहे परिणामको धारनेवाछे पुष्कर जातिके पार्थिव कमळका श्री उमास्वामी महाराज प्रतिपादन करते हैं।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १८ ॥

उस पहिले पद्म हटके मध्यमें एक योजन लंबा, चीडा, वर्तुलाकार कमल है।

द्विकोशकार्णिकत्वादेककोशवहत्वपत्रत्वाच योजनपरिमाणं योजनं पुष्करं जलकुसुमंतथा-नादिपरिणामाद्देदितव्यम् । इ तत् १ तस्य पश्चड्रदस्य मध्ये । कमलके बीचका कोष तो दो कोस लंबा, चौडा, गोल है, जो कि कार्णिका कही जाती है और इघर उघर चारों ओर एक एक कोस लंबे कई कमलपत्र हैं। इस कारण वह जलका छल कमल तिस प्रकार अनादि कार्डीन पृथ्वी परिणामसे रचा हुआ बड़े योजनसे एक योजन लम्बे चौड़े परिमाणको घार रहा एक योजनका समझ लेना चाहिये। वह कमल कहां है ? इस आकांक्षाको शान्त करनेके लिये सूत्रकारने '' तन्मध्ये '' कहा है। अर्थात्—उस पग्नहदके ठींक बीचमें जल तल्से दो कोस उठे हुये नालवाला, वन्नमणिमय जडका धारी, रजतमणिनिर्मित मृणालका धारक, और वैद्वर्यमणिके दह नालको धार रहा वह पार्थिव कमल है, वनस्पतिकायका नहीं है। वनस्पतिकाय जीवकी उत्कृष्ट स्थिति केवल दश हजार वर्ष है। किन्तु यह कमल अनादिसे अनन्त कालतक सहशापरिणामोंको धार रहा सुन्यवस्थित है। मले ही सूक्ष्म परिणातिओंके अनुसार अनन्त परमाणुयें उसमें आते, जाते रहें या पृथिवीकायिक जीव उपजते, मरते, रहें। किन्तु स्थूलपर्याय सदा एकसी बनी रहती है।

शेषद्रवृष्करपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह ।

पहिले पग्न हदसे अतिरिक्त बचे हुये पांच हदोंमें स्थित हो रहे कमलोंकी लम्बाई चौडाई, गहराई के परिमाणों या परिणामोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते है।

तद्द्विग्रणद्विग्रणा हदाः पुष्कराणि च ॥ १९ ॥

उस पद्म इदसे दुगुनी दुगुनी, लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले उत्तरवर्ती इद और कमल हैं। उत्तर तथा दक्षिण, के इद और कमलोंका परिमाण समान है। पद्म सरीवरसे महापद्मका क्षेत्रफल अठ गुना और पद्मसे तिगन्छ इदका क्षेत्रफल चौसठ गुना वडा है।

ततः पश्रद्भात् पुंढरीकद्भदाच द्विगुणद्विगुणा द्रदा महापश्रमहापुण्डरीकादयः, योजन-परिमाणाच पुष्करादक्षिणादुत्तरस्माच द्विगुणद्विगुणानि पुष्कराणि विष्कंभायामानीति वीष्सा-निर्देशात् संप्रतीयंते " उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इति वश्यमाणसूत्रसंबंधत्वात् । तत्संबंधः पुन-र्वेडुवचनसामर्थ्यादन्यथा द्विचनप्रसंगात् तद्विगुणौ द्विगुणाविति । तदेवं—

उस पहिले पमह्दसे उत्तरकी ओर और छट्टे पुण्डरीक हदसे दक्षिणकी ओरके महापम, महापुण्डरीक, आदिक हद द्विगुनी द्विगुनी लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले हैं तथा दक्षिण दिशावर्ती पहिले और उत्तरदिशावर्ती अन्तके एक योजन परिमाणवाले कमलसे द्विगुने द्विगुने चौडाई, लम्बाई, परिमाणवाले परले, उरले, कमल हैं। इस बातकी 'दिगुणादिगुणा'' इस बीप्साके निर्देश कर देनेसे भले प्रकार प्रतीति होजाती है। श्री

राजवातिक प्रन्थमें अकलंक देव महाराजने अगले अगले हदोंके अवगाहको भी कण्ठोक्त हिगुना हिगुना लिखा है। यहां भी हिगुनी गहराईका निषेध नहीं है, जब कि जम्बूदीपके उत्तरवर्ती स्थानोंकी रचना दक्षिण दिशावर्ती स्थानोंके तुल्य है। इसको समझानेके लिये "उत्तरा दक्षिणतुल्याः" इस वक्ष्यमाण सूत्रका सम्बन्ध हो रहा है। इससे प्रतीत हो जाता है कि सूत्रमें फिर "हिगुणिहगुणाः" इस बहुवचनकी सामर्थ्यसे उन, दूनी दूनी लम्बाई, चौडाई, गहराईयोंका सम्बन्ध हो जाता है। अन्यथा "तिहगुणों दिगुणों " इस प्रकार अर्थकृत लावत करते हुये सूत्रकारको "हिगुणिहगुणों " इतना ही कह देनेका प्रसंग प्राप्त होगा। अर्थात्—प्रम हदसे दूना महापद्म हद है और महापप्रसं दूना तिगिन्न हद है तथा पुण्डरीक हदसे महापुण्डरीक हद दूना लम्बा चौडा गहरा है और महापुण्डरीक सरोवरसे केसरी हद दिगुना है, यह केवल दो स्थानोंपर ही दिगुनापना दिखलाया गया है। यों ही दो स्थानोंपर कमलोंका भी दूनापन निर्णात हो रहा है। ऐसी दरामें सूत्रकारको संक्षेपसे "तिहिगुणिहगुणों कहना चाहिये था। फिर जो सूत्रकारने "तिहगुणिहगुणाः" यों बहुवचनान्तपद कहा है, इससे जाना जाता है कि दक्षिण, उत्तर, आदि अन्तके दो हद या कमलोंकी संख्या दूनी दूनी नहीं है। एक एक ही बराबर है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ उसे सुनो।

तन्मध्ये योजनं शोक्तं पुष्करं द्विगुणास्ततः । इदाश्च पुष्कराणीति सूत्रद्वितयतोंजसा ॥ १॥

उस हदके मध्यमें एक योजनका पुष्कर और उससे दिगुने, दिगुने, आकारवाले हद और पुष्कर है, इस अर्थको उक्त दोनों सूत्रोंने श्री उमास्त्रामी महाराजने स्पष्ट रूपने अच्छ। कह दिया है।

तिवासिन्यो दंव्यः काः किं स्थितयः परिवाराश्च श्रूयन्त इत्याह ।

अत्र महाराजजी, यह बताओं कि उन पुष्करोमें बने हुये महलोंमें निवास करनेवाली देवियां कौन हैं ! सर्वज्ञ आम्नायसे चले आ रहे द्वादशांगके अंगभूत शाखोंमें उन देवियोकी कितनी स्थिति कही है ! तथा ऋषि सम्प्रदाय द्वारा उनका परिवार कितना शाखोंमें सुना जा रहा है ! यों विनीत शिष्यकी शुश्रुषाको ज्ञात कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र कहते हैं।

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्वीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः॥ २०॥

उन कमलोंमे यथाक्रमसे निवास करनेका शील रखनेवाली १ श्री २ ही ३ धृति ४ कीर्ति ५ बुद्धि ६ लक्ष्मी ये छह व्यन्तर देव जातिकी देवियां वास कर रहीं हैं। उन सम्पूर्ण देवियोंके भुज्य- मान आयुष्य कर्मकी स्थिति तो एक अद्धापल्योपम है। वे देवियां सामानिक जातिके देव और सभाओं में बैठनेत्राले पारिषद् जातिके देवोंसे सिहत होरहीं हैं। विशेषतः श्री, ही, धृति, तो सौधर्म इन्द्रकी आज्ञा मानती हैं और कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, ये ईशान इन्द्रकी आज्ञानुमार प्रवर्तती हैं। पांचों मेरु संबंधी देवियोंकी यही ज्यवस्था है। ये सब ब्रह्मचारिणी हैं। भगवान्की माताकी सेवामें इनका विशेष अनुराग है।

तेषु पुष्करेषु निवसनकीलास्तिश्वासिन्यः, देवगतिनामकर्मविशेषादुपजाता इति देव्यः श्रीभभृतयः तत्र पद्मदूदपुष्करमासादेषु । श्रेषद्भद्भुष्करमासादेषु द्रीपभृतयो यथाक्रमं निवसं-तीति यथागमं वेदितव्यं । ताः पल्योपमस्थितयस्तावदायुष्कत्वेनोत्पत्तः । सामानिकाः परिषद्श्र वक्ष्यमाणलक्षणाः सह ताभिवर्ततेत इति ससामानिकपरिषत्काः । एतेन तासां परिवारविभूतिं कथितवान् । एतदेवाह—

जिन देवियोंकी देव उन पुष्करोंमें निवास करनेकी है, वे देवियां तिनवासिनी कही जातों हैं। निवास राद्वसे शील अर्थमें तद्धितान्त इन् प्रत्यय कर दिया जाता है। नामकर्मकी उत्तर प्रकृति देवगति नामक नामकर्मके उत्तरोत्तर भेदस्वरूप विशेषकर्मसे विशेष व्यंतरोंमें उत्पन्न ह्यों हैं । इस कारण श्री. ही, आदिक देविया मानी जाती हैं । पद्महदके कमलमें बन रहे प्रासादोंमें श्रीदेवी निवास करती है तथा शेप हृदवर्ती पुष्करोंमें बने हुये प्रासादोंमें यथाक्रमसे ही, घृति आदि देविया निवास करती है। यों आगम मर्यादाका अतिक्रमण नहीं कर समझ छेना चाहिये। अर्थात-उन कमलोंकी कर्णिकाके बीचमें एक कोस लम्बा आधा कोस चौडा कुछ कम एक कोस ऊंचा महल बना हुआ है उसमें देवी रहती है। यहा प्रासादोंका बहुतपना यों घटित हो जाता है कि एक कमलमें भी कई प्रासाद सम्भवते हैं तथा एक कमलके परिवार हो रहे एक लाख चालीस हजार एक सौ पचास कमलोंपर भी इतने ही प्रासाद बने हुये है अथवा पांच मेरू सम्बन्धी पांच पद्म हदोंके पांच महलोंमें त्यारी न्यारी आत्मा-ओंको लिये हुये भिन्न भिन्न पांच श्री देवियां निवास करती हैं. इत्यादि रूपसे आम्रायके अनुसार यों सम्पूर्ण व्यवस्था बन जाती है। वे देवियां पत्योपम स्थितिको धार कर उतने कालतक जीवित रहती है। पुनः एक दंवीके मर जानेपर दूसरी देवी उपज जाती है। क्योंकि उतने एक पल्य परिमाणवाछे आयुसे सिहतपने करके उनकी वहा उत्पत्ति हुआ करती है (हेतू)। सामानिक और परिषद जातिके देवोका रुक्षण भविष्यमें कह दिया जायगा। ये देव उन देवियोंके साथ कमलोंमे उन देवियोंके अनु-गामी होकर वर्तते है। इस कारण देवियोंको सामानिक और परिषद सम्बन्धी देवोंसे सहितपना कहा गया है। इस विशेषणसे उन देवियोंकी परिवार सम्बन्धी विभूतिको सूत्रकार कह चुके हैं। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

> देव्यः श्रीमुखाः स्याताः सूत्रेणैकेन सूचनात् । षडेव तन्निवासिन्यस्ताः ससामानिकादयः ॥ १॥

श्री उमास्वामी महाराजने एक ही इस सूत्र करके श्री, ही, प्रमृति देवियोंका व्याख्यान किया जा चुका सूचन कर दिया है। एक मेरु सम्बन्धी छह कुलाचलोंपर वे देवियां सामानिक आदि देवोंसे सिहित हो रहीं सन्ती उन कमलोंमें निवास करनेवाली छह ही हैं। इतने प्रमेयको सूत्रकारने एक ही सूत्रमें भर दिया है " जैनर्षयस्ते विजयन्ताम् "।

उन भरत आदि क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येक क्षेत्र जिन मध्य गामिनी नदियों करके तीन या चार विभागोंको प्राप्त हो जाता है, श्री उमास्वामी महाराज उन नदियोंका निरूपण करनेके लिये अप्रिम सूत्रको कहने हैं । श्रद्धा लाकर सुनिये ।

गंगासिंधूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारी नरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाःसरितस्तन्मध्यगाः।

१ गंगा २ सिंधु ३ रोहित् ४ रोहितास्या ५ हरित् ६ हरिकान्ता ७ सीता ८ सीतोदा ९ नारी १० नरकाता ११ सुवर्णकूला १२ रूप्यकूला १३ रक्ता १४ रक्तोदा ये चौदह महानदिया उन सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करती हैं।

सरितो न वाप्यः, तेषां भरतादिक्षेत्राणां मध्यं तन्मध्यं तन्मध्ये गच्छंतीति तन्मध्यगा इत्यनेनान्यथागति गंगासिध्वादीनां निवारयति ।

इस सूत्रमे सरित् शह इसिलये कहा है कि ये चौदह संख्यावाली निदयां है, बाविडयां नहीं है। यद्यपि नन्दीश्वर द्वीपकी एक लाख योजन लम्बी, चौडी, जार हजार योजन गहरी चौकोर बाविडयां इन निदयोंसे द्विगुनी, तिगुनी, लम्बी और वीसों, पचासो, गुनी चौडी तथा सैकडों गुनी गहरी हैं। तथापि पर्वतसे धागरूप निकलकर नीची नीची भूमिमें गमन करते करते और परिवारकों बढाते हुये महान् जलाशयमें मिल जाना यह निदयोंका लक्षण इन चौदह निदयोंमें अथवा अन्य निदयोंमें भी घटित हो जाता है। अतः वास्तविक रूपसे ये निदयां मानी गयी हैं। निम्नभूमिपर समतल अवस्थामें रुके हुये जलको धारने वाली वापियां इन निदयोंसे विलक्षण हैं। उन भरत आदि क्षेत्रोंके मध्य स्थानको तन्मध्य माना गया है। " उस तन्मध्यमें गमन कर रहीं हैं।" इस निरुक्ति द्वारा ये निदयों " तन्मध्यमाः " कही जातीं हैं। इस प्रकार तन्मध्यमा इस विशेषण करके गंगा सिन्धु आदि निदयोंकी किल्पत की गयी दूसरे प्रकार गतियोंका निवारण कर दिया जाता है। अर्थात्—ये निदयां क्षेत्रोंके मध्यमें बह रहीं हैं। आदि भाग, अन्तभाग, या बहिभीगोंमें नहीं बहती हैं और अपनी गति अनुसार सदा गमन ही करती रहती हैं। स्थिर होकर नहीं बैठ जाती हैं।

तत्र भरतक्षेत्रमध्ये गंगासिंध्वी, हैमवतमध्यगे रोहिद्रोहितास्य, हरिमध्यगं हरिद्धरिकाति, विदंहमध्यगे सीतासीतोदं, रम्यकमध्यगे नारीनरकाति, हैरण्यवतमध्यगे सुपर्णेरूप्यकुछे, ऐरावतमध्यगं रक्तारक्तोदे इति ।

उस पहिले भरतक्षेत्रके मध्यमें गंगा. सिन्ध, दी नदियां वह रही है। भावार्थ-हिमवान पर्वतके उत्पर स्थित होरहे पद्म नामक सरीवरके पूर्व दिशा सम्बन्धी सवा छह योजन चौडे और आधा योजन गहरे द्वार (मोरी) से निकलकर पर्वत पर ही पांचसी योजन पूर्वको बहती हुई गंगा नदी पनः दक्षिणकी ओर मुडकर (बल खाकर) कुछ अधिक पांचसी तेईस योजन पर्वतकी आधी चौडा-ईपर जबर ही गमन करती है। पर्वतकी चौडाईमेंसे नदीकी धारको कमती कर आधा कर देनेसे उक्त संख्या आजाती है। सो योजन ऊंचे हिमवान पर्वतसे गिरकर काहळ (रणसिंहाबाजे) या अर्धमालाके समान आकारको धारती हुई दस योजन चौडी होगयी गंगा नदी पर्वतको पचास योजन छोडकर नीचे गिरती है। हिमनान पर्यतसे पचास योजन दक्षिणकी ओर इटकर साठ योजन छंबा चौडा और दश योजन गहरा एक चौकोर कुण्ड बना हुआ है। कुण्डके मध्यमें साडे दश योजन ऊंचा और आठ योजन लंबा, चौडा, एक सुंदर द्वीप शोभ रहा है। उस द्वीपके मध्यमें दश योजन ऊंचा वन्नमय पर्वत है। उस पर्वतके ऊपर डेढ कोस, एक कोस, आधा कोस, क्रमसे नीचे, मध्य, ऊपर भागमें चौडा और एक कोस ऊंचा ढलवां श्रीदेवीका गृह बना हुआ है, जिसका आकार मंदिरकी शिखर (गुम्मज) के समान है। श्रीगृहके मस्तकपर बने हुये कमलकी कर्णिकामें सिंहासन भरा हुआ है। उस सिंहासनपर अनुप्रम सन्दर जिनप्रतिमा विराजमान है। अन्य चैत्यालयोंकी प्रतिमासे इस प्रतिमामें इतनी विशेषता है कि इनके केश जटा सदश होरहे ऊपर की ओर लम्बे बंबे हुये हैं। वह केशोंका जटाजूट मुकट सारिखा प्रतीत होता है। ऐसे मनोज्ञ जिनबिम्बका अभिषेक करनेके लिये ही मानूं हिमवानपर्वतसे गंगा अव-तीर्ण होती है । सौ योजन ऊंचे स्वर्गसमान हिमवान् पर्वतसे महान् देव जिनेन्द्र बिम्बके जटायुक्त सिर पर गंगाकी धार पडती है। इसी दश्यके आश्रयपर पौराणिक प्ररोहितोंने अनेक प्रकारकी कथायें गढ़ की हैं। अनादिकालसे पढ़ रहे जलके आघातसे जिनप्रतिमार्ने बालाप्र भी परिवर्तन नहीं होता है। ऐसी दिन्य शोभाको धार रहे जिनबिम्बको हम त्रियोगद्वारा नमस्कार करते हैं । गंगा नदीका जल एक प्रकार अभिषेक जल ही है। कुण्डके दक्षिणद्वारसे निकलकर म्लेच्ल खण्डीमें बहती हुई विजयार्थ की खण्डप्रपात नामक गुफामें प्रवेश कर आर्यखण्डके पूर्वीय प्रान्त भागमें गमन करती हुई सादे बासठ योजन चौडी होकर लवणसमद्रमें मिल गयी है। इसी प्रकार सिन्ध आदि नदियोंका वर्णन समझना चाहिये । नदियोंकी उद्गम स्थलपर जितनी चौडाई है, अन्तमें जाकर उससे दशगृती चौडाई होजाती है। चौडाईसे साढे बारहवें भाग या पचासर्वे भाग गहराई जान छेनी चाहिये। नदियोंके निकलने और प्रवेश होनेके स्थानों पर तौरण बने हये हैं । तौरणोंके उपर मनोज अक्रत्रिम जिन प्रतिबिंब विराजमान हैं । नीचे दिक्कुमारी देवियां निवास करती हैं । कुण्डोंमें नदियां गिरतीं हैं । उन कुण्डोंमें स्थित होरहे द्वीपोंके ऊपर पांचसी धनुष छम्बे शरीरके पद्मासनसे जिन प्रतिमार्थे विराजमान हैं । इस प्रकार गंगा आदि नदियोंका सामान्य वर्णन है । त्रिलोकसार आदि महान प्रन्थोंमें पूर्वाचार्याने विस्तारसे बड़ा है। छह खण्डवाछे भरतक्षेत्रसम्बन्धी आर्यखण्डके मध्ये भागमें जो छोटासा यह

भरत खण्ड (हिंदस्तान) है, इसके उत्तरमें हिमालय है और पश्चिममें सिन्धु नदी तथा पूर्व भागमें गंगा नदी बर रहीं हैं |न तो यह हिमालय हिमवान् पर्वत है और न ये क्षद्र गंका नदी, सिंधु नदी ही महागंगा नदी महासिन्ध नदी हैं। किन्तु आर्यखण्डकी अयोध्या नगरीसे उत्तर दिशाकी ओर लगभग चारसे सात योजन चलनेपर हिमवान पर्वत मिल सकता है और आर्य खण्डसे पूर्व या दक्षिणकी ओर कई सौ योजन चलकर महागंगा नदी मिल सकती है। उससे पहिले यहीं बीस पद्मीस कोस चलकर ही महागंगा नदी नहीं मिल जाती है। यदि कोई मनुष्य विमानद्वारा इतना चल सके तो वह जैन सिद्धान्तके करणानुयोग शास्त्रोंके अनुसार गंगाको पा सकता है। ये सब योजन दो हजार धनुषसे नापे गये कीसोंकी दो हजार गुनी नापके बने हये बड़े योजन हैं। तथा हैमवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त होकर रोहित और रोहितास्या ये दो नदियां वह रहीं हैं। महापद्मके दक्षिण द्वारसे निकलकर सोलहसी पांच योजन पर्वतके ऊपर ही दक्षिणकी और वह कर दो सौ योजन ऊंचे पर्वतसे रोहित् नदी गिरती है। महाहिमवान पर्वत चार हजार दो सौ दस और दस वटे उनीस योजन चौडा है। हजार योजन चौड़े हृदको घटाकर आधा कर देनेसे सोलह सौ पांच और पांच बटे उनीस योजन पर्वतके ऊपर सेहितका बहना निकल आता है। पग्न हदके उत्तर द्वारसे निकल कर दो सौ छहत्तर और छह बटे उनीस योजन हिमवान् पर्वतके ऊपर उत्तरमुख बह रही प्रारम्भमें साढे बारह योजन चौडी रोहितास्या नदी है। हरित् और हरिकान्ता निर्यां तो हरिक्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रहीं हैं। तिगिन्न हदके दक्षिण तोरण द्वारसे निकली हुई हरित नदी निषयके ऊपर सात हजार चार सौ इनकीस और एक बटे उन्नीस योजन दक्षिणकी ओर चलकर चार सी योजन पर्वतके ऊपरसे गिरती है। हरिकान्ता नदी तो महापदा हदके उत्तर द्वारसे निकलकर सोलह सौ पाच और पांच बटे उन्नीस योजन महाहिमवान पर्वतके ऊपर बहती हुई पद्मीस योजन चौडी हो रही कुछ अधिक दो सौ योजन ऊंचे धाराप्रपातसे गिरती है। विदेह क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रहीं सीता, सीतोदा दो नदियां हैं। केसरी हृदके दक्षिण द्वारसे निकलकर नील पर्वतके ऊपर सात हजार चार मो इनकीस और एक बटे अनीस योजन पर्वतके ऊपर बहती हुई पचास योजन चौडी सीता नदी चार सी योजन ऊंचे पर्वतसे गिरती है। तिगिछ हृदके उत्तर द्वारसे सीतोदा निकलती है। रम्यक दोत्रके मध्यमे होकर पूर्व, पश्चिमकी ओर वह रहीं नारी, नरकान्ता, नदिया हैं। महापण्डरीक हदके दक्षिण द्वारसे नारी नदी निकलती है, जो कि नारी देवीके निवास प्रासा-दसे युक्त हो रहे नारी कुण्डमे पडती है। केसरी हद के उत्तर तोरणकी मोरीसे नरकान्ता महानदी निक-लती है। हैरण्यवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रही सुवर्णकुला, रूप्यकुला नदियां हैं। शिखरी पर्वतके ऊपर बने हुये पुण्डरीक हदके दक्षिण तोरण दारसे सुवर्णकूळा नदी बहती है और महापुण्डरीक हदके उत्तर द्वारसे निकलकर रूप्यकूला महानदी गमन करती है। रक्ता, रक्तोदा, दो नदियां ऐरावत क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रही हैं । पुण्डरीक हृदके जिनविम्ब अलंकृत पूर्वतोरणकी नीचे मोरीसे सवा छह योजन चौडी रक्ता नदी वह रही है। पुण्डरांक हदके पश्चिम तोरणदारकी मोरी तो रक्तोदाका प्रभव- स्थान है। इस प्रकार ये चौदह निदयां कुण्डमें बने हुये द्वीपके गुम्मजपर विराजमान कमलस्य प्रतिमा ओंके ऊपर गिरती है। धाराप्रपात अवयवीका मध्यभाग प्रतिमाजीके मस्तकपर गिरता है। शेष इधर उधरका जलप्रवाह गुम्मजपर या रीते आकाशमें गिरता हुआ लम्बे, चौडे, कुण्डके बीचमें पड जाता है।

अथैतयोईयोः का पूर्वसमुद्रं गच्छतीत्याह ।

अब महाराज यह बताओं कि चौदह निदयों के सात युगल हो कर इन दो दोमें भला कौनसी कौनसी नदी पूर्व लवणसमुदक्षी ओर गमन करती है ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण नदियोंके सात युगल बना कर दो दो नदियोंमें पहिलीं नदियां पूर्व समुदकी ओर गमन करती हैं।

द्वयोईयोरेकक्षेत्रं विषय इत्यभिसंबंधादेकत्र सर्वासां प्रसंगनिष्टत्तिः, पूर्वाः पूर्वगा इति वचनं दिग्विशेषपतिपत्त्यर्थे ।

गंगा, सिन्धु, आदि चौद इनदियां हैं और भरत आदि सात क्षेत्र हैं। दो दो निदयों का अधिकरण हो रहा एक एक क्षेत्र विषय हैं। इस प्रकार सूत्रके परोंका समुचित संबन्ध कर देने से एक ही क्षेत्रमें सम्पूर्ण निदयों की आित हो जाने के प्रसंगका निवारण कर दिया जाता है। सूत्रकारके पिहलीं निदयां पूर्व समुद्रको जाती हैं, इस कथन का प्रयोजन तो निशेष दिशाकी प्रतिपत्ति करा देना है, जिससे कि पिछली निदयों का पूर्वगमन या युगलों में पिहले उपात्त हो रहीं निदयों का पिश्चम, दिक्षण, या उत्तर दिशाके समुद्रों में प्राप्त होना व्यावृत्त हो जाता है। " दो दो में पिहलीं पिहलीं यों वाक्य सम्बन्ध कर देनेसे गंगा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हित्, हिर्कान्ता, सीता इन पिहली सात निदयों का पूर्व समुद्रकी ओर गमन करना निषद्ध हो जाता है।

अथापरं समुद्रं का गच्छंतीत्याह ।

इसके अनन्तर पश्चिम समुद्रकी ओर कौनसी नदियां जा रहीं हैं ! बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगिले सूत्रको कहते हैं ।

शेषास्त्वपरगाः ॥ २३ ॥

दो दो निदयोंमेंसे पहिले कहीं गयीं पूर्वगामिनी निदयोंसे शेष बच रहीं पिछलीं पिछलीं निदयों तो पश्चिम समुद्रकी ओर गमन करतीं हैं।

द्वयोर्द्वयोरेकत्रेकक्षेत्रे वर्तमानयोर्नद्योर्याः पूर्वास्ताभ्योन्याः श्रेषाः सरितोऽपरं समुद्रं गच्छंतीति । तत्र पद्मद्रदमभवा पूर्वतोरणद्वारिनर्गता गंगा, अपरतोरणद्वारिनर्गता सिन्धुः,

खदीच्यतारणद्वारनिर्गता रोहितास्या । महापद्महृदमभवापाच्यतारणद्वारनिर्गता रोहित्, जदीच्य-तारणद्वारनिर्गता हरिकांता । तिर्गिछह्दसमुद्भवा दक्षिणद्वारनिर्गता हरित्, उदीच्यतारणद्वार निर्गता सीतोदा । केसरिष्ट्रदमभवा अपाच्यद्वारनिर्गता सीता, उदीच्यद्वारनिर्गता नारी । महा-पुंढरीकहृदमभवा दक्षिणद्वारनिर्गता नरकांता, उदीच्यद्वारनिर्गता रूप्यक्र्छा । पुंढरीकहृदमभवा अपाच्यद्वारनिर्मता सुवर्णक्र्छा, पूर्वतारणद्वारनिर्गता रक्ता, मतीच्यद्वारनिर्गमा रक्तोदा ।

एक एक क्षेत्रमें विश्वमान होरहीं दो दो नदियोंमें पहिली गंगा, रोहित आदि जो सात नदियां 🕏. उनसे शेष बची ह्रयीं अन्य सिन्धु, रोहितास्या, आदि सात नदियां, यों इस सूत्र अनुसार पश्चिम समद्रकी ओर गमन कर रहीं मानी जाती हैं। इन निदयोंमें गंगाकी पहिली प्रकटता या उपलिन्नको कराने वाले आब स्थान होरहे पदाहदसे गंगा नदी उपजती है, जो कि पदाहदके चारों दिशाओंकी ओर बने हुये तोरणोंमेंसे पूर्व दिशाके तोरणके निचले दरवाजेसे निकली हुयी हैं । उसी पग्रहृद संबंधी पश्चिम तोरणके निचले द्वार (मोर्रा) से सिन्धु नदी निकली है और उत्तरतोरणके द्वारसे रोहि-तास्या नदी निकलती है। तथा महापद्म हदसे आधर्मे जन्म लेरही रोहित नदी उसके दक्षिण तोरण-द्वारसे निकल गयी है। महापद्म हदके उत्तर दिशावाले तोरण द्वारसे हरिकान्ता नदी निकलती है। तिगिन हदसे भन्ने प्रकार उत्पन्न होरही हरित नदी उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और तिगिन्न इदके उत्तर दिशा सम्बन्धी तोरण द्वारसे सीतोदा निकलती है। केसरी इदसे सबसे पहिले उपज कर सीता नदी उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और केसरी हदके उत्तर द्वारसे नारी निकलती है। महापुण्डरीक हदसे आच जन्म छेरही नरकान्ता उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और महापुण्डरीक इदके उत्तर दिग्वर्ती द्वारसे रूप्यकुला निकलती है। पुण्डरीक हदसे पहिले ही पहिले उपज रही सुवर्णकूला महानदी उसके दक्षिण द्वारसे निकल जाती है और रक्ता नदी पुण्डरिक के पूर्व तोरण द्वारसे प्रवाहित होरही है तथा रक्तोदा नदीका मी धारा निर्गमस्थान पुण्डरीक हदका पश्चिम दिशा सम्बन्धी हार है। प्रासाद या सरोवरोंके चारों और शोभायक्त बने हुये बाहरले द्वारको तोरण कहते हैं। तौर-णोंके नीचे बनी इयों मोरियों द्वारा नदियां निकलतीं रहतीं हैं। उनका आद्य बहना वहांसे प्रारंभ होजाता है।

अथ कियबदीपरिवृता एता नद्य इत्याह ।

अब कोई प्रतिपाध प्रश्न करता है कि ये उक्त नदियां कितनीं कितनीं नदियोंके परिवारसे युक्त होरहीं हैं १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर भरावान् उमाम्बामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिध्वादयो नद्यः ॥ २४ ॥

गंगा आदिक पूर्वगामिनीं नदियां और सिन्धु आदि पश्चिम गामिनीं नदियां चौदह, चौदह, इजार नदियोंके परिवारको धारे हुये हैं। आगे तीन युगर्लोमें इससे दूना दूना परिवार है।

गंगासिंध्वाद्यग्रहणं प्रकरणादिति चेका, अनंतरग्रहणमसंगात् । गंगादिग्रहणमिति चेका, पूर्वगाणां ग्रहणमसंगात् । नदीग्रहणात्सिद्धिरिति चेका, तस्योत्तरत्र द्विग्रणभिसंबंधनार्थत्वात् ।

यहां कोई शंका करता है कि सूत्रकारको गंगा, सिंधु आदिका प्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्रकरण चला आ रहा होनेसे नदियोंका प्रहण स्वतः ही हो जाता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि " अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा " । अन्यवहित पर्ववर्त्ती पदार्थका ही विधि अथवा निषेध उत्तरवर्त्ती वाक्य द्वारा किया जाता है। इस परिभाषाके अनुसार अन्यवहित पूर्वमें कहीं गयी पश्चिमगामिनी सिन्ध, रोहितास्या आदि सात नदियोंके ही प्रष्टण होनेका प्रसंग आ जावेगा । गंगा रोहित् आदि सात नदियां छूटा जाती हैं । अतः गंगा, सिन्धु, आदि पट व्यर्थरूपसे शंकित किया जा रहा ज्ञापन करता है कि पूर्व सूत्र और प्रपूर्व सूत्रमें कहीं जा चकी सम्पूर्ण चौदह नदियों का प्रहण कर छेना चाहिये । पुनः आक्षेपकार यदि यों कहे कि तब तो गंगा आदि प्रहण करना ही पर्यात है. सिन्धु पद व्यर्थ पडता है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह भी नहीं कहना, क्योंकि गंगा आदि इतना ही कहनेपर पूर्वगामिनी सात नदियोंके ही प्रहण हो जानेका प्रसंग होगा, संपूर्ण नदियां नहीं पकड़ी जा सकेशी । फिर भी आक्षेपकार यों कहें कि नदियां तो प्रकरण प्राप्त हैं हीं, नदी प्रहणके विना भी नदियोंकी प्रतीति हो सकती है। तथापि सत्रकारने नदी शब्दका प्रहण किया है। अतः सम्प्रण नदियोंकी प्रतिपत्ति हो जायगी। गंगा सिन्ध आदि प्रहण करना पुनरपि व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेप नहीं करना । क्येंकि उस गंगा सिन्ध आदि पदके प्रहण करनेका प्रयोजन तो उत्तरवर्त्ती परछी ओरकी नदियोंमें दिगुना हिगुना सम्बन्ध कर देना है। शब्दोंकी अधिकतासे शिष्योंको अधिक अर्थकी ज्ञाति हो जाती है। भावार्थ-गंगा सिन्धके परिवारसे रोहित्, रोहितास्या, प्रत्येकका परिवार दूना यानी अडाईस अडाईस हजार नदियां हैं और हरित . हरिकान्ता, नदियोंका परिवार इससे भी दना यानी क्रपन क्रपन हजार है । सीता सीतोटामें से प्रत्येकका परिवार एक लक्ष बारह हजार नदिया बैठता है, किन्तु त्रिलोकसार प्रन्थ अनुसार चौरासी हजार माना गया है और नारी, नरकान्ता, नदियोंमें प्रत्येकका परिवार छप्पन हजार है। तथा सुवर्ण कुळा रूप्यक्रळा नदियोंमें प्रत्येकका परिवार अड्डाईस हजार है और रक्ता रक्तोदा नदियोंका परिवार चौदह, चौदह, हजार हैं। गंगा आदिक नदियोंकी परिवार नदियां परली और दूनी दूनी हैं। इतना ही कह देनेसे सिन्ध्रका परिवार भी गंगा नदींसे द्विग्रना बन बैठेगा। अतः सिन्ध्रपद भी सार्थक है।

सर्वयैवासंभाव्या गंगादयो नद्यः सूत्रिता इति कस्यचिदारेकां निराकर्तुं प्रक्रमते ।

कोई शंका करता है कि सूत्रकार महाराजने जिन गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंका सूत्रद्वारा निरूपण किया है वे नदियां सभी प्रकारोंसे असम्भव हैं। हजारों कोस चौडी उक्त नदियां वर्तमानमें इंग्टिगोचर नहीं हो रहीं हैं। उनका प्रभव करनेवांके हृद, कुण्ड, तोरणद्वार तथा उनके दोनों ओर वेदिकायुक्त वनखण्ड आदि माने गये तो दूर दूर तक जाकर भी नहीं देखनेमें आ रहे हैं। इस प्रकार किसी एक स्थूळदृष्टिवाळे शिष्यकी आशंकाका निराकरण करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी प्रक्रमको बांधते हैं।

अथ ुगंगादयः शोक्ताः सरिताः क्षेत्रमध्यगाः । पूर्वापरसमुद्रांतः प्रवेशिन्यो यथागमं ॥ १॥

सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करनेवाळीं और पूर्व समुद्र, पश्चिम समुद्रके भीतर या कोई कोई गंगा सिन्धु, रक्ता रक्तोदा, ये दक्षिण या उत्तरकी ओरके मध्यवर्ती समुद्रमें प्रवेश करनेवाळीं गंगा, सिन्धु, आदिक सम्पूर्ण नदियां आगममार्गका अतिक्रमण नहीं कर सूत्रकारने बहुत अच्छे ढंगसे कह दीं हैं। अर्थात्—देशान्तरित पदार्थोकी इतिके छिये आतोक्त आगम, पुस्तकें, नकशा ये प्रधान साधन हैं। सभी देश देशान्तरोंका या समुद्र, पर्वतोंका, कौन चक्कर लगाता फिरता है १ सूर्य, चन्द्र, विमानोंके ऊपर क्या क्या रचना बनी हुई है १ संसारमें कहां कहां कैसे कितने स्थान हैं १ इन सम्पूर्ण रहस्योंको सर्वज्ञ सम्प्रदायसे चला आ रहा आगम ही प्रकाशित करता है। गंगा, सिन्धु आदिक चौदह नदियां और विदेह क्षेत्रकी बारह विभंगा नदियां तथा बत्तीस विदेह खण्डोंकी गंगा सिन्धु या रक्ता रक्तोदा द्वारा दो दो होकर हुयीं चौसठ नदियां, ये जम्बूद्वीपकी नव्ये मूल नदियां तथा सत्रह लाख बानवे हजार परिवार नदिया, इन सबका निर्णय आगम अनुसार कर लिया जाता है। जगतकी प्रक्रिया या देश, देशान्तर, समुद्र, नदी, पर्वत, खान, कृष, बावडी, समुद्रतल आदिको जाननेके लिय सबको आगमकी बहुभाग शरण लेनी पडती है। "न हि सर्वः सर्ववित् " सभी प्राणी तो विश्वके साक्षात्कर्त्ता सर्वज्ञ नहीं हैं।

परिवारनदीसंस्याविशेषसिहताः पृथक् । चतुर्दश चतुःसूत्र्या नासंभाव्याः कथंचन ॥ २ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने "गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्या हरिद्रिस्कान्ता सीतासीतोदा नारीनरकान्ता सुवर्णरूप्यकूला रक्तारक्तोदाः सितस्तन्मध्यगाः, द्वयोद्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः, शेषास्वपरगाः, चतुर्दशनदी-सहस्रपरिवृता गंगासिध्वादयो नद्यः " इन चारों सूत्रों करके जो पृथक् पृथक् परिवार नदियोंकी संख्या विशेषसे सिहत हो रहीं चौदह नदियोंका वर्णन किया है, वह किसी भी प्रकारसे असम्भव नहीं है । अर्थात्—" सपरिवारा गंगासिन्ध्वादयश्चतुर्दश नद्यः सन्ति (प्रतिज्ञा) सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाण-त्वात् (हेतु) सुखादिवत् " नदियोंके सद्भावके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे परिवार सिहत चौदह नदियोंकी सत्ता निर्णात कर ली जाती है, जैसे कि दूसरी आत्माओंके सुख या समुद्रतल अथवा महान् पर्वतोंके नीचेकी मध्य भागस्य मूल (जड) आदिका ज्ञान " वाधकासंभव " से कर

लिया जाता है। पर्वतको उखाड कर बीचला भाग कौन देखे । अपनी पूरी हवेलीके परिपूर्ण भागोंका देखना तो कष्टसाध्य हो रहा है। स्वशरीरके भीतरसे अवयव ही नहीं दीख रहे हैं। भावार्थ—गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंके परिवारके सहित जम्बूदीपमें सम्पूर्ण नदियां सम्रहलाख बानवे हजार नब्बे १७९२०९० हैं। धातुकीखण्ड द्वीप और पुष्करार्धमें भी नदियोंका सद्भाव बाधवेधुर्यसे आगम अनुसार निश्चित हो जाता है।

संभान्यंत एव हि गंगासिंध्वादयो महानद्यो यथागममायामविष्कंभाक्गाहैरपरैश्व विशेषेस्तद्धिकरणस्य महत्त्वादिहास्ति कासांचिक्नदीनां सरय्वादीनां महाविस्ताराणाम्रुपर्रुभात् कस्यचिद्वाधकस्यासंभवात् ।

गंगा, सिन्धु, आदिक महानदियां अपनी अपनी लम्बाई, चौडाई, और गहराई तथा अन्य भी विशेषताओं करके सहित हो रहीं आगम अनुसार सम्भावित ही हो रहीं हैं। असम्भव नहीं हैं। क्योंकि उन नदियोंके अधिकरणभूत स्थान बहुत बड़े महान् हैं। कितनी हीं नदियां तो वर्तमानमें देखे जा रहे हिन्द महासागर, एटलान्टिक आदि समुद्रोंसे भी बड़ी हैं। वर्तमान परिदृष्ट देशोंमें यहां भी किन्हीं किन्हीं सरजू नदी, क्षुद्र गंगा, क्षुद्र सिन्धु, सुवर्णभद्द, यमुना, टाइम्स, मिशीसिनी, मिसौरी, पो, राइन, आदि नदियोंका महान् विस्तार देखा जाता है। इसी प्रकार छोटे कोसोंसे हजारों कोस चौड़ीं और लाखों बोस लम्बीं महागंगा आदि नदियां भी सम्भव जातीं हैं। किसी भी विचारशील व्यक्तिको उनके सद्भावमें बाधा देनेवाले प्रमाणको सम्भावना नहीं है।

अथ कियद्विष्कंभो भरतो वर्ष इत्याह।

अब यहां किसीका प्रश्न है कि पहिला क्षेत्र भरत नामक वर्ष भला कितनी चौडाईको धार रहा है १ ऐसी पृष्छना होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोन-विंशतिभागा योजनस्य ॥ २५ ॥

छन्त्रीस अधिक पांचसौ योजन और योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग इतने विस्तार (चौडाई) को धारनेवाला भरतक्षेत्र है। अर्थात्—भरत क्षेत्रकी चौडाई पांचसौ छन्द्रीस छह बटे उन्नीस योजन है।

भरतिष्कं भस्योत्तरत्र वचनादिहावचनियति चेन, जंबुद्दीपनवतिञ्चतभागस्ययत्ताप्रति-पादनार्थत्वादेतत्त्र्यत्रस्य तत्संख्यानयनोपायप्रतिपत्त्यर्थत्वात् ।

कोई आक्षेप कर रहा है कि भरत क्षेत्रकी चौडाईका उत्तरवर्ती " भरतस्य विष्कंभो जंबूदी-पस्य नवतिशतभागः " इस सूत्रमें कथन किया ही जावेगा । अतः यहां इस सूत्र द्वाराः निरूपण करना व्यर्थ है । व्यर्थ सूत्रका उच्चारण नहीं करना चाहिय । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यह सूत्र तो उत्तरवर्ती सूत्र द्वारा कही गयी जम्बूद्वीपके एकसौ नब्बेर्वे भाग की इतने परिमाण बाली संख्याका प्रतिपादन करनेके लिये हैं। इस सूत्रका प्रयोजन केवल उस एकसी नन्बेवें भाग संख्याके लानेके उपायकी प्रतिपत्ति करा देना है। अर्थात्-एक लाख योजन चौडे जम्बूद्धीपकी एकसी नन्त्रे शळाव ।ओंमें एक शळाका भरत क्षेत्रको प्राप्त होती है। एक ळाखमें एकसी नन्त्रेका भाग देने पर पांचसी छन्नीस छह वटे उन्नीस योजन संख्या आजाती है। उस संख्याकी प्रतिपत्ति इस सूत्र द्वारा कर लेनी चाहिये। " अस्मत् सिद्धान्तविद्यागुरवस्तु स्वल्पेऽप्याकाशे महत्याः भूमेरवगाहमङ्गीकृत्य न्यूनतरभूमि क्षेत्रप्रतिपादकमिदं सूत्रमिःयाहः "। मझ टीकाकारके सिद्धांतविद्यागुरु पंडित गोपाळदासजीका यह मंतन्य है कि '' भरतस्य विष्कम्भो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः '' इस सूत्र करके आकाशकी नाप कर दी गयी है। भरत क्षेत्रका आकाश जम्बूई।पके एकसी नब्बेवें भाग ही रहेगा, न्यून अधिक नहीं। हां, उतने ही आकाशमें न्यूनसे न्यून पाचसे छन्बीस छह बटे उन्नीस योजनकी भूमि समा जायगा और उतने ही आकारामें इससे दशों गुनी बडी भूमि भी समा सकती है। '' ताम्यामपग भूनयोऽक स्थिताः '' इस सूत्रमें पडा हुआ '' भूमयः '' राद्ध भी इसी सिद्धांतको पुष्ट करता है । एक हाथ ठंबे चौडे आकाशमें पांच हाथकी लम्बी चौडी भूमि आसकती है। गुरुजीका यह विचार युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। संभव है कुछ दिनोंमें विज्ञान भी इसी तत्त्वका निर्णय करे, जब कि जैनसिद्धांत तो तभी यक्त समझा जाता है। अनन्त बादरस्कन्ध इस असंख्य प्रदेशी छोकमें धरे हैं। २९ अंक प्रमाण मनुष्य ढाई द्वीपमें निवास कर रहे हैं |

अतोन्ये वर्षधरादयः किविस्तारा इत्याइ ।

इस भरत क्षेत्रसे अन्य पर्वत या क्षेत्र अथवा नदी आदिक भला कितनी, कितनी, चौडाईको धारण किये हुये हैं १ ऐसी पृच्छा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

तद्द्विग्रणद्विग्रणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः ॥ २६ ॥

उस भरतक्षेत्रसे द्विगुने द्विगुने विस्तारको प्राप्त हो रहे कुळाचळ पर्वत और हैमबत आदिक क्षेत्र हैं। यह व्यवस्था विदेह क्षेत्रपर्यंत पर्वत या क्षेत्रोंकी समझ छेनी चाहिये।

वर्षभरशब्दस्य पूर्वनिपातस्तदाजुपूर्व्यमतिपत्त्यर्थः वर्णानामाजुपूर्व्येण इति निरुक्तकारव-चनस्यानस्पाच्तरामामन्देषामपि यथाभिघानमानाजुपूर्व्येण पूर्वनिपातपतिपादनार्थत्वात् तथा प्रायः प्रयोगदर्शनात् ।

यद्यपि वर्षभर और वर्ष शद्भका द्वन्द्व समास करनेपर अल्प अच् होनेके कारण वर्ष शद्धका पहिले निपात हो जाना चाहिये, तथापि उन पर्वत या क्षेत्रों भी ठीक ठाँक व्यवस्थित हो रही आतु-पूर्वीकी प्रतिपत्ति कराने के लिये वर्षवर शद्धका पूर्वमें निपात कर प्रयोग किया गया है। त्याकरण शास्त्रमें " अल्पाचतरं " इस सूत्रका अपवाद करनेके लिये " वर्णानामानुपूर्व्येण " यों निरुक्त या व्याकरणकी वार्त्तिकोंको बनानेवालेका वचन तो अन्य अधिक अच्वाले या अपूज्य भी पदोंका उचारण अनुसार आनुपूर्व्यकरके पूर्वनिपात भी प्रतिपत्ति भी कराने के लिये हैं। तिस प्रकार अनेक स्थलींपर बहुतसे पदोंका प्रयोग करना देखा जाता है । अर्थात् - - द्वन्द्व समासमें अल्प अच्त्राले पदोंका पूर्वमें निपात करा देनेवाला " अल्पाच्तरमं " यह सूत्र है । इसके अपवादमे " वर्णानामानुपूर्व्येण " यह वार्त्तिक है। '' ब्राम्हणक्षत्रियविट्र्यूदाः '' इस पदमें ब्राह्मण आदि वर्णीका आनू पूर्वी करके जैसे पद प्रयोग होजाता है, उसी प्रकार अन्य भी प्रामोंकी परिपार्टा या तिथियोंके अनुक्रम देश, परिमाण, पर्वत, आदिकोंकी आनुपूर्वी अनुसार पद प्रयोग कर दिया जाता है '' बाल्यकीमारयुवायस्थाः, पुष्पफले, स्पूर्शन्समा-घाणचक्षःश्रोत्राणि, ऊर्ध्वमध्यायोळोकाः, अवप्रहेहावायधारणाः, रत्नशर्करावाळकाः '' आदि पटों**में** अल्प अचोका या कचित् पुज्योका भी लक्ष्य नहीं रखकर आनु पूर्वी अनुसार आगे पीछे पद बोल दिये गुथे हैं। इसी प्रकार यहां भी कहे जाचुके भरत क्षेत्रके परली ओर हिमवान् पर्वत है, तत् पश्चात् हैमवत क्षेत्र है, अतः सूत्रकारने " वर्षधरवर्षाः " यों रचना क्रम अनुसार वाचक पदोंका प्रयोग किया है । भरतका वर्णन कर चुकनेपर इसके पश्चात् हिमवान् पर्वत, पुनः हैमवत क्षेत्र, यो पर्वत और क्षेत्रोंका क्रम है।

विदेहांतवचनं मर्यादार्थे तेन भरतिवष्कंभाद्विगुणविष्कंभो हिमवान् वर्षधरः, ततो हैंम-वतो वर्षः, ततो महाहिमवान् वर्षधरः, ततो हरिवर्षः, ततो निषधो वर्षधरस्ततोऽपि विदेहो वर्ष इत्युक्तं भवति ।

इस सूत्रमे विदेहपर्यन्त यह कथन करना तो मर्यादाको बांधनेके लिये हैं। तिस कथन करके इस प्रकार कह दिया जाता है कि मरत क्षेत्रकी चौडाईसे दूनी चौडाईवाला दस सी बावन बारह बटे उन्नीस योजनका हिमवान् पर्यत है। उस हिमवान् में दिगुना दो हजार एकसी पांच और पांच बटे उन्नीस योजन चौडा हैमवत क्षेत्र है। उस हैमवत क्षेत्र से महाहिमवान् पर्वत चार हजार दो सी दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस महाहिमवान् पर्वतसे हरिवर्ष क्षेत्र आठ हजार चार सी इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दूनी चौडाईको लिये हुये है। उस हरिवर्ष सेत्र आठ हजार चार सी इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दूनी चौडाईको लिये हुये है। उस निपध पर्वत दिगुना यानी सीलह हजार आठ सी ब्यालीस और दो बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस निपध पर्वतसे भी दूना चौडा तेतीस हजार छहसी चौरासी और चार बटे उन्नीस योजन चौडा विदेह क्षेत्र है। पूरे जंबूदीपमेसे भरत क्षेत्रको एक, हिमवान् पर्वतको दो, हैमवत क्षेत्रको चार, महाहिमवान् पर्वतको आठ, हरिक्षेत्रको सोलह, निषधको बत्तीस और विदेह को चौसठ शलाकारों, नीलको बत्तीस, रम्यकको सोलह,

रुक्मीको आठ, हैरण्यवत क्षेत्रको चार, शिखरी पर्वतको दो, और ऐरावत क्षेत्रको एक, यो सातों क्षेत्र छः पर्वतोंके एकसी नन्त्रे शलाकाये प्राप्त हैं। जंबूद्वीपके एक लाख योजन चौडे क्षेत्रमें एकसौ नन्त्रेका भाग देकर पुनः अपनी अपनी प्राप्त शलाकाओंसे गुणा कर देने पर पर्वत और क्षेत्रोंकी उक्त चौडाई निकल आती है।

परे वर्षधरादयः किं विस्तारा इत्याह ।

विदेह क्षेत्रसे परली ओरके पर्वत आदिक क्यों जी, फितने विस्तारके धारी हैं ? इस प्रकार प्रतिपित्सा होने पर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको स्पष्ट कहते हैं ।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २७ ॥

उत्तरवर्ती ऐरावत आदिक नील पर्यंत क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिणवर्ती भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वतोंके समान समझ लेने चाहिये। हद, कमल, नदी, कुण्ड आदि अकृत्रिम पदार्थोकी रचना भी तुल्य है।

निषधेन तुल्या नीलो वर्षधरः, हरिणा रम्यको वर्षः, महाहिमवता रुक्मीवर्षधरः, हैम-वनेन हैरण्यवतो वर्षः, हिमवता शिखरी वर्षधरः, भरतेन दक्षिणेनोत्तर ऐरावत इति योज्यं।

निषध पर्वतके समान नील पर्वत है, हरिक्षेत्रके समान रम्यक वर्ष है, महाहिमवानके समान रम्यक पर्वत भी चार हजार दो सो दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। हैमवत क्षेत्रसे हैरण्यवत वर्ष तुल्यताको रखता है। शिखरी पर्वत हिमवान् पर्वतके सम है और दक्षिण दिशावतीं भरतके समान उत्तरदिशाका ऐरावत क्षेत्र है। गंगा, सिन्यु, के साथ रक्ता, रक्तोदाकी, पश्चके साथ पुण्डरीक हदकी तथा अन्य नदी, कमल, आदिकोंकी, तुल्यताकी योजना इसी प्रकार कर लेनी चाहिये।

अथ भरतरावतयोरनवस्थितत्वप्रतिपत्त्यर्थमाइ ।

अव इसके पश्चात् श्री उमास्वामी महाराज भरत और ऐरावत क्षेत्रके (में) अनवस्थितपनेकी प्रातिपात्ति करानेके छिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

भरतेरावतयोर्वेद्धिहासो पट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्य-वसर्पिणीभ्याम् ॥ २८ ॥

दुःचम दुःचमा आदि या सुषमसुपमा आदि छह समयोंको धार रहे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक व्यवहार कालों करके भरत और ऐरावत दो क्षेत्रोंके (में) वृद्धि और हास हो जाते हैं।

तात्स्थ्यात्ताच्छब्दयसिद्धेर्भरतैरावतयोद्देदिद्दासयोगः अधिकरणनिर्देशो वा, तत्रस्थानां हि मनुष्यादीनामनुभवायुःप्रमाणादिकृता वृद्धिद्दासौ षट्कालाभ्यामुत्सर्पिण्यवसार्पिणीभ्यां।

तत्रानुभवादिभिरुत्सर्पणश्चीला उत्सर्पिणी तैरेवावसर्पणश्चीलावसर्पिणी। षट्कालाः पुनरुत्स-र्पिण्यां दुःषमदुःषमादयोऽवसर्पिण्यां सुषमसुषमादयः प्रतिपत्तव्याः।

उसमें स्थित हो जानेके कारण उसके वाचक शद्ध द्वारा कहे जानेकी सिद्धि है, इस कारण भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके वृद्धि और हासका योग बतला दिया है। अर्थात — " पर्वतदाह " इस पद अनुसार पहाडमें ठहर रहीं वनस्पतियोंका अरिण निर्मथन (बासों या अन्य विशेष काठकी रगड) द्वारा दाह हो जानेपर पर्वत जल रहा है. यों कह दिया जाता है । यह उस पर्वतमे ठहरनेवाले वृक्ष, वल्ली. पत्ते. आदि आधेयोंका पर्वत शद्धसे कथन हैं। इसी प्रकार भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी या भरत, ऐरावत, क्षेत्रवर्ति आकाराकी हीनता, या अधिकता, तो सम्भव नहीं है । अतः उसमें स्थित हो रहे कतिपय पदार्थोंकी वृद्धि या द्दानिका हो जाना समझ छेना चाहिये अथवा "भरतैरावतयोः" यह पद षष्टी विभक्तिका द्विवचन नहीं समझा जाय, किन्तु सप्तमी विभक्तिका द्विवचन मान छिया जाय । ऐसी दशा होनेपर उनमें स्थित हो रहे मनुष्य, तिर्यंच, पशु, पक्षी, आदि जीवोंके अनुभव, आयुष्यपरि-माण, शरीरकी उचाई, बल, सुख, आदिसे किये गये वृद्धि और हास ये छह समयवाले उत्स-र्पिणी या अवसर्पिणी कालो करके होते रहते हैं । अर्थात् - ऋतुपरिवर्तन, शीतकी अधि-कता, सूर्यका प्रचण्ड प्रताप, नियत वनस्पितयोंका फलना फूलना आदि कार्य जैसे द्रव्य परिवर्तन स्त्ररूप कतिपय व्यवहार कालों द्वारा सम्पादित हो जाते हैं, उसी प्रकार अनेक और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, इन व्यवहार काळोंको निमित्त पाकर जीवोंके अनुभव आदिकी वृद्धि, हानियां हो जातीं हैं। उन कालोंमें अनुभव, आयुष्य, आदि करके ऊपरको सरकना (वृद्धि) स्वभाववाली उत्सर्पिणी है और उन हीं अनुभव आदि करके नीचेको सरकना (हानि) स्वभाववाली अवसर्पिणी है । फिर उत्सर्पिणीमें छह काल दु:षमदु:षमा आदिक हैं और अवसर्पिणीमें सुषमसुषमा आदिक छह काल समझ लेने चाहिये। सुषमसुषमा चार कोटाकोटी सागर तक चलता है। उस समय यहां उत्तम भोगभूमिकी रचना हो जाती है। पीछे क्रमसे हानि होते हुये तीन कोटाकोटी अद्धा सागरका सुषमा काल प्रवर्तता है। उसकी आदिमें मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान मध्यम भोगभूमिवाले समझे जाते हैं। पश्चात क्रमसे अनुभव आदिकी हानि होते हुये दो कोटाकोटी सागर स्थितिवाला जघन्य भोग भूमिकी रचनासे युक्त सुषमदुःषमा काल चालू होजाता है । उसके अनन्तर क्रमसे हीनता होनेपर बियार्छास हजार वर्ष कमती एक कोटाकोटी सागर पर्यंत कर्मभूमिका दुःषमसुषमा काल विदेह समान रचनावाला प्रवर्तता है। विदेहमें क्रमसे हानि नहीं है। समान काल रहता है। पश्चात् ऋमसे न्यूनता होते हुये इक्कीस हजार वर्षतक कर्मभूमिका दःषमा काल वर्तता है। पुनः अनुभव आदि भी न्यूनता होते होते दुःषमदुःषमा काल इकीस हजार वर्षका प्रवर्तता है। यह अवसर्पिणीकी दशा बता दी है। उत्सर्पिणीमें सुख आदिकी क्रमसे बढ़ती हुई इससे विपरीत व्यवस्थाको आगम अनुसार समझ छेना चाहिये।

अथ भरतैरावताभ्यामपरा भूमयावस्थिता एवेत्यावेदयति ।

अब श्री उमास्वामी महाराज भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रसे भिन्न पडी हुई भूमियां अवस्थित हैं।इस सिद्धान्तका विज्ञापन कराते हैं।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः॥ २९॥

उन भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्रोंसे शेष बच रहीं अन्य भूमियां अवस्थित एकसी रहती हैं। उन भूमियोंमें उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कालोंका परिवर्तन नहीं है।

तत्स्थपाणिनामनुभवादिभिर्ष्टाद्धिहासाभावात् । षद्समययोरुत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरसंभवा-देकैककाल्यादवस्थिता एव ताभ्यामपरा भूमयोऽवगंतच्याः । तदेवं—

उन हैमवत, हैरण्यवत आदि क्षेत्रोंकी भूमियोंमें ठहर रहे प्राणियोंके अनुभव, आयुष्य आदि करके बढ़ने और घटनेका अभाव हो जानेसे वे भूमियां अवस्थित कही जातीं हैं । दुःषमदुःषमा आदि या सुवमसुषमा आदि छह समयोको धारनेवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीका असम्भव हो जानेसे सदा यथायोग्य एक एक ही कालकी वर्तना होनेके कारण उन भरत ऐगवतोसे भिन्न हो रहीं शेष भूमियां अवस्थित ही समझ लेनी चाहिये और तिस कारण इस प्रकार होनेपरः—

वर्षवर्षधराबाध्यविष्कंभकथनं कृतं । सूत्रत्रयेण भूमीनां स्थितिभेदो द्वयेन तु ॥ १ ॥

श्री उमास्यामी महाराजने पचीसवें, छन्वीसवें, सत्ताईसवें, तीन सूत्रों करके क्षेत्र और पर्वतोंकी चौडाईका वाधा रिवत कथन कर दिया है और अडाईसवें, उन्तीसवें, इन दोनों सूत्रों करके तो मरत, ऐरावत, और उनसे त्यारे क्षेत्र या पर्वतोंमे रिथितियोंके भदका निर्वाध निरूपण कर दिया है।

न हि भरतादिवर्षाणां हिमवदादिवर्षधराणां च सूत्रत्रयेण विष्कंभस्य कथनं बाध्यते प्रत्यक्षानुमानयांस्तदविषयत्वेन तद्घाधकत्वायांगात् प्रवचने ६देशस्य च तद्घाधकस्याभावात् आग-मांतरस्य च तद्घाधकस्याप्रमाणत्वात् ।

श्री उमास्वामी महाराज द्वारा " भरत. षड्विंशतिपंचयोजनशतिविस्तारः पट् चैकोनिविंशिति भागा योजनस्य, तिंद्वगुणद्विगुणिवस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांनाः, उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इन तीनों सूत्रों करके भरत हैमवत, आदि क्षेत्रोंकी और हिमवान् महाहिमवान् आदि पर्वतोंकी चोडाईका किया जा चुका निरूपण फिर किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं हो। जाता है। क्योंकि उन सूत्रोंके प्रतिपाद्य अर्थको नहीं विपय करने गले होने के कारण इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंको उस प्रतिपाद्य अर्थके बाधकपनका अयोग है। जो प्रमाण जिस विषयने नहीं प्रवर्तता है वह उस विषयका साधक या बाधक नहीं हो सकता है। व्याकरणको पढा हुआ पण्डित विचारा वैद्यक प्रयोगोंका खण्डन या मण्डन नहीं

कर सकता है । तथा तीसरे आगम प्रमाणके एक देशको तो उस तीन सूत्रों द्वारा कहे गये प्रमेयका बाधकपना नहीं है । क्योंकि समीचीन शाखोंके प्रकरण तो इन ही उक्त सिद्धान्तोंकी पृष्टि करते हैं । हां, उस प्रमेयके बाधक माने जा रहे अन्य कुरान, बर्ल्ड जौगरफी, सिद्धान्ताशरोमाणि, प्राकृतिक मूगोल, ऐटलस, आदि न्यारे आगमोंको तो प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं है । अर्थात् —अप्रमाण आगम किसी समीचीन आगम द्वारा प्रतिपाध विषयका बाधक नहीं होता है । स्वयं अंधा मला दूसरे सूझतोंको क्या मार्ग बतायगा ! किसी नकटे द्वारा भगवहर्शनका प्रलोभ देनेपर स्वकीय नासिका छेद कर देना अनुचित है । नासिकाकी प्रतिष्ठाके समान इन सर्वज्ञ आम्नात आगमोंको ही प्रामाण्य मिलता रहा है। और परिशेषमें भी इन्हींको प्रामाण्य प्राप्त होगा । दिग्नमी पुरुष मध्यमें भलें ही कुछका कुछ समझ बैठे।

तत एव सूत्रद्वयेन भरतेरावतयास्तद्वेपरभूमिषु च स्थितेर्भेदस्य वृद्धिद्रासयोगाभ्यां विहितस्य प्रकथनं न बाध्यते, तथाऽसंभवात् अन्यथाभावावेदकप्रमाणाभावाचेति पर्याप्तं प्रपंचेन ।

तिस ही कारणसे यानी प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणों करके बाधित नहीं होनेके कारण श्री उमास्वामी महाराज करके "भरतेरावतयोई दिहासी षट्समयाभ्यामुत्सिपण्यवसिपणीभ्याम, ताभ्यामपरा भूमयोऽविश्वताः " इन दो सूत्रों द्वारा भरत ऐरावतों में और उनसे न्यारी भूमियों में दृद्धि हासोंके योग तथा दृद्धि हासोंके अयोगसे किये गये स्थितिके भेदका बढिया कथन किया जाना किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है। क्योंकि तिस प्रकार बाधक प्रमाणोंका असम्भव होजानेसे और क्षेत्रोंकी स्थितिके दूसरे प्रकारोंसे सद्भवका आवेदन करनेवाले हानोंकी प्रमाणताका अभाव होजानेसे स्वकारका सुंदर निरूपण निर्वाध ठहर जाता है। यो इस जिनागमकी प्रमाणताको हम कई बार कह चुके है। अतः यहां विस्तार कथन करनेसे पूरा पड़ो। विचारशील विद्वानोंके प्रति अल्प कथन ही तुष्टिकर है।

अथ भरतरावताभ्यामपरा भूमयः किस्थितय इत्याह ।

इसके अनन्तर भरत और ऐरावतभे निराठीं होरहीं भूमियां या उन भूमिओंमें स्थित होरहें मनुष्य, तिर्थच, भळा कितनी स्थितिको धार रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैव-कुरवकाः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, पल्योपमिस्थितियोंको धारनेवाछे हैमबतक और हारिवर्षक तथा दैवकुरुवक हैं। अर्थात्—हैमबत क्षेत्रमें रहनेवाछ जघन्य भोग भूमियां मनुष्य और पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्धेचोंकी उत्कृष्ट आयु दो अद्धापल्य है। देवकुरुमें निवास कर रहे उत्तम भोगभूमियां मनुष्य तिर्धेचोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है। इनकी जघन्य आयु तो एक समय अधिक एक कोटि पूर्व वर्ष और एक समय अधिक एक पल्य तथा एक समय अधिक दो पल्य यथाक्रमसे समझ छेना।

हैमवतादिभ्यो भवार्थे बुञ्, हैमवतकादीनां द्वन्द्वे सति हैमवतकस्यातुपूर्व्ययतिपत्त्यर्थः पूर्वनिपातः । एकादीनां हैमवतकादिभिर्यथासंख्यं संबंधः, तेनैकपल्योपमस्थितयो हैमवतका, द्विपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः, त्रिपल्योपमस्थितयो दैवक्करवका इत्युक्तं भवति ।

हैमवत, हरिवर्ष, देवकुरु, इस प्रकार शद्धोंसे तत्र भव इस अर्थमें वुज् प्रत्यय कर पुनः वु को अक और जित्पनेसे पूर्व अच्को बृद्धि करते हुये हैंमवतक, हारिवर्षक, देवकुरुवक, शद्धोंको साधु बना छेना चाहिये। इन हैमवतक आदि शद्धोंका इतरेतर योग द्वन्द्ध समास करनेपर हैमवतक शद्धका ठीक आनुपूर्व्यका प्रतिपत्ति करानेके छिये पूर्वमें निपतन हो जाता है। एक, दो, आदि पदोंका हैमवतक, आदिके साथ यथासंख्य सम्बन्ध कर छेना। ऐसा सम्बन्ध कर छेनेसे सूत्र द्वारा यों कहा जा चुका समझा जाता है कि एक पल्योपम स्थितिको धार रहे हैमवत क्षेत्र निवासी भोगभूमियां जीव है, दो पल्योपम स्थितिको धार रहे हारिवर्षक हैं और देवकुरु निवासी भोगभूमियोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है।

विदेहादुत्तराः कथमित्याह ।

विदेह क्षेत्रसे उत्तरवर्ती परली ओरके भोगभूमियोंकी किस प्रकार स्थितियां है ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

तथोत्तराः ॥ ३१ ॥

तिस ही प्रकार उत्तर देशवर्सी जीवोंकी स्थितियोंको समझ छेना चाहिये। अर्थात्—पांच मेरु सम्बन्धी पांच हैरण्यवत क्षेत्रोंमें भोगभूमियोंकी स्थिति एक पत्योपम है। वहां सर्वदा सुषमदुःषमा काल अवस्थित रहता है। पांच मेरु सम्बन्धी रम्यक क्षेत्रोंमें भोगभूमियां दो पत्यकी आयुको धारनेवाले हैं। यहां सर्वदा सुषमाकाल तदवस्थ रहता है तथा पांच उत्तरकुरुओंमें तीन पत्योपमकी स्थिति है। यहां सर्वदा सुषमसुषमा काल वर्तता रहता है। यो जम्बूद्वीपके उत्तर प्रान्तमें जधन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भोगभूमिया तदवस्थ है।

हैरण्यवतकरम्यकोत्तरक्करवका एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकादिवदित्यर्थः।

इस सूत्रका यह अर्थ है कि हैमवतक आदिके समान ही परली ओरके जीवोंकी स्थिति है। हैमवतकोंके समान हैरण्यवतक जीवोंकी स्थिति एक पल्योपम है। हरिवर्षमें रहनेवाले मनुष्य, तिर्थचोंके समान रम्यक निवासियोंकी दो पल्योपम आयुःस्थिति है। दैवकुरुवकोंके समान उत्तरकुरुस्थायी मनुष्य तिर्थच तो तीन पल्योपम स्थितिको धार रहे हैं। अर्थात मोगभूमियोंमें विकलत्रय और लब्ध्य-पर्यासक जीव नहीं पाये जाते हैं। हां, पांचों कायके स्थावर जीव वहां विद्यमान हैं। उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष, सात हजार वर्ष, तीन दिन, तीन हजार वर्ष, दस हजार वर्ष, यथाकमसे पृथ्वी,

जल, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक जीवींकी है, इनकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त भी वहां पायी जाती है । जैसे कि उत्तरकुरुमें जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और उत्कृष्ट पूरे तीन पत्यकों है ये भोगभूमियां मनुष्य या तिर्यच दोनों की और पुरुषका युगल होकर उपजते हैं। पहिले युगलकी क्षियां छींकसे और पुरुष केवल जंभाई लेनेसे पूर्ण आयुके अन्तमें मर जाते हैं, विद्य-तके समान उनका शरीर विघट जाता है। नवीन युगल सात दिनतक अपने अंग्रठेका पान करते हुये ऊपरको मुख करके छोटते रहते हैं। पीछे सात दिनतक भूमिमें रेंगते रहते हैं। तीसरे सप्ताहमें अव्यक्त मधर भाषण करते हुये गिरते पडते पात्रोंसे चलते हैं। चौथे सप्ताहमें पांबोंको जमाकर चल लेते हैं। पांचवे सप्ताइमें कलागुणोंको धार लेते हैं। छड़े सप्ताइमें तरुण अवस्थाको प्राप्त होकर भोगोंको भीगते हैं और सातवें सप्ताह करके सम्यक्त प्रहणकी योग्यता प्राप्त कर छेते हैं। जवन्य भोगभियां मनुष्योंका शरीर दो इजार धनुष ऊंचा है। एक दिन बीचमें देकर दूसरे दिन एक बार आमले बराबर भोजन करते हैं। मध्यम भोग भूमियां मनुष्योंका शरीर चार हजार धनुष ऊंचा है। दो दिन बीचमें देकर तीसरे दिन एक बार बहेड समान आहार छेते हैं। यह आहार अतीव गरिष्ठ होता है, जैसे कि चक्रवर्सी या नारायण, प्रतिनारायणके भोजनको साधारण मनुष्य नहीं पचा सकता है, भोगभूमियोंका आहारयोग्य द्रव्य उससे भी कहीं अत्यधिक गरिष्ठ होता है । उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर छह हजार धनुष यानी तीन कोस ऊंचा है और आठवें भक्त यानी तीन दिन बीचमें देकर चौथे दिन छोटे बेर तल्य एक बार आहार लेते हैं। कर्म भूमिक मनुष्योंकी अपेक्षा जैसे हाथी, घोडे, बैल, आदिका शरीर जिस क्रमसे बढ़ा हुआ है, उसी प्रकार वहां भी तिंथेचों का शरीर मनुष्य शरीरसे बड़ा है। हां, गेंहू, चने, जी, आदिमें कोई विशेष अंतर नहीं है । यों देश भेदसे इनमे थोडा बहुत अब भी अंतर पाया जाता है । जो वनस्पतियां बीज अनुसार उपजती हैं वे गेहं, चना, आम, नीबू, अनार, आदि भोगभूमि-र्योंमें अवस्य पायीं जातीं हैं। मले ही उनका उपयोग नहीं होय। आज कल भी तो लाखों वनस्पतियां वनमें यों ही नष्ट होजाती है। बीज संतान उनकी बनी रहती है। भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंमें भोगभिमयोंके समय भी बीजांकर न्यायसे अनादि कालीन उक्त वनस्पतियां अवस्य थीं । हां, कर्मभूमियोंके बृक्षोंके तार-तम्य अनुसार भोगभूमिमें भी मनुष्योंकी अपेक्षा बृक्ष महान् हैं। वनस्पतिकायिक कल्पवृक्ष भी हैं। दश प्रकारके प्रथ्वी विकार कल्पवृक्ष जघन्य भोगभूमिमें दश कीस उंचे हैं। मध्यम भोगभूमिमें बीस कोस ऊंचे और उत्तम भोगभूमिमें तीस कोस ऊंचे वृक्ष हैं। उन कल्पवृक्षोंसे उत्पन हुये भोगोंको भोग मुमियां जीव सदा भोगते रहते हैं। मद्यांग जातिके वृक्षींसे वे मद्यको प्राप्त कर छेते हैं, जैसे कि ताड वृक्षोंसे भील ताडीको प्राप्त कर लेते हैं । यहां मचका अर्थ सुरा (शराब) नहीं है, किंतु दूध, दही, घी, इक्षरस, आम्नरस, आदिकीसी सुगंधियोंको धार रहा पीने योग्य द्रवद्रव्य है। कामशक्तिका जनक होनेसे उसको उपचारसे मद्य कह दिया जाता है। बादित्रांग जातिके कल्पनृक्षोंसे मृदंग, ढोळ,घंटा, बीणा आहि फल कल रहे बाजे प्राप्त होजाते हैं। तीसरे भूषणांग जातिके कल्पवृक्षोंसे भोग भूमियां फल कल रहे कहे.

करघोनी, हार, कुंडल, अंग्रठी आदि अलंकारोंको लेकर पहन लेते है । चौथे माल्यांग कल्प बृक्षोंसे चंपा, चमेळी, केवडा, जुही, गुलाब, आदिकी फलती, फ़लती मालाओं या पुष्पोंको तोडकर व्यव-हारमें लाते है । पाचर्ने ज्योतिरंग कल्पनक्षोंसे ऐसे चमकीले पदार्थीको प्राप्त कर लेते है जिनसे कि सूर्य, चंद्रमा, शुक्र आदि विमानोंकी काति भी छिप जाती है। इस ही कारण तीनों भोग भूमियोंमें अभिभृत सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिष्क्रमंडलका दर्शन नहीं होपाता है, जैसे कि दिनमें तारामंडल नहीं दीखता है। छठे दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंसे चमकदार फले हुये छाल, हरे, पीले, दीपोंको लाकर वे अपने घरमें घर लेते है । सातवे ग्रहाग जातिके कल्पवक्ष तो रत्नमय कोठियां. कोट. महल, कमरा, आदि रूप करके परिणमते हुये फल जाते हैं। आठवें भोजनांग कल्पवृक्ष तो छह रस यक्त अमृतमय दिन्य आहार रूप होकर फलते हैं। नीवें भाजनांग कल्पवक्ष सोने, चांदी, रत्नींक बने हुये कल्हा, याली, कटोरा, डेग, आदि रूप फल जाते हैं तथा दशवें यस्राग, जातिक कल्पवक्षोंसे अनेक प्रकारके सुन्दर वर्खोंको वे प्राप्त कर छेते हैं । ये पार्थिव कल्पवक्ष इन पांचों भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें भोगभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालको निमित्त पाकर उपज जाते है । अर्मभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालकी प्रवृत्ति होनेपर विनश जाते हैं । किन्तु स्वर्ग, हैमवतक, देवकुर, हरिवर्ष, सूर्यविमान, श्रीदेवी-गृह, मजनवासी या व्यंतरोंके भवन आदिमें ये कल्पवृक्ष सर्वदा बने रहते हैं। आजकल भी प्रायः सभी भोगोपभोगोंके उपयोगी पदार्थ इन्हीं एकेन्द्रिय वृक्ष या खानोंसे उपजते हैं। भूषण या प्रकाशके उप-योगी सवर्ण, रत, आदि पदार्थ तो खानोंसे प्राप्त कर लिये जाते है। खानोंसे मट्टी, पत्थर, कंकड, लोहेको लाकर सुन्दर, गृह, किले, कोठियां, महल, बना दिये जाते हैं। बृक्षोंकी लकडीसे किवाड बन जाते हैं । पुष्प या माला अथवा भोजन तो प्रायः बृक्ष या वेलोंसे ही प्राप्त किये जाते हैं। अन्तर इतना ही हैं कि कार्तिक मासमें गेंह वो देनेपर इमको वैसाखमें फलकर छह या पांच महीने पश्चात् खेतसे गेंड्र प्राप्त होता है और उस उस जातिके कल्पवृक्षोंसे अन्तर्मृहर्त्तमें हा नियत अभिलाषित वस्तुकी इच्छा अनुसार प्राप्ति हो जाती है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। कदाचित् किसी किसी व्यक्तिकी इच्छाओं अनु-सार तत्क्षण मलसाव (मूंतना हंगना) जंभाई लेना मद (नशा) हो जाना आदि कियांये हो जाती हैं। जगत्के सम्पूर्ण कार्य अपने अपने कारणों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। अन्तर इतना हीं है कि कोई कार्य विलम्बसाध्य हैं। तथा पुण्यशालियोंके अनेक कार्य क्षिप्र हो जाते हैं। वर्तमान कर्मभूमिमें भी उत्पाद प्रक्रियाका तारतभ्य देखा जाता है। हथिनी अठारह मही-नेमें प्रसव करती है । गर्भधारणके तेरहमास पीछे उटिनी बचाको जनती हैं । घोडी बारह महीनेमें, भैंस दश महीनेमें, गायें या स्त्रियां नी मासमें अपत्यकी उपजाती हैं। छिरिया छह महीनेमें कुतिया तीन महीनेमें न्याय जाती हैं। गर्भ स्थितिके पश्चात् मुर्गी दश दिन पीछे अण्डा देना प्रारम्भ कर देती है। कबूतरी गर्मीस्थातिके सात दिन पश्चात् प्रसूता हो जाती है। मिन भिन्न ऋतु या न्यारी न्यारी देशपरिस्थिति अथवा विज्ञान प्रयोगप्रिक्रिया द्वारा शीतोष्णता अनुसार

उक्त काट मर्यादानें न्यूनता, अधिकता भी हो जाती है । विज्ञानप्रक्रिया द्वारा कबूतरी, मुर्गी, आदिका प्रसब शीव्र भी करा दिया जा सकता है। पदार्थों अचिंत्य निमित्त नैमित्तिक शक्तियां भरी हुई हैं। वर्षींके कार्य महीनोंमें और महिनोंके कार्य दिनोंमें तथा दिनोंके कार्य घण्टोंमें उपज जाते हैं। इस द्दीनताके तारतम्य अनुसार कल्पवृक्षोंसे भी उसी प्रकार उचित भोगोपभोगके योग्य पदार्थीकी प्राप्ति होजाती है। कल्पवृक्ष चाहे जो भी सभी पदार्थीको नहीं दे सकते हैं। आमके पेडपर अमरूद नहीं फलते हैं। इसी प्रकार पुत्र, गाय, घोडा, हाथी, मक्खी, चींटी, या चरखा, खात, कुडा, समाचारपत्र, पुस्तकों, अस्त्र, रास्त्र, आदि पदार्थीको वे दस १० जातिको कल्पवृक्ष नहीं दे सकते हैं। क्योंकि पत्र आदि ने उपजानेकी उन कल्पवृक्षोंमें निमित्त नैमित्तिक शक्तियां या उपादान, उपादेय, व्यवस्थायें नहीं हैं। जब कि जगत्में पोरुषार्थिक या प्राकृतिक नियम अनुसार कार्योत्पत्तिमें अनेक विचित्रतायें दृष्टिगोचर होरहीं हैं। छकडों या बैछगाडियों द्वारा जो मार्ग महीनोंमें परिपूर्ण किया जाता था रेलगाडियों या विमानो द्वारा वह मार्ग दिनों या घंटोंमें गमन कर लिया जाता है। मिनिटों या सैकिंडोंमें हजारों कोस दूर समाचार पहुंचा दिये जाते हैं। गुळाब शीघ्र उपजा छिया जाता है। उसका फूल दस गुना बड़ा कर लिया है। प्रयोगों द्वारा नीवकी कट्ता न्यून कर दी जा सकती है। साङ्कर्य यानी कलम लगा देनेसे आम, लुकाट, सन्तरो आदिकी दशायें परिवर्त्तित हो जाती हैं। दुवेल मनुष्य अतिशीघ्र सब्दुल और बलवान जीव प्रयोगों या औषधियों द्वारा शीघ्र निर्वेल किया जा सकता है । तथा मूमियां ऋतुयें या फलने, फूलने, के व्यवहारकाल उपादान द्रव्य आदिके अनुसार प्राकृतिक नियमोंमें विलक्षणतायें है। बीज बोये जानेसे पचास वर्ष पीछे खिरनीका बक्ष फलता है। अखरोट कदाचित इससे भी अधिक समय हे हेता है। इमही, कटहर वपन होनेके पश्चात बीस, पश्चीस, वर्षमें फलित होते हैं। आम्रफल पाच, छह वर्षक वृक्षपर ही आ जाते हैं। बीज डालनेके दो वर्ष पीछे आहु या आहू बुखारे ये बृक्षपर लग जाते है। अरण्ड एक वर्षमें फल जाता है। बीये पीछे ग्यारह महीनेमें अरहर पक्त कर आ जाती है । गेंह पांच महीनेमें, बाजरा मका तीन महीनेमें, समा चावल दो महीनेमें फल दे देता है। भूमिमें बोये जानेके पश्चात् पोदीना पन्द्रह दिनमें. मेंथी तीन दिनमें और सणी एक दिनमें नवीन पत्ते दे देती हैं। इसी प्रकार कल्प वृक्षोंसे कुछ मिनिटोंमें ही नियत पदार्थ उपज जाते हैं। ताडवृक्षकी छाछ ताना वाना पुरे हुये वस्नके समान है। कई वृक्षींपर कटोरा कटोरी सरीखे पत्ते या फल लग जाते हैं। तोरईका बाजा बजाया जा सकता है। छौकातुम्बी तो बीन, सितार, तमूरा, आदिमें उपयोगी हो रहे हैं। भांग, महुआ, ताडी, अंगूर, अफीम डोंडा आदि बृक्ष मदकारक पदार्थीके उत्पादक हैं। गेंह, चावल, आम, अमरूद, केला आदि मोक्तव्य पदार्थीके वृक्ष प्रसिद्ध ही हैं। बहुमाग वश्च कार्पास वृक्षोंके फलोंसे बनाये जाते हैं। दीपकके उपयोगी पदार्थ तो तिल, सरसोंके, बुक्षोंसे या पार्थिव खानोंसे ही प्राप्त होते हैं। पुरुलोंकी रगडसे चमकनेवाळी बिजळी बन जाती है। बात यह है कि गम्भीर दृष्टिसे विचारनेपर कल्पबृक्षांसे नियत बस्तुओं भी प्राप्तिका सिद्धान्त पृष्ट हो जाता है। विशेषज्ञ पुरुष इसको अनेक अन्य युक्तियों द्वारा भी समझ समझा सकते हैं। अनेक स्थळोंपर मेरे छेखोंमें पुनरुक्त दोष आ गया है। किन्तु मन्द बुद्धि-वाले श्रोताओं को समझानेकी अपेक्षा वह दोष गणनीय नहीं है। प्रतिभाशाली विद्वानों के लिय महर्षि-यों के प्रन्थों या स्वकीय ऊहापोह द्वारा विशेष सन्तोष प्राप्त हो सकेगा । कोई कोई बात तो मूल सूत्रमें और वार्तिकमें तथा उस वार्तिकके विवरणमें यों तीन वार एवं इनकी देश भाषा कर देनेपर तीनों वार इस प्रकार स्वतः विना प्रयत्नके छह वार आ गई है । युक्तियों द्वारा मन्द्रबुद्धि शिष्योंको समझा-नेका उद्देश्य कर पुनरपि एकाध बार वहीं मन्तव्य पुनः पुनरुक्त हो जाता है तथा विशेष व्याख्यान करते करते कचित जैनसिद्धान्त जैनन्याय और जैन व्याकरणसे भी मेरा प्रमादवश या अज्ञानवश-स्खलन हो जाना सम्भव है। तथापि देशभाषा करनेमें बुद्धिपूर्वक कषाय ईर्षा, निह्नव, मिध्याभिनिवेश, नहीं होनेसे स्वकीय संचेतना अनुसार कोई बुटि नहीं रक्खी गयी है। "सद्दष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्म-श्वरा विदुः '' इस वाक्यका केवल प्रथमा, द्वितीया, विभक्तिका अर्थ करते हुये कोई पण्डित यदि " धर्म h ईदार सम्यग्दरीन ज्ञान चारित्रोंको धर्म जानते हैं।" इस प्रकार अर्थ कर देवे तो ऐसी दरामे रुटि नहीं रह सकता है, जैसे कि प्रामीण फूअर स्त्री द्वारा पेट भरनेके छिय बनायी गयी के उछ मोटी रोटीमें कोई बुटि नहीं निकाछी जाती है। किन्तु नोंनके या मीठे कचौडी, सकल्पारे, सेव, लड्हू, गूझा, घेवर, इमर्ती, गुलावजामुन अथवा अनेक प्रकारकी तरकारियां आदि भोज्य पदार्थीमें कई त्रुटियों भी समाछोचना की जाती है। सभी प्राणियोंको सन्तोषके छोटे बढे उपाय प्राप्त हो ही जाते हैं । मुझे भी नीरक्षीरकी विवेचक हो रही इंस प्रकृतिकी धारनेवाले उदात्त, गम्भीर, सञ्जन विद्वानोंसे सन्तोष प्राप्तिका सौभाग्य भिला हुआ है। समझा जायगा जब कि त्रटियोंपर लक्ष्य नहीं देते हुये वे प्रमेयका सुवार कर अध्ययन करेंगे। " विद्युते स न हि कश्चि-द्वपायः सर्वछोकपरितोषकरो यः। सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः " यह किसी कविका वाक्य सर्वागसुन्दर है। प्रकरणमें यही कहना है कि अनेक निमित्त कारण तो वर्षीमें कार्यीको करते हैं, कितने ही कारण महिनों, दिनों, घण्टोंमें ही कार्यको बना देते हैं। आकाशमें अदृश्य उपादान कारणोंसे झट मेघ, बिजली, बादल, बन जाते हैं, उपादान कारणके विना जगत्का कोई भी कार्य नहीं उपजता है । शब्द, बिजली आदिके भी उपादान कारण है। भकें ही वे दीखें नहीं, यह हमारी निर्वलता है । कार्य कारण पद्धतिका कोई दोष नहीं है । अक्षीण महानस, ऋदिधारी मुनियों के किये जिस पात्रसे भिक्षा दी जाती है, उस भाजनसे चक्रवर्तीकी सेना भी भोजन कर है तो उस दिन उस पात्रका अन नहीं निवट पाता है । यहां भी लाखों मन अवस्थ उपादान कारण विद्यमान हैं । अंकुरके विना बीज और बीज विना अंकुर नहीं उपजता है । विचारा भोगभूमि या स्वर्ग तो क्या मोक्षमें भी यदि अंकुर पाया जायगा तो उसका बाप बीज वहां प्रचमसे ह्या मानना पडेगा । हां, विलम्ब या शीव्रताका अन्तर पड सकता है. कर्मभूमिक अपण्यशाला

जीवोंको जो पदार्थ वर्तमान बृक्ष या खानेंाद्वारा वर्षो अथवा महीनोंमें प्राप्त (नसीव) होते हैं, किन्त ये भोगभिमयोंके वृक्ष अन्तर्मुहर्त्तमें ही उन अधिक सुन्दर अभीष्ट पदार्थ रूप फल जाते हैं। यहां भी आमके वृक्षसे अमरूद या अनार नहीं मिल सकते हैं । उसी प्रकार भोगभूमिमें भी वादित्रांग इक्षोंसे भोजन या वस प्राप्त नहीं हो सकते हैं। उपादान उपादेय शाक्तिका या निमित्त नैमित्तिक भाव का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हो सकता है, भोगभूमियोंमें अमृत रसके समान स्वादवाळी चार अंगुळ उंची और मुखकी वाफसे ही टूट जाय ऐसी कोमल घास उपजती रहती है। गाय, भैंस, आदि पश उस घासको चरते हैं, वहांकी भूमियां बडी सुन्दर बनी हुई हैं। कहीं कहीं सिद्दीदार बावडी, मरोवर, नदियां, और त्रीडापर्वत भी विद्यमान हैं। नदीके किनारोंपर रत्नचूर्ण मिश्रित वालके ढेर लग रहे हैं। जैसे कि आजकल भी कचित् वाल्में भुड भुड या चांदीके कण, माणिक रेती आदि पायी जाती हैं। मांस भक्षण नहीं करनेवाले और परस्परमें अविरोध रखते द्वये वहां पंचेंद्रियतियेच जीव मी हैं। चुहे, सर्प, नौला, उल्लू, बगला आदि तियेच और विकलत्रय जीव अथवा असंज्ञी जीव या नपुंसक पंचेद्रिय एवं जलचरत्रस ये भोगभूमिमें नहीं पाये जाते हैं। सभी मनुष्य तिर्येच विनीत, मन्दक-षाय. मध्रभाषी. कलाकुराल. अमायाचारशाल आदिसे संयुक्त है। इष्टवियोग अनिष्टसंयोग. स्वेद, ईर्षा, मात्सर्य, अनाचार, उन्माद, शरीरमल, पसीना चिन्ता, रोग, जरा, कृपणता, भय, आदिसे रहित हैं। सर्वथा अप्टादश दोषोंसे रहित तो जिनेंद्र ही हैं। फिर भी आजकलके मनुष्य तिर्धेचों समान तीव रोग. चिन्ता, भय, क्षघा, जरा, नहीं होनेसे देव या भोगम्मियां निर्जर. निर्भय. नीरोग. कह दिये जाते हैं। कर्मभूमिमें मनुष्य तिर्थेच या त्रतियोंको दान देनेसे या अनुमोदना करनेसे जीवोंकी उत्पत्ति भोग भूमिमें होती है। भरत और ऐरावतसे अतिरिक्त अन्य देवस्थानों या क्षेत्रोंमें तथा ढाई द्विपके बाहर असंख्यात द्वीपोंमें सदा एकसा प्रवर्तन रहता है । हां, उत्सर्विणी, अवसर्विणी, द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें विशेषतया इनके आर्य खण्डोंमें कर्मभूनिसे मोगभूमे और भोगभूमि कालसे कर्मभूमि कालकी परावृत्ति होती रहती है । भरत, ऐरावत, सम्बन्धी विजयार्थ पूर्वत और म्लेच्छ खंडोंमें चौथे कालके आदि, अंत, सदश काल वर्तता है। मोक्षमार्ग चार नहीं है। आर्य खंडमें सुपम-सुषमा काल भी प्रवृत्ति होनेपर म्लेच्छ खंडोंमें शरीर पांच ो धनुष और आयु कोटिपूर्व वर्ष है। तथा आर्य खंडोंमें दु:पमदु:पमा कालकी प्रवृत्ति होनेपर विजयार्थ और म्लेच्छ खंडोंमें दारीर सात हाथ और आयुः एक सौ बीस वर्ष होजाती है । जघन्य आयुः अन्तर्महर्त है । श्वासके अठारहवें भागवाला अन्तर्म-हर्त नहीं छेना। इससे बडा अन्तर्मुहूर्त पकडना। क्योंकि इन विजयार्थ और म्लेच्छ खंडोंमें छब्व्यपर्याप्तक मनुष्य नहीं हैं । बीस कोटाकोटी अद्धासागरके कल्प काल्में अठारह कोटा कोटी सागर तो भोगभूमि काल है और केवल दो कोटा कोटी सागर कर्मभूमि रचनाका काल है। कर्मभूमिका प्रारम्भ होते ही ये पार्थिव कल्पवृक्ष नष्ट होजाते हैं। भोगमूमिके प्रारम्भमें पुनः उपन जाते हैं, जैसे कि यहां इस कालमें भी कितने ही पर्वत उपजते बिनसते रहते हैं । किन्तु बीजसे उपजने वाले वक्षोंकी संतान नहीं नष्ट होती है । क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं उत्पन्न होसकता है । हां, मनुष्योंकी आयु अवगाहना जादिके समान वृक्षोंकी आयु या अवगाहना न्यून अधिक होती रहती है, जैसे कि भोगभूमियां मनुष्य तीन, दो, एक, कोस ऊंचे या हाथी छह, पांच, चार कोस ऊंचे अथवा वृक्ष तीस, बीस, दश कोस होते हैं, उसी प्रकार घटते, घटते, हुये इस समय मनुष्य साढे तीन हाथ, हाथी दस हाथ, वृक्ष बीस पचास, हाथ, ऊंचे रह गये हैं। हां, किसी पदार्थमें घटी, बढीका तारतम्य अधिक है और किसीमें न्यून है। गेंहू, चावळों, आदिके वृक्षोंमे उस त्रैराशिकके अनुसार हानि या वृद्धि नहीं होती है । थोडा अंतर अवश्य पड जाता है । चतुर्निकाय देवोंके या अन्यत्र स्थानोंपर पार्थित्र कल्पवृक्षोंके अतिरिक्त कनस्पति कायिक कल्पवृक्ष भी पाये जाते हैं । अलम् विस्तरेण ।

विदेहेषु किंकाला मनुष्या इत्याह ।

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि विदेह क्षेत्रोंमें कितने आयुष्य कालको धारने वाले मनुष्य निवास करते हैं ? ऐसी विनीत शिष्यकी तत्त्वबुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३२ ॥

पांचों महाविदेहोंमें अथवा पांच मेरु सम्बन्धी एक सौ साठहू विदेहोमें लौकिक गणना अनुसार संख्या करने योग्य आयुष्य कालतक जीवित रहने वाले मनुष्य निवास करते हैं ।

संख्येयः काळो येषां ते संख्येयकालाः संवत्सरादिगणनाविषयत्वात्तत्कालस्य ।

जिन मनुष्योंका जीवन काल संख्या करने योग्य है, वे मनुष्य " संख्येयकाल " है । क्योंकि वर्ष, दिन, मास, आदि करके गिना गयी गणनाका विषय हो रहा वह काल है । मावार्थ—विदेह क्षेत्रोंमें सर्वदा अवसर्पिणीके तीसरे काल मुजमदुःषमाके अन्त समान काल व्यवस्थित रहता है। मनुष्योंके शरीर पांच सौ धनुष ऊंचे हैं। नित्य एक बार भोजन करते हैं। जघन्य क्ष्पसे मनुष्योंकी आयुः अन्त-मृद्धते हैं और उत्कृष्ट रूपसे वे एक कीटि पूर्व वर्षतक जीवित रहते हैं। चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व होता है। ऐसे करोड पूर्वतक विदेह क्षेत्रवासी मनुष्य जीवते हैं। हाथी, घोडे, भैसा, बैल् आदिकी आयुओं को इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। विदेह क्षेत्रवे द्वन्य रूपसे जैन धर्मका विनाश नहीं होता है। सदा जैन धर्मकी प्रवृत्ति बनी रहती है। मावोंमें मलें ही मिथ्याल हो जाय।

अथ प्रकारांतरेण भरतविष्कंभप्रतिपत्त्यर्थमाह ।

अब श्री उमास्तामी महाराज दूसरे प्रकारसे भरत क्षेत्रकी चौडाईको प्रतिपादन करनेके छिये अप्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

भरतस्य विष्कंभो जम्बृद्वीपस्य नवतिशतभागः॥३३॥

भरत क्षेत्रकी दक्षिण, उत्तर, चौडाई जम्बूद्धीपके एक सी नच्चेने माग परिमाण है। अर्थात्— प्रथम स्थानको एक नग (अदत) मानकर उससे परछी ओरके सात स्थानोंतक दूना दूना तिस्तार किया जाय। पुनः सातवें स्थानसे छह स्थानोंतक आधा आधा विस्तार किया जाय, ऐसी दशामें ये सम्पूर्ण नग (डाग) एक सी नच्चे हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण जम्बूद्धीपमेंसे भरत क्षेत्रकी चौडाई एक सी नच्चेंवें भाग आ जाती है।

नवत्याधिकं शतं नवतिशतं नवतिशतेन लब्धो मागो नविद्यातमागः। अत्र तृतीयांत-पूर्वादुत्तरपदे लोपश्चेत्यनेन वृत्तिर्द्ध्योदनादिवत्। स पुनर्नवितशतभागो जंबुद्वीपस्य पंचयोजन शतानि षड्विंशानि षट्चैकाश्वविंशतिभागा योजनस्येत्युक्तं वेदितव्यं। पुनर्भरतिषकंभवचनं प्रकारांतरप्रतिपत्त्यर्थमुत्तरार्थे वा। तदेवं—

नवतिसे अधिक रात यों मध्यम पद लोपी समास कर " नवतिरात " यह पद बना लिया जाता है। एक सी नब्बै भाजक द्वारा प्राप्त द्वये भागको नवतिशतभाग कहते हैं। यहां " तृतीयांत-पूर्वादुत्तरपदे छोपश्च '' इस सूत्र करके समासवृत्ति हो जाती है। जैसे कि '' दम्ना उपसिक्तमोदनं दध्योदनं ,, " गुडेन सक्ताः धानाः गुडधानाः, घृतेन संयुक्तो घटः घृतघटः " इत्यादि स्थळेंपर मध्यम पदोंका लोप करते हुये सामर्थ्य प्राप्त कर तत्पुरुष समास कर दिया जाता है। उसी प्रकार "नवत्या" इस तृतीयान्त पदके पूर्व बृत्ति होनेपर उत्तरवर्ती शत पदके परे रहते समास होजाता है और अधिक इस पदका लोप होजाता है। फिर वह एक लाख योजन चौडे जंबूदीपका एकसी नब्बैमां भाग तो पांचसी छन्बीस पूरे योजन और योजनके छह उनीसें भाग हैं। इस बातको पूर्व सूत्र द्वारा कहा जा चुका समझ छेना चाहिये। जब कि " भरतः षडुविंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविशतिभागा योजनस्य " इस सूत्र द्वारा भरतका विस्तार कहा ही जा चुका था। अब जो फिर भरतका विष्कंभ कहा जारहा है वह शिष्यबुद्धि वैशद्यार्थ अन्य प्रकार करके प्रतिपत्ति करानेके छिये है अथवा उत्तरवर्ती " द्विघीतकी खण्डे, पुष्करार्धे च " सूत्रों करके जो प्रमेय कहा जायगा। उसका अभिसंबंध करनेके छिये यह सूत्र कहा गया है। भावार्थ--जंबूद्धीपमें चौरासी शलाकार्ये पर्वतोंकी और एकसी छह रालाकायें क्षेत्रोंकी यों एकसी नब्बे भाग हैं। धातकी खण्डमें दो मेरुसम्बन्धी बारह कुळाचल और चीदह क्षेत्र हैं। सभी कुळाचळ और दो इष्त्राकार पर्वतोंसे घिरे हुये स्थानसे अवशिष्ट स्थळमें चौदह क्षेत्रोपयोगी दो सी बारहका भाग देनेसे एक भरतक्षेत्रका स्थान निकळता है। यों ही प्रकरार्घके भर-तका क्षेत्र जान छेना । इसी संबंधको जतानेके छिये इस सूत्रका निर्माण किया है । तिस कारण इस प्रकार होनेपरः—

तत्क्षेत्रवासिनां नृणामायुषः स्थितिरीरिता । सूत्रत्रयेण विष्कंभो भरतस्यैकसूत्रतः ॥ १ ॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने " एकदित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकरैवकुरुवकाः, तथोत्तराः, विदेहेषु संख्येयकाळाः " इन तीनों सूत्रों करके उन क्षेत्रोंमें निवास करनेवाळे मनुष्योंके जीवित काळकी स्थितिको कह दिया है और " भरतस्य विष्कम्भो जम्बूदीपस्य नवतिशतभागः " इस एक सूत्रसे भरतकी चौडाई कह दी गयी है।

तनृणामित्युपलक्षणात्तिरश्रामपि स्थितिरुक्तेति गम्यते ।

जैसे "काकेम्यो दिव स्थातां " यहां काकपद सभी दिविक उपघातकोंका उपलक्षण है, यानी काकपदसे दिहीको बिगाडनेवाले अन्य पशु, पक्षी, छोकरा आदि सर्व ही पकड लिये जाते हैं। उसी प्रकार उक्त वार्तिकमें कहे गये " नृणां " यानी उन क्षेत्रनिवासी मनुष्यों यह पद उपलक्षण है। इस कारण वहांके पैचेद्रिय तियेचोंकी स्थिति भी उन ही तीन सूत्रों द्वारा कह दी गयी, यों समझ लिया जाता है।

धातकीखंडे भरतादिविष्कंभाः कथम् प्रमीयत इत्याह ।

धातकी खण्ड द्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंकी चौंडाई भला किस प्रकार अच्छी नापी जाती है ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

द्विर्घातकीखण्डे ॥ ३४ ॥

दूसरे द्वीप धातकी खण्डमें क्षेत्र, पर्वत, कमल, हद, नदियां आदिक संख्या द्वारा जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दो दो होकर दुगुने नापे जाते हैं। अर्थात्—दो मेरु सम्बन्धी क्षेत्र पर्वतादिकी संख्या दूनी है तथा चौडाई भी दुगुनीसे कथमिप न्यून नहीं है।

नतु च जंबूद्दीपानंतरं खवणोदो वक्तव्यस्तदुर्छघने प्रयोजनाभावादिति चेन्न, जंबूद्दीप-भरतादिद्विग्रणधातकीखंडभरतादिप्रतिपादनार्थत्वात्, लवणोदवचनस्य सामर्थ्यछन्धत्वाच । महीतळमूखयोदिशयोजनसहस्रविस्तारो खवणोदः।

यहां श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति कोई शिष्य अनुनय करता है कि कृपासागर सूत्रकार महाराजजीको तेतीसवें सूत्रतक जम्बूद्धीपका वर्णन करनेके पश्चात् चौतीसमें सूत्रमें छवणसमुद्रका निरूपण करना चाहिये था । उस छवणसमुद्रके वर्णनको उल्लंघन करनेमें उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं सघता है, जिससे कि धातकी खण्डका वर्णन झट मध्यमें आ कूदे। अब प्रन्थकार कहते हैं कि यह

तो नहीं कहना । क्योंकि जम्बुद्वीप सम्बन्धी भरत आदि क्षेत्र या पर्वत, नदी, कुण्ड, आदिकोंसे संख्यामें दुगुने धातकी खण्ड सम्बन्धी भरत, हिमवान् , गंगा, गंगाकुण्ड, आदि हैं। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके छिये धातकी खण्डका वर्णन सप्रयोजन हैं। दूसरी बात यह है कि '' तन्मध्यपतितस्तद्प्रहणेन गृह्यते '' इस नीतिके अनुसार जम्बुद्दीप और धातकी खण्डकी वर्णना कर देनेसे छवणसमुद्रका निरूपण तो बिना कहे हो पूर्वापर अभिधानकी सामर्थ्यसे ही स्वतः छन्ध हो जाता है। सर्वज्ञ सम्प्रदायका अति-क्रमण नहीं कर आम्नायसे प्राप्त हो रहे आगमों द्वारा या गुरुपरिपाटी द्वारा छवण समृद्रका स्वरूप इस प्रकार समझ छेना चाहिये कि समभूमितलपर एक लाख योजन चौंदे जम्बूद्वीपका परिक्षेप करनेवाले कंकण समान लवण समृद्रकी चौडाई दो लाख योजन है। गायोंके जल पीनेके घाट समान कमसे गहरा होता हुआ उरलीपार, परली पार दोनों ओरसे पिचानवे हुजार योजन तिरछा चलकर हुजार योजन गहराई रखता हुआ बन्ना प्रथ्वीके ऊपर और चित्रा प्रथ्वीके अधस्तलमें लवण समुद्र नीचे दश हजार योजन चौडा हो गया है। " पुण्णदिणे अमवासे सोलक्कारससहस्स जल उदयो, वासं मुहभूमीए दसम सहस्सा य वे लक्खा '' इस गाथा अनुसार चित्राके उपरिम भूमितलसे सदा ग्यारह हजार योजन जलकी ऊंचाईको धारने वाले लवण समुद्रका क्रमसे बढता हुआ जल पूर्णिमाको सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ जाता है। वहां ऊपर जलतलकी चौडाई दस हजार योजन है। अतः लवण समद्ररूपी कंकणको कहींसे भी काट कर यदि तिरक्षा देखा जाय तो उसका कटा हुआ आकार सर्वत्र मुदंग सारिखा मिलेगा । लवण समुद्रके अतिरिक्त और किसी भी समुद्रका जल चित्राके समतलसे ऊंचा उठा हुआ नहीं है। हां. वेदिके परें उरले परले द्वीपसे पोखरियाके समान क्रमसे तिरला निम्न होरहा हजार योजन जल उनमें भरा हुआ है। लवण समुद्र सम्बन्धी सूर्य चंद्रमा या इतर ज्योतिष्कमण्डलका ळवण जलमें ही संचार होता रहता है मळियोंके समान देवों और देवविमानों या चैतन्य, चैत्यालय. आदि पदार्थोंको हानि नहीं पहुंचती है। जैसे कि वायु समुद्रमें इब रहे अस्मदादिकोंको वायु द्वारा कोई क्षति नहीं पहुंच पाती है। ज्योतिष्क विमानोंके कचित स्थलीमें प्रयोगों द्वारा जलका अवरोध भी कर दिया जाता है । समदमें चरने वाले मछली, मगर, आदि जीवोंके शरीरोंमें भी तो जलावरोधके निमित्त विद्यमान हैं। हम लोग भी फैली हुई वायुका यथायोग्य न्यूनाधिक प्रवेश या अवाञ्छनीय अप्रवेश कर छेते हैं।

तन्मध्ये दिश्च पातालानि योजनशतसहस्रावगाहानि, विदिश्च श्चद्रपातालानि दश्चयोजन सहस्रावगाहानि, तदंतरे श्चद्रपातालानां योजनसहस्रावगाहानां सहस्रं ।

उस छवण समुद्रके ठीक मध्यमें चारों दिशाओंमें चार पाताल बने हुये हैं, जो कि जंबूद्वीपकी रक्षवेदिकासे पिचानको हजार योजन तिरला चालकर रत्नप्रमा भूमिक कुठिया या कूआ समान विवर हैं। इन चारोंकी गहराई एक लाल योजन है। इन गोल पातालोंकी अधस्तल और उपरितलमें चौडाई दश हजार तथा मध्यमें एक लाल योजन है। ऊंची लडी कर दी गयी ढोलक या पलबाजकास।

इनका आकार है। इनकी पांचसी योजन चौडी भीतें और तल वज्रमय हैं। मध्यलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण दृश्य, अखंड, अवयवी, पदार्थों मेंसे ये ही पाताल चित्रा पृथ्वीके नीचे तक चले गये हैं। वजा, वैह्यं, यहांतक कि लोकके अन्त तक फैल रही रत्नप्रभाके सोलह हजार योजन मोटे पूरे खर पृथ्वीभाग और चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुलभागतक ये पाताल चुस गये हैं। उन महापातालों के तिहाई नीचले तेतीस हजार तीनसी तेतीस और एक बटे तीन योजन भागमें वायु भरा हुआ है। मिसले तीसरे भागमें वायु और जल ठस रहे है। ऊपरले त्रिभागमें जल है। कितिपय निमित्तों हारा वायुका संक्षोभ हो जानेसे समुद्र जलकी वृद्धि हो जाती है। इन चार महा पातालों के ठीक मध्य विदिशाओं में चार क्षुद्र पाताल दश हजार योजन गहरे अन्य मी हैं। जो कि मुख और मूलमें हजार योजन तथा मध्यमें दश हजार योजन चौडे हो रहे मुरज समान हैं। इनमें भी निचले त्रिभागमें वायु और बिचले त्रिभागमें जल, वायु मिलकर दोनों तथा उपरिम त्रिभागमें केवल जल भर रहे हैं। उन दिशा, विदिशाओं में बन रहे पातालों के आठों अन्तरों में हजार योजन गहराईको धार रहे अति क्षुद्र पातालों के सहम संख्या और भी समझ लेनी चाहिय। इन हजार पातालों (बडवानलों) की मध्यमें चौडाई हजार योजन और मुख या मूलमें पांचसी योजन चौडाई है। इनके तीन त्रिभागों मी यथाकम नीचेकी ओरसे वात और जल, वायु, तथा जल भर रहे है। जो कि समुद्रके जलकी वृद्धि या हानिमें सहायक हैं। ये सम्पूर्ण पाताल अनादि अनिधन हैं।

दिश्च वेलंधरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि द्वादश्चयोजनसद्दश्चायामविष्कंभो गौतमद्वीप-श्रेति श्रूयते ।

जम्बूद्वीपके अन्तिम भाग हो रही रलवेदिकासे तिरछे वियालीस हजार योजन चलकर चारों दिशाओं में समुद्रकी वेलाको धारनेवाले नागकुमाराधिपति भवनवासी देवोंके चार नगर बने हुये हैं। जिनमें निवास करनेवाले हजारों भवनवासी देव स्वकीय नियोग अनुसार लवणसमुद्रकी अभ्यन्तर वेला, बाह्यवेला, और अप्रजलको वहांका वहीं नियत स्थानोंपर रोक कर धार रहे हैं। उचित हानि, या घृद्धिके सिवाय उठे हुये जलको इधर उधर नहीं गिरने, फैलने, उछलने देते हैं। यद्यपि निश्चयनय अनुसार सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपको धार रहे हैं। जलकी बूंद या कटोराका पानी यों भी कुछ ऊपर उठा हुआ रह सकता है। तथापि व्यवहार नय अनुसार कतिपय बादर पदार्थोंके अवलम्ब हो रहे यथा व्यवस्थित पदार्थोंका आचार्य महाराजने निरूपण कर दिया है। रलवेदिकासे तिरछे बारह हजार योजन चलकर बारह हजार योजन लंबा चौडा गोल " गौतम " नामका द्वीप लवणसमुद्रमें विद्यमान है, जिसमें लवणसमुद्रके अधिपति गौतम देवका निवास है। लवण समुद्रके तटसे पिचानवे हजार योजन चलकर समुद्रकी गहराई हजार योजन होगई है। अतः पिचानवे प्रदेशोंपर एक प्रदेश गहरा, पिचानवे हाथ चलकर एक हाथ गहरा, पिचानवे कोस तिरछा चलकर एक कोस गहरा, इस क्रमसे समुद्रकी गहराई मिळती चली जायगी। नीचे जाकर मध्यमें दश हजारकी चौडाईपर

हजार योजनकी गहराई है। इससे अधिक गहराई कहीं नहीं है। लवण समुद्रमें जंबूद्वीपकी और चोबीस और धातकी द्वीपकी और चोबीस यों कुमोगभूमियोंके अडतालीस द्वीप अन्य भी बने हुये हैं। मागध आदि भी कई द्वीपोंकी रचना है, इत्यादिक करणानुयोग सम्बन्धी सिद्धान्त तो सर्वज्ञ आम्नात शालों द्वारा या साम्प्रदायिक ऋषियों द्वारा सुना जा रहा है। इस आर्ष सिद्धान्तमें किन्हीं प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधा नहीं उपस्थित होती है। बाधकासम्भवसे अतीन्द्रिय पदार्थोकी भी निर्विवाद, अवि-सम्बादिनी, सिद्धि हो जाती है।

नतु च पूर्वपूर्वपरिक्षेपिद्वीपसग्रद्भमकाशकस्तत्र सामध्याज्ञंबृद्वीपपरिक्षेपी स्वणोदो झायते सामान्यत एव । तद्विशेषास्तु कथमनुक्ता इहावसीयंत इति न शंकनीयं, सामान्यमतौ विशेष-सद्भावगतेः सामान्यस्य स्वविशेषाविनाभावित्वात् संक्षेपतः सूत्राणां पद्यतेः सूत्रैस्तद्विशेषान-भिधानं जंबृद्वीपादिविशेषानाभिधानवत् । वार्तिककारादयस्त्वर्थाविरोधेन तद्विशेषान् सूत्रसाम-ध्याङ्घन्धान।चक्षाणा नोतस्त्रवादितां रुभंते ' व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्विह संदेहादरुक्षणम् ' इति वचनात् ।

यहां किसीका शंका अनुसार आक्षेप है कि इस तृतीय अध्यायके सातवें, आठवें, सूत्र अनुसार पूर्वका परिक्षेप करनेवाले असंख्य द्वीप समुद्रोंका प्रकाश किया जा चुका है, उनमें जंबूद्वीपका परिक्षेप करनेवाला लवणसमृद्र तो सामान्यरूपसे विना कहे सामर्थ्यसे ही जान लिया जाता है। किन्तु उस लवणसमुद्रके पाताल, क्षद्रपाताल, द्वीप, कुभोगभूमि ये विषेष तो यहां सूत्रोंद्वारा नहीं कहे गये हैं, फिर बिन! कहे ही उन विशेषोंका निर्णय कैसे कर लिया जाता है ! बताओ । प्रंथकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सामान्य रूपसे ज्ञाति होचुकने पर उसके विशेष अंशोंके सद्भावकी भी परिन्छित्ति होजाती है । कारण कि सामान्य अर्थ अपने विशेष अर्थोंके साथ अविनामाव रखने वाळे होते हैं। " निर्विशेषं हि सामान्यम् भवेत् खरविषाणवत् " । कोई मनुष्यसामान्य या घोडा सामान्य अपने उचित विशेषोंसे रीता होकर अकेला अद्यावधि नहीं देखा गया है। जैन सिद्धांतमें पदार्थको सामान्य विशेषात्मक स्वीकार किया गया है। हां, शह्रोंके संक्षेपसे सूत्रोंकी प्रवृत्ति होती है। अतः अनेक छोटे छोटे विशेष अर्थीके प्रतिपादक सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने छवण समद्रके उन विशेषोंका कंठोक्त निरूपण उसी प्रकार नहीं किया है, जैसे कि जंबूद्वीपके भदसाल, देवारण्य, भूतारण्य, आदि वनों, विजयार्थ यमकादि, बूषभाचल, गजदंत, वेदाव्य आदि पर्यतों, या उन्मग्ननला, निमग्नजला, विभंगा आदि नदियों तथा अन्य अन्य शाल्मली वृक्ष, वेदी, पाण्डुक शिला, म्लेन्छ खण्ड, खण्डप्रपातगुहा आदिका सूत्रों द्वारा पृथक् पृथक् निरूपण नहीं किया गया है। अर्थात्—यों सभी विशेषीका सूत्रों द्वारा निरूपण करने पर मूळ सूत्रप्रन्थका अत्यधिक विस्तार होजायगा । फिर टीका प्रनथ किस रोगकी औषाधि हैं ? बताओ तो सही । इस तत्त्रार्थसूत्रकी समीचीन टीकाओं या त्रिछोक- सार, जंब्द्दीपप्रज्ञित, आदि प्रंथोंकी रचना करने वाले आचार्योंके वचन भी प्रमाण हैं। सिद्धांत अर्थके अविरोध करके सूत्रोंकी सामर्थ्यसे विना कहे ही प्राप्त होचुके उन उन विशेष अर्थोंका व्याख्यान कर रहे वार्ति ककार श्री अकलंक देव, श्री विद्यानन्द स्वामी अथवा अन्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचकवर्ती, श्री वीरनन्दी सिद्धांतचकवर्ती, आदि प्रकाण्ड विद्वान् तो उत्सूत्रवादीपन दोषको नहीं प्राप्त होजाते हैं। अर्थात्— जो परमागम सूत्र सिद्धांतोंका उल्लंघन कर मनमानी झूंटी सांची गप्पोंको हांकते हैं वे उत्सूत्र माषी हैं। किन्तु श्री अकलंक देव, श्री नेमिचन्द्र महाराज आदि आचार्य तो गुरुपरिपाटी अनुसार उन्हीं सिद्धांत सूत्रोंका स्वक्षीय ग्रंथोंमें व्याख्यान करते हैं। लोकमें प्रसिद्ध होरहा यह वचन है कि व्याख्यान कर देनसे परिज्ञात सामान्य अर्थके विशेषोंकी प्रतिपत्ति होजाती है, संदेह कर देनसे वह सामान्य खपसे सिद्धांतित कर दिया गया लक्षण कोई कुलक्षण या लक्षणामाव नहीं होजाता है। हां, यह लक्ष्य एवा जाय कि वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका निरूपण दष्ट, इष्ट, और पूर्वापार प्रकरणेंसि अविरुद्ध होना चाहिये। कोई भी विचारशील विद्वान् सर्वज्ञथारासे चले आरहे प्रमेयका प्रातिपादन करदे वह उत्सूत्रभाषीपन दोषका पात्र कालत्रयमें भी नहीं होसकता है।

नतु च धातकीखंडे द्वी भरती द्वी हिमवंतावित्यादिद्वन्याभ्याष्ट्रती द्विरित्यत्र सूजसंभव इति चेत्र, मीयंत इति कियाध्याहारात् द्विस्तावानिति यथा, तेन धातकीखंडे भरतादिवर्षी-हिमबदादिवर्षधरश्च इदादिश्च द्विमीयत इति सूत्रितं भवति ।

यहा कोई पण्डित दूसरे प्रकारकी शंका उठाता है कि धातकी खण्डमें दो मरत क्षेत्र हैं। दो हिमवान् पर्वत हैं, दो हैमवत क्षेत्र हैं, दो महाहिमवान् पर्वत हैं, इत्यादि रूपसे इच्यकी अभ्यावृत्ति करनेपर दिर् इत पदमें सुच् प्रत्यय करनेका असम्भव है। क्योंकि " दित्रिचतुर्भ्यः सुच् " इस सूत्र अनुसार कियाकी अभ्यावृत्ति गिननेमें सुच् प्रत्यय हो सकता है। भरत हिमवान् आदि द्व्योंके बार बार गिननेमें सुच् प्रत्ययका विधायक कोई व्याकरणका सूत्र नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि " मीयंते " यानी नापे जा रहे हैं, इस कियाका अध्याहार अर्थात् उपरिव्रात् उपस्कार कर लेनसे उसी सूत्र द्वारा सुच् क्रत्यय कर लिया जाता है, जैसे कि यह प्रासाद (हवेली) उस परिभाणवाला दो बार है। इस वाक्यमें " नापा जाता है " इस कियाका अध्याहार कर दो बार उतना नापा जाता है। यो दिस्तावान् पदमें सुच् प्रत्ययकी घटना हो जाती है। उसी प्रकार " दिर्धातकीखण्डे " यहां भी संख्यावाची दि शहसे कियाकी पुनरावृत्ति गिननेमें सुच्यत्यय तद्धितवृत्तिमें कर लिया जाता है। तिस करके धातकी खण्डमें भरत, हैमवत, आदिक क्षेत्र हिमवान्, महाहिमवान्, आदि पर्वत तथा हद, नदी, मेरु, आदि दो, दो होकर संख्या द्वारा नापे जाते हैं, यह सूत्र द्वारा अर्थ उक्त हो जाता है।

कियान् पुनर्धातकीखण्डे भरतस्य विष्कंभ इत्युच्यते-पद्पष्टिशतानि चतुर्दशानि योजनानामेकासर्त्रिशच भागशतं योजनस्याभ्यंतरविष्कंभः। सकाद्वीतिपंचशताधिकद्वादश्च- सहसाणि पद्त्रिशच भागा योजनस्य मध्यविष्कंभः । सप्तचत्वारिंशत्यंचशताधिकाष्टादशे-सहसाणि योजनानां पंचपंचाशच भागशतं योजनस्य बाह्यविष्कंभः ।

कोई जिज्ञास पूछता है कि श्री विधानन्द स्वामिन महाराज ! यह बताओ कि धातकी खण्डमें भरत क्षेत्रकी चौडाई भला कितनी है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर प्रत्यकार करके यों उत्तर कहा जाता है कि छह हजार छह सी चौदह पूरे योजन और एक योजनके दो सी बारह भागोंमें एक सी उन्तीस भाग इतना धात भी खण्डके भरतका अभ्यन्तर विष्कंभ है। बारह हजार पांच सी इक्यासी योजन और योजनके छत्तीस बटे दो सौ बारह माग धातकी खण्डके भरतकी मध्यम चौडाई है तथा अठारह हजार पांच सो सेताछीस और एक सी पचपन बटे दो सो बारह योजन धातकी खण्डके भरतका बाह्य विषक्तंभ है। भावार्थ-धातकी खण्डका भीतरहा न्यास पांच हाख है। वही हवण समुद्रका अन्तिम न्यास है। मध्यम न्यास नो लाख और धातको खण्डकी बाह्य सूची तेरह लाख योजन की है। " विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वहुस्स परिरयो होइ '' स्थूळपरिधि व्याससे तिगुनी समझी जाती है। किन्तु सूक्ष्म परिधि तो व्यासके वर्गको दश गुना करनेपर पुनः उसका वर्गमूल निकाला जाय तब ठीक बैठती है। पांच लाखके वर्गके दश गुने पचीस खर्व संख्याका वर्गमुळ निकालनेपर पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उन्तालीस (१५८११३९) योजन धातकी खण्डकी अभ्यन्तर परिधि बैठती है। इक्यासी खर्व (८१०००००००००) का वर्गमूल निकालनेपर अहाईस लाख छियालिस हजार पचास (२८४६०५०) योजन धातकी खण्डकी मध्यम परिधि आती है। धातकी खण्डके बाह्य ब्यास तेरह छाखके वर्गके दश गुने एक नील उन्हत्तर बर्व (१६९०००००००००) का वर्गमूल निकाला जाय तो इकतालीस लाख दश हजार नौ सी इकसठ (४११०९६१) योजन धातकी खण्डकी बाह्य परिधि आ जाती है। जम्बूद्वीपमें जैसे पर्वत या क्षेत्रोंका विन्यास है वैसा धातकी खण्डमें नहीं है। पूरे पहियाके समान धातकी खण्डमें अरोंके स्थानपर पर्वत पड़े हुये हैं । और (अरविवर) रीते स्थानोंपर भरत आदि क्षेत्र रचे हुये हैं । जम्बूदीपमें हिम-वान्, महाहिमवान्, आदि पर्वतोंकी जितनी चौटाई है, उससे ठीक दूनी धातकी खण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाई है। धातकी खण्डमें भी हिमबान आदि पर्वत भीतके समान नीचे ऊपर एकते और लवण समुद्रके अन्तिम भागसे प्रारम्भ कर कालोदाधि समुद्रके आदि भागतक समान एकसी चौडा-ईको लिये हुये लम्बे पडे हुये हैं। पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड ये दो विभाग कर-नेके लिय धातकी खण्डके दक्षिण और उत्तर प्रान्तमें हजार योजन चौड़े चार सौ योजन ऊंचे चार लाख योजन लम्बे ऐसे दो इष्वाकार पर्वत पडे हुये हैं। जम्बूदीपके पर्वतोंसे धातकी खण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाई ठीक दूनी है और पर्वतोंकी संख्या भी दूनी है। प्रस्युत दो इन्त्राकार पर्वत और भी अधिक हैं। जम्बद्वीपमें छह पर्वत हैं तो धातकी खण्डमें दो इष्याकारों सिहत चौदह पर्वत हैं। जम्बूद्वीपमें हिमनान् आदि पर्वतोंने दक्षिण, उतर, चशलीस बजार दो सौ दस और दस बटे उन्नींस योजन आहार हो चेर रक्खा है। छहाँ पर्वती ही राजाकार्य चौगसी हैं। एक सी नव्ये राजाकाओंके लिये

जम्बूद्वीपमें एक लाख योजन क्षेत्र मिछे तो चौरासी शलाकाओंमें कितना क्षेत्र घिर जायगा ! यों त्रैरा-शिक करनेपर पर्वतोंसे अवरुद्ध हुआ उक्त संख्यावाळा क्षेत्र निकल आता है । धातकी खण्डके संख्यामें और चौडाईमें दुगुने पर्वतोंसे रुके हुये क्षेत्रको निकालनेके लिये जम्बूद्वीपके उक्त पर्वतावरुद्ध क्षेत्रको चौगना कर देनेपर एक लाख छिद्दचर हजार आठ से। बियालीस और दो बटे उन्नीस योजन क्षेत्र निकलता है। इसमें दो इष्याकार पर्वतोंकी दो हजार योजन चौडाईको मिला देनेपर धातकी खण्डमें पर्वतोंसे चिरा हुआ एक छाख अठत्तर हुजार आठ सौ बियाछीस (१७८८४२) योजन क्षेत्र हुआ। अंश (बटे) संख्याकी विवक्षा नहीं है। जम्ब्रद्वीपमें सातों क्षेत्रों की एक सौ छह रालाकायें हैं। इनसे दनी दो सो बारह शलाकार्ये धातकी खण्डमें क्षेत्रोंकी हैं। क्योंकि क्षेत्रोंकी दूनी यानी चौदह संख्या है। उन अभ्यंतर, मध्य और बाह्य तीन प्रकारकी धातकी खण्ड द्वीपसम्बन्धी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रकों घटाकर रोष बचे क्षेत्रमें दो सौ बारहका भाग देनेपर और भरतके लिये नियत एक रालाकासे गुणा-कर देनेपर धातकी खण्डके भरतकी भीतरली, बिचली, और बाहरी, चौडाईका क्षेत्र निकल आता 🕏 । भीतरली परिधि १५८११३९ में से १७८८४२ को घटाकर बचे हुये १४०२२९७ में २१२ का भाग देनेपर छह हजार छह सो चौदह और एक सो उन्तीस बटे दो सो बारह योजन धातकी खण्डके भरतकी भीतरी चौडाई निकल आती है। इसी प्रकार भरतकी मध्यम परिधि और बाह्य परिधिको निकाल लेना चाहिये। ऐसी दशामें धातकी खण्डका भरत आदिमें छह हजार छह सो चोदह योजनसे क्रम कर बढता हुआ अन्तर्मे अठारह हजार पांच सो सेतालीस योजन' चौडा हो गया है और चार छाख योजन छम्बा पड़ा है। जम्बूद्धिय भरतसे यह सैकडों गुणा बड़ा है। " वाहिरसईवग्गं अन्बंतरसङ्गगपरि**हीणं.** जम्बवासविभत्ते तत्तियमेत्ताणि खंडाणि " इस गाथा अनुसार जम्बुद्धीपसे धातकी खण्ड एक सौ चवाछीस गुने क्षेत्रफलको धार रहा है।

वर्षाद्वर्षश्रतुर्ग्रुणविस्तार आविदेहात् । वर्षधराद्वर्षधर् आनिषधात् । उत्तरा दक्षिणतुल्या इति च विक्षेयं । भरतेरावतविभाजिनौ च दक्षिणोत्तरायतौ स्ववणोदकास्रोदश्पर्शिनौ स्ववणो-द्वादक्षिणोत्तराविष्वाकारगिरी प्रतिपत्तव्यौ । धातकीखंडबस्त्यपूर्वीपरविभागमध्यगौ मेरू च ।

धातकी खण्डमें पिहें छे भरत क्षेत्रसे अगले, अगले वर्ष चौगुने, चौगुने विस्तारनाले हैं। विदेह पर्यन्त यही दशा है। क्योंकि पिहें क्षेत्रसे दूसरेकी, दूसरेसे तीसरे की, तीसरेसे चौथेकी, शलाकायें चौगुनी, चौगुनी, हैं। हां, लंबाई सर्व क्षेत्र या पर्वतोंकी एकसी चार लाख है। इसी प्रकार पिहले हिम-बान् पर्वतसे अगले अगले पर्वतोंकी चौडाई निषधपर्वतपर्यन्त चौगुनी, चौगुनी, है। तथा उत्तर दिशा सम्बन्धी क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिण दिशावतीं कहे जा चुके इन पर्वत और क्षेत्रोंके समान है, यह भी समझ लेना चाहिये। चार लाखकी लंबाई विदेह क्षेत्रकी मध्यम या बाह्य परिधिकी अपेक्षा चौडाई समक्षी जायगी। धातकी खण्डमें पूर्म मेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत अथवा पूर्व मेरु सम्बन्धी ऐरावत और पश्चिममेरु सम्बन्धी भरतका विमाग करने वाले इध्याकार पर्वत पडे हुये

समझ छने चाहिये। सुनर्णमय इन पर्वतोंका आकार ऋज (सीये) छंने बाणके समान है। अतः इनका नाम अन्वर्थ है। ये धातकी खण्डमें दक्षिण और उत्तर दिशाओंकी ओर छंने पड़े हुये हैं। मीतर छनण समुद्र और बाहर काछोदधि समुद्रको छूरहे हैं। पिंडिळा इच्नाकार छनणसमुद्रसे दक्षिणकी ओर और दूसरा छनणसमुद्रसे उत्तरकी ओर पसर रहा है। इन इच्नाकारोंसे धातकी खण्डस्वरूप कंकणके पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड द्वीप यों विभाग होजाते हैं और उन दोनों विभागोंके मध्यमें दो मेरु पर्वत प्राप्त होरहे हैं। जोकि जंबूद्वीपके सुदर्शन मेरुसे कुछ छोटे हैं। चौरासी हजार योजन ऊंचे हैं। जंबूद्वीपमें जहां जंबूद्वक्ष है, उसी प्रकार धातुकी खण्डमें धातकी खण्ड है। धातकी खण्डका परिक्षेप करनेवाला आठ लाख योजन चौड़ा कालोदिध समुद्र है। कालोदिधमें भी बाह्य तट और अभ्यन्तर तटसे पांच सो, साडे पांचसी, और छह सो, योजन चलकर अडतालीस अंतरदीप हैं। उनमें कुभोगभूमिकी रचना है।

अथ पुष्करार्धे कथं भरतादिमीयते तदिष्कंभाश्रेत्याह ।

इसके पश्चात् किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि दयानिधे यह बताओ कि पुष्करार्ध द्वीपमें भरत आदिक भला किस प्रकार नापे जारहे हैं ! और उनकी चौडाई आदिकी क्या व्यवस्था है ! यो प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं ।

पुष्करार्धे च ॥ ३५ ॥

संपूर्ण पुण्करमें नहीं किंतु पुण्कर द्वीपके भीतरले आधे भागमें भरत आदिक दो बार संख्या-द्वारा गिने जाते हैं। अर्थात्—जंबूद्वीपके भरत आदि या हिमवान् आदिकी अपेक्षा पुण्करार्धमें दो बार यानी दो भरत, दो हिमवान्, यों क्षेत्र, पर्वत, नदी, हृद, मेरु, कुण्ड आदि हैं।

संख्याभ्यावृत्त्वर्तनार्थश्रक्षद्धः । धातकीखण्डवत्युष्करार्धे च भरताद्यो द्विमीयंते । तत्रैकाक्षाश्चीत्युत्तरपंचश्चताधिकैकचत्वारिंशचोजनसद्दासाणि सत्रिसप्ततिभागश्चतं च भरतस्याभ्यंतरिवष्कंभः, द्वादशपंचश्चतोत्तराणि त्रिपंचाशद्योजनसद्दस्ताणि नवनवत्यधिकं च भागश्चतं योजनस्य मध्यविष्कंभः, षट्चत्वारिंशश्चतुःशतोत्तरपंचषष्टिसद्दस्ताणि त्रयोदश च भागा योजनस्य बाह्यविष्कंभः।

" दिर्घातकीखण्डे " इस पूर्व सूत्रसे " दिर् " इस संख्याकी अभ्यावृत्तिका अनुवर्तनके छिये यहां सूत्रमें च शद्ध किया गया है । धात की खण्ड के समान पुष्करार्धमें भी जम्बूद्धीपकी अपेक्षा भरत आदि दो बार गिने जाते हैं । इस पुष्करार्ध दीपमें भरत क्षेत्रकी भीतरली चौडाई इकतालीस हजार पांच सौ उनासी और एक सौ तिहत्तर बटे दो सौ बारह योजन है । पुष्करदीपके भरतकी त्रेपन हजार पांच सौ बारह और एक सौ निन्यानवे बटे दो सौ बारह योजन मिक्कली चौडाई है तथा

पेंसठ हजार चार सौ छियालीस और तेरह बटे दो सौ वारह योजन पुष्करके भरतकी बाहरली चौडाई है । मार्वार्थ--कालोदिध समुद्रसे बाहरली और चुपटी हुई पुन्करार्धकी भीतरली परिधि इक्यानवै लाख सत्तर हजार छह सी पांच (९१७०६०५) योजन है और पुण्करार्धको सेतीस लाख न्यासवाले मध्यदेशकी '' विक्लंभवग्गादहगुणकरणी वदस्त परिरयो होदि '' इस नियम अनुसार एक करोड सत्रह लाख चार सौ सत्ताईस (११७००४२७) योजन परिधि होती है। पेंतालीस लाखवाले पुष्करार्व द्वीपकी बाहरली परिधि एक करोड वियालीस लाख तीस हजार दी सी उनचास (१४२३०२४९) योजन है। एक अंकके बटे द्वये भागोंका यहां ऋष नहीं स्कला गया है। धातकी खण्डके बारहऊ कुळाचळोंसे पुष्करार्धके बारहऊ कुळाचळोंकी चौडाई दूनी दूनी है। किन्तु इष्त्राकार पर्वत दोनों द्वीपोंके एकसे एक एक हजार योजन चौडे हैं। अतः पुष्करार्धमें चौदह पर्वतोंसे रुका हुआ क्षेत्र तीन लाख पचपन हजार छह सौ चौरासी (३५५६८४) योजन है। उन तीनो प्रकारकी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको न्यून कर पुनः चौदह क्षेत्रोंकी दो सी बारह शलाकाओंसे माजित कर पश्चात् भरतकी एक शलाकासे गुणा कर देनेपर पुष्कराधिके भरतकी भीतरी, बिचली और बाहरी चौडाई निकल आती है। अतः इकतालीस हजार पांच सौ उनासी योजनसे क्रमवार बढता हुआ पेंसठ हजार चार सी छियालीस योजन चौडा हो रहा और आठ लाख योजन लम्बा यह पुष्करार्धका भरत क्षेत्र उस जम्बूद्वीपके भरतसे हजारों गुणा बडा बैठता है । हां, जम्बूद्वीपका हिमनान् पर्वत दस सौ बानन और बारह बंटे उनीस योजन चौडा तथा चौतीस हजार नौ सौ बत्तीस और एक बटे उन्नीस योजन लम्बा है । किन्तु पुष्करार्धका एक हिमवान् पर्वत इससे चौगुना चार हजार दो सौ दश और दश बटे उन्नीस योजन चौडा तथा आठ लाख योजन लम्बा है । हां, जम्बूदीपके कुलाचल, वक्षार, नदी, हद आदिकी गहराई और ऊंचाईके समान ही धात भी खण्ड और पुण्करार्घ द्वीपोंके कुळाचाळों आदिकी गहराई या ऊंचाई है। यो जम्बूदीपके हिमवान और पुष्करार्धिके हिमवान् पर्वतका अन्तर स्पष्ट समझ लिया जाता है। भलें ही ढाई द्वीपमें छोटेसे जम्बूद्वीपको पूरा एक और विचारे पुष्करार्धको आधा गिन छो, " नाम बडे दर्शन थोडे "।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आविदेहात् । वर्षधराद्वर्षधरश्चा निषधात् । मानुषोत्तरश्चेलेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंक्षाः, पुष्करद्वीपस्यार्धे हि पुष्करार्धमिति मोक्तं । अत्र धातकीखंडव-द्वर्षधराश्चकारवदवस्थितास्तदंतरालवद्वर्षाः। कालोदमानुषोत्तरश्चलस्पर्शिनाविष्वाकारगिरी दक्षि-णोत्तरौ पूर्ववद्वेदितच्यौ पुष्करार्धवलयपूर्वापरविभागमध्यवर्तिनौ मेरू चेति प्रपंचः सर्वस्य विद्यानन्दमहोदये प्रतिपादितोवगंतच्यः तदेवं-

पहिले क्षेत्रसे अगला क्षेत्र चौगुना चौडा है। विदेहपर्यन्त यह न्यवस्था समझना चाहिये और निषधपर्वतपर्यन्त पहिले वर्षधर कुलाचलसे अगिला वर्षधर पर्वत चौगुना चौडा है तथा उत्तर दक्षिण-वर्ती रचना तुल्य है। अर्थात्-पुष्करार्धिक भरतसे हैमवत क्षेत्रकी चौडाई चौगुनी है और हिमवानसे महाहिमवानकी चौडाई चौरानी है, यह दशा विदेह और निषध या नीलपर्वततक है। परछी ओर आधी आधी चौडाई होती चली गयी है। जंबद्वीपमें तो भरत क्षेत्रसे हिमनान पर्वतकी दूनी चौडाई थी। किन्तु पृष्करार्धके हिमबान पर्वत यथानिकट केवल दशवां भाग चौडा है, यानी दशमी गुणी हानिको लिये इये हैं। धातकी खण्ड और पुष्करार्धके इष्याकार और मन्दर मेरु उतने ही एकसे परिमाणवाले हैं। जंबुद्वीपमें जहां जंबुबृक्ष है, उसी रचनाके अनुसार पुष्करार्घ द्वीपमें परिवारसहित पृथ्वीकाय कमल अक्रत्रिम बना हुआ है। इस ही कारण इस द्वीपका नाम पुष्करार्धद्वीप रूढ हो रहा है। पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें कंकणके समान गोल सत्रह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊंचा इससे चौथाई चार सौ संवातीस योजन गहरा दश सौ बाईस (१०२२) योजन मूळमें चौडा सात सौ तेईस (७२३) योजन मध्यमें चौड़ा और चार सौ चौबीस (४२४) योजन ऊपर चौड़ा मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। प्रकरार्घ द्वीपकी ओर भीतके समान एकसा उठ रहा है और परली ओर ऋमऋमसे घटता हुआ शिखाऊ घनक या पीलपायेकी समान \Lambda खडा हुआ है। इस मानुषोत्तर पर्वत करके आधा विभाग प्राप्त हो जानेसे इस द्वीपकी '' पुष्करार्घ '' संज्ञा यथार्थनामा है। कारण कि पुष्कर द्वीपका आधा ही पुष्करार्घ है. यों निरुक्तिद्वारा अच्छा कह दिया गया है । यहां पुष्करार्ध द्वापमें भी धातकीखंडके समान वर्षधर पर्धत तो पहियेमें अरोके समान अवस्थित हैं और अरोंके अन्तराल समान क्षेत्रमें भरत आदि वर्ष व्यवस्थित हैं। इस पुष्करार्घमें भीतरकी ओर कालोदधि समद्र और परली ओर मानुषोत्तर पर्वतको स्पर्श कर रहे आठ लाख योजन दक्षिण उत्तर लम्बे पूर्वोक्त धातकी खण्डके चार लाख योजन लम्बे इष्वाकारोंके समान दो इष्वाकार पर्वत समझ छेने चाहिये । इनसे पुष्करार्धवलयके दो विभाग हो जाते हैं । पूर्व दिशा सम्बन्धी विभागके और पश्चिम दिशा सम्बन्धी विभागके मध्यमें वर्त रहे दो मेरु पर्वत हैं। मेरुओंपर चारों वन, पाण्डुकाशिला,अकृत्रिम चैत्यालय आदिकोका वर्णन अधिक मनोहारी है। पुण्यवान जीवोको उन चैत्यालयोंके दर्शनका सौमाग्य प्राप्त होता है। पुण्करार्धमें गंगा, विजयार्घ, विभंगा, विदेह क्षेत्र, उत्तम मोगभूमिया आदिकी बडी सुन्दर रचना है। मानुषोत्तरमें पुष्करार्घ सम्बन्धी नदियोंके निकलनेके द्वार हैं। उनमेंसे निकलकर परले पुष्करार्धमें बहुकर नदिया पुष्कर समद्रमें मिछ जाती हैं। इन सबका विस्तारसे प्रतिपादन हमने विद्यानन्द महोदय नामक महान् प्रन्थमें कर दिया है। विस्तार रुचिवाले विद्वानों करके सम्पूर्ण विस्तृत रचनाकी बहांसे प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। न्याय विषयकी प्रधानता होनेसे इस श्लोकवार्तिकमें आगम्ग्राम्य कतिप्रग्न सिद्धान्त विषयोंका ऊहापोह पूर्वक विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो निर्णीत हुआ उसको आगेकी वार्त्तिकमें सनो ।

> जम्बूद्धीपगवर्षादिविष्कंभादिरशेषतः । सदा द्विर्धातकीखंडे पुष्करार्धे च मीयते ॥ १॥

जम्बूद्वीपमें प्राप्त हो रहे क्षेत्र, पर्वत, आदिकोंकी चौडाई आदिक तो परिपूर्ण रूपसे धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपमें गणना द्वारा दो बार सदा नापी जाती है। वार्तिकमें पडा हुआ सदा शद्ध तो जम्बूद्वीप, धातकीखण्डकी उक्त रचनाओंको अनादिनिधन घोषित कर रहा है। शेष मध्यलेक या ऊर्घ्वलोक, अधोलोककी, रचनायं भी अनादि, अनन्त हैं।

एकेनैकेन सूत्रेणोक्तं यथोदितसूत्रवचनात् ।

मध्यवर्ती छोटेसे जम्बूदीपका वर्णन पचीस सूत्रों द्वारा किया गया है। किन्तु " बाहिरसूर्द्वगंग अञ्चलतरसूर्द्वगंग (स्वारंग), जम्बूतासिवभत्ते तिलयमेत्ताणि खंडाणि " इस नियम अनुसार जम्बूदीपसे एक सौ चवाटीस गुने धातकीखण्डका और जम्बूदीपसे ग्यारह सौ चौरासी गुने पुष्करार्ध द्वीपका निरूपण श्री उमास्त्रामी महाराजने एक एक सूत्र करके ही परिभाषित कर दिया है। अर्थात्—नामके भूंखे और शरीरसे बडे महाशय सदासे ही छोटे और मझले पदार्थोंक मालको हडप लेते चले आये हैं। इस लोकदक्ष स्वार्थी पुरुषोंकी नीति अनुसार जम्बूद्वीपके लिये महामना श्री उमास्त्रामी महाराज द्वारा दिये गये अमृतमय पचीस सूत्रोंके बहुभाग प्रमेयको बडे पेटवाले धातकीखन्ड और पुष्करार्ध द्वीपने भी झपट लिया है और अपने लिये प्राप्त हुये सूत्रोंका बांट रत्तीमर भी इन्होंने किसीको नहीं दिया है। "संस्तृतो व्यवहारस्तु न हि मायाविवर्जितः"। छोटोंका न्याय बडे करें। किन्तु बडोंका न्याय फिर कौन करे। वे न्यायरहित ही बचे रहते है। सच बात तो यह है कि समुद्रका जलपिण्ड छोटी छोटी बूंदो द्वारा ही निष्पन्न हुआ है। लोकमें बडप्पनकी स्पर्धा रखनेवाले पुरुषोंको छोटे छोटे पुरुषोंने ही वैसा बडा दिया है प्रकरणमें यह कहना है कि यथायोग्य पूर्ववर्ती पचीस सूत्रोंके निरूपणसे इन दो द्वीपोंकी ख्याति करनेमें बडे सहायता प्राप्त हो रही है।

कस्मात् पुनः पुष्करार्धनिरूपणमेव कृतमित्याह ।

क्योंजी, फिर यह बताओ कि किस कारणसे पुष्कर द्वीपके आधेका ही निरूपण किया गया है। पूरे पुष्कर द्वीपमें क्यों नहीं भरत आदिकोंकी संख्या दूनी कही गयी है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३६ ॥

पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें पड़े हुये मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पहिले ही मनुष्य हैं। मानुषोत्तर के परली ओर मनुष्य नहीं हैं। अतः पुष्करार्धतक ही इस मनुष्य लोकसे मोक्षमार्ग व्यवस्था चालू रहती है। मानुषोत्तर पर्वतसे परली ओर विद्याधर या ऋदि प्राप्त मनुष्य मी सिवाय उपपाद और समुद्धात अवस्थाके बाहर नहीं पाये जा सकते हैं। तिर्यक्लोक या अधोलोक या ऊर्ध्वलोकसे आकर मनुष्य लोकमें जन्म लेनेवाले नीवके विग्रह गतिमें पहिले समय मनुष्य आयुका उदय है। यह उपपाद

अवस्था है। मनुष्य लेकिका मनुष्य जीव बाहर जाकर मारणान्तिक समुद्घात या केवली समुद्घात करते हुये नृलोकसे बाहर भी चला जाता है। अन्यदा नहीं।

न परतो यस्मादित्यभिसंबंधः। मनुष्यलोको हि प्रतिपाद्यितुमुपक्रांतः स चेयानेव।

जिस मानुषे।त्तर पर्वतसे परले ओर मनुष्य नहीं हैं, द्वीपोंमें केवल तिर्यच ही पाये जाते हैं, उन द्वीपोंमें जबन्य भोगभूमिकीसी रचना है। हां, सबसे परली ओरका आधा द्वीप और पूरा स्वयम्भू-रण समुद्र तथा त्रसनाली तक चारों कोने, यहां कर्मभूमि की रचना है। स्वयम्भूरमण द्वीपके उत्तरार्ध स्थल भागमें पांचवे गुणस्थानको धारने वाले भी असंख्याते तिर्थेच यहां पाये जाते हैं। चूंकि इस प्रकरणमें मनुष्य लोककी प्रतिपत्ति करानेके लिये उपक्रम चलाया गयां है। अतः वह मनुष्य लोक तो पुष्करार्ध द्वीपपर्यंत पैतालीस लाख योजन परिमाणवाला इतना ही है।

यद्येवं किंपकारा मनुष्यास्तत्रेत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इसी ढंगसे मनुष्य छोककी न्यवस्था है तो बताओ उस ढाई दीपमें रहनेवाले मनुष्य कितने प्रकारके हैं ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमाखामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३७ ॥

आर्य और म्लेन्छ यों दो प्रकारके मनुष्य हैं। भावार्थ—यद्यपि संमूच्छेन मनुष्य भी इन पर्याप्त मनुष्योंसे असंख्यातें गुणे अधिक इस जगत्में हैं। तथापि भूमिपर गमन करनेवाले या आकाशमें उडनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन जो नहीं कर सकें ऐसे जीवोंकी विवक्षा अनुसार उक्त दो मेद ही मनुष्योंके किये हैं। संमूर्छन मनुष्य भी यदि देवों द्वारा पकड कर ले जाये जाय तो मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। संमूर्छन मनुष्य तो इन पर्याप्त मनुष्योंके आश्रित होकर ही ठहरते हैं। अतः आर्य खण्डमें उपजी हुई कतिपय क्रियोंके निरूपणके समान ये गतार्थ हो जाते हैं। वस्तुतः यह पर्याप्त मनुष्योंका ही स्त्रण है। जिस प्रकार विजलीके प्रवाह (करेन्ट) वाले तारको सर्वाङ्ग छूते हुये परली ओर मनुष्यका जाना नहीं हो सकता है, उसी प्रकार बलात्कारसे मानुषोत्तरके परली ओर जानेपर मनुष्य शरीर फट कर, टूट इटकर, वहीं गिर पड़ेगा। आगे नहीं जा सकेगा।

एतदेव मरूपयति ।

इस है। सूत्रकारके अभीष्ट सिद्धान्तको श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा कहे देते हैं।

प्राद्यानुषोत्तराद्यस्मान्मनुष्याः परतश्च न । आर्या म्लेच्छाभ्य ते द्वेपास्तादकर्मबलोद्भवाः॥ १ ॥ जिस कारणसे कि मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पिहेले ही ढाई द्वीपमें मनुष्य हैं, किन्तु मानुषोत्तरके परली ओर मनुष्य नहीं हैं। तिस प्रकारके कर्मकी सामध्येसे उत्पन्न हुये वे मनुष्य आर्य और म्लेष्क समझ होने चाहिये।

उचैर्गोत्रोदयादेरार्या, नीचैर्गोत्रादेश्व म्लेच्छाः।

तिस तिस प्रकारके पौद्रलिक कर्मी अनुसार आर्य अथवा म्लेच्छ मनुष्य उपज जाते हैं। इसका तारपर्य यह है कि संतान ऋमसे चले आ रहे उच आचरणके सम्पादक अचगोत्रका उदय हो जानेसे अथवा क्षेत्र, जाति, कर्म, आदिकी व्यवस्था अनुसार या गुणसेव्यता, भोगभूमि सम्बन्धी मनुष्य शरीर, आदि कारणोंसे आर्य मनुष्य हो जाते हैं | तथा नीच आचरणके सम्पादक नीच गोत्रका उदय, कुभोग भूमि या म्लेच्छ खण्डोंमें उत्पत्ति, नीच क्रियायें निर्लग्ज भाषण आदि निमित्तोंसे म्लेच्छ मनुष्य हो जाते हैं। भावार्थ-अर्वत्र अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे ही प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति हो रही है। यद्यपि धोबी, नाई, छहार, कुम्हार, आदिक शिल्पकर्मी आर्यों के शृद्ध होनेके कारण नीच गोत्रका उदय माना गया है । तथा ग्लेन्स खण्डोंके मनुष्योंको भी संयमकी प्राप्ति हो सक**नेके कारण उच्चगोत्रका उदय मानना** पड़ेगा । क्योकि " देसे तादियकसाआ णीचं एमेव मणूस सामण्ये " पांचवें गुणस्थानमें नीच गोत्रकी उदयध्यु न्छिति हो जाती है तथापि बहुभाग आर्थ मनुष्योंकी अपेक्षा उच्चगोत्रका उदय और बहुभाग म्लेच्छोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय मानना पडता है। राजवार्त्तिकमें नाऊ, धोवी, कुम्हार, को आर्थीमें गिना है और लिन्धिसार प्रन्थमें सक्रक्संयम लिन्धको धारनेवाले स्वामियोंके भेदका निरूपण करते समय " तत्तो पडिवज्ज गया अज्जिमिलेच्छे मिलेच्छ अज्जेय । कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा '' इस गाथाकी टीकामें यो लिखा है कि " म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकल-संयमप्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितन्यं, दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागलानां म्हेन्दर-राजानां चऋवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरिवरोधात् अथवा तत्कान्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूरपन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीय-कानां दीक्षाईत्वे प्रतिषेधाभावात् ''। म्लेच्छ भूमिमें उत्पन्न हुये मनुष्योंके सक्छ संयमका प्रहण कैसे सम्भवता है ! यह आशंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि दिग्विजय करते समय चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें चले आये और चक्रवर्ती, मण्डलेक्चर, आदिके साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो गया है. अपनी या उनकी कन्यायें छे छीं, दे दीं, गई है, ऐसे म्छेच्छ राजाओंके संयमलब्धिकी प्राप्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है अथवा चक्रवर्ती आदिके साथ परिणाई गई कन्याओंके गर्भोमें उत्पन्न हुये इन म्लेच्छ नामधारी मनुष्योंके सकलसंयम सम्भव जाता है। तिस प्रकारकी जातिवाले म्लेच्छ मनुष्योंकी दीक्षा योग्यतामें कोई प्रतिषेध नहीं है। सागारधर्मामृतमें " श्रूहोण्युपस्कराचार वपु:-शुच्याऽस्तु तादशः, जात्या हीनोऽपि कालादिलन्थी ह्यात्मास्ति धर्मभाक् "। लिखा है श्री समन्त-भद्राचार्यने '' सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्, देवा देवं विदुर्भसम्गृहाङ्गारान्तरीजसम् '' यो

रलकरण्ड श्रावकाचारमें घोषित किया है। श्री रविषणाचार्यने पद्मपुराणमें "न जातिर्गार्हिता काचिद्
गुणाः कल्याणकारणम्, वतस्थमि चांडाळं तं देवा ब्राह्मणं विदुः " छिखा है। श्री अकळंक देवने
राजवार्तिकमें दशों प्रकारके सम्यग्दर्शनको धारनेवाछे जीवोंको "दर्शनार्थ " कहा है। ऐसी दशामें शृद्ध
या तिर्येच अथवा म्छेच्छ भी आयोंमें गिने जा सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण तिर्यचोंके भछे ही वे उत्तम
भोगभूमियां क्यों न हो, श्री गोम्मटसारमें नीच गोत्रका ही उदय माना गया है। शृद्धोंके भी नीच
गोत्रका उदय है। साथमें " जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्छध्यानस्य हेतवः, येषां स्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषाः
शृद्धाः प्रकीर्तिताः " यह सिद्धांत भी जागरूक है। सर्वथा म्छेच्छोंकेसे व्यवहारमें छवछीन होरहे यवन,
खुरपल्टा, कसाई, चर्मकार, आदिको क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य कहा जा रहा है। शृद्ध, श्रावक या तिर्येच
श्रावकको अल्प सावच कर्मा आयोंमें गिनाया है। ऐसी पर्याछोचना करनेपर यह प्रतीत होजाता है कि
आयोंके उच्चगोत्रका उदय और म्छेच्छोंके नीचगोत्रका उदय मानना बाहुल्यकी अपेक्षा स्वरूप कथन
मात्र है। छक्षण नहीं है। विशेषक्च विद्वान् इस पर और भी अधिक विचार कर सकेंगे।

पासद्धीतरभेदेन तत्रायी द्विविधाः स्मृताः । सद्गुणैरर्यभाणात्वाद्गुणवद्भिश्च मानवैः ॥ २ ॥ तत्र पासद्धयः सप्तविधार्थमधिसंसृताः । बुद्ध्यादिसप्तधा नाना विशेषास्तद्विशेषतः ॥ ३ ॥

उन मनुष्यों में आर्य मनुष्य तो ऋदि प्राप्त और इतर यानी " जो ऋदि प्राप्त नहीं हैं " इन दो भेदों करके दो प्रकारके आम्नाय द्वारा माने गये हैं। आर्यशद्धकी निरुक्ति इस प्रकार है कि समीचीन गुणों करके अथवा गुणवान् मनुष्यों करके जो सेवित होरहे हैं, इस कारण वे सेवनीय पुरुष आर्य मनुष्य कहे जाते हैं। उन आर्यों में ऋदियों को प्राप्त होचु के मनुष्य तो सात प्रकारकी ऋदियों पर अधिकार करते हुये ऋदियों से संगत होरहे हैं। अपने अपने उन भेद प्रभेदोंसे अनेक विकल्पोंको धार रहीं वे ऋदियां बुद्धि ऋदि, तप ऋदि, आदि सात प्रकार हैं।

ऋदिमाप्तार्थाः सप्तिविधाः सप्तिविधिमास्ता हि ते । सप्तिविधिः पुनर्बुध्धादिस्तथाहिबुद्धितपोविक्रियौषधरसवलाक्षीणद्धयः सप्त मक्षापिताः नाना विशेषाश्च माप्तर्धयो भवंत्यार्थास्तद्विशेषात् । बुद्धिविशेषिंमाप्ता हि बीजबुध्धादयः, तपोविशेषिंमाप्तास्तप्ततपःमभृतयः, विकियाविशेषिंमाप्ता एकत्विविक्रियादिसमर्थाः, श्रीषधित्राप्ताः जल्लौषिमाप्तादयः, रसिंधमाप्ताः क्षीरस्नाविभमृतयः, बलविशेषिंमाप्ता मनोबल्प्रभृतयः, अक्षीणिविशेषिंमाप्ताः पुनगक्षीणमहाल्यादय इति । अन्ये त्वाहः ऋदिमाप्तार्या अष्टिविधाः बुद्धिकियाविकियातपोवलीषधरसक्षेत्रभेदादिति । ते कृतः संभाव्या इत्याह ।

जब कि वे ऋदियोंको प्राप्त होत्त्रके आर्य सात प्रकारकी ऋदियोंके आश्रय होरहे हैं, इस ही कारण सात प्रकारवाले माने गये हैं। सात प्रकारकी बुद्धि आदिक ऋद्वियां तो फिर यह हैं। उन हीको प्रंथकार दिखळाते हैं। बुदिऋदि, तपऋदि, विक्रियाऋदि,औषवऋदि, रसऋदि, वलऋदि, अक्षीणऋदि, ये नाना प्रमेदवाळी सात ऋद्भियां अच्छी जतायीं गयीं हैं । उन ऋद्भियोंकी विशेषतासे आर्य ऋद्भिको प्राप्त कर चुके होजाते हैं। बुद्धिऋदिके विशेष मेद हो रहीं बीजऋदि, कोष्ठऋदि, आदिको प्राप्त हो रहे आर्य हैं। इस कारण वे बीजबुद्धि, कोष्टबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोता, आदि माने जाते है तथा तपीऋद्धिके विकल्प हो रही उप्रतप, दीप्ततप, तप्तऋदि आदिको प्राप्त हुये आर्य तप्ततपाः, महाघोरतपाः, उपतपाः, आदिक कहे जाते हैं और विकियाके विशेष हो रहीं ऋद्वियोंको प्राप्त हुये आर्य एकत्वविकिया, आणिमा, महिमा, गरिमा, आदि क्रियाओंको करनेमें समर्थ हो रहे स्मरण किये गये हैं एवं औषध ऋदिके विशेष अंशोंको प्राप्त हो चुके आर्य जल्लीषधिप्राप्त, मलीषाधिपात, दृष्टिविष, आदि गाये गये हैं। रस ऋदिको प्राप्त हो रहे आर्य तो क्षीरास्त्रवी, मध्यास्त्रवी, आदिक हैं। मनोबळी, वचनबळी, आदिक आर्य जिनागममें बलके विशेष हो रहीं ऋदियोंको प्राप्त हुये सनझे गये हैं। अक्षीण ऋदिके विकल्प होरहीं ऋदियों को प्राप्त कर चुके आर्य मुनि फिर अक्षीण महालय आदिक बोले गये हैं। इस प्रकार ऋदि प्राप्त आर्योंके सात भेद हैं । दूसरे श्री अकलंक देव प्रमृति आचार्य ऋद्धि प्राप्त आर्योको आठ प्रकार स्वीकार करते हैं। वे आठ प्रकार बुद्धिऋदि, क्रियाऋदि, विकियाऋदि, तपऋदि, वळऋदि, औपधऋदि, रसऋदि, क्षेत्रऋदि इन आठ भेद वार्डी ऋदियों के धारनेसे हो जाते हैं। अर्थात्—उन सातों का इन आठोंसे अविरोध है। क्रियाऋदिका विकिया ऋदिमें ही अंतर्माव कर लिया जाता है। अक्षीण ऋदि और क्षेत्रऋद्भिका अभिप्राय एक ही है। प्रवक्ताओंकी वचनमंगी अनुसार मेद करनेमें शद्धकृत अंतर भले ही पड जाय, अर्थमें कोई अंतर नहीं है। चाहे अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु ये दो अवयव मान लिये जाय अथवा पञ्च, साध्य, हेतु, ये तीन अंग मान लिये जाय एक ही तात्पर्य बैठता है। यहां किसीका प्रश्न है कि वे ऋदिया या ऋदिवारी आर्य मला किस प्रभाणसे निर्णीत हो कर संभावना करने योग्य हैं ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे अत्र, अञ्चना, ऋद्रियारी मनुष्योंके दर्शन होना दुर्रुभ है। एक बात यह भी पूंछनी है कि अष्ट महानिमित्तका ज्ञान अणु शरीर बना छेना, मेरुसे भी बडा शरीर बना छेना छोटेसे स्थानमें असंख्य जीवोंका निर्वाध बैठ जाना इत्यादिक ऋद्वियोंकी शक्तियां कैसे समझ ली जांय? यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचनको कहते हैं।

संभाव्यंते च ते हेतुर्विशेषवशवर्तिनः । केचित्पकृष्यमाणात्मविशेषत्वात्ममाणवत् ॥ ४ ॥

वे ऋदि को प्राप्त हुये कितने ही एक आर्य (पक्ष) अपने अपने विशेष हेतुओंकी अधीनतासे वर्त रहे संते संभावित होरहे हे (साध्य) तारतम्य मुद्रा अनुसार प्रकर्षको प्राप्त होरहे अपने अपने विशेष

स्वरूपोंका धारक होनेसे (हेत्) लम्बाई, चौडाई, मोटाई, रूप विशेषताओंको धारनेवाले परिमाणके समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा प्रमाण ज्ञानके समान । अर्थात्—जैसे परपदार्थीकी अपेक्षा न्यून होते होते और आत्म विश्वद्धिके बढते बढते जैसे ज्ञानमें प्रमाणता बढती जाती है, उसी प्रकार जीवोंमें ऋदि शक्तियां भी बढ़तीं जाती हैं। थोडे थोडे ज्योतिषविद्या, भुशास्त्र, स्वरशास्त्रके, जाननेवाले आजकल भी पाये जाते हैं। एक विद्यार्थी पहिली बार अष्टसहस्रीको छह महीनेमें पढता है। पनः पाठकी विचारता हुआ पन्द्रह दिनमें हृदयंगत कर छेता है । पश्चात परिशीलन करता हुआ चार ही दिनमें पूरे अष्टसहस्री प्रन्थका अनुगम कर छेता है। यों अभ्यास करते हुये वह छात्र परीक्षा कालमें अष्टसहस्रिके प्रमेयको अन्तर्मुहर्त्तमें ही अनुगत कर छेता है। सबूतर, बिच्छके मछ, सूत्रमें, कितनी ही लाभदायक राक्तियां हैं । हर्ष अवस्थामें या न्यायाम करनेपर हारीर फूल जाता है । चिन्ता, शोक, अवस्थामें शरीर कुष हो जाता है । शारीरिक वायुको वशकर प्राणायाम द्वारा कतिपय चमत्कार दिखा दिये जाते हैं । आकारा या जलमें मनुष्यका चलना बन सकता है । अनेक जीवोंका वरामें कर लेना कोई अशक्य नहीं है । कई साथओंकी घोर तपस्या प्रसिद्ध है। मांत्रिक, तात्रिक, पुरुषोंके देखने मात्रसे कतिपय विष उतर जाते है। हां, उत्कट तपस्यावोंकी आचरनेवाले आर्थ मुनियोंके उक्त ऋदियां अख-धिक रूपसे बढ जाती हैं। जो अतिशय क्रम क्रमसे बढ रहा है। वह आकाशमें परिमाणके समान पूर्ण प्रकर्पताको भी प्राप्त कर छेता है । जब कि जड पदार्थ ही विज्ञान प्रयोग अनुसार अनेक चम-त्कारोंको कर रहे हैं, तो अनन्तराक्तिवाले आत्माकी ऋदियोंके साधनेमें कोई संराय नहीं रह जाता है।

यथा परिमाणमापरमाणोः मक्रुष्यमाणस्वरूपमाकाश्चे परमप्रकर्षपर्यतप्राप्तं सिद्धयत्तदंत-राले अनेकथा परिमाणमक्तंषे साधयित तथा सर्वजघन्यज्ञानादिगुणिर्धिविशेषादारभ्यार्धिविशेषः मक्रुष्यमाणस्वरूपं परमप्रकर्षपर्यतमाप्लवश्चंतरालिर्धिविशेषप्रकर्षे साधयतीति संभाव्यंते सर्वे बुध्य-तिशयिर्धिविशेषादयः परमागमप्रसिद्धाश्चेति न किंचिदनुपपन्नं। के पुनरसंप्राप्तर्थय इत्यावेदयित ।

जैसे कि प्रत्येक द्रव्यमें पाये जा रहे प्रदेशवत्त्व गुणका विवर्त लम्बाई, चौडाई मोटाई, रूप परिमाणसे जैसे एक प्रदेशी परमाणुने प्रारम्भ कर अपने अपने बनैः शनैः वढ रहे स्वरूपको धार रहा सीमापर्यन्त पहुंचकर आकाशमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो चुका सिद्ध हो जाता है और उसके अन्तरालमें पाये जानेवाले अनेक प्रकार परिमाणोंके प्रकर्षको साध देता है। अर्थात — सबसे छोटा परिमाण परमाणुका है और आकाशका सबसे बडा नाप है। विचले घट, गंगानदी, जम्बूदीप, स्वयंभूरमण समुद्र, लोकाकाश ये मध्यम परिमाणवाले हैं। उस ही प्रकार सबसे छोटे लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवके जधन्यज्ञान, अत्यल्प कायबल, आदि गुणस्वरूप ऋदि विशेषोंसे प्रारम्भ कर बुद्धि, बल, आदि ऋदियोंके विशेष मला अपने बढ रहे स्वरूपके परम प्रकृष पर्यन्त प्राप्त हो रहे सन्ते अन्तराल-वर्ती ऋदिविशेषोंके प्रकृषको साध देते हैं। इस ढंगसे सभी बुद्धिका अतिशय रूप विशेष ऋदि या

विकिया विरोष ऋदि, बळ ऋदि, आदिको धारनेवाळे आर्य मनुष्य सम्भावित हो रहे हैं। यों अनुमानसे ऋदिधारी मनुष्योंकी सिद्धि हो रही है। तथा सर्वज्ञ आम्नायसे प्राप्त हुये सर्वेत्कृष्ट आगम प्रमाण हारा भी ऋदिप्राप्त आर्थ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार कोई भी ऋदि या ऋदिधारियोंकी अनुपपत्ति नहीं है। यहां कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि ऋदिप्राप्त आर्थ मनुष्योंको हम निर्णीत कर चुके हैं। अव महाराज फिर यह समझाइये कि वे ऋदियोंकी भले प्रकार ब्राप्तिसे रहित हो रहे आर्थ भला कौनसे मनुष्य हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधानका विज्ञापन करते हैं।

असंप्राप्तर्भयः क्षेत्राद्यार्या बहुविधाः स्थिताः । क्षेत्राद्यपेक्षया तेषां तथा निर्णीतियोगतः ॥ ५ ॥

ऋदियोंकी सम्प्राप्तिसे रीते हो रहे दूसरे आर्य तो क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, इत्यादिक बहुत भेद, प्रभेदवाळे व्यवस्थित हो रहे हैं। क्षेत्र, कर्म, आदिकी अपेक्षा करके उन मनुष्योंका तिस प्रकार क्षेत्रसे आर्य, जातिसे आर्य, आदि स्वरूपोंकरके निर्णय हो जानेका योग मिळ रहा है।

क्षेत्रार्या, जात्यार्याः, कर्मार्याश्चारित्रार्या, दर्शनार्याश्चेत्यनेकविधाः क्षेत्राद्यपेक्षया अदृद्धि-माप्तार्याः प्रत्येतच्या तथाः प्रतीतियोगात् ।

क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य, इस ढंगसे क्षेत्र आदिककी अपेक्षा करके अनेक विकल्पवाले ऋदि प्राप्तिसे सून्य हो रहे आर्य समझ लेने चाहिये। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीतियोंका योग पाया जा रहा है। अर्थाद्—इस आर्यखण्डमें काशी देश, अवधप्रान्त, विहार प्रदेश, आदिमें जन्म लेकर बस रहे मनुष्य तो क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य हैं। इक्ष्वाकुवंश, नाथवंश आदि कुलोंमें उत्पन्न हुये पुरुष जाति अपेक्षा आर्य हैं। पाप कर्मा, अल्प पाप कर्मा और निष्पाप कर्मा, की अपेक्षा कर्मायोंके तीन भेद हैं। यों—अध्ययन, अध्यापन, असि, मषी, आदि कर्मोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षित्रिय, वैश्य, शृद्ध वर्णवाले मनुष्य या श्रावक, मुनि, भी कर्म आर्य हैं। चारित्र पालनेकी अपेक्षा ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानवर्त्ता मनुष्य अथवा अन्य भी चारित्रवान पुरुष चारित्र आर्य हैं। दश प्रकारके सम्यादर्शनको धारनेवाले दर्शन आर्य हैं।

के पुनर्म्छेच्छा इत्याह ।

आर्योंकी प्रतिपत्ति हो चुकनेपर कोई शिष्य पूंछता है कि फिर म्लेच्छ मनुष्य कौनसे हैं ! यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते है ।

> तथान्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः परे द्वैस्युः कर्मभूमिजाः। आद्याः षण्णवतिः स्याता वाधिद्वयतटद्वयोः॥ ६॥

तथा अंतर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुये म्लेन्छ हैं और उनसे न्यारे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये तिस प्रकारके दूसरे म्लेन्छ मनुष्य हैं। आदिमें कहे गये अंतर्द्वीपवासी म्लेन्छ तो ठवण, कालोदाधि, दोनों समुद्रोंके भीतरले, बाहरले, उभय तटोंपर बने हुये छियानवें अंतर्द्वीपोंमें निवास कर रहे वखाने गये हैं।

म्स्रेच्छा द्विविधाः अंतर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्च । तत्राद्यास्तावल्लवणोदस्योभयोरष्टचत्वा-रिञ्जत् तथा कालोदस्य इति षण्णवतिः ।

म्छेच्छ दो प्रकारके हैं । एक अंतर्द्वापोंमें उत्पन्न ह्रये और दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न ह्रये म्हेच्छ हैं। उन दोनों भेदोमें आदिमें कहे गये मनध्य तो ल्यणसमदकें दोनों तटोंपर अडतालीस द्वीप और तिस ही प्रकार कालोदिव समुद्रके दोनों नटोंपर जलमें उभर रहे अडतालीस द्वीप यो लियानवे द्वीपोंमें निवास कर रहे हैं। एक एक डीपमें लाखों म्लेन्छ निवास करते हैं। भावार्थ-जंबुद्दीपकी बेदीसे तिरला चलकर आठ दिशा, विदिशाओंमें लवण समुद्रमें भीतर आठ अंतरदीप हैं और उनके बीच बीचमें आठ न्यारे द्वीप हैं एवं हिमवान पर्रत के दोनों ओर, शिखरी पर्वतके दोनों ओर, दो विजयाधींके दोनों ओर. यों आठ द्वीप अन्य भी हैं। छत्र ममद्रके बाहरले पत्तवाडेमें भी इसी प्रकार चौवीस द्वीप बन रहे हैं। दिशाओं में बने हुये द्वीप तो रह्नवेदिकासे तिरछे पांचसी योजन समद्रमें घुसकर सी योजन चिस्तारवाले हैं तथा विदिशा और अंतरालोंमें बने हुये द्वीप तो जंबूद्वीपकी वेदीसे तिरछा साढे पांच सो योजन जानेपर पचास योजन विस्तारवाले हैं। पर्वतोंके अंतमें जो द्वीप माने गये हैं वे छह सी योजन समुद्रमें उरछीपार और परलीपारसे घुसकर पत्तीस योजन त्रिस्तारवाले निर्मित हैं। इसी प्रकार कालोदधि समुद्रमें भी अडतालीस द्वीप बने हुये हैं। अंतर इतना ही है कि धातकीखंडके हिमवान् पर्वत और उसके निकटवर्ती विजयार्घ दोनों की रेखाओं के अनुसार कालोदिध में एक अंतरद्वीप है। इस ही रेखा अनुसार परछी ओर एक द्वीप है यही दशा शिखरीपर्वत और उसके विजयार्थके संब-धमें छगा लेना चाहिये। इन अंतर द्वीपोंमें पुंछवाले, सींगवाले, गूंगे आदि कई विकृत आकृतिओंकी धार रहे म्छेन्छ मनुष्य निवास करते हैं। ये द्वीप जलतलसे एक योजन ऊंचे उठे हुये हैं। इन द्रीपोंको कुमोगभूमिमें भी कह दिया जाता है।

ते च केचिद्धोगभूमिसमप्रणिधयः परे कर्मभूमिसमप्रणिधयः श्रूयमाणाः कीदृगायुक्तसेध-

तथा वे म्लेन्छ कोई कोई तो द्वीपवर्तिनी भोगभूमियोंकी समान रेखा अनुसार निकटवर्ती होरहे हैं और कोई दूसरे अंतर्द्वीपवासी म्लेन्छ जो कि कर्मभूमियोंके निकटसमकोटीपर बने हुये अंतर्द्वीपोंमें निवास कर रहे सुने जा रहे हैं। किसीका प्रश्न है कि मला उनकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा प्रश्नियां किस प्रकारकी है ! ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिक द्वार। समाधान वचनका व्याख्यान करते हैं।

भोगभूभ्यायुरुत्सेधवृत्तयोर्भोगभूमिभिः । । ।। समप्रणिधयः कर्मभूमिवत्कर्मभूमिभिः ॥ ७ ॥

भोगभूमियोंकी समरेखापर निकटवर्ती बन रहे अन्तर्द्विपोंगें निवास करनेवाले म्लेब्छ तो भोगभूमिवाले जीवोंके समान आयुष्य, ऊंचाई और प्रवृत्तिको धार रहे हैं तथा कर्मभूमियोंकी निकटवर्तिनी समरेखापर लवणसमुद्र या कालोद्धिमे बने हुये अन्तर्द्विपोंमें निवास कर रहे म्लेब्छोकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा भोजनादिकी प्रवृत्तियां कर्मभूमिवाले जीवोंकी आयु, ऊंचाई, और प्रवृत्तियोंके समान है। किन्तु कर्मभूमिके समान उन म्लेब्छोंमें देशवत या महावत नहीं पाये जाते हैं।

भोगभूमिभिः समानप्रणिधयोतर्द्वीपजा म्लेच्छा भौगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयः प्रतिपत्तव्याः, कर्मभूमिभिः समप्रणिधयः कर्मभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयस्तथा निमित्तसद्भावात् ।

मोगभूमियोंकी समाननिकटतावाले अन्तर्द्वीपोंमें उपजे हुये म्लेन्छ तो उन उन भोगभूमियोंके जीवोंकी आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तिके समान आयुष्य उच्चता, प्रवृत्तियोंको धार रहे समझ लेने चाहिये। और कर्मभूमियोंकी समप्राणिधिवाले म्लेन्छ तो उस कर्मभूमिमें नियत हो रही आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तियोंको अनुसार आयु, शरीरोत्सेध, और प्रवृत्तियोंको धार रहे है। क्योंकि तिस प्रकारके निमित्त कारणों का सद्भाव है। कारणके विना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे पुण्य, पाप, उन मोगभूमि या कर्मभूमिमें जन्म ले चुके मनुष्योंके हैं, उस ही प्रकारके कुळ न्यूनाधिक पुण्य, पाप, उन उन भूमियोंके निकटवर्ती अन्तरद्वीपोंके निवासी म्लेन्छ मनुष्योंमें भी पाये जाते है। जैसा कारण होगा वैसा कार्य बन जायगा, यह निर्णीत सिद्धान्त है।

अथ के कर्मभूमिजा म्लेच्छा इत्याह ।

अब इसके अनन्तर कोई प्रश्न पूछता है कि दोनों प्रकारके आर्योंको मै समझ चुका हूं, दे प्रकारके म्छेच्छोंमें अन्तर द्वीपके म्छेच्छोंकी प्रतिपत्ति भी की जा चुकी है । अब महाराज, यह बतलाओ कि दूसरे प्रकारके कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्छेच्छ भला कीन है ? इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर प्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं ।

कर्मभूमिभवा म्लेन्छाः प्रसिद्धा यवनादयः । स्युः परे च तदाचारषालनाद्वहुधा जनाः ॥ ८ ॥

और वे दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेष्छ तो यवन, शवर, पुलिन्द, किरात, यखर, आदिक शिसद ही हैं, जो कि बहुत प्रकारके चाण्डाल आदि मनुष्य उन म्लेष्छोंके आचारको पालनेसे म्लेष्छ ही समझे जाते हैं। अर्थात्—जिन जातियोंमें मद्य, मांस, आदिक कुकर्मोंसे वृणा नहीं है, धर्म,

अधर्म, या मध्य, अमदयका, विवेक नहीं है, वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है, धर्मको त्रत समझ कर नहीं पाछते हैं, उन जातियोंके मनुष्य भन्ने ही क्षेत्र आर्य क्यों नहोंय, क्लेक्डोंमें ही परिगणित किये जाते हैं।

कुतः पुनरेनमार्यम्छेच्छन्यवस्थेत्याह ।

महाराज, फिर यह बताओ कि जगत्में मनुष्यों के इन प्रकार आर्यपन या म्लेष्क्रपनकी व्यवस्था भेला किस कारणते नियत हो रही हैं ! यों जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज समाधान वच-नको कहते हैं।

> संप्रदायाव्यवच्छेदादार्यम्छेच्छव्यवस्थितिः । संतानेन विनिश्चेया तद्विद्भिर्व्यवहारिभिः ॥ ९ ॥ स्वयं संवेद्यमाना च गुगदोषनिवंधना । कथंचिदनुमेया च तत्कार्यस्य विनिश्चयात् ॥ १० ॥

सन्तानक्रम अनुसार उन आर्य या म्लेच्छ पुरुषोंको जाननेवाले व्यवहारी मनुष्यों करके सम्प्र. दायका नहीं ट्रटना होनेसे आर्य और म्लेन्ज मनुष्यों भी व्यवस्थाका संतान प्रतिसंतान स्वप्तरक विशेषतया निर्णय कर छेना चाहिये । यों वृद्धपरम्पराधे चडे आ रहे आप्तशक्यों द्वारा मनुष्योंमें आर्यपन या म्छेन्छपन का नियत बना रहना जान छिया जाता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा भी गुण और दोषों हो कारण मानकर हुई आर्थन्यवस्था या म्छेन्छन्यवस्थाका स्वयं सम्वेदन किया जा रहा है। जिन पुरुषोमें धर्म हमीविचार, अति, मधी, आदि प्रवृत्तियां, गुरुविनय, पापशीरुता, आदि गुण है. वे आर्य मनुष्योंके यहां अपनी अपनी आत्मामें आर्य मनुष्य अनुभवे जा रहे हैं। धर्म कर्मको स्वीकार नहीं करना, आस्तिकोंकी निन्दा, मद्य मांस आदिका सेवन आदि दोष जिन मनुष्योंमें हैं, वे जातियां स्वयं अपनेको म्लेन्छरूपते सम्वेदन कर रही हैं। तथा उन आर्थ मनुष्य और म्लेन्छ मनुष्योंके अन्यभिचारी कार्यों का विशेषतया निश्चय हो जानेसे आर्यम्बेच्छ्रच्यवस्या किसी ढंगसे अनुमान द्वारा मी जानी जा सकती है । यों आगमप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण या अनुमान प्रमाणसे जगत्में आर्य. म्लेच्छन्यवस्था नियत हो रही बात कर ली जाती है। जब कि आश्रफल, चावल, गेंहू, घोडा, बैल, कबूतर, आदिकी निकृष्ट और प्रकृष्ट जातियोंका परिचय हो रहा है तो विशेषज्ञों करके आर्थ, म्हेच्छ न्यवस्थाका निर्णय भी सुलभ है । यदि दूर देशके मनुष्य या मायाचारी मनुष्यके आर्यत्व अथवा म्हेन्छत्वका किसी व्यक्तिको निर्णय नहीं होय तो यह उस व्यक्तिकी प्रश्नाका दोष है। आर्यत्व. म्डेप्स्ट्रत्व, परिणतिओंमें कोई ब्रुटि नहीं है। अनुभवगम्य या प्रत्यक्षज्ञानीगम्य अनेक सूक्ष्म विषयोंमें अल्प्सों को असाम या श्रान्ति है। जाती है।

न संप्रदायाच्यवच्छेदोऽसिद्धस्तद्विदां नास्तिकसंप्रदायाच्यवच्छेदवत् , नाप्यप्रमाणं स्नि-श्वितासंभवद्वापकत्वात्तद्वत् । ततः संतानेनार्यम्छेच्छव्यवस्थितिस्तद्विद्धिनिश्चेतव्या । नास्तिक-संतानव्यवस्थितिवत् । सर्वः सर्वदार्थत्वम्छेच्छत्वश्च्यो मनुष्यसंतान इत्यत्रापि संप्रदायाव्यव-च्छेद् एव नास्तिकानां शरणं प्रत्यक्षानुमानस्य च तत्राव्यापारात् । यथा चाहं नास्तिकस्तथा सर्वे पूर्वकालवर्तिनो नास्तिका जात्यादिव्यवस्थानिराकरणपरा इत्यपि संप्रदायादेवाविच्छिका-दवगंतव्यं नान्यथा । अयमेव संप्रदायः प्रमाणं न पुनरार्यम्छेच्छव्यवस्थितिपतिपादक इति मनोरथमात्रं प्रतीत्यभावात् ।

आम्नायका ज्ञान रखनेवाळे पुरुषों के यहां धाराप्रवाह रूपने चळी आ रही सम्प्रदायका नहीं टटना असिद्ध नहीं है, जैसे कि नास्तिकपनेकी सम्प्रदायका व्यवच्छेद नहीं होना असिद्ध नहीं है। अर्थात् — जो नास्ति राजन सभी मनुष्योंमें आर्थन और म्छेन्छन्यको स्वीकार नहीं कर रहे, यों बखा-नते हैं कि हम सम्पूर्ण मनुष्योंको एक्सा मानते हैं, जाति, वर्ण, कुळोनता, कोई वस्त नहीं है। पुरु अपंक्तिते हमारे यहा ऐना ही नाधिकपने हा प्रवाद चला आ रहा है। उन नाधित होके यहां भी अपनी इष्ट सम्प्रदायका नहीं ट्रटना अभिप्रेत किया गया है। उसीको दशन्त बनाकर श्री विद्यानन्द भानार्धने सम्प्रदाय अनुसार आर्थन और म्हेन्डपन भी व्यवस्था भी साथ दिया है। तथा वह आर्थपन और म्रुक्त निर्धा सम्प्रदायका अध्याक्छेर (पाउ) अपमाग नी नदी है (ताध्य), बाधकोंके अत-म्भव होनेका अन्छ। निवय हो चुकनेते (हेंछ) जैसे कि नारितकोंन अपने नातिकपनके सम्प्रदा-यकी अट्टटको अप्रमाण नहीं माना है (अन्त्रयदृशन्त)। अथवा वास्तविक रूपसे विचार करनेपर नास्ति तपनके सम्प्रदायका नहीं टूटनां अप्रमाण भी है और उसके वायकप्रमाणीका सद्धार भी निर्णात हो रहा है। ऐसी दशामे नास्तिक सम्प्रदायका अञ्चलक्छेर व्यतिरेक्द्रधान्त माना जा सकता है। सम्प्रदायान्यवच्छेदरूप तिस निर्दोष हेतुसे मातापिताओं भी सन्तान द्वारा आर्थग्छेच्छन्यवस्थाका उस उस सम्प्रदायके जाननेवाळे पुरुखाओं करके निर्णय कर छेना चाहिये, जैसे कि नास्तिकपिता. पितामह, प्रपितामह, आदि भी सन्तान द्वारा नास्ति भपनकी व्यवस्था उन में यहां निर्णीत हो रही है। जो कोई नास्तिक यों कह रहे है कि मनुष्योंकी आगे पीछ यहां वहांकी सम्पूर्ण सन्तानें सदासे ही आर्यपन म्लेच्छपनसे शून्य है, प्रन्थकार कहते हैं कि यो इस सिद्धान्तके करनेमें भी तो नास्तिकोंको सम्प्रदाय है अन्यवन्छेरका ही शरण लेना पडेगा। तभी पुरुखाओंसे बली आ रही किम्बदन्ती अनुसार बे सम्पूर्ण मनुष्योंमें आर्यम्लेच्छरितपनेका ज्ञान कर सकेंगे । क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमानप्रमाणका उस आर्थपन या भ्लेच्छपनकी शून्यताको जाननमें न्यापार नहीं है । यह नास्तिक यदि अनुमान भी बनायमा तो सम्प्रदायकी सामर्थ्यके भरोक्षेपर है। यो वन सकता है कि जिस प्रकार कि में नास्तिक हूं उसी प्रकार पूर्वकालोंमें वर्तनेवाले सम्पूर्ण मनुष्य भी जाति, क्षेत्र, उल, आदिकी व्ययस्थाके निराकरणमे तत्पर हो रहे

नास्तिक ही थे। प्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो अविच्छित्र हो रही सम्प्रदायसे ही नास्ति को वमझना पड़ेगा, अन्य प्रकारोंसे वह पूर्वकाळवर्ती या क्षेत्रान्तरवर्ती अथवा चाहे किसी भी कर्ममें छग रहे मनुष्योंके नास्तिक पनका निर्णय कथमिप नहीं कर सकता है। नास्तिक वादी यदि ढिंढोरा पीट कर यों ही आप्रह करता फिरे कि यह मेरा सम्प्रदाय ही प्रमाण है, किन्तु फिर सनातन या स्याद्वादियोंका आर्यम्छेच्छ व्यवस्थाको प्रतिपादन कर रहा सम्प्रदाय तो प्रमाण नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह नास्तिकका केवल मनोरथ ही है। इसमें यथार्थता अणुमात्र भी नहीं है। क्योंकि नास्तिक सम्प्रदाय में प्रमाणपन और आर्यम्छेच्छप्रतिपादक आम्नायमें अप्रमाणपनकी व्यवस्थाको करानेवाली प्रतीति-योंका अभाव है।

जातमात्रस्य जंतोरार्येतरभावशून्यस्य प्रतितिः प्रमाणं तद्भावाभावविषयः संप्रदाय इति चेन्न, तस्याप्यार्येतरभावप्रसिद्धरन्यथा व्यवहारिवरोधात् । कल्यनारोपितस्त अवहार इति चेत्, तिन्विर्वाजायाः कल्यनाया एवासंभवात् कचित्कस्य वित्तस्वतः प्रसिद्धस्याऽन्यत्रारोगे हि कल्यना हष्टा विकल्पमात्रम्या गत्यंतराभावात् उभयथा चार्येतरभावकल्पनायां वास्तवी तद्भावसिद्धिः ।

नास्तिक पण्डित ५ इ. रहा है कि वृद्धिमान था बृद्ध पुरुपोंकी तो बात ही क्या है, केवड थोडे दिनोके उत्पन्न हुये मनुष्य या पशुपक्षियों तकको आर्थपन और उससे स्थारे म्हेप्रुपनक रहितपनकी अपनेमें और अन्य प्राणि ोंमें प्रतीनि हो रही है। इस कारण उस आर्यपन महे छपन परिणतिके अभावको विषय कर रहा हम वास्तिकोंका सम्प्रदाय ता प्रमाण है। तम आत्तिकोंका सम्प्रदाय प्रमाण नहीं है। अर्थात्—अन्यश्रद्धावाले अतिवृद्धपुरुष भले ही आर्पएन म्लेन्छपनकी कहें जावें, किन्तु यावतु प्राणियोमें आर्थप ।, म्लेच्छपन, म्वजाति, कुळीनता, उच्चर्यपना, नीच वर्णपना आदिकी प्रतीति नहीं हा रही है। आर्थों है शरीरमें कोई दूच नहीं भरा है और म्लेच्छ या चाण्डालोंकी देहमें कीच नहीं भर गई है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस उत्पन्न हुये प्राणिमात्रको भी आर्थपन और उससे न्यारे म्लेच्छपन की प्रसिद्धि हो रही है। अन्यथा आर्यव्यवहार या म्लेच्छव्यवहारका विरोध हो जायगा । देखो, चमार, कोरियो ने छो तरा भी अपनेमें नीचगोत्रका अनुभव कर रहा है, जब कि उच्च आचरणवाले बैबर्णिक पुरुष अपनेमें संतान क्रमसे चली आ रही उच्चगोत्र व्यवस्थाका सम्बेदन किये जा रहे हैं। कुलीनताका प्रभाव आता है, पर आता है। यदि नास्तिकवादी यों कहे कि वह आर्यपन म्लेन्छपनका व्यवार तो झंठी कल्पनाओंसे आरोपा गया है। वास्तविक परिणामोंकी भित्तिपर अवलिवत नहीं है, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उस व्यवहारकी बीजरहित कल्पनाका ही अनुम्भव है। उत्पादक वस्तुभूत बीजका सहारा पक्रडकर ही कल्पना की जा सकती है। कल्पनाका उक्षण यह है कि कई। न कहीं स्थउपर बास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे किसी न किसी पदार्थका अन्य पदार्थमें आरोप कर छेना ही कल्पना करना देखा गया है.

जैसे कि सत्य होरहे सिंहपशुकी मिद्दीके खिळीनेमें या श्रूप्वीर पुरुषमें कल्पना कर छी जाती है । अथवा विकल्पनान करनेको भी कल्पना कह सकते हैं जैसे कि जहां जहां धूम होता है, वहां अप्रि होनी चाहिये, दिनमें नहीं खाते जो मोटे शरीरवाछे होंगे वे जीव रातको अवस्य खाते होंगे, यह चंचल बालक अप्रि है, बोझ ढोनेवाला मनुष्य बैल है, सिद्ध परमात्मा शरीररिहत होगे, प्रत्येक उद्योगी मनुष्यको कुछ न कुछ धुन चढी रहती है, इत्यादि विकल्पोंका उठाना भी कल्पना है। उक्त दो लक्षणोंके अतिरिक्त तीसरा कोई उपाय कल्पनाका नहीं है। अतः दोनों प्रकारसे आर्यपन और म्लेच्छपनकी कल्पना करनेमें नास्तिकके यहां वास्तविक उस आर्यपन या ग्लेच्छपनकी क्षिद्ध होजाती है। कोई खटका नहीं रहा।

मधानाद्दैतादिकस्पनानामपि हि निर्वीजानामनुपपित्तरेव सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्यस्य मधानत्वेन नराधिपादौ मिसद्देनाध्यारोपस्य मधानकस्पनात्वात् । कविश्वेकत्वस्याद्दैतस्य ममाणतः सिद्धस्य सर्ववस्तुष्वध्यारोपणस्याद्दैतकस्पनात्वादन्यथा तदसंभवात् ।

नास्तिक यदि यों आक्षेप करें कि जब सभी कल्पनायें वस्तभत परिणतियों के अनुसार वास्त-विक सिद्ध होजायंगी तब तो सांस्थमतियोंके यहां निर्गीत किये गये प्रधानकी कल्पना भी यथार्थ बन **बैटेगी । बेटांतियोंने महादितको स्वीकार किया है । जैनोंने उसको ब्रह्मादितकी कल्पना करना ठहराया** है । ऐसी दशामें वह ब्रह्माद्वेत भी वस्तुभूत बन बैठेगा । इसी प्रकार ईश्वर, अल्लाह, ईसा या नरसिंह, गजानन, बुद्ध, आकारापुण्प आदि की कल्पनायें भी परमार्थ बन जायेंगी । सत्य झंठका विवेक उठ जायगा । कोई भी मतान्यायी अन्य मताबलम्बीका खंडन नदीं कर सकेगा, ऐसा आक्षेप उत्पन्न होय, इसके प्रथम ही प्रथकार बहुत अच्छा सिद्धांतसमाचान करे देते हैं कि प्रकृति, ब्रह्मादैत, ज्ञानादैत, **ईश्वरकर्तृत्व. आदिक कल्पनाओं**की भी विना बीजके सिद्धि नहीं हो पाती है । कारण कि सांख्योंने '' सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः '' सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इन ही समानताको छिये हुये जो अवस्था है उसनो प्रकृति माना है। प्रकृति कही चाहे प्रवान कही एक ही अर्थ है। वह प्रवानपना राजा, सभापति, जज आदिमें वास्तानिक प्रसिद्ध होरहा है। सांख्योंने सत्त्रगुण, रजोगुण, तमोगुणकी साम्य अवस्थामें उसका अध्यारोप कर प्रधानकी कल्पना कर छी है। इसी प्रकार किसी एक आकाश या सदर्शन मेरु अथवा अन्य किसी अक्रेडे अनुपम पदार्थमें अद्वैतस्वरूप एकत्व की प्रमाणोंसे सिद्धि की जाचुकी है। ब्रह्माहैतवादियोंने उस प्रमाणसिद्ध एकत्वका संरूर्ण वस्तुओंमें अध्यारीप कर अहैत की कल्पना उठाळी है। क्योंकि अन्य प्रकारोंसे उस कल्पनाका असंभव है। मावार्थ-कतिपय पदार्थोंका कत्तीपन मनुष्य या पशुओं में देखा जाता है। नैयायिकोंने शुद्ध आत्मामें यात्रत् कार्यो का कर्तापन झूंडमूठ गढिलेया है। अलाह या ईसा भी कोई विशेष पुरुष हुये हैं, उन के भक्तोंने उनमें मोक्षदायकत्व, यापकत्व, जगत्कर्तत्व आदिक धर्म मनमाने गड छिये हैं। मनुष्यके घड और हायीके शिरका योग हो कर एक जीवका अनेक दिनों तक जीवित रहना असम्भव है। फिर भी प्राकृत सिद्धान्तों का नहीं विचार करनेवाले गणेशभक्तोंने वास्तविक

मनुष्यका धड और दूसरे वास्तविक गजमस्तककी भित्तिपर एक गजाननकी कल्पना कर छी है। इसी प्रकार मनुष्य और सिंहका योग बनाकर नरसिंह अवतार कल्पित किया गया है। इक्षपर आकाशमें छटक रहा या आकाशमें उछछ रहा आकाशका इछ कल्पित हो जाता है। घी का बड़ा रुपयोंका वक्ष, ये सब कल्पनायें वास्तविक परिणतियोंके अनुसार कहींसे कहीं आरोप दी गयीं हैं। मण्डूकशिखा, कच्छपरोम, आदिक सर्वथा असम्भव माने जा रहे पदार्थोंकी कल्पनायें भी जब वस्तु भित्तिपर उठी हुयीं साथ दी गयीं हैं तो प्रधान, ब्रह्मादेत, सानिकर्षप्रमाणता, निर्गुणमोक्ष, क्षाणिकवाद, कूटस्थता आदिक कुछ सम्भव और कुछ असम्भव हो रहे पदार्थोंकी कल्पना तो सुछमतया बीजभितिसिहत साथी जा सकती है तथा परिपूर्ण रूपसे वस्तुभूत परिणतिओं अनुसार सम्भव रही आर्यत्व, म्लेच्छत्व, उच्चगोत्रता, नीचगोत्रता आदिकी कल्पना तो अतीव सुछमतासे समझायीं जा सकतीं है। मनुष्यपन, पशुपन, या सदाचार, असदाचार, अथवा अपराध, अनपराधका विवेक रखनेवालोंके सम्मुख आर्यपन म्लेच्छपनका निर्णय सुकर है।

कथं वा कवित्संपदायात् पारमार्थिकीं व्यवस्थामानक्षाणी मनुष्येष्वेवार्येतरभावव्यवस्थां काल्पनिकीमानक्षात १ प्रमाणांतराविषयत्वादिति चेत् न, अत्येम्छेच्छव्यवस्थाया गुणदोष-निवंधनायाः प्रत्यक्षानुनानाभ्यामिति प्रसिद्धेरतः । तथाहि—स्वसंतानवर्तिनी हि मनुष्याणां आर्यत्वव्यवस्थितिः सम्यग्दर्शनादिगुणनिवंधना म्छेच्छव्यवस्थितिः मिण्यात्वादिदोषनिवंधना स्वसंवेदनिसद्धा स्वरूपवत् । संतानांतरवर्तिनी तु सा व्यापारव्यवद्दाराकारिवशेषस्य कार्यस्य विनिश्चयादनुभेया चेति न प्रमाणांतरागोचरा प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रसिद्धायां च गुणनिवंधना-यामार्यत्वव्यवस्थायां कात्वचित् मनुष्यव्यक्तिषु युगादावव्यवछित्रसंतानास्तथाभूतगुणैरर्यमाणा जात्यायीः प्रसिद्धा भवंति क्षेत्राद्यार्यवत् तथा म्छेच्छाः ।

एक बात यह भी है कि नास्तिकपन, मनुष्यपन, पशुपन, आदिमें कहीं न कहीं सम्प्रदायसे वास्तविक व्यवस्थाको वखान रहा यह नास्तिक मछा मनुष्योंमें ही आर्यपन म्छेच्छपनकी व्यवस्थाको क्यों कल्पनानिर्मित कहेगा ! बताओ । सम्प्रदाय अनुसार मानी गयी। व्यवस्थाको या तो सर्वत्र कल्पित कहें अथवा कहीं भी कल्पित नहीं कहे । कहीं कुछ और कहीं कुछ, यों " अर्थ नरतीय " न्यायका अनुसरण उचित नहीं है । यदि नास्तिक यों कहे कि आर्थ, म्छेच्छन्यवस्था तो किन्हीं अन्य प्रमाणोंका विषय नहीं है, इस कारण काल्पित है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि गुणोंको कारण मानकर हुयी आर्थन्यवस्थाकी और दोषोंके निमित्त कारणपनसे हुई म्छेच्छन्यवस्थाकी इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे यें। वक्ष्यमाण प्रकार अनुसार प्रतिद्धि हो रही है । उसीको प्रन्थकार स्पष्ट कर दिख्छाते हैं कि अपने निज आत्माकी उप्वीतानान्य हारा पूर्वकालेसे चछी आ रही संतानमें वर्त रही मनुष्योंकी आर्य-

पनेकी व्यवस्था तो सम्यग्दर्शन, क्षमा, ब्रह्मचर्य, आदि गुणोंको काग्ण मानकर हुई स्वकीय सम्वेदनसे प्रतात हो रही है और म्लेन्छमनुष्येंके अपनी अपनी संतानमें वर्त रही म्लेन्छपनकी **च्यवस्थिति इन मि**ध्यात्व. हिंसा. निर्लं जता. आदि दोषों के निर्मित्तसे हो रही अपने स्वसम्बेदन प्रत्यक्षों द्वारा प्रसिद्ध हो रही है, जैसे कि अपने अपने आत्मसद्भावका सम्पूर्ण मनुष्योंको स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां. स्वकीय आत्मासे न्यारे अन्य आत्मा रूप संतानोंमें वर्त रही वह आर्थपन या म्लेच्छपनको व्यवस्था तो आर्यपन, म्लेच्छपनके कार्य हो रहे विशेष व्यापार, विशेषवचन प्रवृत्तियां, या निशेषआकारोंका निशेषतया निश्चय हो जानेसे अनुमान करने योग्य है । इस कारण वह आर्य. म्छेष्छपनकी व्यवस्था अन्य प्रमाणोंका अविषय नहीं है, जैसा कि तुमने पहिछे आक्षेप किया था। किन्तु अपनी अपनी आत्मायें स्त्रसम्बेदन प्रत्यक्ष द्वारा और परकीय आत्माओं में अनुमान द्वारा आर्थ, म्लेन्ल, व्यवस्थाको इमने साध दिया है। जब कि किन्हीं किन्हीं सज्जन मदाचारी ब्रती मनुष्य व्यक्तियोंमें गुणोंको कारण मानकर आर्यपन व्यवस्थाकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों करके प्रसिद्धि हो चुकी है, ऐसा हो जानेपर कर्मभूमिकी आदिमें नहीं ट्रटी हुयी संतानवाले मनुष्य निम प्रकारके वस्तुभूत गुर्णों करके सेवित किये जा रहे जात्यार्थ प्रसिद्ध हो जाते हैं, जैसे कि क्षेत्र या वर्ष आदिकी अपेक्षा आर्य मनुष्य प्रसिद्ध हो रहे हैं । अर्थात-भोग मुनिबों के मनुष्य आर्य हैं, उन्हीं की संतान, प्रतिकृतान नहीं इंटती हुई कर्मभूमि कालमें भी चकी आ रही है। जानि या कुलों के नाम भले हा परिवर्तित हो जांय, इक्ष्माक्रवंश, सोमवंश, नाथवंश ये संज्ञाये इस युगकी अपेक्षासे हैं, तो भी इनकी संतानधारा अट्ट है। अतः तिस प्रकार सम्यादर्शन आदि गुणोकरके जुछ हो रहे मनुष्य आर्य है। क्षेत्र आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य, इनके समान ही कुलपरम्पराते चले आ रहे जात्यार्योक्ती भी सिद्धि कर हेनी चाहिये । तिस ही प्रकार कुछपरम्परा अनुसार अविनिक्रन मंतानवाहे मनध्य मिध्याल, हिंसा, आदि दोषों करके सेवित हो रहे म्लेन्छ प्रसिद्ध हो रहे हैं, म्लेन्छोको स्वयं अपनी आत्मामें म्लेन्छपन का स्वसम्मेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, उनके पुत्र, मित्र, या देशान्तरीय अन्य म्लेष्कोंके म्लेष्कपन का शरीर न्यापार, वचनप्रवृत्तियां आदि करके अनुमान कर लिया जाता है। आर्योंको दूसरेक म्लेच्छ पनका या म्छेच्छमनुष्योंको दूसराँकी आर्यपनका भी अनुमान हो जाता है। भर्छे ही कोई ऐंद या अभिमानी पुरुष अपनेको बडा मानता रहे, किन्तु समय समयपर गुण और दोपोंका ठीक ठीक विवेक तो बालक, बालिकाओं, तक को हो जाता है। पण्डितपन या मूर्खपन, नारागता, सरोगता, वलवत्ता, निर्वेद्यता, सदाचार कदाचारके समान आर्यपन म्हेच्छपनका भी संबी जीवोंको परिज्ञान हो सकता है कोई कठीन समस्या पाले नहीं पड गयी है।

> नित्यसर्वगतामूर्तस्वभावा सर्वथा तु या। जातिर्बोद्यण्यचांडाल्यप्रभृतिः कैश्चिदीर्यते ॥ ११॥

सान सिद्धा प्रमाणेन बाध्यमाना कदाचन ।

बात यह है कि क्षेत्र आर्य या कर्म आर्य अथवा चारित्र आर्य मनुष्योंकी सिद्धि करना सरल है । हां, जात्यार्यीकी इस युक्तिप्रधान जगत्में सिद्धि करा देना श्रमसाध्य है । कारण कि प्रायः संपूर्ण मनुष्य जन्मपरम्पराको तो स्वीकार कर छेते हैं । विष्यु या ब्रह्माके द्वारा हुई आदि सृष्टिको माननेवाछ अथवा चाहे जितनी आत्माओंकी लिष्ट या प्रलयको कर देने वाले अलाहके अनुयायी मोहमदियोंकी संपूर्ण युक्तियां निर्वेठ (पोच) पड गयी है । परिशेषमें चार्याक, साइन्सवेत्ता, यवन, पौराणिक बौद्ध इन सबको गर्भज मनष्य, पञ्च, पक्षियोंकी सृष्टि मैतानरूपसे अनादिकालीन माननी पडेगी। हां. कतिपय आधुनिक पंडित संतानक्रमेस चले आरहे जीवाचरणका आत्माओंमें संस्कार पड जाना नहीं स्वीकार करते हैं। कोई कोई तो तत्कालीन सदाचार, असदाचारसे झटिति आर्यसे म्लेच्छ और म्लेच्छसे आर्य होजाना अंगीकृत कर लेते है। कोई तो जाति, कुल, व्यवस्थाको स्वीकार ही नहीं करते हैं। किन्तु यह बात जगत प्रसिद्ध है कि विशेष जातिक आमसे मिन प्रकारका आम्रफल उपजता है। सांकर्य (कलम लगा देनेसे) हो जानेसे अन्तर पड जाता है। बढिया घोडेमें भी पितृगंश, मातृवंशका छत्य रखा जाता है। कपायों या क्षमाकी वासनायें बहुत दिनोंतक बस जाती हैं। इसी प्रकार इक्ष्माक वंश, प्रमावतीपुरव छ, अप्रवाछ, खण्डे ज्वाल आदि जातियों भी अपेक्षा संतानतक्रमने चले आ रहे आर्थ पनका नियामक हेत् जन्मक्रम और कर्मक्रम दोनों ही मानने चाहिये। श्री विद्यानन्द आचार्य वैशेषि-कों भी मानी हुई जातिका प्रसाद्यान करते हैं कि किन्हीं वैशेषिक या नैयायि मोंकरके सर्वथा नित्य. सर्वन्यापक, अमूर्तस्वभावत्राली जो ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व, बैश्यत्व आदि जातियां कही जा रही है. वं तो कदाचित् भी सिद्ध नहीं हो सकती हैं ! वयों कि प्रमाणों से वे बाधाको प्राप्त हो रही हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, कोई भी प्रमाण उन जातियोंको विषय नहीं करता है, जिनका कि स्वरूप वैशेषिकोंने नित्यपन, व्यापकत्व, और अमूर्तत्व मान रक्खा है।

ब्राह्मणत्वादिजातिः सर्वगता सर्वत्र स्वपत्ययहेतुत्वादाकाशवत् सत्तावद्वा, तथा नित्या सर्वदोत्पादकविनाशककारणरहितत्वात् तद्देव इत्येके। तेत्र प्रष्ट्रच्याः,सा सर्वगता सती च्यक्त्यं-तराले कस्मात्स्वप्रत्ययं नोत्पादयतीति १ स्वच्यंजकविश्वेषाभाषादनभिच्यक्तत्वादिति चेन्न, तद्भिच्यक्तेः साकल्येन करणे कविद्युपलंभे सर्वत्रोपलंभपसंगात्, देशतः करणे सावय-वत्यमसक्तेः।

वैशेषिकका मन्तन्य है कि ब्राह्मणत्व, वैश्यत्व, चाण्डाळत्व, आदिक जातियां (पक्ष) सर्वत्र न्यापक है (साध्य), क्योंकि सभी न्यक्तिस्थळोंपर अपने अपने ज्ञानके उत्पादका हेतुपना उन जाति-योंमें वर्त रहा है (हेतु) आकाशके समान, अथत्रा सत्ताजातिके समान (अन्वयदृष्टांत)। तथा ब्राह्मणत्व आदि जातियां (पक्ष) नित्य हैं (साध्य) उत्पत्ति करानेवाले और जातियोंका विनाश

करनेबाके कारणों का सदा रहितपना होनेसे (हेत्) उन ही आकाश या सत्ताके समान (अन्त्रय दृष्टान्त) । तीसरा अनुमान जातिके अमूर्तपन स्वभावको साधनेके छिये यों बना सकते हैं कि जाति अमूर्त है (प्रतिक्का) परिमाण गुणका अभाव होनेसे (हेतु) कियाके समान (अन्वयद्दष्टान्त), आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई एक पण्डित कह रहे हैं। वे पण्डित यहां यों पूछने योग्य हैं कि सर्वन्यापक हो रही संती वह जाति भन्ना व्यक्तियोंके अन्तरान्नमे किस कारणसे स्वकीय ज्ञानकी नहीं उपना पाती है ? बताओ। यदि वैशेषिक यों कहे कि अन्तरालमें अपने प्रकट करनेवाले आश्रय हो रहे व्यक्तिविशेषोंका अभाव हो जानेसे वह जाति वढां अभिन्यक्त नहीं है, तिस कारण मध्यवर्ची अन्तरालमें विद्यमान हो रही भी जाति स्वकीयज्ञानकी उत्पादक (उत्पादिका) नहीं है। अर्थात् — एक बाह्मण मनुष्य व्याकरण पढ रहा है। दूसरा ब्राह्मण व्यक्ति एक कोश दूरपर भोजन कर रहा है। उन दोनों व्यक्तियोंमें ब्राह्मणत जाति है और मध्यदेशवर्ती अन्तरालमें भी वह व्यापक ब्राह्मणत्व-जाति तिष्ठ रही है। परन्त अप्रकट होनेसे ब्राह्म गपन की इति नहीं करा पानी है। किन्त जहां ब्राह्मण पुरुष व्यक्तियां विद्यमान हैं. वहां प्रकट हो रही ब्राह्मणत्व जाति स्वज्ञानको करा देती है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि सकलक्ष्यमे उस जातिकी व्यक्तिविशेषों हारा अभिव्यक्तिके कर देनेपर यदि कहीं एक स्थलपर जातिका उपलम्भ होगा तो सम्प्रण रूपसे प्रकट हो जुकी जातिके सर्वत्र (अन्तरालमें) भी उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा । यदि व्यंजक कारणों द्वारा एक एक देशसे जातिकी अभिन्यक्ति करना अभीष्ट किया जायगा तब तो जातिको अवयव सहितपनेका प्रसंग आता है। जातिके अनेक अवयव होनेपर ही तो कहीं प्रकटता अन्यत्र कहीं अप्रकटता सम्भव सकेगी। अन्यथा नहीं। किन्तु जातिको नित्य, निरययव, व्यापक, अखण्ड, अमूर्त, माननेवाले वैशेषिक पण्डित जातिका सावयवपना तो अभीष्ट नहीं करेंगे। उनको अपसिद्धान्त दोष लग जानेका भय बना हुआ है।

नतु च कात्स्न्येंनाभिन्यक्ताविष जातेर्न सर्वजोपछंभः सामग्रयभावात्, स्वन्यितदेश एव हि तदुपछंभसामग्री मतीता इन्द्रियमनआकाशादिवत् न च न्यक्त्यंतराछे सास्तीति केचित् । तद्प्यसंगतं, घटादेरेवं सर्वगतत्वमसक्तः । श्रव्यं हि वक्तुं घटादीनां सर्वगतत्विषि न सर्वजो-पछंभः सामग्र्यभावात् कपाछादिदेश एव हि तदुपछंभसामग्री न च सा सर्वजास्तोति कपाछादेरप्यवयिनः सर्वगतत्वेषि न सर्वजोपछंभः स्वावयवोपछंभसामग्र्यभावादित्येवमनंतशः परमाण्नामनवयित्वादसर्वगतत्वे सर्वजोपछंभाभावात्पर्यनुयोगनिवृत्तिरिति । यदि पुनर्घटादेः सर्वगतत्वकरुपनाया पत्यक्षविरोधः मित्नियतसंस्थानस्य मत्यक्षत्वात् अनुमानविरोधश्च । न सर्वगतो घटादिः सावधवत्वात् मृतिमत्वात् परमाणुवत् इत्यनुमानादसर्वगतत्वसिद्धिति मतं, तदा जात्विसर्वगतत्वकरुपनायापपि स एव पत्यक्षादिविरोधः सादद्यक्षक्षणाया एव जातेरसर्वः

गतायाः प्रतिनियतच्यक्तिगतायाः प्रत्यक्षत्वात् । तथा न जातिः सर्वगता प्रतिनियतच्यक्तिः परिणामत्वाद्विशेषविद्वत्यनुमान।ज्जातेरसर्वगतत्वसिद्धेः । क्रुतः पुनः साद्यस्यस्थभणं सामान्यं सिद्धमिति चेत् ।

यहां वैशेषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जातिकी पूर्णसूपसे अभिन्यक्ति होनेपर भी उस जातिका सर्वत्र उपलम्भ नहीं होसकता है। क्योंकि अंतराल देशोंमें उपलम्भकी साम-प्रीका अभाव है। उन जातियोंको उपलम्भकी सामग्री अपने अपने आधार होरहे व्यक्तिस्वरूप देश है। प्रतीत होरहे हैं । जैसे कि बहिरंग इन्त्रियां या अंतरंग इन्द्रिय मन अथवा आकारा आदिक उपक्रंभ सामग्री हैं। किन्तु व्यक्तियों के अंतरालमें वह व्यक्तियां स्वरूप सामग्री नहीं है। इस कारण अंतरालमें जातिका प्रत्यक्ष नहीं होपाता है। इस प्रकार भोई वैशेषिक कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं उनका वह कहना भी संगतिशून्य है। क्योंकि इस प्रकार तो घट, पट, आदिके भी सर्वगतपनेका प्रसंग अज्ञा-बेगा। इम बहुत अच्छे ढंगसें यों कह सकते हैं कि घट, पुस्तक आदिकोंका सर्वगतपना होते हुये भी सर्वत्र उपलंभ यों नहीं होपाता है कि वहां उपलंभ होने की सामग्री नहीं है। कपाल, तंत, पत्र आदि देश ही उन घट, पट, पुस्तक आदिकोंने. उपलंभ होजानेकी सामग्री हैं। किन्तु वह सामग्री तो सर्वत्र नहीं है। जिस प्रकार कपाल आत्मक अवयवींसे बने हुये अवयवी चटका व्यापकपना आपादित कर दिया गया है, इस ही प्रकार फपालिकास्वरूप अवयवें ने बनाये गये कपालरूपी अवयवी या तंत्र संबंधी अवयवोंसे बने छंबे तेतु आदि अवयवियोंके स्वर्गत होते हुये भी उनका सर्वत्र उपखंग नहीं होता है। क्योंकि अपने अपने अन्यवस्वरूप उपलम्भ सामग्रीका वहां वहां अभाव हो रहा है। इस प्रकार और भी उत्तर उत्तर अवयवोंके व्यापकत्वकी आपत्ति दी जा सकती है। हां. पंचाणक. चत-एएक. इयएक. इयएक. अवयवियाँके ज्यापकत्वका आपादन करते हुये अन्तर्ने जाकर अनन्ती? अनन्ती, परमाण श्रोंको निरवयव होनेसे असर्वगतपना माननेपर उन परमाण श्रोंका सर्वत्र उपक्रम नहीं होनेसे पर्यन्योगकी निवृत्ति हो सकेगी । इयग्रकतक तो सर्वगतपने या सर्वत्र उपलम्म होनेका आधा-दन अवस्य कर दिया जायगा, जो कि वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है। यदि फिर वैशेषिक यों कहे कि घट, बस्र, आदिके सर्वत्र व्याप अपनकी कल्पना करनेका प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही विरोध ठन जाता है। क्योंकि प्रतिनियत हो रहे अल्पदेशवृत्तिपनेकी रचना या आकृतिको धारनेवाले घट आदिका बास. इद. कीट, प्रतेगों, तकको प्रत्यक्ष हो रहा है। तथा घट, आदि पदार्थोंके न्यापकपनको साधनेमें अनुसान प्रमाणसे भी विरोध आता है। देखिये, घट, आदिक (पक्ष) सर्वत्र वर्त रहे होंय ऐसे व्यापक नहीं 🕯 (साध्य), क्योंकि वे अल्प परिमाणवाले स्वनिर्मापक अवयवोंसे सहित हैं (पहिला हेत्)। अपकृष्ट परिमाणस्त्ररूप भूतिको आश्रय हैं (दूसरा हेतु) । परमाणुको समान (अन्त्रयद्धान्त) । इस अनुमानसे घट आदिकके अन्यापकपन की सिद्धि हो रही है। यों वैशेषिकोंका मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो जातिके सर्वगतपनकी कल्पना करनेमें भी वैशेषिकों को वही प्रत्यक्ष अस्ति प्रमाणींसे

विरोध अविगा'। हां '' सदशपरिणामस्तिर्थक खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् '' जातिके इसं सिद्धतिस्थाण अनुसार प्रतिनियत व्यक्तियोंने प्राप्त होरही असर्वगत और सादशस्वरूप ही जातिका प्रत्यक्ष होरहां है। अनेक मनुष्योंमें चाहे वे चांडाल या म्लेच्छ ही क्यों न होय. ब्राह्मण, क्षत्रिय, मनुष्योंका साहस्य वरी रहा हैं। संपूर्ण घोडे समान हैं, चाहे पांच रुपये हा टट्आ हो अथवा भठे ही पांच हजार रुपयों का बढिया घोडा होय. सबमें अश्यत्वरूप करके सादश्य वर्त रहा है। मुखमें चंद्रकी सदशता या गवय (रोध) में गायकी सहराता दूसरी वस्तु है। जाति वरूप साहत्य तो एक ही जातिकी अनेक व्यक्ति-योंसे अभिन्न होरहा है। यद्यपि गत्रय निरूपित गोनिष्ठ साइत्य भी गोसे अभिन्न है और गोनिरू-पित गवंयनिष्ठ सादस्य गवयसे अभिन्न है । सदश वस्तओंसे निराठी कोई तीसरी जातिका सादस्य वहां दीखतां नहीं है । तथापि आरोपित सादर उसे जातिस्वरूप सादर्य निराला ही है, जो कि समान जाति बाळी व्यक्तियोंमें ही ठहरेगा। जब कि अञ्चापक होरही घट, पुस्तक, गी, आदि व्यक्तियोंका आबाज, गोपालतंकको प्रत्यक्ष होरहा है, ऐसी दशामें व्यक्तियोंसे अभिन होरही जातिको अध्यापक मानना ही। युक्तिपूर्ण है। तैसा होनेपर जाति (पक्ष) सभगत नहीं है (साध्य) प्रत्येक नियत होरहीं व्यक्तियोंका परिणाम होनेसे (हेतु) विशेष पदार्थके समान (अन्त्रयहशन्त) इस अनुमानसे जातिके अन्यापक-पनकी सिद्धि होजाती है। यदि यहां कोई वैशेषिक यों प्रश्न करे कि फिर वह साइश्यस्वरूप सामान्य भला किस प्रमाणसे सिद्ध कर दिया गया है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिसमार्श्तिको कहते हैं।

सिद्धं साद्दश्यसामान्यसमाना इति तद्द्रग्रहात् । • कुतिश्चित्सदशेष्वेव मनुष्येषु गवादिवत् ॥ १२ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शृद्ध, ब्रास्य, पतित, म्लेच्छ, भोगभूमियां, कुभोगभूमियां, ल्व्च्यपर्यातक, इन संपूर्ण मनुष्योंमें सरशपरिणाम स्वरूप सादश्य माना जा रहा सामान्य प्रसिद्ध है (प्रतिज्ञा) किसी न किसी अंतरंग परिणितिस्कूप कारण से "सरशोंमें ही ये समान है " ये सरश है " इस रूपसे उन परार्थोंका ज्ञान द्वारा परिष्रहण होनेसे (हेतु) गी, अन्त्र आदिके समान (अन्वयरष्टांत)। भावार्थ—जैसे खंड, मुंड, आदि अनेक प्रकारकी गायोंमें यह इसके समान है, यह इसकी सजाति है, यो परिष्रहण होनेसे सरशपरिणामरूप गोत्वसामान्य प्रसिद्ध है, उसी प्रकार मनुष्योंमें जाति द्वारा सभी मनुष्य समान हैं, यह प्रतिपत्ति होरही है। अतः सरशपरिणामरूप मनुष्यलजाति सिद्ध होजाती है। अन्यथा व्यक्तियोंको जातिसे भिन्न माननेपर अनवस्था दोष आवेगा। वैशिषकोंके "नित्यत्वे सित्त व्यापकत्वे च सित गोसमवेतं गोत्वं " और "गवेतरासमवेतत्वे सित सम्बद्धगोसमवेतत्वे गोत्ववं " ये सब कक्षण अविचारितरम्य हैं। सरशपना पदार्थोंको एक परिणिति है, वहाँ जाति है। पदार्थोंको तदासमक स्वरूपने निराला कोई न्यारी जातिका बोह्म उन पदार्थोंपर छदा हुआ नहीं है, जैसे

कि भोतीकी गर्नेपापर कपडोंकी ठादी छदी रहती है। वास्तविक रूपते पर्पदार्थ कालत्रयमें अपना मही होसकता है। इति निर्मेष्यते स्वयं प्रथकारः।

स एवं महुष्यं इति भरवयान समाना इति तद्यहोस्ति यतः साहत्वसामीन्यं सिक्षिदिति चैत् न, सर्वत्रे महुष्यादी स एवापमिति मत्ययस्योपचरितैकत्वविषयत्वात् । द्विविषं हि एकत्वं ग्रुष्ट्यमुण्चरितं च, ग्रुष्ट्यमूर्ध्वतासामान्यग्रुपचरितं तिर्यक् सामान्यं साहत्वपिति छनिश्चित्पन्यत्र ।

कोई नैयायिक कछाक्ष करता है कि अनेक मनुष्योंको देखनेपर यह वही मनुष्य है यह दूसरा भी मनुष्य ही है, यह तीसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार एकत्वका परिचायक परिह्मिन हो रहा है। अतः " यह मनुष्य उसके समान है, अमुक मनुष्य तिस मनुष्यके समान था " इस प्रकार सादस्यको जाननेवाला प्रहण नहीं हो रहा है, जिससे कि जैनोंका अभीष्ट सादस्य परिणामरूप सामान्य सिद्ध हो जाता । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि यह तो मन्द्रबुद्धि भी समझ सकता है कि सहरा हो रहे दूसरे, तीसरे, चीथे, मनुष्य आदिमें यह वही मनुष्य है, यह दूसरा भी बही मनुष्य है, इस प्रकार हो रहे ज्ञान तो उपचरित एकलको विषय करते हैं। एक ही व्यक्तिमें यह वही है, यह प्रत्यभिक्वान मुख्य एकत्वको विषय करता है। अनेक व्यक्तियोंने हुआ एकत्व प्रत्यभिक्कान प्रमाणाभास होगा अथवा उपचरित एकत्वको विषय करनेवाला होगा । तीसरा कोई उपाय नहीं । देखो, एकत्व दो प्रकारका माना गया है । पहिला मुख्य एकत्व है, दूसरा उपचरित एकत्व है। " पराप विवर्तन्यापि इध्यमूर्व्यतासामान्यं " एक इत्यकी अनेक कालोंमें होनेवाली नाना अवस्थाओंमें म्यापनेवाला परिणाम <u>उर्ध्वतासामान्य है</u> । जैसे कि देवदत्तकी वाल, युवा दृद्ध अवस्थाओं या जन्मान्तरीकी पूर्वोत्तरपर्यायोंमें जो सनान परिणाम है, वह ऊर्धतासामान्य है। इस ऊर्धता-सामान्यको विषय करनेवाले ज्ञानका गोचर मुख्य एकत्व है और अनेक न्यक्तियोंमें एक काल पाये जानेबांछ तिर्यक् सामान्यको जाननेवाछे ज्ञानका विषय हो रहा सादृश्य तो उपचरित एकत्व है, इस सिद्धान्तका इस अन्य अष्टसहस्री आदि प्रन्थोंमें बहुत अच्छा निर्णय कर चुके हैं।

सा पुनर्षाक्षणत्वादिनातिनैकाततो नित्या शक्या न्यवस्थापथितुमनित्यन्यक्तितादातन्यात्, सर्वया तस्यास्तदतादारम्य पृक्तिविकस्थानवस्थादिदोषानुषंगात् । नाप्यकातिनामूर्ता मूर्वतादारम्यविरोषात् । ततः स्याभित्या जातिनित्यसाद्दश्यरूपत्वात्, स्यादनित्यां नश्वरसाद्दश्यस्वभावत्वात्, स्यात्सविगतां सर्वपदार्थान्वयित्वात्, स्यादमर्थगतां प्रतिनियतपदार्थाभयत्वात्, स्यान्मृतिषती मूर्तिनद्द्रन्यपरिणानत्वात्, स्यादमूर्तां गानाद्यमूर्तद्रन्यपरिणामःतिमकेति नित्यसविगवामूर्वस्यभावा सर्वया ब्राह्मगत्वादिजातिरयुक्ता प्रमाणेन बाध्यमानत्वात्
इति स्कं । वदेवं—

वैशेषिकोंने ब्राह्मणत्व, शदत्व आदि जािगोंको सर्वथा नित्य मान छिया है। किन्तु वे ब्राह्मणत्व आदि जातियोंको फिर एकान्तरूपसे नित्यपनकी व्यवस्थाको करानेके लिये समर्थ नहीं हो सकते हैं। कानिय स्पक्तियोंके हाथ तादाल्य सम्बन्ध बन रहा होतेते, वे जातियो सर्वथा नित्य नहीं कहीं जा सकती है। यदि वैरोजिक उन बाह्मण्य आदि जातियों हा उन बाह्मण आदि व्यक्तियों के साथ सभी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे तादाल्य सम्बन्ध अभीष्ट नहीं करेंगे तब तो बृत्ति, त्रिकल्प, अनवस्था कारि दोचोंकी प्राप्तिका प्रसंग होगा । भावार्थ-एक जातिकी अनेक देशस्य व्यक्तियोमें यदि पूर्ण रूपसे क्ति मानी जायगी तब तो प्रत्येक व्यक्तियोंमें ठडरनेवालीं जातियां वैशेषिकोंको अनेक माननी पडेंगी। बदि एक जातिका अनेक व्यक्तियोंमें एक एक देशसे वर्तना माना जायगा, जैसे कि आकाश वर्तरहा **है. सब तो जातिको अवयवसहितप**ना श्राप्त होगा । उन अवयवोंमें भी जातीकी एकदेश या सर्व देशसे बारी मानते मानते वही पर्यनयोग चडेगा । यो अनवस्था दोष खडा हो जाता है । तथा घटकी उप्पति क्षेत्रेना देशमें प्रथमते सामान्य था तो वहा घटने विना वह घटन्वसामान्य भला निस **आधारपर बैठा हुआ था ! आश्रय है बिना सामान्य ठहर नहीं सकता है । '' अन्यत्र निरयद्रव्येभ्य** आश्रितत्विमहोच्यते '' नित्य दर्ज्यों अतिरिक्त सभी पदार्थ आश्रित माने गये हैं। घटकी उत्पत्ति हो हो स्थलमें सामान्य अन्य स्थानसे आ नहीं सकता है। क्योंकि वैशेषिकोंने सामान्यको क्रिया। हित स्वीकार किया है। पूर्व आधारको यह छोड भी क्यों देगा ? इसी प्रकार घटके फूट जानेपर घटल सामान्य कहां चला जाता है ? बताओ । भला सर्वया एक सामान्य प्रत्येक व्यक्तियों में परिसमास कैसे होगा ! तम ही विचारो । भिन्न पडे हुये सामाय द्वारा भिन्न पडी हुई जाति भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें नहीं चपर सकती है। यों वैशेषि जों के उत्पर कार्तिपय दोप आते हैं। अतः जातिको सर्वधा नित्य नहीं मान बैठना चाहिये । तथा जाति एकान्त रूपसे अमून माननेपर घट, पट, आदि मूर्त द्रव्यों के साथ तादाल्य सम्बन्ध होने का विरोध हो जायगा । मृताँके साथ तादाल्य रख रहा परार्थ मूर्त समझा जाता है। तिस कारणसे स्यादाद सिद्धान्त अनुसार यों निर्णय कर हो कि जाति कथंचिद् नित्य है। (प्रतिश्वा) क्योंकि कथेचिद् नित्य माने जा रहे पदार्थाका तदात्मक सादश्य रूप वह है । नित्य माने जा रहे सम्पूर्ण द्रम्य या कथंचिद् नित्य मानीं जा रहीं सूर्यविमान, कुळाचळ, अकृत्रिम प्रितमार्थे आदिक नित्य पर्यायोंने वर्त रहा साद्भयरूप सामान्य अर्थाचित् नित्य ही है। साथमें वह जाति (पश्च) कथंचित् अनित्य भी है (माध्य), नाश होनेवाछे साद्धयरूप स्त्रभाव होनेसे (हेतु) अर्थात्—घट, पट, आदि नाशशील पशर्यों ना सादश्य अर्थावित् अनित्य है । इसी प्रकार वह जाति क्यांचित् सर्वन्यापक भी है। क्योंकि सत्ता, वस्तुत्व आदि जातियोंके समान वह जाति सम्पूर्ण पदा-चौमें अन्वित हो रही है। और वह जाति कथंचित् असर्वगत है। क्योंकि न्यारे न्यारे देशोंमें वर्त रहे प्रति नियत पदार्थों ने आश्रित हो रही है । तथ्य घट, पट, संसारी जीय, आदि मूर्त द्रव्योंना परिमाम होनेसे वह जाति कथंचित् मूर्तिवाली है । आकाश, शुद्ध आमा, कालद्रव्य,

आदि अमूर्तद्रक्योंका परिणाम स्वरूप हो रही वह जाति कथंचित् अमूर्त मी है । इस प्रकार जातिके कथंवित् नित्यत्व, अनित्यत्व, या कथंचित् सर्वगतत्व, असर्वगतत्व अथवा कथंचित् मूर्तत्व, अमूर्तत्वका विवेचन कर दिया है । वैशेषिकोंका ब्राह्मणत्व आदि जातिको सर्वथा नित्यस्वभाव, सर्वगतस्वभाव और अमूर्तत्वभाव मानना युक्तिरहित है। क्योंकि ऐसा माननेमें अनेक प्रमाणोंकरके वाधार्ये उपस्थित की जा रही हैं। इस कारण हमने उक्त ढाई वार्तिकोंमें बहुत अच्छा जातिका विचार कर समीचीन सिद्धान्त कह दिया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ सो छुनो।

सार्भद्विद्वीपविष्कंभप्रभृति प्रतिपादितं । समनुष्यं चतुष्टय्या सूत्राणामिति गम्यते ॥ १३॥

तीसरे पुष्मरद्वीपके आधे भागमहित जम्बूदीप, धातकीखण्ड द्वीप इन दो द्वीपों यानी ढाई द्वीपके विष्कम्म आदिका मनुष्योंसिहत श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रोंकी चतुष्टयीकरके प्रति-पादन कर दिया है, यह समझ छिया जाता है। अर्थात्—दिर्धातकीखण्डे, पुष्करार्धे च, प्राच्या-नुषोत्तरानमनुष्याः, आर्या म्लेष्ठाश्च, इन चार सूत्रोंकरके मूलप्रन्थकारने ढाई द्वीप और मनुष्योंका प्रबोध करा दिया है, यों माना जाय।

काः पुनः कर्मभूषयः काश्र भौगभूषय इत्याइ।

कृपानिधान गुरुवर्य, अब यह बताओ कि फिर कर्मभूमियां कीनसी हैं ! और भोगभूमियोंके स्थान कीन हैं ! यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

भरतेरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।

पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं । हां, विदेहोंके मध्यमें वर्त रही पांच देवकुरुओं और पाच उत्तरकुरुओंको छोड देना चाहिये । क्योंकि वे उत्तम भोगभूमिया मानी गयी हैं ।

कर्मभूमय इति विशेषणानुपर्यतिः सर्वत्र कर्मणो व्यापारादिति चेत्र, वा, पक्तष्टगुणानु-भवनकर्मोपार्जितानिर्जराविष्टानोपपत्तेः षट्कर्मदर्शनाच । अन्यत्रशब्दः परिवर्जनार्थः । शेषास्ता भोगभूमय इति सामध्योद्गरूपत इत्यावेदयति ।

कोई शंका करता है कि छोकमें सम्पूर्ण स्थलोंप जब आठ प्रकारके कर्मीका बन्ध और उनके फलों का अनुभंगरूप ज्यापार ज्याप रहा है, सिद्वलो कमें भी एकोंद्रिय जीव कर्मीका उपार्जन कर रहे हैं, भोग मूमियोंमें आदि के चार गुगस्थानों अनुसार कर्म उपार्जन हो रहा है, देव या

नारिकयोंकी भी यही दशा है, स्थावर लोकमें कर्भफलचेतनाका व्यामार चमक रहा है, तो फिर इन पंद्रह स्थळोंको ही कर्मभूमियां कहना यह विशेषण तो युक्तिविद्र नहीं बन पाता है। प्रथकार कहते 🧸 कि यह तो नहीं ऋहना। क्योंकि परिहारविश्वद्धि, उत्कृष्ट देशावधि, परमावित, सर्वावधि, मनःपर्यय-हान, केवल्हान या उत्कृष्ट ऋदियां, उत्कृष्ट सम्यादरीन, चारित्र आदि प्रकृष्ट गुणींका अनुभय उपार्जित कमीकी निर्जराके अधिष्ठान ये पंदह क्षेत्र ही बन रहे हैं। अथवा '' न वा प्रकृष्टसुमाराम-क्रमें पार्जननिर्जरिध घ्रानोपपतोः '' यो पाठ माननेपर यह अर्थ हुआ कि उक्त शंका उठाना उचित नहीं है। क्योंकि जो सर्वार्थिसिद्धि विमानके प्राप्त या तीर्थकरत्व अथवा महती ऋदियोंके संपादक असाधारण प्रकृष्ट शुभकर्म हैं, उनका उपार्जन इन कर्मभूमियोंमें है। किया जाता है और सातमें नरकको प्राप्त करा देनेवाले जो तीव पापकर्म हैं, उन कमीका संचय मी इन ही कर्मभूमियोंमें होसकता है। तथा प्रलोक कार्पमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी अपेक्षा है। अतः ये कर्मभूमियां रूप पंदह क्षेत्र ही सर्वोत्कृष्ट पुण्यकर्म और सबसे बड़े पापकर्मके उपार्जन स्थल हैं । संसारश्रमणको न्यून करने-वाली निर्जरा या मोक्षतत्त्वकी प्राप्ति भी इन ही स्थलेंसे होती है। दूमरी एक बात यह भी है कि क्षत्रिय उपयोगी असिकर्म और वैक्यवर्णके उपयोगी मिष्रकर्म, विशक्तिम, कृषिकर्म, तथा शह उप-योगी विद्याकर्म, शिल्पकर्म इनका इन कर्म-पूनियोमें ही अनुष्ठान करना देखा जाता है। ब्राह्मण वर्णके उपयोगी यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रद्रण ये छह कर्म इन कर्मभूमियोंमें प्रवर्त रहे हैं। मुनिजन अपने छह सामायिक आदि आवश्यक कर्मीको, श्रावकजन देवपूजा आदि षट् आव-श्यकों को पंत्रह कर्म सूमियों में पाछते हैं। इस सूत्रीम अन्यत्र शहका अर्थ परित्यांग करना है। अतः परिहोष न्यायसे भरत, ऐरावत, और देवकुरु, उत्तरकुरुवर्जित विदेहसे अतिरिक्त ढाई द्वीपमें शेष रहीं बे भूमियें भीग भूमियें हैं, यह बात कहे त्रिना ही सामर्थ्य जान ली जाती है। इस बातका निवेदन प्रथकार अग्रिम वार्तिको द्वारा करे देते हैं।

> भरताद्या विदेहांताः प्रख्याताः कर्मभूमयः । देवोत्तरकुरूंस्त्यक्त्वा ताः शेषा भोगभूमयः ॥ १ ॥ सामर्थ्यादवसीयंते सूत्रेस्मिन्नागता (न श्रुता) अपि । समुद्रद्वितयं यद्वत्पूर्वसूत्रोक्तशक्तितः ॥ २ ॥

भरतको आद्य स्थानमें घर कर त्रिदेह क्षेत्रपर्यत कर्मभूमिये ब्रिटिया ढंगसे वखानी गयी हैं। विदेहक्षेत्रके मध्यभागमें वर्त रहे देवकुरु, उत्तरकुरू, स्थानोंको छोडकरके विदेहक्षेत्रका प्रहण करना चाहिये। भरताद्या में आदि शहूको व्यवस्थावाची मानकर आद्य शहूसे ऐरावतका ही प्रहण करना चाहिये। पांच मेरुसम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेहोंको छोडकर शेष ढाई द्वीपकी हे भूमियें भोगभूमियां हैं। ये भोगभूमियां श्री उमास्त्रामी महाराजने पूर्वस्त्रींमें या इस स्त्रमें पर्वापे केठोक्त नहीं कहीं हैं, तो भी सामर्थ्यसे अर्थापात्तिप्रमाण करके निर्णात कर छी जाती हैं, जिस प्रकार कि पूर्वस्त्रमें कहे जानुके प्रमेयकी सामर्थ्यसे दोनों छत्रणसमुद्र और काछोदांधि समुद्रका निर्णय कर छिया जाता है।

सार्भद्वीपद्वयतियाद्वनस्त्रे वचनसामध्यादिश्चयमाणस्यापि समुद्रद्वितयस्य यथावसायो जंब्द्वीपछवणोदादिद्वीपसमुद्राणां पूर्वपूर्वपरिक्षेषित्वचचनात् तथास्मिन् स्त्रेनुक्तानामपि भोगभू-मीनाम् निश्चयः स्यात् । भरतेरावतविदेहा देवकुरूत्तरकुरुभिर्भिर्जिताः कर्मभूमय इति वचन-सामध्यति देवकुरूत्तरकुरुभिर्भिर्वे देवकुरूत्तरकुरुभः शेषाश्च हैमवतहरिरम्यकहरण्यवताख्या भूषयः कर्मभूमिविरुक्षण्यत्वाद्वीगभूमय इत्यवसीयते ।

ढाई दीपों ना प्रतिपादन कानेवाले उक्त सूत्रोंमें लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रोंका वर्णन सूत्रों द्वारा नहीं सुना गया है । फिर भी सूत्र कारके गम्भीर वचनों की सामर्थिस जिस प्रकार अञ्चयमाण दोनों समझोंका निर्णय कर लिया जाता है. क्योंकि पहिले तो जम्बद्धीप, लबणीद आदि असंख्यात द्वीप समुदोंका वर्णन किया गया है । पश्चात् सूत्र द्वारा पूर्व पूर्विके द्वीप, समुदोंका पिछले पिछले द्वीप समुद्रों करके घेरा डाले रहना कहा गया है, अतः विना कहे ही जम्बूद्धपिके परिक्षेपी लक्षण समुद्र और धातशीखण्डके परिक्षेपी कालोदान्नि समुद्रका निश्चय कर लिया है, उसी प्रकार इस सूत्रमें कण्ठोक्त नहीं भी कही। गयी भोगभूमियोंका निश्चय कर लिया जाता है। भरत, ऐरावत, विदेह, ये देवकुरुओं और उत्तरकुरु भागोंसे वर्जित हो रहे कर्मभूमि स्थान हैं। इस प्रकार इस सुत्रके कथनकी सामध्यसि पांच मेरुसम्बन्धी पाच देवकुरुयें, पांच उत्तर कुरुयें और पांच मेरुसम्बन्धी उक्त तीन क्षेत्रोंसे शेष रही पांच हैमवत, पांच हरि, पांच रम्यक, पांच हैरण्यवत, संज्ञावाळी भूमियां भौगभूमिये यों निर्णीत कर ही जाती हैं। क्योंकि ये कर्मभूमियोंसे विरुक्षण हैं। यद्यपि कर्मभूमिसे विरुक्षणपना स्वर्ग, नरक, स्थावरछोक, सिद्धालय, आदिमें भी विद्यमान हैं। फिर भी पूर्यदास पक्ष अनुसार भूमि-पना, मनुष्यक्षेत्रत्व आदि विशेषणोंका अन्तर्गर्भ होनेसे उक्त हेत् व्यभिचारदोष करके प्रसित नहीं है। यों पांच मेरुसम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियां और पांच पांच देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, इन नामोंसे तीस भोग भूमियां विन्यस्त हैं । छियानर्वे अन्तद्वीपों हो कुभौग भूमियोंमें गिनाया जा चका है। किन्हीं जैन विद्वानोंका मन्तव्य है कि दिशाओंमें वर्तनेवाले समुद्रद्वयस्थ अन्तरद्वीप या कर्मभूमियोंके निकटवर्ती अन्तरद्वीप कर्मभूमि सदश हैं । किन्तु इस मतमें अपना विशेष आदर नहीं है। कारण कि प्रकृष्ट पुण्य, पापों ता, अनुष्ठान, मोक्समार्ग, देशवत, महावत, आदिका परिपालनं नहीं होनेंसे कतिपय अन्तर्द्वीपोंको कर्मभूमि कहनेमें जी हिचार्कचाता है। अधिकसे अधिक इनके चौथा गुणस्थान हो सकता है। छिपानवे अन्तरद्वीपोंमें उपने म्हेन्छमनुष्य विचारे अव्वणः वर्षः

रहित हो रहे और गुहा या बृक्षमें निवास करते सन्ते एक टांगवाछे, सींगवाले, पूंछवाछे आदि या अश्वमुख; सिंहतुख, महिषमुख, आदि अवस्थावाछे शरीरोंको धार रहे, मटा भोगोंको भोगते रहते हैं। एक पच्य अपनी आयुःप्रमाण पर्यन्त अपने समान पन्नीके साथ निराबाध भोगोंको भोग कर अन्तमें मरकर स्वर्गमें वाहनजातिके देव हो जाते हैं। अथवा ज्योतिषी, व्यंतर अथवा भवनवासी होकर पुनः दुर्गतिके दुःखोंको भोगते हुये संतारमें श्रमण करते हैं। यों भोगभूमियोंके छक्षणक्ती घटना हो जानेसे अन्तर्ह्हांपवासी म्लेम्छोंको कुभागभूमियां कह देना जच जाता है। मानुषोत्तरपर्वति पर्ली ओर आधे अन्तिम द्वीपतक एकेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय तिर्यच ही हैं। ये स्थान भी कुस्तिन भोगभूमियां कहे जाते हैं। जमन्य भोगभूमिवत भी माने जा सकते हैं। इन तिर्यचोंकी भी असंख्यात वर्ष ने आयु है। एक कोश उंचा शरीर है। इनको आदिके चार गुणस्थानतक हो सकते हैं। सभी भोगभूमियां मरकर कप्रायोंका अवेग कुछ न्यून होनेसे देवगतिको प्राप्त करते है। हां, स्वयंत्रभ पर्वतसे परली ओर आधे स्वयन्भूरमण होष और पूरे स्वयंभूरमण समुद्र तथा चारों कोने कर्मभूमियां हैं। इनमें स्थलनिवासी तिर्यच पांचेंच गुणस्थानवर्ती भी असंख्याते पाये जाते हैं। यहां प्रकरणमें दाई द्वीपसम्बन्धी कर्मभूमियोंका मूलद्वारा छीर दाई द्वीपसम्बन्धी भोगभूमियोंका मूलद्वारा

अथ तिश्वासिनां नृणां के परावरे स्थिती भवत इत्याह ।

भली भांति तुस हो चुके शिष्य हा दूसरे प्रकारका प्रश्न है कि गुरु महाराज, यह बताओं कि उन ढ़ाई द्वीपोंमें निवास करनेवाले मनुष्योकी उन्कृष्टस्थित और जघन्यस्थिति क्या होती है ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूबको कहते हैं।

न्रस्थितीपरावरे त्रिपल्योपमांतर्मुहुर्ते ॥ ३९ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्टिस्थिति तीन अदामल्योपम है, जो कि उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंके संभव रही है और ज्ञचन्यस्थिति अन्तर्नुहुर्त है, जो कि स्वासके अठारहवें भाग काल की ल्रुच्यपर्यासक मनुष्योंमें पायी जाती है। अडतालीस मिनटके मुहुर्तमें तीन हजार सातसी तिहत्तर २७७३ स्वास माने गये हैं। ल्रुच्यपर्यासक मनुष्य स्वासके अठारह भागतक जीवित रहता है। श्वामका अर्थ मनुष्योंके पोंचेमें बात, पित्त, कफकी, चल रही नाढीकी एक बार गतिका कालपिमाण है। मुख या नाकसे निकल रही प्राणवायुकी धास माननेपर जनमें, मरणका गणित ठीक नहीं बैठता है। स्वास मितसे नाडीकी गतिका काल कुल न्यून, अविक दुगुना बैठ जाता है। उत्कृष्ट स्थिति भोगभूमिके मनुष्य की है और ज्ञान्यस्थिति सन्पर्लन जनमवाले ल्रुच्यपर्याप्तक मनुष्यकी है।

यथासंख्यमभिसंबथिसपल्योपमा परा नृस्थितिरंतर्धेह्र्र्तावरा इति । मध्यमा नृस्थितिः केत्याह ।

सूत्रमें पर और अवरके साथ त्रिपल्योपम और अन्तर्मुहूर्तका यथासंस्थरूपसे सम्बन्ध कर छेना चाहिये। यों यथाकम अनुशार दोनोंका सम्बन्ध करने पर मनुष्योंकी तीन पस्योपम उत्कृष्ट सिम्नि और मनुष्योंकी जघन्यास्थिति अन्तर्मुहूर्त यों समझ छी जाती है। मनुष्योंकी मध्यमस्थितियां कौन हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्निमवार्त्तिकको कहते हैं।

परावरे विनिर्दिष्टे मनुष्याणामिइ स्थिती । त्रिपल्योपमसंख्यांतर्मुहूर्त्तगणने बळात् ॥ १ ॥ मध्यमा स्थितिरेतेषां विविधा विनिवेदिता । स्वोपात्तायुर्विशेषाणां भावात्सूत्रेत्र ताह्यां ॥ २ ॥

इस सूत्रों मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन प्रल्योपम संख्यानाकी और अक्रमस्थिति कर्माकर नामक गणनावाली विशेषरूपसे कह दी गयीं है। बिना कहे ही आदि, अन्त, स्थितियोंकी सामाजित इन मनुष्योंकी नानाप्रकार मध्यमस्थितियां तो अर्थापत्तिद्वारा श्री जमास्यामी महाराजकरके हुस सूत्रवें विशेषतया निवेदन कर दी गयीं समझ छेनी चाहिये। क्योंकि पूर्वजन्मसम्बन्धी अपनी अपनी कषायोंके अनुसार इन मनुष्योंके निज उपार्जित विशेष विशेषस्थितिको लिये इये तिस तिस दंगके आयुष्य कर्मीका सद्भाव है। अर्थात्—पूर्वजन्मोंमें विश्वद्र परिणामोंसे उपार्जी गयी मनुष्य असुके अनुसार जीवोंका एक समय अधिक कोटीपूर्ववर्षसे प्रारम्भ कर तीन पत्यकी आयुवालोंका भोग-भूमियोंमें जन्म होता है । और संक्लेश परिणामों अनुसार नाडीगतिके अठारहवें भाग जवन्य आयु: स्थितिसे प्रारम्भ कर कोटि पूर्व वर्षतक्षकी आयुवाले जीवोंका कर्मभूमि मनुष्योंमें उपजना होता है। अतः एक समय अधिक अन्तर्मुद्धर्तसे प्रारम्भ कर एक समय कम तीन पल्यतककी असंख्यात प्रकार मध्यम स्थितियां तो सूत्र उच्चारण किये विना ही '' तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नियम अनुसार गम्यमान हो जाती हैं । एयादीया गणना वीयादीया हवंति संखेजना, तीयादीणं शियसा-कदित्ति सण्णा मुणेदस्या '' इस गाथा अनुसार एक आदिको गणना कहते हैं । और दो आदिके। संख्या कहते हैं। असंख्यात या अनन्त भी संख्याविशेष हैं। पत्य एक असंख्यातासंख्यात नामकी संख्याका मध्यम मेद है । चूंकि ढाई सागरके समयप्रमाण असंख्याते द्वीप समुद्ध हैं और दश कोटा कोटी पल्योंका एक सागर होता है। तथापि सम्पूर्ण द्वीपसमुद्रोंसे जचन्य, मध्यम, उत्तम मोगसमियोंके मनुष्योंके आयुष्य समय अत्यधिक हैं। क्योंकि द्वीपसमुद्रोंकी गणना तो उद्धार प्रत्योंकी प्रवीस कोटा-कोटी संख्यासे है । किन्तु उद्धारपल्यसे सी वर्षके असंख्यात समयों गुना एक अद्धापक्य होता है । मोग भूमियोंकी स्थिति अद्वापल्यसे गिनायी गयी है । जघन्य युक्तासंख्यात सम्यपरिनित आवडीसे संख्यात गुना मुहत्ते काल होता है। जो कि प्रतरावलीकादका असंख्यालवां भाग है। सनुष्यों औ

जिनदृष्ट**ु सं**ख्यात - आवळीजमाण जवन्य स्थिति । नगझना चानिये । कोटिपूर्व वर्षकी स्थिति भी संख्यात आवंदियां हैं । प्रतरावाळिका असंख्यातवा भाग वह मध्यमस्थिति है ।

तिरश्रां के परावरे स्थिती स्थात।मित्याह ।

पुनः जिज्ञासुका प्रश्न है कि मनुष्योकी स्थिति समझ ली, तिर्यचोंकी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति क्या होगी १ बनाओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं ।

तिर्यायोनिजानां च ॥ ४० ॥

तिर्यगाति नामकमंके अनुमार तिर्थच योनियोगें जन्म छेनेत्राछे जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य भगन्धिति नाडागतिके अठारहवें भागत्रमाण अन्तर्भुहूर्त्त है ।

े त्रिपल्पोपमांतर्ग्रहर्ते इति वर्तते, पृथग्योगकरणं यथासंख्यानेष्ट्रत्यर्थे । एकयोगकरणे हि नृतिर्यक्रिथती इति निर्देशे नृश्थितिः परा त्रिपल्योपमा, तिर्यक्रिथतिरवरान्तर्ग्रहर्तेति यथासंख्यमभिसंबंधः प्रसञ्यते । ततस्तिब्रहत्तिः पृथग्योगकरणात् ।

" दृक्षिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मृहूर्ते " इस सूत्रसे " त्रिपल्योपमा " और " अन्तर्मृहूर्त " शह्या अनुवृत्ति कर की जाती है स्थिति और परा, अपराक्षा प्रकरण चल हाँ वहा है। कतः तिर्यचोंकी उन्नृष्ट स्थिति तीन पन्य है। जो कि उत्तम भोगभूमियोंके तिर्यचोंके पायो जाती हैं। तिर्यचोंकी ज्ञान्यस्थिति अन्तर्मृहूर्त्त की उन्न्यपर्यासक तिर्थचोंके सम्भव रही है। पूर्वसूत्रके साथ इस सूत्रका एक्ष्योग नहीं कर पृथक् पृथक् योगाविभाग करते हुने श्री उमारामी महाराज करके दो सूत्रोंका कथन करना तो संख्या अनुसार यथाक्रमसे होजानेवाले अनिष्टमसंगक्ती निश्चिक्त लिये हैं। कारण कि यदि दोनों सूर्ोंको मिन्नाकर " तृतिर्यक्तिस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मृहूर्ते " यो जोडकर दिया जायगा तो मनुष्य और तिर्थचोंकी स्थिति वो लघुतार्भ्वक कथन करने पर इस प्रकार यथा संख्यसे दोनो ओर पर और अवस्के सम्बन्ध होजानेका प्रसंग होजावेगा कि भनुष्योकी उन्ह्य स्थिति तीन पत्योपम है और तिर्थचोंकी जवन्यस्थिति अंतर्भृहूर्त है। किन्तु केवल इतना हा अर्थ तो सूत्रकार्यो अभीय नहीं या। अतः न्यारे दो सूत्र बनाकर तिस योगका पृथक्तमाग कर देनेसे उस अनिष्टप्रसंगकी निश्चित होजाती है।

त्तिर्यङ्गामकर्मोदयापादितजन्म तिर्यग्यानिस्तत्र जातास्तिर्यग्योनिजाः एकंद्रियिक्छंद्रिय-पंचेद्रियविकल्पाक्षिविधाः तेषां च यथागमं मध्यमा स्थितिः सामर्थ्यलभ्या प्रतिपत्तः । पराव-रांस्थितितत् ।

जिन संसारी जीवोंका जन्म छेना नामकर्पी, मेद होरहे गतिनाम कर्मकी उत्तर होती मानी गुणी विश्विगति भेज के नाम क्षीर उद्देश होने पर सम्पादित ओरहा है, जह जन्म तिर्यस्योनि उद्देश जाता

है । उस निर्यग्योनिमें उत्पन्न हुये जीव तिर्यग्योनिज हैं । तिर्यचें। रे स्थुळरूपेस एक स्पर्शन इन्द्रियवाले और दो इन्द्रिय तीन इन्द्रियें या चार इन्द्रियां, यों विकल होरही इन्द्रियों हो धारने वाले तथा पांचों इकियोंको धारनेवाले यो तीन प्रकार हैं। इस सूत्रमें तिर्धचोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको कह दिया गया है। पर. अपर. धितियोंके कह देनेसे तिना कहे ही सामध्ये द्वारा लब्ध होत्र[§] मध्यमा स्थितिकी प्रतिपत्तिको आगम अनुसार कर लेना चाहिये। जैसे कि कई प्रकारके निर्धचोंकी जघन्य या उत्क्रप्टिश्यितयोंको सर्वज्ञोक्त आम्नाय द्वारा निर्णीत कर छिया जाता है । अर्थात - मृद प्रथ्वीकायिक जीवों नी उत्कृष्टिश्यति बारह हजार वर्ष है । पर्वत, रत्न, कंकण, अदि कठिन प्रध्वीकायिक जीवोंकी परा स्थिति वाईस हजार वर्षकी है। जलकायिक जीवोंकी सात हजार, तेजस्कायिक जीवोंको तान दिन, वायकायिक जीवोंकी तीन हजार वर्ष, और वनस्पति-कायिक जीवोंकी दस हजार वर्ष उन्ह्रष्ट स्थिति है। शंख, सीप, आदि दीन्द्रियोंकी बसह वर्ष, बीन्द्रियोकी उनंचास दिन, मक्त्वी वर्र आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंकी छह मास उत्कृष्ट स्थिति है। पंचोदिय तिंथेचोंमें जलचर मत्स्य, मकर, आदि जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कोटिपूर्व वर्ष है। सर्पट चंडनेवाडे गोह, नौला, विषखपरा, आदिक जीव नौ पूर्वाङ्गतक जीवित रह सकते हैं। सर्पी ती उन्हाट आयु बियालीस हजार वर्ष है । पश्चियों को उत्हार आयु बढ़त्तर हजार वर्ष है । भोग-भूमियोंमें पाने जा रहे पक्षियोंमें यह आयु सम्भवती है। चार पांववाठे पश्चओं ही उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी है। सम्पूर्ण तिर्थेचोकी जघन्य आयु शासके अठारहें भागप्रमाण अन्तर्मुहूर्त है, जो कि कर्मभूमियों के तिथेचों में ही पायी जाती है । यहां विशेष इतना ही कहना है कि पत्थरका कोयला. मिट्टी, कं जड, रत्न, आदि सचित पृथ्वी भी सरसों प्रमाण डेळीमें अमेख्याते प्रथित्रीकायिक जीव हैं। यही दशा जलकी बूंद या अग्निका दक्षडा अथवा वायुके स्वरूप भागमें भी लगा लेना। यदि किसने ही दिनोंतम अप्ने जलती रहे तो भी उसमा जीय तीन दिनसे उपादा ठहर नहीं सकता है। असंस्य जीव वहां क्रमसे जन्म छेते और मरते वहते हैं। तेठ, छकड़ी, विद्युत्प्रवाह, आदिसे जो चमकती हुई अग्नि ज्यालायें उपजतीं हैं, उन अग्निशय के जीनों की स्वल्पकाल स्थिति प्रसिद्ध ही है। क्येंस्कि अग्निज्यालास्त्रहम् अने त शरीरोका अग्निकाभि क जोयोंकी मृत्यु के पश्चात्का जल आदि पर्यायोंने परि-वर्तन हो जाता है। मञ्ज मिक्खयों या वर्रीके छत्ता कई वर्षीतक बने रहते हैं। उनमें मिक्खयां कि पायी जाती हैं। ये उन मक्लियों की धाराबाहि हसंतान हैं। एक मक्ली या वर्र छह महिनेसे अधिक जीवित नहीं रह सकती है। समुदित मिन्खियों तो संतान, प्रतिसंतानों, का के हुये मतिहानों करके ये कार्य भी हो जाते हैं कि मन्खियां कुछ दिनके छिये पहाडोंपर या अन्य उन्नित स्थानींपर जिल्ली जाती हैं । महीनां बाद उस स्थानपर छोट आती हैं । यदापे चौ इन्द्रिय जोबोंके मनसे होनेवाला बिचार आत्मक श्रुतज्ञान नहीं है। फिर भी जितना कुछ मतिज्ञान है, उसके द्वारा घूम किर कर अपने ध्यानपर छाउ जाना या अपने क्योंके शरीर उपनेगां सन्पूर्वन पदार्थोको ढूंड

क्यमें या क्योंके उपयोगी घरका निर्माण करना, शीत, उष्ण, मेघबाधाओंसे या घातकमनुष्य, पद्ध, पिंदीपीके उपविस् क्यांकर उचित स्थलमें गृह बनाना, खाद्यपदार्थीका संग्रह कर रखना, बादि क्रिक कार्य सम्पन हो जाते हैं। हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करना ज्ञानका कार्य । यो प्रन्थकारने तिर्येचीकी एक एक प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा असंख्य प्रकारोंकी सम्पन स्थितियोंको साथ दिया है।

किमर्विमिद्दोक्ते तिरश्चां परावरे स्थिती प्रकरणाभावेपीत्यादर्शयति ।

इस द्तीय अध्यायके अन्तमें आर्य या म्छेच्छ मनुष्योंका प्रकरण आ जानेसे पूर्व सूत्रद्वारा मनुष्योंकी जवन्य उत्कृष्ट आयुका निरूपण कर देन। उचित है। किन्तु तिंथेचोंका प्रकरण नहीं होते हुये भी श्री उमास्वामी महाराजने यहां तिंथेचोंकी जवन्य—उत्कृष्टिस्थितिको किस छिये कह दिया है ? इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्तिक द्वारा समाधान वचनको दर्पण-वद दिस्काते हैं।

ते तिर्यग्योनिजानां च संक्षेपार्थमिहोदिते । स्थिती प्रकरणाभावेष्येषां सूत्रेण सूरिभिः ॥ १॥

प्रकरण नहीं होनेपर भी श्री उमाखामी महाराजने इस सूत्रकरके इन तिर्यग्योनिमें जन्म छेने बाढ़े जीवांकी उन जक्य उत्कृष्ट स्थितियोंका निरूपण संक्षेपके छिये कर दिया है। अर्थात्—नार-कियों और देवांकी स्थितिके निरूपण अवसरपर चौथे अध्यायमें यदि तिर्यचोंकी आयुको कहा जाता तो " तिर्यग्योनिजनां स्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " इतना छंगूरकी छागूछतुल्य छम्बा सूत्र बनाना पर्वता। अक्षरों और प्रतिपत्तिका गौरव हो जाता। किन्तु यहांपर " तिर्थग्योनिजानां च " इतने स्वस्य सर्वपसमान सूत्रसे ही समाहित अर्थकी सिद्धि होगई है। कर्ममूमि या भोगभूमि स्थानोंमें संबुद्धोंके समान तिर्यच भी निवास करते हैं। अतः मनुष्योंके साथ तिर्थचौका भी प्रकरण है। मनुष्योंकी संगति नारकियोंसे सर्वथा नहीं है। हां, देवोंके साथ क्वाचित् कदाचित् सम्मेखन हो जाता है। किन्दु मनुष्योंका तिर्यचोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मनुष्योंका वर्णन करते समय तिर्यचौका श्रकरण भी श्रिति उपस्थित हो जाता है।

नन्त्रसंख्येयेष्विप दीपसद्धदेषु दृष्टेषु सार्धद्वीपद्वयपपंचं निरूपयतः मूत्रकारस्य किं

यहां कोई वावदूक पण्डित आशंका करता है कि पत्तीस कोटाकोटि उद्धार पल्योंके समय अवान नव असंस्थातें दीपसमुद्र इस तिर्थक् छोकमें देखे जा रहे हैं, तो उन सभीमेंसे केवल ढाई दीपोंकों ही विस्तारसंहित निरूपण कर रहे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजके चित्तमें कीनसी बात व्यवस्थित हो गयी है ? बताओ । या ती हजारों, लांखीं, सभी डीपोंका थोडा थांडा निरूपण करना चाहिये था । अथवा सातवें, आठवें सूत्रों करके सामान्य कथने कर तृतीय अध्यासको पूरा कर देना था । नीवें सूत्रसे प्रारम्भ कर चालीसवें सूत्रतक ढाई द्वीपकी ही स्तृति गाना तो उचित नहीं दीखता है । ढाई द्वीपसे बाहर भी असंख्य द्वीप समुदोंमें बडी बडी सुन्दर मनोहारी रचनायें हैं । ढाई द्वीपसे बाहर मनुष्य और तेरह द्वीपके बाहर सर्व साधारण अकृत्रिम जिनचैत्यालयोंके नहीं होनेसे उन असंख्य द्वीपोंकी अवज्ञा नहीं की जा सकती है । व्यन्तरोंके अकृत्रिम नगरोंमें तो वहां भी चैत्यालय है । इस आक्षेपका उत्तर देनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं ।

सार्धद्वीपद्वये क्षेत्रविभागादिनिरूपणं। अध्यायेस्मित्रसंख्येयेष्वपि द्वीपेषु यत्कृतं ॥ २॥ मनुष्यलोकसंख्या या जिज्ञासंविषया मुनेः। तेन निणीयते सद्भिरन्यत्र तदभावतः॥ ३॥

असंस्थाते द्वीपोंके होनेपर भी इस तृतीय अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने जो ढाई द्वीपोंमें ही क्षेत्र विभाग, पर्वत, नदी, आदिका निरूपण किया है, उससे अर्थापत्ति द्वारा सज्जन विद्वानों करके निर्णय कर लिया जाता है कि जो मनुष्यलोककी संख्या है, वही सूत्रकार मुनिकी जिज्ञासाका विषय है। क्योंकि ढाई द्वीपसे अतिरिक्त अन्य द्वीपोंमें उस मनुष्यलोककी संख्याका अभाव है। अर्थात् असंख्य द्वीपोंमें ठीक भीतरले ढाई द्वीपोंमें ही उत्कृष्टरूपसे द्विष्ट्रप वर्गधाराकी पंचम कृतिके धनस्वरूप ७९२२८१६२५१४२६४३२७५९३५४२९५०३३६ यों उन्तीस अंक प्रमाण पर्यासमनुष्य पाये जाते हैं। अन्य द्वीपोंमें मनुष्य नहीं हैं। शिष्यके मनुष्यलोककी जिज्ञासा अनुसार सूत्रकारको नृलोकका व्याख्यान करना पढ़ा है। अन्य कोई पक्षपात या अवज्ञा करनेका अभिप्राय नहीं है।

नतु च जीवतस्वमस्ययो मक्तते किं निरर्वकं द्वीपसमुद्रविशेषनिरूपणमित्याशंकां निवारयति।

पुनः किसीकी सकटाक्ष आरांका है कि पहिले ही अध्यायसे प्रास्म कर पूरे दूसरेमें और तीसरे अध्यायके कुछ भागमें जीवतत्त्वका प्ररूपण करना जब प्रकरणप्राप्त हो रहा है, तो फिर बीचमें ही व्यर्थ विशेषद्वीपों और विशेषसमुदोंका निरूपण सूत्रकारने क्यों कर दिया है ! निरर्थक बातोंको सुननेके लिये किसी प्रेक्षावान्के पास अवसर नहीं है । निरर्थक बातोंसे बुद्धिमें परिश्रम उपजता है । पापप्रसंग भी हो जाता है । संवर और निर्जराके प्रस्ताव दल जाते हैं । इस प्रकार की गया आशंकाके निवारणको प्रस्थकार अभिगवार्तिक करके करते हैं ।

न च द्वीपसमुद्रादिविशेषाणां प्ररूपणं । निःप्रज्ञोजनमाशंक्यं मनुष्याधारनिश्रयात् ॥ ४ ॥

द्वीप समुद्र, नदी. इद, आदि विशेषों आ प्ररूपण करना प्रयोजनरहित है, यह आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इससे मनुष्योंके आधारमूत स्थलोंका निर्णय हो जाता है। सम्पूर्ण संसारियों मनुष्योंकी गणना उच्चकीटिके जीवोंमें है। श्री अरहन्तपरमेष्टी या उत्कृष्ट श्रोता, वक्ता, अथवा वादी, प्रतिवादी, ये सब मनुष्य ही तो हैं। अतः जीवोंका वर्णन करते समय मनुष्य और उनके अधिकरण हो रहे ढाई द्वीप और दो समुद्रोंका निरूपण करना व्यर्थ नहीं है। ज्ञान या प्यानके उपयोगी प्रकरणोंको अवस्य सुनना, समझना चाहिये। यही ज्ञान विचारआक्रान्त होकर प्यान बन बैठता है और स्वसंत्रेष्ठ सुखका उत्पादक हो रहा संवर, निर्जराका संपादक हो जाता है।

कानि पुनर्निमित्तानि तद्दीपसमुद्रविशेषेषुत्पद्यमानानां मनुष्याणाभित्याह ।

यहा किसीकी जिज्ञासा है कि उन ढाई द्वीपिविशेषों या लक्णोद, कालोद, दो समुद्रविशेषों ने उपज रहे मनुष्योंके फिर निमित्तकारण कीन हैं ? अर्थात्—किन कारणोंसे मनुष्य इन ढाई द्वीपोमें उपज जाते हैं ? अन्यत्र क्यों नहीं उपजते हैं ? इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी अग्निमवार्त्तिकको कहते हैं।

नानाक्षेत्रविपाकीनि कर्माण्युत्पत्तिहेतवः। संत्येव तद्विशेषेषु अद्गलादिविपाकिवत्॥ ५॥

जैसे कि पुद्रल या जीव आदिमें विपाक्तको करने वाले पुद्रलविपाकी कर्म, जीवविपाकी कर्म, और भवविपाकी कर्म हैं, उसी प्रकार उन विशेषद्वीप या समुद्रविशेषोंमें उत्पत्ति होजाने के कारण अनेक क्षेत्रविपाकी कर्म भी संसारी आत्माक साथ बंधनबद्ध होरहे हैं।

यथा पुद्रलेषु शरीरादिलक्षणेषु विपवनशीलानि पुद्रलिविपाक्षीनि कर्माणि शरीरनामा-दीनि, यथा च भगविपाकीनि नरकाषुरादीनि, जीवविपाकीनि च सद्देशादीनि, तथा तत्री-त्यचौ मनुष्याणामन्येषां च माणिनां हेतवः संति तद्दशानाक्षेत्रेषु विपवनशीलानि क्षेत्रविपा-कीन्यपि कर्माणि संति तत्र तत्रोत्पचौ तेषां हेतत्र इति तदाधारित्रशेषाः सर्वे निरूपणीया एव ।

जिस प्रकार शरीर, उपार, हुईी, रक्त, आदि स्वरूप पुद्रलेंमें निपाक होनेकी टेवको रखने-वाछे शरीर नामकर्म, आदिक पुद्रलियाकी ६२ बासठ कर्म हैं। " देहादी फासंता एण्णासा णिमिणताब जुगछं च, थिर सुह पत्तेय दुर्ग अगुरुतियं पोरगछिनिवाई "। और जिस प्रकार नरक आयु, तिर्यगायु, आदि चार कर्मप्रकृतियां भवविपाकी हैं और सदेदनीय आदिक अठक्तर कर्मप्रकृतियां जीविपाली हैं। "आऊणि भगविवाई खेत्तित्रगई य आणुपुन्तीओं। अठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयन्वा"। ये तीन जातिकी प्रकृतियां मनुष्योंके या अन्यजीवोंके तिस प्रकार वहां उपजनेमें प्रेरक निमत्त कारण होजाती हैं, उसीके समान अनेकक्षेत्रोंमें विपाक होनेकी टेकको धारनेवाछ चौथी जातिके चार आनुपूर्व्य क्षेत्र-विपाकी कर्म भी उन उन स्थलों पर उन जीवोंके जन्म लेकर उत्पत्ति होनेमें प्रेरक हेतु हो जाते हैं। अर्थात्— जिन जीवोंके जिस जातिके कर्मका सद्भाव पाया जावेगा, तदनुसार उन उन द्वीप या समुद्रोमें जीवका जन्म हो जायेगा। इस कारण उन जीवोंके संपूर्ण आधार विशेषोंका निरूपण करना आवश्यक ही पड गया है।

तदशरूपणे जीवतत्त्वं न स्यात् प्ररूपितं । विशेषणेति तज्ज्ञानश्रद्धाने न प्रसिष्यतः ॥ ६ ॥ तिन्नवंधनमञ्जुण्णं च।रित्रं च तथा क नु । मुक्तिमार्गोपदेशो नो शेषतत्त्वविशेषवाक् ॥ ७ ॥

यदि उन क्षेत्रोंका निरूपण नहीं किया जायगा तो विशेषरूपकरके श्री उमास्वामी महा-राज द्वारा जीवतत्त्वका निरूपण करना नहीं समझा जायगा। ऐसी दशामें उस जीवतत्त्वका ज्ञान करना और जीवतत्त्वका श्रद्धान करना ये दो रत्न कभी मी प्रसिद्ध नहीं होसकते हैं। और तिस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रसिद्ध नहीं होनेपर उन दो को कारण मान कर होने वाला तीसरा रत्न निर्दोष या पूर्णचारित्र तो मला कहां श्रसिद्ध हो सकता है ! और यों तीनो रत्नोंके नहीं प्रसिद्ध होने पर विचारा आद्यसूत्र द्वारा मोक्षमार्गका उपदेश देना भी कहां बना ! जीवको मूलभित्ति मानकर शेष छह तत्त्वोंका निरूपण किया जाता है । जीवतत्त्वकी प्ररूपणा हुये विना शेष अजीव आदि तत्त्वोंका विशेषरूपसे कथन करना नहीं बन पावेगा । अतः मोक्षमार्ग माने गये रत्नत्रयके विषय हो रहे जीवादि नत्त्वोंकी समीचीनप्रतिपत्ति करानेके लिये उन जीवोंके आधारस्थानोंका निरूपण करना मूत्रकारका उचित कर्तव्य है ।

तेषां हि द्वीपसग्रद्रविशेषाणामम्हणणे मनुष्याधाराणां नारकतिर्यम्देवाधाराणामप्य-म्हणणमसंगान विशेषण जीवतत्त्वं निरूपितं स्यात्, तिन्नरूपणाभावे च न तिद्विज्ञानं श्रद्धानं च सिध्येत्, तदिसद्धौ श्रद्धानज्ञानिवंधनमञ्जुणं चारित्रं च क नु संभाव्यते १ विक्तमार्गश्च हैवं १ शेषाजीवादितस्ववचनं च नैवं स्यात् । ततो ग्रुक्तिमार्गापदेशिमस्छता सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राण्यभ्युपगतव्यानि । तदन्यतमापाये युक्तिमार्गानुप्यचेः, तानि चाभ्युपगच्छता तिद्वषय-भावमनुभवत् जीवतस्वमजीवादितस्ववत् मतिपत्तव्यं । तत्मतिपद्यमाने च तिद्वशेषा आधारादयः मतिपत्तव्याः। इति युक्तं द्वीपसभुद्धादिसन्निवेशादिविशेषम्रह्मणमध्यायेऽस्मिन्। अत्रापरः माह—

कारण कि मनुष्योंके आधार हो रहे उन ढाई द्वीपविशेषों या दो समुद्रविशेषोंका निरूपण यदि नहीं किया जायगा, तब तो नारकी जीवोंके आधार हो रहे नरकस्थान तिर्थेच प्राणियोंके आधारभूत तिर्यक् लोक और देवोंके आधारस्थानोंके भी निरूपण नहीं करनेका प्रसंग आ जावेगा। और ऐसा होनेसे विशेषरूपसे जीवतस्वका निरूपण कर दिया गया नहीं समझा जायगा। तथा विशेषक्षपरे उस जीवतत्त्वका निरूपण नहीं करनेपर उस जीवतत्त्वमें विद्वान या श्रद्धान होना नहीं सिद्ध हो पार्थें। उन विज्ञान और श्रद्धानकी नहीं सिद्धि होनेपर श्रद्धान और ज्ञानको कारण मान. कर हुआ परिपूर्ण चारित्र भला कहां सम्भावित किया जावेगा ? और इस अन्धकारसदृश असिद्धि-योंकी काली रातमें सम्यग्दर्शन, सम्यन्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहां बना ? जीवतस्वसे अवारीप्ट अजीव, आदि छह तत्त्रोंका परिभाषण भी इस प्रकारकी दशामें नहीं बन पाता है। तिस कारणसे मोक्षमार्गके उपदेशकी इच्छा रखनेवाल विद्वान्को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, अवस्य स्वीकार कर लेने पडेंगे । उन तीनोंमेंसे एकका भी विस्लेष हो जानेपर मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। और उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रोंको स्वीकार कर रहे विद्वान करके उस रानत्रयके विषयपनका अनुभव कर रहे जीवतरहा अजीव, आग्नव, आदि बच्चोंक समान प्रति-पत्ति कर छेनी चाहिये और यों उस जीवतत्त्वकी प्रतिपत्ति करते सन्ते पण्डितको उस जीवके विशेष हो रहे आधार आदि और आधारोकी लम्बाई, चौडाई, आदिकी प्रतिपत्ति कर लेना आवश्यक पड जाता है । इस कारण इस तृतीय अध्यायमें द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, आदिकी रचना, चीडाई, उनमें रहनेवाले जीवोंकी आयु, आदिका विशेषरूपसे सूत्रकारने प्ररूपण किया है, यह युक्तिपूर्ण है। यहः तक तीसरे अध्यायके प्रमेयका विवरण हो चुका है। अब यहां कोई दूसरा सृष्टिकर्तावादी विद्वान् अपने मतको बहुत बहिया समझता हुआ कह रहा है, उसको भी सनलो।

ननु द्वीपादयो धीमद्वेतुकाः संतु सूत्रिताः । सिनवेशविशेषत्वसिद्धेर्घटविद्यसत् ॥ ८ ॥ हेतोरीश्वरदेहेनानेकांतादिति केचन । तत्रापरे तु मन्यंते निर्देहेश्वरवादिनः ॥ ९ ॥ निभित्तकारणं तेषां नेश्वरस्तत्र सिध्यति । निर्देहत्वाद्यथा मुक्तः पुरुषः सम्मतं स्वयं ॥ १० ॥

वैशोषिक अपने पक्षका अनुमान प्रमाण द्वारा अवधारण कराता है कि श्री उमास्वामी महाराज करके उक्त सूत्रों द्वारा कहे जा चुके द्वीप, समुद्र, शृथिवियें, पर्वत, शरीर, इन्द्रियें, आदिक पदार्थ (पक्ष) किसी बुद्धिमान् कर्त्तास्वरूप हेनु करके बनाये गये समझे जाओ (साध्य) विशेष प्रका-रकी रचना बन रही होनेसे (हेतु) बरके समान (अन्वयद्द्यन्त) । आचार्य कहते हैं कि यों वैशेषिकका मन्तव्य प्रशस्त नहीं है । क्योंकि उक्त अनुमानके हेतुका ईश्वरके शरीरकरके व्यभिचार हो जाता है । पौराणिक विद्वानोंने ईश्वरका शरीर स्वीकार किया है । किन्तु उस शरीरका निमित्त कारण ईश्वर नहीं पडता है । अतः हेतुके ठइर जानेसे ईश्वरदेहमें माध्यका अभाव हो जानेपर सिनेवशिवशिवल हेतु व्यभिचारी हो जाता है । यदि ईश्वरकरके अपने शरीरका निर्माण भी अन्य अन्य शरीरोंद्वारा स्वीकार किया जायगा तो अनवस्था दोष आ जावेगा । ईश्वर अपने शरीरोंको बनाते बनाते उपक्षीणशक्तिक हो जायगा । यो ईश्वरश्वरीर करके व्यभिचार दे जुकनेपर उस प्रकरणमें ईश्वरके देहको नहीं कहनेवाले कोई दूसरे बादी ते। यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके देह ही नहीं है, शरीररिहत ही ईश्वर सम्पूर्णकार्योंका निभित्तकारण हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि उन वादियोंके यहा उन तनु तरु आदि कार्यों ईश्वर निमित्तकारण सिद्ध नहीं हो पाता है (प्रतिज्ञा), देहरिहत होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वयं आपका मले प्रकार माना जा जुका मुक्त आत्मा सृष्टिका निमित्तकारण नहीं है (अन्वयद्द्वान्त) । अतः द्वारा, समुद्र, आदि सब अञ्चिम है । अनादि अनिद्व विमित्तकारण नहीं है (अन्वयद्द्वान्त) । अतः द्वारा, समुद्र, आदि सब अञ्चिम है । अनादि अनिद्व विमित्तकारण नहीं है (अन्वयद्द्वान्त) । अतः द्वारा, समुद्र, आदि सब अञ्चिम है । अनादि अनिद्व है ।

विवादाध्यासिता द्वीपाइयो युद्धिमत्कारणकाः सिक्षेत्रविशेषत्वात् घटनदिति कश्चित् । तदसत् । हेतोरीश्वरक्षरीरेण विश्वतश्चष्कुरुत विश्वतो ग्रुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्यात् । संबाद्धभ्यां धमित संपत्तेचीबाभूमी जनयन् देव एकं इत्यागममिद्धिनानेकांतादिति । अपरे नेश्वरस्य शरीरमस्ति यतो हेतोर्व्यभिचारश्चोद्यत इति मन्यंते तेषां " अपाणिपादो जवनो प्रहीता पश्चत्यचश्चः स श्रुणोत्यकर्णः, स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरव्यं पुरुषं महांतं " इत्यागमणयतां नेश्वरस्तत्र निमित्तकारणं सिध्यति निर्देहत्वात् स्वयं संमत्रशुक्तात्मवत् ।

किसी पौराणिक विद्वान्का अनुमान है कि द्वीप, समुद्र, आदि ये कृत्रिम हैं या अकृत्रिम हैं ! यों विवादमें निर्णयार्थ प्राप्त हो रहे द्वीप, पर्वत, आदिक (पद्म) किसी बुद्धिमान् कारण करके बनाये गये कार्य हैं (साध्य)। सित्रवेश यानी रचनाविशेष होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्त्रयदृष्टान्त) यहांतक कोई कह रहा है। प्रन्थकार कहते हैं कि उसका कहना अस्त्यार्थ है। क्योंकि ईश्वरके तुम्हारे इस आगम द्वारा प्राप्तिद्ध हो रहे ग्रारीरकरके मिलिवेशिवेशेषत्व हेतुका स्विभिचार हो जाता है। तुम्हारा माना हुआ वह आगम इस प्रकार है। ग्रुक्त यजुर्वेद संहिता १८ वा अस्याय उनीसवां मंत्र है कि ईश्वरके सब ओरसे चक्षुयें हैं, सम्पूर्ण ओर उसका मुख विद्यमान है, सब ओरसे उसकी बाहुयें हैं, विनर्कणा पूर्वक कहा जाता है कि अखिल ओरसे उसके पव है। जिस प्राणी के जे जे चक्षुः, मुख आदि हैं वे सब उस उस उपाधिवाळे परमेश्वरके ही हैं। यों सर्वत्र कश्च आदि होजाते हैं। पुण्य, पापीके, अनुसार परमाणुओं करके वह एक ही देव

आकाश और भूमि सबको अन्य साधनोंके विना बना रहा है। पंचभूतरूप उपादान अवयवों करके संगत करा देता है। यहां कोई दूसरे नैयायिक विद्वान यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके कोई शरीर नहीं हैं, जिससे कि हमारे हेतुका व्यक्षिचार दोष बलात्कारसे प्रेरा जाता है। वे इस अपने आगमको प्रमाण कर रहे है। श्वेताश्वतरोपनिषद्के तृतीय अध्यायमें १९ वां श्लोक है कि वह ईश्वर हायों से रहित हो रहा ही चाहे जिस छोटे या बड़े पदार्थकों पक्षड सकता है। पांगोंसे रहित हो रहा बड़े वेगसे दौड़ सकता है। आंखोंके विना सबको देख छेता है, कानोंके विना संपूर्ण शहरोंको छुन छेता है, वह सबको जानता है, उस ईश्वरका परिज्ञान करनेवाला कोई नहीं है। योगीपुरुष उसको सबका अपवर्ती प्रधानपुरुष कहते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उक्त आगमको प्रमाण माननेवाले उन नैयायिकोंके यहां माना गया शरीररहित ईश्वर भी उन द्वीप, समुद्र, आदिकी रचनामें निमित्तकारण सिद्ध नहीं होपाता है। क्योंकि ईश्वर टेहरहित है। जो जो देहरहित है वह वह द्वीप, आदिका निमित्तकारण नहीं, जैसे कि नैयायिकोंका स्वयंसंमत होरहा मुक्तात्मा निर्देह होनसे द्वीप आदिका निमित्तकारक नहीं है।

नतु च मुक्तात्मनामज्ञत्वात्र जगदुत्यत्तौ निमित्तत्वं ईश्वरस्य तु निर्देहस्यापि नित्यज्ञा-नत्वात्तिश्विमित्तकारणत्वमेवेति चेत्—

पुनः नैयायिकका अवधारण है कि भो महाराज, मुक्त आत्मा तो ज्ञानरहित अज्ञ हैं। क्योंकि मोक्ष अवस्थामें बुद्धि, सुख आदि गुणोंका विनाश होजाता है। अतः मुक्त आत्मा विचारा जगत् की उत्पत्तिका निमित्तकारण नहीं होसकता है। हां, ईश्वर तो देहरहित होता हुआ भी नित्य ज्ञानका अधिकरण होनेसे इस जगत्का निमित्तकारण हो ही जाता है। कर्त्ताके निकट ज्ञान होनेकी आवस्यकता है। पोंगा शरीर अकिचित्कर है। इस कारण यो अवधारण प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द स्वामीकी अग्रिमशार्तिक को सुनो—

नित्यज्ञानत्वतो हेतुरीश्वरो जगतामिति । न युक्तमन्वयासत्त्वाद्यतिरेकाप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

ईश्वर (पक्ष) तीनों जगत्के निर्माणका हेतु है (साध्य) क्योंकि उसका ज्ञान निर्ध है (हेतु) नित्यज्ञानवाळा ईश्वर जगत्को बना ळेता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कथन युक्तिपूर्ण नहीं। क्योंकि इस अनुमानमें अन्वयदृष्टांतका सद्भाव नहीं है। अन्वयदृष्टान्तके विना साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति भळा कहां निर्णात की जावेगी श आप नैयायिकोंके सिद्धान्त अनुसार एक ही व्यक्ति नित्य ज्ञानवान है, और वहीं जगत्का निर्माता है। उसीको तुमने पक्ष बना रखा है। ऐसी दशामें अन्वयदृष्टान्तका सद्भाव नहीं सम्भवनेस व्यतिरेककी भी असिद्धि हो जाती है। कारण कि अन्वयक्ती भित्तिपर व्यतिरेककी सामर्थ्य बहुत बढ जाती है। अर्थात्—यदि दृष्टान्तके विना ही चाहे जिस हेतुसे अन्य सन्य किसी मी साध्यकी सिद्धि कर छोगे, तब तो तुम्हारा दृष्टा उसका उसका रुपयोंका

सिंह हो जावेगा, इसके लिये यों अनुमान बनाया जा सकता है । मदीयोऽस्वकी लाक्षिकः विल-भाणगतिमस्त्रात्, खंजलाद् वा । विलक्षण लंगडी, क्ली, गति, अनुसार चलनेवाला होनेसे मेरा कंगडा टट्टू बहुमूल्य है ।

नतु नित्यज्ञानत्वादित्वेतस्य हेतोरन्वयासच्वेषि न न्यतिरेकासत्त्वं जगदकारणस्यास्मदा-देनित्यज्ञानत्वाभावादिति न मंतव्यं, ज्ञानसंतानापेक्षयास्मदादेरपि नित्यज्ञानत्वात् । न हि ज्ञानसामान्यरहितोस्मदादिः संभवति, विरोधात्। यदि पुनर्ज्ञानविशेषापेक्षया नित्यज्ञानत्वं हेतुस्तदा न सिद्ध इत्याह—

नैयायिक अपने मतका अवधारण करते इये कहते हैं कि यद्यपि हमारे '' नित्यज्ञानत्वात '' इस हेतके किसी दृष्टान्तमें अन्वयका सद्भाव नहीं है । क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त किसी भी व्यक्तिमें नित्य बानसे सिंहतपना नहीं पाया जाता है। तथापि हमारे हेत्के व्यतिरेकका असद्भाव नहीं कहा जा सकता है। " प्राणादिमत्त्र आदि " अनेक केवळव्यतिरेकी हेतुओंमें अन्त्रय नहीं होनेपर भी व्यति-रेक बड़ी प्रसन्ततासे सुखपूर्वक मिन्न जाता है । देखिये, जगतका निर्माण करनेमें कारण नहीं बन रहे हम आदि अनेक संसारीजीबोंके नित्यज्ञानवान्पनेका अभाव है। इस ढंगसे साध्यके नहीं होनेपर हेतुके नहीं ठहरनेसे अस्मदादिक ही व्यतिरेक्दछान्त ठहर जाते हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि हम आदिक अनेक जीवोंके भी ज्ञानसंतान अपेक्षा करके नित्यज्ञान सिहतपना विद्यमान है। इम आदिक जीव सोते, जागते, बैठते, उठते, मरते, जन्मते, कदाचित् भी सामान्यज्ञानसे रहित नहीं सम्भवते हैं । आत्माका ज्ञान रहितपनेके साथ विरोध है । विप्रहगति. मत्त मुर्चित, गर्भ, अण्डज, या मरणदशामें भी आत्माके ज्ञान पाया जाता है। अन्यथा लक्षणके नष्ट हो जानेसे उक्ष्य आत्मा जड बन बैठेगा । बहुत कहनेसे क्या फल है । आत्मा नष्ट ही हो जावेगा । शीतकाळ या हिम आदिका सिन्धान होनेपर अग्निमें स्वल्प उप्पता भळे ही रह जाय. किन्त उष्ण-ताका सर्वधा अभाव हो जानेपर वह अग्निपर्याय ही नहीं स्थिर रह सकती है। अतः अनादिकालभे अनन्तकालतक धाराप्रवाह चले आ रहे नित्य ज्ञानसे सहित अस्मदादिक संसारी जीव तम्हारे यहः सृष्टिकत्ती नहीं माने गये हैं। अतः जो जगत्निभीता नहीं वह नित्यज्ञानवान् नहीं, इस व्यति-रेकमें व्यभिचार आ जानेसे तुम नैयायिकोंका नित्यज्ञानत्व हेत् केवलव्यतिरेकी नहीं सिद्ध हो सका है। यदि फिर आप धाराप्रवाहरूप नित्यताको नहीं पकडकर ईश्वरमें विशेष व्यक्तिरूप ज्ञानकी अपेक्षासे नित्यज्ञानसहितपना हेत करोगे तब व्यतिरेक्टछान्त तो बन गया । किन्तु ईश्वरके ज्ञानका नित्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है। इसी बातको प्रन्थकार वार्तिक द्वारा कहते है।

बोधो न वेधसो नित्यो वोधत्वादन्यबोधवत् । इति देतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भुवः ॥ १२ ॥

विभाता माने गये ईस्वरका झान (पक्ष) नित्य नहीं है (साध्य) ज्ञान होनेसे (हेतु) अन्य जीवोंके झान समान (अन्वयद्यान्त)। इस प्रकार पक्षमें नहीं वर्त रहे नित्यझानत्व हेतुका। आसिद्रहेत्याभासपना हो जानेसे पृथ्वी, पर्वत, द्वीप, आदिका निमित्तकारण ईस्वर नहीं सध पाता है।

बोधत्वं च स्यादीश्वरबोधस्य नित्यत्वं च स्याद्विरोधाभाषादस्माद्दशविशेषत्वादिश्वरस्य विश्विष्टबोधापपत्तेः अन्यथा सर्वेद्वत्वसिद्धिविरोधात् इति काश्वित् । सोप्ययुक्तवादीः, तद्वोधस्य अमाणत्वे ततोऽपरस्य फळज्ञानस्यानित्यस्य तत्र प्रसिद्धरफळस्य प्रमाणस्यासम्भवात् । तस्य फळत्वे नित्यत्वविरोधात् । फळं हि प्रमाणकार्ये तत्कथं नित्यं युक्तं ? प्रमाणफळात्मकमीश्वरज्ञानमेकमित्यपि व्याद्दतं, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् तस्य स्वजननासंभवात् ।

यहां कोई नैयायिक यों प्रतिकृत तर्क उठता है कि ईश्वरके ज्ञानमें ज्ञानपना रहे और नित्य-त्वामाव साध्य नहीं रहे । अर्थात --- नित्यपना भी बना रहे, कोई त्रिरोध नहीं पडता है । कारण कि अस्मद् आदि अल्पञ्च जीवोंसे विलक्षण ईश्वर है । हमारे अनित्य ज्ञानसे उस ईश्वरका ज्ञान नित्य होता हुआ विशिष्ट क्षिद्ध होरहा है । अन्यथा यानी हम लोगोंकी अपेक्षा ईश्वरमें यदि विशेष अतिशय नहीं माने जाकर दूसरे सामान्य ढंगोंको अपनाया जायगा । तब तो सर्वब्रपनकी सिद्धिका विरोध होजायगा कारण कि हम छोग सर्वज्ञ नहीं हैं। बैसा ही अल्पज्ञ ईश्वर होना चाहिये। किन्तु जैनजन परमाःमाका सर्वडपना इष्ट करते हैं । उसीके समान ईश्वरके ज्ञानको नित्य भी अभीष्ट कर छिया जाय । अतः बोधत्व हेत्रसे ईश्वरका ज्ञान अनित्य नहीं समा, तब तो हमारे नित्यज्ञानत्व हेत्रसे यह जगत्का हेत संघ गया. इस प्रकार कोई ईरवरवादी कह रहा है। ग्रंथकार कहते हैं कि वह भी युक्तिशून्य बोळने की ठेव को रखनेवाला है, क्योंकि प्रमाके करण होरहे प्रमाणोंका फल अवस्य होना चाहिये। अब बताओ. वह ईश्वरका ज्ञान विचारा प्रमाणस्वरूप है ! या फलआत्मक है ! उस ईश्वरके नित्यज्ञानको यदि प्रमाण माना जायगा तो उससे न्यारे दूसरे अनित्य होरहे फळज्ञानकी उस ईस्त्ररमे प्रसिद्धि होजा-यगी । फलते रिहत होरहे प्रमाणज्ञानका असंभव है । द्वितीय पक्ष अनुसार यदि उसी एक ज्ञानको फल मान छोगे तो उस ज्ञानके नित्यपन का विरोध होगा। फल तो कारकोंका कार्य होग्हा अनित्य हुआ करता है। भछा प्रमाणके कार्य होरहे उस फलको नित्य कहना किस प्रकार युक्त होसकता है ? तुम ही विचार करो। तुम्हारा यह कहना भी व्याचात दोषयुक्त है कि ईश्वरका एक ही ज्ञान प्रमाण आत्मक है और फळखख्य भी है। स्याद्वादियों के यहां एक धर्मीमें प्रमाणल, प्रमेयल, प्रमातृत्व, प्रमाफलल आदि कतिपय धर्म अञ्चण्ण ठहर जाते हैं । किंतु तुम एकान्तवादियों के यहां करणत्व और फळत्वका विरोध है। तुम्हारे यहां **ईश्वरज्ञानमें प्रमाणता माननेपर फलल नष्ट हो जाता है। और फलपना माननेपर करणपना नष्ट हो** जाता है। " नैकं स्यस्मात्प्रजायते " अपनी आत्मामें अपनी उत्पत्तिरूप क्रियाका विरोध है। हां, इतिकियाका विरोध नहीं है। अतः उस प्रमाणआत्मक ईश्वरज्ञानसे स्वका उपजनारूप-फळक

असम्भव है। स्वयं अपनेसे अपनेमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस सिद्धान्तको हम स्याद्वादी मी अनेक युक्तियाँसे परिपुष्ट समझते हुये मानते हैं।

यदि धुनराश्वस्य प्रमाणभूतं क्रानं नित्यं, फलभूतं त्वनित्यमिति मतं, तदा ज्ञानद्वयप-रिकल्पनायां प्रयोजनं वाच्यं । तस्याश्वरीरस्य सृष्टुः सदा सर्वज्ञत्वसिद्धिः प्रयोजनिमिति चेन्न, अज्ञानरूपाया एव सिन्निक्षिदिसामग्रयाः प्रमाणत्वाभ्युपगमेपि सटा सर्वार्थक्ञानस्यानित्यस्य तस्फल्लस्य कल्पनात् सदा सर्वज्ञत्वसिद्धेर्च्यवस्थापनात् ।

यदि फिर वैशेषिक अपना मत यों कहे कि ईश्वरके दो जान हैं। प्रमाण हो रहा ज्ञान तो नित्य है और ईश्वरका ज्ञान फलभूत हो रहा अनित्य है, यों मन्तन्य होय तब तो आचार्य कहते हैं कि तुम वैशेषिकों को ईश्वरके दो ज्ञानोंकी प्रकल्पना करनेमें प्रयोजन कहना चाहिये। केवल एक ज्ञानवाले ईश्वरके ऊपर न्यर्थमें दो ज्ञानोंको बोझ लादना अनुचित है। यदि वैशेषिक यों कहें कि शरीररहित हो रहे उस सर्जनेवाले ईश्वरको सर्वदा सर्वज्ञपना सिद्ध होता रहे यही दो ज्ञानोंकी कल्पनाका फल है। एक करणज्ञान दूसरे फलज्ञानके स्वीकार कर लेनेसे ईश्वरका मर्वज्ञपना सदा रक्षित रह जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारे यहा मानी गयी अज्ञानस्वरूप सिन्कर्ष, इन्त्रियां, आदि सामग्रीको ही प्रमाणपना स्वीकार करनेपर भी सदा सर्व अर्थको विषय करनेवाले और उस सामग्रीके फलस्वरूप अनित्य ईश्वरज्ञानकी कल्पना कर लेनेसे सर्वदा ईश्वरके सर्वज्ञपन की सिद्धिकी व्यवस्था हो जावेगी। भावार्थ—ईश्वरज्ञानकी कल्पना कर लेनेसे सर्वदा ईश्वरके सर्वज्ञपन की सिद्धिकी व्यवस्था हो जावेगी। भावार्थ—ईश्वरज्ञान एक ही माना जायगा। सिन्कर्ष आकाश, काल, आदिसे उसकी सर्वदा उत्पृत्त होते रहनेसे सर्वज्ञपना साध लिया जाय, कोई क्षित नहीं पढती है। क्रूटस्थ हो रहे पदार्थों की अपक्षा सर्वदा अर्थिकया करते हुये उपज रहे पदार्थ परमार्थन्त समझे जाते हैं। हम नैनोंके यहां भी आकाश कालायु, केवल्ज्ञानावरण कमौंका क्षय, आदि जड कारणोंश परमात्माके सतत केवल्ज्ञानकी धाराप्रवाहसे उत्पत्ति होने रहनेपर परमात्माके सर्वज्ञता परिपूर्ण बनी रहती मानी गयी है।

नन्यश्वरिस्येद्रियसिश्वकर्षाभाववदंतः करणसिश्वकर्षस्याप्यभावात् सिश्वकर्षादिसामग्री-विरहे ततो अनादिसर्वार्थविषयं नित्यश्वानमेव तस्य प्रमाणमिति चेश्व, आत्मार्थसिश्वकर्षस्य प्रमाण-त्वोपगमात् । महेश्वरस्य हि सकुत्सर्वार्थसिश्वकर्षमात्रात्सर्वार्थज्ञानोत्पत्तिरिष्यते केश्वित् ततो न नित्यशानत्वं सिद्धं, येन न जगश्विमित्तर्पाश्वरो निर्देहत्वात् ग्रक्तात्मवदित्यनुमानं प्रतिहन्यत ।

नैयायिक विद्वान् आक्षेप करते हैं कि शरीररिहत ईश्वरके जब बहिरंग इन्द्रिया या अन्तरंग इन्द्रिय नहीं हैं तो इन्द्रिय सिनक्षिक्ष्य सामग्री न होनेसे और अन्तरंग इंद्रिय कहे गये मनके साथ भी पदार्थीका सिनक्ष्य नहीं होनेसे सिनक्ष्य, परामर्श, आदि सामग्रीका विरह है, ऐसा होनेपर ईश्वरमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तिस कारण अनादिकाळसे सम्पूर्ण पदार्थीको विषय कर

रहा नित्यज्ञान ही उस ईश्वरका प्रमाण है । ईश्वरज्ञानको अनित्य माननेपर अनेक झगडे उठ बैठेंगे । श्री विषानन्द स्वामी समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि तुम्हारे यहां आत्मा और अर्थक सिनिकर्षको प्रमाणपना स्वीकार किया गया है । कही सुवर्ण आदिमें आत्मा, मन, इन्द्रिय, अर्थ, चारोंका सिन्धर्ष होकर ज्ञान उपजता माना है । किसी सुख आदिका मन अर्थ और आत्माके त्रय सिनिकषेते ही ज्ञान उपज जाता है । किचित् अर्थ और आत्माके हुये सिन्कर्षते ही ज्ञानोत्पत्ति मानी गयी है । तुम्हारे यहा प्रमितिके करण स्वीकार किये गयं सिनिकर्षको प्रमाण इष्ट कर छिया है । व्यापक और नित्य हो रहे महेश्वरका एक बार ही सम्पूर्ण अर्थोंके साथ सिन्कर्ष हो जानेसे सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाना किन्हीं नैयायिक विद्वानोंने अभीष्ट कर छी है । तिस कारण ईश्वर का ज्ञान नित्य नहीं सिद्ध हो सका, जिससे कि ईश्वर (पक्ष) जगत्का निमित्त कारण नहीं है (साध्य) शरीररहित होनेसे (हेतु) मुक्त आत्माके समान (अन्वयद्द्यान्त), यह हमारा अनुमान प्रतिचातको प्राप्त हो जाता । भावार्थ—नैयायिकोंने देहरहित भी ईश्वरको नित्यज्ञानकी सामर्थ्यद्वारा जगत्निर्माता माना था । किन्तु ईश्वरका ज्ञान उनके बूते नित्य नहीं सिद्ध हो सका । अतः निर्देहल हेतुले ईश्वरमें जगत् निमित्तपनके अभावको माधनेवाला हमारा अनुमान अप्रतिहत है । नित्यज्ञानसे रहित कोई भी जीव देहरहित होता हुआ मुक्तआत्माके समान जगत्का निर्माता नहीं है ।

कालादेरशरीरस्य कार्योत्पत्तिनिमित्तता । सिद्धेति व्यभिचारित्वं निर्देहत्वस्य चेन्मतं ॥ १३ ॥ न तस्य पुरुषत्वेन विशिष्टस्य प्रयोगतः । कालादेरशरीरत्वेश्वरत्वाव्यभिचारतः ॥ १४ ॥

नैयायिक कहते हैं कि शरीरराहित भी आकाश, काल अदृष्ट आदिको यावत् कार्योकी उत्पत्ति में निमित्तकारणपना सिद्ध है । इस कारण तुम जैनोंका निर्देहत्व हेतु व्यभिचारहेत्वाभास दोषसे सिहत है, ऐसा मन्तव्य होनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। क्योंकि वह केवल "निर्देहत्व" इतना ही हेतुका शरीर नहीं है । किन्तु पुरुपपने करके विशिष्ट हो रहे उस निर्देहत्व हेतुका प्रयोग किया गया है । अतः काल आदिक्से व्यभिचार दोष नहीं है । क्योंकि कालादिक्में अशरीरत्व है । किन्तु विशिष्टपुरुष (ईस्त्रर) पना नहीं है । कालादिक्में शरीररिहत ईस्त्ररपनका व्यवहार नहीं होता है । अतः कालादिमें हेतुका पूरा शरीरघटित नहीं होने व्यभिचारदोष नहीं फटक पाता है ।

देहािकाष्कांतो निर्देदः पुरुषिविशेषो महेश्वरस्तस्वनिर्देद्दपुरुषस्वं ततः पुरुषस्व सित निर्देद्द-त्वादिति पुरुषत्वेन विशिष्टस्य निर्देद्दत्वस्य,पयोगात्र कालादिना सर्वकार्योत्पत्तिनिमित्तेनाश्वरीरेण व्यभिचारित्वं यते।ऽपतिहतमिदमनुमानं न स्यादशरोरेश्वरजगिष्ठिमित्तत्वाभावसाधनं। किं च--- दमारे निर्देहल हैतुके पेटमें ही पुरुषिवशेषपना घुसा है । जैसे कि अज्ञानी कह देनेसे पर्यु-दासहित करके जीव उसके पेटमें घुसा हुआ है । अज्ञानी कोई डेल नहीं होता है । देहसे जो निष्कांत हारहा है वह विशेषपुरुष महेकार निर्देह है " निरादयः कान्ताधर्थे पंचम्याः " इससे वहां तत्पुरुष समास होजाता है । उस निर्देह पुरुषके भावको निर्देहपुरुषल कहते हैं । " भावे त्वललो " भावमें त्व प्रत्यय कर दिया गया है । तिस कारण " पुरुषत्वे सित निर्देहत्वात् " पुरुष होते हुये निर्देहपना इसना हेतु बना है । इस पुरुषत्व करके विशिष्ट होरहे निर्देहत्व हेतुका प्रयोग कर देनेसे सर्व कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्त माने जारहे किन्तु शरीररिहत जड़ काल, आकाश, आदि करके हेतुका व्यभिचार दोष नहीं आता है । जिससे कि हम कैनोंका यह अशरीर ईस्वरमें जगत्के निमित्तपनके अभावको साधनेवाला अनुमान अप्रतिहत (अकाट्य) नहीं होजाय । अर्थात्—हमारा अनुमान निर्देश है । दूसरी बात एक यह भी है, उसको अगली वार्तिकसे छुनो ।

जगतां नेश्वरो हेतुरज्ञत्वादन्यजंतुवत् । न ज्ञोसावशरीरत्वान्युक्तवत्सोन्यथा सवित् ॥ १५॥

ईस्वर (पक्ष) तीनों जगत्का निर्माणकर्त्ता हेतु नहीं है (साध्य) अज्ञ होनेस (हेतु) अन्य जंतुओंके समान (अन्वयद्दष्टान्त) इस अनुमानका हेतु पक्षमें ठहर जाता है। अतः असिद्ध हेत्वाभास नहीं है | देखिये, वह ईश्वर (पक्ष) ज्ञाता नहीं है (साध्य) शरीररहित होनेसे (हेत) मुक्त आत्मा के समान, अन्यथा यानी शरीररहित भी ईश्वरको यदि ज्ञायक मान लिया जायगा तो वह मुक्त आत्मा भी ज्ञानी बन बैठेगा । अर्थात्—वैशोषिकोंने मोक्ष अवस्थामें आत्माके बुद्धि आदि नौ विशेष गुणीका अत्यन्त उच्छेद इष्ट कर छिया है। '' नवानामात्माविशेषगुणानामन्यन्तोच्छेदो मुक्तिः ''। कोई विद्वान् यों भी वखानते हैं " एकविंशतिदु:खध्वेसी मोक्षः "। छह इन्द्रियां, ६ छह इन्द्रियोंके विषय १२ और ६ इन्द्रियोंके ज्ञान १८ सुख १९ दुःख २० और शरीर २१ यों इक्कीस दःखोंका मुक्ति अवस्थामें विनाश होजाता है। यद्यपि वट, डेल आदि पदार्थीमें आत्मसंबंधी नी विशेष गुण या इकीस दुःख नहीं हैं। अतः घट आदिको भी मुक्तपनेका आतिप्रसंग यों नहीं होसकता है कि मोक्ष अवस्थामें गुणोंका या दुःखों का व्वंस उपजना चाहिये। प्रति योगियोंका प्रथम सद्भाव होने पर तो पुनः उनका ध्वंस हो सकता है। किन्तु घट आदिमें ज्ञान आदि गुणों या दःखींका प्रथमसे ही अत्यन्ताभाव है। अतः अतिव्यापि दोष नहीं आता है। जैनोंके यहां भी इस अतिप्रसंगके निवारणार्थ कर्मोंके ध्वंसको मोक्ष मानते हुये इसी उपायका अव-कम्बन लिया जा रहा है। तभी डेल, घडा, आदिमें मुक्तपनका अतिप्रसंग टल सका है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंके यहां मुक्ति अवस्थामें आत्मा शरीररहित होता संता ज्ञानरहित भी हो जाता है। इसी मुक्तद्यान्तके अनुसार शरीररहित होनेसे अज्ञ बन गये ईस्वरकाके जगत्का निर्माण

महीं हो सकना साध दिया जाता है। यहा इतना और समझ ठेना चाहिये कि क्षेय और झनवान्में अन्तर है। " जानाित इति इः " जो आत्मा निज झानपिरणितिके साथ तदात्मक हो रहा सन्ता जानता है, वह इ है। वैशेषिक और नैयायिक विद्वान् तो गुण और गुणीका भेद मानते हैं। उनके यहां " इ " शद्ध ही अलीक है। वे दण्डवान् पुरुषः के समान झानवान् आत्मा यों कह सकते हैं। आत्माका गाठका निजन्त्ररूप झान नहीं हैं। ऐसी दशामें केवल ईश्वर या मुक्त आत्मायें ही नहीं, किन्तु सभी जीवोंकी आत्मायें अझ ठहरती हैं। जो मूल स्वरूपसे अझ है आकाशके समान वह झानके योगसे भी " इ " नहीं हो मकता है। अतः आचार्योकी ओरमे कहा गया अझपना हेतु सामिप्राय है।

एतेनाांनत्यज्ञानत्वेपीश्वरस्य ज्ञात्वा जगिभिमित्तत्विसिद्धेर्ने मुक्तात्मवत्तदिनिमित्तत्विमित्ते तिभिरस्तमशरीरस्य, तन्मते सर्वथाप्यज्ञत्वात् । तस्य ज्ञत्वे मुक्तात्मनोपि ज्ञत्वप्रसंगाद्धि-श्रेषाभावात् ।

इस उक्त कथन करके वेदोषिकोक इम कथनका भी निराकरण किया जा चुका समझ छो कि अनित्य ज्ञानसे युक्त हो रहे भी ईर्यरको कारणोका परिज्ञान कर जगत्का निमित्तपना सिद्ध हो जाता है। इस कारण मुक्त आत्माक समान ईर्यरको उस जगत्का अनिमित्तपना नहीं है। अर्थात् मुक्त आत्मा तो सर्वथा ज्ञानसे रहित है। किन्तु ईर्यर अनित्यज्ञानसे युक्त है। अतः जगत्का निमित्तकारण हो सकता है। इस वैज्ञेषिकोंके भवका निराकरण यों हा जाता है कि उनके मतमें शरीररहित आत्माको सभी प्रकारिसे अज्ञ माना गया है। यदि अशरीर भी उस ईस्वरको ज्ञ माना जायगा तब तो मुक्त आत्माको ज्ञ-पनेका प्रतंग होगा। क्योंकि ईर्यर और मुक्त आत्मामें विशेषाधायक अन्तरका अभाव है।

सदेहबुद्धिमद्धेतुर्दष्टांतोपि घटः कथं । निर्देहबुद्धिमद्धेतौ साध्ये जगति युज्यते ॥ १६ ॥

जगत्में निमित्तकारण माने गये देहरहित बुद्धिमान्को साध्य करते संते मछा देहसहित बुद्धिमान्, कुछाछको अपना हेतु मानकर उपजा घट दृष्टान्त भी किस प्रकारसे युक्त हो सकता है । अर्थात्—साध्यकोटिमे देहरहित बुद्धिमान् है और चटदृष्टान्तकी सामध्येसे देहसहित बुद्धिमान् निमित्तकारण सध जायगा । ऐसी दशामें हेनुके चिरुद्धहेत्वामास हो जानेकी सम्भावना है ।

धीमद्भेतुत्वसामान्यं साध्यं चेनिविशेषकं। नानाधीमन्निमित्तत्वसिद्धेः स्यात् सिद्धसाधनम् ॥ १७॥ नानात्मपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तकं। सिद्धं दीदं जगत्तस्य तद्भोग्यत्वप्रसिद्धितः॥ १८॥

वैशेषिक यदि विशेषोंसे रहित केवल बुद्धिमान हेतुसे जन्यपन सामान्यको साध्य करेंगे तब तो जगत्का निमित्तपना नानाबुद्धिमानोंको सध जायगा । ऐसी दशामें वैशेषिकोंके उत्पर सिद्धसाधन दोष छगा । अर्थात् -- धूम हेतु द्वारा जैसे तृणसम्बन्धी पत्तोंसम्बन्धी और घास या घीकी आग इत्यादि विशेषताओंको नहीं कर कोरे अग्निसामान्यको साधा जाता है, उसी प्रकार जगतका निर्माण कर्त्ता सामान्यरूपसे बुद्धिमान साधा जाता है। सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, बहुज्ञता, मतिज्ञानीपन, प्रत्यक्ष-जानीयन आदि विशेषताओंको नहीं खोला गया है। यो मान लेनसे वैशेषिकोंके ऊपर आये हये पूर्व कटाक्षोंका तो निवारण तो होजाता है। किन्त बृक्ष, शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यजगत्के निर्माणकर्ता अनेक आत्माओं की सिद्धि बन बैठती है हम स्याद्वादियों के यहां वक्ष, फल, फल, आदिको पौद्रालिक नामकर्मकी प्रेरणा अनुसार बनानेवाले उनमें निवास कर रहे जीव ही माने गये हैं। देवदत्तकी आत्मा देवदत्तके शरीरको बना छेती है। चींटीकी आत्मा चींटीके शरीर, अवयव, इन्दियां, रक्त, धात. मल आदिको बना लेती है। पौद्रलिक अदृष्ट या अन्यपदार्थ भी भले ही उपादान कारण या निमित्त कारण हो जांय. गर्भमें ही पत्नीके शरीरको बनानेमें पतिका अदृष्ट निमित्त होजाय. किन्त कर्ता स्वरूप निमित्त कारण वे वे जीव ही पडते हैं । अतः हमारे माने हुये सिद्धांतको ही तुम अनुमान द्वारा साध रहे हो. तम पर यह सिद्धसाधन दोष हुआ । यह जगत् (पक्ष) अनेक आत्माओं के नैमित्तिक परि-णामों नामक भावकर्मको निमित्त मानकर उपजा सिद्ध होरहा है (साध्य) क्योंकि उस जगत्को उन अनेक आत्माओं के भोग्यपनकी प्रसिद्धि होरही है (हेतु) वैशेषिकोंने भी संपूर्ण कार्योंके प्रति साक्षात् या परंपरया अदृष्टको निमित्तकारण अभीष्ट किया ही है। एकेन्द्रिय, दीन्द्रिय, सभी जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वोपार्जित कर्मोंकी सामर्थ्य अनुसार अंतरंग, बहिरंग, अनेक कार्योंकी बना छेते हैं। दीमक अच्छा घर बना लेती है, चिडिया उत्तम घोंसला बना लेती है, चौ इन्द्रिय जीव घरघुळी मिट्टीका संदर घर बना लेती है। महलोंके समान इन घरोंमें भी द्वार, बच्चोंके स्थान, सोने, बैठनेके स्थल, खाद्य सामग्रीके एकत्रित करनेके स्थान, विपत्तियोंसे बचे रहनेके उपाय ये सब क्षद्र कीटों द्वारा बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक निजपुरुषार्थ द्वारा बना छिये जाते है । ज्ञान या ज्ञानी सभी कार्यीको बना डाळता है। हिताहितप्राप्तिपरिहार कर लेता है। आत्मा अपनी पर्याप्ति शक्तिद्वारा शरीर, इन्द्रिय, आदिको बना हेता है। काल, आकाश, आदिको निमित्त पाकर और भावकर्मीको प्रेरक निमित्त पाकर यह आत्मा अनेक चमत्कारक कार्योको बातकी बातमें बना डाळता है । इसमें कृतकृत्य ईश्वरको घसीटनेकी कोई आवस्यकता नहीं है। संपूर्ण जगत्को अनेक बुद्धिमान् बना डाळते हैं, जैसे कि प्रत्येक पुरुष व्यक्ति अपने अपने भूत्र, मल, रेचन, भोजन, गमन, आदि कार्योको बना छेता है. अथवा प्रत्येक गृहस्य अपनी गृहस्य उचित क्रियाओंका स्त्रयं विधाता है। सिपाई या राजा अपने कर्त्तन्योंको पाल रहे हैं। उसी प्रकार अनेक कार्योका पिण्ड होरहा यह जगत भी अनेक आत्माओं करके ही बना लिया जाता है। प्रायः सभी कार्य पदार्थ किसी न किसीके अदृष्ट द्वारा बनाये जाकर साक्षात् या परंपरया भोग्य बने हये हैं ।

न हि धीमदेतुत्वमात्रं जगतां पर्यायार्थादेश्चादभ्युपगच्छतः स्याद्वादिनोऽपसिद्धांतः, सिद्धांतेपि नानामाणिपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तजगद्यवस्थितेः अन्यथा जगतस्तदुपभोग्यत्वविरोधात् ।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे तीनों या संपूर्ण जगतुके सामान्यरूप करके हेतु होरहे नाना बुद्धिमानीको स्वीकार करते हुये स्याद्वादी पण्डितके यहां कोई अपसिद्धांत दोष नहीं है। अर्थात्— बुद्धिमान् जीवोंको जगत्का कारण मान छेनेसे स्यादादीका अपने सिद्धांतसे स्वलन नहीं होजाता है। क्योंकि जैनसिद्धांतमें भी अनेक प्राणियोंके परिणामसंज्ञक भावकर्मीको निमित्त पाकर जगत निर्मा-णकी न्यवस्था की गई है। अन्यथा यानी अनेक प्राणियोंको निमित्त नहीं मानकर यदि जगत्के कारण को दूसरे ढंगका माना जायगा तो जगत्को उन प्राणियोंके उपभोग करने योग्यपनका विरोध होजा-वेगा । बात यह है कि आत्माके पद्रलखरूप कर्मोंको निमित्त पाकर हुये परिणाम भी चेतन आत्मक भावकर्म हैं । क्योंकि क्रोध, गति, वेद, उत्साह आदि भावकर्मीका उपादानकारण आत्मा ही तो है । अतः आत्मा चाहे स्वपुरुषार्थसे अथवा भले ही स्वकीयपरिणाम होरहे भावकर्मीसे कार्योको करे. उन सर्व कार्यीका यथायोग्य भोग कर छेता है। " कर्त्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यात्"। जो ही कर्त्ता है वही भोक्ता है। एक स्त्री यदि दश मनुष्योंकी रसोई बनाती है तो। भल्ने ही वह दशवें भागका। उपभोग करती है। फिर भी गृहस्थसम्बन्धी कर्त्तच्य या प्रेमप्राप्ति, यशः आदिका आनंद परा के छेती है। कुम्हार हजारों घडोंको बनाता है, सूचीकार (दर्जी) सैकडों कपडोंको सीवता है। सुनार दूसरोंके वीसों भूषणेंको रचता है। ये सब शिल्पकार उनका पारिश्रमिक व्यय यानी मूल्य प्राप्त कर उन कार्योंको भोग लेते है । कोई नि:स्वार्थ देशसेवक या परापकारी साब अथवा औषधदानी वैद्य यदि अनेक कार्योका संपादन कर रहे हैं तो उनको भी निःस्वार्थसेत्रा, स्वकत्तंन्यपालन, स्वदेशीय अभि-मान, यशःप्राप्ति, पण्यसंचय, आदि उपभोगोंकी प्राप्ति विना चाहे ही होजाती है। अकामनिर्जरा भी होजाती है। यदि किसीको स्वकृतकार्योका उपभोग न भी मिछ सके तो हमारी यह व्याप्ति नहीं बनी है, जो जिसका कार्य है वह कार्य उसका उपभोग्य अवश्य है । हमने तो अनेक स्थलों पर वैसा देखकर स्वरूपकथन कर दिया है। अन्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं बना दिया है। दो. चार. स्थलपर घटित होजानेसे ही हमारा प्रयोजन सध जाता है । कार्यका अपने कारणोंके साथ अन्वयन्यतिरेक है। व्यापक, अशरीर,नित्य, ईश्वरके साथ कार्यीका अन्वयव्यतिरेक नहीं है। एतन्मात्र हमें सुझाना है।

> सशरीरः कुळाळादिः कुर्वन् दृष्टो घटादिकं । स्वयमात्मा पुनर्देहमशरीरोपि विश्वतः ॥ १९ ॥ सदेहेतरसामान्यस्वभावो जगदीश्वरः । करोतीति नु साध्येत यदा दोषस्तदा क सः ॥ २० ॥

इत्येके तदसंबंधं स्वशरीराणि कुर्वतां । शरीरांतरसंबंधात्मनां स्यान्यस्या किया ॥ २१ ॥ परापरशरीराणां कल्पनान्नानवस्थितिः । तेषामनादिसंबंधात्कार्यकारणभावतः ॥ २२ ॥

यदि वैशेषिक यों कहे कि कुम्हार, कोली आदि आत्मायें शरीरसाहित होरही घट आदि कार्योको करती हुयी देखी गयी हैं और फिर जन्मकी आदिमें स्वयं अशरीर होता हुआ भी आत्मा नवीनदेहको बना रहा प्रसिद्ध होरहा है। अतः जगत्का निमित्तकारण बुद्धिमान् आत्मा है। यहां देह सहित और देहरहित दोनों प्रकारके विशेष जीवोंमें वर्तरहे सामान्य स्वभावको धार रहा ईश्वर जगत्को बना रहा साधा गया है। साध्यकोटिमें देहसहित या देहरहित ऐसी कोई विशेषता नहीं डाछ दी है। भावार्थ--कार्योको बनानेमें कत्तांका शरीरसहितपना और शरीररहितपना उपयोगी नहीं है। जारीर-सिंहत आत्मा भी अनेक कार्योंको कर देते हैं, और शरीररिहत भी आत्मा पहिले पहिले नये शरीरको या ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नीको बना देता है । अतः दोनों प्रकारकी आत्माओंका सामान्य स्वभाव होरहे आत्मत्वधर्मसे युक्त बुद्धिमानको हम वैशेषिक जगत्का कर्ता साध रहे हैं। भले ही दृष्टान्तमें शरीरसिंहत कर्त्ता होय और दार्छान्तमें अन्य प्रमाणों करके वह कर्त्ता अशरीर साध दिया जाय. हमारी कोई क्षति नहीं है। ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्नके साथ कर्त्तापनकी न्याप्ति है। शरीरसहितपन और शरीर-रहितपन कोई कर्त्तापनके प्रयोजक नहीं हैं । देखिये " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् महानसवत् ,, दृष्टान्त होरहे रसोई घरमें उक्कडोंकी आग है और पर्वतमें सूखे तृण या पत्तोंकी आग सुलग रही है। किन्तु सामान्य अग्निको साध्य करने पर कोई दोष नहीं आता है। इसी प्रकार यहां भी सामान्य स्वभाववाछे बुद्धिमान्को जब अनुमान द्वारा साधा जावेगा तब तुम जैनोंकी ओरसे दिया गया सिद्धसाधन दोष कहां आया ! अर्थात -- हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष छागू नहीं है । तुम्हारे यहां असिद्ध होरहे पदार्थको इम साथ रहे हैं, तुम्हारे यहां सिद्ध होरहे ही को इम नहीं साथ रहे हैं, यहांतक कोई एक वैशेषिक पण्डित कह चुके हैं। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंका वह कहना संबंधयोज-नासे शून्य है। असम्बद्धप्रछापी होनेसे उनके पूर्वापरवचनोंकी संगति ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि पूर्वकालीन अन्य सूक्ष्मरारीरोंके साथ संबंध रख रहे आत्माओंकी ही अपने शरीरोंको करते संते किया होसकती है। अन्य प्रकारोंसे यानी शरीररहित आत्माओंकी किया अपने नवीन शरीरको बनानेके िये नहीं होसकती है । जैसे कि स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरोंसे रहित होरहा मुक्त आत्मा पुन: अपने शरीरोंको नहीं बना सकता है। शरीररहित आकाश भी निजके पौद्रलिक शरीरका निर्माण नहीं कर पाता है । बीजांकुरधाराकरके अनादिकाउसे जला आया छिलकासहित धान ही उपज

सकता है। एक बार छिलका निकाल देनेपर वह धान्य पुनः नहीं उग सकता है। इसी प्रकार अनादिकालसे कार्यकारणप्रवाहकरके कर्म नोक्तमींद्वारा सशरीर हो रहा आत्मा ही उत्तरीत्तर अनेक शरीरोंको बना लेता है। कर्म, नोक्तमें, शरीरोंसे रहित हो गये शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी पुनः शरी-रोंको नहीं रच पाते हैं। यदि यहां कोई अनवस्था दोष उठावे कि आत्मा इस वर्तमान शरीरको पूर्व शरीरसे सिहित होकर बनावेगा और उस पूर्व शरीरको उससे भी पहिलेके शरीरसे सम्बन्धी होकर बनावेगा। यों पर, अपर, अनेक शरीरोंकी परिकल्पना करनेसे महान् अनवस्था दोष आता है। प्रन्थ-कार कहते हैं कि ऐसी अनवस्था दोषस्वरूप नहीं है। प्रत्युत गुण है। क्योंकि आत्माके साथ कार्य-कारणमावमुद्रासे उन शरीरोंका अनादिसे सम्बन्ध होता चला आ रहा है, जैसे कि बीज वृक्ष या अण्डा मुर्गी इनमें अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोष नहीं आते हैं। मूलको नष्ट करनेवाली अनवस्था तो दूषण है। किन्तु मूलको पुष्ट करनेवाली या अल्लपरम्पराको बढानेवाली अनवस्था मूषण है। अतः युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि शरीरसिहत आत्मा ही अन्य शरीरोंको बनाता है। अतः तुम्हारे बुद्धिमान् कर्त्ताको साधनवाले अनुमानमें घटदछान्तकी सामध्यसे सशरीरकर्त्ता ही सिद्ध हो पायगा। अशरीर नहीं और सामान्य बुद्धिमानोंको साध्य कोटिमें घरनेपर नाना बुद्धिमानोंको निमित्त-पना सिद्ध हो जानेसे सिद्धसाधन दोष तुम वैशेषिकोंके ऊपर वैसाका वैसा ही अवस्थित बना रहता है।

पूर्वमतज्जुत्वे नरस्य ।

कोई भी जीव पूर्वशरीरके विना अन्य शरीरोंको नहीं बना सकता है। यदि शरीर बनानेके पूर्वमें आत्माको शरीररहित माना जायगा तब तो—

मुक्तस्येव न युज्येत भूयोन्यतंतुसगतिः। पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं धर्माधर्मयोर्बुद्धिवत् ॥ २३ ॥

मुक्त आत्माके समान इस संसारीजीवका पुनः बहुतसे अन्य शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना नहीं उचित हो सकेगा। अशरीर आत्मा फिर परतंत्र नहीं हो। सकता है। यदि वैशेषिक यों कहें कि अशरीर होता हुआ भी आत्मा अपने अदृष्टंस्त्रक धर्माधर्म गुणों करके परतंत्र हो रहा बन्धनबद्ध हो जाता है, इसपर आचार्य कहते है कि जैसे आत्माका ज्ञानगुण आत्माको पराधीन नहीं करता है, उसी प्रकार आत्माके तुम्हारे यहां माने गये धर्म, अधर्म, गुण भी आत्माको परतंत्र बनानेके निमित्त नहीं हो सकते है। यदि अपने ही अंग, स्वभाव या गुण अपनेको पराधीन करने लगे तो सम्पूर्ण पदार्थ अपने स्वरूपोंका परित्याग कर बैठेंगे।

सा यद्यदृष्टसद्भावान्मता तस्य तु सिष्वतु। पूर्वं कर्मशरीरेण संबंधः परवित्रहात्॥ २४॥ यदि वह संसारी जीवोंकी परतंत्रता वैशेषिकोंके यहां धर्म, अधर्मस्वरूप अदृष्टका सद्भार होनेसे मानी जायगी तब तो उस आत्माके पिहुले कर्मशरीरके साथ सम्बन्ध सिद्ध हो गया, (हो जाओ) और वह कर्मका सम्बन्ध उससे भी पिहलेके दूसरे शरीरसे प्राप्त होकर सम्बन्धित हुआ समझा जायगा, यों जैनसिद्धान्तके सदृश तुमको भी मानना पढ़ेगा।

शरीरमात्मनोऽदृष्टं पुद्गलात्मकमीरितं । सर्वथात्मगुणत्वेस्य पारतंत्र्यानिमित्तता ॥ २५ ॥

आत्माका कर्मशरीर जो अदृष्ट माना गया है, वह पुद्रक्रस्त्र कहा गया है। यदि इस अदृष्टको सर्वथा आत्माका गुण माना जायगा तो अदृष्टको इस आत्माके परतंत्र होनेमें निमित्त कारण-पना नहीं सध सकेगा। द्रव्यको वैसाका वैसा ही अनादि, अनन्त, जीवित रखनेवाले गुण हुआ करते हैं। अपने हाथ, पांव, पेट ही यदि अपनेको फंसाने लगें तो ऐसी दशामें कोई पुरुष जीवित नहीं रह सकता है। बाद ही खेतको खा जाय तो रक्षा कौन कर सकता है।

न हि सर्वथात्मगुणत्वे धर्माधर्मसंइकस्यादृष्टस्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वं युक्तं बुद्धिवत् । इच्छाद्देषयोरात्मगुणत्वेप्यात्मपारतंत्र्यानिमित्तत्वसिद्धेर्युक्तमेवेति चेन्न, तयोः सर्वथात्मगुणत्वा-भावात् कर्मोद्यनिमित्तत्वेन भावकर्मत्ववचनात् । तयोरेवात्मपारतंत्र्यस्वभावत्वाच न पार-तंत्र्यनिमित्तत्वं । मोहविशेषपारतंत्र्य एव हि पुरुषस्येच्छाद्देषौ तद्परतन्त्रस्य कविद्मिछाष-द्वेषासंभवात् । ततो न धर्माधर्मौ पुरुषगुणौ पुरुषपारतंत्र्यनिमित्तत्वान्मोहविशेषान्निगछादिवत् । किं तिर्हं ? पुद्रछपरिणामात्मकौ तौ तत एव तद्वत् पुद्रछपरिणामविशेषात्मकत्त्वाचादृष्टस्यात्म-शरीरत्त्वग्रुपगतिमिति नौदारिकादिशरीरसंवंधात्पूर्वमदृष्ट्वशवर्त्यात्मा निर्देहो युक्तः । यस्तु निर्देहो ग्रुक्तात्मा स न कस्याच्छरीरस्यारंभको भवति यतस्तद्ददीश्वरोपि जगतोऽहेतुः स्यात् ।

यदि धर्म, अधर्म, इस संज्ञाको धारनेवाले अदृष्टको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुण होना माना जायगा तो उस अदृष्टको आत्माकी परतंत्रताका निमित्तकारणपना समुचित नहीं पड़ेगा, जैसे कि आत्माके गुण होरही बुद्धि उसी आत्माके "सिनपातपरिभाषा" अनुसार परार्थीन नहीं कर दालती है। यदि वैशेषिक यों कहे कि इच्छा और देषको आत्माका गुणपना होते हुये भी आत्माकी परतंत्र-ताका निमित्तपना सिद्ध होरहा है, जैनोंके यहां भी इच्छा और देषकरके संसारी आत्माओं के कर्म बन्ध होरहा अभीष्ट किया है। इस कारण धर्म अधर्म गुणोंको भी आत्माकी परतंत्रताका निमित्तपना युक्तिपूर्ण ही है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन इच्छा देषोंको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुणपना नहीं है। कमीके उदयको निभित्त पाकर हुये उन इच्छा और देषोंको भावकर्मपनेसे

निरूपण किया गया है। औदियक भाव आत्माके गुण नहीं हैं। गुण तो त्रिकालवर्ती, अनुजीवी, होते हैं। अपने आत्मलागमें दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं करते हैं। पुण्य, पाप, या क्रोध,इण्ला, द्वेष आदि औदयिकभावोंको आत्माका गुण कहन। गुणशहका भारी तिरस्कार करना है। दसरी बात यह है कि परिपूर्ण चारित्रस्वरूप आत्माकी राग, द्वेष, मोड, इच्छा आदि विभावों करके परिणति होजाना ही तो परतंत्रता है। अतः आत्माके विभावपरिणाम इच्छा और देष तो परतंत्रम्वभाव ही हैं। परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं। मोहनीय कर्मकी कोध, लोभ, रति, अरति आदि विशेषप्रकृतियोंके उदयसे हुई विशेष मोहस्वरूप परतंत्रता ही तो आत्माके इच्छा और द्वेषपरिणाम हैं। जो क्षीणमोह आत्मा उस मोहनीय कर्मविशेषके पराधीन नहीं है, उसके कहीं भी अभिलाषा और द्वेष नहीं सम्भवते हैं। तिस कारणसे यों अनुमान बना कर सिद्ध कर दिया जाता है कि धर्म और अधर्म (पक्ष) आत्माके गुण नहीं हैं। (साध्य) आत्माकी परतंत्रताके निमित्त कारण होनेसे (हेत्) सांकल, लेज, वशी-करण चूर्ण आदिके समान (अन्वयद्यान्त)। इस युक्तिसे धर्म, अधर्म या इच्छा देप ये आत्माके परिणाम नहीं सब पाते हैं। तब तो यह अदृष्ट क्या पदार्थ है ? इसका समाधान यह है कि वे धर्म अधर्म (पक्ष) पुद्रलद्रव्यके परिणामस्त्ररूप हैं (साध्य)। उससे ही यानी आत्माके परतंत्रपनका निमित्त कारण बन रहे होनेसे (हेत्) उसीके समान यानी सांकल, जाल, पींजरा आदिके समान (अन्वयदृशन्त) । इस अनुमान द्वारा अदृष्टको पुद्रलका परिणाम साथ दिया है, जैसे कि यह स्थल शरीर पुद्रलका परिणाम होनेसे आत्माका गुण नहीं होता हुआ आत्माका बहिरंगशरीर साना जाता है. उसी प्रकार पद्रलद्रव्यका विशेष परिणामस्यरूप होनेसे अदृष्ट भी आत्माका सक्ष्मशरीर स्वीकृत कर लिया जाता है । इस कारण जन्मते समय औदारिकादि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे पाईले अदृष्टके वरामें वर्त रहा यह आत्मा सर्वथा। देहरहित ऋहा जाय यह युक्तिपूर्ण नहीं है। अर्थाव--देह रचनेके पहिले भी आत्मा अदृष्ट नामक मुक्ष्मशरीरसे युक्त हो रहा सशरीर है। निःशरीर नहीं है। हा, जो मुक्त आत्मा स्थूल, सून्म, सभी देहोंसे रहित है वह तो किसी भी शरीरका आरम्भ रच देनेवाला नहीं है । जिससे कि उस मुक्त आत्माके समान शरीररहित ईश्वर भी जगत्का निमित्त कारण हो जाता । भावार्थ-अशरीर, मुक्त, आत्माके समान शरीररहित ईश्वर भी जगत्का निमित्तकारण होकर कत्ती नहीं है।

संपति सदेहेश्वरवादिमतमाशंक्य प्रतिविधसे ।

अब इस समय प्रन्थकार ईश्वरको देहधारी माननेवाळे पौराणिकवादियोंके मतकी आशंका उठाकर उस पौराणिकोंके मतका भी खण्डन करें देते हैं।

> क्षित्यादिमूर्तयः संति महेशस्य तदुद्भवे । स एव हेतुरित्यादि ज्यभिचारो न चेद्भवेत् ॥ २६ ॥

तथान्येपि किमात्मानः स्वमृत्युत्यतिहेतवः। स्वयं न स्युरितीशस्य क सिध्येत्सर्वहेतुता॥ २७॥

पुराण या स्मृतियोंको माननेवाले पौराणिक या स्मार्त सम्प्रदायक्रलेंका यह मत है कि " या सृष्टिः स्रष्टुराधा वहति कि इतं या हिवर्षा च होत्री, ये दे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा य स्थिता व्याप्य विश्वं । यामाहुः सर्ववीजप्रकृतिरिति मया प्राणिनः प्राणवन्तः । प्रत्यक्षामिः प्रपनस्तनुभिवन्तु वस्ताभिरधाभिरशिः ॥ १ ॥ (शकुन्तला नाटक) । महेशकी १ जल २ अग्नि ३ होता ४ सूर्य ५ चन्द्रमा ६ आकाश ७ पृथ्वी ८ वायु ये आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । विशेषक्रपक्षे विष्णु सम्प्रदायवाले विष्णु भगवान्के दश या चौवीस अवतारोंको मानते है । शैव आम्नायवालोंको भी महादेवके कितपय शरीरधारी अवतार इष्ट कि हैं । यहां प्रकरणमें यह कहना है कि " मूर्तानि यज्या सूर्याचन्द्रमसी च " महेशकी पृथिवी आदि आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । उन मूर्तियोंके उत्पन्न करनेमें वही महेश निमित्तकारण है । आचार्य कहते हैं कि आठ मूर्तियों या वराह, मतस्य, आदि या महाकाल आदि अपने शरिरोंको बनानेमें यदि व्यभिचारदोष नहीं आवेगा, तब तो महेश या विष्णुके समान अन्य भी आत्मार्ये स्वयं अपने अपने शरीरोंकी उत्पत्तिक कारण क्यों नहीं हो जावेगी ? ऐसी दशामें भला ईश्वरको सम्पूर्ण जगत्का निमित्तकारणपना कहां सिद्ध हो सका ? अर्थात्—ईश्वर अपने शरीरको बना लेता है, और अन्य प्राणी अपने अपने शरीरोंको रच लेते हैं । विचारा अकेट ईश्वर सम्पूर्ण जगत्का कर्ता नहीं है ।

कुर्वन् क्षित्यादिमृतींश्च स्वमृतिं तत्प्रयोगतः । मृत्यंतराणि कुर्वीत यदि वानादिभिर्यतः ॥ २८ ॥ गत्वा सुदूरमप्येवं यदि मृतींने काश्चन । कुर्यात्ताभिस्तदा हेतोरनेकांतिकता न ।कं ॥ २९ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि जिस प्रयोगसे वह ईश्वर पृथ्वी, जल आदि अपनी आठ मूर्तियोंको बना रहा है, उसी प्रयोगसे अनादि धारावाले पृथिवी आदि भूतोंकरके अपने शरीरको और दूसरे प्राणियोंके शरीरोंको कर देवेगा । आचार्य कहते हैं कि यदि तुम यों कहोगे तब तो उन मूर्तियोंको बनानेके लिये पहिले क्षिति आदिको बनाया होगा और उन क्षिति आदि मूर्तियोंके लिये उससे भी पहिली क्षिति आदि मूर्तियोंको बनाना पढा होगा। यों अनवस्था आती है। इसके निवारणार्थ बहुत दूर भी जाकर यदि किन्हीं क्षिति आदि मूर्तियोंको ईश्वरकृत नहीं माना जावेगा तब तो उन्हीं मूर्तियों करेको तुम्हारे हेतुका व्यभिचारीपना क्यों नहीं वन बैठेगा ! अर्थात् — अनवस्थाको दूर करनेके लिये

बहुतकाल पहिलेकी जिन मूर्तियोंको आपने ईश्वरकरके बनाई हुई नहीं माना है, उनमें सिन्नेवेश यह हेतु तो रह गया और बुद्धिमान् कारणसे जन्य होना यह साध्य नहीं रहा । अतः व्यमिचारी हुआ ।

> अनादिमृर्तिभिस्तस्य संबंध इति चेन्मतं । किं हन्त्यनादिता तासां सिन्नवेशिवशिष्टतां ॥ ३० ॥ न चेचाभिर्महेशेनाकृताभिर्व्यभिचारिता । साधनस्य कृताभिर्वा तेनैतामनवस्थिति ॥ ३१ ॥ केवलं मुखमस्तीति यत्किंचिदभिधीयते । मिथ्योत्तराणामानंत्यात्प्रेक्षावता नु तत्र का ॥ ३२ ॥

इस न्यभिचारका निवारण करनेके लिये अनादिकाल्से बनी चली आरही क्षिति, आदि मूर्ति-योंके साथ वह ईश्वरका संबन्ध यदि इष्ट किया जायगा, यों मंतव्य होनेपर तो आचार्य पछते हैं कि उन मूर्तियोंकी अनादिता क्या रचनाकी विशिष्टता (हेतु)को मार डालती है ८ बताओ। यदि अनादि मूर्तियोंमें सनिवेशविशेष है तो तुम्हारे ऊपर हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्थ है । जब कि उन मूर्ति-योंका अनादिपन सन्निवेशविशेषका विघात नहीं कर सकता है और अनादिकालीन प्रथिवी आदि मूर्तियां महेशकरके नहीं की जानुकी है तो तुम्हारे '' सन्निवेशविशिष्टल '' साधनका उन मूर्तियों करके व्यभिचार हुआ। यदि उन अनादि मूर्तियोंको तिस ईश्वर करके किया हुआ माना जायगा तो व्यभिचार-दोष दूर हो जायगा किंतु उन मूर्तियों हो बनानेके लिये पुनः मूर्तियां बनाई गई होंगी और उनके लिये भी पूर्व मूर्तिया बनाई गई होगी, यो मूर्तियोंकी घारा करके हुये इस अनवस्थादोषको तुम दूर नहीं कर सकते हो । " मखमस्तीति वक्तव्यं " यदि फोकटका मुख है तो कुछ न कुछ बोलते रहना चाहिये. इस लोकनीतिको अनुसार जो कुछ भी अन्ट, सन्ट, तुम कहे जाते हो । जगतुमें मिध्या उत्तर, अनन्त हैं। इम ईश्वरके कर्तृत्वका निराकरण करनेके छिये जितने समुचित आक्षेप करते हैं. तम उनके अनन्त मिथ्या उत्तर दे देते हो। यह तो वही एक प्रामीणपुरुषका विजय जैसा हुआ कि कोई गमार यों कहता फिरता था कि मैं काशी गया और सब पण्डितोंको हरा आया। उन्होंने सैकडों बातें कहीं मैंने उनकी एक भी नहीं मानी । कुछ न कुछ बके ही चला गया । देखी, ऐसी दशामें वहां श्रेक्षावानपना भला कहां रहा ! युक्तिरहित वकनेवाले पुरुप हिताहितका विचार करनेवाले नहीं माने जाते हैं। ऐसे पुरुषोंना न्यायपूर्वक बाद विवाद करनेमें अधिकार नहीं है।

ततः स्कामेतत् सदेहेश्वरवादिनां सिश्चवंशविशिष्टत्वादिनि हेतुरीश्वरदेहेन व्यभिजारीति ।

तिस कारण हमने वहीं नैंति वार्तिकमें यह बहुत अच्छा कह दिया था कि देहसहित ईश्वरको मानमे बाले पौराणिकवादियोंके यहां '' सिनिवेशिविशिष्टचात् '' यह हेतु ईश्वरके शरीरकरके ही व्यभिचार दोषवाला है। यहांतक आचार्योंने सिनिवेशिविशेषक हेतुके ऊपर नैंकि वार्तिकके पूर्वार्ध करके उठाये गये व्यभिचारदोषकी पृष्टिको परिसमाप्त कर दिया है, यही इति शहका भाव है।

बुद्धिमद्धेतुकं याद्यग्दष्टं हर्म्यगृहादिषु । संनिवेशविशिष्टत्वं ताद्यग्जगति नेक्ष्यते ॥ ३३ ॥ इति हेतोरसिद्धत्वं केश्चिदुक्तं न युज्यते । तथा सर्वेष्टहेतूनामसिद्धत्वप्रसंगतः ॥ ३४ ॥

श्री विद्यानंद आचार्य कहते हैं कि किन्हीं किन्हीं विद्यानोंने वैरोषिकोंके सिन्नेवशिविशिष्टल हेतुको यों असिद्ध हेत्वाभास कहा है कि जिस प्रकारका हवेली, गृह, झोंपडे, आदिमें बुद्धिमान् हेतु-अोंसे जन्य हो रहे सन्ते सिन्नेवशिविशिष्टपना देखा जाता है, वैसा रचनाविशेष तो जगत् स्वरूप पक्षमें नहीं देखा जाता है। इस कारण पक्षमें हेतुके नहीं ठहरनेसे हेतुका असिद्ध हेत्वाभास दोष हुआ। अर्थात् प्रमेयकमल्मार्तडमें भी थों लिखा है कि "अस्तु वाऽविचारितरमणीयं बुद्धिमत्कारणत्व व्याप्तं कार्यत्वं तथाप्यत्र याद्यमूतं बुद्धिमत्कारणत्वेऽभिनवकूपप्रासादादों व्याप्तं कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं यदिक्तयादिश्वेनोपि जीर्णकूपप्रासादादविचाऽिकत्यादिश्वेनोऽपि कृतबुद्धिप्रसंगः " इत्यादि पंक्ति करके पक्ष और दृष्टान्तमें थोडासा अन्तर दिखलाकर असिद्ध हेत्वाभास उठाया गया है। प्रत्यकार कहते हैं कि यह असिद्ध हेत्वाभासका कथन यक्त नहीं है। क्योंकि यों तो तिस प्रकार इष्ट हो रहे सम्पूर्ण हेतुओंके असिद्धपनका प्रसंग हो जायगा, जैसा धुआं महानसमें समान आकृतिवाला देखा जा चुका है, वैसा पर्वतमें नहीं दीख रहा है। " शद्धोऽनित्यः कृतकत्वात् घटनत् " यहां जैसा कुलाल, दंढ, मृत्तिका आदि कारणोंसे बनाया गयापन घटमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वैसा कृतकपना शद्धमें नहीं प्रतीत होता है। शद्धके उपादान कारणका ही प्रत्यक्ष नहीं है। बात यह है कि थोडे थोडे अन्तरसं हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं हो जाता है। तुन्छतापूर्ण दोषोंसे किसीका तिरस्कार हमें नहीं करना है।

कृतभीजनकं तद्धि नािकयादार्शनो यथा। कवित्तथा न धूमादिरग्न्यादिज्ञानकारणं ॥ ३५॥ वन्ह्यादिष्ठद्धिकारित्वं स्वयंसिद्धस्य सिद्धता। धूमादेः साधनस्येतित्सद्धौ वन्ह्यादिधीरिति ॥ ३६॥ यथान्योन्याश्रयस्तद्वत्यकृतेपि हि साधने। कृतधीजनकत्वेस्य सिद्धतायां कृतत्वधीः॥ ३७॥ ततोनैकांतिको हेतुरेष वाच्यः परीक्षकैः। कार्यत्वार्थिकयाकृत्वप्रमुखोऽनेन वार्णितः॥ ३८॥

जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र आदि स्वग्यप काचित् जगत्में अक्रियादर्शी पुरुष के '' किया गया '' इस बुद्धिका जनकपना नहीं है, उसी प्रकार धूम आदिक हेतु भी अग्नि आदि साध्योंकी ज्ञापिके कारण नहीं हो सकेंगे। अथीत्--नवीन कुऐं, कोठियां, महल आरि कोंको बनता हुआ देख कर साधारण मनुष्योंके भी " ये किये गये है " यह बुद्धि उपज जाती है । उसी प्रकार जीर्ण कुए, गृहों ने खंडहर, पुराने मंदिर, मृर्तिया, घडे, इन्टे, आदिमें भी '' ये किसी न किसी करके बनाये गये हैं '' यह वुद्धि उपज जाती है। भलें ही आधुनिक पुरुषोने हजार वर्ष पिंडिले बने हुये पुराने खण्डहरोंके बननेकी कियाको आंखोंसे देखा नहीं है। किन्तु पृथिया, सूर्य, चंद्रमा आदिमें किसी भी अकिया दर्शाको " ये बनाये गये हैं " ऐसी बुद्धि नहीं होती है। अतः हेतु अभिद्ध है। आचार्य समझाते है कि यों थोडासा अंतर तिस प्रकार पक्ष और द्रष्टांतमें पडजानेसे धम आदि भी अग्निका अनुमान नहीं करा सकेंगे । असिद्ध हेत्वाभासको उठाने वाले दूसरा कटाक्ष यों करते हैं कि जिस प्रकार भूम आदि हेतुओंको आग्ने करके स्वयं निर्मितपना सिद्ध होजाय तब तो वन्हि आदिकी बुद्धि कर देना होकर सिद्धता आवे और धूम आदिकी सिद्धता होजानेपर वन्हि आदिकी बुद्धि कराई जा सके । यों जिस प्रकार अन्योन्याश्रय प्रसिद्ध हेतुमें दिया जासकता है, उसी प्रकार प्रकरण प्रक्त सन्तियेशिवशिष्टव हेतुमें भी परस्पराश्रय दोष दिया जा सकता है कि इस हेतुके द्वारा सूर्य, प्रथिवी आदिमें " किये गये हैं " इस बुद्धिका जनकपना सिद्ध होय तब तो सूर्य आदिमें कृतपनेकी बिद्ध होय और सूर्य आदिमें किया गयापन सिद्ध होय तब '' किये गये हैं '' इस बुद्धिका उत्पादक पना प्रसिद्ध होसके । अर्थात्—सिनेवेशविशिष्टत्व हेतुमें जैसा अन्योन्याश्रय दोष उठाया जाता है वैसा धम आदि प्रसिद्ध हेतुओंमें भी अन्योन्याश्रय जमाया जा सकता है । तिस कारणसे परीक्षक विद्वानों करके यह " सिन्नवेशिविशिष्टल " हेतु अनैकातिक हेलाभास ही कहना चाहिये। केवल न्यभिचार दोष करके ही इस हेतुकी निदा करना थोडा नहीं है। इस सिनिवेशिविशव्य हेतुका कथन कर देनेसे वैदेषिकीं के कार्यत्व हेतु, अर्थाकियाकारित्व हेतु, स्थित्वाप्रदृत्ति हेतु, अचेतनत्व हेतु, विनाशित्व हेतु, आदिका भी वर्णन कर दिया समझ छेना चाहिये। अर्थात्-कार्यत्वादि हेतु भी ईश्वरको जगत्का कत्तीपन साधनमें ईश्वर देह करके व्यभिचार दापवान् है। इनमें भी उक्त रीन्या निर्वेष्ठ असिद्ध दोषको नहीं उठाकर पृष्ट व्याभन्तार दोषको रखियेगा ।

यथैव हि सिश्वेदाविशिष्टत्वादिति हेतुर्नासिद्धः शक्यो वक्तुमिष्टहेतुनामप्यसिद्धत्वपसंगात्। किं तिहं ? परीक्षकैरनैकांतिको वाच्यस्तथा कार्यत्वादचेतनोपादानत्वादर्थिकियाकारित्वात् स्थित्वामृष्टुक्तेः, इत्येवमादिरपीश्वरदेहंनानैकांतिक एव सर्वथा विश्वेषाभावात् । अपि च—

कारण कि जिस हो प्रकार " सिन्नेशियिशिष्टत्वात " यह हेत असिद्ध हेत्वाभास नहीं कहा जा सकता है. क्योंकि यों अन्ट, सन्ट, दोष लगादेनेपर तो धूम आदि इष्ट हेतुओंको भी असिद्ध हेलाभास होजानेका प्रसंग आजावेगा, जो कि जैनोंको अभीष्ट नहीं है। तो फिर इस बैरेषिकोंके हेतमें क्या दोष लगाया जाय ? इसका उत्तर यही है कि परीक्षकों करके यह हेतु अनैकांतिक हैत्वाभास कह कर ठहरा दिया जाय. तिस ही प्रकार कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, अर्थिकिया-कारित्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, इत्यादि इस प्रकारके अन्यहेत भी ईश्वरके शरीर करके अनैकान्तिक हेत्वाभास ही हैं। क्योंकि सन्निवेशविशिष्टत्वसे कार्यत्वादि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्— वैशोषिकोंने अपने कर्तृत्ववादको पृष्ट करनेके छिये विशेष स्थलोंपर यों कहा है कि " क्षित्यङकुरादिकं कर्तृ जन्यं कार्यत्वात् घटवत् " जो जो कार्य होते हैं, वे बुद्धिमान्से जन्य हैं, जैसे कि घडा है । इस ही प्रकार जिन कार्योंके अचेतन उपादान कारण हैं । उनकी ठीक ठीक व्यवस्था जमानेके ढिये चेतन कत्तीकी आवश्यकता है। जो पदार्थ अर्थिकयाओंको कर रहे हैं. ये चेतनसे अधिष्ठित होकर ही नियत कार्योंको कर सकते हैं। जो कारण ठहर ठहर कर कभी कुछ और कभी कुछ कार्योंको करते हैं, वे चेतन द्वारा प्रेरित हो रहे हैं | जैसे कि कभी हथोडा सोनेको कूटता है, कभी केंची पत्तरको काटती है, कभी पंत्री सोनेको खींच रही है, इन ठहर ठहर कर कार्योंके प्रवर्तनेमें सुना-रका अस्तित्व आवश्यक है। इसी प्रकार कपड़ा बुनते समय ठहर ठहर कर अनेक कारणोकी प्रवृत्ति करानेमें कोळी बुद्धिमान कर्ता है। तथा रूपादिमान या अचेतन पदार्थ भी चेतन कर्ता द्वारा कार्योका सम्पादन कर सकते हैं। इत्यादि उनके सभी हेत व्यभिचार दोपयक्त हैं। और एक बात यह भी है. उसको सनो--

स्थावरादिभिरप्यस्य व्यभिचारोनुवर्ण्यते । कैश्चित्पक्षीकृतैस्तेषामधीमद्भेतुतास्थितैः ॥ ३९ ॥

किन्हीं विद्वानों करके इस सिनवेशविशिष्टत्व हेतुका खानें, कूपजल, वायु, विद्व, वनस्पति, इन स्थावर और सूर्य, समुद्र, आदि करके व्यभिचार प्राप्त हो जानेका पीछे वर्णन किया गया है। जो कि वे स्थावर आदिक पदार्थ; नैयायिकोंके यहां पक्षकोटिमें अन्तः प्रविष्ट किये जा चुके हैं। किन्तु किसी सर्वज्ञ, अशरीर, बुद्धिमान्को, उनका निभित्तकारणपना व्यवस्थित नहीं हो सका है। अर्थात्—उपवनकी वनस्पतियोंको कोई बालकोंसी बुद्धिको धारनेवाला पंडित भलें ही माली करके

निर्माण की गया कह देने, चूल्हेकी आगकी रसोइयाकी बनायी हुई कह देने, नलके जलको पुरुषके प्रयत्नसे उपजा हुआ मान ले, बीजनाकी वायुको बुद्धिमान् जीव करके बनाई गई अभीष्ठ कर ले, खेतकी मिट्टीको किसानके व्यापारसे बनी हुई स्वीकार कर लेवे, किन्तु वह बुद्धिमान् वनकी वनस्पतियों या खानों, नदां जलों, दावानल, आंधी, सूर्य, आदि पदार्थोंको बुद्धिमान् करके बनाये हुये नहीं मान सकता है। यदि कोई साहसी अन्ध श्रद्धात्रान् उन स्थावर आदिको भी शरीर, पर्वत, पृथिवी, आदिके समान पक्षकोटिमें डालकर स्थावर, सूर्य, आदिका निमित्तकारण ईक्तरको मान बैठे तब तो यों कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं हो सक्तेगा। ''धूमत्रान् वन्हेः'' यहां अंगार या अयोगोलक इन व्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें गिना जा सकता है। जलते हुये अंगार या लोहगोला अथवा कोयलेको वाममें रखकर कुछ दूरसे देखो दूसरे प्रकारका विलक्षण धूआ निकलता हुआ दीखता है। यों कहनेवालेका कोई मुख टेडा नहीं हो जाता है। जिस पुरुष या लीके निमित्तसे किसी खी या पुरुषको व्यभिचार दोष लगनेका प्रसंग आया है, निर्लञ्ज पुरुष उन निकृष्ट कीपुरुषोंको भी स्वलीपक्ष या स्वपतिपक्षमें डाल लेवें, एतावता अपयश, राजदण्ड, मर्त्सना, पापसंचय, नरकगमनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है। अतः नैयायिकोंके हेतुमें स्थावर आदिकोंकरके भी व्यभिचार दोष लग गया, कोई खटका नहीं है।

कथं पुनः स्थावरादीनामबुद्धिमत्कारणकत्वस्थितिर्यतस्तैरनैकांतिकत्वं कार्यत्वादिहेतूना-मुद्भाव्यत इत्यावेदयति ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन स्थावर आदि पदार्थीका निमित्तकारण कोई विशेष बुद्धिमान् पुरुष व्यवस्थित नहीं है, यह आपने फिर किस प्रकार निर्णीत कर लिया है ? जिससे कि कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व आदि हेतुओं का उन स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोष उठाया जा रहा है ? बताओ । ऐसी निर्णेतुमिच्छा होनेपर प्रन्थकार बडी प्रसन्नताके साथ उस जिज्ञासुको सन्मुख निवेदन कर देते हैं ।

दृष्टक्षित्यादिहेतूनामन्वयव्यतिरेकतः । दृश्यते स्थावरादीनां सर्वगत्वेन बेधसः ॥ ४० ॥ न देशे व्यतिरेकोस्ति क्षितावस्य सदा स्थितेः । सर्वगस्यान्वयस्त्वेको न तज्जन्यत्वसाधनः ॥ ४१ ॥

साधारण प्राणियोंके भी दृष्टिगोचर हो रहे पृथिवी, जळ, खेत, बीज, ऋतु, योग्यता, सहकारी-समवधान, आदि हेतुओंके अन्वय, व्यतिरेक्से स्थावर आदिकोंका भाव या अभाव देखा जा रहा है। ईर्वरके साथ इनका अन्वय, व्यतिरेक, नहीं देखा जाता है। क्योंकि तुम वैरोषिकोंका गढा गया जगद्विधाता ईरवर सर्वव्यापक माना गया है। इस कारण किसी भी देशमें उसका व्यतिरंक नहीं पाया जा सकता है। जिस देशमें ईस्ट्रर नहीं बहां स्थावर आदिक कर्म नहीं है, इस व्यतिरेकको घटानेके छिये तुम्हारे पास कोई स्थल शेष नहीं है। तुम्हारा माना हुआ ईस्ट्रर सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। तथा पृथिवीमें इस नित्य ईस्ट्ररकी सर्वदा स्थिति बनी रहनेसे यह कालव्यतिरेक भी नहीं बन सकता है कि जब जब ईस्ट्रर नहीं तब तब स्थावर आदि कार्य नहीं। हां, सर्वत्रव्यापक हो रहे ईस्ट्ररका केवल एक अन्वय ही तो स्थावर आदिकोंको उस ईस्ट्रर करके जन्यपनकी सिद्धि करानेवाला नहीं है।

क्षित्युदकवीजादितया कारणान्वयव्यतिरेकात् स्थावरादीनां भाव्यभावकयोख्यलंभाक बुद्धिमत्कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानं । न हि बुद्धिमतो वेधसः कविदेशे व्यतिरेकोस्ति सर्व-गतत्वात्, नापि काले नित्यत्वात् । तथा च नान्वयो निश्चितः संभवति तद्भावाविर्भावदर्शन-मात्रान्वयो वा स न तज्जन्यत्वं साधयति करभादेभीवे धूमाविर्भावदर्शनात् ।

भूमि, जल, बीज, बाय आदि स्वरूपकरके कारणोंके अन्वय और व्यतिरेक्से स्थावर आदि कार्योंके उत्पाद, उत्पादकभावका उपलंभ होरहा है। अतः किसी बुद्धिमान् कारणके साथ स्थावर आदि-कोंका अन्वयन्यतिरेक अनुसार, विधिविधान नहीं देखा गया है। पौराणिकोंके बाद्धिमान स्नष्टाका किसी भी देशमें व्यतिरेक नहीं पाया जाता है। क्योंकि वह सर्वगत माना गया है तथा किसी कालमें भी ईस्वरका व्यतिरेक नहीं मिलता है। क्योंकि ईश्वर अनादि अनंत कालतक नित्य मान लिया है और तिस प्रकार कोई भी देशव्यतिरेक या काळव्यतिरेक नहीं बननेपर अन्वयका निश्चय हो चुकना भी नहीं सम्भवता है । क्योंकि हेतुका प्राण विपक्षन्यानुत्तिस्वरूप व्यतिरेक है । व्यतिरेक नहीं होनेपर अन्वय हो रहा भी आनिश्चित है। एक बात यह भी है कि व्यापक नित्य हो रहे उस विधाताका सद्भाव होनेपर स्थावर आदिकोंका आविर्भाव होना देखने मात्रसे हो रहा वह अन्वय तो स्थावर आदिकोंके उस ईश्वरसे जन्यपनको नहीं साध डालता है। यों तो ऊंटका बचा, कण्डाओंको दोनेवाले गधा आदि तटस्थ पदार्थीका सद्भाव होनेपर धुएंका आविर्माव देखा जाता है । इतनेसे ही धूमको उस ऊंट आदिसे जन्यपनकी सिद्धि होजानेका प्रसंग आजावेगा। प्रत्येक कार्य होनेके निकट देशमें अनेक उदासीन पदार्थ पढे रहते हैं । एतावता उनमें '' कार्यकारणभाव '' का प्रयोजक अन्वय बन रहा नहीं माना जाता है । अन्यथा तुम्हारे यहां व्यापक मानी जारही अन्य जीवात्माओं या आकाशके साथ भी सुलभतया अन्वय बन जानेसे ईश्वरके समान अन्य आत्मायें भी संपूर्ण कार्योंका निमित्तकारण बन बैठेंगे, (बैठेंगी) जो कि हम, तुम, दोनोंको इप्ट नहीं है।

कथमदृष्टस्य स्थावरादिनिमित्तत्वमित्याइ ।

यहां कोई पूंछता है कि तब तो आप जैन यह बताओ कि स्थावरजीवोंका पुण्य, पाप, या भोक्ताजीवोंका पुण्य, पाप, भला उन स्थावर आदिकोंका निमित्तकारण कैसे होजाता है ? पुण्य, पापके साथ स्थावर आदिकोंका अन्वय और व्यतिरेक तुम कैसे बना सकीसे ? समझाओ ।

नश्वरत्वाददृष्टस्यासर्वगत्वाच सिध्चति । व्यतिरेकस्तत्र तस्यः (स्यात्र) स्थावरादिनिमित्तता ॥ ४२॥

नाशशील (अनित्य) होनेसे और अन्यापक होनेसे अदृष्टके साथ उन स्थावर आदिकोंमें काळन्यतिरेक या देशन्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। अतः उस अदृष्टको स्थावर आदि कृतक पदा-र्थोका निमित्तकारणपना सध जाता है। कोई अनुपपात्ति नहीं है।

न श्रद्धं धर्माधर्मसंज्ञितं कूटस्थं सर्वगतं वा महेश्वरविद्ण्यते यतस्तस्य देशकाल-व्यविरेको न सिध्येत्। क्षित्यादिदृष्टसामग्रीसन्त्रावेपि कचित्स्थावरादीनामनुपलंभाददृष्टकारणत्वं सिध्यत्येव। कथमेवं तदृत्यत्तौ कालादेईतुत्विमिति सर्वगतस्य व्यतिरेकासिद्धेरीश्वरविदिति वदंतं प्रत्याह।

धर्म और अधर्म इस संज्ञाको प्राप्त हो रहे अदृष्टको हम जैन तुम्हारे महेश्वरके समान कूटस्थ नित्म अथवा सर्वत्र प्राप्त हो रहा व्यापक नहीं अभीष्ठ करते हैं, जिससे कि उस अदृष्टका देशव्यति-रेक या काल्क्यतिरेक नहीं सिद्ध हो सके । साधारण जीवोंद्वारा कार्रणपने करके देखी जा रही पृथिवी, बीज, आदि सामग्रीका सद्भाव होनेपर भी किसी देशमें या किसी समय स्थावर आदि कार्योंकी उत्पात्ति हो रही नहीं देखी जाती है । अतः अदृष्टको कार्याका कारणपना सिद्ध हो जाता है । अर्थात्—वेतीमें वाणिग्यकाममें, बढिया नीरोगतामें पुण्यको और अतिवृष्टि अनावृष्टि, आर्थिकहानिमें, सरोगतामें, दारिद्यमें, नाव दूब जाना, रेलगाडी लड जाना, वायुयानघात, आदि कार्योमें दृष्टकारणोंका व्यभिचार दीख रहा होनेसे पापरूप अदृष्टको कारणपना स्पष्ट शित्या प्रसिद्ध हो रहा है। जहां जहां या जब जब पुण्य, पाप हैं, तहां, तहां तब तब म्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है। और जहां जहां या जब जब अदृष्ट नहीं वहां वहां या तब तब लौकिक कार्य नहीं उपज पाते हैं। यह अन्त्रय व्यतिरंक प्रसिद्ध है। यहां कोई पूछता हैं कि अदृष्ट तो अव्यापक, अनित्य है । किन्तु काल, आकाश, द्रव्य तो नित्य और व्यापक हैं । अतः इस प्रकार व्यतिरेकको साधनेपर यदि कार्य कारणभाव माना जायगा तो उन स्थावर आदिकोंकी उप्पत्तिमें सर्वगत हो रहे काल आदिको मला निमित्तकारणपना किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? क्योंकि ईश्वरके समान नित्य, व्यापक, काल, आदिका देशन्यतिरेक या कालन्यतिरेक असिद्ध है, इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानवचनको अप्रिम वार्त्तिक द्वारा कहते हैं । उसको सुनो ।

> कालादिपर्ययस्यापि नित्यत्वाद्यप्रसिद्धितः । सर्वथा कार्यनिष्पत्तौ हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ ४३॥

काल, आकाश, आदि द्रव्योंकी पर्यायोंको भी नित्यपन, व्यापकपन, आदिकी अप्रसिद्धि होनेसे कार्योंके करनेमें निमित्तकारणपना सभी प्रकारोंसे विरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात्—अर्थ क्रियाओको करनेवालीं अनित्य पर्यायोंसे कथांचिद् अभिन्न हो रहे काल आदि द्रव्योंको सम्पूर्ण कार्योंके प्रति निमित्तपना अव्याहत है।

न हि कालाकाञ्चादिपर्यायाणां नित्यत्वं सर्वगतत्वं वा मिसद्धं कालाणुनामेव द्रव्यर्था-देशाश्वित्यत्वोपगमात् । निःपर्यायस्य नित्यस्य सर्वगतस्य च कालस्य परोपगतस्याममाणकत्वात् , सर्वगतस्य नित्यस्य चाकाशद्रव्यस्यैव व्यवस्थापनाश्विःपर्यायस्य तस्यापि ब्राहकप्रमाणाभावात् । धर्मास्तिकायस्याधर्मास्तिकायस्य च लांकव्यापिनोपि द्रव्यत प्व नित्यत्वोपगमात् पर्यायतोऽसर्व-गतत्वाद्दनित्यत्वाच । ततो युक्तं स्वकार्योत्यत्तौ निमित्तत्वं सर्वथा विरोधाभावात् ।

काल, आकारा, आदि द्रन्योंकी पर्यायोंका सर्वथा नित्यपना अथवा सर्वगतपना प्रसिद्ध नहीं है। जैनसिद्धान्त अनुसार कालाणुओंको ही द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे नित्यपना स्वीकार किया गया है। दूसरे तिद्वान् वैशेषिकोंने कालको पर्यापरद्वित और नित्य, तथा सर्वगत जो स्थीकार किया है, वैसा कालद्रस्यको सिद्ध करनेमें उनके यहां कोई प्रबल प्रमाण नहीं प्रवर्तता है। अतः पर्यायरहित नित्य. व्यापक कालद्रव्यकी प्रमाणींसे सिद्धि नहीं हो सकनेके कारण वह कालद्रव्य बिचारे पौराणिकोंके नित्य, व्यापक, ईश्वरका दृष्टान्त या कटाक्षस्थल नहीं बन सकता है । हां, जिनागममें सर्वगत और नित्य हो रहे आकाशद्रव्यकी ही तो व्यवस्था कराई गई है। किन्तु सम्पूर्ण द्रव्य स्वसीय द्रव्यत्वगुणके अनुसार प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायोको धारण करते हैं। कोई द्रव्य कूटस्थानित्य नहीं है। पर्यायोंसे रहित हो रहे सर्वथा नित्य उस आकाशका भी प्राहक कोई प्रमाण नहीं है। अतः अनिन्यपर्यायोंके साथ तादात्म्य सम्बन्धका अनुभव कर रहा कथंचिद् अनित्य आकाश ही यावत् कार्योका निमित्त है। इस कारण सर्वथा नित्य और सर्वथा व्यापक हो रहे ईश्वरका उपमान कथंचित् अनित्य आकाश भला कैसे हो सकता है ? यानी नहीं हो सकता है । अर्थात - जब कि अखण्डित अनेक देशीय आकाश द्रव्यके देशांशरूप प्रदेश कल्पित कर छिये जाते हैं । मुख, कूप, गृह, गुदस्थान, ग्रुद्धभाजन, अशुद्धभाजन, वे सब रीतें स्थानस्वरूप हो रहे आकाशप्रदेश एक ही नहीं है । स्वर्गप्रदेश, नरक, आकाश, जम्बृद्धीप, स्वयम्भूरण, त्रसनाली, स्थावर लोक, ये सब आकाशके न्यारे न्यारे प्रदेशोंपर व्यवस्थित हैं। जो आकाश सिद्ध परमात्माओंको अवगाह दे रहा है. वह आकाश नारिकयोंको स्थान नहीं दे सकता है। आकाशके प्रदेशोंमें गति नहीं है। मालवा, पंजाब, बंगाल, यूरोप, अमेरिका, आष्ट्रिया, आष्ट्रेलिया, आदि आकाराकी पोलें न्यारी न्यारी हैं। जहां प्रभूत जल या बलवान नकुल प्रमुन्नतापूर्वक बैठे हुये हैं, वहां स्वल्प अग्निया सर्पको अवकाश नहीं मिल पाता है । यद्यपि अग्नि, जल या नकुल, सर्प आदिमें निजकी गांठके विरोध आत्मक परिणाम विशेष हैं, फिर भी '' यावन्ति कार्याणि

ताबन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः'' इस नियम अनुसार अवगाह देनेमें उदासीन अप्रेरक कारण हो रहे आकाशमें भी वैसी बैसी न्यारी न्यारी परिणातियां माननी पडती है। एक एक वस्तमें अनन्ते स्वभाव हैं। अतः अन्यापक देशांशोंसे अभिन हो रहे न्यापक आकाशद्रन्यमें कयंचित असर्वगतपना भी समझ लिया जाय । तथा चौदह राजू ऊंचे या तीनसी तेतालीस ३४३ घन राजू प्रमाण पूरे लोकमें न्याप रहे भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका द्रव्यरूपते ही नित्यपना स्वीकार किया गया है। व्यरीयोंकी अपेक्षा वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय दोनों असर्वगत और अनित्य हैं। अर्थात --- द्रव्यत्व गुणके अनुसार प्रतिक्षण नृतन पर्यायोंको धार रहे धर्म, अधर्म, द्रव्यके भछे ही सदशपिरणाम होते रहें. किन्त अनित्यपर्यायोंसे अभिन हो रहे धर्म, अधर्म द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं कहे जाते है। कोई भी द्रव्य कदाचित भी पर्यायोंसे रीता नहीं है । सम्पूर्ण पदार्थ द्रव्यक्त्पसे नित्य और पर्यायक्तपसे अनित्य हो रहे कथंचित नित्यानित्यात्मक हैं। घोडा, मछली, पथिक, विद्यार्थी, आदिकी उन उनके नियत देशोंमें गति करानेवाली धर्मद्रव्य और स्थिति करानेवाली अधर्मद्रव्य अपनी न्यारी न्यारी प्रयोजक, अन्यापक पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहीं अन्यापक भी है । लोकाकाश स्वयं एक लोटासा अन्या-पक पदार्थ है । उसमें मर रहे धर्म, अधर्म, द्रन्य दोनों वैसे ही अन्यापक है । तिस कारणसे काल, आकाश, धर्म, अधर्म, इन चारों पदार्थोंको अपने, अपने कार्योंकी उत्पत्ति करनेमें निमित्तकारणपना युक्तिपूर्ण सभ जाता है। सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नहीं आता है। हा, सर्वधा नित्य या व्यापक हो रहा तुम्हारा ईश्वर विचारा स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारण नहीं बन सकता है।

यद्यवं महेश्वरगुणस्य सिम्पक्षालक्षणस्यानित्यत्वादसर्वगतत्वात् च तिश्वमित्तत्वं स्थाव-रादीनां युक्तं व्यतिरेकप्रसिद्धरिति पराक्कतमनृद्य दृषयित ।

ईश्वरवादी कह रहे हैं कि यदि इस प्रकार आप जैन अनित्य और अन्यापक पदार्थको स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारण माननेमें विशेष अभिरुचि रखते हैं तो महेश्वरके सृजनेकी इच्छा स्वरूप गुणको अनित्यपन और अन्यापकपन होनेसे उस गुणको स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारणपना उचित बैठ जाता है। ईश्वरकी अन्यापक इच्छाके साथ कार्योका देशन्यतिरेक और अनित्य इच्छाके साथ कार्योका काळ्यतिरेक भी प्रसिद्ध होजाता है इस प्रकार दूसरे पौराणिकोंके चेष्टितका प्रथम अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य दूषणप्रयोग करते हैं।

महेश्वरसिसृक्षाया जगजन्मेति केचन । तस्याः शाश्वततापायादिवभुत्वाददृष्टवत् ॥ ४४ ॥ तद्युक्तं महेशस्य सिसृक्षांतरतो विना । सिसृक्षोत्पादने हेतोस्त्रथेव व्यभिषारतः ॥ ४५ ॥

सिसृक्षान्तरतस्तस्याः प्रसूतावनवस्थितेः। स्थावरादिसमुदुभूतिर्न स्यात्कल्पशतैरपि॥ ४६॥

उस ईश्वरकी सृजनेके लिये हुयी इच्छाको नित्यपनका अभाव होजानेसे और अन्यापक होजानेसे अदृष्टके समान महेश्वरकी इच्छासे जगत्वर्ती यावत् कार्योक्षी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे हैं। आचार्य कहतं हैं कि उन पण्डितोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि महेश्वरकी इच्छा जब अनित्य है तो दूसरी सिस्पृक्षाके विना ही उस सिस्प्रक्षाकी उत्पत्ति माननेपर तिस ही प्रकार हेतुका न्यभिचारदोष लग जायगा। अर्थात्—सिस्प्रक्षामें कार्यत्वहेतु ठहर गया, किन्तु दूसरी सिस्प्रक्षाको उसका निमित्तकारणपना नहीं प्राप्त हुआ। हा, यदि ईश्वरकी अनित्य सिस्प्रक्षाका जन्म दूसरी सिस्प्रक्षासे माना जायगा, और उस दूसरी अनित्य सिस्प्रक्षाके प्रभाव करनेमें तीसरी सिस्प्रक्षाको हेत माना जायगा, यो चौथीमे पांचवीं सण्दुनिच्छा, और पांचवींमे छठी, आदि सिस्प्रक्षाओंको कारण मानते मानते अनक्स्था होजायगी। अनेक सिस्प्रक्षाओंको उत्पन्न करनेमें ही ईश्वरकी सिस्प्रक्षाओंका बल नियट जायगा। वो सैकडों कल्प कालों करके भी स्थावर आदि कार्योकी समुचित उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

तद्भोक्तृशण्यदृष्टस्य सामर्थ्यात्सा भवस्य चेत् । प्रसृतिः स्थावरादीनां तस्मादन्वयनात्र किम् ॥ ४७ ॥ स्वातंत्र्येण तदुद्भूतौ सर्वदोपरमच्युतेः । सर्वत्र सर्वकार्याणां जन्म केन निवार्यते ॥ ४८ ॥

उन स्थावर आदि कार्योंका भोग करनेवाले प्राणियोंके अदृष्ट (पुण्यपापेस) की सामर्थ्यसे वह ईस्वरकी इच्छा अनादि कालसे उपज रही यदि मानी जायगी तब तो अदृष्टके होनेपर स्थावर आदिकोंका उपजना यों अन्वयके बन जानेसे उस अदृष्टसे ही साक्षात् स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति ही क्यों नहीं मान ली जावे। परम्परासे अदृष्टको कारण माननेकी अपेक्षा पुण्य, पापको, अन्यविहित कारण मानना समुचित है। अदृष्टकी अधीनताके विना ही यदि स्वतन्त्रता करके उस सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो ईस्वरकी सिसृक्षायें सर्वदा उपजनी रहेंगी। कदाचित् भी उन इच्छाओंकी उत्पत्तिका विराम नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण कार्योंका उपजना भला किस करके रोका जा सकता है ? अर्थात्—विना कारण अपनी स्वतन्त्रतासे उपज रहे कार्योंमें नियत देश या नियत कालकी सीमा नहीं रह पाती है। सभी कार्य अटोक उपजते ही रहेंगे।

व्यास्यातात्रेश्वरेणैव नित्या साध्यातिरेकिणी । कविद्यवस्थितान्यत्र न स्यादन्वयभागपि ॥ ४९॥ इस प्रकरणमें ईरवर करके ही वह नित्य इच्छा भी व्याख्यान कर दी गयी समझ ठेनी चाहिये। कारण कि वह इच्छा प्रकृतसाध्यका अतिक्रमण करनेवाली है। अतः अन्ययको धार रही भी वह इच्छा कहीं भो अन्य स्थलोंपर व्यतिरेकको धारनेवाली नहीं होनेसे व्यवस्थित नहीं समझी जायगी। भावार्थ—व्यापक नित्य ईरवरका जैसे स्थावर आदि कार्योंके प्रति अव्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं घटता है। उसी प्रकार साधे जा रहे जन्य कार्योंसे अतिरिक्त स्थलोंपर भी पायी जा रही नित्य सिस्क्षा कोरे अन्वयसे ही कहीं कारणपने करके व्यवस्थित नहीं हो सकती है।

नन्वेषं काळादिपर्ययस्य स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तभावमनुभवतः प्रादुर्भावे यद्यपरः काळादिपर्यायो न निमित्तं तद्वदन्यकार्योत्पत्ताविष काळादिपर्यायो निमित्तं माभूत्, अथ निमित्तं तदुत्वत्तावप्यपरो निमित्तमित्यनवस्था स्यात् काळादिपर्यायस्य कारणमन्तरणोत्पत्तौ देशकाळादिनियमानुपपत्तेः सर्वत्र सर्वदा भावात्सर्वकार्याणामनुपरतोत्पत्तिश्वसंगः । तस्य नित्यत्वे काळादिद्रव्यवद्यतिरेकासिद्धिरन्वयमात्रसिद्धाविष सर्वदोत्पत्तिक्तंषामनिमित्तत्वपसंगः सिस्नक्षावत्स्थावराद्युत्पत्ताविति केचित्, तेषि न तत्त्वक्षाः । स्याद्वादिनां स्वकार्योत्पत्तिनिमित्तस्य काळादिपर्ययस्य निमित्तत्वसिद्धस्तदुत्पत्ताविषे तत्पूर्वकाळादिपर्यायस्य निमित्तत्वमित्यनादित्वा-क्षिमित्तनैमित्तिकभावस्य तत्पर्यायाणां बीजांक्करादिवदनवस्थानवतारात् । कथंचित्स्वातन्त्र्येणो-त्त्रयमानस्यापे सर्वत्र सर्वदा च भावानुत्पत्तेः नित्यत्वानभ्युपगमाव ।

यहां कोई कर्तुवादी पण्डित अपने पक्षका अवधारण करनेके लिये आक्षेप उठा रहे हैं कि इस प्रकार जैनसिद्धांन अनुसार अभीष्ट होरहे कार्यकारणभावमें भी गोटाला मच जायगा, जेनोंने काल, आकाश, अदृष्ट, आदि पर्यायोंको अपने अपने कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण माना है। जैनोंने जैसे हमारी ईश्वरासिस्क्षा पर कुचाय उठाया है हम भी उनके यहां माने गये कारणों पर आक्षेप चला सकते हैं कि अपने कार्योंके उपजानेमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर रहे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें यदि दूसरे काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं हैं, तब तो उन्हीं काल आदि पर्यायोंके समान अन्य कार्योंकी उत्पत्तिमें भी काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं होवें। अब यदि काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें दूसरे काल आदि पर्यायोंको निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी कारणके विना होगा। जिज्ञासाक शान्त होजाने पर ज्ञापकपक्षकी अनवस्था कदाचित् कृपा करती द्वयी निवृत्त होसकती है किन्तु कारक पक्षकी निष्ठुर अनवस्था एक बार गले लगी, पुन: कभी छूटती नहीं है। यदि जैन महाशय काल आदि पर्यायोंकी कारणके विना ही उत्पत्ति मान बैठेंगे, तब

तो देश. काल. आदिका नियम नहीं बन सकेगा. नियत देश, नियत कालवाले कारणोंके विना ही कार्योंकी उत्पत्ति माननेपर सभी स्थळोंपर सदा ही काळ आदि पर्यायोंका सद्भाव पाया जायगा और ऐसा होजानेसे संपूर्ण कार्योकी अविराम उत्पत्ति होती रहेगी। अर्थात कार्यके होजानेपर भी पनः पुनः वह लाखीं, करोडों, बार उपजता रहेगा, उपजनेसे विराम (छूटी) नहीं मिल सकेगा, इस प्रकार अतिप्रसंग जैनोंके जपर आता है, जैसा कि अडतालीसवे वार्तिकमें उन्होंने हमारे जपर कहा था । यदि जैनजन निश्चयकाल द्रव्य आदिके समान उन व्यवहार काल आदि पर्यायोंका नित्यपना मानोगे तो केवल अन्वय सिद्धि हो चकनेपर भी न्यतिरेककी सिद्धि तो कथमपि नहीं होसकेगी। तथा काल आदिकी नित्य पर्यायों द्वारा सदा ही उन कार्योंकी उत्पत्ति होती रहेगी। यो स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सिसक्षाको जैसे जैनोंने निमित्तकारण नहीं बनने दिया था, उसीके समान काल आदि पर्या-योंको भी निमित्तकारणपन नहीं होसकनेका प्रसंग जैनोंके यहां प्राप्त हुआ । यहांतक कोई पण्डित कह रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि वे महाराय तत्त्वव्यवस्थाके ज्ञाता नहीं है क्योंकि स्यादादियोंके यह। अपने, अपने, कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्त होरहे काळ आदि पर्यायोंको निमित्तकारणपना सिद्ध होरहा है। उन काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी उससे पूर्ववर्ती काल आदि पर्यायोंको निमित्तपना था. उन पर्यायोंकी भी निमित्तकारण पूर्व, पूर्व कालकी कालादि पर्यायें थीं । इस प्रकार बीजांकर, मुगीं अंडा, इव्य कर्म, भाव कर्म, आदिके समान उन पर्मायोंका पूर्वकालीन पर्यायोंके साथ होरहे निमित्तनैमित्तिक भावको अनादिपना है। इस कारण अनवस्था दोषका अवतार नहीं होपाता है। भावार्थ-कालाणुर्ये द्रव्य हैं. वे प्रतिक्षण परिणामोंको धारती हैं। जगतके संपूर्ण कार्योकी वर्तनामें काल निमित्तकारण है। अन्य कार्योमें कालपरमाणुओंके परिणमन जैसे निमित्त हैं उसी प्रकार इस समयके काल परिणामोंका निमित्त-कारण पूर्वसमयवर्ती कालपरिणाम हैं, और पूर्व समयकी काल पर्यायोंका निमित्तकारण उससे पहिलेके समयकी कालपर्यायें हैं, यो अनादिसे अनन्तकालतक प्रक्रम चल रहा है। घडियोंकी ठीक ठीक चाल को पहिली पहिली घडिया ठीक बताती चली आ रही हैं। पहिले पहिले बांटोंसे उत्तरोत्तरके बांट ठीक ठीक तोलकर परीक्षित कर लिये जाते हैं । देखिये, अन्य द्व्योंके परिणमन काल्द्रव्यके अधीन है। िकन्तु कालद्रव्यके उत्तरोत्तर समयवर्ती परिणमन पूर्व पूर्वकाल पर्यायोके अधीन है। आकाश द्रव्य अन्य अन-तद्रव्योंको अवगाह देरहा स्वयंको भी अवगाह देता है। अधर्म द्रव्य निजका भी स्थापक है। यों कथंचित् स्वतंत्रताके उपज रहे भी प्रतिनियतकाल आदि पर्यायोंकी सर्वत्र और सर्वदा उत्पत्ति नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह भी है कि सर्वधा नित्यपना हमारे यहां स्वीकार नहीं किया गया है। अर्थात्-हम चाहे जीवद्रव्यकी पर्याय होय, चाहे काल, आकारा, आदि द्रव्यकी पर्याय होय, सम्पूर्ण पर्यायोंको नियत हो रहे निमित्त नैमित्तिक भावसे गुँथा हुआ मानते हैं। पूर्व समयकी पर्योयें उत्तरसमयवर्त्ती कार्योंको बनाती हैं। अतः महेश्वरकी सिस्क्षाका सादस्यकाल आदि पर्यायोंमें लग्रू नहीं हो पाता है वाल आदि पर्यायोंके निमित्तपनका मार्ग निर्दोष है।

नतु पहेश्वरसिस्क्षापि ति स्थावरायुत्यको निमित्तभावमनुभवतीति पूर्वसिस्क्षातः सापि स्वपूर्वसिस्क्षातः इत्यनादित्वात् कार्यकारणभावस्य कथमनवस्थादोषणोपद्वयेत कथं वा वयैव हेत्तवो नैकांतिकाः स्युः ? न स्थावर्राादकार्यानुपरमः स्वातंत्र्येणानुत्पादात्। नाव्यतिरेकां नित्यस्वानभ्युपगमात् सिस्क्षायाः, तिन्नत्यत्वे सर्वदा कार्योत्पत्तित्रसंगात्। सर्वदा सहकारिणामभाव्यक्ष तत्मसंग इति चेन्न, तेषामपि महेश्वरसिस्क्षया तज्जन्मत्वे सर्वदा सद्भावापत्तेस्तदनायक्तजन्मकृतिरेव हेत्नां व्याभिचारात् । तत्सहकारिणोपि स्वात्पत्तिहेत्नामभावात् न सर्वदात्पद्यंत इति चेन्न, तेषामपि ईश्वरसिस्क्षायास्तज्जन्मत्वेतरयोक्षकदोषानुषंगात्। तत्सहकारिणां नित्यत्वे स एव सर्वदा कार्योत्पत्तिमसंगः सिस्क्षायाः सहकारिणां च नित्यत्वादनित्यैव सा युक्ता। " ब्राह्मेण मानेन वर्षश्चतांते प्राणिनां भोगभूतयं भगवतो महेश्वरस्य चतुर्दशस्त्रवनाधिपते सिस्क्षोत्पद्यतं " इति वचनाच न नित्यासौ तथात्पत्तिवरोधादिति केचित्।

पनः वैशोषिक या पौराणिक अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि तब तो काल आदि पर्यायोंके समान महेश्वरकी सिस्टक्षा भी स्थावर आदि कार्यीकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर छेती है या अनुभव करती सन्ती यों वर्तमान कालकी सिसक्षा पूर्व कालकी सिसक्षासे उपजती जाती है और वह पूर्वकालकी सिस्क्षा भी अपनेसे पूर्वकालकी सिस्क्षासे उपन गयी थी, इस प्रकार कार्यकारणभावका अनादिपना होनेसे तुम्हारे समान हम वैशेषिकोंको भी अनवस्था पूर्णरूप अभीष्ट है. कोई क्षांति नहीं है । पुनः अनवस्थादोप करके हमारे ऊपर क्यों उपद्रव उठाया जा रहा है ? और इस सिसक्षा करके ही हमारे कार्यत्व, सिनेवेशविशिष्टत्व, हेतुओंको किस प्रकार व्यभिचार दोषसे युक्त किया जा रहा है । अर्थात् - जन्य सिसृक्षाओं की अनादिधारा मान छेनेसे हम वैशोषिकों के उत्पर अनवस्था-दोषका ऊथम नहीं उठ पायेगा और हमारे हेत न्यभिचारी भी नहीं हो सकेंगे। साथमें स्थावर. शरीर. आदि कार्योकी उत्पत्तिका विराम नहीं पडना दोप भी नहीं आता है। क्योंकि स्वतंत्रता करके स्थावर आदि कार्योंका उत्पाद नहीं होता है । उपज रही सिसक्षाके अवीन नियत देश और नियत कालमें स्थावर आदि कार्य उपनेंगे । कारणोक्षे नहीं मिलनेसे वे सर्वदा उपनते ही नहीं रहेंगे तथा व्यतिरेक नहीं बनना दोष भी हमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि सिस्धाका नित्यपना हमने स्वीकार नहीं किया है । हा, यदि उस सिस्क्षाको नित्य माना जाता तब तो सदा कार्योकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग हो सकता था। अन्यथा नहीं। यदि हम वैशेषिकोंको कोई वंचक यो सगयता देना चाहे कि सिस्धाको नित्य ही बने रहने दो, अकेटी नित्यसिस्धा तो कार्यको नहीं बना देती है। अनेक सहकारी कारण भी चाहिये उन सहकारी कारणाका अभाव होनेसे सदा उन कार्योकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग नहीं आ पायेगा। उन गोमुख-ज्याघोके प्रति हम वैशेषिक कहते हैं कि इस प्रकारकी सहायता हमको नहीं चाहिये। क्योंकि उन सहकारी कारणोंकी भी महेश्वरसिस्क्षा करके वह

उत्पत्ति मानी जायगी । ऐसी दशामें सर्वदा उन सहकारी कारणोंके सद्भावकी आपत्ति होती है । अतः नित्यसिसृक्षा और तदधीन सहकारी कारणोंका सद्भाव पाया जानेसे सर्वदा कार्योंकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग टल नहीं सकता है। यदि उन सहकारी कारणोंका जन्म उस सिस्रक्षाके अधीन नहीं मानोगे तब तो उन सहकारी कारणों करके हमारे कार्यत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष बन बैठेगा । यदि हमारे सहायक वे पण्डितजी क्षें कहें कि वे सहकारी कारण भी अपनी उत्पत्तिके हेतुओंका अभाव होनेसे सदा नहीं उपजते रहते हैं वैशेषिक कहते हैं कि यह भी नहीं कहना ! क्योंकि उन सहकारी कारणोके उत्पादक हेतुओंका भी ईश्वरकी सिसक्षासे उपजना माना जावेगा है या ईरंत्ररकी इच्छासे उनका उपजना नहीं माना जावेगा ? इन दोनों पक्षोंमें पूर्वोक्त दोषोंके आनेक प्रसंग होता है। अर्थात्—सहकारी कारणोंके उत्पादक हेत् यदि ईश्वरकी सिस्क्षासे उपजेंगे तो वे नित्य सिसक्षासे शीघ उपजकर सहकारी कारणोको झट बना देंगे और सहकारी कारण सदा स्थावर भादि कार्योंको बनाते रहेंगे । हां, यदि उन सहकारी कारणोंके सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति यदि ईश्वरिसिसक्षा करके नहीं मानी जायगी तब तो सिन्नेवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओं करके व्याभिचार बन बैठेगा । उन सहकारी कारणोंका निव्यपना माननेपर तो वहका वही सर्वदां कार्योंके उपजते रहनेका प्रसंग दोष आ पडता है। क्योंकि सिस्क्षा और सहकारी कारण नित्य होकर सदा वर्त रहे हैं । उक्त दोषोंको टालनेका समीचीन उपाय यही है कि वह ईरवरकी सिस्रक्षा अनित्य ही मान ली जाय । युक्तियोंसे ईरवरकी सिस्रक्षा अनित्य ही सिद्ध होती है । तथा हमारे शास्त्रोंमें भी इस प्रकार कथन किया है कि " ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण करके सी सी वर्षके अन्तमें प्राणियोंको भोगोंका अनुभूति करानेके छिये चौदह भुवनके सर्व तंत्र स्वतंत्र प्रभु हो रहे भगवान् महेश्वरकी निसृक्षा उपजती है। " इस आगम वाक्यसे भी वह इच्छा नित्य नहीं मानी गयी है। अन्यया तिस प्रकार सौ. सौ वर्षमें इच्छाकी उत्पत्ति होनेका विरोध हो जायगा । अपने शास्त्रींसे ही विरोध पड जाय ऐसे वचनको हम कहना नहीं चाहते हैं । अर्थात्--" कृतं, त्रेता, द्वापरं, च किन्नश्चेति चतुर्युगम् । प्रोच्यते तत्सहस्तं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने " विष्णु पुराणमें लिखा है कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कालियुग ये चार युग एक हजार बार हो जांय तब ब्रह्मा का एक दिन और इसी प्रकार एक रात होती है। यों एक दिन रातकी गणना अनुसार सी वर्षोंको बना कर ब्रह्म! की आयु सो वर्षकी मानी गयी है " ब्रह्मणो वर्षशतमायुः " ब्रह्मा संबंधी सो वर्षीके पश्चात् खंडप्रलय होजाता है । पश्चात् महेश्वरकी स्रष्ट्रमिच्छा उपज कर सृष्टिको रचती है मनुस्मृतिमें ब्रह्माके एक दिनरातकी समाप्ति होनेपर सृष्टिप्रिक्रिया मानी है। "दैनिकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममे-कमहर्बेयं तावतीं रात्रिमेव च '' ॥ १ ॥ तहै युगसहस्रांतं ब्राह्मं पुण्य-महर्विदुः , रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः । तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसप्तः प्रतिबुच्यते । प्रति-बुद्धश्व सुजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ३ ॥ मनः सृष्टि विकुरुते चौषमानं सिसंक्षया । आकाशं

जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ४ ॥ इत्यादि १ भूर्ह्णोक २ भुवर्ष्ठोक ३ स्वर्ष्ठाक ४ महर् छोक ५ जनलोक ६ तपोछोक ७ सत्यछोक ८ अतल ९ वितल १० सुतल ११ नितल १२ तला-तक १३ रसातल १४ पाताल इन चौदह मुवनोंका सर्वाधिकारी सम्राट् महेश्वर है। यहांतक बडी देरसे कोई पौराणिक या स्मार्त पण्डित कह रहे हैं।

तंत्रैकेषां दृषणं सिस्टक्षाया नित्यत्वाभावेषि दृष्टक्षित्यादिकारणसाकल्येषि स्थावरदीनां कदाचिदनुत्पत्तिप्रसंगः । कदाचित्तदभावसंभवात् तदंत्यसहकारिकारणसिक्धानानन्तरमेव सिस्रक्षोत्पत्तेस्तदभावासंभवं तस्याः सहकारिकारणमभवत्वप्रसंगः तदनन्तरभावनियमस्यान्यथा-नुपपत्तेः तेषां सहकारिणां सिस्क्षामुत्पाद्यतां सिस्क्षान्तरादुत्पत्तौ स्थावरादिवत् कदाचिदनुत्प-ित्तपसंगस्तस्य कदाचिदसािक्यानादन्त्यकारणसंनिधानानन्तरमेव सिसक्षातरस्योत्पधिनियमात् तद्मसंगे तत्कारणप्रभवत्वप्रसंगस्तद्नंतरभाव्यमियमस्यान्यथातुपपत्तेः इत्यादि पुनरावर्तत इति चक्रकमेतत् । सिस्रक्षांतरेणापेरितानामेव सहकारिणामुत्पत्तौ तैरेव हेतूनामनेकांतिकत्वं सहका-रिणां सिद्धक्षया सह नियमनोत्पत्तेः स्थावरादीनां सकलकारणानां कदाचिदनुत्पत्तेः । प्रसंगा-भावे सिस्क्षाया सहकारिणां च क्षित्यादीनामेकं कारणप्रप्रधात अन्यथा सहभावनियमा-योगात् । तचैकं कारणं यदि सिस्क्षांतरेणांप्रेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुच्याभिचारस्तेन प्रेरितस्य तञ्जनकत्वे कदाचित्तज्जननप्रसंगः पूर्ववचस्यापि पेर्येण सह नियमेनोत्पत्तौ तयोरप्येकं कारणं स्यात्, तचैकं कारणं यदि सिस्टक्षांतरेणात्रेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुव्यभिचार इत्यादि पुन-रावर्तत इति चक्रकमपरम् क्षित्यादिभिः प्रागनन्तरं नियमोत्पत्तौ सिस्रक्षायाः सहकारिहेतुभि-रंकसामग्रयधीनता स्यादन्यथा पागनंतरं नियमोत्पत्त्ययोगात् सा चैका सामग्री यदि सिस्रक्षां-तरेणाप्रेरिता तज्जनिका तदा तथैव हेतुच्यभिचारः । यदि पुनः पेरिता सा तज्जनिका तदा प्रेर्पात्मागनंतर नियमेनोत्पत्त्या तस्या भवितन्यमन्यथोक्तदोषानुषंगात् तथा च सिस्क्षांतरं प्रेयात्सामग्र्यविश्वेषात्प्रागनंतरं नियमेनोत्पद्यमानं तद्धेतुभिरेकसामग्र्यधीनं स्यात् । सा चैका सामग्री यदि सिस्टक्षांतरेणापेरिता तज्जनिका तदा तयैव हेतुच्यभिचार इत्यादि पुनरावर्तत इत्यन्यचक्रकम् । तदेतददृषणं परिद्वर्तकामेन क्षित्यादिभ्योनंतरं शक् सद वा तैः सिस्टक्षोत्पत्ति-र्नियमतो नाभ्युपगंतच्या तथा च तद्वचितिरेकानुविधानमुपलभ्येत न चोपलभ्यते, क्षित्युद्कवी-जादिकारणसामग्रीसिश्वधाने अपितवंधे चाइसति स्थावरादिकार्यस्यावस्यंभावदर्शनादिति तदेत-दयुक्तं, स्थावरादीनामदृष्टादिहेतुत्वेप्येतद्दोषप्रसंगात् स्वसिद्धांतविरोधात् । यदि पुनरदृष्टक्षित्या-दिकारणसाकल्येपि स्थावरादीनां परिणामवैचित्र्याददृष्टादिसिद्धिः चश्चरादिकारणसाकल्येपि रूपादिज्ञानपरिणामवैचित्र्यादिन्द्रियशक्तिवदिति मतं, तदेश्वरसिग्धशासिद्धिरपिः ततर्पवास्तु तस्यास्तित्सध्या विरोधाभावादित्यपरे ।

उस पौराणिकोंके मंतन्य पर अन्य एक विद्वानोंकी ओरसे यों दूषण उठाया जाता है '' सिस्-क्षाणां नित्यत्वभावेषि '' यहांसे प्रारम्भ कर " स्थावरादिककार्यस्यावस्यम्भावदर्शनात् " एक विद्वान दुषण दे रहे हैं यह दूषण प्रंथकारको अभीष्ट नहीं है। अनः प्रंथकार '' तदेतद्युक्तं '' से प्रारंभ कर " विरोधाभावात " यहातक किन्हीं दूसरे विद्वानों करके इस दूषणका प्रत्याख्यान करा देंगे पश्चात " तेत्र प्रष्टव्याः " इस प्रंथसे प्रारम्भ कर स्त्रयं प्रंथकार इस केचित्के पक्षपर सिद्धांत दुषण उठावेंगे । केचित्रके ऊपर एक विद्वानोंका दुषण इस प्रकार है कि उन किन्हीं पौराणिकोंने ईश्वरकी सिसक्षाको अनित्य सिद्ध किया है। सिसक्षाको नित्यपना नहीं होते हुये भी बाल गोपालेंतक देखे जारहे स्थावर आदिकोंके कारण पृथिवी, जल, बीज आदिकी परिपूर्णता होनेपर भी स्थावर आदिकांके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा। क्योंकि सिसक्षा अनित्य है। कभी कभी उस सिसक्षाका अभावसम्भव हो जायगा । अर्थात्-अनित्य सिराक्षाके नहीं होनेपर अन्य संपूर्ण कारणोंके होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिक कार्य नहीं उपज सकते हैं। स्थावर आदि कार्योके कारणोंका शनै: शनै: एकत्रीकरण होते होते तबतक यदि ईश्वरकी अनित्य सिस्रक्षा उपज कर नष्ट भी होगयी होय तो हम क्या कर लेंगे । इच्छाके विना सब कारण यों ही व्यर्थ घरे रहेगे । अतः कदाचित स्थावर आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी। यदि केचित यों कहें कि उन स्थावर आदि कार्योंके उत्पादक अंतिम सहकारी कारणोंके संनिधान पश्चात् है। सिस्रक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी, अतः कारणोंकी पूर्ण-ताके अवसरपर उस फिसक्षाका अभाव नहीं संभवेगा. यों कहनेपर तो हम एक पण्डित यों कहते हैं कि यें। तो उस तिसक्षाकी सहकारी कारणोंसे उत्पत्ति होनेका प्रसंग आवेगा, क्योंकि उन परिदृष्ट क्षिति आदि कारणोंके अनंर सिस्क्षांके उपजनेका नियम अन्यथा बन नहीं सकता है। यानी जो पदार्थ जिन सहकारी कारणोंका कार्य होगा, नहीं उनके अन्यवहित उत्तर कालमें उपज सकता है ऐसी दशामें जिस सिसृक्षाको तुमने बळवती शक्ति समझ रक्खा है, वह महेश्वरकी सिस्क्षा स्वयं सह_ कारी कारणोंसे उपज रही बन बैठी, अब बताओ कि सिसक्षाके पिता होरहे उन सहकारी कारणोंको कौन बनावे ? यदि सिसुक्षाको उपजा रहे उन सहकारी कारणोंकी दूसरी सिसुक्षासे उत्पत्ति मानी जायगी तब तो स्थावर आदिके समान कभी कभी उन सहकारी कारणोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा। क्योंकि कारणोंके अधीन होनेवाळी दूसरी उस अनित्य सिम्धाका कभी सिक्यान नहीं होपाता है। जो कार्य अपने कारणकुटके अधीन है स्वल्प भी कारणकी त्रुटि होजानेसे आवश्यकता होनेपर भी कदाचित् वह कार्य नहीं उपजता है अथवा कथांचित्र उपज छेनेपर भी दूसरे कारणोंके जुटनेतक वह दूसरी सिल्क्षा नष्ट हो जायगी । ऐसी दशामें पहिली सिस्क्षाको उपजानेवाले कारणोंकी अनुत्पत्ति हुई। दादीके विना पिताकी उत्पत्ति नहीं है और पिताके विना पुत्रीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

यदि केचित् पौराणिक पूर्वके समान यहां भी यों कहें कि कार्यकी उत्पात्तिके अन्यवहित पूर्वकालमें एकत्रित हुये अन्तिम समर्थ कारणोंके सन्निधान पश्चात् ही दूसरी सिस्टक्षाकी उत्पत्तिका नियम है। अतः वह अनुत्पत्तिका प्रसंग हमारे ऊपर नहीं आता है, यो पौराणिकोंके कहनेपर तो हमें कहना पडता है कि उस दसरी सिस्रक्षाको उन परिदृष्ट कारणोंसे उपजनेका प्रसंग आता है। क्योंकि उन कारणोंके अञ्चवहित उत्तरकालमें नियमसे उपजना अन्य प्रकारसे यानी उनका कार्य माने विना बन नहीं सकता है। इसी प्रकार आगे भी घुमा कर ये ही चोच उठाये जा सकते है। तीसरी, चौथी, आदि सिस्क्षायें और सहकारी कारण तथा चरमकारणोंकी जिज्ञासाये उत्तरीत्तर बढती ही जावेंगी। यो बार, बार, अनित्यसिसुक्षा, कार्योकी कदाचित् अनुत्पत्ति, अन्तिम सहकारी कारणोंके पश्चात् सिमुक्षाका जन्म, पुनः सहकारी कारणोंके लिये अन्य सिमुक्षाओंकी उत्पत्ति, इत्यादि होती जाती है यह चक्रक दोष है। स्वापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षत्व— चक्रकत्वं '' अपने अपेक्षणीयसे अपोक्षेत निबन्धनप्रसङ्गत्वं हो कारण मानकर प्रसंग प्राप्ति करा देना चक्रक दोष है। यदि दूसरी सिसृक्षा करके नहीं प्रेरे जा चुके ही सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो उन्हीं सहकाराकारणों करके तुम्हारे सिनियशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका न्यभिचार दोष हो जायगा । क्योंकि इस सिसक्षाके साथ ही सहकारी कारणोंकी पूर्विसिस्क्षाके विना यों ही नियम करके उत्पत्ति हो रही है। स्थावर आदि कार्योंके सम्पूर्ण कारणोंकी कभी कभी नहीं उत्पत्ति हो जानेके कारण यदि प्रसंगका अभाव माना जायगा तब तो सिस्रक्षा और पृथिवी आदिक सहकारी कारणों का जनक एक कारण वन बैठेगा अन्यथा यानी एक कारण माने विना दोनोंके सहभावका नियम नहीं बन सकता है और वह कारण यदि अन्य सिसुक्षा करके प्रेरित नहीं हुआ ही उन सहकारी कारण और सिसुक्षाका जनक माना जायगा तब तो उस एक कारण करके ही तुम्हारे कार्यत्व आदि हेतुओमें व्यभिचार दोष लगा । यदि अन्य सिसक्षा करके प्रेरित हो रहे एक कारणों को अपने उन कार्योंका जनकपना अभीष्ट किया जायगा तब तो पूर्वके समान कभी होने और कभी कभी उन कार्योकी उत्पत्ति नहीं होनेका प्रसंग होगा । यदि उस एक कारणकी भी सिसृक्षा करके प्रेरे जा रहे कारणके साथ नियम करके उत्पत्ति मानी जायगी तब तो साथ उपज रहे उन दोनोंका भी एक कारण वन बैठेगा और वह एक कारण यदि अन्य चौथी, पांचत्री, सिसृक्षा करके नहीं प्रेरित हो रहा ही उन कार्योका जनक है. ऐसी दशामें उस एक कारण करके ही '' सिनिनेशिवार विशिवत्य '' आदि हेतुओंका व्यभिचार होगा, इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चोद्योंकी आबृत्ति कर छी जाती है। इस कारण यह दूसरा चक्रक दोष तुम्हारे ऊपर आता है। तीसरा चक्रक इस प्रकार है कि क्षिति आदिकों करके पहिले अन्यवहित पूर्व यदि नियमसे उस सिसुक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो सहकारी कारणों करके सिसुक्षाकी एक सामग्रीकी अधीनता हो जायगी । यानी सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति एक सामग्रीके

इश बन बैठेगी । अन्यया अञ्यवहितपूर्व नियमसे उत्पत्ति होनेका अयोग होगा तथा सिसक्षा और सहकारी कारण दोनोंकी वह एक सामग्री यदि पूर्ववर्ती अन्य सिस्कृक्षाओं करके प्रेरित नहीं होती सन्ती उन सिसुक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पादक मानी जायगी, तब तो एकसामग्री करके ही हेतुओंका न्यभिचार हुआ । यदि फिर अन्य सिसक्षासे प्रेरित हो रही वह सामग्री उन सिसक्षा और सहकारी कारणोंकी जननी मानी जावेगी तब तो प्रेरणा करने योग्य कार्योसे अन्यवहितपूर्व उस सामग्रीकी नियम करके उत्पत्ति होनी चाहिये । अन्यथा उक्त दोषोंका प्रसंग आवेगा और तिस प्रकार होनेपर छठी, सातवी, न्यारी सिसक्षा भी प्रेरणा योग्य सामग्रीविशेषसे अन्यवहितपूर्वमें नियम करके उपज रही सन्ती उन हेतुओंके साथ एकसामग्रीके अधीन हो जायगी। और वह दोनोंको वरामें करने वाली एक सामग्री यदि अन्य सिसक्षाकरके प्रेरित नहीं हो रही सन्ती उनकी जनक (जिनका) मानी जायगी तब तो उस सामग्रीकरके ही सिन्नवेशाविशिष्टत आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष छगा इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चक्कर देकर चोद्योंकी आवृत्ति कर छी जाती है। इस प्रकार तीसरा अन्य चक्रकदोष तुग्हारे ऊपर आ पडता है। " स्वप्रहसापेक्षप्रह सापेक्षप्रहसापेक्षप्रहकत्वं चक्रकत्वं '' इस कारण इन सब चक्रक या व्यभिचार दूषणोंको परिहार करनेकी अभिलाषा रखनेवाले पौराणिक पण्डित करके क्षिति आदिकोंसे अन्यवहित पूर्व अथवा साथ उन कारणों करके सिस्रक्षाकी नियमसे उत्पत्ति नहीं स्त्रीकार कर छेनी चाहिये । और तैसा होनेपर नहीं उपज रही सिसक्षाके साथ उन स्थावर आदि कार्योंके व्यतिरेकका अनुविधान कैसे जाना जा सकेगा ? यों अनित्य मान ली गयी भी ईश्वर इच्छाके साथ व्यतिरेक तो नहीं दीख रहा है । क्षिति, उदक, बीज, ऋतुकाल आदि सामग्रीके निकट होनेपर और प्रतिबन्धकोंके नहीं होनेपर स्थावर आदि कार्योका अवस्य उत्पाद हो रहा देखा जाता है। ईक्करकी सिसक्षाको सामग्रीमें डालनेकी कोई आव-स्यकता नहीं है । यहांतक केचित् पौराणिकोंके ऊपर एकदेशीय जैन विद्वान्के विचार प्रगट हो चुके हैं। यहां किन्हीं अपर विद्वानोंका निरूपण है कि तिस प्रकार यह जैनपक्षीय-विद्वानोंका क्यन अयुक्त है। केवल परको निर्मख करनेवाला खण्डन हमको अभीष्ट नहीं है। यों तो स्थावर आदि कार्योंके यदि अदृष्ट आदिको कारण माना जायगा वहां भी इन दोर्घोके प्राप्त हो जानेका प्रसंग आ जायगा । अतः तमको अपने जैन सिद्धान्तसे विरोध ठन जायगा । यदि फिर आपका यह मत होय कि सबको परिदृष्ट हो रहे प्रथिवी, काल, आदि कारणोंकी परिपूर्णता होनेपर भी स्थावर आदि कार्योंके परिणाममें विचित्रता देखी जाती है । इस कारण पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्ट अथवा अन्य भी परोक्ष कारणोंकी सिद्धि कर छी जाती है। जैसे कि चक्षु, आछोक आदि कारणोंकी सकळता होनेपर भी अनेक जीवोंके भिन्न भिन्न प्रकार हो रहे रूप आदिके ज्ञानपरिणामोंकी विचित्रतासे अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका या शक्तियोंका अनुमान कर किया जाता है। यो तुम्हारा मन्तव्य होय तब तो कर्तवादि-योंके यहां ईस्वरकी सिसुक्षाकी सिद्धि भी तिस ही कारणसे यानी चमरकारक स्थावर आदिके परिणा-

मोंकी विन्तित्रतासे हो जाओ । उस स्थावर आदिकी विचित्रताका उस सिस्क्षासिद्धिके साथ कोई विरोध नहीं हैं । प्रत्युत अनुकूछता है । अर्थात्—बाछक, वृद्ध, रोगी, पशु, आदिकी बहिरंग इन्तियां स्थूछद्यप्टिसे समान दीखती हैं । किन्तु भिन्न भिन्न जातिके रूपादि ज्ञानोंके अनुसार अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका परिज्ञान कर छिया जाता है । उसी प्रकार ईश्वरकी अतीन्द्रिय सिस्क्षाका भी परिज्ञान कर छिया जा सकता है । फिर सिस्क्षाका खण्डन कहां हुआ ! । यहांतक अपर विद्वान् कह रहे हैं ।

ते अत्र प्रष्ट्रच्याः । स्थावरा द्युत्पत्तो निमित्तभावम तुभवन्ती महेश्वरस्य सिम्रक्षा यदि पूर्व-सिम्रक्षातो भवति, सापि तत्पूर्वसिम्रक्षातस्तदा सोत्तरां सिम्रक्षां पादुर्भावयति वा न वा १ न तावदुत्तरः पक्षस्तदनंतरस्थावरादिभ्य उत्तरोत्तरस्थावरा द्युत्पत्ति प्रसंगात् । तत एव तदुत्पत्तीं व्यर्थानादिसिम्रक्षापरंपरापरिकल्पना, कथीचेदक्यैवाशेषपरापरस्थावरादिकार्याणा प्रत्पादियतुं शक्यत्वात् पूर्वसिम्रक्षया अप्युत्तरोत्तरिम्रक्षां प्रत्यव्यापारात् । यदि पुनराद्यः पक्षः कक्षीिकयतं बद्या योत्तरिम्रक्षायामेव पक्रतिसिम्रक्षाया व्यापारात् ततः स्थावरादिकार्योत्यात्तिनं भवत् । एतेन पूर्वपूर्वसिम्रक्षाया अप्युत्तरोत्तरिम्रक्षायामेव व्यापृतः पूर्वमपि स्थावराद्युत्पत्त्यभावः प्रतिपादितः।

अब अधकार सिद्धात गीतिसे केचित्का सिद्धात खंडन करते हैं कि वे केचित विद्वान यहां प्रकरणमें यों पंछने योग्य हैं कि स्थावर, नर्य, तन आदि ही उत्पत्तिमें निमित्तभावका अनुभव कर रही महेश्वरकी सिसुक्षा यदि पूर्वकालवर्तिनी दूसरी सिसुक्षांस उपजती है तब तो वह दूसरी सिसुक्षा भी उससे पाइले की तीसरी सिसक्षासे उपजेगी, उस समय हमारा प्रश्न यह है कि स्थावर आदिकोंको उपजा रही वह पूर्वकालीन सिसुक्षा क्या उत्तरकालवर्तिनी सिसुक्षाको उपजावेगी ? अथवा नहीं प्रकट करेगी ? बताओ । पिछले पक्षका प्रहण करना तो ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि पूर्वसिस्क्षा यदि उत्तर सिसक्षाको पैदा नहीं करेगी तो उसके अनंतर होनेवाले स्थावर आदिकोंसे पनः उत्तरोत्तर स्थावर आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तम्हारे यहा सिसक्षाके विना कोई कार्य उपजता नहीं माना गया है. किन्त स्थावरों से अगले अगले स्थावरी की उत्पत्ति हो रही देखी जाती है। यदि एक उस पहिली सिसक्षामे ही उस उत्तर सिसक्षाकी उत्पत्ति मान की जायगी, तब तो परम्परासे अनादिकालीन सिसक्षाओंकी लंबी चौडी कल्पना करना व्यर्थ पडेगा। उस एक ही सिसृक्षा करके उत्तरोत्तर होनेवाले संपूर्ण स्थावर आदि कार्योको कथंचिद उपजाया जा सकता है। पूर्वकालकी सिस्टक्षा करके भी उत्तरीत्तर होनेवाली सिसक्षाओं के प्रति कोई न्यापार नहीं किया जासकता है, जो तुम मान बैठे हो । यदि आप करके आदिके पक्षका अंगीकार किया जायमा तब तो पूर्व सिस्क्षासे उत्तर सिस्क्षाकी उत्पत्ति करनेपर प्रकरण प्राप्त सिस्रक्षाका केवल उत्तरकालवर्तिनी सिस्रक्षाको उपजानेमें ही व्यापार होता रहेगा। उस प्रकृत सिस्क्षासे स्थावर आदि कार्योकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी । इस कथन करके यह भी प्रतिपादन कर दिया गया समझ छो कि अनादिकालीन पहिन्छीं पहिन्छीं सिसुक्षाओंका भी उत्तरांत्तर कालकी सिसक्धा-

ओंकी उत्पत्ति करनेमें ही न्यापार होता रहेगा, अतः पहिले भी स्थावर आदि कार्योकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी, सिस्प्रक्षाको अवकाश नहीं मिल जायगा, ऐसी दशामें सिस्प्रक्षाकी शरण लेना न्यर्थ ही है जो भृत्य अपने ही शारीरिक कार्योसे अवकाश नहीं पाता है, वह प्रचंड प्रभुकी सेवा क्या कर सकेगा ? कुल नहीं ।

यदि पुनिरयं सिस्रक्षांतरोत्पचौ स्थावरादिकार्योत्पचौ च व्यापियेत पूर्वा पूर्वा च सिस्रक्षा परां परां च सिस्रक्षां तत्सहभाविस्थावरादीं य पति व्यापियमाणाभ्युपयेत, तदेकैव सिस्रक्षा सकलात्पचिमतामुत्पचौ व्यापारवती प्रतिपच्या। तथा च सकृत्सर्वकार्योत्पचैः कृतः पुनः कार्यक्रमभावपतीतिः ?

यदि फिर ईस्वरवादी यों कहे कि यह पूर्वकालीन सिसृक्षा दूसरी दूसरी सिसृक्षाओंको उत्पन्न करनेमें और स्थावर, त्रसशरीर, आदि कार्योक्ती उत्पत्तिमें न्यापार करेंगी तथा पूर्वसिसृक्षाक्ष भी पहिली पहिली सिसृक्षायें स्वय्वजन्य उत्तरोत्तर सिसृक्षाओंको और उन सिसृक्षाओंके साथमें होनेवाले स्थावर आदि कार्योके प्रति न्यापार कर रहीं स्वीकार कर ली जायगी। आचार्य कहते हैं कि तब तो एक ही ईस्वरके सृजनेकी इच्छा इन उपजनेवाले सम्पूर्ण कार्योक्ती उत्पत्तिमें न्यापार कर रही समझ लेनी चाहिय, और तिस प्रकार एक ही सिमृक्षाको यावत् कार्योक्ती उत्पत्तिमें न्यापार करनेवाली माननेपर एक ही वारमें सम्पूर्ण कार्योकी उत्पत्ति होना वन बैठेगा। अतः फिर कार्योके क्रम क्रमसे होनेकी प्रतीति होना भला कैसे सध सकेगा ! सो बताओ । अर्थात्—एका सिसृक्षाद्वारा युगपत् सम्पूर्ण कार्य उपज बैठेंगे जो कि पहिले प्रसंग उठाया गया था।

स्यान्मतं, क्रमशः स्थावरादिकार्याणां देशादिनियतस्वभावानाग्रुभयवादिप्रसिद्धत्वात् तिश्रमित्तभावमात्मसात्कुर्वाणा महेश्वरसिस्कृष्ताः क्रमभाविन्य एवानुर्मायंते कार्यविशेषानुम-यत्वात् कारणविशेषच्यवस्थितेरिति । तर्दि सिस्कृष्तांतरोत्पत्तावन्याः सिस्कृष्ताः स्थावरादि-कार्योत्पत्तौ चापरास्तावंत्यो अभ्युपगंतच्याः कार्यविशेषात्कारणविशेषच्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः।

ईश्वरवादियोंका यह भी मन्तन्य होने कि नियत देशमें होना, नियत कालमें उपजना, प्रति नियत आकारको धारना, आदि स्वभाववाले स्थावर आदि कार्योकी यों नियतरूपसे उत्पत्ति होना हम तुम दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा है इस कारण इन नियत कार्योके निमित्त-कारणपनको अपने अधीन कर रहीं महेश्वरकी सिस्क्षायें कम कमसे हो रहीं सन्ती ही अनुमानप्रमाण हारा जानी जा रही है। क्योंकि विशेष विशेष कारणोंकी न्यवस्थाका तज्जन्य विशेष विशेष कार्यो-हारा अनुमान कर लिया जाता है, जिस प्रकार आप जैन कमकमसे उपजनेवाले कार्योंक कम कमवर्ती कारणोंका निर्धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार कमवर्तिनी सिस्क्षायें भी कमवर्ती कार्योंको

क्रमक्रमसे करेंगी । अतः युगपत् सक्रल कार्योकी उत्पत्तिका प्रसंग नहीं आ पाता है । प्रन्थकार कहते हैं कि तब तो दूसरी दूसरी सिसुक्षाओं की उत्पत्तिमें अन्य अन्य सिसुक्षायें और स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें उतनी ही न्यारी सिमुक्षायें कारण हो रहीं स्वीकार करनी पडेंगीं, क्योंकि कार्योंका विशेष रूपसे देखना होनेसे उनके विशेष कारणोंकी व्यवस्था हो जाना अन्यथा बन नहीं सकता है । अर्थात् ---यारे न्यारे कारणोंसे ही न्यारे न्यारे कार्योंकी उत्पत्ति होनेका अविनाभाव है। दूसरे क्षण, तीसरे क्षण, चौथे क्षण, आदिमें ईक्वरंकी न्यारी न्यारी सिसक्षायें तभी उपज सकती हैं, जब कि उनको उपजानेवाली पाइले क्षणमें अनेक सिसकार्ये मानी जावें और ऋमभावी स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें भी उतनी पहिले सिसक्षायें चाहिये कारणोंमें भेद माने तिना कार्योमें विशेषतायें नहीं आ सकती हैं । जैनिसिद्धान्तमें भी " यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः " जितने छोटे मोटे कार्य हो रहे हैं. उतने कारणोंके स्वभावभेद माने जाते हैं। एक कारणसे भी यदि अनेक कार्य हो रहे हैं. तो उस एक कारणमें अनेक स्वभाव घूस रहे हैं। नानी या बडनानीमें भी धेवतेको उपजानेका स्वभाव अन्तर्गृढ है। जैसे कि बाबा पडवावामें नाती. पंतीको उपजानेकी कारणता निहित है। इकतरा, तिजारी, चौथेया, ज्यरोंकी या एक एक, दो दो पीडी बीचमें देकर उपजनेवाले कौलिक रोगोंके उपजानेकी राक्ति भी कारणोंमें सदा छिपी हुई विद्यमान है। आप कर्त्तावादी पण्डित तो पदार्थीमें अनेक धर्मीको स्वीकार नहीं करते हैं। अतः आपको अनन्तिसिक्षायें स्वीकार करनी पढेंगी यह महागौरव या आनंत्यदोष तुम्हारे ऊपर हुआ।

नानाशक्तिरेकैव सिसक्षा तिमिन्नामिति चेत्, ति सकलक्रमभावीतरकार्यकरणपदुर नेकशक्तिरेकैव महेश्वरिसस्क्षास्त । सा च यदि सिस्क्षांतरिनरपेक्षोत्पद्यते तदा स्थावरादि-कार्याण्यपि तिमरपेक्षाणि भवंतु किमीश्वरिसस्क्षया ? सिस्क्षांतरात्तदुत्पत्तौ तत एव सकल-कमभावीतरस्थावरादिकार्याणि भादुर्भवंतु । नानाशक्तियोगात्तदभ्युपगमे च स एव पर्यनु-योग इत्यनवस्था दुर्निवारा ।

यदि कर्तृवादी यों कहें कि उत्तरोत्तर अनेक सिमृक्षाओं और असंख्य स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें उपयोगिनी हो रहीं अनेक शक्तियोंको धारनेवाळी एक ही सिमृक्षा उपज रही उन सिस्काओं और स्थावर आदि कार्योंकी निमित्त कारण मान ळी जायगी यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो कम कमसे होनेवाळ या उनसे न्यारे युगपत् होनेवाळे सम्पूर्ण कार्योंको करनेमें चतुर हो रहीं अनेक शक्तिवाळी महेश्वरकी सिमृक्षा एक ही मान ळी जाओ। जैनसिद्धान्त अनुसार तुमने यह मार्ग अच्छा पकड लिया है। अनेक स्वभाववाळी एक सिस्क्षा ही जगत्के सम्पूर्ण कार्योंको कर हालेगी। मध्यमें अनेक सिस्क्षाओंको माननेकी आवश्यकता नहीं है। इससे ईश्वरकी भी प्रशंसा हुई और आनन्त्य दोषका परिहार मी हो गया। किन्तु हां, यह तो बताओं कि वह एक सिस्क्षा वर्तमान

कालमें उपन रही यदि पूर्व कालको अन्य सिस्धाओंको कारण रूपसे नहीं अपेक्षा रखती हुई उपन जाती है ! तब तो स्थायर आदिक असंख्य कार्य भी उस एक सिसृक्षाकी कारण रूपसे अपेक्षा नहीं करते हुये ही उपन नायंगे । ईश्वरकी सिस्धा करके क्या लाम हुआ ! अर्थात्—ईश्वरकी सिस्धा से कुछ प्रयोजन नहीं निकला । हां यदि अन्य सिस्धा से उस अनेक स्वभाववाली सिस्धा की उत्पत्ति मानी जायगी । तब तो उस दूसरी सिस्धा है सम्पूर्ण कमभावी और अक्रमभावी स्थावर आदि कार्य भी प्रकट हो जाओ । अनेक शक्तिवाली सिस्धा को मध्य में कारण मानेनका बोझ व्यर्थ में क्यों लादा जाता है ' कर्तृत्ववादी यदि दूसरी सिस्धा में भी नानाशक्तियोंका योग हो जाने से उस स्वानुक्ल कार्यकारणभावको स्वीकार करेंगे तब तो वही पर्यनुयोग उठाया जायगा कि वह सिस्धा स्वतः उपजेगी ! अथवा दूसरी सिस्धा से उत्पन्न होगी ! इसी प्रकार तीसरी, चौर्था, पांचवी, कोटियोंपर भी चोध चलाना बढता ही चला जायगा । इस ढंग से हुई अनवस्थाका निवारण करना तुमको अतिकठिन कर्त्तव्य होजायगा ।

यदि पुनर्नित्यानेकशक्तिरेकैव महेश्वरिसमृक्षा तदा अस्याः स एव व्यतिरंकाभावो महेश्वरन्यायवत् । तद्व्यापित्वे एतच्छून्येपि देशे स्थावरादीनाधुत्यत्तेः कुतोऽन्वयस्यापि मसिद्धिः ?

उक्त संपूर्ण दूपणोंके प्रसंगसे भयभीत होकर यदि फिर तुम ईस्वरकी अनेक शाक्तिवाली एक ही सिस्क्षाको नित्य स्विकार कर लोगे तब तो महेस्वरके हुये न्यायके समान इस नित्य सिस्क्षाका भी वहीं व्यतिरेकका अभाव दोष लग बैठेगा। अर्थात्—नित्य महेस्वरका जैसे देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक नहीं वन पाता है उसी प्रकार महेस्वरकी सिस्क्षाका भी व्यतिरेक नहीं वन सकेगा। जब जब या जहां जहां सिस्क्षा नहीं है, तब तब, वहां वहां स्थावर आदि कार्य नहीं उपज पाते हैं। नित्य व्यापक सिस्क्षाके इस व्यतिरेकका अभाव हो जानेसे अन्वय भी ठीक नहीं घट पाता है। अन्वयमें तो असाधारण कारणोंका और आकाश अदि साधारण कारणोंका यदस्य समान है, अतः अन्वय व्यतिरेकोंके नहीं घटनेसे अनेक शक्तिवालो नित्य एक सिस्क्षाको स्थावर आदि कार्योका निमित्तपना नहीं सधता है। यदि देश व्यतिरेक वन जानेकी रक्षा करनेके लिये उस सिस्क्षाको अल्पदेशवृत्ति अव्यापक माना जायगा तब तो इस सिस्क्षासे रीते होरहे देशोंमें भी स्थावर, ऋतुपरिवर्तन आदि कार्योकी उत्पत्ति अविराम होरही देखी जाती है। इस कारण विचारे अन्वयक्षी भी प्रसिद्धि भला किस ढंगसे होसकी ? अर्थात्— सिस्क्षाके होनेपर ही कार्य उपजने चाहिये थे। किन्तु अन्यापक सिस्क्षा जहां नहीं है वहां भी कार्य उपज रहे हैं। अतः अन्वय बिगड गया।

यदि पुनरनित्यापि सिस्क्षा ब्राह्मेण मानेन वर्षशतीते जगद्भीक्चृमाण्यदृष्टसामध्याँदेकै-वोत्पद्यते न सिस्क्षांतरादिति मतं, तदा तत एव जगदुत्पचिरस्तु किमी वरसिस्क्षया ? ततो न स्थावराद्युत्पत्तौ महेक्यरो निमित्तं तदन्वयव्यतिरेकात्नुविधानविकल्लात् । यद्यकिमित्तं तम तदन्वयव्यतिरेकानुविधानविकलं दृष्टं यथा कुविंदादिनिमित्तं वस्तादि । महेश्वरसिस्क्षान्व-यव्यतिरेकानुविधानविकलं च स्थावरादि तस्माश्व तिभित्तिचिति व्यापकस्य तदन्वयव्यति-रेकानुविधानस्यानुपलंभादव्याप्यतिभामित्तत्वस्य स्थावरादिषु प्रतिषिद्धे सिद्धे सित सिश्वेश्ववि-शिष्टत्वादेईतोरनैकांतिकत्वं स्थावरादिभिः केचिन्मन्यंते ।

यदि फिर तुम पौराणिकोंका यह मन्तव्य होय कि हम ईश्वरकी सिसक्षाको नित्य नहीं मानते हैं। जिससे कि न्यतिरेक नहीं बन पाये किन्त वह अनित्य भी सिसक्षा ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण (नाप) करके सौ सौ वर्षके अन्तमं जाकर जगदवर्त्ता भोक्ता प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे एक ही उपजती है। दूसरी सिस्क्षासे उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। अर्थात्—सत्रह लाख अहाईस हजार वर्षका सत्ययग है। बारह लाख छियानवे हजार मानुष वर्षोका श्रेतायग है। आठ लाख चौसठ हजार वर्षोंका द्वापर है। और चार लाख बत्तीस हजार मानुष वर्षोंका कलियुग है। यों सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुगकी सहस्र संख्याके बीत जानेपर ब्रह्माका एक दिन समझा जाता है। इसी प्रकार हजार चार युगोंके समान चार प्रहरोंकी एक रात मानी गयी है । यों इन रात, दिनोंसे महीना और वर्ष बनाकर सौ वर्षके पीछे एक ही सिसृक्षा उपजती है। उसको उपजानेमें अन्य सिसृक्षा कारण नहीं है। हां, जगत्के प्राणियोंके पुण्य, पाप, उस सिस्क्षाको उपजानेमें निमित्त पड जाते है। जैसे कि न्यायाधीशकी नियुक्तिमें अपराधी या निरपराधी पुरुषोंका पाप, पुण्य निमित्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि तब तो उस ही कारणसे यानी सुख, दु:ग्वको भोगनेवाले संसारवर्ती प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे हैं। कार्य जगत्की उत्पत्ति हो जाओ जैसा कि हम जैन मानते हैं। ईश्वरकी सिसक्षा करके क्या प्रयोजन संधा ? नियन कारणों द्वारा नियत कार्योका उपजना बड़ा उत्तरदायी कर्त्तव्य है। अतः कारणकोटिमें अप्रमित ठलुआ पदार्थीका बोझ बढाना हित्रकर नहीं है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्थावर आदि कार्योक्ती उत्पत्तिमें महेश्वर या उसकी सिस्रक्षा निमित्तकारण नहीं है। (प्रतिज्ञा) उन कार्योके साथ अन्त्रय और न्यतिरेकके अनुविधानका रहितपना होनेसे (हेतु) जो कारण जिस कार्यका निमित्त है । वह कारण उस कार्यके साथ हो रहे अन्वयव्यति-रेकोंके अनुविचान करनेसे रीता नहीं देखा गया है । जैसे कि कीरिया, तुरी या कुळाळ, दण्ड, आदिको निमित्त पाकर हुये वस्त्र, घट आदि कार्य हैं। (न्यतिरेकदृष्टान्त) महेश्वर या उसकी सिस्क्षाके साथ अन्वय व्यतिरेकका अनुविधान करनेसे विकल हो रहे स्थावर आदि कार्य हैं। (उपनय) तिस कारणसे वे स्थावर आदि कार्य उस महत्त्वर या सिस्क्षाको नहीं निमित्त पाकर उपजे हैं। (निगमन) इस पांच अवयववाले अनुमान द्वारा व्यापक हो रहे तदन्वय व्यतिरेकानविधा-नके अनुपल्रम्मसे स्थावर आदि कार्योमें तिविमित्तपनका प्रतिषेध हो जाना सिद्ध होते सन्ते सिविवेश-विशिष्टल, कार्यल, आदि हेत्ओंका स्थावर, खनिज, आदि कार्योक्तरके व्यभिचार दोष होनेको कोई कोई निद्वान् मान रहे हैं। अर्थात् -- कार्य कारण भावका अयापक अन्वयन्यतिरेकानुविधान है।

च्यापक नहीं होनेसे व्याप्यका अभाव साध िष्या जाता है। ईश्वर या ईश्वर इच्छाके साथ कार्य उस अन्वय—व्यतिरेकपद्धतिका अनुसरण नहीं करते हैं। इस कारण कार्यों निमित्त ईश्वर या ईश्वर इच्छा नहीं है। यो स्थावर आदि कार्यों के प्रति ईश्वर या ईश्वर इच्छाका निमित्तपना जब युक्तियों द्वारा निषद्ध हो चुका तो ईश्वरवादियों द्वारा पिहले कहे गये सिन्निवेशिष्टल, अचेतनो पादानल आदि हेतुओं का व्यभिचार दोष तदवस्य रहा, यों कोई पिष्डत जैनों की चायुकारता करते हुये मान रहे हैं। ग्रंथकारका इनके प्रति कोई अत्यधिक आदर अथवा घृणाका भाव नहीं है। यह उनका परिणाम अडतीसवीं वार्तिकसे ही ध्वनित हो जाता है।

एवमीशस्य हेतुत्वाभावसिद्धिं प्रचक्षते । व्यापकानुपलंभेन स्थावरादिसमुद्भवे ॥ ५०॥

श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यहां कोई विचारशास्त्री विद्वान इस प्रकार उक्त रूपसे बहुत अच्छा स्पष्ट कथन कर रहे हैं कि स्थावर, मैचवृष्टि, आंधी आदिकी भले प्रकार उत्पत्ति होनेमें ईश्वरको निमित्तकारणपनके अभावकी व्यापकके अनुपल्यम करके लिख्नि हो रही है। अर्थात्—कार्य कारण भावका व्यापक अन्वय व्यतिरेकभाव है। जहा व्यापक नहीं है वहां व्याप्य नहीं ठहर सकता हैं। अडतीसवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके हेतुओंका जो व्यभिचार दोष किन्हीं विद्वानी करके उठाया गया है वह अनुचित नहीं है।

एवं जगतां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कार्यत्वादिश्वतोः स्थावरादिभिर्व्यभिचारमुद्धाच्य पुनः स्थावरादीनामीश्वनिमित्तत्वाभावसिद्धिं व्यापकान्नुपर्लभेन केचित्मचक्षते ।

इस प्रकार किसी बुद्धिमान् ईश्वरमें तीनों जगत्का कारणपना साध्य करनेपर दिये गये कार्यत्व सिन्निवेशिविशिष्टत्व आदि हेतुओंका स्थावर, पर्वत, आदिकोंकरके व्याभिचार हेत्वाभासको उठाकर फिर ईश्वरमें स्थावर, पृथिवी, आदि कार्योंके निमित्तकारणपनके अभावकी सिद्धिको व्यापकानुपठम्मकरके जो कोई बखानते हैं वे विद्वान् अच्छा निरूपण कर रहे हैं, हमें उनके कर्तव्यपर संतोष हैं।

पक्षस्यैवानुमानेन बाधोद्धान्येति चापरे । पक्षीकृतैरयुक्तत्वाद्व्यभिचारस्य साधने ॥ ५१ ॥

दूसरे कोई त्रिद्वान् यहां यों कह रहे हैं कि वैशेषिकों के पक्षकी अनुमानकरके ही बाधा उठानी चाहिये वैशोषिकों करके पक्षमें पिहले नहीं किये किन्तु पुनः पक्षकोटिमें धर लिये गये स्थावर आदिकों करके कार्यत आदि हेतुओं वयिभचार हेत्वामासका उठाना युक्तिरहित है। भावार्थ — जैनमतका पक्ष ले रहे केचित् विद्वान्के ऊपर जैनसिद्धान्तपर भक्ति रखनेवाले अपर विद्वानोंका थह आक्षेप

है कि त्रिजगत्का निमित्तकारण ईस्तरको साध्य करनेमें कार्यत्व आदि हेतुओंका पिछले व्यमिचार दोष उठाना और फिर बाधित हेलाभास दोष उठाना यह मार्ग प्रशस्त नहीं है। हां, यह मार्ग पुंदर है कि वैशेषिकोंके अनुमानको झिटित नष्ट करनेवाले इस अनुमानकरके बाधित दोष उठाना चाहिये कि महेस्वर (पक्ष) स्थावर, बीज, आदि कार्योकी उत्पन्तिमें निमित्तकारण नहीं है। (साध्य) उनके साथ अन्वय व्यतिरेकोंके अनुविधानकी विकलता होनेसे (हेतु) यह निर्दोष अनुमान जैनोंकी ओरसे समुचित प्रयुक्त किया जासकता है, केचित् विद्वानोंको स्थावर, हीरा, पन्ना, आदि करके न्याभिचार दोष उठाना अनुचित है। क्योंकि वैशेषिकोंके यहा स्थावर, समुद्रज, खनिज आदि पदार्थोको भी पक्षकोटिमें डालकर उनको ईश्वरका कार्य मान लिया गया है वे एक एक अनके टाने या छलकी पाखरी तक कोई ईश्वरकी इच्छा पर निर्भर मानते हैं। " नहि पक्ष पक्षसमे वा व्यभिचारः " पक्ष या पक्षसममें दिया गया व्यभिचार दोषाधायक नहीं है, जब बाधक अनुमान द्वारा प्रतिपक्षीके बाध्य अनुमानका साक्षात् खंडन किया जा सकता है तो अनुमितिके कारण होरहे व्याप्तिज्ञान या परामर्थको बिगाडनेवाले व्यभिचार दोषका उठाना छोटापन है।

अनेनवानुमानेन व्यापकानुपलंभेन पक्षबाधोद्धावनीया कालात्ययापदिष्टुत्वं च हेतोस्त-थोद्धावितं स्यान्न पुनः पक्षीकृतैः स्थावरादिभिः साधनस्य व्यभिचारस्तत्रोद्धावनीयस्तस्यायु-क्तत्वात् । एवं हि न कश्चिद्धतुर्व्यभिचारी स्यात् कृतकत्वादेरिप शब्दानित्यत्वादौ पश्चीकृतैः शब्दैरेव कैश्चिद्वचभिचारस्योद्धावितुं शक्यत्वात् ।

" महेक्करो स्थावराषुत्पत्ती न निर्मित्तं " इस हां अनुमान करके अन्वय, व्यतिरेक अनुविधान स्वक्ष्य व्यापकके अनुपलंभ द्वारा वैशेषिकों के पक्षकी बाधा उठानी चाहिये, और तैसा होनेपर वैशेषिकों के कार्यत्व आदि हेतुओं का कालत्ययापिदिष्टत्व यानी बाधितहेत्वाभासपना भी उठाया जा चुका समझा जायगा, किंतु फिर वैशेषिकों द्वारा पक्षमें करिलये गये, स्थावर, जंगम, प्राणियों के शरीर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओं का व्यभिचार तो वहां वैशेषिकों के अनुमानमें नहीं उठाना चाहिये, क्योकि पक्ष कर लिये गये स्थलों करके ही उस व्यभिचार दोषका उठाया जाना अयुक्त है। इस प्रकार के वित्त विद्वान् यदि पक्षमें कर लिये गये स्थलों करके ही व्यभिचार दोष उठायंगे तब तो कोई भी हेतु विचारा व्यभिचारदोषसे रहित नहीं हो सकेगा। पक्ष किये गये पर्वतमें अग्निकी उपलब्धि नहीं होनेपर धूम हेतुको भी व्यभिचारी कहा जा सकता है। पक्षमें साध्य विवादापन्न हो ही रहा है। सर्वथा निर्दोष होकर प्रसिद्ध हो रहे कृतकत्व, सन्त्व, आदि हेतुओं का भी शब्दके अनित्यपन, परिणामीपन आदिकी सिद्धि करनेमें पक्ष कर लिये गये शब्द करके ही कोई अञ्च पुरुष व्यभिचार दोषका उठा सकता है। ईर्षाल किया इठलाती हुयीं सुंदर क्रियोंपर यों ही झूंठ, मूठ, व्यभिचार दोषका आरोप कर बैठती है। एतावता वह दोष यथार्थ नहीं समझ लिया जाता है।

न कश्चिज्जगद्बुद्धिमिमित्तं साधियतुं स्थावरादीन् पक्षीकुरुते । तैः साधनस्य व्यभि-चारोद्भावने वा कृते साति पश्चाश्च पक्षीकुर्वीत येन व्यभिचाराविषयस्य पक्षीकरणाद्धेतोर-व्यभिचारे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात् ।

कोई कोई कर्तृशदी तो जगत्के बुद्धिमान् निमित्त कारण द्वारा बनाये जानेको साधनेके लिये पहिलेते ही स्थावर, सूर्य, चन्द्रमा, आदिकोंको पश्च कोरिमें कर लेता है। हां, कोई वैशेषिक पृथियी, पर्वत, शरीर आदिकोंको पश्च करता है। एसी दशामें किसी प्रतिवादी द्वारा उन स्थावर आदिकों करके कार्यत्व हेतुका व्यमिचार दोष उठाना कर चुकनेपर पीछेसे स्थावर आदिको पश्चकीटिमें कर लेता है। किन्तु ऐसा कोई कर्तृवादी नहीं जो वन्य वनस्पति, खनिज, स्थावर, आदिको पश्चकीटिमें नहीं करें क्योंकि ईश्वरवादी तो आत्मा, आकाश, परमाणु, आदि नित्य पदार्थोंको छोडकर शेष सभी स्थावर, खानिज, बीज, अंकुर, अदृष्ट, सूर्य, पर्वत, आदि अनित्य चराचर जगत्का निर्माण करनेवाला ईश्वरको मानते हैं। अतः वे सब पश्चकोटिमें आ जाते हैं। व्यमिचारके विषय हो रहे स्थलको पश्च कर देनेसे हेतुका अव्यमिचार माना गया है। यदि व्यमिचारस्थलको पश्चकोटिमें प्रविष्ट करते हुये भी बलात्कारसे व्यमिचार उठाया जायगा। तब तो कोई भी हेतु व्यमिचार दोषरहित नहीं हो सकेगा। अतः यहां व्यमिचार दोष उठाना उचित नहीं है। जिससे कि वस्तुतः व्यमिचार दोषके विषय नहीं किन्तु असदाप्रह करके व्यमिचार दोषके विषय हो रहे स्थलको पश्च कर देनेसे हेतुका अव्यमिचार माननेपर कोई भी हेतु व्यमिचारी नहीं वन बैठे यानी सभी हेतु व्यमिचारी नहीं वन जीय। एतदर्थ वैशेषिकोंके अनुमानमें पक्षीकृत स्थावर आदिकों करके व्यमिचार दोषको नहीं उठाओ।

पकान्येतान्याम्रफलान्येकशारवाशभवत्वादुपयुक्तफलवदित्यादिषु तदेकशारवाशभवानाम-पकानामाम्रफलानां व्यभिचारविषयाणां पक्षीकरणादित्युपालंभः स्यात् । यथा चात्र न पक्षी-कृतैः कश्चिम्यभिचारमुद्धावयति किंतु प्रत्यक्षबाधा पक्षस्य हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वं तथा मकृतातुमानेषि । यथा च पक्षस्य प्रत्यक्षबाधोद्धावयितुं युक्ता तथानुमानबाधापि । यथा च प्रत्यक्षबाधितपक्षानिर्देशानंतरम् प्रयुज्यमानां हेतुः कालात्ययापदिष्टस्तथानुमानबाधितपक्षनिर्देशा-नन्तरमपि सर्वथा विश्रेषाभावात् पक्षबाधोद्धावने च हेतुभिः परिदानमपि न भवेदिति साद्धाव-नीया, तदुपेक्षायां प्रयोजनाभावादिति चापरे प्रचक्षते । अन्ये त्वाहुः ।

आम्रद्दक्षकी एक शाखा पर कितने ही कच्चे, पक्के, फल लग रहे हैं किसी लोभी आतुर विकेताने बानगीके ढंगसे दो एक मीठे फल भोले केताको चखा दिये शाखाके सम्पूर्ण फलोंका खाना खबाना प्रयोजनीभूत नहीं है। अतः विकेता अनुमान बनाता है कि ये सन्मुख देखे जारहे सभी आम्रफल (पक्ष) पके द्वये हैं (साध्य) द्वक्षकी एक शाखामें उपजना होनेसे (हेतु) उपयोगोंमें आचुके चूसे हुये आमके समान (अन्वय दृष्टाम्त)। अथवा मित्रा नामक काली स्नीका गर्भस्य पुत्र गोस है, अबकी बार काले पनके पत्र, शाक, आदिका मक्षण बहिरंग कारण और अन्तरंग कारण कृष्ण वर्ण नामक प्रकृतिका उदय नहीं मिलनेसे गर्भका पुत्र गोरा है, कोई स्थूल बुद्धि पुरुष अनुवान बनाता है कि गर्भस्थित पुत्र होनेसे (हेतु) इतर तीन, चार, देखे जारहे पुत्रोंके समान (अन्वय-दृष्टान्त)। इसी प्रकार यह तीसरा अनुमान किसीने उठाया कि यह छात्र (पक्ष) न्युत्पन्न है (साध्य) इस प्रसिद्ध विद्यालयमें प्रकाण्ड विद्वान द्वारा प्रन्थाध्ययन करने वाला होनेसे (हेतु) परिदृष्ट न्युत्पन विद्यार्थियोंके समान (अन्वयद्यानत) वस्तुतः वह छात्र अन्युत्पन था इत्यादिक स्थ**ोंमें** न्याभिचारके विषय हो रहे उस एक शाखापर उपजे हुये कहे आम्र फलोंको या गर्भस्थ पुत्रको अथवा उपद्रवी, अविनीत, छात्रको पक्ष कोटिमे कर देनेसे यों उपालम्भ हो जाता । अर्थात्-व्यिमचार स्थलोंको पक्षकोटिमें डाल देनेसे पनः व्यभिचार दोष नहीं उठाया जाना चाहिये जिस प्रकार कि यहां एकशाखाप्रभवत्व आदि हेतुओंमें पक्षकोटिमें कर छिये गये कहे फल आदिकों करके कोई भी विचारशील पण्डित पुनः उन करके व्यभिचार नहीं उठाता है। किन्तु प्रत्यक्षप्रमाणसे पक्षकी बाधा देना दोष ही उपस्थित करता है और ऐसी दशामें हेतुका बड़ा दढ़ दोष काळात्ययापदिष्टपना यानी बाधितपना उठाकर बादीकी सम्पर्ण मनोरथ-भित्तियोको वह प्रतिवादी ढाह देता है। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त वैशेषिकोंके अनुमानमें भी जैनोंको व्यभिचार दोष नहीं उठाकर बाधितहत्वाभास उठाना चाहिये । जिस प्रकार कि पक्षकी प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधाको उठानेके लिये समुचितपना है उसी प्रकार अनुमानपमाण करके भी पूर्वपक्षीके अनुमानमें प्रसन्नता र्वक बाघा उठाई जा सकती है। '' विहरनुष्णः द्रव्यत्वात् जळवत् अप्ति (पक्ष) शीतळ है (साध्य) द्रव्य होनेसे (हेत्) जळके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमानमें जैसे स्पार्शन प्रत्यक्षसे बाधितपना आपादित कर दिया जाता है । उसी प्रकार '' अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् '' इस अनुमानको शब्द परिणामी 🕻 सत् होनेसे इस अनुमान द्वारा बाधित किया जाता है। प्रकरणमें द्वीप आदिक (पक्ष) किसी बुद्धिमान करके बनाये गये हैं (साध्य) विशेष रचनावाळे होनेसे या कार्य होनेसे (हेत्) इस वैशोषिकाँके पक्षकी स्थावर आदिकी उत्पत्तिमें महेश्वर (पक्ष) निमित्त कारण नहीं है (साध्य) अन्वय-न्यतिरेककी घटना नहीं होनेसे (हेत्) इस अनुमान द्वारा बाधा उठाई जा सकती है । तथा प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित हो रहे पक्षनिर्देशके अनन्तर प्रयुक्त किया जा रहा हेतु जिस प्रकार बाधित हेत्वाभास है उसी प्रकार अनुमानप्रमाणसे वाधित हो रही प्रतिज्ञाके निर्णीत निर्देशके पश्चात् प्रयुक्त किया जा रहा हेतु भी काळात्ययापदिष्ट है प्रत्यक्षवाधित और अनुमानवाधित पक्षसे अनुमिति तत्कारणान्यतरिवरोधित्व सम्बन्धकरके सहित हो रहे हेतुओंमें समी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। एक बात यह भी है कि हेतुओं करके वादीं के पक्षकी बाबाको उठानेपर पुनः परिवर्तन भी नहीं हो सकेगा । अर्थात् - एक हेतुसे पक्षसिद्धि न सही दूसरे हेतुओंसे कर छेंगे यों भी पक्षनी सिद्धि वहीं हो सकती है। जब प्रत्यक्षसे अग्निका उच्णपना या अनुमानसे शब्दका परिणामीपना प्रसिद्ध है। तो

ह्वारों हेतुओंसे भी अप्रिका अनुष्णमना या शब्दका कूटस्थ नित्यपना कथमपि नहीं साथा जा सकता है। अथवा पहिलेसे बाधित हेत्वाभासके उठा देनेपर पुनः अन्य हेतुओं करके भी वादीका पक्ष रिक्षत नहीं किया जा सकेगा। बल्वकी बाधाके उपस्थित कर देनेपर सम्पूर्ण हेतुओंकी शिक्षयां मर जाती हैं। इस कारण कर्त्तावादियोंके पक्षमें वह बाधा उठा देनी चाहिये उस बाधाको उपस्थित करनेकी उपेक्षा (लापरवाही) करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है। पाप या कृष्ण सर्पको अविलम्ब पृथक् कर दिया जाय यही सबका इष्ट प्रयोजन होना चाहिये उनको रखनेमें कोई प्रयोजन नहीं सधता है। प्रयुत्त महती हानि होनेका खटका है। यो यहांतक कोई दूसरे विद्वान् अच्छा बखान कर रहे है। श्री विद्यान्द आचार्यने बडी विद्वचाके साथ कर्तृवादका निराकरण किया है जैसे गुरुजी महाराज अपने अनेक शिष्योंकी परीक्षा लेते हुये भिन्न भिन्न वचनभीगयों द्वारा एक ही प्रमेयकी न्यारी न्यारी व्याख्या करा कर प्रसन्त होते हैं प्रन्थकार भी जिनमार्गभक्त अनेक विद्वानों द्वारा कर्तृवादके निराकरणके पाठकी प्रक्रि- याको मानो सुन रहे हैं। केचित् और अपरे विद्वानोंक पश्चात् अन्य विद्वान् तो यहां यों कह रहे हैं कि— याको मानो सुन रहे हैं। केचित् और अपरे विद्वानोंक पश्चात् अन्य विद्वान् तो यहां यों कह रहे हैं कि—

सर्वथा यदि कार्यत्वं हेतुः स्याद्वादिनां तथा । न सिद्धो द्रव्यरूपेण सर्वस्याकार्यतास्थितेः ॥ ५२ ॥ कथंचित्त विरुद्धः स्याद्वीमदेतु जगत्त्वयं । कथंचित्साधयिष्ठष्टिवपरीतं विशेषतः ॥ ५३ ॥

वैशेषिकोंने जो यह अनुमान कहा था। कि " द्वीपिक्षिसंकुरादिकं कर्तृ जन्यं कार्यत्वाद् घटवत् " हम अनुमानमें कहे गये कार्यत्व हेतुका अर्ध यदि सभी प्रकारोंसे कार्यपना है तब तो स्याद्वादियों के यहां द्वीप, पृथिवी, आदिमें तिस प्रकार सर्वथा कार्यपना हेतु सिद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्यस्वरूप करके सम्पूर्ण पदार्थोंको कार्यरहितपना व्यवस्थित हो रहा है घट, पट आदि क्र भी द्रव्यार्थिक नय करके कार्य नहीं हैं। अर्थात्—िजन अनादि अनन्त द्रव्योंके पर्याय घट, पट, आदि है वे द्रव्य कार्य नहीं हो कर नित्य हैं। अतः पक्षमें नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास हुआ। हां, इस असिद्ध दोषके निवारणार्ध सर्वथा पक्षको छोडते हुये तुम वैशेषिक यदि कथंचित् कार्यपनको हेतु मानोगे तब तो तुम्हारा हेतु विरुद्ध हैत्वाभास होजायगा क्योकि तुम जगत्का बुद्धिमान हेतु करके सर्वथा उपजना साध रहे हो यानी जगत्में सर्वथा ईश्वर नामक कारणकी कार्यता है किन्तु कथंचित् कार्यत्व हेतु तो विशेष रूप करके इष्ट साध्य विपरीत हो रहे कथंचित् बुद्धिमान्के निमित्तकारणपनको साध रहा है। अतः तुम्हारा हेतु विशेष रूपसे विरुद्ध होरहा विरुद्ध नामका हेत्वाभास हुआ।

नाकोशंतः पलायंते विरुद्धा हेतवः स्वतः । सर्वगे बुद्धिमद्धेतौ साध्येन्यैर्जगतामिह् ॥ ५४ ॥ अन्य विद्वान् वैशेषिकों करके इस प्रकरणमें तीनों जगतोंके हेतु होरहे सर्व व्यापक किसी बुद्धिमान्को साध्य करनेपर दिये गये व कार्यत्व आदि हेतु तो विशेष विरुद्ध हेत्वामास हैं, इस प्रकार ताध्यसे विपरीत कथंचित् बुद्धिमान्को निमित्तकारणपनकी सिद्धि होजानेकी बढं बळसे पुकार करनेबाळे ये हेतु अपने आपहीसे नहीं दूर भग जाते हैं। अर्थात्—व्यापक, सर्वज्ञ, बुद्धिमान्को निमित्तपना साधनेमें प्रयुक्त किये गये कार्यत्व आदि हेतु जब कथंचित् बुद्धिमान्को जगत्का कारणपन साध रहे हैं। तो ऐसी दशामें उस वैशेषिकके सिद्धान्तको गाळिप्रदान कर रहे ये हेतु यों ही स्वतः नहीं भग जायंगे किन्तु वैशेषिकोंके विरुद्ध होकर जगत्में कथंचित् बुद्धिमान् द्वारा किये गये पनका दिंद्वीरा पिटते रहेंगे। जैसे कोई सन्मार्ग प्रचारक, उद्देगी, भळा, मनुष्य यदि किसी असत् पक्षवाळे पुरुषके साथ फंस जाय पुनः वह मळा मानुष अपने साथिके दुर्गुणोंको देखता है तो उससे विरुद्ध होकर कट्ट शब्दों द्वारा उसकी मर्त्सना करता है यों ही चुपके नहीं भग जाता है उसी प्रकार कथंचित् कार्यत्व हेनु उन वैशेषिक या पौराणिककी अच्छी प्रतरणा करता हुआ उनके अभीष्ट साध्यसे विपरीत पक्षको साधनेके लिये कमर कस ळेता है।

यदि सर्वथा कार्यत्वमचेतनोपादानत्वं, सिक्निवेशिवृत्वं, स्थित्वा प्रश्चन्यादि वा देतुस्तदा न सिद्धस्तन्वादेरि द्रव्यार्थादेशादकार्यत्वात् । कार्यत्वं तावदिसिद्धं तथा तस्य नित्यत्वव्यव-स्थितः सर्वथा कस्यचिदनित्यत्वं व्यक्तियाविरोधात् । तत एव सर्वस्यानुपादानत्वादचेतनोपादानत्वं न सिद्धं ज्ञानादेः पक्षीकृतस्यापि चेतनोपादानत्वात् तदभ्युपगमो नापि भागासिद्धं वनस्पित्वं न सिद्धं ज्ञानादेः पक्षीकृतस्यापि चेतनोपादानत्वात् तदभ्युपगमो नापि भागासिद्धं वनस्पित्वं क्षानादी स्वपमनभ्युपगमाच भागासिद्धं तद्देव स्थित्वा मद्दाचिरिप न द्रव्यार्थिदेशात् कस्यचित्तथा सर्वस्य नित्यपद्यत्वादिति तदसिद्धः । अर्थिकियाकारित्वं पुनर्दव्याद्यीनतरभूतस्य पर्यायस्यैकातेन तद्दुरुपपादिमित्यसिद्धमेव ।

स्याद्वादियोंके पक्षका आदर कर रहे कोई अन्य विद्वान् उन कर्तृवादियोंसे पूंछते हैं कि शरीर, पृथिवी, द्वीप, पर्वत आदिमें ईश्वरकृतपना साधने के लिये प्रयुक्त किये गये कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सिल्वेशविशिष्टत्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, अर्थिकियाकारित्व आदिक हेतु यदि सर्वथा हैं। अर्थात्—पृथिवी, शरीर, आदिमें सभी प्रकारोंसे कार्यपना या मभी प्रकारोंसे अचेतन उपादान कारणोंसे जन्यपना आदि है तब तो तुम्हारे हेतु सिद्ध नहीं हैं असिद्ध हेत्वाभास हैं क्योंकि द्रव्यार्थिक—नय—द्वारा निरूपण करनेसे तनु, द्वीप, पर्वत, आदिक भी कार्य नहीं हैं सम्पूर्ण द्वय अनादि अनन्त हैं शरीर आदि पर्यीय मछे ही अनित्य होय किन्तु शरीर आदिका पुद्रल द्वय नित्य है। अतः सभी प्रकारोंसे यानी द्रव्यक्ष्यसे भी कार्यपना मानना तो तनु आदिमें असिद्ध है तिस प्रकारसे तो उन तनु आदिकोंको नित्यपना व्यवस्थित हो रहा है। यदि सभी प्रकारोंसे किसीको भी अनित्य माना जायगा तो अर्थिकया

होनेका विरोध होगा। एक क्षणमें ही उपज कर नष्ट होनेवाला पदार्थ जब आत्मलाभ ही नहीं कर सका तो फिर अपने योग्य अर्थिकियाको भला क्या करेगा ! अनेक क्षणोंतक ठहरते हुये ही बाण आदि पदार्थ अभीष्ट स्थानपर पहंच सकते हैं। काळान्तर स्थायी घट ही जळघारण क्रियाको कर पाता है। बहुत देरतक ठहर रहे अन्न, जल, आदिक पदार्थ ही क्षुधा, पिपासा, आदिकी निवृत्ति कर सकते हैं। दीपकिलका, बिजली, बुदबदा (बब्ला) आदि पदार्थ भी सर्वथा नित्य नहीं हैं। असंख्य समयोंतक इनकी स्थिति है द्रव्यरूपसे तो ये भी नित्य हैं। अतः तुम्हारा सर्वथा कार्यत्व हेत प्रकृत पक्षमें नहीं घटित होनेसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तिस ही कारणसे यानी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कथन करनेसे जगतके सम्पूर्ण पदार्थीको उपादान कारणसे रहितपना है जब कि सम्पूर्ण चरा-चर पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य हैं एंसी दशामें वे उपादान कारणोंसे जन्य नहीं हो सकते हैं अतः शरीर, प्रथिवी, आदिकोंमें अचेतन उपादान कारणोसे उपजना हेत भी सिद्ध नहीं है तब तो अचे-तनोपादानत्व हेतु भी स्वरूपासिद्ध हुआ । दूसरी बात यह है कि अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास भी है । पक्षके एक देशमें हेतु रहे और प्रक्षके दूसरे देशमें हेतु नहीं रहे वह भागासिद हेलाभास होता है। शरीर, पृथिवी, वृक्ष, आदिके उपादान कारण अचेतन माने गये हैं। किन्तु ज्ञान, सल, इच्छा आदिक कार्य भी पक्षकोटिमें किये गये हैं। परन्तु ज्ञान आदिके उपादान कारण तो चेतन आत्मार्ये माने गये है । अतः उस स्वीकृति करके भी पक्षके परिपूर्ण देशोंमें नहीं ठहरनेसे अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वामास है। जैसे कि वनस्पतियोंमें चेतनपना सिद्ध करनेके छिये प्रयुक्त किया गया स्वापदेव भागासिद्ध है वनस्पतियां (पक्ष) चैतन्यवालीं हैं। (साध्य कोटि) शयन करनेवाळी होनेसे (हेत्) दो दिनके जन्मे हुये बालकके समान (अन्वयद्दशन्त) इस अनुमान द्वारा निद्राकर्भका उदय होनेपर शे रहीं वनस्पतियोंमें तो चैतन्य वटित हो जाता है किन्तु हलन. कम्पन, कर रहीं जागती हुयीं वनस्पतियोंमें स्वाप हेत्से चेतनपना सिद्ध नहीं हो पाता है। सम्पूर्ण जागते हुये मनुष्य, पश्च, पक्षी जीवोंमें भी स्वाप हेतु से चैतन्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। तथा तीसरा सिनेवेशिविशिष्टपना हेत भी द्रव्यके घटित नहीं होता है। क्योंकि वह रचनाविशेष या तिकोने. चोकोने. गोल. आदि परिमाणोंकी रचनायें पर्यायोंमें पायाँ जाती है। इस कारण सर्वथा सिन्नेवेशविशिष्टत्व हेत स्वरूपासिद्ध है। चारो ओर देखी जा रहीं रचनायें जब कि पर्यायोकी नियत हैं तो द्रव्यार्थिकरूपसे विशेष सनिवेश उन पक्षोंमें नहीं वर्तता है एक बात यह भी है कि वैशेषिकोंने ज्ञान, सुख, आदि गुणोंमें या भ्रमण, चलन आदि क्रियाओंमें सिनेवेशिवशेषको स्वयं स्वीकार नहीं किया है " गुणादिनिर्गुणिकयः " गुण, क्रिया, जाति, आदिमें परिमाण आदि गुण या क्रियायें नहीं ठहरते हैं गुण तो द्रव्योंमें ही पाये जाते हैं। अतः पक्षके एक देश हो रहे ज्ञान आदिमें सिनवेशविशेषकी वर्तना नहीं होनेसे सर्वया सिनवेशिवशिवत हेतु भागासिद हेत्वाभास है उन सर्वथा कार्यत्व, सर्वथा अचेत्नोपादानत्व, सर्वथा सनिवेशिविष्ठित हेतुओंके समान ही चौथ

ठहर ठहरकर प्रवर्तना हेत भी सिद्ध नहीं है स्वरूपासिद्ध हैत्वाभास है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेकासे किसी भी पदार्थकी तिस प्रकार ठहर ठहरकर त्रिराम लेते हुये प्रवृत्ति नहीं होती है दृष्यार्थिकनयसे तो सम्पूर्ण पदार्थ सूर्य, चन्द्रमाके अविराम प्रकाश करनेके समान अविश्राम नित्य प्रवृत्ति कर रहे हैं। पुत्रक दव्यके रूप, रस, आदिक गुण नित्य ही काली, पीळी, खद्दी. मीठी आदि पर्यायोंके धारनेमें प्रवर्त रहे हैं . एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता है। जीव द्रव्य सर्वदा जानना, अस्तिपन, बस्तुपन आदिमें अनवरत प्रवृत्ति कर रहा है। जीवकी पर्याय बर्डई सुनार, कुछाछ, या पुद्रछकी। पर्याय कुठार, हथोडा, चाक चूमना आदिके समान मध्यमें विराम छेते हुये प्रवृत्ति करना द्रव्योंमें नहीं है। चला दिये गये यंत्र (मशीन) के समान जिस ओर धुन बंध गयी उसमें द्रव्य सदा प्रवर्तते रहते हैं इस कारण उस स्थित्वा प्रवृत्ति हेतुकी भी असिद्धि हुई । पांचवां अर्थिकियाकास्त्वि हेतु फिर इन्यसे भिन्न हो रही पर्यायके पाया जाता है। घट, पट, आदि पर्यायें जल धारण आदि अधिकियाओं को कर रही हैं। पुद्रलकी जल पर्याय करके स्नान, पान, अवगाहन, अधिकियायें करीं जातीं हैं। एकान्त करके यानी सर्वथा शरीर, पृथ्वी, आदिकोंको वह अर्थक्रियाकारीपन कठिनतासे भी नहीं बन पाता है। अर्थात् इन्यरूपसे शरीर, पर्वत, आदिक किसी भी छौकिक प्रयोजन सायक अर्थिकियाका सम्पादन नहीं कर रहे हैं जैसे कि खेतकी भिट्टी मर्छे ही चना गेंहू, ईख, मूंग, उर्द, बननेकी सामर्थ्यको रखती है किन्तु वर्तमान मिट्टी अवस्थामें रोटी, दाल, पेडा, या क्षधा निवारण आदि कार्योंको नहीं कर पाती हैं अथवा इस पंक्तिका अर्थ यों कर छिया जाय कि वैरोषिकोंके यहां द्रव्यते सर्वथा भिन्न मानी गयी पर्यायको अर्थक्रियाकारीपना कथमपि युक्तियोंते नहीं सव पाता है। द्रव्यसे क्यांचित् अभिन हो रहीं पर्यायें ही अर्थिकपाओंको करती हैं पर्यायानक द्रव्य अर्थिक्रियाओंको साध रहे हैं। अतः अर्थिक्रयाकारित्व हेतु उन पृथ्वी, शरीर, आदि केवल पर्याय या स्वतंत्र द्रव्योंमें नहीं घटित हो पाता है इस कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही है। यहांतक पांचों हेतुओंको सर्वथा स्वीकार करनेपर वैशेषिकोंके ऊपर स्वरूपासिद्ध हे वाभासका प्रसंग दे दिया गया है दो हेतुओं में भागासिद्ध दोष भी जड दिया है।

यदि पुनः कथंचित्कार्यत्वमन्यद्वा हेतुस्तदा विरुद्धः स्यात् स्वयमिष्टविपरीतस्य कथं-चिद्धीमद्वेतुकत्वस्य साधनात् । सर्वथा बुद्धिमत्कारणत्वे हि साध्ये जगतः कथंचिद्धीमद्वेतुकत्व-साथनो हेतुर्विशेषविरुद्धः सर्वोऽपीति । नाकाशंतः पपलायंते विशेषविरुद्धा हेतवः । कार्यत्वादिना मौलेन हेतुना स्वेष्टस्य साध्यस्याप्रसाधनात्तेषां निरवकाशक्ताभावात् तैरस्य व्याघातसिद्धेः ।

यदि फिर वैशेषिक कथांचित् कार्यपनेको हेतु स्त्रीकार करेंगे अथवा अचेतनोपादानत्व, सिन्नेवे-शिवशिष्टत्व, आदि अन्य हेतुओंमें कथांचित्पना लगाकर उनको हेतु अमीष्ट करेंगे तब तो उनके वे हेतु विरुद्ध हेत्वामास होजायंगे क्योंकि कथांचित् कार्यपना आदि हेतु तो जगत्में कथांचित् बुद्धिमान् हेतुसे जन्यपनको सार्थेगे । अतः स्वयं दृष्ट होरहे सर्वथा बुद्धिमान् कारण करके जन्यपनसे विपरीत होरहे करंचित् बुद्धिमान् हेतु करके जन्यपनके साथ न्यापि रखने वाले करंचित् कार्यत्व आदि हेतु तो विरुद्ध है " साच्यविपरीतन्यासो हेनुर्विरुद्धः " जगत्का सभी प्रकार न्यापक, सर्वज्ञ, एक अशरीर, बुद्धिमान् कारणसे जन्यपना साध्य करनेपर पुनः कथंचित् अन्यापक, अल्पञ्च, अनेक सशरीर, बुद्धि-मान कारणोंसे जगतकी उत्पत्तिको साथ देनेवाछे वे सभी हेत विशेषविरुद्ध हेत्वाभास होजाते हैं. अपना विशेष विरुद्धपना पुकार रहे वे हेतु यों ही सहजमें झट पछायन (भाग जाना) नहीं जाते हैं । बहुत दिनसे बिद्धर गये अपने मूल्यवान् पदार्थकी प्राप्ति होजानेपर पुनः वह पदार्थ यों ही शर राष्ट्रओंको नहीं सोंप दिया जाता है। कथंचित लगा देनेसे उक्त सभी हेतु नैरेशिकोंके विरुद्ध होकर स्याद्वादियोंके पक्षांसाद्धिकी प्रकार मचाते रहते हैं। विशेष विरुद्ध हेतु अपने कर्तव्य कथंचित् बुद्धिमान्से जन्यपनको चराचर जगत्में साध रहे हैं। निकृष्ट कार्यको साध छेनेका प्रकरण आनेपर भले ही कोई भाग जाय अच्छाही है किन्तु प्रकृष्ट कार्योंको साधनेके लिये साधन अपना धन्य भाग समझते हैं वे अधिक देरतक ठहरना बांछते हुये बड़ी प्रसन्तराक्षे उन कार्योंको साधते हैं। सबसे प्रथम मूलमें कहे गये निर्विशेषण कार्यत्व, अचेतनीपादानत्व, आदि हेतुओं करके वैशेषिकोंके यहां अपने इष्ट होरहे साध्यकी प्रसिद्धि नहीं होसकी है। हां कथंचित् कार्यत्वको सर्वत्र आदरके साथ स्थान मिल रहा है । किन्तु सर्वथा कार्यत्वको कहीं भी ठहरने के लिये अवकाश प्राप्त नहीं होता है । अतः उन कथंचित् कार्यत्व, कथंचित् अचेतनोषादानत्व, आदि हेतुओंके अवकाशरहितपनका अभाव होजानेसे उन कथंचित कार्यत्व आदि करके इस मुळमें उपात्त किये निविधाषण कार्यत्व या सर्वथा कार्यत्व आदि हेतुओंका व्याघात होजाना सिद्ध है। अर्थात्—सादर निमंत्रणपूर्वक सर्व स्थळेंपर अवकाश पारहे क्यंचित् कार्यत्व हेतु करके सर्वत्रसे निरादर कर भगाये जारहे सर्वथा कार्यत्वहेतुका व्याघात कर दिया जाता है। यों वैशेषिकोंके सिद्धान्तका प्रत्याख्यान कर जैन शिद्धान्त अनुसार कथंचित बुद्धिमान निमित्तत्वकी सिद्धि होजाती है।

न चैवं धूमादेरम्याद्यनुमानं मत्याख्येयं कथंधिदम्निम्स्वादेरेव कचिल्लौकिकैः साध्य-त्वात् कथंचिध्द्मवन्त्वादेरेव हेतुत्वेनोपममाश्वासिद्धत्वविरुद्धत्वयोरयोगात् । तर्हि जगतां कथं-चिद्वुद्धिमत्कारणत्वस्य साध्यत्वात् कथंबित्कार्यत्वादेश्च हेतुत्वोपगमात्परस्पापि न दोषः इति चेक, स्वाद्वादिनां सिद्धसाधनस्य तथा व्यवस्थापनात् ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि इस प्रकार विशेष विरुद्धताका कुचक यदि भन्ने हेतुओंपर चन्ना जालगा तब तो धूम, कृतकत्व, आदि हेतुओंसे अग्नि, अनित्यत्व, आदिको समझा रहे प्रसिद्ध अनु-मानोंका भी प्रत्याख्यान हो जाना चाहिये | धूममें सर्वथा धूमधना नहीं है पौद्रिक्षिक पना या कंठ, आंखमें विश्लेष करा देना भी धर्म बहां विद्यमान हैं । धूम सर्वथा अग्निको ही नहीं साधता है उच्च-

ताको भी साधता है। गीले ईंधनके संयोगको भी समझा देता है। धूममें अनेक कुतर्क (तनाखियां) उठायी जा सकती हैं। कृतकत्व हेतुमें भी देश, कालके विशेषोंकी अपेक्षा लगाकर विशेष विरुद्धता धर दी जायगी । आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझना क्योंकि छोकदक्ष व्यवहारी जनों करके कथांचित् आप्रमत्त्व, कथांचित् अनित्यत्व आदिको ही साध्य किया है और कथांचित् धूमवत्त्व, कथं-चित् कृतकत्व, आदिको ही हेतुपने करके स्त्रीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपन हा योग नहीं हो पाता है, यदि सर्वथा धूम या सर्वथा अग्निको हेतपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद्ध हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपनका योग नहीं होपाता है । यदि सर्वथा धूम या सर्वथा आग्निको हेतु और साध्य बना जायगा तब हो इनको भी उन्हीं तोपके गोले सदश हो रहे असिद्धपन, विरुद्धपनसे उठा दिया जायगा। वैरोषिक कहते है कि तब तो सम्पूर्ण जगतोंका कथंचित् बुद्धिमान् कारणसे जन्यपनको साध्य हो जानेसे और कथांचित् कार्यत्व, कथांचित् सिनेवेशविशिष्टत आदि को हेतुपना स्वीकार कर छेनेसे परवादी हम वैशोषिकोंके यहां भी कोई दोष नहीं आता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेपर स्याद्वादियोंकी ओरसे सन्नहवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोषको तिस प्रकार व्यवस्था करा दी गयी है। हम स्याद्वादी जब कि नाना आत्माओंको शारीर, खानिज, पर्वत, आदि जगदर्ती कार्योंका निमित्तकारणपन प्रथम है। स्वीकार कर रहे हैं तो सिद्धको ही साधनेसे क्या लाभ ! वादीको प्रतिवादिक सन्मुख असिद्ध पदार्थकी सिद्धि करनी चाहिये, बुद्धिबृद्ध परुषोंको गतमार्गका पुनःगमन करना परिश्रमवर्धक ही है।

द्रव्यं गुणः किया नान्त्यविशेषोऽशाश्वतो ननु । विवादाध्यासितो धीमान्हेतुः साध्यस्थितो यदा ॥ ५५ ॥ कार्यत्वं न तथा स्वेष्टविपरीतं प्रसाधयेत । नाप्यसिद्धं भवेत्तत्र सर्वथापि विवक्षितं ॥ ५६ ॥ इत्येके तदसंप्राप्तं भेदैकांताप्रसिद्धितः । कार्यकारणयोरैक्यप्रतिपत्तेः कथंचन ॥ ५७ ॥

दूसरे कोई एक वैशेषिक विद्वान् स्वपक्षका अवधारण करनेके लिये यों कह रहे हैं कि हम सम्पूर्ण द्रव्योंको पक्ष नहीं बनाते हैं । किन्तु घट, पट, आदिक कार्यद्रव्योंको पक्षकोटिमें धरते हैं । इसी प्रकार अनित्य गुणोंको पक्ष स्थिर करते हैं । देशसे देशान्तर करा देना स्वरूप क्रियायें तो हमारे यहां सब अनित्य ही मानी गयी हैं। नित्य द्रव्योंमें वर्त रहे व्यावर्तक, अनन्त और अन्तमें वर्त रहे ऐसे अंत्यविशेषोंको भी हम धर्मी नहीं बना रहे हैं। सामान्य, समवाय, नित्यगुण और नित्य द्रव्य भी धर्मी

नहीं हैं। किन्तु अनित्य द्रव्य, अनित्य गुण और सम्पूर्ण कियायें हो विवाद में प्राप्त हो रही पक्ष मानी गयीं हैं और जिस समय इन अशास्त्रत द्रव्य गूण, क्रियाओंका निमित्तकारण एक बुद्धिमान साध्यरूपेस व्यवस्थित किया गया है उस समय प्रयक्त किया गया कार्यत्वहेत तिस प्रकार हमको निज अभीष्ट होरहे साध्यस विपरीतको कथमपि नहीं साध पायेगा जोकि आप जैनोंने त्रेपनवीं वार्तिकमें विरुद्धपनेका कटाक्ष किया था यों कार्यत्व हेत हमारे इष्ट साध्यको ही बढिया साधेगा । तथा वह कार्यत्वहेत यदि सर्वथा भी विवक्षाप्राप्त कर लिया जायगा तो भी उन सर्वथा जन्य द्रव्य, गुण, क्रियाओं में असिद्ध हेत्वा-भास नहीं होसकेगा, अशाधत माने गये द्रव्य, गुज, कियाओंमें, सर्वथा कार्यत्वहेतु निर्द्रन्द्व ठइर जाता है । अतः " सर्वथा यदि कार्यत्वं " इस वार्ति बढ़ारा असिद्ध दोष उठाना जैनोंका उाचित कार्य नहीं है। यहांतक कोई एक कर्तृवादी कर रहे हैं प्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह कथन संगतिस रहित हैं। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां माने गये कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकती है जब कि कार्य और कारणके कथंचित् एकपनकी निर्वाव प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति होरही है। ऐसी दशामें परमाण, आत्मा, आकाश, आदि कारण नित्य हैं तो कथंचित अभिन होरहे उनके कार्य घट, पट, ज्ञान, इच्छा, शब्द, आदि भी कथंचित् नित्य होजायंगे । अतः पक्षमें सर्वथा कार्यत्वके नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेत स्वरूपासिद्ध हो ही गया, कथंचित् नित्य पदार्थीमें हेतुओं ते सर्वथा जन्यपना अनुमानान्तरसे बाधित भी है। अतः तुम्हारा कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट हुआ. (अपीछ करनेपर उनकी सजा बढ गयी)।

यदप्याद्धः परे पृथिव्यादिकार्यद्रव्यमशाक्ष्यतं धर्मि तस्य विवादाध्यासितत्वात्र पुनरा-काशं अभिलापात्तमेवं शाश्वतं द्रव्यं, नाष्यात्मा सुखाद्यनुमेयो नित्यो, न कालः परत्वापरत्वा-चनुमेयो दिग्वा, नापि मनः सक्कद्विज्ञानानुत्पत्त्यानुमेयं, नापि पृथिव्यादिप्रमाणवः कार्यद्रव्या-नुमेयास्तेषामविवादापञ्चत्वात् । तत एव न सामान्यमनुवृत्तिमत्ययानुमेयं, नापि समवाय इहेदमिति प्रत्ययानुमेयो, नांत्यविशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयोऽत्यंतव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः ।

उक्त वार्तिकोंकी क्याल्या इस प्रकार है कि दूसरे कर्तृवादी पण्डित जो भी यह कह रहे हैं कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इस प्रकार चार जातिके अनिस्य कार्यद्रक्योंको हम धर्मी बनाते हैं। क्योंकि उन आनित्य द्रक्योंका किसी बुद्धिमान् निमित्तद्वारा बनाया जाना ही विवादमें पड़ा हुआ है। किन्तु फिर शाश्वत नित्य पांच द्रक्य तो कार्यरूपसे विवादप्रस्त नहीं है। शन्दका समवायीकारण होकर गृहीत हो रहा नित्य द्रक्य आकाश इस प्रकार पक्ष नहीं किया गया है। अपना आत्मा स्व संवेच और दूसरीका सुख, दु:ख, आदिकरके अनुमान प्रमाणद्वारा जानने योग्य नित्य आत्माद्रक्य भी बुद्धिमद्वेतुकपनाकरके विवादापन नहीं है। जेठापन, छोटापन, इन कालिक परत्व, अपरस्व आदिकरके अनुमान करने योग्य परोक्षकालद्रक्य भी नित्य है। अनः कर्तृसाधक

अनुमानके पक्षमें नहीं घरा गया है। अथवा दैशिक परत्व, अपरत्व, " इदमतः '' यह इससे पूर्व है, अमुक यहांसे उत्तरमें हैं इत्यादि लिंगकरके अनुमानसे जानी गयी नित्य दिशा द्रव्यका भी पक्षमें नहीं प्रहण किया गया है। तथा '' युगपञ्ज्ञानानुःवित्तर्मनसो छिंगं '' चक्षु आदि कारणोंकरके होनेपर भी युगपत् कई ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होनेके करके अनुमान किया गया नित्य हो रहा मन भी धर्मी नहीं किया गया है। मन अनन्ते हैं। घट, पट, बिन्दु, हिम, ज्वाला, अंगार, श्वास, व्यजनवात, आदिक कार्य द्रव्योंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जान लिये गये प्रथिवीपरमाण, जलीय परमाण, तैजस-परमाणुये, ये नित्य हो रहीं पृथित्री आदि चार जातिकी परमाणुयें भी धर्मी नहीं की गयी हैं। क्योंकि उन नित्य परमाणुओंको कर्तृजन्यपनके विवादमें प्रसितपना नहीं है । नित्य पदार्थोंको कोई भी पण्डित ईश्वरकृत नहीं मानता है तिस ही कारणसे यानी विवादापन नहीं होनेसे ही यह गी, यह गी यह भी वैसी ही गों, इस प्रकारके अनुवृत्ति ज्ञानोंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जानने योग्य चौथा गोत्व द्रव्यत्व आदि सामान्य (जाति) पदार्थ भी हमने पक्षकोटिमे नहीं रखा है । तथा इन तन्तुओंमें पट है. इस घटमें रूप है इस प्रकार सप्तम्यन्त और प्रथमान्त पदोंका समाभिन्याहार होनेपर " इह इदं " इस प्रतीतिके द्वारा अनुमान करने योग्य समवाय पदार्थ भी धर्मी नहीं बनाया है जो कि " एक एव समनायस्तत्त्वंभावेन, अयुत्तिसद्धानामाधार्याधारभृतानामिहेदं प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समनायः, नित्यसम्बन्धः ममवायः '' इस ढंगसे समवाय नित्य माना गया है तथा ''अन्त्यो नित्यद्रव्यवत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः'' अन्तमें होनेवाछे और निल्यद्रव्योंमें वर्त रहे तथा अत्यन्त व्यावृत्तिबुद्धिकें कारण ऐसे विशेष पदार्थ तो नित्य हैं उनको इम ईस्वरजन्य थोडा ही मानते हैं। अर्थात - घटका व्यावर्तक कपाल, कपालका न्यावर्तक उसके अवयव कपालिकायें, यो दूर चलकर पंचाणक, पनः इसका न्यावर्तक चतुरणुक और चतुरणुकका भेदकारक त्र्यणुक एवं त्र्यणुकका व्यार्वतन करनेवाला द्याणुक है। द्यणुकोंकी व्यावृत्ति परमाणुओंसे हो जाती है। किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओंकी परस्परमें विशेषताओंको करनेवाला एक एक परमाणुके साथ एक एक विशेष पदार्थ लगा दिया गया है। जो कि विशेष पदार्थ स्वतः न्यावृत्त है स्वपरप्रकाशक दीपकके समान स्वपरन्यावर्तक उसको अन्य विशेषोंकी अपेक्षा नहीं है । इस कारण विशेषको सबके अन्तमें ठहरा कर अन्त्य माना गया है वे अनन्तानन्त विशेष पदार्थ तो चतुर्विध अनन्त परमाणुओं और आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन इन नित्य द्रव्योंमें वर्तते हैं । परस्परमें या अन्य पदार्थींसे हो रही अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धिके हेत्रमें विशेष पदार्थ हैं । नित्य पदार्थ हो रहे इन विशेषोंको पक्षमें नहीं किया गया है ।

तथा गुणोऽप्यशाक्वत एव रूपादिर्धमीं न पुनः शाक्वतोऽन्त्यविशेषेकार्थसमवेतः।परिमा-णकत्वेकपृथक्त्वगुरुत्वस्नेहसाछिछादिपरमाणुरूपरसस्पर्शादिछक्षणो नापि द्रवत्वममूर्तद्रव्यसंयोगो वा तदाधारेतरेतराभावो वा तस्यानुत्पविरूपस्याविवादाध्यासितत्वात् ।

वैशेषिक ही कहते जा रहे हैं कि तिसी प्रकार यानी उक्त नित्य द्रव्योंके समान नित्य गुण पदार्थ भी पक्ष नहीं किये गये हैं। गुण भी अनित्य ही घटरूप, इक्षुरस, पुष्यगन्ध, अग्निस्पर्श, आदि धर्मी पकडे गये हैं । किन्तु फिर अन्त्य विशेषोंके साथ एकार्य समवायसम्बन्ध करके वर्त रहे नित्य गुण पदार्थको धर्मी नहीं किया गया है। अर्थात-जिन दो गुणेंकी एक अर्थमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति होती है सहोदर भाइयोंके एकोदरत्व सम्बन्ध समान उन दो गुणोंका परस्परमें सम्बन्ध एकार्थ समवाय माना गया है । नित्य द्रव्योंमें विशेष पदार्थ समवाय सम्बन्धसे रहता है । और वहां ही नित्य द्रव्यके गण रहते हैं । अतः उन गणोंमें और विशेष पदार्थमें परस्पर एकार्थ समवाय सम्बन्ध हुआ नित्य द्रव्यमें रहनेवाले नित्य गुणोंको बुद्धिमान् हेत्से जन्य साध्य करनेपर पक्षमें नहीं धरा गया है। यहां इतना विशेष समझ लेना कि नित्य द्रव्योंके कई गुण अनित्य भी हैं। जैसे कि संसारी आत्माके ज्ञान, इच्छा, सुख, दःख, आदि गुण अनित्य हैं । आकाशका शब्दगुण अनित्य है । मनका संयोग गुण अनित्य है। नित्य द्रव्यके इन अनित्य गुणोंको तो पक्षकोटिमें डाल दिया गया है। जो गुण नित्य होकर नित्य द्रन्योंमें समनायसम्बन्धसे ठहर रहे हैं ऐसे परममहापरिमाण. आकारा, काल, आदिकी न्यारी न्यारी एकल संख्यायें, एक एक नित्य द्रव्योंमें न्यारे न्यारे वर्त रहे 9थक्त गण, जलकी परमाणओंमें ठहर रहे गुरुत्व और स्नेहगुण तथा जल, तेज, बायओंकी परमाण-ओं में पाये जा रहे रूप, रस, स्पर्श, आदि स्वरूप गुण तो धर्मी नहीं हैं। हां, घटमें रहनेवाछे परिमाण, एकत्व संख्या, पृथक्व, गुरुत्व, रूप, रस, आदि अनित्य गुण तो पक्षमें घर छिये गये हैं। अवयवी जलका स्नेह गुण भी अनित्य है । पीछपाकवादी विद्वान प्रार्थवीके परमाणुओंमें अग्निसेयोग द्वारा पाक होनेको स्वीकार करते हैं । अतः पृथित्रीके परमाणुओं में पाये जानेवाले रूप, रस. आदि गुण अनित्य हैं । अतः ये पक्षकोटिमें है । तथा आद्य स्यन्दनका वायी कारण हो रहा द्रवत्वगुण भी परमाणुओंमें वर्त रहा नित्य है । घृत. मौम. आदि कार्योंको बनानेवाली प्रथियी परमाण या तैजस सवर्णको बनानेवाली तैजस परमाणुओंमें अथवा सम्पूर्ण जल परमाणुओंमें पाया जानेवाला द्रव्यत्व गुण नित्य है। हां कार्यद्रव्य होरहे लाख रंग, आदिके द्रवत्व गुण अनित्य हैं ।नित्य द्रवगुण तो पक्षकोटिमें नहीं है। तथा अमूर्त द्रव्योंका संयोग भी पक्ष नहीं है । क्योंकि आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन इन अज-द्रव्योंका संयोग नित्य है । नित्य परमाणुगुणोंका संयोग तो अनित्य माना गया है । क्योंकि कारणवश विघट जाता है। अतः अमूर्त द्रव्योंके संयोगको छोडकर अन्य सम्पूर्ण संयोगोंको पक्ष बनालो, इसी प्रकार उन आधारभूत अनित्य द्रव्योंमें वर्त रहा इतरेतरामाव भी नित्य है। कारीपय वैशेषिक पण्डित एक कर्मेंद्रव, इयकर्मजन्य, विभागजन्य, इन तीनों प्रकारके विभागोंको अनित्य है। मानते हैं । किन्त संसारी आत्मामें चौदह गण माने गये हैं। तथा '' संख्यादिपञ्चकं बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे। परापरत्वे संख्यादि पञ्च वेगश्च मानसे ॥ " इन कारिकाओं द्वारा नित्य द्रव्योंमें भी विभाग माना गया है। परमाणुओंका विभाग भछे ही अनित्य होय किन्तु अमूर्त नित्य द्रव्योंका विभाग तो नित्य माना जायगा। एक बात यह विचारकी है कि, जब कि व्यापक नित्य द्रव्योंमें सर्वदा अछिद्र नित्य संयोग होरहा है तो किर '' संयोगनाशको गुणो विभागः '' ऐसे विभागगुणको वहां माननेमें जी हिचिकचाता है। जैन जन विभाग या पृथकव गुणके प्रयोजनको अन्योन्याभावसे साध छेते हैं। किन्तु हम वैशेषिकोंके यहां अभाव पदार्थसे न्यारे पृथक्त्व और विभाग दो भावात्मक गुण माने गये हैं अतः नित्य द्रव्योंमें पाया जा रहा अन्योन्याभाव तो पक्षमें परिगणित नहीं है। क्योंकि इस अन्योन्याभाव तो कर्तृजन्य या कर्त्रजन्यक्रप करके वित्राद्रप्रसित नहीं है। सब कोई पण्डित नित्य, अन्योन्याभावको कर्त्रजन्य अभीष्ट कर रहे हैं।

तथा किया धर्मिणी विनश्वरी परिस्पन्दछक्षणोत्क्षेपणादिन पुनर्धात्वर्थछक्षणा भावनादिः काचिन्नित्या तस्या अपि विवादापन्नत्वाभावात् । तस्य च बुद्धिमान् हेतुरस्तीति यदा साध्य-स्थितो भवत् तदा न कार्यत्वं स्वेष्टविपरीतं साध्यत् स्वेष्टस्येव सर्वथा बुद्धिमत्कारणकत्वस्य साधनात् । सर्वथा विविक्षितस्यापि तस्यासिद्धत्वं च नोपपत्तिमदिति तदेतत्सर्वमसंबद्धम् । कार्य-कारणयोभेदेकान्ताप्रसिद्धेः कथिन्वदेवयप्रतिपत्तः । सर्वस्य तद्धेदैकान्तसाधनस्यानेकान्तग्राहिणा प्रमाणेन वाधितविषयत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वच्यवस्थितेः ।

बैशेषिक है। कहे जारहे हैं कि तिस ही प्रकार हलन, चलन, भ्रमण, ऊर्घ्यामन, आदि परिस्वरूप उत्क्षेपण आदि विनाशशील कियांचें भी पक्ष हैं यानी पक्षकोटिमें घरी गयी हैं। द्रव्यको एक
देशसे देशान्तरमें करादेनेवालीं कियांचें तो अनित्य ही हैं किन्तु फिर याजे, पिच, आदि धातुओंके अर्थस्वरूप
भावना, नियोग, आदि कोई कोई नित्य कियायें तो पद्म नहीं की गयी हैं। क्योंकि मीमांसक
मतानुसार इन भावना आदि धात्वर्थ कियाओंको भी यहां प्रकरणमें विवादापन्नपना नहीं है। सामान्य,
विशेष, समवाय तो नित्य पदार्थ हैं। अभावोंमें प्रागमाय अनादि है। अतः वह भी कर्तृजन्यत्वेन
विवादपतित नहीं है। हां, ध्वंस नामका अभाव अनित्य है। उसको पक्षमें डाल लो। तादात्म्यसम्बन्धाविच्छिनप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः और त्रैकालिकसंसर्गाविच्छिनप्रतियोगिताको अध्यन्ताभावः
ये दो अभाव एक प्रकार नित्य ही हैं। इस प्रकार पक्षकोटिमें डाले गये अनित्य द्रव्य, गुण, कियायें,
और ध्वंतका हेतु कोई बुद्धिमान् निमित्तकारण है। इस प्रकार जब साध्य कोटिमें ध्यवस्थित किया
जावेगा तब हमारा कार्यत्व हेतु हमारे अभीष्ट साध्य हो रहे ईश्वरजन्यत्वसे विपरीत साध्यको नहीं
साध सकेगा। क्योंकि सबको इष्ट हो रहे सर्वथा बुद्धिमान् कारणसे जन्यत्वका ही साधन किया जा
रहा है। अतः हमारा कार्यत्व हेतु विरुद्ध नहीं है। आप जैन त्रेपनर्थी कारिकामें उठाये हुये दोषको
लोटा छो। तथा यदि कार्यत्वका अर्थ सर्वथा कार्यत्व भी विश्वक्षा प्राप्त कर लिया जाय तो भी बाब-

नवीं कारिका अनुसार उस कार्यत्वको असिद्ध हेत्वामासपना नहीं बननेवाला है । क्योंकि हम पक्ष हो रहे अनित्य पदार्थीमें सर्वथा कार्यपना वर्त रहा मानते हैं। " यदप्याद्रः " से यहांतक वैशेषिक अपने पक्षको दृढ करते हुये कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका सम्पूर्ण कथन पूर्वापर संगतिसे रहित होता हुआ असम्बद्ध है क्योंकि कार्य और कारणमें वैशेषिकोंके यहां अभीष्ट किये गये एकान्त रूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सर्का है क्योंकि कार्य और कारणके कथं-चित एकपनकी सबको प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति हो रही है। उन कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदको साधनेत्राले सम्पर्ण ज्ञानोंके विषयमें अनेकान्तके प्राहक प्रमाणों करके बाधा उपस्थित कर दी जाती है। अत: भेदको साधनेवाले हेतको बाधित हेत्वामासपना व्यवस्थित कर दिया जाता है। जब कि घट, ज्ञान, शब्द, आदिके कारण होरहे परमाण, आत्मा, आकाश, आदि कारण किसी भी बद्धिमान्से जन्य नहीं हैं तो उनसे अभिन्न होरहे कार्य भी सर्वथा बुद्धिमान्से जन्य ही होय यह एकान्त नहीं किया जासकता है। अतः कार्यत्व हेतु बाधितहेत्वाभास है। तुम वैशेषिकोंने अनित्य द्रव्य, गुण, कर्मीको पक्षकोटिने धरा और नित्य द्रव्य, गुण, सामान्य, विशेष, समवाय, और कति-पय अभावोंको पक्ष नहीं बनाया भेदकी फुस फुसी भित्तिपर खडे होकर यह तुम्हारा परिश्रम करना पतनका देतु समझा जायगा '' तस्माद् बौरजायत '' '' आदावपो सृजत '' इत्यादि वेदानुसार वाक्यों द्वारा कातिपय स्मृतिकार और पुराण कार विद्वानोंने आकाश, जल, आदिकी समूल सृष्टि स्वीकार की है । कोई पण्डित ईश्वरके शरीर मानते हैं अवतार छेना स्वीकार करते हैं । अन्य पण्डित ईश्वरको अशरीर अङ्गीकार करते हैं। ऐसी दशामें उक्त कथन पूर्वापरसंगतिसे सून्य होजाता है। शब्दको (विशेषतया वैदिक शब्दोंको) नित्य माननेवाळ मीमांस ठीकी शब्दभावना, आत्मभावनाको स्वीकार कर छेते हो और कदाचित् यैशेषिक होकर शब्दको सर्वथा अनित्य मान बैठते हो संयोग या विभाग को अनित्य मानकर भी क्वचित् नित्य मान छिया गया है, परमाणुमें नहीं पाये जानेवाले गुरुत्वका बोश बळात्कारसे परमाणुपर लादा गया है। नित्य द्रव्योंमें परस्पर भेद करानेके लिये अनन्त विशेष पदार्थोंका मानना निरर्थक है। वैशेषिकोंकी अभीष्ट पदार्थ प्रतिपादक प्रणालीमें अनेक दोष आते हैं उपादान कारण और उपादेयका सर्वथा भेद माने रहना कोरा मिध्याभिनिवेश है।

नतु च कार्यकारणयोरेकस्य कथंचिकिश्रयात् कार्यद्रव्यस्य कारणद्रव्याद्वेदैकान्तो माभूत् ग्रुणस्य चानित्यस्य कर्मणोपि च तत्कार्यत्वाविशेषात् सद्दशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य विसद्दशपरिणामलक्षणस्य विशेषस्य चात्यापरिविकल्पस्य समनायस्य चाऽविष्वग्भावलक्षणस्य द्रव्यकार्यत्वात् कथंचित्ततोऽनन्यत्वमस्तु नित्यात्तु ग्रुणाद्वुणी भिन्न एव तयोः कार्यकारणभावाभावादिति मन्यमानं प्रत्याह ।

बैशोषिक अपनी नीतिका प्रचार करनेके लिये पुनरिप अवधारण करते हैं कि कार्य और कारणके कथांचित् एकपनका निश्चय हो जानेसे घट, पट्ट, आदि कार्यद्रव्योंका मृत्तिका, तन्तु आदि

कारणद्रव्योंसे एकान्तमेद नहीं होओ तथा अनित्यगुण और क्रियाओंका भी अपने समवायीकारण द्रव्य से एकान्त मेद नहीं होने क्योंकि उन द्रन्योंका उपादेयरूपसे कार्यपना गुण कर्मोंमें विषमान है। द्रव्यकी उपादेयता और गुण कियाओंकी उपादेयतामें कोई अन्तर नहीं है एवं तुम जैनोंके यहां माने गये सदशपरिणामस्वरूप सामान्य पदार्थका और त्रिसदशपरिणामस्वरूप विशेषका जो कि इम वैशोषिकोंके यहां अन्य विशेष और अपर विशेष दो प्रकारका माना गया है। अपने कारण द्रव्यके साथ भन्ने ही सर्वथा भेद नहीं होओ एवं पृथामाव नहीं होकर तादात्म्य सम्बन्धस्वरूप हो रहे सम-वायका भी अपने कारणके साथ सर्वथा भेद नहीं सही क्योंकि उक्त अनित्य पदार्थोंको द्रव्यका कार्य होनेसे उस कारणसे कथंचित् अभिजपना बना रही कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुणसे तो गुणी द्रव्य मिल ही होगा । क्योंकि उन नित्य गुण और नित्य गुणीमें कार्यकारणभाव नहीं है । अर्थात्—आप जैन कार्य द्रव्यों (पर्यायों) अनित्यगुण अनित्य कियाओं को जैसा मानते हैं तदनुसार कार्य और कारणका कथंचित् अभेद अच्छा है " सहशपिरणामस्तिर्यक्सामान्यं " " अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेक्तविशोष: " ऐसे सामान्य विशेषों मा भी अपने कारणोंके साथ कथंचित् अमेद हमें अच्छा दीखता है। वैशेषिकोने विशेषके दो भेद माने हैं एक अन्तमें ठहरनेवाला नित्यद्रव्यवृत्ति विशेष है दूसरा सत्ता या द्रव्यत्वके व्याप्य होरही पृथित्रीत्व, घटत्व, आदि जातियों या विशेष द्रव्य, गुण, आदिको दूसरा अपर विशेष इष्ट किया है अस्तु—'' नयोपनयैकान्तानां त्रिकालाना अविश्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकथा " यो अपृथम्माव (तादात्म्य) स्वरूप समवाय सम्बन्ध भी कथांचित् अभिन्न बन जाओ हमारी कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुग परममहापरिभाण आदिसे आकाश आदि गुणवान् द्रव्योंको भिन्नही मानना आवश्यक है । उपादान कारण स्वयं उपादेयरूप परिणत होय तब तो अमेद मान छेना अच्छा जचता है किन्तु जहां परिणाम परिणामीभाव नहीं है गुण गुणीका तत्त्वान्तर रूपसे मेद अञ्चण्ण बना रहो । अतः आप हमारे सर्वथा मेदका सहारा पाकर बाधाओंको नहीं उठा सकते हैं इस प्रकार कोई वैशेषिक पण्डित मान रहे हैं उनके प्रति श्री आचार्य महाराज उत्तर वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

नैकांतभेदभृत्सिद्धो नित्यादिष गुणाद्गुणी । द्रवस्थानादिपर्यन्तपरिणामात् तथा स्थितेः ॥ ५८ ॥

नित्य होरहे भी गुणसे सर्वथा भेदको धार रहा गुणी ब्रन्य सिद्ध नहीं है क्योंकि अनादि कालसे अनन्त कालपर्यन्त सहभावी परिणामोंसे ब्रन्यकी तिस प्रकार न्यवस्था होरही है। अर्थात—अखण्ड द्रन्यके नियत कार्यो द्वारा अनुमित किये गये अनन्त गुण अविष्यमावरूपसे द्रन्यमें वर्त रहे हैं जबसे द्रन्य है तमीसे वे गुण हैं द्रन्य में सहभावी परिणाम गुण माने गये हैं। अतः नित्य गुणोंके साथ नित्य द्रन्यका अभिन्नपना सुलम है प्रत्युत अनित्य गुण, कियाओं, सहरापरिणाम,

आदिका अपने द्रव्यके साथ अमेद साधना कठिन कसाला है क्योंकि नील घटका ही अप्निसंयोगसे लाख घट होजाता है आत्मा बना रहता है उसका गुण या पर्याय होरहा ज्ञान विघट जाता है। नर्तकी अनेक शरीरिक्रयाओंको विनाशती, उपजावती, घण्टों तक बहकी वही नाचती रहता है, सामान्य या विशेषोंमें भी सर्वथा अमेद दुर्लभ है। अतः नित्य गुण और गुणी द्रव्यका सर्वथा भेद माने जाना वैशेषिकोंका असत् आप्रह है।

न केवलमित्याद्गुणात्कर्मादेश्व गुणा जीवादिद्रव्यपदार्थः सर्वथा भिन्नो न सिद्धः । किं तिर्हि नित्यादिष गुणाइर्जनादिसामान्यात्र सर्वथा भिन्नस्तस्य तथानादिपर्यन्तपरिणामात्तथा व्यवस्थितत्वाज्जीवत्वादिवत् । कथंचित्तादात्म्याभावे तस्य तद्गुणत्वविरोधाद्वव्यांतरगुणवत् ।

अनित्य होरहे गुणसे अथवा कर्मसामान्य आदिसे सर्वथा भिन्न होरहे गुणवान जीव, पुत्रल आदिक ब्रव्य पदार्थ ही सिद्ध नहीं होसकते है केवल इतना ही नहीं है तो और क्या क्या है ! इसका उत्तर यह है कि नित्य ब्रव्यके अनुजीवी होते हुये नित्य हो रहे दर्शन, चारित्र, वीर्य, रूप, रस, आदि सामान्य गुणोंसे भी जीवादिक पदार्थ सर्वथा मिन्न नहीं हैं। जैसा कि सर्वथा भेदको वैशेषिक मान बैठे हैं। क्योंकि तिस प्रकार ब्रव्य और गुणका तदासकपने करके अनादिसे अनन्तकाल तक परिणाम हो रहा है। अतः तिस प्रकार सर्वथा भिन्नता नहीं होते हुये कथेंचित् अभेद व्यवस्थित हो रहा है। जैसे कि जीवद्रव्यमें चैतन्य या ब्रव्य प्राण अथवा भावप्राणोंका धारण करा देनेवाल स्वरूप जीवल गुण या पुद्रलमें रूप, रस, आदिके साहचर्य परिणामका प्रयोजक पुद्रल्ख इसी प्रकार आकाश आदि ब्रव्योंमें अवगाहप्रयोजक आकाशत्व आदि गुण उपजीव्य उपजीवक रूपसे तदात्मक होते हुये कथेंचित् अभिन्न है। यदि गुण और गुणीमें कथेंचित् तदात्मकपना नहीं माना जायगा। तो उस प्रकृत गुणको नियत गुणीके गुण हो जानेपनका विरोध हो जायगा जैसे कि अन्य ब्रव्योंके गुण इस प्रकरण प्राप्त ब्रव्यके गुण नहीं माने गये हैं। आत्मासे भिन्न पडा हुआ हपया या पैसा जैसे किसी नियत व्यक्तिका नहीं है। बजाज, सराफ, पंसारी, हल्लाई, भृत्य, बालक, सभीका हो सकता है उसी प्रकार आत्मासे भिन्न पडा हुआ ज्ञान गुण आकाशका या घटका भी हो जाय तो वैशेषिकोंके यहा कीर्न रोकनेवाला है ! हां, अभेद पक्षमें यह आक्षेप नहीं चल सकता है। जाय तो वैशेषिकोंके यहा कीर्न रोकनेवाला है ! हां, अभेद पक्षमें यह आक्षेप नहीं चल सकता है।

तत्र समवायात्तस्य तद्गुणत्विमिति चेश्व, समवायस्य समवायितादात्स्यस्य प्रसाधि-तत्वात् । ततः सर्वस्य विवादाध्यासितस्य तनुकरणशुवनादेः सर्वथा बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कथंचित्कार्यत्वं साधनं स्वष्टविपरीतं कथंचिद्बुद्धिमिश्विमित्तत्वं प्रसाधयेदेवेति विरुद्धं भवत् । सर्वथात्र कार्यत्वमसिद्धमिति दुष्परिहरमेवैतदद्षणद्वयं ।

यदि वैशोषिक यों कहें कि उस नियत गुणी द्रव्यमें उस गुणका समवाय सम्बन्ध हो रहा है। अतः उसको नियत रूपसे उसका गुणपना है। अर्थात्—आत्मामें ज्ञानका समवाय है अतः ज्ञान

गुण आत्माका है और राज्यका आकारामें समवाय है इस कारण आकारा गुण राज्य है तथा घट. पट, आदिमें रूप, रस, आदिका समनाय होनेसे ने उनके गुण नियत हो रहे है। जब कि जगतमें अपने अपने शरीर पुत्र, कलत्र, धन, वहा, पशु, आदि कुछ संयुक्त हो रहे किन्तु बहुभाग नहीं संयक्त हो रहे भिन्न पदार्थोंकी भी नियत व्यवस्था हो रही है। कोई भी दसरोंकी सम्पत्तिपर अधिकार नहीं जमा सकता है तो फिर अयुत्तसिद्ध पदार्थों के समजाय सम्बन्धसे नियत हो रहे प्रकृत गुणोंको उन नियत द्रव्यों के गण हो जानेका कौन विरोध कर सकता है ! यदि समवेत गण ही दसरे द्रव्यों करके छीनछिये जांय तो ऐसी पोछकी दशामें संयुक्त या असंयुक्त वस्न, भूषण, गृह, उपवन, गोधन, आदि को चाहे कोई भी दिन दहाडे खट सकता है। राजा या पंचायतका प्रबन्ध करना धूळमें मिळ जायगा। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि समवायी पदार्थीमें तदात्मकपनको प्राप्त हो रहे तादाल्य सम्बन्धको ही समग्रय सम्बन्ध बहुत अन्छ। साधा जा चुका है। जब समग्रयका अर्थ कथंचित तादाल्य है तो कार्य और कारणका एकान्त भेद प्रसिद्ध नहीं हो सका । किन्त कार्य और कारणमें करांचित अमेद प्रसिद्ध हुआ । जब कि आत्मा, परमाणुयें, आदिक कारण ईरेबरकृत नहीं है तो इनसे कर्यांचित् अभिन्न हो रहे ज्ञान, घट, शरीर, भुवन, आदि कार्य भी सर्वया ईश्वरकृत नहीं है । हां. क्यंचित् बुद्धिमान्मे किये गये भले ही ये मान लिये जाय तिस कारणसे विवादमे प्राप्त हो रहे शरीर, इन्द्रियां, भवन, द्वीप, पर्वत, आदि सम्प्रण कार्य पदार्थीका बुद्धिमान कारणद्वारा सर्वथा जन्य-पना साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया कथंचित् कार्यपना हेतु अपने इष्ट साध्यसे विपरीत बुद्धिमान् निमित्तद्वारा कथंचित जन्यपनकी ही बढिया सिद्धि करा देगा इस प्रकार तम वैशेपिकोंका कार्यत्व हेत विरुद्ध हेत्वाभास हो जायगा और इन शरीर, इन्द्रियों, भवन आदिमें सर्वथा कार्यपना हेत तो असिद्ध हेत्वाभास है इस प्रकार कथंचित कार्यत्व और सर्वथा कार्यत्वके विकल्प अनुसार तुम्हारे ऊपर उठाये गये ये त्रिरुद्ध और असिद्ध दोनों दुषण कठिनतासे भी परिहार करने योग्य नहीं हैं उन्हींको इमने बावनवी और त्रेपनवीं वार्तिकमें दिखा दिया है ।

संप्रति साधनांतरमन् दूषयन्नाह ।

अब इस समय प्रन्थकार उन कर्तृवादी वैशेषिकोंके अन्य सावनोंका अनुवाद कर उनके सिद्धान्तोंमें दूषण दिखलाते हुये अप्रिम वार्तिकोंको कह रहे हैं।

विवादाध्यासितात्मानि करणादीनि केनचित्। कत्रीधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वतो यथा॥ ५९॥ वास्यादीनि च तत्कर्तृसामान्ये सिद्धसाधनं। साध्ये कर्तृविशेषे तु साध्यश्चन्यं निदर्शनम्॥ ६०॥ शरीर, मुकन, आदिके विवादमें प्राप्त हो रहे स्वरूप करण इन्द्रियां, अदृष्ठ, परमाणु, आदिक पदार्थ (पक्ष) किसी एक कर्ता करके अधिष्ठित हो रहे सन्ते प्रवर्तते हैं (साध्य दछ) करण आदिपना होनेसे (हेतु) जैसे कि वसूछा, हथोडा, मोंगरा, छेखनी, सूची, छेंनी, आदिक करण किसी न किसी बढई, सुनार, धोबी, छेखक, सूचीकार, मिली, आदि कर्ताओंसे अधिष्ठित होकर स्वयोग्य क्रियाओंमें वर्त रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि इस अनुमान द्वारा यदि सामान्यरूपसे उनके अधिष्ठाता चाहे किसी भी कर्ताको साधा जायगा तब तो तुम वैशेषिकोंके उपर सिद्धसाधन दोष आता है क्योंकि जिस सिद्धान्तको हम स्वीकार कर रहे हैं उसकी पुनः सिद्धि कराना व्यर्थ है । समझ्वी वार्तिकमें हम पहिछे भी इस बातको कह चुके हैं । हां, यदि विशेषरूपसे नित्य, व्यापक, अशरीर, ईक्वर कर्ता करके अधिष्ठितपना यदि साध्य किया जायगा तब तो उदाहरण साध्यसे शून्य हो जायगा वसूछा आदि कारणोंके अधिष्ठाता बन रहे बढई छहार, आदिक कर्ता तो अशरीर या सर्वज्ञ नहीं हैं । अर्थात्—नुम्हारा उदाहरण साध्यविकछ दोषसे प्रस्त हुआ ।

विवादापश्रस्वभावानि करणाधिकरणादीनि केनचित् कर्शाधिष्ठितानि वर्तते करणाधि-करणत्वाद्वास्यादिवत् । योऽसौ कर्ता स महेश्वर इति कश्चित्, तस्य कर्तृसामान्ये साध्ये सिद्ध-साधनं । कर्तृविशेषे तु नित्यसर्वगतामूर्तसर्वज्ञादिगुणोपेते साध्ये साध्यविकलमुदाहरणं, वास्या-देरसर्वगतादिरूपतश्चादिकश्रिधितस्य पश्चतिदर्शनात् ।

वैशेषिकोंका अनुमान यों है कि विवादमें प्राप्त हो रहे स्वभाववाछे करण, अधिकरण, सम्प्रदान आदि कारक (पक्ष) किसी न किसी चेतन कर्त्तासे अधिष्ठित हो रहे सन्ते किया करनेमें प्रवर्त रहे हैं (साष्य) क्योंकि वे करण या अधिकरण आदि हैं (हेतु) वसूछा, आरा, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। वह जो इनका अधिष्ठायक कर्त्ता है वह हमारे यहां महेश्वर माना गया है। यहांतक कोई कर्तृवादी कह रहा है। प्रन्थकार कहते हैं कि उस कर्तृवादीके यहां सामान्य रूपके कर्त्ताको साध्य करनेपर सिद्धसाधन दोष आता है। हां, नित्य, व्यापक, अमूर्त, सर्वज्ञ, निष्कर्मा, सदामुक्त आदि गुणोंसे सिहत हो रहे विशेष कर्त्ताको साध्य करनेपर तो तुम्हारा दिया गया उदाहरण साध्यसे रीता हो जायगा क्योंकि वसूछा आदिकी असर्वगत, अल्पज्ञ, सकर्मा आदि स्वरूप बर्दई आदि कर्त्ताओंसे अधिष्ठित हो रहों की प्रवृत्तियां देखीं जा रहीं हैं। अतः तुम्हारा अनुमान दूषित है।

तत्सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाचेददूषणं । सोऽपि सिद्धास्त्रिल्यक्तिन्यापी कश्चित्पसिद्धचति ॥ ६१ ॥ देशकालविशेषाविन्छनाग्निन्यक्तिनिष्ठितं । साध्यते द्यमिसामान्यं धूमान्नासिद्धभेदगं ॥ ६२ ॥ यदि वैशेषिक यों कहें कि हम केवल सामान्य या विशेष कर्त्ताको साध्यकुक्षि नहीं बनाते हैं। किन्तु उस कर्तापन सामान्य और विशेष दोनोंसे अधिष्ठित होनेको साध्य करते हैं। अतः हमारे उपर कोई दूषण नहीं आता है। जैन पण्डित जैसे आपत्ति पडनेपर सामान्य विशेषासक दुर्ग (किन्छ या गढ) का आश्रय छे लेते हैं उसी प्रकार हमने भी सामान्य, विशेष, कर्ताको साधनेका ढंग निकाला है। आचार्य कहते हैं कि वह सामान्य विशेष रूप कर्त्ता भी सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई न कोई प्रसिद्ध हो सकता है। धूम हेतुसे जो अग्निसामान्य साधा जाता है वह अग्निसामान्य सम्पूर्ण देशविशेष और कालविशेषोंमें परिनिष्ठ हो रहीं अग्निल्यक्तियोंमें प्रविष्ट हो रहा है। जो सामान्य अपने विशेषोंमें प्राप्त हो रहा सिद्ध नहीं है वह अग्निसामान्य तो धूमकेतुसे नहीं साधा जाता है उसी प्रकार यहा भी कर्तृसामान्यकी यावत् कर्तृविशेषोंमें प्रतिष्ठित हो रहे की ही सिद्धि हो सकती है किन्तु जब अशरीर, ज्यापक, निल्य, ईस्तर कोई कर्त्ताविशेष अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ है तो सशरीर, अन्यक्त, संसारी, अनेक कर्त्ताविशेषोंमें ही वह कर्तृसामान्य ठहर रहा साधा जा सकता है। अतः तुम्हारे अभीष्ट हो रहे कर्त्ता, ईस्तरकी सिद्धि नहीं हुई। सिद्ध हो रहे सामान्य विशेष आत्मक संसारी जीवस्तरूप कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपनकी सिद्धि हो जानेसे तुम्हारे अपर सिद्ध-साधन दोष तदवस्थ रहा।

न करणादिधर्मिणः करणादित्वंन हेतुना कर्तृसामान्याधिष्ठितवृत्तित्वं साध्यते, नापि कर्तृविश्वेषाधिष्ठितवृत्तित्वं येनोक्तदूषणं स्यात् । किं तर्हि १ कर्तृसामान्यविश्वेषाधिष्ठितत्वं साध्यते, रूपोपलब्ध्यादिक्रियाणां क्रियात्वेन करणसामान्यविशेषाधिष्ठितत्ववत् । न हि तासां करणसामान्याधिष्ठितत्वं साध्यं, सिद्धसाधनापत्तेः । नाप्यमूर्तत्वादिधर्माधारकरणविश्वेषाधिष्ठितत्वं, विच्छिदिक्रियाद्यदाहरणस्य साध्यविकलत्वमसंगात् । तस्य मूर्तत्वादिधर्माधारदात्रादिकरणाधिष्ठितस्य दर्शनात् ।

वैशेषिक मान रहे हैं कि करण, अधिकरण, कारक आदि धर्मियोंकी सामान्य रूपसे कर्त्ताद्वारा अधिष्ठित होकर वृत्ति होनेको हम करण आदिकपन हेतु करके नहीं साध रहे हैं और उनसठवीं वार्तिक द्वारा करण आदि पक्षमें विशेषरूप करके कर्ताद्वारा अधिष्ठित होरही वृत्तताको भी हम नहीं साधते हैं जिससे कि आप जैनों द्वारा साठवीं वार्तिकमें कहे जाजुके दूषण हमारे ऊपर होजाय तो हम वैशेषिक क्या साधते हैं ! इसका उत्तर यह है कि सामान्य और विशेषोंसे आकान्त होरहे कर्तासे अधिष्ठितपना कारण आदिमें साधा जा रहा है जैसे कि छिदिकियाका दृष्टान्त देकर रूपकी उपलब्धि या रसकी इति आदि कियाओंका कियापन हेतु करके सामान्य विशेषाकान्त करणसे अधिष्ठितपना भी हम वैशेषिक नहीं साध रहे हैं । यो रूपोपछिध आदि कियाओंका सामान्य करणसे अधिष्ठितपना साधनेपर हमारे ऊपर

सिद्धसाधन दोषकी आपत्ति होजाती है। कोई भी किया किसी न किसी सामान्यकरणसे होती ही है किन्त इम अतीन्द्रिय, इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके छिये तत्पर हैं। सामान्य करणको साध्य करनेपर तो प्रतिवादी कह सकता है कि प्रदीप, आलोक, उपनेत्र, (चस्मा) अंजन, आदि करणों करके रूपकी उपलब्ध होना हमारे यहां पहिलेसे ही सिद्ध है यों सिद्धंसाधन दोष उठाया जा सकता है तथा अमूर्तत्व, अतीन्द्रियत्व, आदि धर्मीका आधार हो रहे विशेषाकान्त करणकरके अधिष्ठितपना भी हम नहीं साध रहे हैं जिससे कि विच्छेद या छेदन, भेदन, क्रिया आदि उदाहरणोंको साध्यरहितपनका प्रसंग हो जाय क्योंकि उदाहरण हो रहे उन छिदि, भिदि, आदि कियाओंका मूर्तत्व, इन्द्रियप्राह्यत्व आदि धर्मीके आधार हो रहे दातुआ. हेंसिया. दरेंता आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहापन देखा जाता है । अर्थात्—हम वैरोषिक चक्षः, रसना, घाण, आदिक परोक्ष इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके छिये जो अनुमानप्रमाण कहते हैं उसमें दिये गये कियात्वहेतका सामान्यविशेषाकान्त करणोंकरके अधिवितपन साधा जाता है। रूपन्नति, रसन्नति, आदि कियार्ये तो अतीन्दिय मूर्त या अल्पपरिमाणवाले तथा शब्दसे इतर उद्भूत विशेष गुणोंका अनाश्रय हो रहीं चक्ष, रसना, आदि इन्द्रियनामक करणोंसे अधिष्ठित संघ जायगीं और सुखोत्पत्ति, अनुमिति आदि कियार्थे अमूर्तत्व, व्यापकदव्य समन्नेतत्व आदि धर्मीको धारनेवाले अद्दश्च. न्याप्तिज्ञान आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहीं सध जायगी तथा विशेष छिदि, मिदि, आदि कियार्थे तो मूर्तत्व, गुरुत्व, प्रत्यक्षयोग्यत्व आदि धर्मीके आश्रय हो रहे वस्तुला. चाकु, चक्की, आदि करणों द्वारा निष्पन्न हो रहीं सध जायगी। अतः साध्यकोटिमें सामान्य विशेष करणसे अधिष्ठितपना जैसे कियाओंमें कियात्व हेत्रसे साधा जाता है। उसी प्रकार करण आदि पक्षमें कर्तसामान्य विशेषसे अधिष्ठितपनको करण आदि पन हेत करके हम वैशेषिक साथ रहे हैं।

यथा वा लौकिकपरीक्षकपित्तं धूमादम्त्यतुमानं सामान्यविशेषः साध्यते तथात्रापीत्यद्षणमेव, अन्यथा सर्वातुमानोच्छेदपसंगादिति मन्यमानस्यापि सोपि कर्द्वसामान्यविशेषः
प्रसिद्धाखिलकर्द्वव्यक्तिन्यापी कश्चित् सिध्यति न पुनिरिष्टविशेषव्यापी। न ग्रमि द्धानिन
सामान्यं केनचित्साध्यते देशकालविशेषावच्छिकाग्निन्यक्तिनिष्ठितस्यैव तस्य साधियतुं
शक्यत्वादन्यथा नित्यसर्वगतामूर्ताग्निसाधनस्यापि प्रसंगात्।

वैशोषिक ही कहें जा रहे हैं कि अकेल सामान्य या अकेले विशेषको साध्यकोटिमें न धर कर सामान्य विशेष दोनोंको सामान्यरूपसे निविष्ट करनेका एक दृष्टान्त यह भी है कि जिस प्रकार धूमहारा हुये अग्निके लीकिक या परीक्षक पुरुषोंक यहां प्रसिद्ध हो रहे अनुमानमें सामान्यिवशेषको ही साधा जाता है। तिसी प्रकार हमारे '' करणादीनि कर्त्रिवितृतृत्तीनि करणादित्वात् '' इस अनुमानमें भी यो सामान्य विशेषको साध्य करनेपर कोई भी दूषण नहीं आता है। अन्यथा सभी अनुमानोंक उच्छेदका प्रसंग हो जायगा । अर्थात् विशेषका पूमात् इस प्रसिद्ध अनुमानमें यदि सामान्य

आद्रिको साच्य किया जाय तब तो सिद्धसाधन दोष है। क्योंकि अग्निसामान्य तो पहिलेसे ही सिद्ध है न्यासिक्कानद्वारा अग्निसामान्य जाना जा चुका है। यहां यदि अग्निविशेषको साधा जायगा तो महा-नसमें पर्वतीय पत्ते सम्बन्धी या बांस सम्बन्धी अग्निके नहीं होनेसे दृष्टान्त साध्यविक्रळ हो जायगा बिशेष अग्निको साध्य करनेपर हेत व्यभिचारी भी हो जाता है। जैनोंके दोष उठानेका यही ढंग रहा तो सभी अनुमानोंका जगत्तसे उच्छेद हो जायगा चार्वाकमत फैल जायगा । अतः सामान्यविशेषको साध्यकोटिमें धरकर हमारा अनुमान है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मान रहे वैशेषिकके यहां भी वह कत्तीका सामान्य विशेष भी प्रसिद्ध हो रहीं सम्पूर्ण कर्ता व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई सिद्ध हो जायगा । किन्तु फिर तुम्हारे घरमें ही अभीष्ट हो रहे अप्रसिद्ध विशेष कर्त्ताव्यक्तिमें न्यापक मान किया गया तो नहीं सिद्ध हो सकता है। जैसे कि नीव, बबूछ, अमरूद, बट, आदि प्रासिद्ध विशेष व्यक्तियोंमें वर्त रहा बृक्षत्व नामका सामान्य विशेष तो मानने योग्य है ! किन्त घोडा. पडरा. जूता. टोपी. खाट. दीपक, आदि प्रसिद्ध न्यक्तियोंमें या खरित्रषाण आदि अप्रसिद्ध न्यक्तियोंमें बक्षत्व नामका सामान्यविशेष नहीं साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रही। अग्नियोंमें ठहर रहा मान किया गया अग्रिसामान्य तो किसी भी विचारशील विद्वान करके नहीं साधा जाता है अन्यथा शीतल, नीरूप. अदाहक अग्निकी भी धूमहेतसे सिद्धि बन बैठेगी । किन्तु देशविराष या कालविराष अथवा आकारविशेषोंसे परिमित हो रहीं प्रसिद्ध अग्निन्यक्तियोंमें निष्टित हो रहे ही उस अग्निसमान्यविशेष का साधन किया जा सकता है। अन्यथा यानी अप्रसिद्ध अलीक, अग्निक 'सामान्यविशेषको यदि साधा जायगा तो नित्य. न्यापक. अमूर्त, गुरु, अप्निके सिद्ध हो जानेका भी प्रसंग होगा। द्रन्यत्व या सत्ताकी अपेक्षा अग्नित्व धर्म उनका न्याप्य हो रहा विशेष है और सम्पूर्ण अग्निन्यक्तियोंकी अपेक्षा अग्नित्व जाति व्यापक हो रही सामान्य है इसी प्रकार द्रव्यत्वकी अपेक्षा तो विशेष हो रहा और आम्र. अम-रूद आदि प्रसिद्ध न्यक्तियोंकी अपेक्षा सामान्य हो रहा वृक्षत्व धर्म भी सामान्यविशेष है ऐसे वृक्षत्व या अग्निलको तो साध्य बना लिया जाता है। किन्तु अशरीर, व्यापक, नित्य, सर्वेज्ञ, हो रहा कोई कत्तीविशेष अवापि प्रसिद्ध नहीं है। अतः कर्त्ता सामान्यविशेषको साध्य करनेपर भी करणादिपन हेत्रसे सशरीर, अन्यापक, अल्पन्न कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपना सिद्ध हो सकता है अन्य तुम्हारा इष्ट विशेष हो रहा कोई ईस्वर नहीं सध पाता है।

तथा रूपोपलन्ध्यादीनामपि कियात्वेन शसिद्धकरणन्यक्तिन्यापिकरणसामान्यविश्वेषपूर्वकत्वमेव साध्यते नामसिद्धकरणन्यापि। न्यक्तिर्दि किचन्मूर्तिमती दृष्टा यथा दात्रादिखिदिकियायां, किचदमृती यथा विश्वेषणज्ञानादिर्विशेष्यज्ञानादी। तत्र रूपोपलन्ध्यादी करणसामान्यं
कृतश्चित्सिध्यति तदुपादानसामध्ये सिध्येत् तद्द्रन्यकरणं मूर्तिमत्पुद्रलपरिणामात्मकत्वाद्भावकरणं पुनरमूर्तमपि तस्यात्मपरिणामत्वादिति तस्य क्रियाविश्वेषात् मसिद्धस्य संज्ञाविश्वेषमात्रं
कियते चक्षुः स्पर्शनं रसनमित्यादि। ततो भवतीष्ट्रसिद्धिस्तावन्मात्रस्येष्टत्वात्।

तिसी प्रकार रूपोपलन्ध, रस्कृति, आदि कियाओंके भी कियापन हेतुकरके प्रसिद्ध हो रहीं करण व्यक्तियोंमें व्याप रहे करण-सामान्यविशेष नामक करण द्वारा जन्यपना साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रहीं करणव्यक्तियोंमें भ्याप रहे करणत्व नामक सामान्यविशेषसे जन्यपना नहीं साधा जा सकता है। अन्यया रूपोपङ्चिमें आकाश, परमाणु, पिशाच, आदिको भी करणपना बन बैठेगा अपने अपने गृहमन्तव्य अनुसार चाहे जिसको करण बनानेकी ढपली बजायी जा सकती है। हां. यह बात दूसरी है कि करणव्यक्तियोंमें कोई कोई व्यक्ति तो किसी क्रियामें व्यापार कर रही भूर्तिमती देखी गयी है। जैसे कि छेदन, भेदन, आदि क्रियाओं में दांतुआ, आरा, छोढा आदि करण मूर्त हैं। और कोई कोई करण किसी किसी कियाके करनेमें अमूर्त हैं। जैसे कि विशेषणज्ञान, व्यासिज्ञान, साद्ध्यज्ञान, आदिक उन विशेष्यज्ञान, अनुमितिज्ञान, उपमिति आदि क्रियाओंके साधनेमें अमूर्त करण 💆 । किन्तु ये सब करणव्यक्तियां प्रमाणरूपसे सिद्ध हैं । तुम्हारे ईश्वरके समान कोई भी मूर्त या अमूर्त करण भठा प्रमाणोंसे असिद्ध नहीं है। हमारे जैनसिद्धान्त अनुसार उस रूपोपछन्त्रि आदिमें किसी भी अविनाभावी हेत्से जो करणसामान्य सिद्ध हो सकता है। वह उपादानकारणकी सामर्थ्य ही सिद्ध होगी। ज्ञान, घट, आदि पर्यायें सभी अपने उपादान कारणोंकी शक्तियोंको करण पाकर उप-जती हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार पांचों इन्द्रियां और मन बाह्यनिर्वृत्तिरूप ही इन्द्रियपने करके निर्णीत किये गये हैं । इन्द्रियपर्याप्ति नामक पुरुषार्थ बाह्य निर्वृत्तिको बनाता है । अतः ये छहों बाह्य निर्वृत्तियां अतीन्द्रिय हो रहीं पुद्गलकी पर्याय हैं। आप वैशेषिक भी निकटवर्ती (लगभग) इसी मार्गका अनुसरण कर रहे हैं । स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन चारों गुणोंमेंसे एक, दोनों, तीनों, चारों गुणोंको धार रहीं कमसे स्पर्शन, चक्ष, रसना, घाण इन्द्रिया मानी गयी हैं। हां, कान इन्द्रि-यको आकारा और मनको नित्य, अमूर्त, द्रव्य तुमने मान रक्खा है। अस्त इस मान्यतामें आयी हयी आपत्तियोंको तुम्ही भोगोगे । प्रकरणमें यह कहना है कि रूपकी उपलब्धि आदिमें करण हो रही वे द्रव्य इन्द्रियां मूर्तिमान् पुद्रल द्रव्यकी पर्यायस्वरूप होनेसे द्रव्य करण हैं। अतः रूप आदिकी उप-लिंधमें ये मूर्त करण हैं। हां, विशिष्ट क्षयोपरामकी लिंध और रूपज्ञान ये भावकरण तो फिर अमूर्त भी हैं । क्योंकि वे अमूर्त आत्माके परिणाम है। यहां बन्धकी अपेक्षा संसारी आत्माके अमूर्तपनकी विवक्षा नहीं की गयी है। इस प्रकार किया विशेषोंसे अनुमान प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध हो रहे करणोंकी चक्षः. स्पर्शन, रसना, इत्यादिक केवल विशेष संज्ञायें कर लीं जातीं है। द्रव्यकरणस्त्ररूप चक्ष: मर्त है। और भावकरणस्वरूप चक्ष अमूर्त है। अतः " रूपोपछन्धिः करणकार्यो क्रियात्वात छिदिकिया-बत् '' इस अनुमान द्वारा जो करणसामान्य की सिद्धि की गयी है वह करणत्व सामान्यविशेष तो लौकिक या परीक्षकोंके यहां प्रासिद्ध होरहे मूर्त या अमूर्त करणोंमें प्रतिष्ठित हैं उस ढंग करके हेत या साध्यसे आकृष्टित होरहे अनुमान द्वारा हमारे इष्टसाध्य की सिद्धि होजाती है। क्योंकि केवल उतनाही सामान्य करणोंसे जन्यपनकी सिद्धि करना अमीष्ट होरहा है किन्तु तुम्हारा ईश्वर विशेष तो कोई कर्ता न्यक्ति प्रासिद्ध नहीं है। अतः व्याप्ति या दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे उस तुम्हारे मनमानी कत्त्रिसे अधिष्ठित-पना करण आदि पक्षमें नहीं सध पाता है।

नजु च यथात्मनि रूपोपङब्ध्यादिकियामुपङभ्य तस्यैव तत्र व्यात्रियमाणस्य स्वतंत्रस्य कर्तुः करणं चश्चरादि सिद्धचिति, तथा जगति करणादिसाधनम्भुपङभ्य तस्यैव करणादीनां कर्त्र- भिष्ठितत्वं सिद्धचतिति सकद्भजगत्करणाद्यिष्ठायीश्वर इति संज्ञायमानः कथिमष्टो न सिध्येत् तावन्यात्रस्य मयापीष्टत्वादिति पराकृतमनूद्य निराकरोति ।

वैशेषिक अपने पक्षको पुष्ट करनेके छिये पुनः अनुमान करते हैं कि जिस प्रकार आत्मामें होरहीं रूपकी उपलब्ध, रसकी प्रतीति, आदि क्रियाओंको देखकर उन क्रियाओंमें ब्यापार कर रहे स्वतंत्र कर्ता उस आत्माके ही सहकारी करण चक्षुः आदिक साध छिये जाते हैं। उसी प्रकार जगनतेमें करण, अधिकरण, आदि साधनोंको देखकर उस जगत्के ही करण आदिकोंका कर्रासे अधिष्ठितपना सध जाता है। अर्थात्—आत्मा कर्त्ताके अनुरूप जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियां सिद्ध होती हैं। उसी प्रकार जगत्के निर्मापक करणोंके अनुरूप ही कोई कर्ता उनका अधिष्ठायक हो सकता है। इस प्रकार जगत्के तम्पूर्ण करण, अधिकरण, आदिका अधिष्ठाता जो कि ईश्वर इस नाम करके कहा जा रहा है वह इष्ट मळा क्यों नहीं सिद्ध होगा ? क्योंकि हमको भी केवल उतना ही ईश्वरका अधिष्ठातापन इष्ट है। जैसे कि तुमको रूपकी उपलब्धिमें आत्माका प्रेरक सहकारी करण इष्ट था। जिस प्रकार आप जैन चक्षुः आदि परोक्षकरणोंकी अपने अनुमानते सिद्धि करते हुये उन करणोंकी चक्षुः, रसना, आदि संज्ञायें घर छेते हैं उसी प्रकार हम वैशेषिक भी जगत्के अधिष्ठाता कर्त्ताको केवल साथ रहे उसका नाम निर्देश ईश्वर कर छेते हैं। यहांतक वैशेषिक कह रहे हैं अब यों दूसरे वैशेषिकोंके चेष्टितका अनुवाद कर श्री विधानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिकोंकरके उस आकृतका। निराकरण करते हैं।

सिद्धे कर्तरि निःशेषकारकाणां प्रयोक्तरि । हेतुः सामर्थ्यतः सिद्धः स चेदिष्टो महेश्वरः ॥ ६३ ॥ नैवं प्रयोक्तुरेकस्य कारकाणामसिद्धितः । नानाप्रयोक्तृकत्वस्य कचिद्दष्टेरसंशयं ॥ ६४ ॥

सम्पूर्ण कारकोंके यथा विनियोग प्रयोग करनेवाले कर्त्तांके सिद्ध होनेपर सामर्थ्यसे ही कोई न कोई हेतु यानी निमित्त कारण कर्त्ता व्यापक सर्वज्ञ सिद्ध हो ही। जाता है। सम्पूर्ण जगत्के कार-कोंका ठीक ठीक यथा स्थान यथा समय प्रवन्ध करनेवाला विशिष्ट आत्मा ही होना चाहिये और वह हमारे यहां ईश्वर इष्ट किया गया है। यों वैशेषिकोंका मत होनेपर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिय क्योंकि सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता एक ही होय इस निर्णयकी सिद्धि नहीं हो सकती है। कहीं कहीं अनेक कारणोंका नाना प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त किया जाना निःसंशय देखा जा रहा है। एक विवाह रूप कार्यमें अनेक नियोगी (नेगी) स्वतंत्र न्यारे न्यारे कार्योंके प्रयोजक हैं। जगत्में सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, ये सब अपने अपने उचित कार्योंके विधाता हैं इनको किसी प्रयोक्ताकी आवश्यकता नहीं है। बारह थम्भोंपर छदी हुई शिखरको सभी धम्मे स्वतंत्रतासे धार रहे हैं इस कियाका कोई चेतन अधिष्ठाता प्रयोजक नहीं है। वनमें पढ़े हुये अनेक बीज अपने अपने न्यारे न्यारे अंकुरोंको उपजा रहे हैं। क्षुधाको अन दूर कर देता है। प्यासको जछ मेट देता है अग्ने काष्टको जला देती है वायु पत्तोंको हिछा रही है। आकाशमें शब्द गूंज रहा है इन्यादि अनेक कार्योंका कोई एक मुखिया प्रयोक्ता नहीं देखा जाता है।

न हि करणादित्वस्य हेतोरेककर्तृत्वं सामर्थ्य येन तता निःश्लेषकारकाणामेक एव भयोक्ता खेष्टो महेश्वरः सिध्धेत्। कवित्मासादादी करणादीनां नानामयोक्तृकत्वस्याप्यसंदेह-मुपल्रम्थेः। ननु प्राधान्येन चात्रापि तेषामेक एव प्रयोक्ता सूत्रकारो महत्तरो राजा वा, गुणभावेन तु नानाप्रयोक्तृकत्वं जगत्करणादीनामपि न निवार्यत एव, ततः प्रधानभूतो अमीषामेक एव प्रयोक्तेश्वर इति चेत् न, प्रधानभूतानामपि समानकुलवित्तपौरुषत्यागाभि-मानानां कविकागरादी करणादिषु नाना प्रयोक्तृणामुपलंभात्।

तुम वैशेषिकों के कहे गये करणादित्व हेतु की एक ही कर्तासे अधिष्ठितपनको साधनेमें सामर्थ्य नहीं है जिससे कि उस हेतुसे सम्पूर्ण कारकों का एक प्रयोक्ता तुम्हारे यहां निज अभीष्ट हो रहा महेश्वर सिद्ध हो जाता। अर्थात्—तुम्हारा असमर्थ हेतु तुम्हारे अभीष्ट साध्यका साधक नहीं है। क्योंकि प्रासाद, कोठी, पंचायत, मार्गगमन, पंक्तिभोजन, आदि कार्योमें करण, अधिकरण आदि हो रहे पदार्योक्ता अनेक प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होना भी संदेहरिहत देखा जाता है। हवेळींके न्यारे न्यारे भागोकों कतिपय स्थपति स्वाधीन होकर कर रहे हैं। कई महळोंको तो अनेक पीढियोंमें कतिपय धनपतियोंने बनवाया है। महळके कार्योसे होनेवाळे कार्योक्तो छहार बनाना है। पत्थरका काम करने वाळे छहार या बढईपर प्रमुख नहीं जमा पाते हैं, अजमेरमें एक महळ सेठोंकी चार पीढीसे बन रहा है, ऐसी दशामें उसका अधिष्ठायक एक आत्मा कैसे कहा जासकता है! यदि वैशेषिक पुनः अनुजा करें कि यहां कोठी आदिमें भी प्रधानपनेसे उन कार्योक्ता प्रयोक्ता बडा महान् प्रतिष्ठित पुरुष अथवा राजा एक ही प्रयोक्ता हैं हां गीण रूपसे तो वे कार्य अनेक प्रयोक्ताओं करके प्रयुक्त किये गये हैं। इसी प्रकार जगत्के करण, अधिकरण, आदिकोंके भी गीण-रूपसे सळे ही अनेक प्रयोक्ता होजाय हम उनको नहीं रोकते हैं। हां प्रधान प्रयोक्ता एक ही सबका

होना चाहिये । तिस कारण उन जगत्के निक्शेष कारणोंका प्रधानभूत प्रयोक्ता एक ही ईस्वर है यों कहनेपर तो प्रन्थकार कहने हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि प्रधान होचुके भी समान कुळवाछे, समान धनवाछे, समान पुरुषार्थवाछे, समान त्यागवाले, समान अभिमानवाले, अनेक प्रयोक्ताओंका कहीं नगर आदिमें अथवा करण आदिमें प्रयोजकपनसे दीखना होरहा है । अर्थात् एक नगर कई स्वतंत्र जमीदार या उद्भट पण्डित अन्यानधीन होकर निवास करते हैं । समान कुळवाले कई कुळीन पुरुष स्वतंत्रतया वस रहे हैं कई सेठ, अनेक मछ, बहुतसे दानवीर, नाना अभिमानी स्वतंत्र होकर सुखपूर्वक निवास करते हैं । करण, अधिकरण आदिकोंमें अनेक स्थलोंपर स्वतंत्रता देखी जाती है ' मुनयो ध्यानं विद्वति, मज्यने बृक्षः शाखाभारेण, असे विद्योतते विद्युत्, परोपकाराय सता विभूतिः, बृक्षात् पर्ण पतित, मूर्यस्यालोकः '' इन कार्योमें किसी अधिष्ठाताकी आवश्यकता नहीं है । वनमें अनेक पक्षी या प्रयूद स्वापत्त निवास करते हैं । समुद्रमें अनेक जलचर जीव या प्रवाल, मुक्ता आदि स्वतंत्र उपज रहे हैं । साध्यायशालामें अनेक सज्जन मनमाने प्रन्थोंका स्वाध्याय कर रहे हैं । हाटमें अनेक केता विकेता अपने प्रयोजनको साध रहे हैं । अपनी उदराग्निसे सभी प्राणी अपने अपने भोज्यको पचा रहे हैं । धार्मिक गृहस्थ अपने कर्तन्योंमे प्रवर्त रहे हैं । मुनिजन दिनरात स्वतंत्रतया आत्महितमें लग रहे हैं उपाध्यायमहाराज पढ़ानेमें लवलीन हैं। अपने अपने कर्तन्य अनुसार सभी जीव पुण्य या पार्पोका उपार्जन कर रहे हैं । अतः सबके अधिष्ठायक एक प्रयोक्ताकी सिद्धि नहीं हो पाती है ।

तेषामपि राजाचार्यादिर्वा मयोक्तैक एवेति चत्, तस्यापि राक्नोन्यो महाराजः मथानः भयोक्ता तस्याप्यपरः ततो महानिति चव नाम मधानमयोक्तृत्वं व्यवतिष्ठेत। महेश्वर एवेति चेक, तस्यापि प्रधानापराधिष्ठापकपरिकल्पनायामनवस्थानस्य दुर्निवारत्वात् । सुद्रमपि गत्वा व्यवस्थितिनिमित्ताभावाच ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उन समान कुलताले, समान धनवाले आदि या कुम्हार, लुहार, आदि नाना प्रयोक्ताओंका भी अन्तमें जाकर प्रयोक्ता हो रहा राजा अथवा गृहस्थाचार्य, जमीदार, प्रधान प्रवन्धकर्त्ता, स्थपित, आदि एक ही प्रयोक्ता है। यों कहनेपर तो प्रन्थकार कहते हैं कि उस राजाका भी प्रधान प्रयोक्ता अन्य महाराजा होगा और उसका भी उपरिवर्ती प्रयोक्ता कोई तीसरा उससे बड़ा मण्डलेश्वर होगा और उससे भी बड़ा अधिकारी महामण्डलेश्वर उसका प्रयोक्ता होगा इस प्रकार चक्रवर्ती आदिके प्रधान प्रयोक्तापनकी भला कहां आगे चलते चलते विश्राम लेनेकी व्यवस्था की जावेगी ? अनवस्था दोष होगा। यदि तुम वैशोषिक यों कहो कि परिशेषमें जाकर सबका अंतिम प्रयोक्ता हमारा अभीष्ट महेश्वर ही है। आचार्य कहते हैं कि उस महेश्वरके भी प्रधान हो रहे उपरिवर्ती उत्तरोक्तर अधिष्ठायक महामहेश्वर आदिकी लम्बी चौडी कल्पना करते सन्ते अनवस्था दोषका निवारण कठिनतासे भी नहीं हो सकता है और बद्धत दूर भी जाकर तुम वैशेषिकोंके पास व्यवस्था कर देनेका कोई परिनिष्ठित निमित्त नहीं है।

स्यान्यतं, नेश्वरस्यान्योऽधिष्ठाता प्रश्वः सर्वज्ञत्वादन।दिशुद्धिवैभवभाक्तावः । यस्य त्वन्योऽधिष्ठाता प्रश्वः स न सर्वज्ञोऽनादिशुद्धिवैभवभाग्वा यथा विष्ठिकर्मकरादिः न च तथेश्वर-स्तस्मास्न तस्यान्योऽधिष्ठाता प्रश्वरिति । नाच धर्मिणोऽसिद्धिरिवलजगत्करणादीनां प्रयोक्तुस्त-स्यानुमानसिद्धत्वात्, नापि हेतुरसिद्धस्तस्य सर्वज्ञत्वमंतरेण समस्तकारकप्रयोक्तृत्वस्यानुमानसिद्धस्यानुपपत्तरनादिशुद्धिवैभवाभावे चाऽच्चरीरस्य सर्वज्ञत्वायोगात् । न च सञ्चरीरोऽसौ तच्छरीरप्रतिपादकप्रमाणाभावात् इति । तद्य्यसत् सर्वज्ञत्वस्य हेतो स्द्वैर्व्यभिचारात् । तेषां हि सर्वज्ञत्वमिष्यते योगिनान्येन वाधिष्ठितत्वं महेश्वरस्यानादेरिषष्ठापकस्य तेषामादिमतं स्वय-मभ्युपगमात् , तदनभ्युपगमे अपसिद्धांतप्रसंगात् । तथानादिशुद्धिवैभवमप्याकान्नेनातिकं, तस्य जगदुत्यत्रौ वाधिकरणस्य महेश्वराधिष्ठितत्वोपगमात् ।

यदि तुम वैशोषिकोंका यह भी मन्तव्य होय कि ईश्वरका पुनः कोई अन्य अधिष्ठाता प्रमु नहीं है (प्रतिज्ञा) सर्वज्ञ होनेसे (प्रथम हेत्) अनादि कालीन ग्रुद्धियोंके वैभवका धारण करनेवाला होनेसे (द्वितीय हेत्) देखो जिस अधिष्ठित व्यक्तिका अधिष्ठाता अन्य प्रमु हुआ करता है वह पदार्थ सर्वज्ञ नहीं है और अनादि कालीन शुद्धिके वैभवको धारनेवाला भी नहीं है जैसे कि पीनस या डोछी, पालकिक ढोनेकी कियाको करने वाले धीमर या कारागृह (जेलखाना हवालात) आदिमें बलात्कारसे ठेळ देनेकी कियाको करनेवाळे चपरासी आदि पुरुष हैं। अर्थात्—पीनसको ढोने वाळे धीवर भीतर बैठे हुये वैद्य. प्रम. (मालिक) महारानी आदि अन्य अधिष्ठाताओं के अधीन होकर चल रहे हैं। न्यायकर्ता अधिकारी (अफसर) की आज्ञा अनुसार सिपाई उन अपराधियोंको कारा-गृहमें खींच लेजाता है ये सेवक जन विचारे सर्वज्ञ अथवा अनादि शुद्ध तो नहीं हैं। " साध्याभावे साधनाभावः '' (व्यतिरेक दृष्टान्त) और उस प्रकारका असर्वज्ञ या सादि शुद्ध अथवा अनाषशुद्ध हमारा ईस्वर नहीं है (उपनय) तिस कारणसे उस ईस्वरका कोई अन्य प्रस् अधिष्ठाता नहीं है। (निगमन) । इस अनुमानमें कहे गये ईस्वर नामक धर्मीकी असिद्धि नहीं है जिससे कि मेरा हेत आश्रयासिद्ध हो जाता क्योंकि जगत्के सम्पूर्ण करण, अधिकरण, सहकारीकारण, किया आदिकोंका प्रयोग करनेवाले उस ईस्वरकी अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्धि हो चुकी है ऐसे प्रसिद्ध ईस्वरमें अन्य अधिष्ठाताकी अधीनताका अभाव साधा जा रहा है तथा इस अनुमानमें कहा गया सर्वज्ञ होते हुये अनादि सिद्ध होना एक हेतु अथवा सर्वज्ञत्व और अनादिशुद्धत्व ये दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वामास भी नहीं हैं क्योंकि अनुमानसे सिद्ध हो रहे उस ईश्वरको सर्वक्कवके विना समस्त कारकोंका प्रयोक्तापन नहीं बन पाता है और अनादिकालसे शुद्धिका बैभव नहीं माननेपर उस अशरीर. ईश्तरके सर्वक्रपना नहीं आ सकता है। जैसे कि सादि खुद्ध मुक्त आत्माके अशरीर होनेपर भी सर्वह्मपनका योग नहीं है। कतिपय पौराणिकोंके विचार अनुसार मान छिया गया वह ईश्वर दारीर-

सहित तो नहीं है क्योंकि उस व्यापक ईश्वरके शरीरोंका प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं है। " न तस्य मूर्तिः '' ऐसा भी कचित् लिखा है अनतारोंपर अखण्ड श्रद्धा करानेवाले पुराणवान्योंमें अवाधित प्रामाण्य नहीं है। यहांतक कोई बद्ध वैशेषिक कह रहे हैं प्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह मन्तन्य भी सत्यार्थ नहीं है क्योंकि पहिले सर्वज्ञपन हेतुका रहीं करके न्यभिचार हो जायगा। " भीमाविल जिरसच् रुद्द विसालणयण सुप्पदिष्ट चला, तो पुंडरीय अजिदंधर जिदणाभीय पीड सबइजो " ये ग्यारह रुद्र जैनोंके यहां माने गये हैं तुम पौराणिकोंके यहां भी " अस्त्रैकपाद हिर्बेघो विरूपाक्षः, सरेश्वरः, जयन्तो बहरूपश्च त्र्यम्बकोऽधापराजितः वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्राः " यों ग्यारह रुद्र माने गये हैं कतिपय रुद्र माने गये होंय उनका नियमसे सर्वेज्ञपना भी इष्ट किया गया है। किन्तु योगी अथवा शक्ति नामक अन्य देवता करके अधिष्ठितपना स्त्रीकार किया है उन रुहोंका अधिष्ठापक एक अनादि कालीन महेश्वरको तुमने आदिमें ही माना है। यो स्वयं स्वीकार कर लेनेसे हैत सर्वज्ञत्वके रहनेपर और साध्य अन्यानधिष्ठितत्वके नहीं ठहरनेसे व्याभेचार दोष आया। यदि रुद्रोंके भी अन्य अधिष्ठापकोंकी स्वीकृतिके उस सिद्धान्तको नहीं अंगीकार करोगे तो तुम्हारे ऊपर अपिस-द्धान्त यानी अपने सिद्धान्तसे स्विठित हो जाना दोषके लग जानेका प्रसंग हो जायगा तथा तुम्हारा दसरा हेत अनादि कालीन रादिका बैभव भी आकारा करके अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अनादि कालमे राज हो रहा वह आकाश जगतकी उत्पत्तिमें अधिकरण कारक हो रहा है। साथमें उसका महेश्वरसे अधिष्ठितपना भी स्त्रीकार किया गया है। अतः हेतुके रह जानेपर और घुद्ध आकाशमें अन्यानधिष्ठितत्व साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यभिचार दोष जम बैठा ।

किं च, यदि प्राधान्येन समस्तकारकप्रयोकतृत्वादी अरस्य सर्वक्रत्वं साध्यतं सर्वक्रत्वाचा प्रयोक्त्रन्तरियेशं समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं प्रधानभावेन तदा प्रस्पराश्रयो दोषः कुतो निवार्येत ! साधनांतरात्तस्य सर्वक्रत्वसिद्धिरिति चेक्च, तस्यानुमानेन बाधितविषयत्वेनागमकत्वात् । तथादि—नेश्वराऽश्रेषार्थवेदी दृष्टेष्टिविरुद्धाभिधायित्वात् बुद्धादिवदित्यनुमानेन तत्सर्वक्षत्वावयोध्यक्षमिललमनुमानमभिधीयमानमेकांतवादिभिरभिद्दन्यते, स्याद्वादिन एव सर्वक्रत्वोषपत्तः युक्ति-श्वाह्माविरोधिवाक्त्वादित्यन्यत्र निवेदितं । ततो नाशेषकार्याणाग्रुत्यत्तौ कारकाणामेकः प्रयोक्का माधान्येनापि सिध्यतीति परेषां नेष्टसिद्धिः ।

दूसरी बात यह भी है कि तुम नैशेषिक यदि प्रधानतासे सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता होनेसे ईस्त्ररको सर्वज्ञपना साधते हो और सर्वज्ञ होनेसे ईस्त्ररको अन्य उपरिम प्रयोक्ताओंकी नहीं अपेक्षा रख कर प्रधानता करके समस्त कारकोंके प्रयोक्तापनको साधते हो तब तो यह परस्पराश्रय दोष किससे हटाया जा सकता है ! अर्थात्—तुम्हारे ऊपर अन्योन्याश्रय दोष अटल होकर लग बैठा । यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि हम अन्य हेतुओंसे उस ईस्त्ररके सर्वज्ञपनकी सिद्धि करलेंगे । " ईस्त्ररः सर्वज्ञः

अनुपायसिद्धत्वात '' '' ईस्वरः सर्वञ्चः सदा कर्ममळैरस्प्रष्टत्वात् '' मुक्त आत्माको व्यविरेक द्रष्टान्त बनाया जा सकता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि वैशेषिकोंके उन हेतओंके साध्य विषयकी इस वस्यमाण अनुमान करके बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः वे हेतु ईश्वरमें सर्वज्ञत्यकी अनुमिति करानेवाछे नहीं हैं। उसको यों स्पष्ट रूपसे समझियेगा कि ईस्वर (पक्ष) सम्पूर्ण अर्थोका ज्ञाता नहीं है। (प्ताध्य) दृष्ट प्रमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्ट यानी अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध हो रहे पदार्थीका कथन करनेवाला होनेसे (हेत) जैसे कि बुद्ध, कपिछ, अल्लाह आदिक आत्मार्ये सर्वज्ञ नहीं हैं। (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान करके ईर्वरके सर्वज्ञत्वका प्रतिपादक हेतु बाधित हेन्वामास हो जाता है। भावार्थ-बौद्ध विद्वान् अहिंसाका प्रतिपादन करते ह्रये भी कचित् मांस भक्षणको परिद्यार्थ नहीं समझते हैं । कुरानमें कई स्थळोंपर दयाका विधान पाया जाता है फिर भी मियां लोग इष्ट देवताके नामपर जीवित पश्चको संकल्प कर मारते हुए स्वच्छंदतया मांसभक्षण करते हैं। शक्तिदेवताकी उपासना करनेवाछे शाक्तजन स्वच्छंदरूपसे देवताके नैवेद्य मध. मांसका सेवन करते हैं। वदेमें " मा हिस्याः सर्वाभूतानि '' ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। यजुर्वेदके छत्तीसर्वे अध्यायका अठारहवां मंत्र है कि दतेद 🔐 हमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं चक्षपा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे '' इस मंत्रद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको परस्परमें अहिंसाभाव, मित्रभाव, अदोहपरिणाम और प्रेमन्यवहार रखना पुष्ट किया गया है। सम्पूर्ण जीव मुझे मित्रके समान देखें और मैं सबको मित्रके समान देखें । मित्र अपने दूसरे परममित्रको कथमपि नहीं मारता है यह भछे प्रकार समझा दिया है। किन्त पन्द्रह्वें अध्यायका पन्द्रह्वां मंत्र है कि " अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरक्षिमस्तस्य रथगृत्मश्च रथौजाश्च तेनानीव्रामण्यौ । पुन्जिकस्थला च ऋतुस्थला चाप्तरसी दङ्क्णवः पशबो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेम्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु तेथं द्विष्मी यश्व नो द्वेष्टि तेमेषां जम्मे दघ्मः " इस मंत्रद्वारा हिंसामाव तथा अप्रीतिमाव प्रकट किया है। इसी प्रकार सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें, आदि मंत्रोंमें भी हिंसाभाव तथा अपीतिभावकी पुष्टि की है इक्कीसर्वे अध्यायके साठ्यें मंत्रमें हिंसाको ध्वनित किया है वह मंत्र इस प्रकार है कि '' सुमस्था अद्य देवो वनस्पतिरमंबदश्विभ्यां द्वयेन सरस्वत्ये, मेषेणेन्द्राय, ऋषभेणाक्षँस्तान्मेदस्तः प्रति पवतामृभीषतावी बृधन्त पुरोडारौरपुरश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् '' पद्यीसर्वे अध्यायके द्वितीय मंत्रका ऐसा ही हिंसापोषक अभिप्राय है '' वातं प्राणेनापानेन नासिके उपयाममधरेणौष्टेन सदुत्तरेण प्रकारोनान्त-रमनुकारोन बाह्यं निवेष्यं मूर्ध्वास्तनयित्तुं निर्वाधेन शनिं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्या श्रोत्र श्रोत्राभ्यां कर्णो तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिः रदिति 🥞 🕻 शीच्यी निर्ऋति निर्जल्पेन शीर्थ्या सक्रोशैः प्राणान् रेष्माण ी ए स्तुयेन " इसके आगे मा कई संजोंमें यज्ञसम्बन्धी हिंसामानको वैध बताया गया है। अधर्वनेदमें भी हिंसाकी भरमार है।

" न मांसमक्षणे दोषो न मधे न च मैथूने " ऐसे मनुस्मृतिके वाक्य मिछते हैं। गृह्यसूत्र नासका प्रन्थकी यही दशा है। क्वचित् गोमेध, नरमेधतकका विधान किया गया है । वेदमें असम्बद्ध या ळण्जाजनक विषयोंकी भी कमी नहीं है । पद्मीसवां अध्याय सातवां मंत्र इस प्रकार है कि " पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीनस्थूळगुद्या सर्भान्गुदाभिविन्द्वत आन्त्रैरयो वस्तिन। वृषणमांडाभ्यां वाजिन ी ि रोपेन प्रजा ी ि रेतसा चाषान्पित्तेन प्रदरान्यायुना कूश्मान्छकापिण्डैः '' आठवां नीवा मंत्र भी ऐसाही घृणित है। वेदमें असम्बद्ध प्रछाप भी पर्याप्त है। युजर्वेद अठारहवें अध्याय " एका च में तिस्रश्च ये पञ्च च ये पञ्च च ये सप्तच ये त्या च वे इत्यादि या चतस्रश्च ये Sही च ये ह्रादश च ये ह्रादश इत्यादि इन चौबीसर्ने पचीसर्ने मंत्रोंमें एकसे आगे दो दो संख्या बढाकर अथवा चारसे आगे चार चार संख्या बढाकर न जाने कीनसे गम्भीर अर्थका प्रतिपादन किया गया है ? इसके आगे छन्त्रीसवें, सत्ताईसवें मंत्रमें भी गईणीय असंगत विषयका नंगा प्रदर्शन है। यजुर्वेदसे तीसवां अध्याय नीवां मंत्र " अस्वस्य त्वा वृष्णः शक्ता धूपयामि देवयजने पृथिन्याः । मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्ष्णे । अञ्चरय त्या बृष्णः राजा धूपयामि देवयजते प्रार्थिग्याः । मखाय त्वा मस्वस्य त्वा शीर्षो । मखाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्णे मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्णे । " द्वारा तीन महाबीरोंको तीन मंत्रों द्वारा अस्वकी बिष्टा करके भूप देनेसे न जाने कौनसी शुद्धिका रहस्य निकाळा गया है। इत्यादि । प्रकरणमें यह कहना है कि नैयायिक या वैरोषिक पण्डित वेदको ईत्वरका बनाया हुआ स्वीकार करते हैं। पौराणिक पण्डित स्मृति या पुराणोंकी रचना वेद अनुसार हुई बतलाते हैं। वेदके मंत्रभागसे उपनिषदें (ज्ञान-काण्ड) और ब्राह्मणमागसे कर्मकाण्ड प्रकट हुथे माने जाते हैं किन्तु '' अणोरणीयान महतो मही-यान् '' के समान उक्त शास्त्रोंमें हिंसा, अहिंसा, मांसमक्षण मांसनिषेध, यज्ञ करना, ब्रह्मकी उपासन। करना, आदि दृष्ट इष्ट प्रमाणों द्वारा विरुद्ध होरहे विषयोंका निरूपण पाया जाता है तिस कारण उन एकान्तवादी पण्डित करके उस ईश्वरके सर्वज्ञपनका प्रयोग कराने वाले जो सम्पूर्ण अनुमान कहे जारहे हैं वे सम्पूर्ण अनुमान ज्ञान हम अनेकान्तवादी विद्वानों के निर्दोष प्रमाणों करके बाधित कर दिये जाते है । ऐसी दशामें ईश्वरको जान बृझकर समस्त कारकोंका प्रवानरूपमें प्रयोक्तापन नहीं सिद्ध होसकता है। कारकोंका परिज्ञायक जीव ही कर्चा होय या ज्ञापक जीव ही कर्चा होने यह दोनों एकान्त मत मुळोंसे भरे हुये हैं । वास्तविक बात तो यह है कि स्यादादियोंके यहां ही अईत् परमेष्ठीको सर्वज्ञपना बन सकता है क्योंकि उनके वचन युक्ति और शास्त्र प्रमाणोंसे आविरुद्ध है इस सिद्धान्तका हम अन्य प्रन्थोंमें निवेदन कर चुके हैं । विद्यानन्द महोदय प्रन्थमें निवेदन किया गया होगा जो कि मुझ भाषा ठीका कारके दृष्टिगोचर नहीं हुआ है '' स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते " इस देवागम (आतमीमांशा) की कारिकाका व्याख्यान करते समय अष्टसहस्रीमें भी श्री विद्यानन्द्र स्वामीने उक्त सिद्धान्तको पुष्ट किया है तिस कारणसे सम्पूर्ण कार्योकी उत्पत्तिमें तत्पर होकर लग रहे कारकोंका कोई एक चरम प्रयोक्ता प्रधानपने करके भी सिद्ध नहीं

होपाता है। इस कारण अन्य विद्वान् वैशेषिकोंके यहां अपने अभीष्ट ईश्चरकी सिद्धि कथमपि नहीं होपाती है उनके सभी हेतु दूषित होजाते हैं।

स्यान्मतं, नैकः प्रयोक्ता साध्यते तेषां नाप्यनेकः प्रयोक्तृसामान्यस्य साधियतुमिष्ठत्वा-दिति । तद्प्यसंगतमेव, तथा सिद्धसाधनाभिधानात् । न दि प्रयोक्तृमात्रे समस्तकारकाणां विप्रतिपद्यामहे यस्य यदुपभोग्यं तत्कारकाणां तत्प्रयोक्तृत्वनियमनिश्रयात् ।

फिर वैशेषिकोंका प्रबुद्ध होकर यह मन्तन्य होय कि उन सम्पूर्ण कार्योका प्रयोक्ता एक बुद्धिमान नहीं साधा जाता है और अनेक भी बुद्धिमान निमित्तकारण नहीं साध जाते हैं किन्तु हम वैशेषिकोंको प्रयोक्ता सामान्यकी सिद्धि कर छेना अभीष्ट होरहा है। अर्थात्—हम इस तात्पर्य पर पहुंचे हैं कि कारकोंका या कार्योका स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा कोई प्रयोक्ता होना चाहिये इस पर प्रन्थकार कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तन्य भी पूर्वापरसंगतिसे शून्य है क्योंकि तिस प्रकार सामान्य प्रयोक्ताओंके साध्य करने पर हम जैन सत्रहवीं वार्तिक अथवा साठवीं वार्तिकोंके अनुसार सिद्धसाधन कह चुके हैं। जगत्के अनेक कार्योमें अदृष्ट द्वारा या साक्षात् सम्पूर्ण प्राणी प्रयोक्ता हो रहे हैं सम्पूर्ण कारकोंके सामान्य प्रयोक्ताको साधनेमें हम पहिछेसे ही कोई विवाद नहीं उठा रहे हैं। जिस प्राणीके जो जो पदार्थ साक्षात् या परम्परासे उपभोग करने योग्य हैं उस उस पदार्थके कारकोंका प्रयोक्तापन नियमसे उस उस प्राणीमे निश्चित हो रहा है। भावार्थ—जगत्के प्रायः सम्पूर्ण पदार्थ किसी न किसी प्राणीके साक्षात् या परम्परया उपभोगयोग्य हो ही रहे हैं। अदृष्टानपेक्ष या प्राणानपेक्ष होकर हो रहे कतिपय कार्योकी यहा न्यायशाक्तमें गणना नहीं की गयी है सर्वज्ञोक्त सूक्ष्म चर्चाका परिशीङन करनेवाछे सिद्धान्तप्रन्थोंमें उनका गवेषण कीजिये।

इति कियानुमानानां माला नैवामला भुवः । कर्तर्येकत्र संसाध्येऽनुमित्या पक्षबाधनात् ॥ ६५ ॥

यहांतक प्रकरणमें यह सिद्ध कर दिया गया है कि पृथिनीके यानी जगत्के एक कर्ताको भक्ट प्रकार सिद्ध करनेमें दी गई कार्यत्व, करणत्व आदि हेतुनाले अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है क्योंकि हम जैनोंके अनुमान प्रमाण करके नैशेषिकोंके पक्षकी बाना उपस्थित हो जाती है अथवा एकसी अस्सी कियानदी मिथ्यादृष्टियोंमें नैशेषिक भी पदार्थीमें कियाको माननेनाले परिगाणित हैं। अतः कियानादी नैशेषिकोंके पूर्वोक्त कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है यों संगति लगाकर '' कियानुमानानां '' पदका अर्थ कर लो। '' कर्ता माने गये ईश्वरकी कियाके प्रयोजक अनुमान '' यो भी अर्थ किया जा सकता है।

यवैव सिन्नवेशविशिष्टत्वादिसाधनं न निरवधं व्यापकानुपर्छभेन पक्षस्य बाधनात् तथा करणत्वाधनुमानमपि जगतामेककर्तृत्वे साध्ये विश्वेषाभावात् । तच समर्थितमेवेति नानुमान-माला निरवधा विधातुं शक्या तस्याः प्रतिपादितानेकदोषाश्रयत्वात् । तत एवागमादिप नेश्वरसिद्धिरित्याह ।

जिस ही प्रकार ईस्वरकी सिद्धिमें वैशेषिकों द्वारा कहे गये सिलिवेशविशिष्टत, कार्यत्व, आदि हेतु निर्दोष नहीं हैं क्योंकि व्यापकके अनुपल्म करके पक्षकी बाधा दिख्लायी जा चुकी है। अर्थात् व्यापक हो रहे अन्वय व्यतिरेकके नहीं घटित होनेसे व्याप्य हो रहा कार्यकारणमाव भी नहीं घटित हो प्रति हो पता है। अतः वैशेषिकोंकी प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है। उस ही प्रकार करणत्व, कियात्व, आदि हेतुओंसे उपजाये गये अनुमान भी जगतोंका एक कत्तीस जन्यपना साध्य करनेपर निर्दोष नहीं है कारण कि सिलिवेशविशेष आदि हेतु और करणत्व आदि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है। हेतुओंके उस हेत्वाभासपनका हम पूर्व प्रकरणोंमें समर्थन कर चुके ही हैं जिस कारण कि वैशेषिकोंक कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं करी जा सकती है क्योंकि '' १ द्वीपादयो बुद्धि-मद्रेतुकाः सिलवेशविशिष्टत्वात् घटवत्, २ क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् पटवत् ३ करणादीनि कर्त्रिषिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वात् वास्यादिवत् '' इत्यादि अनुमानोंकी की गयी उस मालाको पूर्वमें कहे जा चुके व्यभिचार, भागासिद्ध, बाध, व्यापकानुपल्यम, सिद्धसाधन, विरोध, साध्यविकल-निर्दर्शनत्व, व्यतिरेकामाव आदि अनेक दोषोंका आश्रयपना है उस ही कारणसे अर्थात् अनुमान-मालामें अनेक दोषोंके उपस्थित हो जानेपर बाधित पक्ष हो जानेसे आगमप्रमाण द्वारा भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है इस बातको प्रत्यक्षार अप्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

विश्वतश्रक्षरित्यादेरागमादपि नेश्वरः । सिध्येतस्यानुमानेनानुप्रहाभावतस्ततः ॥ ६६ ॥

यु जैंबदके सत्रहवें अध्यायके उनीसवें मंत्र " विश्वतश्वक्षुरुत विश्वतोमुको विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् । संबाहुन्यां धमित संपत्तेत्रर्धावामूमी जनयन्देव एकः " और सत्ताईसवें मंत्र " यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । ये। देवाना नामधा एक एवत " संप्रक्षं भुवनायन्त्यन्या ॥ तथा " अपाणिपादो जवनो गृहीता, संसारमहीरुहस्य बीजाय " इत्यादिक आगम प्रमाणोंसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि तिस बाधितपक्षके हो जानेसे उन आगम वाक्योंका अनुमान प्रमाण करके अनुप्रह होनेका अभाव है । जिन आगमोंको अनुमान प्रमाणोंसे संबादकपना प्राप्त नहीं होता है वे आगम प्रमाणभूत नहीं माने गेये हैं ।

न हि नैयायिकानां युक्त्यननुष्ट्रहीतः कश्चिदागमः ममाणमतिमसंगात्। न च युक्तिस्तत्र काचिय्यवतिष्ठत इति नेश्वरसिद्धिः ममाणाभावात् प्रधानाद्दैतादिवत्। ततः किं सिद्धमित्वाद्। नैयायिकोंके यहां युक्तियों यानी सद्धेतुओंसे नहीं अनुप्रह प्राप्त होचुका कोई भी आगम भला प्रमाण नहीं माना गया है अन्यथा अति प्रसंग होजायगा । अर्थात् —युक्तियोंके विना प्रमाणपना मान टेने पर चार्वाक, बौद्ध, ईसाई, मोहम्मदमतानुयायी, अद्वेतवादी, आदिकोंके आगम भी प्रमाण बन बेठेंगे । किन्तु उन ईस्वर साधक वाक्योंमें कोई अच्छी युक्ति व्यवस्थित नहीं होपाती है । प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणों करके स्पष्ट बाधा उपस्थित होरही है । विज्ञान (साइन्स) जब ईस्वरबादकी जडको सर्वथा काट चुका है ऐसी दशामें नैयायिकोंके आगमकी सहायक कोई युक्ति नहीं ठहर सकती है । इस कारण साधक प्रमाणोंके नहीं होनेसे सांख्योंकी त्रिगुणात्मक प्रकृतियां अद्वेतवादियोंके संवेदनादैत पुरुषादैत अथवा बौद्धोंके क्षणिकत्व आदिके समान ईस्वरकी भी सिद्धि नहीं होसकती है । कोई पुंछता है कि तिस कारण आठवीं वार्तिकसे प्रारम्भ कर अवतक क्या सिद्ध हुआ समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विधानन्द स्वामी निर्णीत सिद्धान्तकों अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं ।

लोकोऽकृत्रिम इत्येतद्वचनं सत्यतां गतं । बाधकस्य प्रमाणस्य सर्वथा विनिवारणात् ॥ ६७ ॥

यह सम्पूर्ण लोक अकृतिम है इस प्रकार यह सिद्धान्त वचन सत्यताको प्राप्त होचुका है क्योंकि इसके बाधक प्रमाणोंका सभी प्रकारोंसे विशेषतया निवारण कर दिया गया है। अर्थात्— त्रिलोकसारमें यह सत्य लिखा है कि "लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिक्तो। जीवा-जीवेहिं फुडो सन्वागासवयवो णिच्चो " स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है कि "स्व्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झि संठिओ लोओ। सो केण वि णेय कओ ण य धरिओ हरिहरादीिहं " "अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अत्थणं भवे लोओ। दव्वाणं णिच्चतो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं " परिणाम सहावादो पाडिसमयं परिणमंति दव्वाणि। तेसि परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं " मूलाचारके आठवें अध्यायमें लिखा है कि " लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणि-पण्णो। जीवाजीवेहिं भरो णिच्चो तालरुक्ख संठाणो " इत्यादिक सर्वज्ञोक्त आगम तो निर्वाध होनेसे सर्वागरूपसे सत्यार्थ हैं।

छोकः खल्वकृत्रिमोऽनादिनिधनः परिणामतः सादिपर्यवसानश्चेति प्रवचनं यथात्रेदानीं-तनपुरुषापेक्षया वाधविवार्जितं तथा देशांतरकाळांतरवर्तिपुरुषापेक्षयापि विशेषाभावात् ततः सत्यतां प्राप्तिमिति सिद्धं सुनिर्णीतासंभवद्वाधकप्रमाणत्वादात्मादिपातिपादकप्रवचनवत् ।

नियमसे यह छोक किसी द्वारा नहीं किया गया अकृत्रिम है। अनादिसे अनन्तकालतक स्थिर रहनेषाला है। हां, पर्यायोंकी अपेक्षा सादि, सान्त, भी है। इस प्रकारके शास्त्रवाक्य जैसे इस देशमें होनेबाले या इस सालमें होनेबाले पुरुषोंकी अपेक्षा करके बाधविवर्जित हैं उसी प्रकार देशान्तर कालान्तरवर्त्ती पुरुषोंकी अपेक्षासे भी निर्बाध हैं। इस देश और इस कालके पुरुषोंकी अपेक्षा अन्य देश और अन्य तालके पुरुषोंसे उक्त आगमको निर्वाध प्रामाण्य सम्पादन करनेके लिये कोई अन्तर नहीं पड़ता है। भावार्थ—यावत् देश यावत् कालोके मनुष्योंमें दो हाथ, दो पांव, एक शिर, मुखसे खाना, नाकसे सूंघना आदिमें जैसे कोई अन्तर नहीं है उसी प्रकार वर्तमान काल या इस देशके मनुष्य इस लोकविन्यासको अकृत्रिम अनादि निधन जैसे साथ रहे हैं वैसे ही देशान्तर, कालान्तरके मनुष्य भी जगत्को अकृत्रिम ही बाधारहित साधते होंगे तिस कारणसे वे आगम वाक्य सत्यताको प्राप्त हुये समझो। इस कारण वक्यमाण अनुमान द्वारा सिद्ध हो जाता है कि लोकको अकृत्रिम या अनादि निधन कह रहा शास्त्रवाक्य (पक्ष) सत्यार्थ है। (साध्य) क्योंकि बाधक प्रमाणोंके असम्यव होनेका भले प्रकार निर्णय किया जा चुका है। (हेतु) आत्मा, आकाश, मोक्ष, आदिके प्रतिपादक शास्त्र वाक्योंको जैसे सत्यता प्राप्त है। (अन्वय दृष्टान्त)। यो आठवी वार्तिकसे कर्नृवादका पूर्वपक्ष आरम्भ कर यहांतक प्रकरणोंकी संगति मिला दी गयी है।

अथानुमानादप्यकृत्रिमं जगात्सिद्धमित्याह ।

जिस प्रकार आगम प्रमाणसे छोकको नित्य सिद्ध किया गया है। अब अप्रिम वार्त्तिक द्वारा अनुमान प्रमाणसे भी श्रीविद्यानन्द स्वामी इस जगत्को कत्तिसे अजन्य सिद्ध करते हुये यो कह रहे हैं कि—

विशिष्टसिन्नवेशं च धीमता न कृतं जगत् । दृष्टकृत्रिमकूटादिविलक्षणतयेक्षणात् ॥ ६८ ॥ समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिवत् । इति देतुवचः शक्तेरिंग लोकोऽकृतः स्थितः ॥ ६९ ॥

विलक्षण रचनावाला यह जगत् (पक्ष) किसी बुद्धिमान् करके किया गया नहीं है (साध्य) जिन कृत्रिम पदार्थोंको बनानेवाले कर्ता देखे जाते हैं। उन कृट, गृह, गाडी, आदि कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहा होनेसे (हेतु) समुद्र या खानमें मले प्रकार स्वकीय कारणोंसे उपजे मोती, मृंगा, हीरा, पना आदि पदार्थोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार निर्दोष हेतुके वचनकी सामर्थ्यसे भी यह लोक अनुमान प्रमाण द्वारा अकृत्रिम व्यवस्थित हो चुका है। अर्थात्—चौकी, सन्दूक, किवाड आदिको बढई बना सकता है। किन्तु इसके उपादानकारण काठको नहीं बना सकता है। सूचीकार वस्त्रोंको सीव सकता है किन्तु रुई, ऊन, रेशमको स्वतंत्रतया नहीं गढ सकता है। रुई बनके पेडपर लगती है, पशु पक्षी, मनुष्योंके वाल ऊन हैं रेशमको कीड बताते हैं

यों ही सुनार सुन्दर भूषणोंको बना छेता है किन्तु सोना, चांदी, तांबेको मूळ्रूपसे नहीं उपजा सकता है, हळ्वाई मनोहर पक्वाकोंको बना छेता है किन्तु इनके उपादान कारण रस या खांडको खांत्र नहीं बना सकता है। सुवर्णकार, अयस्कार, आदि नाम तो कोरे नामनिक्षेपसे हैं। रोटी, दाल, पेडा, बक्क उपादान या सोना, चांदी, काठ, हीरा, मोती, मांस, रक्त, आदिको वे एकेन्द्रिय, या द्वीन्द्रिय आदि जीवही कर्मपरवश होरहे अपने अपने व्यक्त, अन्यक्त, पुरुषार्थ द्वारा बनाया करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र, पर्वत, धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्रछ, आदिका समुदाय रूप यह लोक किसी एक ही बुदिमान करके बनाया गया नहीं है।

दृष्ठुत्रिमविस्त्रमणतयेक्ष्यमाणश्च स्यात् क्रुत्रिमश्च स्यात् संश्विवत्वविश्विष्टो स्रोको विरोधा-भावात् । ततः सिद्धस्य इतोः साध्येनाविनाभावित्विमिति यन्यमानं पत्याइ ।

यहां उक्त अनुमानमें कोई नैयायिक पण्डित प्रतिकृत्न तर्क उठाता है कि हेतु रह जाय साध्य नहीं रहे । युनिये, यह लोक कर्त्तासहित रूपसे देखे जा रहे कृत्रिम पदार्थोंके विलक्षणपने करके देखा जा रहा होय, और सिनेवेशिवेशिको धार रहा यह लोक कृत्रिम भी होय, कोई विरोध नहीं आता है । देखो धूम होय और अग्नि नहीं होय यों प्रतिकृत्न तर्क उठा देनेसे कार्यकारणभावका मंग होजाना यह विरोध खडा हुआ है । अतः '' अग्निमान् धूमात् '' इस प्रसिद्ध अनुमानमें प्रतिकृत्न तर्क नहीं उठा सकते हैं किन्तु यहां लोकमें हेतुके रहने पर भी साध्यका नहीं रहना आपादन किया जासकता है । आप जैनोंने खयं कहा है कि अन, मांस, पाषाण, आदि पदार्थ उन चीजोंसे विलक्षण हैं जिनके कि बनाने वाले उच्च कोटिके कारीगर देखे जाते हैं फिर भी अन आदि पदार्थ एक इन्हिय, दीन्द्रिय, आदि जीवोंके हारा बना लिये गये हैं तिस कारणसे इस तुम्हारे दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतयाईश्व्यमाणत्व हेतुका अपने साध्य होरहे कृत्रिमत्वाभावके साथ अनिनाभाव असिद्ध है इस प्रकार सामिमान माने चले जारहे नैयायिकोंक प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य अग्निम वार्तिक हारा समा- भान कचनको कहते हैं ।

नान्यथानुपपन्नत्वमस्यासिद्धं कथंचन । कृत्रिमार्थविभिन्नस्याकृत्रिमत्वप्रसिद्धितः ॥ ७० ॥

हमारे इस हेतुका अन्ययानुपपत्तिसे सहितपना किसी भी ढंगसे असिद्ध नहीं है। क्योंकि कृत्रिम अर्थोसे विभिन्न हो रहे पदार्थोंके अकृत्रिमपन की प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है। भावार्थ—अस, काठ, सीना, हीरा, मांस, हड़ीको, भले ही वे एकन्द्रिय आदि नाना जीव बना लेवें। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, सुदर्शन मेरु, अलोकाकाश, कालद्रव्य, लोक आदि अकृत्रिम पदार्थोंको नाना जीव या एक जीव कथमपि नहीं बना सक्तने हैं। जैनसिद्धान्द अनुसार बुक्षका जीव अपनी योगशक्ति द्वारा नोकर्म

वर्मणाका आकर्षण कर स्वकीय प्रव्यार्थस्वरूप हो रही पर्याप्तिशक्तिकरके उन वर्गणाओंको काठ रूप बना छेता है वह शरीर उस जीवका कायबळ्याण कहा जाता है। सोनेकी खानका एक इन्द्रिय जीव अनेक कर्मोंके पराधीन हो रहा इसी प्रकार नोकर्म वर्गणाका स्वकीय शरीर सोना बना छेता है । हीरा, पन्ना, पाचाणकी सृष्टि भी इसी ढंगले हो जाती **है । द्वी**न्द्रिय सीपका जीव जड निशेषको अपने दैव या प्ररुषार्थ द्वारा मक्ताफल रूप परिणमा लेता है जैसे कि रेशमका कीडा रेशनको, या गाय भैंस जीव अपने खाये गये भूस, घास, खल, बनोरे, आदिका दूध बना लेती 📠 । कीडी, मकोडे, मक्खी, बर्र, घोडा, हाथी, तोता, कबूतर, मनुष्य, स्री, ये जीव कतिपन कर्मीका उदय होनेपर स्वकीय पर्याद्वियों द्वारा या अन्य अनेक व्यक्त अव्यक्त प्रकृषार्थी करके मांस, रक्त, मेद, चर्ची, आदि धातु अथवा उपधातु या मल मूत्र तथा ज्वर, सिन्मात आदि कार्योके कत्ती माने जा स्कते हैं । किन्तु अनादिनिधन छोक, सूर्य, अनेक द्वीप, समुद्र आदिका स्वतंत्र कर्ता कोई बुद्धिमान् नियत नहीं है। बढिया शिल्पकार, या बैज्ञानिक द्वारा बनाये गये नहीं होनेसे मुक्ताफल आदिको अक्रिय कह दिया है। वस्ततः अन्न, मांस, मोती, आदिक किसी अपेक्षा कृत्रिम माने जा सकते हैं किन्तु छह दच्योंका समुदाय रूप यह छोक या सूर्य, चन्द्रमा, सुमेरु, दीप, समुद्र, स्वर्गस्थान, नरकस्थान, ऊर्ध्वेडोक, अधोडोक, अकृत्रिम चैत्यालय, आठ भूमियां, वातवलय आदिक पिण्डोंका समदाय रूप यह लोक तो अक्रुत्रिम ही है। अतः हमारे हेत्रका नियत साध्यके साथ अविनाभाव बना रहना पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध है । अनुकूछ तर्कवाछ। यह हेतु अपने साध्यको अवस्य साधिगा ।

न हि कृत्रिमार्थविद्यक्षणी गगनादिः कृत्रिमः सिद्धो येन साध्यन्यावृत्तौ साधनन्यावृत्ति विश्वतान्यथातुपपात्तरस्य हेर्तोर्न सिध्येत् ।

कत्ती द्वारा बनाये गये कृतिम, घट, पट आदिक अयौँसे तिलक्षण हो रहे आकाश, सूर्य, आदिक पदार्थ तो कृतिम सिद्ध नहीं हैं जिससे कि व्यतिरेक द्वारा साध्यकी व्यावृत्ति हो जानेपर साधनकी व्यावृत्ति हो रही स्वरूप निश्चित अन्यथानुपपत्ति इस हेतुकी सिद्ध नहीं होते। अर्थात्—हमारा हेतु अनिनाभानी है।

असिद्धताप्यस्य इतोर्नेत्यावेदयति ।

हेतुके व्यभिचार दोषकी आशंकाका प्रत्याख्यान कर इस " कृत्रिमार्थविलक्षणत्व " हेतुका असिद्ध हेत्वामासपना भी नहीं है इस बातका श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिकद्वारा विद्वापन करे देते हैं।

नासिद्धिर्भणिमुक्तादौ कृत्रिमेतरतोऽकृते । कृत्रिमत्वं न संभाव्यं जगत्स्कन्थस्य तादशः ॥ ७१ ॥

उपादान शक्तियोंके प्रत्यक्ष रूपसे परिज्ञापक, अशरीर, न्यापक, एक ऐसे विशिष्ट कर्ता द्वारा नहीं किये जा चुके मणि, द्वारा, पना, सोना, चांदी, काठ, कंकण, पत्थर, मट्टी, मोती, गोळोचन, कस्त्री आदि पदार्थोंमें कृत्रिमविभिन्नत्व (विळक्षणत्व) देतुसे नहीं कृत्रिमपना साध्य सम्भवने योग्य है। तिस ही प्रकारके अनेक पदार्थोंके स्कन्य रूप हो रहे स्वरूप जगत्का कृत्रिमपना भी सम्भावनीय नहीं है। अतः पक्षमें ठहर जानेसे हेतुके स्वरूपासिद हेत्वाभास दोष नहीं छगा।

मिण्युक्ताफछादीनां केषांचित्कृत्रिमत्वं त्रीहिसंमर्दनादिना रेसादिमस्वभतीत्या स्वयप्रुप-यन् परेषां समुद्राकरोत्यानां तथा रेसादिमस्वासंभत्ययेनाकृत्रिमत्वं च तद्दैळक्षण्यमाळक्षयत्येव। तद्दद् दृष्टकर्तृकमासादादिभ्यः काष्टेष्टकादिघटनाविश्वेषाश्रयेभ्यस्तद्विपरीताकारशतिपस्या भूभूघ-रादीनां वैलक्षण्यं मतिपचुमहीति च न चेदिभिनिविष्टमना। इति नासिद्धो हेतुर्भणिम्रुक्तादावकु-त्रिमत्वव्यवहारक्षातिमसंगात् तद्दैळक्षण्यस्यापि तद्ददसिद्धेः।

प्रायः सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतिकृति (नक्छ) करनेवाळे इस युगमें नक्छी मोती, हीरा, पन्ना, माणिक्य (इमीटेशन) आदि बनने छगे हैं । ऐसे मणि, मुक्ता, आदिकोंको हम भी स्वतंत्र बुद्धिपूर्वक चाहे जैसे छोटा , बडा, बना देनेवाळे कारीगर पुरुष करके कृत्रिमपना स्वीकार करते हैं । धानमें मिळाकर रगडनेसे यदि रेखा या कोई रगडका चिन्ह पड जाय तो उससे उन मणि, मोती, माणिक आदिके नक्रजीपनका परिज्ञान हो जाता है । और भी रत्नपरीक्षाके उपायों द्वारा माणिक, मोती आदिके नक्रजीपन या अस्रजीपनकी परीक्षा कर की जाती है। जिससे कि कैई नक्रजी पदार्थोंके कृत्रिमपन और अते क असली पदार्थोंके अकृत्रिमपनका परिज्ञान कर लिया जाता है। आजकल तो घृत, दूध, चून, खांड, बस भी नकठी पदार्थोंसे बने हुये आने छगे हैं। सुना है कि मनुष्य सी नकछी बना दिये गये हैं। जो कि मनुष्योचित कतिपय कियाओं को भी करते हैं। कछको कोई स्वर्ग, नरक यहांतक कि मोक्षको भी नक्रछी बनाले तो कोई आश्वर्य नहीं है। रामचन्द्रके युग्में (जमानेमें) एक इन्द्र नामका राजा इस भरत क्षेत्रमें ही स्वर्गकी पूरी नकल बनाकर स्वयं इन्द्र बन बैठा था । केदलाने या दुःखियोंके घर तो अधोलोकस्थ नरकोंसे उपमेय हैं। पुण्यशाली धनिकोंके स्थान स्वर्ग कल्पित किये जा सकते हैं। निराकुल साधुओंकी तपोभूमिको कोई कवि एक देशसे मोक्षस्थानकी कल्पना कर सकता है। किन्तु इन सब उपचरित या अनुपचरित पदार्थोंके गौण. मुख्यपनकी परीक्षाके उपाय विद्यमान हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि स्त्रयं नैयायिक पाण्डित भी किन्हीं किन्हीं भणि, मोती, वृत आदि पदार्यीका धान्योंके साथ रगडना, उष्ण जलमें तरामा आदि कियाओं करके रेखा पड जाना, खुरसट छग जाना, पानीमें निखर जाना आदिसे सहित-पनकी प्रतीति हो जाने करके कृत्रिभपनको स्त्रीकार कर रहा है वह नैयायिक ऐसी दशामें समुद्र या खानसे उत्पन्न हुये दूसरे मोती, नृंसा, हीरा, पना, मणि, आदिकोंके तिस प्रकार रेकी आदिसे

सहितपनकी समीचीन प्रतीति नहीं होनेकरके अक्रत्रिमपन और उन कत्रिमसे विकक्षणपनका चारों ओरसे स्वरूपपरिश्वान कर छेता ही है जैसे सूक्ष्मविचार बुद्धिद्वारा नकछी मणि, मोती, वृत्त आदिसे असली मणि, मोती, आदिका विकक्षणपना या अकृत्रिमपना जान लिया जाता है उसी प्रकार सकर्त्वक देखे जा रहे और काठ चतु:काष्टी (चौखट) ईंट, चूना, छप्पर, किवाड, मनखण्डा, पुछ, पहिया आदिक विशेष अवयव घटनाओंके आश्रय हो रहे प्रासाद, कुथे, नहर, बम्बा, गाडी, आदिकसे प्रथिवी. पर्वत. सर्य. दर्रे, घाटियां. समद, नदियां, आदिकोंका उन कृत्रिम गृह आदिके विपरीत त्रतिपत्ति हो जानेसे विकक्षणपनको यह नैयायिक समझनेके छिये भी समर्थ हो जाता है इतनी स्रकम सामग्री या दृष्टान्तके मिछ जानेपर भी यदि नैयायिक उन दृष्टकर्तृक कोठी आदिकोंसे पर्वत आदिकोंके इस ब्रसिद्ध विलक्षणपनको नहीं समझ सकेगा तब तो इसकी चित्तबत्ति एक खोटे अभिनिवेशसे यक्त ही मानी जा सकती है। समचित वस्तुको यदि कोई कदाप्रह्वश नहीं समझ पावे तो इसमें समझ। देनेबाळे बक्ता या वस्तुका क्या दोष है ! पूरा मूल्य देकर भठे ही नक्षकी अल्पमूल्य चीजोंको मोख केंद्रर अविचारी या पेंगा बने रहो । असकी पदार्थोंको भोगनेवाका परीक्षक विद्वान कभी भी ऐसी अविचारित पोलम पोल कियाको अभिरुचित (पसन्द) नहीं करता है इस कारण हमारा हेत् असिद्धहेत्वामास नहीं है अन्यथा द्वीरा, पन्ना, मोता, मंगा आदिमें अक्रत्रिमपनके व्यवहारकी क्षति हो बानेका प्रसंग होगा और उन पुराने गृहोंके समानही उन अकृत्रिम मोती, मणि आदिमें उन कृत्रिम मणि, मोती आदिकसे विलक्षणपनकी भी अनिद्धि हो जायगी। अर्थात वैशोषिक भूषर आदिकोंको कत्रिम मानते हुये यदि महल, कोठी आदिक्तसे विलक्षणपना प्रथिवी, पर्वत आदिकमें नहीं मानेंगे तो समद्र या खानसे उत्पन्न हुये असली मोती, मणियोंको भी अक्रत्रिमपना या क्रत्रिमोंसे विलक्षणपना ये नहीं साध पार्येंगे आन्त, अआन्तका विवेक उठ जायगा । यह सोनेका मूल्य देकर मुख्यमा मोल लिया जा रहा है पामर (गंवार) पुरुष भी मही, पत्थर, पीतल, खढ आदि हे बने हुये सांप. सिंह. घोडा, हायी, छौरा आदिकसे असकी सांप, सिंह, हाथी आदिको विखक्षण और अकृत्रिम माननेके क्ये उद्यक्त रहता है।

न हि वयं दृष्टकृतिमक्र्यदिविकक्षणतयेश्यमाणत्वमक्वतिमतयेश्यमाणत्वं वक्ष्मो येन साध्यसमो हेतुः स्यादनित्यः श्रब्दो नित्यधर्मात्वुपळ्कोरित्यादिवत् । नापि भिन्नदेशकाळा-कारमाश्रतयेश्यमाणत्वं तद्भिदध्महे येन पुराणमासादादिनानैकातिकः । किं तिर्हे १ घटना-विश्वेषानाश्रयतयेश्यमाणत्वं अगतः मतीतक्वत्रिमक्ट्यदिविकस्रणतयेश्यमाणत्वमिश्वियते । ततो निरवधमिदं साधनं ।

इम जैन ऐसे प्रतिभारिहत या अदार्शनिक नहीं हैं जो कि कर्षांसे जम्य होकर दील रहे कृत्रिम कूट (ऊंचा धम्मा, मीनार, ठोस गुम्मज) गृह, खिछोने आदिसे विकासणयने

करके देखे जा रहेपनको ही अक्रुत्रिमपनकरके देखा गयापन झट कह देवें जिससे कि " शब्द अनित्य है नित्य पदार्थोंके धर्मकी अनुपलन्ध होनेसे " या पर्वत अग्निमान् है अग्निवाका होनेसे इत्यादिक हेत्ओंके समान हमारा दृष्टकत्रिमविलक्षणतया ईक्यमाणत्व हेत् ''साध्यसम '' नामक दोषसे प्रसित होजाय ! तथा केवल भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार सहितपने करके देखे गयेपनको भी वह दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व हुम नहीं कह रहे हैं जिससे कि पुराने कोठी, किले, गढ, खंडहर, खेरा, आदि करके व्यभिचार होजाय। तो फिर हम जैन क्या कह रहे हैं ! इसका उत्तर यह है कि काठ, ईट, छोहा, गाटर आदिकी घटना (रचना) विशेषके नहीं आश्रय होरहे पन करके देखा गयापन ही जगत पक्षका कृत्रिम होकर प्रतीत होरहे कूट आदिसे विलक्षणपने करके देखा गयापन हेत हम जैनों करके कहा जारहा है। अर्थात —हमारा हेत साध्य सारिखा नहीं है जिससे कि अवतक साध्यकी असिद्धि होनेसे प्रतिन्नार्थे कदेशासिद्ध दोषवान होजाय क्योंकि बुद्धिमान कर्ताद्वारा होसकनेवाळी विशेष विशेष ढंगकी रचनाओंका आश्रय रूपसे जगत नहीं देखा जारहा है। नदियां, टेढी, मेढी बह रही है। पर्वत ऊंचे, नीचे, कोई शीतळ कोई उच्च है। पृथिवी कहीं छाछ, पीछी, काछी, होरही है, समुद्रमें भी पानी बरसता है, मेंछि, दाढी मुखवा देने बाळोंके बाळ पुनः उपज आते हैं कांखमें बाळ व्यर्थ उपजा दिये हैं. कहीं अतिवृष्टि कहीं अनावृष्टि होरही है। अनेक स्थलोंपर पापी जीव आनन्द भोग रहे हैं जब कि पुण्यारमा सम्जन पुरुष अनेक दःखोंको झेळ रहे हैं। ईस्नरका निषेध करने वाळेंका मुंह नहीं बन्द किया जाता है; सर्वज्ञ, व्यापक, दयाल भी ईश्वर भळा चोर, व्यभिचारी, हिंसकोंके हृदयमें बुरे भावोंको क्यों उत्पन्न करता है ? जब कि वह सर्वज्ञ, सर्व राक्तिमान् स्वीकार किया गया है। कोई भी हितेषी पिता या राजा अपने पुत्र या प्रजाको जान बुझकर अनर्थीमें ढकेलकर पुनः उसको दण्ड देनेके लिये अभिलायक नहीं रहता है अन्यथा यह सब उत्तरदायित्व पिता या राजाके ऊपर ही पड़ेगा । कृतकृत्य ईश्वर कहां बैठकर किन कारणोंसे किस छिये जगतको बनाता रहता है ? इन आक्षेपोंका मन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। सृष्टि, प्रलय, उत्पत्ति विनाश, कहीं वृद्धत्व, किसीमें युवत्व, आदि अनेक विरुद्ध कार्यीकी एक ईवर यगपद कथमपि नहीं कर सकता है। जगदमें कहीं साधु पुरुष या पतित्रता क्रियोंपर विपत्तियोंके पहाड ढाये जारहे हैं। किसी किसी धर्मात्मांके आवश्यकीय एक पुत्र भी नहीं है। कतिपय कसइयोंके घर जब कि कुटुम्ब, धन, सम्पति, प्रभुतासे, भरपूर हैं गरीबोंको सताया जारहा है । धार्मिकवादका तिरस्कार कर पूंजीवादके गीत गाये जारहे हैं। गेंद्रऑके साथ निर्दोष भिनुवामी पिस रहे हैं। स्थान स्थानपर शोक, अरति, के कारण बढ़ रहे हैं । अतः कृत्रिम कृट आदिसे विकक्षण-पना ही जगत्तका अकृत्रिमपना नहीं है जिससे कि हेत और साध्य दोनों एकसे होजाय किन्त बुद्धिमान सर्वेष्ट द्वारा होने वाकी रचना विशेषके आधार नहीं होरहेपन करके जग-त्का दावना ही इमारे पूर्वोपात बेतुका अर्थ है इष्टकर्त्क पदार्थौकी अपेक्षा भिन्न देश. मिन आकाश, मिन काल, सहितपने करके जगत्का दीख जाना अपने हेतुका अर्थ कहते तब तो पुराने कुर्ये, खण्डहरोंसे व्यमिनार आसकता था क्योंकि पुराने खण्डहर मिन देशीय मिन कालीन और विभिन्न आकार वाले हैं किन्तु वे अकृतिम नहीं हैं। माई हम तो हेतुका शरीर बुद्धिमान कर्तासे होनेवाली विचारपूर्वक रचनाओंका अनाधार होकर दीख रहापन कहते हैं। तिस कारणसे हमारा यह दृष्टकृतिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहापन हेतु सम्पूर्ण दोषोंसे रहित है। अतः अपने अकृतिमत्व नियत साध्यको साथ डालता है। यहां अब किसी कुतर्कको अवकाश नहीं रहता है।

नतु चेदस्यदादिकर्त्वक्रटादिविलक्षणतयेक्षणं जगतोस्प्रदादिकर्त्रयेक्षयेवाकृतिमत्वं साय-यत् मणिश्वक्ताफलादीनामिव सग्रुद्रादिप्रभवानां न पुनरस्मदिलक्षणमहेश्वरकर्तृविशेषापेक्षया तदुपभोक्तृप्राण्यदृष्ट्विशेषापेक्षयाप्यकृत्रिमत्वपसंगात् । न च तद्येक्षयाकृत्रिमत्वेऽपि तेषां सर्वत्र कृतिमाकृतिमत्वव्यवहारिवरोधः प्रतीतकर्तृव्यापारापेक्षया केषांचित्कृत्रिमत्वेन व्यवहरणात् । परेषामतीद्रियकर्तृव्यापारापेक्षणेनाकृत्रिमतया व्यवहृतेर्नीश्वरवादिनाप्यभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यथास्य सर्वत्रोत्पत्तिमति तदुपभोक्तृप्राण्यदृष्ट्विशेषहेतुके कथमकृत्रिमव्यवहारः क्विदेव युज्येत । ततोऽस्मदादिकर्त्रपेक्षया जगतोऽकृत्रिमत्वसाधने सिद्धसाधनमस्मदिलक्षणेश्वरकर्तृविशे-षापेक्षया तु तस्य साधने विरुद्धो हेतुः साध्यविपरीतस्यास्मदादिकर्त्रपेक्षयेवाकृत्रिमत्वस्य ततः सिद्धेरिति केचित् ।

नैयायिक या पौराणिक अपने ईस्वर कर्तृवादको करनेके लिये पुनः अनुनय करते हैं कि आप जैनोंने जो इस हेतु द्वारा साध्यको साधा है वह अस्मदादिक राज, बढई, मिस्री, आर्दिक अर्ताओं द्वारा बनाये गये स्त्प, मीनार, आदिकसे विलक्षणपने करके दीखना तो जगत्को अस्मद् आदिक कर्ताओं को अपेक्षा करके ही अकृत्रिमपनको साध सकेगा। जैसे कि समुद्र, खान, आदिसे उपजे हुये मणिमुक्ता आदिकोंके कर्ता अस्मद् आदिक नहीं होसकते हैं। अर्थात्—हम सारिखे अल्पबल, अल्पबान, बाले जीव जगत्के कर्ता नहीं होसकते हैं यह हम नैयायिकोंको भी अभीष्ट हैं, किन्तु फिर हम लोगोंसे विलक्षण होरहे महेस्वर नामक विशेष कर्ताकी अपेक्षासे जगत्का अकृत्रिमपना नहीं साथा जा सकता है। अर्थात्—हम लोग मले ही जगत्के कर्ता नहीं होय फिर भी हमसे विलक्षण होरहा महान् ईस्वर तो जगत्का कर्ता सुलभतया सध जावेगा। यदि जैन विद्वान देखे जारहे बर्ड्र, कोरिया, कुम्हार, अध्यापक, वैज्ञानिक, इञ्जिनियर, आदिक एकदेशीय कर्ताओंसे विलक्षण होरहे महेस्वरको जगत्का कर्ता नहीं मानेंगे तब तो उन शरीर, इन्दिय, दक्ष, भूषण, क्क्ष, आदिक कार्य पदार्थोक्ष उपमोग करने वाले प्राणियोंके अदृष्ट विशेष (पुण्य पाप) की अपेक्षा करके भी जगत्को अकृत्विम पनेका प्रसंग होजायगा। अर्थात् —जैसे जैन जन यों श्वर कह बैठते हैं के जगत्को कर्ता हम आदिक कोई भी संसारी नहीं हैं, हमसे विलक्षण होरहा ईश्वर भी जगत्का विधायक

नहीं है। उसी प्रकार हम नैयायिक मी कह सकते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, राग, द्वेष आदिके करण कारक जैसे वसला. दण्ड, तुरी, आदिक नहीं हैं उसी प्रकार इन करणोंसे विलक्षण होरहा अदृष्ट भी सरीर आदिका करण नहीं होसकेगा किन्तु यह अदृष्टका करण नहीं बन सकना हम, तुम, दोनोंको इष्ट नहीं है। साधारण व्यक्तियोंको जगत्का कर्तृत्व नहीं होनेपर भी असाधारण परमात्माको जगतका कर्तत्व सध सकता है। ईश्वरको नहीं माननेवाले जैन या वीद्ध यों भय करें कि उस ईवर या अरष्टकी अपेक्षा करके यदि अथौमें कुत्रिमपना माना जायगा तो सभी स्थानीपर उन पदार्थोंके कृत्रितपन और अकृत्रिपपनके पृथक् ष्ट्रथक् हो रहे व्यवहारका विरोध हो जायगा । सभी पदार्च कृत्रिम बन बैठेंगे । इसपर हम नैयायिक यों समझाते हैं कि इस भीतिकी आशंका नहीं करना **ईन्तरको अपेक्षासे क्वत्रिमपना होते हुये भी उन पदार्थोंके कृत्रिमपनके या अकृत्रिमपनके व्यवहारका** विरीध नहीं हो पाता है क्योंकि जिन पदार्थीमें कत्ताओंके व्यापार देखे जा रहे हैं। उसकी अपेक्षा करके किन्हीं किन्हीं घट, पट, भक्ण, गाडी, गृह आदि पदार्थींका क्षत्रिमपने करके संसारमें न्यवहार हो रहा है । और इन पदार्थोंसे न्यारे सूर्य, चन्द्रमा, प्रायेशी, शरीर, पर्वत, आदिक पदार्थीको इन्द्रि-योंके अमे।चर हो रहे विशेष कत्ताके व्यापारकी अपेक्षा करके अक्रिमपन रूपमे व्यवहार हो रहा है। अर्थात-ईश्वरको उनका कर्तापन होते हुये भी वे अकृत्रिम हैं। ईश्वरको जगत्का कर्ता नहीं माननेवाले जैन, चार्वाक, बौद्ध, बादियों करके भी इसी ढंगसे क्रात्रीमपन और अक्रुत्रिमपनका स्वीकान करना अनिकर्य पहेगा अन्यथा यानी दष्टकर्तक पदार्थीको ही क्रियम मानते हये यदि अतीन्द्रिय कर्त्ता द्वारा उपज रहे पदार्थोंको अकृत्रिम नहीं माना जायग। तब तो इस अनीश्वर वादीके यहां उन उन शरीर, इन्द्रिय, आदि कार्योके उपभोक्ता प्राणियोंके पुण्य, पाप, विशेषको कारण मामकर जन्म हे रहे सम्पर्ण उत्पत्तिमान कार्योमेंसे किन्हीं विशेष कार्योमें ही भला अक्रुत्रिमपनेका व्यवहार कैसे समचित हो सकेगा ! तम ही बताओ तम जैन भी तो सीपके जीवके प्रण्य, पाप, या पुरुषार्थसे उपजे इये अपछी मोतीको अक्रिक्स मान रहे हो तिस कारणसे हम नैयायिक कहते हैं कि जैन विद्वान यदि हम आदि कर्ताओं की अपेक्षासे जगत्को अकृत्रिमपना उक्त अनुमानसे साध रहे हैं। तब तो जैनों के ऊपर सिद्धसाधन दोष है। इम ईश्नरवादी नैयायिक भी तो अस्मद आदिककी अपेक्षा जगत्को सकर्त् क नहीं मानते हुये अक्रुत्रिम मान रहे हैं हम टोगोंसे विटक्षण हो रहे कर्ता विशेष ईश्वरकी अपेक्षा करके तो उस जगत्को यदि अकृत्रिम साधा जायगा तब तो जैनोंका दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व " हेत् विरुद्ध हेव्वाभास है क्योंकि प्रकरण प्राप्त अकृत्रिमत्व साध्यसे विपरीत हो रहे अस्मद् आदि कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके ही अक्रुत्रिमपनेकी उस हेत्रसे सिद्धि हो। पाता है हम छोगोंसे विलक्षण ईश्वर कर्चाकी अपेक्षा भी अकृत्रिमपनकी उस हेत्रसे सिद्धि नहीं हो सकती है अतः जैनों हा हेत् साध्यसे विपरीत हो रहे साध्याभावके साथ ज्यातिको रखनेवाळा होनेसे विरुद्ध हुआ । यहांतक कोई नैयायिक पण्डित कह रहे हैं।

तेपि न न्यायिवदः, अनित्यः बन्दो नित्यविकक्षणतया प्रतीयमानत्वात् कक्षवादिवदित्यादेरप्येवमगमकत्वपसंगात् । बन्यं दि वकुं यदि निरितिश्वयनित्यविकक्षणतयेक्षणात्सातिब यानित्यत्वमनित्यत्वं साध्यते तदा सिद्धसाध्यता " वेनैवं न्यवद्वारात् स्यादकौडस्थ्येपि नित्यतेवि " स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । अनेकक्षणत्रयस्थायित्वं साध्यं तदा विनदो देतुस्तदिपरीनस्य साविश्वयनित्यस्थाणस्यैवानित्यत्वस्य ततः सिद्धिरिति ।

अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि वे नैयायिक पण्डित भी न्यायमार्गको नहीं समझ रहे जैसा नाम वैसा काम करनेवाले नहीं है। देखिये तमने शब्दको अनित्य सिद्ध करनेके बिये यह अनुमान बनाया है कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्यदछ) क्योंकि नित्य पदार्थींसे विरुक्षणपने करके प्रतीन किया जा रहा है (हेत्) कल्सा, रोटी, दाल आदिके समान (अन्वय-दृष्टान्त) अथवा " पर्वतो त्रन्द्दिमान् धूमात् महानसंत्रत् " इत्यादिक असिद्ध हेतुओंको भी इस प्रकार कचोद्योंद्वारा तम्हारे यहा अगमकपनेका प्रसंग होगा यहां भी शब्दको निस्य माननेवाले मीमांसकोकरके यों कहा जा सकता है कि नैयायिक उक्त अनुमानद्वारा यदि निरितशय नित्य पदार्थीसे विखक्षणपने करके दीख जाना हेत्से सातिशय नित्यत्व स्यरूप अनित्यत्वको साध रहे हैं तब तो सिद्धसाध्यता दोष है। हम मीमांसक भी शन्दको कृटस्थ नित्य न**हीं मा**नते हैं अग्निका संयोग हो जानेपर अनित्यजल अपने शीत अतिशयको छोड देता है और उष्णताका आधान कर छेता है। किन्तु कृटस्य नित्य पदार्थ ऐसा नहीं कर सकता है। कृटस्थका अर्थ " अनाधेयाप्रहेयातिराय " है । जो पदार्थ चाहे कितने भी प्रेरक कारणेंका सम्प्रयोग हो जानेपर उनके धर्मी अनुसार धर्मान्तरोंको प्रहण नहीं करता है और अपने उपात्त कर छिये गये अतिरायोंको छोडता भी नहीं वह वह कृटस्य है जैसे कि आकाश किन्तु नित्य हो रहा भी शब्द कूटस्य नहीं है वैदिक, छौकिक, महान् अभिन्यंजक, अल्प अभिन्यंजक ध्वनि, कण्ड, ताञ्च, आदि परिस्थितियों के बराशवर्ती हो रहा परिणामी नित्य है। अतः ऐसे सातिराय नित्यस्वरूप अनित्यत्व भी सिद्धि करनेपर इम मीमास म तुम नैयायिकोंके ऊपर " सिद्धसाधन " दोष उठाते हैं। स्त्रयं मीमांसकोंने अपने प्रन्थोंमें यों कहा है कि संकेत काल व्यवहारकालमें वहका वही व्यापक हो रहा शब्द नित्य है । क्योंकि उस संकेतगृहीत शब्द करके ही मैं शाब्द बोध करनेवाल। पुरुष यह व्यवहार करता है कि यह गी है. अमुक घट है इत्यादि, अतः कूटस्थपना नहीं होते हुये भी शब्दको नित्यपना युक्तिप्राप्त है। ब्यंज-कोंकी तीवता, मन्दता, अल्पीयत्स्व, तत्तदेशीयत्व आदिकी अपेक्षा शब्दमें कुछ अतिशयोंकी संक्रान्ति होना अभीष्ट है ऐसे अनित्यत्वका हमने खण्डन कहां किया है ! हां अनेक तीन तीन क्षणोंमें स्थायी-पन यदि अनेक शब्दोंका अनित्यपना साधा जाता है तब तो तुम नैयायि होंका हेतु विरुद्ध हेत्वामास है, क्योंकि उस तुम्हारे सर्वथा अनित्यस्व साध्यसे विपरीत होरहे सातिराय नित्यस्वरूपही अनित्यपनकी

शन्दमें उस हेतुसे सिद्धि होसकती है। अर्थात् --क्षाणिकवादी बीद्ध तो पदार्थीका प्रथम क्षणमें आत्मकाम मान कर इसरे क्षणमें ही ध्वंस मानते हुये ज्ञान, घट, आदिको क्षणिक मानते । जैनोंके यहां एक क्षण या दो, चार, लाखेंा, असंख्य, क्षणोंतक ठहरने वाळी सूक्ष्म पर्याय या स्थल पर्यायोंको क्षणिक कहा जा सकता है कारण कि अनेक (संख्यात, असंख्यात) क्षणोंतक ठहरनेवाले बिजली, बबूला, दीपकालिका, आदि भी जगत्में क्षणिक पदार्थ माने गये हैं। अतः " दितीयक्षणवृत्तिष्वंसप्रतियोगित्व '' या '' अनेकक्षणवर्तिष्वंसप्रतियोगित्व '' ये दोनों **उ**क्षण सूक्ष्म समयवर्ती पर्याय अथवा कतिपय समयवर्ती स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षासे समुचित हैं किन्तु वैशेषिकोंने तृतीयक्षणवृत्तिष्वंस-प्रतियोगित्व यानी प्रथम समयमें उत्पत्ति द्वितीय समयमें शन्दकी स्थिति (श्रुति) और तीसरे क्षणमें नाश हो जाना ऐसा क्षणिकपना शन्द या ज्ञानोंमें स्वीकार किया है। हां, अपेक्षाबुद्धिका चौथे क्षणमें वे ध्वंस होना मानते हैं। वैरोषिक पण्डित पांचवें क्षणमें नष्ट हो जानेवाली क्षणिक कियाओंका चार क्षणतक ठहरे रहना स्वीकार करते हैं। ईश्वर इच्छा या संयोग आदिसे प्रथम क्षणमें कियाकी उत्पत्ति, दितीय क्षणमें उससे विभाग, तृतीय क्षणमें पूर्व संयोगनाश, चतुर्य क्षणमें उत्तरदेशसंयोग पुनः पांचवे क्षणमें क्रियाका नाश होजाता है। यों क्षणिकत्वके कतिपय अर्थ है। इसी प्रकार नित्यके भी कूटस्य नित्य, सातिशय नित्य, परिणामी नित्य, धारा प्रबाह नित्य, बीजाङ्कुर न्याय अनुसार नित्यत्व, अनादि सान्त नित्यत्व, सादि अनन्त.नित्यत्व, ऐसे कतिपय अर्थ हो सकते हैं । अतः शन्दका अनित्यपना साधनेपर नैयायिकोंके ऊपर इम मीमांसकोंने सिद्धसाधन और विरुद्ध दोष उठाये हैं। इसी प्रकार साध्यमें विकल्प छगा कर वन्हिमान धुमात आदि अनुमानोंमें भी उक्त दोष खगाये जा सकते हैं । जैसे कि नैयायिकोंने जैनोंक उपर सिद्धसाधन या विरुद्ध हेत्वाभास उठा दिये हैं।

यदि पुनर्नित्यमात्रविद्धक्षगतयेक्षगादिति देतुरिष्टमेव क्षणिकत्वाख्यमानित्यत्वं साधयति, ततो न सिद्धसाधनं परस्य, नापि विरुद्धो देतुरिति मतं तदा दृष्टकुत्रिमसामान्यविद्धक्षणतये-क्षणादिति देतुरस्मदादिकत्रेपेक्षयास्मद्विद्धक्षगेश्वरादिकत्रेपेक्षयापि वाऽक्वत्रिमत्वं साधयतीति कथं नैयायिकस्यापि सिद्धसाधनं विरुद्धो वा देतुः स्यात् ।

फिर नैयायिक पण्डित यदि मीमांसकोंके प्रति यों कई कि सामान्य नित्यसे विकक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हेतु तो शन्दमें हमारे इष्ट हो रहे ही दो क्षण या तीन क्षणतक ठहरना नामके अनित्यपनको साथ देता है। तिस कारणसे मीमांसकोंकी ओरसे दिया गया सिद्ध साथन दोष दूसरे हम नैयायिकोंके ऊपर नहीं आ सकता है। तथा हमारा हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि हम नैयायिक तुम मीमांसकोंके यहां सिद्ध हो रहे सातिशय नित्यपनको शन्दमें नहीं साथ रहे हैं। तथा हमारा हेतु अनुकूत साध्य हे साथ हो रही न्यांतिको धारता है। इस प्रकार नैयायिकोंका मन्तन्य होय तब

तो हम जैन भी कहते हैं कि देखे जा रहे सामामान्यरूपसे सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थोंसे विकक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हमारा हेतु अस्मदादिकत्तांओंकी अपेक्षासे अथवा हम छोगोंसे विकक्षण हो रहे महेश्वर, ब्रह्म, प्रकृति, ब्रह्मा, आदि कत्तांओंकी अपेक्षासे भी नहीं कृत्रिमपनको जगत्में बहुत अच्छा साध देवेगा भछे ही उन उन कितपय पदार्थों के कर्ता अनेक जीवातमायें हैं । किन्तु एक किसी ईश्वर या प्रकृतिकी अपेक्षा जगत् कृत्रिम नहीं है । ऐसी दशामें नैयायिककी ओरसे भी हमारे उपर सिद्धसाधन दोष कैसे हो सकता है ! और हम जैनोंका निर्दांष हेतु " दष्टकृत्रिमविकक्षणतया ईक्षण " भछा विरुद्ध हेत्वाभास कैसे हो सकता है ! यानी नहीं हो सकता है ।

यथैव हि निरितशयनित्यात् सातिशयनित्याच वैलक्षण्यग्रुत्पादकविनाशकारणकत्वं मतीयमानं शब्दे स्वष्टं क्षणिकत्वं साधयेत्, तथैवास्मदादिकृतात्क्कृटमासादादेरीश्वरादिकृताच त्रिपुरदाहांधकाग्रुरविध्वंसनादेः सामान्यतो वैलक्षण्यं घटनादिविशेषानाश्रयत्वं जगित समीक्ष्य-माणं सकलबुद्धिमत्कत्रिपेक्षयैवाकृत्रिमत्वं साधयतीति सर्वे निरवद्यं।

जिस ही प्रकार मीमांसर्कोंके उत्पर घडक कर नैयायिक यों कह सकते हैं कि साख्योंके यह माने गये पुरुषके समान निरितशय नित्य पदार्थ और मीमांसकोंक यहा माने गये जीवात्माओंके समान सातिशय नित्य पदार्थ अथवा और भी किसी प्रकारके नित्य पदार्थीसे विलक्षणपना यानी सृष्टिप्रिक्रिया और प्रख्यप्रिकर्मा अनुसार सबकी उपादेय उत्तर पर्यायका उत्पादक होते हुये पुनः उसके विनाशका कारण होजाना यहां '' नित्यविकक्षणतया ईक्षण '' हेत् राज्दमें भले प्रकार प्रतीत किया जारहा उस हमारे अभीष्ट होरहे दो तीन क्षणतक ठहरना स्वरूप क्षणिकलको साध देवेगा । हम जैन भी नैया-यिकोके सन्मुख आलमगीरव सिहत कह सकते हैं कि उस ही प्रकार हम तम मिस्री, बढई, कारीगर आदि द्वारा बनाये गये स्तुप, चबुतरा, चौपारें, कोठियां गृह, झोंपडे, चौकी, मन्दिर आदि पदार्थींसे और तुम पौराणिकोंके मतानुसार मान छिये गये कार्यविशेषोंके कर्ता ईश्वरस्वरूप महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, आदि करके किये गये त्रिपुरका दाह, अन्वकासुरका विष्वंसन करना, गंगाका धारण, कामदेवका भस्म करना, आदि या चक धारण, कंतमर्दन, कैटभका जीतना, शिश्रपाळवध, अथवा तपस्या द्वारा चतुर्मख बनाना, हंसपर चढ छेना, आदि कार्योंसे सामान्यतया विखक्षणपना यानी काठ, ईट, छोहे, चुनाका ठीकठीक जोडना, छप्पर बना छेना, शक्ष धारण कर छेना, तपस्या कर छेना आदिक बिशेष घटनाओंका आश्रयरहितपना भन्ने प्रकार जगत्में देखा जारहा है यह हम जैनोंका हेत हमारे अभीष्ट साध्य होरहे सम्पूर्ण ही बुद्धिमान् कर्ताओं की अपेक्षा करके अकृत्रिमपनको जगत्तमें साध देता है। भावार्थ-पौराणिकोंके विचार अनुसार यदि शिवजीने त्रिपुरका दाह कर दिया अन्धक राक्षसका विष्वंस कर दिया, गजासुरको मार डाला इत्यादिक कियायें कथंचित थोडी देरके छिये मानी जासकती हैं । विष्णु भगवानुने नृतिह, कृष्ण, आदि अवतार द्वारा हिरण्यकशिष, पतना,

केशी, का वध किया ये कियार्य भी असम्भव नहीं हैं, किन्तु ईश्वर करके जगत्का निर्माण करना असम्भव है क्योंकि जगतमें कर्ताओं द्वारा होनेवाली विशेष घटनायें या योजनायें नहीं पायी जाती हैं जगतमें उक्त त्रिपरदाह आदि कर्तसाध्य कार्योसे विलक्षणपना भी स्रूछभतया बढिया देखा जारहा है अतः यह अविनाभावी हेतु जगत्में अकृत्रिमपनको साधिहा देता है। रीत्रसम्प्रदाय बाले पुराणोंमें त्रिपुरकी उत्पत्ति और विनाशकी कथा इस प्रकार लिखी है कि '' ततस्ते सहिता राजन , संप्रधार्यासकृद्वह । सर्वलोकेश्वरं बाक्यं प्रणम्येदमधात्रवन् । अस्माकं तं वरं देव, प्रयच्छेमं पितामह १ वयं पुराणि त्रीण्येव समास्थाय महीमिमाम् । विचरिष्याम छोकेऽस्मिस्वतुप्रसादपुरस्कृताः । ततो वर्षसहस्रे तु समेध्यामः परस्परम् । एकीभावं गमिष्यन्ति पुराण्येतानि चानघ । समागतानि चै कतं यो हन्याद्भगवंस्तदा । एकेपुणा देववरः स नो मृत्युर्भित्रिष्यति । एवमिरिवति तान्देवः प्रत्युक्त्वा प्राविशदिवम् । ते तु छन्धवराः प्रीताः संप्रधार्य परस्परम् । परत्रयविसम्ब्यर्थमयं वर्ष्महासरम् । विश्वकर्माणमजरं दैत्यदानवप्रजितम् । म्वतपसा चके धीमान् पुराणि च । त्रीणि कांचनमेकं वैरीप्य कार्णायसं तथा। काञ्चनं दिवि तत्रासी-दन्तरीक्षे च राजतम् । आयसञ्चाभवद्भीमं चक्रस्थं प्रथिवीपते । एकैकं योजनशतं विस्तारायामस-म्मितम् । गृहाद्वालकसंयुक्तं बृहत्प्राकारतोरणं । गृहप्रवर बाधमसम्बाधमहापथम् । प्रासादैर्विविधैरचैव द्वारैश्चाप्यपशोभितम् । पुरेषु चामवन् राजन् । राजानो वै प्रथक् प्रथक् । काञ्चनं तारकाक्षस्य चित्रमा-सीन्महात्मनः । राजतं कमलाक्षस्य विद्यन्मालिन आयसम् । त्रयस्ते दैत्यराजानश्रील्लोकानाञ्च तेजसा । आक्रम्य तस्थुरूचुश्च कश्चनायं प्रजापतिः । तेषां दानवमुख्यानां प्रयुतान्यर्बुदानि च । कोट्यश्च प्रति वीराणां समाजग्मुस्ततस्ततः । मांसादाश्च सुद्दमाश्च सुरैविर्निकृताः पुरा । महदैश्वर्यमिष्कन्तिस्तुरं दुर्गमा-श्रिताः । सर्वेषाञ्च पुनस्तेषां सर्वयोगवहो मयः । तमाश्रित्य हि ते सर्वे वर्त्तयन्त्यकृतोभयाः । ये हि यं मनका कामं दप्यात् त्रिपुरसंश्रयः । तस्मै कार्म मयस्तं तं विदधे मायया तदा । तारकाक्षस्रतो वीरो हरिर्नाम महाबलः । तपस्तेपे परमकं येनातुष्यत् पितामहः । सन्तृष्टमत्रृणोद्देवं वापी भवत् नः परे । शक्कैर्वि-निहता यत्र क्षिप्ताः स्पूर्वेळवत्तराः । स तु ळब्ना वरं वीरस्तारकाक्षः सतो हरिः । ससूजे तत्र वापी तां मृतसञ्जीवनी प्रभो । येन रूपेण दैत्यास्त येन योगेन चैव ह । मृतास्तस्यां परिक्षिप्तास्तादृशेनव जिन्नरे । तां प्राप्य ते पुनस्तांस्त सर्वान छोकान बन्नाधिरे । महता तपसा सिद्धाः सुराणां भयवर्द्धनाः । नैतेषामभवदाजन क्षयो युद्धे कथञ्चन ॥ इस प्रकार त्रिपुरकी उत्पत्ति है । त्रिपुरमें रहनेवाले मय आदि महापराक्रमी दैत्योंने सम्पूर्ण छोकको बाधा पहुंचाया तब सम्पूर्ण देवोंने एकत्रित होकरके महादेवसे उसके मारनेकी प्रार्थना की । एक महान् दृढ रथ बनाया गया। भारा प्रार्थना करनेपर पितामहने रथका सारथी होना स्थीकृत किया । उस रथपर चढकर महादेवने बाण करके तीनों नगरोंको दग्ध कर दिया और मय आदि असुरगणोंको जलाकर पश्चिम समुद्रमें फेंक दिया। इस वृतान्तको पुराणोंमें यों क्रिखा गया है कि " सर्वक्रोकस्य तेजांसि द्ष्ट्वैकस्थानि मारिषाः । युक्तं निवेदयामासुर्देवास्तस्मै-. महात्मने '' '' मृतिं सर्वी समाधाय त्रैलोक्यस्य ततस्ततः रथं ते कल्पविष्यामो देवेश्वर महीजसम्

तथैम बुद्धया विद्दितं विश्वकर्मकृतं महत् । ततो विबुधशार्दूछास्तं रथं समकल्पयन् । विष्णुं सोमं हुताशञ्च तस्येषुं समकल्पयन् । शृङ्मग्निर्वभूवास्य भल्छः सोमो विशाम्पते । अतिष्ठत् स्याणुभूतः स सहस्रं परिवत्सरान् । यदा त्रीणि समेतानि अन्तरीक्षे पुराणि च । त्रिपवैणा त्रिशल्पेन तदा तानि बिभेद सः । पुराणि न च तं शेकुर्दानवाः प्रतिवीक्षितुम् । शरं काळाग्निसंयुक्तं विष्णुसोमसमायुतम् । पुराणि दग्धवन्तं तं देवा याताः प्रवीक्षितम् " " तान् सोऽसरग-णान दग्धा प्राक्षिपत पश्चिमाणर्वे । एवन्त त्रिपरं दग्धं दानवाश्चाध्यशेषतः । महेश्वरेण कृद्धेन त्रैळो-क्यस्य हितैषिणा " तथा व्यासकृत वैष्णव सम्प्रदायवाले हरिवंश प्रराणके एकसी पेतालीसर्वे अध्यायमें अन्धक असरकी उत्पत्ति यों लिखी है कि दिति कहती भयी " हतपुत्रास्मि भगवन् देवैर्धमभूताम्बर । अवध्यं पुत्रमिच्छामि देवैरमितविक्रमम् । इसके उत्तरमें कश्यप उवाच । अवध्यस्ते स्रुतो देवि दाक्षा-यणि भवेदिति । देवानां संशयो नात्रं कश्चित् कमछ्छोचने । देवदेवमृते रुद्धं तस्य न प्रभवाम्यहम् । आत्मा ततस्ते पुत्रेण रक्षितच्यो हि सर्वथा । अन्त्रालभत तां देवीं कश्यपः सत्यवागथ । अङ्गुल्योदर-देशे तु सा पुत्रं सुपुत्रे ततः ॥ यह अन्धक असुर अविचारक पाप पंकर्मे फसे हुये अन्धे मदान्ध पुरु-षोंके समान स्वच्छन्द भ्रमण करता हुआ देव या मनुष्योंको अनेक कष्ट देता भया । पश्चात महेशसे उसको मारनेके लिये दुःखित जनोंने प्रार्थना की । हरिवंश पुराण एक सौ छियाछीसमें अध्यायमें छिखा है कि " मुमोच भगवाञ्छलं प्रदीतामिसमप्रभम् । ततः पश्चात् हरोत्सृष्टमन्धकोरसि दुईरम् । मस्म-साज्ञाकरोद्रौद्रमन्धकं साधकण्टकामिति '' इसी प्रकार गजासर कामदेव आदिके विनाश किये जानेकी रोचक कथायें पुराणोंनें छिखी हैं। विष्णु करके प्रल्हादकी रक्षाके छिये हिरण्यकशिपुका वध अच्छे ढंगसे लिखा गया है । इसी प्रकार कंस, मुर आदिका नारा करना भी वडी श्रद्धानुद्धिसे उपदिष्ट किया गया है। सच पूछो तो यह स्पष्ट रूपसे संकल्पी हिंसा है। एक छोटी श्रेणीका जैन गृहस्थ भी जिस संकल्पी हिंसा हो नहीं कर सकता है। परमात्मा या परमात्मा है आशिक गुणोंको धारनेवाछ। देव या पुरुष तो कथमपि ऐसी हिंसाको नहीं करना चाहेगा। सञ्जन पुरुषोंके प्रभावशाली उपदेशों हारा है। कर पुरुष शान्त हो जाते हैं। अस्तु कुछ भी हो वैशेषिक या नैयायिक दार्शनिकोंने उक्त पीराणिक कथाओंपर अखण्ड विस्वास नहीं रक्खा है। ये ईश्वरको अदेह स्वीकार करते हैं। हां. ईश्वर द्वारा विशिष्ट शक्तियोंको प्राप्त कर कोई कोई जीवात्मायें जगत्में बढे बढे चमत्कारक कार्योंको कर पाड़ती है ऐसा वैशेषिक मान छेते हैं । जैन भिद्धान्त अनुसार देव या राक्षसोंकी आयका मध्यमें ही छित्र हो जाना नहीं माना गया है हां, तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्य-शाली पुरुषोंके या विद्याओंको साधनेवाले पुरुषोंके अधीन अनेक देवता हो जाते हैं। अनेक देवोंके ऊपर कई पुण्यात्मा पुरुषोंका प्रभाव स्थापित हो सकता है। जैन पुराणोंमें भी महादेव, राम-चन्द्र, कृष्ण, पाण्डव, आदिके चरित्रोंका वर्णन हैं। रुदोंकी उत्पत्ति तो चारित्रसे सह हो चुके मुनि और अधिकाक सम्बन्ध द्वारा हुई मानी गयी है। इस कल्पकाखकी अब-

सर्पिणीमें इये ग्यारह रुदोंमेंसे सबसे प्रथम भीमाविक नामक रुद्रने श्री अजितनाथ स्वामीकी बाल्यावस्थामें अनेक उपसर्ग किये पश्चात् बालक अजितनाथकी महती राक्तिको आश्चर्या-न्वित देखकर महादेवने अजितनाथकी स्ताति की और क्षमा मांगी । अन्तिम सात्पिकने चौदह सो निधायें सिद्ध करली थीं. अनेक राजाओंका पराजय किया था। ये रुद महाशय भोगोंमें दिनरात व्याक्षिप्त रहते थे । त्रिद्याओं करके अनेक कष्टमाध्य अनहोने कार्योको करके डालते थे। इसी प्रकार ब्रह्मा भी एक तापसी हुये हैं, जिन्होंने सैकडों वर्षोतक तपस्या की और तिलो-त्तमा पर आसक्त होकर तपस्यस्की शक्तिसे चार, पांच, मुख बनाये इत्यादिक कृतियां उक्त पुरुषोंकी प्रसिद्ध हैं, पद्मपुराण, इरिवंशपुराण, पाण्डव पुराणोंमें रामचन्द्र, कृष्ण, का विस्तृत कथनाक मिळता है। होलिकादाहकी पृथा भी इसी भित्ति पर अवलम्बित होकर प्रसिद्ध है। जैन पराण और वैष्णव या शिव पुराणों के कतिपय प्रकरण मिळ जाते हैं। किन्तु जहां कार्य कारणमावका मंग होय या असम्भव व्यवस्था होय वह अजैन पुराणोंका विषय वाधित होजाता है जैसे कि मनुष्योंके संसर्गसे देवियोंके संतानकी उत्पत्ति बनाना, कानसे कर्णकी उत्पत्ति मानना, मनुष्यका घड और द्वाथीका सिर जुडकर गणेशजीका उत्पाद मानना, ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणेंकी उत्पत्ति मानना, गायके सींगपर प्रथिवीका घर रहना, जटाओंमें गंगाका झेळना । फिर कितनेही दिनौतक गंगा नदीका जटाओंमें ही अन्तर्भत रहना इत्यादिक विषय मिर्बाध नहीं हैं। अलंकार पूर्ण साहित्यमें घटा, बढा कर कह दिया जाता है किन्त असम्भवके परिहारका वहां भी उद्ध्य रखा जाता है। अतः किन्हीं किन्हीं शक्तिशाली पुरुषों करके कभी कचित्र प्रसिद्ध इये त्रिपरका दाह या अधंक असरका विध्वंस, कोटिशिलाका उठाना आदि सम्भ-वनीय विषयोंको मान छिया मी जाय । किन्तु एक बुद्धिमान ईस्वर करके जगतुका बनाया जाना क्यमपि विश्वसनीय नहीं है। यों तो जिनसेनाचार्य कृत सहस्रनाममें महादेव, विष्यु, ब्रह्मा, स्रगत, **आदि देवोंके** अनेक नामोंका उद्धेख है । अमस्कोशमें " शम्भरीशः पश्पतिः शिवः शली महेश्वरः " **ईसर,** रांकर, मृत्युञ्जय, वामदेव, हर, ईशान, त्र्यम्बक, त्रिलोचन, त्रिपुरान्तक, अन्धकरिप आदि अनेक नाम महादेवके कहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्माके परमेष्टी, आत्मभू, पितामह, स्वयंभू, बेधा, नामेय आदि नाम हैं। सहस्रनाममें " श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शंभवः शभुरात्मभूः । नित्यो मृत्युंजयो मृत्युरमृतात्मामृतोद्भवः । यगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः " दुरितारिष्ट्ररो हरः " त्रिनेत्ररूयम्बकरूयक्षः केवलज्ञानवीक्षण " त्रिपुरारिबिछोचनः'' सर्वक्छेशापद्दः साधुः सर्वदोषद्दशे हरः, शंकरः शंत्रदो दान्तो'' "तीर्थकृत् केवछशानः'' " नामेयो नाभिजो जातः '' स्वय ^{उउ}योतिर जो ऽजन्मा, सर्वेद्वः सर्वेदर्शनः '' " सुगतिः सुश्रतः सुश्रुक्, सुगतो इतदुर्नयः '' सिद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा '' '' समन्तभदः शांतारिर्धर्मा चार्यो दयानिधिः'' सूक्ष्म-दशीं जितानंगः '' " कुपालुर्धमदेशकः '' इत्यादिक कतिपय अन्वर्धनामोंका निर्देश किया गया है । इनमेंसे अनेकोंका अर्थ सहस्रनामकी स्तुतिमें यों िखा है कि " अनंतभवसंज्ञानजयादासीरनंतजित " हे भगवन तम अनन्तको अर्थात भन्न-संतारको जीतनेकी अपेक्षा ''अनन्तजित '' है। छोटे छोटे शारी-

रिक बड़धारी मनुष्य या देवता अथवा नौला, गरुड, मोरपक्षी भी सांपको जीत सकते हैं जीतना तो क्या मार भी देते हैं । किन्तु आप तो अनम्त हो रही संसारकी सन्तनका जय करनेसे अनन्तजित 🐧 '' त्रैलोक्यनिर्जयावासद्धर्ष्यमतिदुर्ज्जयं, मृत्युराजं विजित्यासीिजन मृत्युंजयो भवान् '' तीनों छोकके जीतनेसे जिस यमराजको खोटा अभिमान प्राप्त हो चुका है नो कि अतीव कठिनतासे जीतने योग्य है उस आयुष्यकर्मरूपी मृत्यराजको जीतकर हे जिन आप ही मृत्यंजय माने गये हैं। अर्थात्-यमराज नामका कोई एक देवता सबको मारनेवाला नहीं है। क्यों जी उसका मारनेवाला कौन है ? ब्रह्मा, विष्यु, महेराके वह अधीन है ? या उसके अधीन ब्रह्मा, विष्यु, महेरा हैं ? सूर्यका पत्र और यमुनाका भाई माने गये यमकी उत्पत्तिके प्रथम मृत्युयें कैसे होती थी? धर्मराज, यमराजका क्या सम्बन्ध है ? क्या यमराजके पुत्र पुत्रियां अविनश्वर हैं ? या उनको मारनेवाला कोई दसरा यमराज है ? इन संवर्ण प्रश्नोंका पौराणिकोंकी ओरसे सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं होता है । अतः आयुष्य कर्मके जीतनेकी अपेक्षा श्री जिनेन्द्र देव ही मृत्यंजय हैं ''त्रिपुरारिस्वमीशेशो जन्ममृत्यु जरान्तकृत '' जन्म, जरा, और मृत्यु इन तीन नगरींका अन्त कर देनेसे तुम जिनेन्द्र देव ही " त्रिपुरारि " हो तुम ही ईश हो । त्रिकाल त्रिलोकवर्ती भिन भिन्न तत्त्वोंको युगपत् जाननेवाले केवलज्ञान नामक चक्षको धार रहे तुम त्रिनेत्र हो । माथेमें तीसरे नेत्रका होना अलीक है । निर्माण कर्म शरीरमें दोही नेत्रोंको बनने देता है। विकियाशक्तिया विद्याबलेंस मले ही दिखाऊ उत्तर आकार चाहे कैसे भी बनालो । ऐसे त्रिनेत्रपन या सहस्रनेत्रपनकी कोई विशेष प्रशंसा नहीं है '' त्वामंधकांतकं प्राहुर्में।हांधासुरमर्दनात् , अर्द्धन्ते नारयो यस्मादर्द्धनारीश्वरोऽस्यतः '' वस्तुतः स्वयं अन्धा होरहा और दूसरे सम्बंधियोंको मदोन्मत्त होकर अन्या कर रहा मोह नामके अन्यासरका मर्दन कर देनेसे हे जिन भन्य जीव तुमको ही " अन्यकान्तक " कहते हैं। सर्वज्ञ है।ते हुये भी भाविष्यमें देवोंके छिये दुःख प्राप्तिका नहीं ज्ञान रखने वाले वे ही पहिले किसीको अवस्य होनेका वरदान करें पुनः उसीको रथ बनाकर सारथी होकर बाण चळाकर वे ही उन त्रिपुरोंको मारें यह तथ्य वृत्तान्त नहीं प्रतीत होता है। तथा दिति माता किसीसे नहीं मारा जासके ऐसे पुत्रकी अभिलाषा करे और कश्यपके द्वारा पेट पर अंगुलियोंको फेरते रहने पर ऐसे पुत्रको उपजा देवे पुनः महादेव द्वारा उस अवश्य पुत्रका संहार किया जाय ऐसे कथानक प्रतीति की उच्च शिखरपर आरूढ होने योग्य नहीं है। अतः त्रिपुरि और अन्धकासुर मर्दनका कथानक श्रीजिनेन्द्र देवमें जन्म, जरा, मृत्यु और मोह राक्षसका क्षय कर देनेसे सप्रतीत होजाता है। आठ कमींसे आधे चार घातिया कर्मस्वरूप प्रबल राजु जिन अईन्त देवके नहीं हैं। अतः अर्ध+न+अरि अर्धनारीस्वर अर्हन्त परमेष्ठी हैं। आधा पुरुषका और आधा स्नीका यों एक शरीर बन कर चिर जीवित रहे या बडी भारी माहिमाकी पावे यह समझमें नहीं आता है। इसी प्रकार मोक्षपदमें आध्यासीन होनेसे शिव और पाप शत्रुओंका हरण करनेसे हर, लोकमें सुख करनेसे शंकर आदिक नाम भी जिनदेवके सुबटित हो जाते हैं। " शिवः

शिवपदाष्यासादुरितारिहरो हरः, शंकरः कृतशंकोके संभवस्त्रं भवन्मखे कृषभोसि जगञ्ज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोद्यैः नामयो नाभिसंभूतेरिक्ष्वाकुकुलन्दनः " " जन्मामिषेकवामाय वामदेव नमोऽस्तु तें " " केवल्झानसंसिद्धावीशानाय नमोस्तु ते " "नमः परमित्रज्ञान" नमःपरमदृष्ट परमार्थाय तायिने" " नमः सुगतये तुन्यं शोभनां गतिमीयुषे " इत्यादिक शिव, सुगत, ब्रह्माके पर्यायवाची नामोंसे यथार्थ महत्त्वोद्योतक सम्भवनीय चित हो रहे अर्थ श्री जिनेन्द्रदेवमें स्थापन किये गये हैं इस कारण सम्पूर्ण बुद्धिमान् कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके भी जगत्में अकृत्रिमपना साध दिया जाता है इस प्रकार हम जैनोंका सम्पूर्ण कथन युक्तिपूर्ण निर्दोष है । हमारे " दृष्टकृत्रिमिवलक्षणतया ईक्षण हेतुमें किसी दोष की सम्भावना नहीं है ।

न ही त्रानारायणादयः स्याद्वादिनाममिसद्धा प्व, नापि तत्कृतित्रेपुरदाहान्धकासुर-विध्वंसनादयो येन तद्विलक्षणं साधनस्रपादीयमानं विरुद्धचेत । महेश्वरादेरिखलजगत्कारणस्यैव तेषामनभिमतत्वात् ताहको महतां जगत्स्कन्धस्य सकलघटनाविशेषानाश्रयस्येश्वरापेक्षयापि कर्तृभक्त्वमसंभाव्यं सिश्वेशविशिष्टत्वादेः साधनस्य तत्मयोजकत्वायोगस्य समर्थनात् ।

हम स्याद्वादियोंके यहां ईश्वर, नारायण, बल्हदेव, राक्षस, देव आदिक जीव अप्रसिद्ध नहीं है। और उन महादेव आदि करके किये जा चुके त्रिपुरका दाह, अन्यक असरका विष्वंस, पार्वतीपरिणय, विद्यासायन आदि या कोटिशिला उठाना, प्रतिनारायणका पराजय करना, अनेक व्यंतर देवोंका अधि-पतित्व, अनेक लीलायें, लौकिक सुख भागना आदिक भी इन जैनोंके यहां अप्रसिद्ध नहीं हैं जिससे कि उन त्रिपुरदाह आदि कृत्रिम कार्यीस विरुक्षणपने करके दीख जाना हेतु विरुद्ध हेत्वामास हो सके। अर्थात्-जगत्को अकृत्रिन सिद्ध करनेके छिये पूर्व अनुमानमें प्रहण किया जा रहा हमारा दृष्टकृत्रिम विलक्षणतया ईक्षण हेतुविरुद्ध नहीं है । त्रिपुर तो क्या ऐसे भी इतिहासमें अवसर आ चुके हैं कि प्रचंड राजाओंने बीसों पुरोंका और उनमें रहनेवालोंका विध्वंस कर दिया गया है। कोधी मुनि अपने तैजस शरीर द्वारा सैकडों पुरोंका विनाश कर देता है। वीर निर्वाण सम्वत् २४५६ चीवसभी छप्पन या विक्रम सम्वत् १९८६ में राज्याधिकारियोंने करोडों टीडियोंका विश्वंस कर दिया था, ईसवीय सन् १९१४ से १९१९ तक हुये यूरपदेशके महायुद्धमें छ।खों मनुष्योंका संक्षय हो चुका है। सन् १९१८ और १९१९ में भयंकर युद्धज्वर (इनफुल्यूइञ्जा) के कारण भारतीय ६० लाख मनुष्यकाल कवलित हो गये थे। द्वेग, हैजा, में असंख्य मनुष्योंका विनाश हो जाता है। विकृत पुद्रल और कुर जीवोंके निमित्तसे घण्टों या मिनटोंमें करोडो, अरबों, खरबों, कीट, पतंग, मार दिये जाते हैं। इसी प्रकार तीर्थेकर महाराज असंख्य जीवोंका उपकार करते हैं। अस्तैजस पुतला द्वारा मुनि कोसों तक सुभिक्ष फैला देते हैं। कोटिशिला या कैलाशको नारायण अथवा रावणने उठा लिया यों जैन पुराणोंमें प्रसिद्ध है इत्यादिक अनेक कार्य किये जा सकते हैं। किन्त ये सम्पर्धा

उक्त कार्य उन घट, पट, आदि कार्योंसे विलक्षण नहीं हैं जिनको कि बनानेवाले कत्ती देखे जा रहे हैं। अतः इम जैन संभावना प्रयुक्त तुम पौराणिकोंके त्रिपुरब्तंत, आदि कार्योको कथंचित् मान भी लेवें. निर्वाध विषयोंक स्वीकार कर लेनेमें कोई हानि नहीं है। बात यह है कि उन स्याद्वादियोंके यहां अखिल जगत्के कारण माने जा रहे महेश्वर, विवाता, ब्रह्माँदेत आदिको ही अभीष्ट नहीं किया गया है दृष्टकर्तक पदार्थीमेंसे तिस प्रकार विलक्षण हो रहे असंख्य योजन लम्बे. चोडे. अति-महान् , और काठ, ईंट, आदिकी जुडाई करना, खम्भे बनाते हुये बारहद्वारी बनाकर शिखरकी रचना करना इत्यादिक ढंगसे सम्पर्ण विशेष. विशेष, घटनाओंके आश्रय नहीं हो रहे जगत स्वरूप स्कन्धका कत्तीसहितपना तुम्हारे ईश्वरकी अपेक्षा करके भी असम्भव ही है। क्यों कि जगत को ईश्वरकृत्यपना साधते द्वये तुम वैशीषिकों द्वारा प्रयुक्त किये गये सनिवेश विशिष्टत्व, अनेतनोपादानत्व आदिक हेतुओंको उस ईशरकृतव्व साध्यकी सिद्धिमें प्रयोजकपनका अयोग्य है इसका समर्थन हम जैन पूर्व प्रकरणामें कर चुके हैं । अर्थात्—तुम्हारे ईश्वर, नारायण, आदिको हम जैन स्वीकार करते है ये मन्य मनुष्य पूर्व कालोंमें अपने अपने माता पिताओंसे उत्पन्न होकर अधिक शक्तिशाली हो चुके हैं। भीमावली आदि ग्यारह रुद्र हैं। " भीमाबलि जिर्म रुद्द विसालणयण सुष्प-दिइ चला। तो पुंडरीय अजिवंर जिद्णामीय पीड सबझ्जो " ये ग्यारह रुद्रों हे नाम हैं। उसहद-काले पढमद् सत्ताले। सत्त सुविहिपहुदीसु, पीडो संति जिणिदे वीरे सच्च सुदो जादी " भीमावलि और जित शत्र ये दो रुद्र भी वृषभनाथ और श्री अजितनाथी कालमें हुये हैं और पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपुज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, वर्मनाथ, और शान्तिनाथ हे कालमें क्रमशः रुद्र, विशा-लनयन, सुप्रतिष्ठ, पण्डरीक, अजितंबर, जितनाभि, पीठ, ये रुद्र हैं और सत्यक्षियत श्री महावीरके कालमें हुये है तथा श्री त्रिलोकसारकी गाथानुसार " तिशिइदुविइसयं मू पुरिसुत्तम पुरिससिंह पुरि-सादी, पुण्डरीय दत्त णारायण किण्हो अद्भचनकहरा '' इस अवसर्पिणीमें ये नी नारायण ह्रये हैं और असगीओ तास्य मेस्मय णिवुंभकइउहंत महु । बिले पहरण रावणवा खचरा भूचर जरासंधो '' ये नौ प्रतिनारायण हुये है तथा " बलदेवा विजयाचलपुधम्मसुणहसुदंसणा णंदी, तो णंदिमित्त रामा पडमा उपिर तु पडिसच् '' इस गाथा अनुसार नो बळदेव हुये माने गये हैं और इस अत्रसर्पिणी के वियाजीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटी सागर परिमित चतुर्थ कार्डमें '' चन्नी भरहे। सगरो मध्वसणक्कुमार संतिकुंश्र्जिणा, अर्जिण सुमाम महापण्डमा हरिसेण जय ब्रह्मदत्तक्खा '' ये ब्रारह चऋवती हुये माने गये हैं इन महाप्रुषोंके द्वारा किये जानुके महान अतिशयित कार्य भी प्रसिद्ध हैं। व्यंतर, भवनवासी, आदि देव निकाय भी प्रमाणों द्वारा निर्णीत हैं किन्त अनादि निधन जगत्की रचना ऐसी विख्क्षण है जो कि किसी एक बुद्धिमान द्वारा कथमीप कर्तच्य कोटिमें नहीं आसकती हैं। अतः हमारे साध्यके साथ व्यातिको अञ्चण धारे रहना रूप समर्थनसे युक्त होरहा हेतु अपने नियत साध्यका प्रयोजक है। अतः जगत् अकृत्रिम ही सिद्ध हुआ।

एतेन समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिरद्यान्तस्य साध्यधमीविकलत्वं साधनधमीविकलत्वं च निराकृतं, तत्रापि सकलकृत्रिमविलक्षणतयेक्षणस्य महेश्वरकृतत्वासंभवस्य च कृतिनिश्च-यत्वात् । तदेवं निविद्धवाधकरिद्दितात् भवचनादनुमानाचाकृत्रिमक्षोकव्यवस्थानाचैकचुद्धिम्-त्कारणो स्रोकः संकनीयः कालादिवत् ।

इम जैनोंके समर्थनपूर्वक इस उक्त कथनकरके समुद्र या खानोंसे उत्पन हुये अकृत्रिम (असर्छा) मोती, प्रवाङ, जम्छाङ, मणि, सोना, चांदी, हिंगुङ, हरिताङ, अभ्रक, ताम्र, वैहुर्य, गेरू, पीछी-मिही, कंकण, पत्थर, आदिक दृष्टान्तकी साध्यधर्मसे विकलता और साधनधर्मसे रहितताका निराकरण किया जा चुका समझ लेना चाहिये। क्योंकि उन मणि मुक्ताफल आदिमें भी जीवोंके बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा किये गये सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थीसे विकक्षणपने करके दीख जाना स्वरूप हेत और महेश्वर करके किये गयेपनके असम्भन स्वरूप साध्यका भछे प्रकार निश्चय कर लिया गया है । अर्थात्—विशिष्ट रचनावाळा जगत् (पक्ष) किसी भी ईस्वर, ब्रह्म, ब्रह्मा, महादेव या महेरा, अल्लाह, आदि बुद्धिमान् आत्मा करके स्वकीय पूर्ण ज्ञान या संभव, असंभव, चाहे जिस किसी भी कार्य करनेकी इच्छा अथवा कर्त्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तु शाक्तिरूप पुरुषार्थ द्वारा किया गया नहीं है (साध्य), कृत्रिमरूपसे देखे जा चुके कुट आदिसे विलक्षणपने करके दीखना होनेसे (हेतु) समुद्र या खान अथवा वन्य वृक्षोसे समीचीन, अनिर्वचनीय अदृष्ट, जीव, पुद्रल, आदि कारणोंकरके उपजे मणि, मोती, आदिके समान (अन्त्रयदृष्टान्त) इस प्रकार हम जैनोंद्वारा कहे गये अनुमानके दृष्टान्तमें साध्य और हेतु भछे प्रकार घटित हो रहे हैं । तिस कारण इस प्रकार सम्पूर्ण बाधकोंसे रहित हो रहे आगमप्रमाण और अनुमान प्रमाणसे इस लोकके अकृत्रिमपनकी व्यवस्था हो रही है। अतः किसी एक बुद्धिमान् आत्माको कारण मानकर यह छोक उत्पन्न हुआ है इस प्रकारकी रांका कथमपि नहीं करनी चाहिये, जैसे कि काल, आकाश, स्वयं ईस्वर, आदिक पदार्थीमें जैसे कृत्रिम-पनका संदेह अणुमात्र भी नहीं किया जाता है।

ततो मध्यस्रोकस्य निवेशः कथितः । द्वीपसम्रुद्रपर्वतक्षेत्रसरित्यभृतिविशेषः सम्यक् सक-स्रुनेगमादिनयमयेन ज्योतिषा मवचनमृत्रस्त्रीर्जन्यमानेन कथमपि भावयद्भिः सद्भिः स्वयं पूर्वा-परशास्त्रार्थपर्यायस्रोचनेन मवचनपदार्थविदुपासनेन चाभियोगाविशेषविश्वेषेण वा मपंचेन परि-वेद्यो अभोलोकसिश्वविश्वविश्वेषवदित्युपसंहरकार ।

तिस कारणसे उक्त प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराजने यहांतक मध्यलोकके अनादिनिधन सिन-वेशका निरूपण कर दिया है। जम्बूद्वीप, धातकीद्वीप, पुष्करद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र, कालोदिधि, पुष्करवर आदि समुद्र तथा हिमबान, महाहिमबान, आदि पर्वत एवं भरत, हैमवत आदि क्षेत्र कि च गंगा, सिन्धु, आदि नदियां एवं च पद्म आदि सरोवर तथेष भोगभूमि, कर्मभूमि, आदिकोंकी

अन्य भी विशेष विशेष रचनाओंको भले प्रकार चारों ओरसे समझ लेना चाहिये। नैगम, संप्रह, ज्यवहार, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, आदि नयोंसे तन्मय होरहे तथा सर्वज्ञप्रतिपादित और गणधर प्रन्थित द्वादशांग प्रवचनको मूळ मानकर उत्पन्न हुये श्रीउमास्त्रामिकृत सूत्रों करके उपज रहे ब्रानप्रकाश करके द्वीप आदिकी विशेषताओंको समझ छेना चाहिये, एक त्रिषयको सनकर उसके सम्बंधी अनेक विषयोंकी भावना करने बाले सक्ष्मबद्धि सज्जनों करके स्वयं शालके अर्थोंकी पूर्वापर पर्यालोचना द्वारा द्वीप आदिकी विशेष रचनाओंका परिज्ञान कर लेना चाहिये एवम सर्वज्ञोक्त शालों या प्रकृष्ट वक्ताओंके वचनके द्वारा निर्णीत किये गये पदार्थीका परिज्ञान करनेवाले प्रकाण्ड विद्वानोंकी उपासना करके भी विस्तारसे ही दीप आदिकोंकी विशेषतायें जानी जासकती हैं । अभियोगोंको अन्तररहितपनकी विशेषताओं करके मध्य छोककी रचना विशेषोको जैसे हो तैसे किसी भी प्रकार (उपाय) से समझ छेना योग्य है। जैसे कि अघोलोककी विशेष रचनाओंका विस्तारके साथ समझ लेना आवश्यक है। भावार्थ — श्री उमास्त्रामी महाराजने तृतीयाध्यायमें पहिले छह सूत्रों द्वारा अधीलोकका संक्षिप्त वर्णन लिखा है। किन्तु इन मूलसूत्रोंके अनुसार अथवा सर्वज्ञोक्त सम्प्रदाय अनुसार प्रसिद्ध हो रहे अन्य प्रन्थोंके परिज्ञान करके अधोलोककी रचनाओंका विस्तृत वर्णन समझ लिया जाता है । उसी प्रकार सिद्धान्तप्रन्थोंकी भावनाको धारनेवाछे न्यूत्पत्तिशाली सङ्जनों करके प्रमाणनयात्मक प्रकाश करके मध्यलोक सम्बन्धी विशेष विशेष रचनाओंका विज्ञान कर लेना चाहिये यद्यपि संक्षेपरूपसे उक्त सत्रोंमें ही अधोलोक और मध्यलोकका सम्पूर्ण निरूपण हो चका है। फिर भी विशेष जाति करनेके लिये अन्य आप्तोपन शालोंके प्रमेयोंकी भावना करनेवाले सजनों करके अपनी प्रमाणनयात्मक ज्ञान ज्योति करके गजदंत, यमकादि, जम्बुवृक्ष, स्वयम्भूरमण द्वीप, मध्यछोकके चारों कोन आदिका विचार कर छेना आवश्यक है। प्रवचन और प्रवचनके ज्ञाता पुरुषोंकी परिचर्यासे अनेक अतीन्द्रिय अधौंका निश्चय कर लिया जाता है। इतना लक्ष्य रख्तवा जाय कि कोई अन्यवादी कुचोद्य या कुसु-क्तियों द्वारा इम जैनोंके ऊपर अभियोग नहीं लगा सके। सिद्धान्तशाखोंक पूर्वापर विचार और प्रकृष्ट विद्वानोंकी सत्संगतिसे उक्त कार्य मुलभसाध्य हो जाता है। किसी लम्बे चीडे महलको बना-नेके छिये पाहिले छोटा चित्र बना लिया जाता है । विचक्षण गृहपति उतने ही इंगितसे प्रासादके पूरे प्रमेयको हृदयंगत कर लेता है। आशोपन शास्त्रों द्वारा उत्थित हुई ज्ञानज्योति तो। विशेष रूप करके ततोऽपि अधिक परिज्ञप्ति करा सकती है। त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञपि आदि प्रन्थोंका परिशिखन करनेसे मध्यलोकके अतीव सुन्दर मनोहारी दश्य मानो सजनोंके सन्मुख ही उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार इस संक्षिप्त वक्तव्यका उपसंहार कर रहे श्री विद्यानन्दस्वामी मालिनी छन्दः द्वारा अप्रिम वार्तिकको कहते हैं।

> इति कथितविशेषो मध्यलोकस्य सम्यक् । सकलनयमयेन ज्योतिषा सभिवेशः।

प्रवचनभवस्त्रेजेन्यमानेन सद्भिः। कथमपि परिवेद्यो भावयद्भिः प्रपंचात्॥ ७२॥

इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराजने मध्यलोकके कतिपय विशेषस्थलोंका सामान्य रूपसे तृतीयाध्यायके चौंतीस सूत्रोंमें समीचीन वर्णन कर दिया है। सर्वन्न प्रतिपादित द्वादशांग मूलक शास्त्रों या प्रकृष्ट वक्ताओंसे उत्पन्न द्वये सूत्रों करके उपज रहे सम्पूर्ण नयतन्मय ज्ञानज्योतिर्द्वारा भावना-शक्तिको धारनेवाले सज्जन पुरुषों करके किसी भी समुचित उपायोंके अनुसार मध्यलोकके सिनिवेशका विस्तारसे परिज्ञान कर लेना चाहिये। सूत्रोंमें इतना ही कथन करना पर्यात है।

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराजकृत तत्त्वार्थसूत्र प्रनथके तीसरे अध्यायका श्री विद्यानन्दस्वामीकृत प्रकरणोंका समुदायस्वरूप दूसरा आन्हिक यहांतक समाप्त हुआ।

अधोलोकश्चित्रो नरकगणना नारकजनस्तथा लोको मध्यो बहुविधविश्वेषो नरगणः । तदायुर्भेदश्च मतिनियतकालो निगदितस्तिरश्चामध्याये स्थितिरपि तृतीयेत्र ग्रुनिना ॥ १ ॥

इस तीसरे अध्यायमें श्री उमास्त्रामी महाराजने प्रथमसूत्रकरके चित्र, विचित्र प्रकारका अधोलोक कहा है, रानप्रमा आदि सात भूमियां बातवल्योंपर और वातवल्य तो आकाशके आश्रयपर अवलंबित हैं। यों सुमेरु पर्वतके नीचे सात राज्तक अकृत्रिम अधोलोकका सुन्दर आश्चर्यकारक विचित्र सिन्नवेश है। दूसरे सूत्रमें चौरासी लाख नरकोंकी गणना की गई है तथा अप्रिम तीसरे, चौथे, पांचवें, छहे, सूत्रोंमें नारकी जीवोंकी दुर्व्यवस्था और उनकी आयुओंका निरूपण किया गया है। इसके आगे सातवें आदि सूत्रोंमें मध्यलोकका वर्णन है, वहां द्वीप, क्षेत्र, पर्वत, हृद, कमल, नदियां, आदिका वर्णन करते हुये सूत्रकारने टाई द्वीपमें रहनेवाले भोगभूमियां, कर्मभूमियां, आर्य, म्लेन्छ, आदि बहुत प्रकारोंकरके मनुष्योंके समुदायका विशेष कहा है तथा उन मनुष्योंकी आयुके विशेष मेद भी कह दिये हैं, जो कि जवन्य, उत्कृष्ट, आयुके मेद श्वासके अठारहवें माग, जवन्यदशासे लेकर कोटि पूर्व वर्षतक कर्मभूमिमें और एक समय अधिक कोटि पूर्व वर्षते प्रारम्भकर तीन पल्यतक मोगभूमियोंमें प्रत्येक नियतकालको धारनेवाले हैं। अन्तमें तिर्यञ्च जीवोंकी जघन्य, उत्कृष्ट, स्थितिका भी सूत्रकार मुनि महाराजने लगे हाथ प्रतिपादन कर दिया है।

इति श्रीविद्यानन्दि आचार्यविरचिते तन्तार्थश्लोकवार्त्तिकारुंकारे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३॥ इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्य करके विशेषरूपेण रचना किये गये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकारुंकार नामक महानू प्रन्थमें यहांतक

तीसरा अध्याव परिपूर्ण हुआ।

तृतीयाघ्यायकी विषयसुची।

इस तीसरे अध्यायमें श्री विद्यानन्द स्वामी करके व्याख्या किये गये प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही जीवोंके निवास स्थानोंकी जिज्ञासा होनेपर कहे गये " रत्नशर्करा" आदि सत्रकी उपपत्ति की गयी है । आगमप्रमाणसे समझायीं गयीं भूमियें और वातवलय तथा आकाशके आश्रयपनको युक्तियोंसे सिद्ध किया है। पौराणिकोंके यहां माने गये कछ्या, रोषनाग आदिको भूमिका आधारपना नहीं सम्भवता है। पश्चात भूमिका गोळ आकार माननेवाले कृतिपय प्राचीन पण्डित और आधुनिक अनेक युरूपीय पण्डितोंके मतानुसार भूमिके ऊपर नीचे भ्रमणका अनुवाद कर पुनः भूभ्रमणवादका ऊहापोहपूर्वक खण्डन किया है। कचित्, कदाचित्, भूमिका अयल्प कम्प हो जानेसे चित्तमें बडा भारी उद्देग (घवडाहट) न्याकुळतायें उपज जाती हैं, रहेंटक झूळा या गोल झूळापर झूळनेवालोंके हृदयमें भारी आधात पहुंचता है, तो फिर भूमिका वेगयुक्त भ्रमण माननेपर इन शरीरधारी जीवोंकी कितनी दुर्दशा होगी ? इसका अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है । सांपको उल्टा लटका देनेसे उसका निकृष्ट संहनन भोडी देरमें स्वलित होकर सर्प मृतप्राय हो जाता है। इसी प्रकार भूमिके ऊपर नीचे छटक, रहे ये टूटे चरखा सरीखे शरीरको धारनेवाले प्राणियोंकी घुमा देनेपर भुरभुरी गजक, के समान दुर्व्यवस्था हो जायगी । भूमिकी आकर्षण शक्ति इस विपत्तिकी रक्षा नहीं कर सकती है। पचास मनकी मट्टीके देखको यदि आकाशमें लटका दिया जाय और उस डेलपर नीचेकी ओर एक बालक या एक कटोरा जलको धारण कर दिया जाय तो वह झट नीचे गिर पड़ेगा क्या ! पचास मन महीका ढेळ उस सेरभर पानीको या पांच सेरके बालकको अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा नीचेकी ओरसे खेंच नहीं सकता था ! यदि तम यों कहो कि महती भूमिकी आकर्षणशक्ति अस्यधिक है। अतः दिनमें सूर्यप्रकाशसे अभिभूत हुये ताराओं के समान उस छोटेसे मृत्तिका पिण्डकी शक्ति दब जाती है। बडी भूमि अपनी ओर बालक या जलको खींच लेती है इस पर हम जैनोंका यह कहना है कि प्रधिवीमें आकर्षण शक्ति मध्य केन्द्रमें है ? या सर्वत्र खण्ड खण्डोंमें थथायोग्य वांटके अनुसार धोढी धोडी फैल रही है ? इन दोनों पक्षोंके अनुसार तुम्हारा उक्त सिद्धान्त राक्षित नहीं रह सकता है । क्योंकि महीको खोदकर एक ओर ऊंची और दूसरी ओर नीची ढळाऊ स्थानमें जमा देने पर ऊपर उभरी भूमि पर रक्खी हुई गेंद नीचे नहीं ल्लंडकनी चाहिये तथा खण्ड, खण्ड, राक्ति मानने पर पचास मनका ठोस गोछा नीचछी पोछी इलकी भूमिकी बांटमें आयी हुई थोडी शक्तिसे कहीं बढ़ कर है। गोल भूमि पर लम्बा, चौडा, समह जल या नदीजल नियत विधीसे नहीं ठहर सकता है। प्रेरक वायुओंका परस्परमें प्रतिघात होजायगा। देखो, गुरु पदार्थ अधःपतनशील होते हैं । मूमिमें आकर्षण शक्ति है । जलभाग बीचमें कुछ उभरा रहता है। इन सिद्रान्तोंका हम खब्दन नहीं करते हैं। किन्तु नियत अमण कराने के कार-

णोंका अमात्र होनेसे और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणों करके विरोध होजानेसे इस अचला भूमिका भ्रमण कथमपि नहीं होपाता है। यूरोपीय विद्वानोंने कोई चेतन कर्त्ता भूमिका श्रमण करानेवाळा भी अभीष्ट नहीं किया है। जैसे कि जैनोंने सूर्य, चन्द्रमा, आदिके विमानोंको श्रमानेवाले अभियोग्य जातिक देव माने हैं। अतः इस भूमिका ऊपर नीचे श्रमण या पूर्व पश्चिम भ्रमण कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके आगे भूमिका अधःपतन माननेवाले मता-न्तरोंको दिखळा कर श्री विद्यानन्द आचार्यने युक्तियों द्वारा उनका निराकरण कर दिया है। इसी प्रकार भूमिका ऊर्घ्यगमन या सूर्यकी ओर निकट, निकट गमन अथवा तारतम्य मुदासे सूर्यके दूर दर हो रहे भ्रमणका निराकरण भी हो जाता है। अनादि कालसे सूर्य, भूमि आदि सञ्यवस्थित हैं। अन्यथा न जाने कितने समय पूर्व ही इनकी दुर्दशा हो गयी होती । अतः उक्त कल्पनायें सब निरा-धार हैं। अस्मदादि मनुष्य या जम्बूद्वीप, छवणसमुद्र आदि असंख्य द्वीप समुद्रोंकी आधारभूत ये रत्नप्रभा या शर्कराप्रभा आदि भूमियां अनन्त योजनोतक फैळी हुयी नहीं हैं। और अन्य अन्य अनेक भामियोंके आधारपर डटी हुई भी नहीं हैं। किन्तु प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा ठीक ठीक नापे जा रहे किसी मध्यम असंख्यातासंख्यात नामकी संख्यावाले योजनों करके लम्बी चौडीं नाप ली गयी है। सात पृथिवियों के मध्यवर्ती छह अन्तरालों में असंख्यात योजनोंका अन्तर है। अतः ये स्थूल भूमियां निश्चयनयसे स्वाश्रित और व्यवहार दृष्टिसे वातवलयके आश्रित समझा दी गयीं हैं। उस उस जातिके पापकी विचित्रतासे उन उन भूमियोंमें कर्मवश जीवोंका गमन होते रहना बताया है। उन सात भूमियोंके कतिपय भागोंमें निवास करनेवाछे नारकी जीवोंकी उपार्जित कर्म अनुसार अपनी अपनी आयः पर्यन्त स्थितिको कह कर नारिकयोंकी अञ्चम छेश्या आदिक परिणितयोंको युक्तियों हारा साधा है। रोद्रध्यानसे नरकोंमें उत्पत्ति होनेके कारण मैढा, तीतर, कुत्ता आदिके समान परस्पर रूड भिड कर दुःख भुगतना साधा गया है असुर कुमारों द्वारा दुःख देनेके हेतुको समझा कर उन नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको अनुमान द्वारा प्रसिद्ध किया है। उसके पश्चात मध्यलोकका वर्णन करते हुये और सूत्रोक्त पदोंकी सफलताको पृष्ट करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने जम्बूद्वीप आदिपदसे बहु-बीहि वृत्ति द्वारा निकाल दिये जा रहे जम्बूदीपको वडे अच्छे ढंगसे बाल बाल बचा लिया है। मेरु और इसके इधर, उधर, भरत आदि क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रोंका व्याख्यान कर वृत्तवेदाढ्योंकी रचना बता दी है। भरत आदि सान ही क्षेत्रोंका अवधारण करते हुये आचार्य महाराजने अन्य मतियोंकी कल्पित क्षेत्र संख्याओंका प्रत्याख्यान कर दिया है। दुग्धमें घृतके समान जग-त्में सर्वत्र स्याद्वाद सिद्धान्त ओतपोत होकर प्रविष्ट हो रहा है । उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाळे पर्वतोंकी उपपत्ति, परिणाम, पार्श्वरचना, विस्तार आदिका व्याख्यान कर अगले इद और पुष्करोंके प्रतिपादक सूत्रोंका विवरण तथा कमञ्जीनवासिनी सूत्रका अर्थ समझा दिया है। नदियोंके प्रतिपादक सूत्रका पदकुत्य कर गंगा आदिक

नादियोंका कुछ विवरण दिखाया है। महागंगा, महासिन्धु आदि नदियोंके चार कोशधार्छ छोटे योजनोंसे हजारों योजनोंके विस्तार, लम्बाई, गहराईयों, को दृष्टान्त पुरस्सर साध दिया है। भरत आदि क्षेत्रोंकी व्यवस्थाके प्रतिपादक सूत्रोंकी अनतिविस्तारसे टीका कर दी है। भूमियोंकी अवस्थिति बतानेवाले सूत्रमें भूमिशब्दके प्रहणसे स्पष्ट प्रतीत है जाता है कि भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी भूमियां उतने ही आकाशमें ऊंची नीची लम्बी चौडी होकर घटती बढती रहती है। उनमें रहनेवाळे मनुष्य आदिके अनुभव, आयुः, आदिका घटना बढना तो प्रसिद्ध ही है। हां, भोगभूमियोंमें या नरक, स्वर्गी, में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंका पश्चिमण नहीं है। पश्चात् ढाईदीप सम्बन्धी भोगभूमियां, जीवोंकी आयुका वखान कर विदेहस्थ जीवोंकी आयुको दिन, मास, वर्ष, आदि द्वारा गणनाका विषय बताते हुये श्री आचार्य महाराजने जम्बूद्वीपके मरतकी आकाश सम्बन्धी नापको समझाया है। धातकी खण्डका व्याख्यान करनेके प्रथम लवण समद्र और उसमे विराज रहे पाताल, गीतमद्वीप, का विशेष निरूपण कर दिया है। व्याख्यान कर्ताओं के उत्सूत्रवादीपन दोषका निराकरण कर धातकी खण्डके भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर मध्यम और बाह्यविष्करम योजनी द्वारा गिना (नपा) दिये गये हैं। इष्टाकार पर्वतोंके विवरणको भी छोडा नहीं है। इसके अनन्तर पुष्करार्घ द्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर, मध्य, बाह्य, विष्करमोंको गणितशास्त्र अनुसार निकालकर वर्षधर और मानुषोत्तर शैलकी मनोहर रचनाको दिखा दिया गया है। यहां भी दोनों इष्याकार पर्वतोंको संक्षेपसे कहते हुये गुरुवर्यने विस्तृत प्रतिपत्ति करनेवालोंको विद्यानन्द महोदय प्रन्थके अध्य-यनकी ओर झुकाया है। आर्य, म्लेच्छ, मनुष्योंके भेद प्रभेदोंकी व्यवस्थाको अनुमान मुद्रासे साव कर क्षेत्र आर्य आदिकोंके सकारणपनको सुझाते हुथे आचार्य महाराजने अन्तर्हीपज म्डेच्छोंकी आयु, शरीर उत्सेध, प्रवृत्तियोंका निरूपण कर दिया है । कर्मभूमि सम्बन्धी आठ सौ पचास म्लेम्ल खण्डोंके सम्पूर्ण मनुष्य और ढाई द्वीपसम्बन्धी एक सौ सत्तर आर्य खण्डोंके कतिपय चाण्डाल, कमाई, आदि **जीवोंको म्ले**च्छाचारोंकी पालना करनेसे बहुत प्रकारके म्लेच्छोंकी न्यवस्था करा दी है । संतान परम्प-रासे चली आयी सम्प्रदाय अनुसार यह आर्यन्यवस्था या म्लेन्छन्यवस्था विचारशील न्यवहारियोंके यहां प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणोंसे निश्चित है । कुछ, गोत्र, वर्ण, जाति, न्यवस्थाओंमें रहस्य अवस्य है। घोडे, कुत्ते, बन्दर, गेंह, चना, नारंगी, आम, छुकाट, गुळाबका फूळ आदिक पशु, अन, फल, पुष्प इनकी सन्तान अनुसार भिन्न भिन्न जाति या कुलकोटी अनुसार संतति (नस्छ) में महान् अन्तर पड जाता है । इसी प्रकार नास्तिकोंकी संतान या आर्य, म्हेन्छ, पुरुषोंकी संतान भी पारिणामिक रहस्यसे रीती नहीं है। कुलीनता, अकुली-नता, छिपीं नहीं रहती है। बात इतनी ही है कि जो जिस विषयका भांपनेवाला है, वह उस विषयके सूक्ष्मरहस्योंका सुळभतया परिज्ञान कर लेता है। मन्द्रज्ञानी अन्य पुरुष उपेक्षा धारण करते हुये उस मूढ विषयतक नहीं पहुंच पाते हैं। चिर अम्यस्त श्रृङ्गारी पुरुष अतिशीव ही क्षियोंके सौन्दर्यको निरख लेता है। ब्रह्मचारी उदासीन पुरुष अथवा योगी या पशु उस युवती सुन्दर कीके छीछा, स्मित, विलास, सुन्दरता, आदिको नहीं जान पाता है। मोटे, पतले, बढे, नाटे परु-षोंमेंसे सहद शरीरसंगठनावाले पुरुषकी परीक्षा जितना शीव एक कुशल मल कर लेता है, उतना प्रविष्ट हो कर कोई दूसरा मुनि या शास्त्रीय परीक्षामे उत्तीर्ण विद्वान् अथवा बालक, पश्च, जींहरी. कर्यचित नहीं कर सकता है। खरीदनेवाले या नहीं खरीदने वाले पुरुषों और भोली बुद्धि, चंचल बुद्धिवाले ग्राहकोंकी परीक्षाकी पुराना दुकानदार जितना प्रविष्ट होकर कर लेता है उतना विशद रूपसे कोई नवीन दुकानदार नहीं कर पाता है। बढिया चीर या गठकटा जितना शीव दूसरोंके छिपे हुये धनको भांप छेते हैं, स्वयं घरवाछोंको घेटोंतक ढूंढने पर भी जब कि वह धन नहीं मिछता है. उस प्रकार कोई क्षलक या राजा, महाराजा नहीं ताड सकते हैं । समीचीन न्यायकत्ती अनुभवी जज वडी सुलभतासे मायाचारी, असयवक्ता, अभियुक्तों (मुलाजिमों) के वास्तविक अपराधौंको समझकर निग्रह या अनुप्रह कर देता है इस न्यायशासनको कोई प्रतिष्ठाचार्य या प्ररोहितजी महाराज कथम-मपि नहीं साथ सकते हैं। ख़िफया पुलिसके प्रवर्तनको चसखोदा गवार नहीं समझ सकता है। बीणाकी हृदयतलस्पर्शी झंकारके तत्त्वको भैस विचारी क्या जाने ? देशभक्त महामना स्वार्थत्यागी परु-वींकी समीचीन भावनाओंकी ओर स्वदेशके साथ प्रीति नहीं रावनेवाले विनोदी पुरुषोंका लक्ष्य नहीं जाता है। स्वर्ण रत्नमय भूषणोंकी भी अवज्ञा कर देनेवाली राजमहिषीके परितृप्त हार्दिक भावोंके अन्तस्तलपर विचारी गोंगची, कोडियों या पीतल, कार्सोंके बने हुये गहनोंको वडे चावसे पहन रही प्रामीण स्त्री नहीं पहुंच सकती है। कुट्म्ब, परिवार, धन, महळ, राजविभूति आदिका परित्यागकर तपस्या कर रहे मुनिमहाराजकी परिणतिओंका परिज्ञान दीन, हीन, मिखारीको नहीं हो पाता है। प्रकरणमें यह कहना है कि छहार, सुनार, दुकानदार, पण्डित, साधु, व्यभिचारी, चोर, डाकू, काटिला स्त्री, राजा, किसान, वैज्ञानिक, मल, बाजीगर, माली, आदि सभी जीवोंके कार्योमें बडे बडे रहम्य छिपे हुये हैं । जड पदार्थी या चेतनपदार्थीकी परिणतियां अनेक सूक्ष्म, अति सक्ष्म, अति-शयको धार रही हैं। जो जीव जिसका जितना आमिलाषी या अभ्यासी अथवा व्यसनी है. उसमें उतना प्रविष्ट होकर परिज्ञान कर सकता है, सम्पूर्ण पदार्थीमें अनन्तधर्म हैं। जड या चेतनोंकी सम्पूर्ण स्थ्लस्क्ष्मपरिणतियोंको मन्द क्षयोपरामधारी जीव नहीं समझ पाता है। कुछ सम्प्रदायसे चले आये सदाचार, असदाचारों, का प्रभाव संतान, प्रतिसंतानों, की आत्माओं पर अवस्य पडता है । पूर्वजन्मर्ने जिन आत्माओंने उस उस जातिके कर्मीका उपार्जन किया है वे जीव उन उन आर्य या म्लेन्छ पुरुषोंमें जन्म धार रहे हैं। मध्यमें भी किसी सन्तानी व्यक्तिके आचारोंसे परिणतियें विलक्षण हो जाती हैं। कुल, देश, जाति, क्षेत्र, काल, भाव, की परिस्थितियोंके अनुसार आत्माओंकी बडी वडी विशेष परिणितियां हो जाती हैं। शरोखेके छेदमेंसे सर्थ किरणोंके पडनेपर जो रज उडती फिरती दीखती है उसका एक कण भी शरीरके ऊपर बीझ

डालता है, भले ही उस बोझके दबाबको स्थूल बुद्धिवाला पुरुष नहीं समझ पावे, इसमें विचारी सूक्ष्म परिणित क्या चिकित्सा करे ? यह बात किसी विचारशाली विद्वान्से छिपी नहीं है । मुखमें खाध पदार्थके घर हेनेपर और चलानेपर चारों ओरसे लारके फुल्वारोंकी बौछार होती है। रीते क्रियारहित मुखमें उतनी लार नहीं टपक पाती है। इंसते, खेलते, हुये बाककको गोदमे लेकर क्सल माता पिताके जो परिणाम है उनका अनुभव मूनि महाराज या वन्ध्य पुरुष अथवा वन्ध्या स्त्रीको नहीं हो पाता है। अतः आर्यपन या म्लेच्छपनका किसीको अनुभव नहीं होय यह उसके क्षयोपरामका दोष है। मनुष्योंमें तो वस्तुभूत आर्थत्व या म्लेन्छत्व व्यवस्थित हो ही रहा है। प्राचीन मार्गसे चढी आ रहीं सम्प्रदायोंके प्रामाण्यका निर्णय भी कष्टसाम्य भले ही होय किन्त असम्भव नहीं है । अनेक संप्र-दायोंका निर्णय करना तो बुद्धिपर थोडा वल देनेपर सहजसाध्य हो जाता है। सांस्योंके प्रकृति तत्त्व या वेदान्तियोंके अद्वैतवाद आदिकी कल्पनार्ये भी नयविवक्षा अनुसार किसी वस्तुभित्तिपर अवलंबित हैं, निष्कारण नहीं हैं। क्वचित् प्रसिद्ध हो रहे धर्मका ही अन्यत्र आरोप किया जा सकता है। अतः गुणोंको कारण मान कर हुये आर्यपन और दोषोंको कारण मान कर हुये म्लेच्छपनकी व्यव-स्थाको श्री विद्यानन्द आचार्यने भले प्रकार दशी दिया है। वैशेषिकोंकी मानी हुई नित्य, न्यापक, अमूर्त होरही ब्राह्मणत्व, चाण्डाळत्व आदि जातियोंका युक्तियोंसे खण्डन किया है। वस्तुतः ऊर्ध्वता सामान्य या तिर्यकुसामान्यको जाति पदार्थ माननेमें महती शोभा है। अनेकान्तवाद तो सर्वत्र फैल रही है इसके आगे भरत आदि क्षेत्रोंमें कर्मभूमि, भोगभूमिका विवेक करते हुये मनुष्य और तिर्य-चोंकी जवन्य, उत्कृष्ट आयुके प्रतिपादक सूत्रोंका अनातिविस्तारसे विवरण किया है । असंख्याते द्वीप समुद्रोंमेंसे मध्यके ढाई द्वीपेंका ही और जीवतत्त्रका वर्णन करते करते बीचमें द्वीपसमुद्रोंका निरूपण क्यों किया ! इन आशंकाओंका प्रत्याख्यान कर उन द्वीपसमुद्रोंमें मनुष्योंके उत्पादक अभ्यन्तर, बहि-रंग कारणोंका विचार किया गया है । जीवोंके आधारस्थानोंको समझानेके लिये अधोलोक, मध्यलोक, का निरूपण करना अत्यावश्यक है। इसके अनन्तर प्रकरण अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्य-त्ताके साथ सृष्टिकर्तुवादका निराकरण किया है। अन्य प्रन्थोंमें नहीं देखनेमें आयीं ऐसी बहुतसी युक्तियों करके पौराणिक, वैशेषिक, नैयायिकोंको श्रकझोर डाला है। श्री विद्यानन्द आचार्य जिस विषयको पकड छेते है, उसको परिपूर्ण करके हैं। छोडते हैं। तृतीय अध्यायके चालीस मूत्रोंके पूरे विवरणसे प्रन्थ अपेक्षा कुछ ही थोडा और गम्भीर अर्थ अपेक्षा बहुत बडा कर्तृखण्डनका प्रकरण इस छोटेसे '' तिर्यग्योनिजानां च '' सूत्रके नीचे उसी प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने जोड दिया है, जैसे राजवार्तिकमें " छौकान्तिकानामष्टी सागरोपमाणि सर्वेषाम् " सूत्रके विवरणमें अनेका-न्तवादको हिल्मा दिया है। गजचण्टको बलीबर्दपर लगा देनेसे भी एक विनोदपूर्ण शोभा हो जाती है । स्वतन्त्र उद्भट टीकाकारोंके विषयमें हम सारिखे मन्दबद्धि पुरुषोंको समालोचना करनेका कोई अधिकार नहीं है। केवळ गुरुभक्तिवश आचार्योकी स्तुति करते हुये मुखसे ये शब्द निकक पढते हैं।

कि जहां कहीं जब किसी विषय के प्रतिपादन करने की विवक्षा भगवान् श्री विद्यानन्द आचार्यके उपज बैठती है. निशकरणीय उस सदोष विषयका तभी वहां खण्डन कर मटियामेट कर देते हैं. और मण्डनीय निर्दोष प्रभेयको उन्नतिके शिखरपर विराजमान कर देते हैं । ऐसी प्रतिभातत्परता प्रशं-सनीय, प्रभावनीय या आदरणीय ही नहीं किन्तु पूजनीय भी है। इसके विना स्वमताप्रही, एकान्तवादी पण्डितोंके अमिमानका निराकरण और अनेकात्मक वस्तुके गृढ गर्भाध्यत अतिशयोंका प्रकाश नहीं हो पाता है। ईश्वरके कर्तृवाद का प्रत्याख्यान करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्यने वैशेषिकों के हेतुओं का मंह फेर दिया है। ईश्वर हो पशरीर या अशरीर नित्यज्ञानवान या अनित्यज्ञानवान कैसा भी माना जाय वैशेषिकों के अभीष्ट कर्त्वादकी सिद्धि कथमपि नहीं हो पाती है। अनवस्था, साध्यविकल-दृष्टान्त, व्यतिरेकाप्रसिद्धि, कदाचित् कार्यानुत्पत्ति ये दोष्ट्र झटिति, उपस्थित हो जाते हैं। सर्वथा भिन हो रहे छड़े पदार्थ समजाय करके सर्वथा भिन्न माने गये जानका ईश्वर में वर्तना स्वीकार करनेवाले वैरोषिकोंके यहां ईश्वर कथमपि '' ज '' या ज्ञाता नहीं बन सकता है । छोष्ठके समान अज्ञ ईश्वर या मुक्तात्माके समान अशरीर ईश्वर मठा जगत्को केस बना देगा ? यहां और भी अनेक सूक्ष्म विचार किये गये हैं। ईश्वर हो मशरीर माननेवालों ही विशेव रूपसे अवज्ञा ही गयी है। जैसा कोठी आदिमें सिनवेशविशेष है वैसा जगान्में नहीं है। इस प्रकार किसी एकदेशीय विद्वानके द्वारा वैशेषि होंके उत्पर उठाये गये असिद्धाय दोष हो उचित नहीं बता हर सनिवेशविशेषादि हेतओंमें व्यक्ति-चार आदि दोप देना आवश्य ६ बताया गया है । इत हे पश्चात् व्यतिरे ६ ही असिद्धि बता हर ईश्वर और जगत्के कार्यकारणमात्रका मंग कर दिया है। काल, आकाश, आदि मी यदि कूटस्थ नित्य या सर्वथा सर्वगत माने जाय ते। ये भी किसी भी अर्थिकयाकी नहीं कर सर्केंगे । यह पक्ती बात समझो । महेश्वरक्षी भिष्नुद्धा द्वारा जगज्जी उपित माननेपर बहुत अच्छा विवेचन किया है। चक्रक दोवों के प्रहारका ढंग निराण ही है। क्रम कमने होने वाली अनित्य महेश्वरिस्स-क्षाओं अथवा नित्य एक सिस्टूक्षा द्वारा जगत्की उत्पत्ति होनेमें अनेक दोष आते हैं । नित्य, व्यापक, होरहे ईश्वरज्ञान और ईश्वर ईन्छा स्वरूप कारणों हा न्यतिरेक नहीं बननेसे न्याप हके अनुप्रस्म करके व्याप्य होरहे कार्यकारणमावकी अधिद्ध दोषमें अरुचि दिखाते हुये अपर विद्वानों के मुखसे बाधित हेलामास उठाना समुचित बताया गया है । यहांका विचार भी सादर अध्ययनीय है । अन्य एकदेशीय विद्वानों की सम्मति अनुसार वैशेषिकों के ऊपर उठाये गये असिद्ध, बिरुद्ध, दोषोंका अनुमोदन किया गया है। इस अवसरपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजकी मित्रनीति अनुकरणीय है। वैशेषि कीने कई बार अपने पक्षको पृष्ठ करनेके छिये उद्योग किया, किन्तु अतंद्वयगून्य भी परस्पर गृणित हो कर यदि एकके अंक्षको परास्त करना चाहें तो उनका दुःशाहस निरर्थक ही समझा जायगा। अस्तु । नित्य गुणी और उसके नित्य गुगको वर्षया भिन्न ही कह रहे वैशेषिकों के पूर्वपञ्च पर स्याद्वादियोंने गुण, गुणीका कथंनित तादात्म्य सम्बन्ध साथ दिया है। कार्यस्य, यश्चिमश्चित्व, आदि हेतुओं वे दर

दिये । अनेक दोषोंका निराकरण करना वैशेषिकोंकी शक्तिका कार्य नहीं रहा । इसके आगे वैशेषिकोंके करणत्व आदि अन्य हेतुओं की भी आचार्य महाराजने निः मारता दिखायी है। यहां नैयायिकोंने चिड कर जो कुचोच उठाये हैं उनको अपने प्रन्थमें पूर्णरित्या अनुवाद कर पश्चात उन कुचोचोंका निरा-करण कर दिया है। जगतमें अनेक प्रकारके कार्य हो रहे हैं। सबका प्रयोक्ता कोई प्रधान व्यक्ति होवे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। एक के उत्पर एक, पुनः उसके भी अन्य अधिकारियोंकी कल्पना करते हुये अनवस्था दोष वैशेषिकोंके यहां दर्निवार बता दिया है । ईश्वरंक अनादिकालीन शुद्धि नहीं सम्भवती है। दृष्ट, इष्ट, प्रमाणोंसे विरुद्ध कथन करनेवाले ईश्वरको सर्वज्ञ कहना भी उपदासास्पद है। वैशेषिकोंके सभी अनुमानोंको आचार्य महाराजने दृषित कर दिया है । वैशेषिकोंका आगम माना गया वेद. प्रमाणभूत नहीं है । हां, समीचीन अनुमानोंसे जिनोक्त आगमसे छोक अकृत्रिम सिद्ध हो जाता हैं। लोकः (पक्ष) बुद्धिमता नैव कृतः (साध्य) दृष्ट, कृत्रिम, कृटादिविलक्षणतया ईक्षण होनेस (हेतु) समुद्र या खानमें उपजे हुये माणि, मोती, आदि हे समान (अन्त्रयदृष्टान्त) इस अनुमानके प्रत्येक अवयवको आचार्योने बडी पुष्टयुक्तियोंसे सिद्ध कर दिया है। व्यर्थमें उठा दिये गये विरुद्ध आदि हेत्वाभारोंका अचूक विध्वंसन कर दिया है। अन्य भी कितने ही मध्य, मध्यमें सविनोद स्वप-क्षमण्डन और परपञ्चलण्डन करनेमें युक्तिया दी ग्यीं हैं. जो कि श्लोकवार्त्तिक प्रन्थका प्रविष्ट होकर परिज्ञीलन करनेवालोंके हृदयंगत हो कर संतोषाधायक है । अनादि कालसे अनन्त काळतक इस जगतकी व्यवस्था जढ या चेतन कारणोंके अथवा अनन्त परिणमनोंके अधीन होकर प्रवर्त रही है। एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्य कालद्रव्य, अक्षय अनन्तानन्त जीवद्रव्य और इनसे अनन्तानन्त गुणे अक्षय अनन्त पुद्रखद्रव्य ये सम्पूर्ण द्रव्य सार्वदिक, नित्य हैं। इनकी स्वामाधिक और जीव पुद्रलोंकी वैमाविक भी पर्यायें न जाने किन किन कारणोंसे हो रहीं उत्पाद, न्यय, ध्रीन्य, स्वरूप न्यवस्थित हैं। अतः छह प्रकारके द्रन्योंका पिण्ड यह छोक अनादिनिधन चळा आ रहा, अकृत्रिम, है । किसी एक प्रेरक बुद्धिमान करके बनाया गया नहीं है। अनेक छोकिक छोटी छोटी यक्तियों द्वारा है। जब कर्त्वादका जीर्ण बस्नके समान खण्डन हो जाता है। पनः निर्दोष अनुमान और त्रिलोक त्रिकाल अवाधित आगमसे तो विद्वानोंके हृदयमें छोकके अक्रियनका चमत्कारभाव स्थायी हो जाता है। जगतकी विशिष्ट परिणतियोंका अध्ययन करनेवाछे सहदय सजन विद्वानों करके इस छोकका पूर्ण स्वरूप समझ छेना चाहिये। श्री उमास्वामी महाराजने तीसरे अध्यायमें जीवोंके अधिष्ठान विशेष अधीछोक और मध्यछोकका बढी गम्भीरतासे सुत्रों द्वारा निरूपण कर दिया है। प्रमाण और नय नामके अन्यर्थ उपाय तत्त्रोंसे छोककी अन्य रचनाओंका भी परिज्ञान कर लिया जाता है। इस अक्रुब्रिम छोककी रचना इतनी अद्भत है कि छाखों, करोडों, प्रन्थों करके भी भरपूर नहीं कही जा सकती है। फिर भी जीवतत्त्वका सांगोपांग परिच्छेद करनेके लिये अथवा वर्माध्यानको भावनेके उपयोगी मध्यक्षेककी विशेषस्थलीय रचनाओंको

जाननेके छिये आचार्य महाराजने मन्योंको आदेश दिया है। प्रवल परचक्रसे विजय प्राप्त कर स्वतःसिद्ध गायनकी उपजी हुई इच्छाके अनुसार विजताको मालिनी छन्दःका प्रयोग विशेष इदयप्राही शोमता है। तीसरे अध्यायके निरूपणको संक्षेपसे दिखाते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने शान्तिरस और प्रासादको बढानेवाले शिखरिणी छन्दःकरके सूत्रकारके उदिष्ट कर्त्तन्यकी निर्वित्र परिपूर्णताको दर्शा दिया है। चाह्ने चारों अनुयोगोंमेंसे किसी भी अनुयोगका विषय होय, श्री विद्यानन्द आचार्य उसको युक्तियों द्वारा साधे विना छोडते नहीं हैं। लोकानुयोग अनुसार तत्त्वाधसूत्रके करणानुयोग सम्बन्धी तृतीय अध्यायके प्रमेयको द्वन्यानुयोगसम्बन्धी चर्चा करके मढ देनेवाले श्री विद्यानंद आचार्यका प्रयास सर्वथा स्तुल है। सद्गुरुओंको हितवाक्य सर्वाङ्गीण पथ्य हैं। समन्तात् भदका आश्रय लेकर अकलंक पथपर मुमुञ्जोंको चलानेके लिये श्री विद्यानन्द आचार्यके गम्भीरप्रन्थ विद्या और आनन्दके विधायक होने ही चाहिये। यों तीसरे अध्यायके ऊपर किये गये विवरणको श्री विद्यानन्द स्वामीने दो आन्हिकोंमें परिसमाप्त कर दिया है।

चेतः सम्भ्रमकारणत्विविधुरा नोर्वी खवद्श्राम्यति । श्रभ्रम्छेच्छकुभोगभोगजगतीत्यादौ जिन प्राणिनां ॥ स्वस्वाद्दृष्टवशादकुत्रिममिमं छोकश्च वै श्रद्द्ध्य । भन्यो ज्ञानचरित्रजुद्छिवकृते पुष्णातु सद्दर्शनम् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महान्प्रन्यकी आगरामण्डलान्तर्गत चावलीग्रामनिवासी सहारनपुरप्रवासी न्यायाचार्योपाहित माणिकचन्द्रकृत हिन्दी देशभाषामय '' तत्त्वार्थीचन्तामणि '' टीकामें तृतीयाध्याय परिपूर्ण हुआ ।

निर्वाधसम्बिदितस्किसुधाः स्रवन्ती । संशीतिविश्रमविमोहतमांसि इन्त्री ॥ जीवादितत्त्वकुसुदानि विवोधयन्ती । वाक्चन्द्रिका त्रिश्ववनं धिनुताङ्जिनस्य ॥

॥ ओं नमोईत्परमेष्ठिने ॥

अथ चतुर्थोध्यायः।

अब श्री उमास्वामी महाराज अधोलोक और मध्यलोकका निरूपण कर चुक्रनेपर ऊर्ध्वलोकका निरूपण करनेके लिये " तस्वार्थाधिगममोक्षशालग्रन्थके चौथे अध्यायका प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि ऊर्ध्वलोकिनिवासी करपोपपन और करपातीत देवोंसे असंख्याते गुणे अधोतिषा देव इस मध्यलोकिमें निवास करते हैं। रक्षप्रभाके खरभाग और पंक्षभागमें असंख्यातासंख्यात भवनवासी और व्यन्तर निवास कर रहे हैं। फिर भी पूरे लोकके ठीक ऊपर नीचेके दो दुकड़ा कर देनेपर मध्यलोकिकी जड परसे डोरी निकल जाती है। अधोलोकिके जपरका खरभाग और पंक्षवहुलभाग निकटवर्ती संयुक्त मित्र होनेसे उपचारतः ऊर्ध्वलोकिमें गिन लिया जासकता है। दूमरी बात यह है कि ऊर्ध्वलोकिमें विराज रहे अनन्तानन्त श्री सिद्धपरमेष्ठियों के अनन्तवें मागभे भी थोडे ये भवनित्रक्त देव हैं। अतः चतुर्निकायके देवोंका निरूपण करनेवाले इस अध्यायको ऊर्ध्वलोकानुयोग कह देनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है अथवा "देवस्थान" इतना ही इस चौथे अध्यायको प्रतिपाद्य आधारका नाम एव लेना उपपत्तिपूर्ण है।

कई बार देव राब्द आया है। उन देवोंका परिज्ञान कराना आवश्यक है। और अधोलोक, मध्यलोकका वर्णन करने के पश्चात् कमप्राप्त कर्धलोकका वर्णन करना भी अनिवार्य है। अतः सम्य-ग्दर्शनके विषयभूत जीवतस्वके कितपय भेदोंके स्थान निर्णयार्थ श्री उमाम्वामी महाराज चतुर्थ अध्या-यके आदिमे घनगर्जनोपम शब्द स्वय्ह्प प्रथमसूत्रका उच्चारण करते हैं।

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

देवगति नामक्तर्मके परवश हो रहे असंख्याने संसारी जीव देव इन भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषक और वैमानिक चार निकायों (मण्डलिया) को घार रहे विराज रहे हैं।

देवगितनामकर्मोद्ये सित दोच्यंतिति देवाः युत्याद्यर्थाविरोधात् । बहुत्वनिर्देशींतर्गत-भेदमितपन्यर्थः । स्वधमिविशेषोपपादितसामर्थ्याश्विचीयंत इति निकायाः चत्वारो निकायाः येषां ते चतुर्निकायाः । कुतः पुनश्रत्वार एव निकाया देवानामिति चेत्, निकायिनां तेषां चतुः-मकारतया वश्यमाणत्वात् । ते हि भवनवासिनो, व्यंतरा, ज्योतिष्का, वैमानिकाश्चेति चतु-विशाशिकायिभेदाच निकायभेदा इति । नैक एश देवानां निकायो नापि द्वावेव त्रय एव वा, पंचादयोप्यसंभाव्या एव तेषामत्रांतर्भावात् ।

नाम कर्मकी गति नामक प्रकृतिके उत्तरभेदस्वरूप देवगति संज्ञक नामकर्मका उदय होते संते जो दीवते रहते हैं, इस कारण ये जीव '' देव '' कहे जाते हैं। '' दिवुक्रीडाविजिगीषाच्यव-

डारबुतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु " इस धातुसे अच् प्रत्यय करनेपर देव शद्ध बनाया गया है प्रायः सभी देव शति कान्ति, भगवत् स्तृति, मोद, कीडा आदिको धारते हैं। अतः देव शहकी न्युत्पत्तिसे प्राप्त हुये द्योतन आदि अर्थीकी अविरोधरूपसे घटना हो जानेसे भवनवासी आदि चार निकायोंके उद्देश्यदलको व्यक्तियोंमें देवपना शोभ जाता है। अर्थात-अन्तरंग कारण हो रहे देव-गति नामकर्मका उदय होनेपर बहिरंगभूत द्यति आदि कियाओंके सम्बन्धको धारनेवाले जीव देव कहलाते हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि सत्रकारको लाघन गणका लक्ष्य रखते हये '' देन अत-र्णिकायः " यों मूत्र कहना चाहिये था। जाति वाचक होनेसे देव शद्ध द्वारा स्वतः ही बहुत अर्थीकी प्रतिपत्ति हो जावेगी । इस प्रकार कटाक्षके प्रवर्तनेके पूर्व ही श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करें देते हैं कि देव शहका बहुवचन रूपसे कथन करना तो देवोंके इन्द्र, सामानिक, आदि या स्थिति, प्रभाव. गति. शरीर. आदि करके हो रहे बहुतसे अन्तर्गत भेदोंकी प्रतिपत्ति करानेके छिये है। अनेक शक्ति आत्मक देवगति नामकर्मके उदयस्त्ररूप स्वध्नमित्रीय करके प्राप्त करायी गयी साम-र्थ्यसे निचयको प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात्—देव अपने अपने उपार्जित कर्मकी सामर्थ्यसे कतिपय समुदायमें पुष्टिको प्राप्त हो गहे हैं, इन कारण ने समुदित देवमण्डलियां निकाय मानी जाती हैं। जिन देवोंकी निकारों चार हैं, वे देव चार निवायवाले हैं। यदि यहा कोई वादी यों प्रश्न करे कि फिर देवोंके चार ही निकाय किस प्रकारसे हैं ? यों प्रश्न होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करें देते हैं कि संघ या मण्डलियोंमें रहनेवाले उन दी सी ल्यान प्रमाणांगलोंकी प्रदेशसंख्याके वर्गका जगत्प्रतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर लब्ध हुई संख्याप्रमाण ज्योतिषी देवोंसे कुछ अधिक हो रहे देवोंको चार प्रकारवाले स्वरूपसे भविष्यमें कहना है। अतः वे देव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमान निक. यों चार प्रकारोंसे महामण्डलस्य व्यक्तियोंका भेद हो जानेसे नियम करके निकायोंके चार भेद-बाले हो जाते हैं। देवों का निकाय (संघ) एक ही नहीं है। अथवा दो ही या तीन ही देवों के निकाय भी नहीं हैं । तथा देवोंकी पांच, छः, सात, आठ आदि निकायें (टोलियां) भी असम्भव ही हैं । क्योंकि उन पांच आदिकोंका इन चारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है । अर्थात ---पराणोंमें काचित एक देवता शब्दसे ही सम्पूर्ण देवोंका प्रहण कर लिया है। अन्यत्र खर, अखर या दैत्य. आदित्य इन दो भेदोंमें सम्पूर्ण देवोंका संप्रह कर छिया है। तुर असुरीके साथ परिपुज्य देवोंके मिछ देनेसे अन्य भी कतिपय देवोंके भेद हो जाते हैं । गणदेवताओंकी अपेक्षा, आदित्य, विस्व, वसु, तुषित आभास्त्रर, अनिल, महाराजिक, साध्य, रुद्र ये नौ भेद माने गये हैं। योनिकी अपेक्षा देवोंके विचाधर अप्सरस, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किनर, पिशाच, गुद्धक, सिद्ध, भूत, ये दश मेद स्वीकृत किये हैं। जैन -सिद्धान्तमें भी इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र आदि अनेक भेद गिनाये हैं । किन्तु इन सबका उक्त चार निकायोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। पीपल, सांप, अस, नदी, ब्राह्मण, नायु, योनिज आदि कपोलकल्पित देवताओं के अतिरिक्त वस्तु मृत सम्पूर्ण संसानी देवोंका इन चार है। निकायों में अन्तर्भाव हो जाता है ।

नतु च ब्राह्मसौम्यमाजापत्यपेंद्रयक्षराक्षसभूतपिशाचानामष्टमकाराणामष्टी निकायाः इतो न परोक्ता इति चेत्, परागमस्य तत्मितिपादकस्य ममाणत्वासंभवादित्यसकृदभिधानात्।

यहां पीराणिक पण्डितोंकी एक और रंका है कि ब्राह्म (ब्रह्मासम्बन्धी) २ सीम्य (चन्द्रमासम्बन्धी) ३ प्राजापत्य दक्ष, कश्यप, आदि प्रजापतियोंके अपत्य ४ इन्द्रसम्बन्धी ५ यक्ष ६ राक्षस ७ भूत ८ पिशाच इन आठ प्रकारवाले देवोंकी आठ निकायें दूसरे विद्वानोंके यहां कही गयी है। अतः सूत्रकारने देवोंकी ये आठ निकायें क्यों नहीं कहीं ? यों रांका होनेपर तो श्री विद्यानोंके प्रमाणताका करते हैं कि उन दूसरे विद्वानोंके आठ निकायोंका प्रतिपादन करनेवाले आगमकी प्रमाणताका असम्भव है, इस बातको हम कई वार अनेक प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अपनी, अपनी, पोधियोंमें कोई भी चाहे जैक्षी अन्ट सन्ट बातोंको लिख देता है। किन्तु प्रमाण मूत आगमोंके विषयका आदर होता है। ब्रह्मा इन्द्र, दिति, अदिति, कश्यप, आदिसे देवोंकी सृष्टि होना कहना अलीक वचन है। अतः देवोंकी चार निकायें ही सत्यार्थ हैं।

ननु च नारकमनुष्याणामिवाधारवचनपूर्वकं देवानां वचनं किमर्थे न कृतमित्याशंक-मानं शत्यावेदयति ।

पुनः किसी शिष्यका जिज्ञासापूर्वक अनुनय है कि तृतीयाध्यायमें जैसे नारकी जीवोंके आधार स्का पाइले निरूपण कर पश्चाद नारक जीवोंका कथन किया है और मनुष्योंके आधार होरहे जम्बूदीप, भरत, आदिका पूर्वमें वर्णन कर पीछे मनुष्योंका प्रतिपादन कर दिया है, उसी प्रकार सूचकारको प्रथम देवोंके आधारस्थानोंका वर्णन कर पुनः आध्यमूत देवोंका वचन करना चाहिये या। ऐसा वचन श्री उमास्वामी महाराजने किस लिये नहीं किया ! पद्धतिभंगदोषको क्यों स्थान देते हो ! इस प्रकार आशंका कर रहे विनीत शिष्यके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी बाढिया ढंगसे वार्तिकों द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

देवाश्रतुर्णिकाया इत्येतत्सूत्रं यदम्बीत् । नारकाणामिवाधारमनुत्क्वा देवसंविदे ॥ १ ॥ सूत्रकारस्तदेतेषां लोकत्रयनिवासिनां । सामर्थ्यादूर्वलोकस्य संस्थानं वक्तुमेहत ॥ २ ॥

नारिक्योंके आधार समान देवोंके आधारको प्रथम नहीं कहकर सूत्रकार श्री उमास्वामी महा-राज जो " देवाश्वतुर्णिकायाः" यो इस सूत्रको कह चुके हैं । वह तीनों छोकोंमें निवास करनेवाले चतुर्निकायसम्बन्धी इन देवोंकी सामध्यसि ऊर्ध्वजोककी रचना विशेषको कहनेके छिये सूत्र बना दिया है। अर्थात्—देवोंका कोई विशेष स्थान नियत होता तब तो सातों नरक या मनुष्य छोकके समान देवस्थानोंका भी नियत रूपसे वर्णन कर दिया जाता। किन्तु देव तीनों छोकमें रहते हैं और सूत्रकारको अधोछोक और मध्यछोककी वर्णनाके पश्चात् उर्ध्वछोकका वर्णन करना है। अतः आधारपूर्वक आधे-योंका कथन नहीं कर छघु उपाय द्वारा आधेयपूर्वक आधारोंका कथन करना न्यायप्राप्त है। वक्ताको प्रकरणकी सामध्य इसी ओर झुका रही है।

न हि यथा नारकाणामाधारः प्रतिनियतोऽधोलोक एव पनुष्याणां च पानुषोत्तरान्मध्य-लोक एव, तथा देवानामूर्ध्वलोक एव श्रूयते । भवनवासिनामधोलोकाधारतयेव श्रवणात्, न्यंतराणां तिर्यग्लोकाधारतयापि श्रूयमाणत्वान् । ततो लोकत्रयनिवासिनां सामध्यीद्ध्वलोकस्य संस्थानं च मृदंगवद्वक्तुमैहत मूत्रकारः आधारमनुक्त्वा निकायसंवित्तये सूत्रप्रणयनात् ।

जिस प्रकार नारिक्योंका आधार अधोलोक ही ठीक नियत हो रहा है और मनुष्योंका आधार मानुषोत्तर पर्वतसे भीतरका मध्यलोक ही प्रतिनियत है, तिस प्रकार देवेंका आधार स्थानप्रामाणिक शास्त्रोद्वारा केवल अर्धलोक ही नहीं बात किया जा रहा है। क्योंकि भवनवासियोंका अधीलोक ही स्थान आधारपने करके आम्नायप्राप्त शास्त्रोंद्रारा सुना जा रहा है। अर्थात्-त्रिलोकसारमें भी यों लिखा है कि '' वेंतर अप्पमहिंद्रिय मन्झिमभवणामराणभवणाणि, भूमीदोधो इगिद्गबादाळसहस्सइगिळक्खे '' रयणपदपंत्रहे भागे असराण होंति आवासा, भौम्मेस रक्खसाणं अवसेसाणं खरे भागे " तथा व्यंतर देवोंका आधारपने करके निर्धग्छोक भी सर्वज्ञ आम्नात शाखद्वारा ज्ञात किया जा रहा है। " चित्तव इराद जावय मेरुदयं तिरियलोयवित्थारं, भोम्मा इवंति भवणे भवणपुरावासंगे जोगो ''। तथा तृतीयाध्यायके प्रथम सूत्रकी राजवार्तिकमें ' तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधर्श्वकैकं योजनसङ्खं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्रशसु योजनसहस्रेषु क्रिनर्राक्तुरुषमहारगगंवर्वयक्षभूत पिशाचानां व्यंतराणा, नागित्रवृत्सुपर्णाप्रित्रातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां नवानां चावासाः । पं तबहुलभागेऽपुरराक्षसानामावासाः " तिस कारणसे तीनों लोकोंमें निवास करनेके शीख (देव, आदतको) धारनेवाले देवोंकी चार निकार्योके कण्ठोक्त निरूपणकी सामर्थ्यसे ही विना कहे ऊर्धळो प्रका मृदंग (पखावज) के समान संस्थानको कहनेके छिये सूत्रकार अभिकाषा रखते थे । अतः देवों के आधारस्थानको नहीं कह कर उनकी निकायोंका सम्बे-दन करानेके छिये श्री उमास्त्रामी महाराजने प्रथम ही " देवाश्वतर्णिकायाः " यह सत्र बना दिया 🕯 । भावार्थ-अधोलो म और मध्यलोक सा निरूपण कर चुक्तनेपर अर्ध्वलोकका निरूपण तो कुछ आगे पछिके प्ररूपण द्वारा विना कहे ही जात कर छिया जाता है। देवोंका स्थान एक उज्वेद्योक ही नियत भी नहीं है। तिर्धिश्च भी तीनों लेकोमें रहते है। अतः देवोंके स्थानविशेषको बतानेक छिये उर्घ्वलोक स्थानका निरूपण करना सूत्रकारको अनिवार्य नहीं पढ़ा । जो विषय विना कडे ही केवल सामर्ध्यसे ज्ञात कर लिया जाता है, उसके लिये सूत्र रचना करना पुनरुक्तसरिखा है। अतः आधारिवशेषको नहीं कइ कर तीनो लोकके यथायोग्य आधेय हो रहे निकायोंका प्रतिपादक सूत्र चतुर्थ अध्यायमें प्रथम स्थान पा गया है।

अब उन देवोंकी लेक्याओंका निर्णय करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्र को कहते हैं ।

आदितश्चिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

भवनवासी, न्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमानिक इन चार निकायोंमें आदिसे प्रारम्भ कर भवन-वासी, न्यंतर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त लेक्श्यावाले देव हैं अर्थात्—भवनिक देवोंके कृष्ण, नील, कापीत, और पीन ये चार लेक्श्यायें पायी जाती है। कोधादि कषाय परिणामोंके साथ जो मन, वचन, कायका अवलम्बन रखनेवाले योगोंकी प्रवृत्ति हो जाती है, आत्माकी इस संकीण परिणातिकों लेक्श्या कहते हैं। कौखुष्य या तृतीयगुणस्थान अथवा तृतीय गुणस्थानके दिश्च मिश्रित स्वादके समान मिश्रभाव अथवा नीसरे गुणस्थानमें पाये जा रहे सम्यग्निध्यापनसे मिले हुये बान एवं " शब्दार्थोभयपूर्ण " और " आलोचनप्रतिक्रमणतदुभय " यहा पढ़े हुये उभय इनको समझनेवाले विद्वान् लेक्श्या स्वरूप संकर परिणातिके रहस्यको झटिति समझ लेते हैं। चारित्रमोहनीय-कर्मकी चारो जातिके चार कोध या चार मान आदि और हास्य, रिन, भय, जुगुप्सा, एक कोई सा वेद, यों एक साथ नी प्रकृतियोंका किश्री मिथ्यादिष्ठके उदय होनेपर जैसे एक चाग्त्रि गुणकी नी पर्यायात्मक एक संकर विभाव परिणाति होती है, इसी प्रकार कषाय और योगकी मिश्रणात्मक लेक्श्या नामकी चित्रपरिणति हो जाती है।

संक्षेपार्थिमिहेदं सूत्रं लेक्यापकरणेऽस्य वचने विस्तरप्रसंगात् । तेन भवनवासिव्यंतर-ज्योतिष्कानिकायेषु देवाः पीतांतलेक्या इति । इह तु देवा इत्यवचनमनुषुत्तेर्भवनवास्याय-चचनं च तत एव ।

सूत्रकारने प्रन्थका संक्षेप करने के लिय लेश्याका प्रकरण नहीं होने पर भी यहा यह लेश्याका प्रतिपादक सूत्र कह दिया है। यदि लेश्याके प्रकरणमें इस सूत्रकों कहा जाता तो शन्द सन्दर्भके अधिक विस्तार होने का प्रसंग हो जाना, यह तुन्छ दोष लग बैठता। अर्थात्—" पीतपद्मशुक्ल लेश्या द्वित्रिशेषेषु " इस सूत्रके पहिले या पीछे यदि भवनत्रिक देवों की लेश्याको कहा जाता तो वहा प्रन्थ बढ जाता अथवा इसीको नवीन ढंगसे लेश्याका प्रकरण मानकर यहां पीतपद्मशुक्ल क्रिया दित्रिशेषेषु " सूत्र कदा जाता ते। यहां सौधर्म आदि स्वर्गोका निक्ष्पण करना आवश्यक होता। अतः संक्षेपके लिये सूत्रकारको यो यथादृ पत्थका पूंथना ही समुचित प्रतीत हुआ है, जो कि सर्वीग सुचार है। तिस कारण इन सूत्रका अर्थ इस प्रकार है कि भवनवानी, व्यंतर, ज्योतिषक, इन

तीन निकायों में बिराज रहे देन यथोचित पीतपर्येत यानी कृष्ण, नीठ, कापीत, पीत, ठेश्याबाठे हैं।
यहां प्रकरणमें संक्षेपसे कथन करनेपर तो देवाः इस शब्द हा कथन करना नहीं पढ़ा। क्योंकि पूर्वसूत्रसे
" देवाः " पदकी अनुशत्ति हो जाती है और सूत्रकारको भवनवासी, व्यंतर, आदि निकायोंका भी
कण्ठोक्त निरूपण नहीं करना पढ़ा। क्योंकि तिस है। कारणसे यानी भवनवासी आदि निकायोंकी पूर्व
सूत्रसे ही अनुश्वति होरही है।

कथिम निकायेष्वित्यनुवर्तियतुं शक्यं, तेषामन्यपदार्थे श्वती सामध्यीभावात् । चत्वारश्च ते निकायाश्चतुर्णिकाया इति स्वपदार्थायामपि वृत्ती देवा इति सामानाधिकरण्यानु-पपत्तिरिति चेका, उभयथापि दोषाभावात् । अन्यपदार्थायां वृत्ती ताविककायेष्विति शक्य-मनुवर्तियतुं । त्रिष्विति वचनसामध्यीत् त्रित्वसंख्यायाश्च संख्येयैर्विना संभवाभावादन्येषा-मिहाश्चतत्त्वात् प्रकरणाभावाच त्रिनिकायेरेव तैर्भवितव्यमित्यर्थसामार्थ्याक्षिकायानुवृत्तिः । स्वपदार्थायामपि वृत्ती तत एव तद्वनुवृत्तिः प्रधानत्वाच निकायानां चतुःसंख्याविश्चषणरिक्तितामामनुवृत्तिघटनात् त्रित्वसंख्यया चतुःसंख्याया वाधितत्वात् । देवा इति इति सामानाधि-करण्यं तु निकायनिकायिनां कथंचिदभेदास्र विरुध्यते ।

यहां किसी पण्डितका आक्षेप है कि इस दूसरे सूत्रमें त्रिष्ठ राद्वका सामानाधिकरण्य करनेके छिये '' निकायेषु '' ऐसे सप्तमी बहुवचनान्त पदकी अनुवृत्ति करना आवश्यक है। किन्तु पूर्व सूत्रमें " निकायाः " ऐसा प्रथमा विभक्तिका बहुवचनान्त पद पड़ा हुआ है। और वह भी " चतुर्नि-कायाः " यहां समासवृत्ति द्वारा चतुर शद्धके साथ चुपट रहा है। " पदार्थः पदार्थेनान्वेति नत्वेकदेशेन, एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः " इन नियमोंके अनुसार यहां निकायेषु इस प्रकार सप्तर्मा बहुवचनान्त पदकी भला किस प्रकार अनुवृत्ति की जा सकती है ! क्योंकि उन निकायोंका अन्य पदा-र्थको प्रधान माननेवाली बहुवीहि नामकी वृत्ति होनेपर स्वतंत्र बने रहनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। चत्वारो निकायाः येषां '' यों बहुब्रीहि समास करनेपर " समर्थः पदिविधः " के अनुसार दोनों पदोंकी सामर्थ्य परस्परमें भिड रही मानी गयी है। भाण्डागार (खजाना) में दो अधिपतियोंके तांढे छग चुकनेपर पुनः एक ही अधिपतिको भाण्डागार खोळनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। उसी प्रकार यहां " चतुर्निकायाः " में से निकायाः अथवा " अर्थवशात् विभक्तेर्विपरिणामः " इस न्यायसे त्रिषु पदके समिमव्याहार अनुसार निकायेषु पदकी अनुवृत्ति नहीं की जा सकती है। हां, चार जो वे निकाय यों विष्रह कर बनाये गये चतुर्निकायाः इस शद्धकी स्वपदार्थप्रधाना कर्मधारय समास नामकी पृत्ति मानने-पर यद्यपि स्वतंत्र रूपसे समर्थ हो रहे निकाय शद्भकी अनुवृत्ति की जा सकती है, तो भी '' देवा '' इस पदके साथ सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता है। क्योंकि अनुवृत्त किये गये ''निकायाः'' शहर्क साथ " देवा: " यह पद चळ रहा है। और " पीतान्तकेदया: " पद भी देवपरक है। किन्त

त्रिष् राद्रकी पराधीनतासे विपरिणत हो गया निकायेषु यह पद अपने संसर्गी देवाः इस प्रथमान्त बहुवचनके समानाधिकरणपनको कथमपि रक्षित नहीं रख सकता है। इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तनेपर प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि अन्यपदार्थप्रधान या स्वपदार्थप्रधान दोनों प्रकार वृत्ति करनेपर भी कोई दोष नहीं आता है। देखिये, सबसे पहिले अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली " चार हैं निकाय जिन्होंके " ऐसी बहुबीहि समासबूत्ति करनेपर तो निकायेषु यों सममी बहुबचनान्त पदकी अनुवृत्ति की जा सकती है। क्योंकि त्रिष्ठ इस प्रकार सप्तमी बहुवचनान्त पदके कथनकी वैसी सामर्थ्य है । कारण कि त्रित्व नामकी संख्याका गिनने योग्य संख्येयोंके विना ठहर जाना असम्भव है । निकायोंके अतिरिक्त किन्ही अन्य घट, पट, उदासीन पदार्थीका यहां श्रतज्ञान नहीं किया जा रहा है और उनका प्रकरण भी नहीं है। यहा त्रिष्ठ पदके श्लिप्य दन होने योग्य उन भवनवासी आदि नीन निकायोको ही होना चाहिये। इस प्रकार अर्थकी सामर्थ्यसे सप्तमी बहुवचनान्त बनाकर निकाय शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जा सकती है। तथा दूसरी स्वपदार्थप्रधान कर्मधारय। वृत्तिके करनेपर। भी तिस ही। कारणसे यानी त्रिष्ठका श्रवण होनेसे उस निकायेष्ठ की अनुवृत्ति की जा सकती है और कर्मधारय समासमे चत्र राज्यके समान निकायोकी भी प्रधानता हो जानेसे चत्र संख्या नामके विशेषणसे रहित हो रहे केवल निकायोंकी अनुवृत्ति हो जाना घटित हो जाता है। इस सूत्रमें कण्ठोक्त की गयी त्रित्व संख्या करके निकायाः के पुंच्छला हो रही चतुःसंख्याको बाधा युक्त कर दिया जाता है। अतः चार संख्या निकायेषुका पीछा छोड देती है। रही यह बात कि देवाः इसके साथ निकायेषुका सामाना-धिकरण्य बिगड गया, इसपर हमःरा यह कहना है कि निकाय (समुदाय) और निकायी (समुदायी) इनका क्यंचित अभेद हो जानेसे '' देशाः पीतान्तलेश्याः '' यों सामानाधिकरण्य बन जाना तो विरुद्ध नहीं पडता है। यानी निकाय और निकायियोंकी भेदिनिक्क्षा करनेपर निकायेष देवाः यों भेदसचक सप्तमी विभक्तिको बीचमें लाकर पातान्ते व्याःके साथ अभेद करते हुये वाक्यसन्दर्भ सुघ-दित हो जाता है। कोई आपत्ति होनेका प्रसंग नहीं है।

त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्या इति युक्तमिति चेन्न, इष्टविपर्ययमसंगात् । आदित इति वचने त्वत्र सूत्रगौरवमनिवार्ये । ततो यथान्यासमेवास्तु ।

च्छुता ही को अन्तिमछक्ष्य स्त्रीकार करता हुआ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि "आदितिखिषु पीतान्तलेश्याः " इतना लम्बा सूत्र नहीं बना कर केवल " त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्याः " इतना लोटा सूत्र बनाना ही समुचित है । भवनवासी, न्यंतर, ज्योतिष्क इन तीन निकायवाले देव पीतपर्यंत लेश्याओंको धार रहे हैं । यह अभिग्रेत अर्थ प्राप्त हो ही जायगा । पन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि इष्ट अर्थसे विपर्रात अर्थकी प्राप्त हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा । तीन निकायोंमें भवनवासी, न्यंतर, वेमानिक, या अन्तर, वेमानिक, यो अन्तर, वेमानिक, यो इन तीन

निकायोंके मी पीत पर्यन्त छेश्याका विधान समझा जायगा। जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार इष्टसे विपरीत है। यदि बह पण्डित मों कहे कि आदितः शब्द जोडकर "आदितिक्षंनिकायाः पीतान्तछेश्या" आदिसे छेकर तीननिकाय बाछे देव पीतपर्यन्त चार छेश्याओंको धार रहे हैं, यों सूत्रद्वारा कथन किये जानेपर इष्टसे विपरीत अर्थके प्राप्त होजानेका प्रसंग नहीं आवेगा। आचार्य कहते हैं कि यो कहने पर भी तो यहां सूत्रका छम्बा, चौडा गौरव दोष अनिवार्य ही रहा। तुम्हारे "आदितिक्षानिकायाः पीतान्तछेश्याः " इसकी अपेक्षा तो सूत्रकारके " आदितिक्षेष्ठ पीतान्तछेश्याः " यों सूत्र बनानेमे ही छाघव गुण है, दृष्ट अर्थ भी सुघटित होजाता है। तिस कारण जैसा सूत्रकारने सूत्रका विन्यास किया है वही बहुत अच्छा बना रहो।

किमर्थिमिहादित इति वचनं १ विपर्यासिनिष्टत्यर्थे, अंतेन्यथा वा त्रिष्विति विपर्यासस्यान्यथा निवारियतुमशक्तः । स्रोक्तिबृक्त्यर्थस्तु त्रिष्विति वचनं । चतुर्निष्ट्रत्यर्थे कस्माक भवति १ आदित इति वचनात् चतुर्थस्यादित्वासंभवात् , अंत्यत्वात्पंचमादि निकायानुपदेशात् ।

कोई तटस्थ परुष प्रयत्न करता है कि यहां सूत्रमे आदितः यानी आदिसे प्रारम्भ कर या आदी इति आदितः आदिमे यह तीन अक्षरवाला पद सूत्रकारने किसलिये कहा है १ श्री विचानन्द स्वामी इसका समाधान करते हैं कि विपर्यासकी निवृत्तिके छिये आदितः कहा गया है। अन्तमेंके तीन निकाय अथवा अन्य प्रकारोंने मनुष्य, निर्धेच, देव इन तीनमें या भवनवासी, कल्पवासी, कल्पा-तीत इन तीनमे इत्यादि प्रकारसे प्राप्त हो रहे थिपर्यासकी अन्यथा यानी आदितः इस पदका कथन किये बिना निवृत्ति नहीं की जा सकती है। अतः आदितः पद सार्थक है। आदिसे प्रारम्भ कर तीन निकायोंमें या आदिभूत तीन निकायोंमे पीतपर्यन्त लेश्या है। यह अर्थ सुलब्ध हुआ। तथा इस सत्रमें त्रिए इस प्रकार बचन तो दो निकाय और एक निकायकी निवृत्तिके लिये हैं। अर्थात-आदिकी दो या एक निकायोंमे पीतपर्यन्त छेश्या नहीं, किन्तु आदिकी तीनों निकायोंमें पीतपर्यन्त लेक्या है। यदि यहां कोई यो आक्षेप करें कि संख्येयपरक त्रिशब्द करके नियत तीन निकायोंका कथन करते हुये जैसे दो, एक. इन न्यून संख्याओंकी व्याष्ट्रित कर छी जाती है, उसी प्रकार प्रकरण प्राप्त आधिक हो रही चार संख्याकी निवृत्तिके छिये किस कारणसे त्रिप्र शहकी सफलता नहीं कहीं जाती है ! देखों " पंचेन्द्रियाणि " कह देनेसे एक, दो, तीन, चार, और छ: सात. आठ, आदि इन्द्रियोका पांच पदसे व्यवच्छेद हो जाता है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते है कि आदित: इस प्रकार सूत्रकारने कथन किया है। यदि चारों निकाय ही अभीष्ट होते तो आदितः कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। आदितः कहनेपर चार निकायोंमेंसे कमसे कम ण्क निकायको तो छोडना चाहिये। तभी आदितः कथन सफल होसकता है। चौधे निकायको आहि-पनेका असम्भव है। क्योंकि चौधा वैमानिक निकाय सम्पूर्ण चारों निकायके अन्तमें पढ़ा हुआ है। हां. यदि

पांचवें, इठवें, कोई अन्य निकाय होते तो चौथा भी पांचवे, इठवेंका आदिभूत होसकता था, किन्तु सिद्धान्तमें पांचवें, इन्हें, आदि देव निकायोंका उपदेश नहीं किया गया है। अतः सूत्रकारने जितना कहा है विपर्यसिंकी निवृत्तिको करता हुआ उतना ही सूत्र सर्वीग सुन्दर है।

आधेषु पीतान्तलेक्या इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, विपर्ययमसंगात् । आदौ निकाये भवा आचा देवास्तेषु पीतान्तलेक्या इति विपर्ययो ययान्यासं सुन्नकः परिहर्तु, निःसंदेहार्थे विवं ययनं ।

पुनः रुपुताको ही जीवनप्राण स्वीकार कर रहा पण्डित कह रहा है कि टाघव गुण होनेसे "बार्येख पीतान्तलेक्याः" आदिमें होने वाली निकायोंमें पीतपर्यन्त लेक्या हैं, इतना ही छोटा सूत्र बनाया बाद्य । चौथी निकायका आद्यपदसे प्रहण नहीं होसकनेको आप जैन स्वयं स्वीकार कर चुके हैं। प्रत्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि सिद्धान्तसे विपरीत होरहें अर्थके प्राप्त होजानेका प्रसंग होजायेगा। आदिकी निकायमें होनेवाले देव आदा कहे जायंगे, उन आदि निकायवाले दश प्रकार भवनवासी देवोंमें ही पीतान्तलेक्याका विधान होसकेगा । इस प्रकार विपरीत अर्थकी आपत्ति होगी । हां, जैसा स्वकारने सूत्र रचा है उस ढंगसे विन्यासका अतिक्रमण नहीं किया जाय तो सम्पूर्ण विपर्यासोंके प्रसंगका सुलभतया परिहार किया जासकता है और सबसे अच्छा समाधान यह है कि किसी प्रकारका सूत्रप्रमेयमें सन्देह नहीं रह जाय । स्पष्टरूपसे अभिप्रेत अर्थका निर्णय होजाय । अतः संदेहोंके निरासके लिये "आदितलियु पीतान्तलेक्याः " इस प्रकार सूत्र पढ़ा गया है ।

अय पीतान्तवचनं किमर्थे ? लेक्यावधारणार्थे, कृष्णा नीला कपोता पीता पद्मा शुक्ला लेक्येति पाठे हि पीतांतवचनात् कृष्णादीनां संप्रत्ययो भवतीति, पद्मा शुक्ला च निवर्तिता स्यात्। तेन त्रिष्वादितो निकायेषु देवानां कृष्णा नीला कपोता पीतेति चतस्रो लेक्या भवंतीति।

यहां अब कोई नवीन प्रकरणकी शंका उठाता है कि सूत्रकारने पीतपर्यन्त यह कथन किस लिये किया है! आचार्य समाधान करते हैं कि सम्भव रहीं देश्याओंका नियम करने के लिये पीतान्त पद कहा गया है। "किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्क लेस्साय, लेस्साणं णिइसा छण्चेत्र हवंति णियमेण "(गोम्मटसार जीवकाण्ड) कृष्णा, नीला, कपीता, पीता, पद्मा, शुक्ला ये छह लेश्यायें हैं, इस प्रकार पाठ होनेपर पीतपर्यन्त कथन करनेसे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, इन जातिकी चार लेश्याओंका मले प्रकार सम्वेदन हो जाता है। पद्मा और शुक्ला लेश्याकी निवृत्ति कर दी जावेगी। अर्थात्—" सम्भवन्यभिचाराम्यां स्यादिशेषणमर्थवत्, स्वपरात्भोपादानापोहनन्यवस्थापाणं हि वस्तुनो वस्तुनं, स्वचतुष्टयापेक्षयान्तिन्तं और परचतुष्टयापेक्षया नात्तिन्तं ये दो स्वमाव की वस्तुको मृत्युसे या सांकरीस बचाकर स्वांशोमें सर्वदा जीवित बनाये रखते हैं स्वपक्षमण्डन, परपक्षखण्डन जैसे वादी, प्रतिवादी, करते हैं, उसी प्रकार इस युद्धको सम्पूर्ण वस्तुचें या वस्तुके अखिल अंश भी ठाने रहते

हैं। अन्यथा एक समय भी परचकते स्व को रक्षित रखना असन्भव ही समझो। तिस कारण आदिम तीन निकायोंमें देवोंके कृष्ण, नील, कापोत और पीत इस प्रकार चार केश्यायें होती हैं, यों सूत्रका अर्थ सुसंगठित हो जाता है।

अन्यया कस्माच भवंति तेषु देवा इत्युच्यते ।

सूत्रोक्त अर्थमें युक्तियोंकी अमिळाषा करता हुआ कोई संशयालु पण्डित प्रश्न करता है कि उन निकायोंमें देव अन्य प्रकारों करके किस कारणसे नहीं होते हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिमवार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं ।

त्रिष्वाद्येषु निकायेषु देवाः सूत्रेण सूचिताः । संति पीतांतलेश्यास्ते नान्यथा बाधितत्वतः ॥ १ ॥

आदिमे होनेवाली भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें समुदित हो रहे देव तो पीतपर्यन्त लेक्याओंको धार रहे विद्यमान हैं। इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा तत्त्वसूचन किया गया है। वे भवनत्रिक देव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्कके अतिरिक्त अन्य प्रकारोंसे व्यवश्थित नहीं है। तथा पीतान्त लेक्याधारीपनके सिवाय अन्य प्रकार पद्मशुक्ल लेक्यावाले भी नहीं है। क्योंकि यो अन्य प्रकारोंसे भवनत्रिक देवोंकी व्यवस्था माननेपर बाधां प्राप्त हो जावेगी निर्वाध सिद्धान्त सूत्र अनुसार ही है।

न ताबहेवाः सूत्रोक्ताः संतोन्यया भवंति, सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वात्सुखादिवत् । नापि त्रिषु निकायेषु पीतांतल्लेक्याः सूत्रेणोक्तास्तदन्यया पश्चलेक्याः शुक्ललेक्याः वा भवंति, तत एव तद्वत् ।

स्त्रमें कहे जा चुके ढंग अनुसार प्रवर्त रहे संते तीन निकायके देव तो अन्य प्रकारोंसे नहीं सम्भव रहे हैं (प्रतिज्ञा) बाधक प्रमाणोंके नहीं संभवनेका बहुत अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु) अपने अपने अनुभूत किये जा रहे सुख, वेदना, शल्य, आदिके समान (अन्वयद्यान्त) इस अनुमान करके देवोंकी आगम द्वारा श्रूयमाण हो रही सूत्रोक्त व्यवस्थाको साध दिया गया है तथा तीन निकायोंमें पीतपर्यंत लेखावाले देव जो इस सूत्रकरके कहे गये हैं। वे अन्य प्रकारोंसे पद्मल्याले अथवा श्रुक्ललेक्यावाले देव जो इस सूत्रकरके कहे गये हैं। वे अन्य प्रकारोंसे पद्मलक्यावाले अथवा श्रुक्ललेक्यावाले भी नहीं सम्भवते हैं (प्रतिज्ञा)। तिस ही कारणसे यानी बाधक प्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु)। उसीके समान यानी अपनेसे अतिरिक्त प्राणियोंको अतीदिय हो रहे किन्तु निजको स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष द्वारा परिगृहीत हो रहे अपने सुख, दु:ख, शोक, संतोष, भय, आदिके समान (अन्वयद्यान्त)। इस प्रकार दो अनुमानोंकरके स्त्रोक्त उद्देश्यदल और विधेयदल दोनोंके प्रमेयको श्री विश्वानन्द आचार्यने अवधारणका ताला लगाते हुये सिद्ध कह

दिया है। उक्षणके अतिज्याप्ति, अन्याप्ति और असम्भव दोषों तथा हेतुके न्यभिचार, विरुद्ध, आदि दोषोंसे रहित हो रहा इस सूत्रका प्रमेय निष्कर्लक है।

अब उन चारों निकायोंके अन्तरंगमें प्राप्त हो रहे विकल्पोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

दशाष्ट्रपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

दश, आठ, पांच, बारह ये विकल्प इन भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक देवोंके हैं। किन्तु वैमानिकोंमें कल्पातीत देवोंको नहीं पकड कर षोडश स्वर्गवासी कल्पोपपन्न देवोंतक ही उक्त व्यवस्था समझ छेनी चाहिये।

देवाश्रतुर्णिकाया इत्यनुवर्तमानेनाभिसंबंधोस्य चतुर्णो निकायानामंतर्विकल्पमतिपादनार्थ-त्वात् न पुनरादितिह्याध्वत्यादीनां पीतांतल्रेक्यानां कल्पोपपन्नपर्यतत्वाभावात् । तेन चतुर्णो देवनिकायानां दशादिभिः संख्याश्रब्दैर्यथासंख्यमभिसंबंधो विज्ञायते, तेन भवनवासिव्यंतर्प्यातिष्कवैमानिका दशाष्ट्रपंचद्वादश्विकल्पा इति । वैमानिकानां द्वादश्विकल्पांतःपातित्वे मसक्ते तद्यपादनार्थे कल्पोपपन्मपर्यतवचनं, ग्रैवेयकादीनां द्वादश्विकल्पवैमानिकबिर्धानम्तितेः। एतदेवाभिधीयते ।

देव चार निकायवाछे हैं, इस प्रकार अनुवृत्त किये जा रहे प्रथम सूत्रके साथ इस तृतीयसूत्रका चारों ओरसे सम्बन्ध हो रहा है। क्योंकि प्रन्थकारको चारों निकायोंके अन्तरंग हो रहे भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करा देना प्रयोजन अभीष्ट हो रहा है। किन्तु फिर इस तृतीयसूत्रका द्वितीय सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं हैं। क्योंकि आदिसे छेकर तीन निकायों में इत्यादि द्वितीय सूत्रवाक्यकरके कहे गये पातप्र्यन्त छेश्यावाछे भवनत्रिक देवोंके कल्पोपपत्र पर्यन्तपनका अभाव है। चारों निकायके देव तो कल्पोपपत्रपर्यन्त कहे जा सकते हैं। तीन निकायके नहीं। तिस करके चारों देवनिकायोंका संख्यावाची दश, आठ, आदि संख्यावाचक शद्धोंके साथ यथासंख्य ठीक सम्बन्ध हो जाना जान छिया जाता है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ यों सुघटित हो जाता है कि भवनवासी देव दश प्रकारके हैं। व्यन्तरनिकायके देव आठ प्रकारके हैं। ज्योतिष्क देव पांच विकल्पोंको धार रहे हैं। और वैमानिक देवोंके अन्तरंग भेद बारह हैं। यहां सूत्रका उत्तरार्ध नहीं करनेपर सम्पूर्ण कल्पोपपत्र और कल्पातीत वैमानिकोंका बारह भेदोंके भीतर ही अन्तः प्रविद्य हो जानेका प्रसंग प्राप्त हो जाता। उस अनिष्ठपंगका निराकरण करनेके छिये सूत्रकार कल्पोपपत्र पर्यन्त ऐसा वचन सूत्रके साथ छगाये देते हैं। क्योंकि प्रैनेयक आदि विमानवासी कल्पातीत देवोंका बारह भेदवाछे कल्पोपपन्न वैमानिक

देवोंसे पृथग्भाव प्रतीत हो रहा है। इस ही सिद्धान्तको श्रीविद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्त्तिक द्वारा युक्तिपूर्वक कहे देते हैं।

चतुर्ष्विप निकायेषु ते दशादिविकल्पकाः। कल्पोपपन्नपर्यता इति सुत्रे नियामतः॥ १॥

चारों भी निकायोंमें वर्त रहे वे देव (पक्ष) दश, आठ, आदि विकल्पोंको धार रहे हैं। (साध्य) क्योंकि सूत्रमें ही कल्पोपपन्नपर्यन्त इस प्रकार नियम कर दिया गया है (हेतु)। सर्वत्र असंभवद्वाधकत्वाद इस मुक्ति करके आगमोक्त सिद्धान्तोंका निर्णय हो जाता है।

चतुर्निकाया देवा दशादिविकल्पा इत्यभिसंबंधे हि वैमानिकानां द्वादश्विकल्पांतः-पातित्वमसक्ती कल्पोपपमपर्यता इति वचनाभियमो युज्यते, नान्यथा । इन्द्रादयो दशमकारा एतेषु कल्प्यंत इति कल्पाः सौधमीदयो रूदिवश्वाम भवनवासिनः । कल्पेषूपपन्नाः कल्पो-पपनाः साधनं कृता बहुल्लिति श्वतिः मयूरव्यंसकादित्वाद्वा, कल्पोपपनाः पर्यते येषां ते कल्पोपपन्नपर्यन्ताः माग्रैवेयकादिभ्य इति यावत् ।

पहिले सूत्र और तीसरे सूत्रका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर जब कि चार निकायवाले देव दश आदि भेदोंको धार रहे है, यह अर्थ बन बैठता है तो कल्पवासी और अहमिन्द्र इन सम्पूर्ण वैमा-निक देवोंको बारह भेदों के भीतर ही प्रविष्ट होनेका प्रसंग आया । ऐसी दशामें सूत्रकारको एक ही अवलम्बनीय उपाय हो रहे " कल्पोपन्नपर्यन्त " इत कथनते मर्यादाकी नियति कर देना यक्त पडता है। अन्य किन्हीं भी पातालफोड उपायोंने उस अनिष्ठपसंगका निवारण नहीं हो सकता है । इन्द्र, सामानिक, आदिक दश प्रकार इन देवोंमें वस्तुभूत कल्पित किये जा रहे हैं। इस कारण ये देव या सौबर्ग आदिक सोलह स्वर्ग कल्प कहे जाते हैं। यद्यपि भवनवासी, ब्यंतर, और ज्योतिष्क देवोंके स्थानोंमें भी इन्द्र, सामानिक, आदि यथासम्भव दश या आठ प्रकार वस्तुभूत कल्पे जारहे हैं । तथापि रूढिके वशसे सौधर्म आदि सोलह स्वर्ग ही करूप हैं। भवनवासी आदिकोंके स्थान करूप नहीं हैं। रूढि शब्दोंमें धार्व्य स्वरूप कियाका घटित करना केवल व्यत्पत्तिके लिये ही शोभता है, अर्थोशमें नहीं । उससे अन्याप्ति, अति-ब्याति, असम्भव दोषोंका परिहार नहीं होपाता है और करना भी नहीं चाहिये। "कल्पोपपन्ना" इस शन्दमें सप्तमी तत्पुरुष समास तो कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उपज चुके यों कर छेना चाहिये। " साधनं कृता बहुछं '' इस सूत्रसे यहां तत्पुरुषद्वात्त होजाती है। यद्यपि '' नखैर्भिनः नखभिनः स्वेन कृतं स्वकृतं '' इत्यादि स्थलें पर साधनवाची शब्दका कृत् प्रत्ययान्त पदके साथ उक्त सूत्र करके समास होपाता है। फिर भी बहुछं शब्दकी सामर्थ्यते अधिकरणवाचक ससम्यन्त पदका भी कदन्त

शब्दके साथ सम्भव जाता है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण अनुसार "कर्तृकरणे कृता बहुलं " इस सूत्रोक्त बहुल शब्दको सर्वोपाधिव्यभिचारार्थ नियत किया है। फिर भी "कचित् प्रवृत्तिः कचिदप्रवृत्तिः कचिद्विमाषा कचिदन्यदेव । विधेविधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुल कं वदन्ति " बहुल शब्दके इस व्यापक अर्थका लक्ष्य कर " साधनं कृता बहुलं " इस सूत्र अनुकृल यहां वृत्ति कर लेनी चाहिये । अथवा इसमें कुल अस्वरस होय तो " मयूरव्यंसकादयः " इस सूत्र अनुसार मयुरव्यंसक, आदि गणभें प्रविष्ट होनेसे " कल्पोपनाः यहां तत्पुरुष वृत्ति कर लेना । जिन देत्रोंके पर्यन्तमें कल्पोपपन देव हैं, वे देव कल्पोपपन पर्यन्त हैं यह बहुबीहि वृत्ति कर दी जाती है । प्रैवेयक आदिसे पहिले पहिलेके देव दश, आठ, पांच, बारह भेदवाले हैं, यह सूत्रका फिलतार्थ हुआ ।

अब स्वामीजी सूत्रकार पुनरिप उन निकायोंके विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके छिये अगरे सूत्रको रचते हैं।

इंद्रसामानिकत्रायश्चिशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्याकिल्बिषिकाश्चेकशः ॥ ४ ॥

१ परम ऐक्कर्यशाली और स्वकीय मण्डलका सर्वाधिकारी प्रमुहन्द्र है २ इन्द्रके समान परिवार, आयु आदिको धारनेवाले सामानिक देव हैं ३ मंत्री, पुरोहित आदि तेतीस देवोका मण्डल त्रायिक्षंश है ४ सभामें बैठने वाले पारिषद हैं ५ इन्द्रकी मानूं रक्षा करनेके लिये नियुक्त होरहे, इद चिष्टावाले और परचक्रको मारनेके लिये ही मानूं उद्यत होरहे तथा इंद्रके पीछे खडे रहनेवाले ऐसे देव आत्मरक्ष हैं ६ स्वकीय अधिकृत लोकप्रान्तको पाल रहे गवर्नर, कमिश्नर, कल्क्टर, कौतवाल, आदि सारिखे देव लोकपाल हैं ७ सेनामें नियुक्त हो रहे देव अनीक हैं ८ पुरनिवासी या देशिनवासी जनोंके समान प्रकीर्णक देवोंका मण्डल है ९ वाहन, यान, सेवकत्व आदि क्रिया करनेमें आज्ञा अनुसार श्रादित अभिमुख होनेवाले दाससमान देव आभियोग्य हैं १० मंगी, चाण्डाल, कसाई, आदिके समान पापबहुलदेवोंको किल्विषिक कहते हैं। यो एक एक निकायके ये इन्द्र आदिक दश विकल्प हैं।

अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणपरमैश्वर्ययोगादिंदंतीतींद्राः ।

इन दशोंका विशेष अर्थ इस प्रकार है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली असाधारण हो रहे अणिमा, गरिमा, प्रभुता आदि गुणस्वरूप परम ईस्वरताके योगसे जो प्रभावशाली होकर स्व निकायमें सर्वोपिर विशाज रहे हैं, इस कारण वे इन्द्र देव कहे जाते हैं। देवोंमें भवनवासीके चालीस ४० व्यन्तरोंके बसीस ३२ कल्पवासियोंके चौबीस २४, ज्योतिषियोंमें सूर्य चन्द्र यों दो इस प्रकार. ९८ इन्द्र या प्रतीन्द्र गिनाये गये हैं । किन्तु तीन निकायोंमें व्यक्तिमेदसे गिनती करनेपर ज्योतिष्क निकायमें असंख्याते इन्द्र और असंख्याते प्रतीन्द्र समझ छेने चाहिये । क्योंकि इस मध्यछोकमें असंख्याते चन्द्रमा और असंख्याते सूर्य है । चन्द्र विमानोंमें निवास कर रहे प्रधान देव इन्द्र हैं और सूर्यविमानोंके प्रधान अधिकारी देव प्रतीन्द्र हैं । सामानिक देवोंमेंसे प्रधान देव प्रतीन्द्र होता है । समापति, उपसभापति या मंत्री, उपमंत्री, अथवा कलक्टर, डिप्टी कलक्टर, एवं तहसीखदार, नायव तहसीखदारके समान इन्द्र और प्रतीन्द्रका जोडा सुशोभित है ।

आह्नैश्वर्यवर्जितमायुर्वीर्थपरिवारभागोपभागादिस्थानिमद्दैः समानं तत्र भवाः सामानिका इन्द्रस्थानाईत्वात् , समानस्य तदादेश्वेति ठक् । महत्तरपितृगुरूपाध्यायतुल्याः ।

सम्पूर्ण अधिकृतोंके ऊपर आज्ञाप्रचार और उन सबके ऊपर ईश्वरता इन दो शक्तियोंको छोडकर शेष आयु, वीर्य, परिवार, मोगोपमोग, स्थान आदि व्यवस्थायें जिन देवोंकी इन्होंके समान है उन देवोंके मण्डलके समान कहते हैं। उस समान नामक पिण्डमें होनेवाले देव सामानिक हैं। क्योंकि समय पड़नेपर ये देव इन्द्रका स्थान प्राप्त करनेके लिये योग्य हैं, जैसे कि समापितकी अनुपस्थितिमें उपसभापित उस सभापित स्थानके योग्य समझा जाता है। समान शन्दसे "समानस्य तदादेश्व" इस तदित सम्बन्धी सूत्र करके ठक् प्रत्यय हो जाता है। ये सामानिक देवकुलमें सबसे बड़े महत्तर या इन्द्रके माता, पिता गुरु, उपाध्याय, चाचा, ताऊ, आदिके सहश हो रहे प्रतिष्ठित स्थानोंपर नियत होकर आदरणीय हैं। अर्थात्—जैसे आधुनिक, अत्रत्य, राजाओंके पिता, गुरु, पाठक, आदि पूज्यपुरुषोंका सद्भाव विशेष हर्षोत्पादक है तथेव इन्द्रका भी परिकर विद्यमान है। आवश्यक परिकरके विना सासारिक सुख फीका रहता है। पुण्यके ठाठ तारतम्यको लिये हुये सर्वत्र एकसे हैं।

त्रयस्तिश्चित जाताः त्रायस्तिशाः " दृष्टे नाम्नि च जाते च अण्डिद्वा विधीयत " इत्य-भिधानमस्तीति अण्डिद्विधीयते, कथं वृत्तिर्भेदाभावात् । मंत्रिपुरोहितस्थानीया हि ये त्रय-स्तिशहेवास्त एव त्रायस्तिशा न तत्र जाताः केचिदन्ये संतीति दुरुपपादावृत्तिः । नैतत्सारं, संख्यासंख्येयभेदविवक्षायामाधाराधेयभेदोपपत्तेः, त्रयस्तिशत्संख्या तदाधारः संख्येयास्तु यथोक्तास्तदाधेया इति सूपपादा वृत्तिः । अथवा त्रयस्तिश्वहेवा एव त्रायस्तिशाः स्वार्थिकोपि इत " इति बहुत्वनिर्देशात् अंतिमादिवत् ।

तेतीस नामक मण्डलीमें सद्भूत हुये देव त्रायिक्षिश कहे जाते हैं " तत्र जातः " इस सूत्रद्वारा त्रयित्रशत् शन्दसे अण् प्रस्यय कर लिया जाता है। इष्ट अर्थमें और नाम अर्थमें तथा जात अर्थमें किया गया अण् प्रत्यय विकल्प करके डित् कर दिया जाता है, इस प्रकार शन्दशास्त्रका अभिधान है। इस कारण यह अण् प्रत्यय दित् किया गया " डिल्वाहि लोपः " डित् होनेसे अत् इतनी टि का

छोप होकर बद्धि करते हुये त्रायस्त्रिश शब्द बना छिया जाता है। यहां कोई आक्षेप करता है कि सुने जातः स्रोधः यहां सप्तम्यन्त आधारभूत सुद्ध (आगरा नगर) से उसमें उत्पन हुये देवदत्त आधेयका भेद है। अतः तद्वितवृत्ति सुलभतया होजाती है। किन्तु तेतीसमें उत्पन्न हुये त्रायिक्तंश देव यहां आधार और आधेयमें कोई भेद नहीं दीख रहा है। मंत्री, परोहित, वाइसराय, वजीर, प्रधान, न्यायाधीश. आदि प्रतिष्ठित स्थानों (पदों) पर त्रिराज रहे जो ही देव त्रयत्रिंशत हैं. वे ही त्राय-क्षिश हैं। कोई उन त्रयक्षिशत्में उपजे हुये न्यारे देव नहीं हैं। इस कारण भेद नहीं होनेसे यहां अण प्रत्यय विधायक तद्वितवृत्ति कठिनतासे भी नहीं वन सकती है। प्रन्थकार कहते हैं कि इस आक्षेपेंम कोई सार नहीं है। क्योंकि संख्या नामक भाव और संख्या करने योग्य भाववान् पदार्थीके भेदको विवक्षा करने पर यहां आधारआधेयभाव बन जाता है। तेतीस नामकी संख्या उन देवोंका आधार है और यथायोग्य कहे गये अनुसार गणना किये गये देव तो उस संख्याके आवेय हैं । इस प्रकार तद्वित वृत्तिका बनना बद्धत अच्छा घटित होजाता है । अर्थात् —नैयायिकोंके यहां निष्ठत्व, वृत्तित्व या समवेतत्व सम्बन्धसे जैसे गुणमें गुणी ठहर जाता है, उसी प्रकार गुण, गुणीम कथांचित् अभेदको माननेवाले जैनोंके यहां तो अतीव सुन्दरतासे संख्यामे संख्येय ठहर जाता है। नैयायिक तो समवेतत्व आदि ब्रस्यानियामक सम्बन्धों करके आवेयोंमें आवारोंको धरते हैं । किन्त स्याद्वादियोंके यहा डोरॉमें वस्त्र या वस्त्रमें डोरे और शरीरमे हाथ पांव या हाथ पांवोंमें शरीर इस ढंगसे संख्यामें संख्येयका निवास करना वृत्तिनियामक कथांचित तादाल्य सम्बन्धमे नियत होरहा है। अथवा कुछ अरुचि रही होय तो संतोषकारी उपाय यह है कि तेतीस देव ही त्रायिक्षंश हैं। इस प्रकार केवळ निजयकातिके अर्थको ही कहनेवाला स्वाधिक अणु प्रत्यय भी यहां किया जासकता है। जात अर्थमें होनेवाला अणु प्रत्यय स्वार्थमें भी होजाता है । क्योंकि " इत " ऐसा एकवचन नहीं कर इतः (तद्धिताः) यो बहुवच-नान्त अधिकार सत्रका कथन किया है। यह बहुबचन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि स्वार्थमें भी तदित प्रत्यय होरहे हैं । जैसे कि अन्ते भन्नः अन्त्यः । अन्त्य एव अन्तिम, यहां स्त्रार्थमें डिमच प्रत्यय होकर अन्तिम शब्द बना है। मेषजभेव भैषजं, शीलभेव शैली इत्यादिक पदोंमें स्वार्थिक प्रत्येय हुये हैं। इन्होंके समान यहां त्रायिक्षंश शब्दमें अण् प्रत्यय स्त्रार्थको ही कह रहा है, जात अर्थको नहीं।

परिषद्दस्यमाणा तत्र जाता भवा वा पारिषदाः परिषत्तद्वतां कथंचिद्धेदात्ते च वयस्य-पीठमर्दत्वल्याः । आत्मानं रक्षंतीतीत्यात्मरक्षास्ते त्रिरोरक्षोपमाः ।

सुधर्मा सभा या बाह्य परिषद, मध्यपिषद, अभ्यन्तर परिषद, इस ढंगसे सभा या सभायें विद्यानी जावेंगी, उस (उन) सभामें सभ्य होकर उपज रहे अथवा सभाओंमें सद्भावको धार रहे देव पारिषद हैं। अर्थात्—यद्यपि वस्तुतः विचारा जाय तो सभा कोई जड पदार्थ नहीं है। अनेक जीवोंके समुदायको सभा कहते हैं। नथापि सभा और उस सभावाछे देवोंका समुदाय समुदायीकी अपेक्षा कथंचित भेद होजानेसे जात अर्थ या भव अर्थमें परिषद् शब्देस अण् प्रत्यय कर दिया गया है।

अनितम उपाय स्वार्थिक अण् प्रक्रयका समझ छिया जाय। ये सभामें बैठनेवाछे देव उस इन्द्रके सम-वयस्क मित्र (हम उमर) या पीठमर्द यानी सन्धिको करनेवाछे संधानकारीपुरुष आदि सारिखं देव हैं, तथा आत्माकी (इन्द्रकी) रक्षा करते हैं, इस कारण वे देव आत्मरक्ष हैं । जैसे कि वर्तमानमें राजा महाराजाओं के शरीररक्षक या मस्तक (बौडी गार्ड) होते है उन्हों के समान ये हैं । यथपि इन्द्रोंका कोई शत्रु नहीं है, उनकी आयु मध्यमें छिन्न भी नहीं होसकती है। तीन पुण्य होनेसे उनपर कोई अकस्मात आक्रमण भी नहीं करता है। फिर भी विभूतियों या ऋदियोंकी विशेषतया जो स्थापना होरही है, उस वस्तुस्थितिका निरूपण कर देना ही आचार्य महाराजका छक्ष्य है। इन सब परिकारों होनेसे प्रमुके प्रकर्ष रूपसे सदा प्रीति उपजती रहती है। आत्मगौरव झळक्षळाता रहता है। एक धनपित (सेठ) या महीपित (रईस) के बीस, पचास आदि सवारियां रहती हैं। यथि उन सबका उपयोग नहीं होता है। किसी किसीका तो जन्मपर्यन्त भी उपभोग नहीं हो सका है। फिर भी सांसारिक सुखोंकी उत्पादक विशिष्ट पुण्यानुसारिणी सामग्री जो प्राप्त हुई है, वह टाळी भी तो नहीं जा सकती है। अतः शिरोरक्षकोंके समान वे आत्मरक्ष देव इन्द्रके पछि खडे रहनेवाछे, कड़ प्रवृत्तिक, शक्षाक्षपरिवृत, शोभ रहे है।

लोकं पालयंतीति लोकपालास्ते चारक्षकार्थचरसमाः । अनीकानीवानीकानि तानि दंडस्थानीयानि गंधर्वानीकादीनि सप्त । प्रकीर्णा एव प्रकीर्णकाः ते पौरजानपदकल्पाः ।

प्रजा समुदाय स्वरूप छोकको पाछते रहते हैं, इस कारण वे देव छोकपाछ कहे जाते हैं, अर्थचर या आरक्षक कर्मचारी जैसे आधुनिक राजाओंके होते हैं, उसी प्रकार इन्होंके यहां भी ये ठाठ लग रहे हैं। अर्थात्—गांव आदिमे नियुक्त हो रहे आरक्षिक सिपाहियोको तछवर कहते हैं। राजाओंके करमाग (तहसीछ) को गृहीत (वस्छ) करनेवाछे कार्यमें नियोगी हो रहे अन्यक्षोंको अर्थचर कहते हैं, जो कि तहसीछदार, खजानची, कछन्टर, किमश्तर आदि हैं। नगरके प्रबंध या रक्षामें नियुक्त हो रहा कोतवाछ है। दुर्ग, किछा आदिकी रक्षा करनेवाछे महातछवर इत्यादिक अधिकारी छोकपाछ माने गये दें। प्रान्तोंके रक्षक चीफ किमश्तर, छेक्टीनेण्ट गवर्नर भी इन हीं छोकपाछोंमें गणनीय हैं। यद्यपि स्वर्गोंमें तहसीछ प्राप्त करनेकी या गढकी रक्षा करने आदिकी आवश्यकता नहीं है। किर भी प्रकृष्ट हर्षकी उत्पादक सामग्री विद्यमान है। तथा सेनाके समान अनीक जातिके वे देव अनीक कहे जाते हैं। प्रजारक्षणमें विन्न डाछनेवाछ परचक्रको दण्डनीति अनुसार दण्डन्यवस्था कर देनेवाछम विभाग दण्ड है। ऐसे सेनाके स्थानपर नियुक्त हो रहे गंधर्यानीक १ हस्त्यनीक २ अञ्चानीक ३ रथानीक ४ पदात्यनीक ५ हषमानीक ६ नर्तकी अनीक ७ इन सात प्रकारकी सेनाओंसे उपछ-ित सात जातिके अनीक देव हैं। जैसे यहां राजप्रासादोंके इथर उधर निकटवर्ती प्रदेशोंभें नगर निवासी नागरिक अथवा देशनिवासी या प्रान्तिनवासी महोदय सक्चन विराजते है, उन पौर या

जानपद, महाशयोंके सदश इतस्ततः फैल रहे ही वे प्रकीर्णक जातिके देव हैं। जो कि महाराजाके समान इन्द्रके नागरिक या राष्ट्रीय जनोंके तुल्य ये देव भी बिशिष्ट हर्षके उत्पादक हैं।

वाहनादियावेनाभिग्रुक्येन योगोभियोगस्तत्र भवा सभियोग्यास्त एव आमियोग्याः इति स्वार्थिकः यण् चातुर्वर्ण्यादिवत्, अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः अभियोगमई-तीति वा आभियोग्यास्ते च दाससमानाः । किल्विषं पापं तदेषामस्तीति किल्विषिकाः तेंत्य-वासिस्थानीयाः । एकैकस्य निकायस्यैकञ्च इति वीप्सार्थे शस् ।

सवारी छ जाना, छे आना, ऐसे वाहन, या दास्य कर्म आदि परिणतिरूपेस अभिमुखपने करके जो योग यानी किटबद्धपना है, वह अभियोग कहा जाता है। उस अभियोगमें विद्यमान हो रहे देव अभियोग्य हैं और वे ही देव आभियोग्य कहे जाते हैं। मत्र अर्थमें अभियोग्य शब्द बनाकर पुनः स्वार्थिक यण प्रत्यय किया गया है, जैसे कि चतुर्वणी एव चातुर्वण्ये, चतुराश्रमा एव चातुराश्रम्यं, त्रिलोका एव त्रैलोक्यं, त्रिकाला एव त्रैकाल्यं, आदिक पदोंमें स्वार्थिक यण प्रत्यय किया गया है। अथवा अभियोग साधवः आभियोग्याः यों "तत्र साधुः" इस सूत्र द्वारा यण प्रत्यय किया गया सकता है और अभियोगको करनेके लिये जो समर्थ हो रहे हैं, वे अभियोग्य हैं, इस अर्थमें भी आभियोग्य शब्दको बना लिया जाता है, चाकर, दासों (खिदमंदगार) के समान ये देव हैं। किल्विष यानी पाप जिन देवोंके विशेषतया विद्यमान है, इस कारण वे देव किल्विषिक हैं। प्राप्त या नगरके अन्तिमभागमें वस रहे चाण्डाल, श्रयच, भंगी, चर्मकार आदि निकृष्ट मनुष्योंके स्थानापत्र हो रहे ये देव हैं। यद्यपि यहांके चाण्डालोंके नीचगोत्रका उदय है और देवोंमें सबके उद्यगोत्रका ही उदय है। फिर भी कोई लौकिक विभूतिका परिकर रिक्त नहीं हो जाय, इसलिये यथायोग्य जितना सम्भव हो सके उत्तना उपमान उपनेयभाव घटित कर लेना चािये। एकशः यहा एक एक निकायके यों अर्थ कर वीप्ता अर्थमें शस् प्रस्थय किया गया है। यानी एक एक देव निकायके ये इन्द्र आदिक दश दश मेद पाये जाते हैं।

कुतः पुनरंकैकस्य निकायस्येदादये दशविकल्पाः मतीयंत इत्यावेदयति ।

तर्कामिलाषी कोई जिज्ञासु पूंछता है कि फिर यह बताओ कि एक एक निकायके ये इन्द्र, सामानिक, आदिक दश मेद भला किस प्रमाणसे निर्णात किये जा सकते हैं ? इन प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिक द्वारा समाधानकोटिका निवेदन करे देते हैं।

> इन्द्रादयो दशैतेषामेकशः प्रतिसूत्रिताः । एण्यकर्मविशेषाणां तद्धेतूनां तथा स्थितेः ॥ १ ॥

एक एक निकायके प्रति इनके इन्द्र आदिंक दश मेद श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र द्वारा ठीक निरूपण किये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन इन्द्र, सामानिक आदिके हेतु हो रहे निशेष विशेष पुण्यकर्मोंकी तिस प्रकार व्यवस्था हो रही है (हेतु)।

यथैव हि देवगतिनामपुण्यकर्मसामान्यादेवास्तद्विशंषभवनवासिनामादिपुण्योदयाच भवनवास्यादयस्तथैवेंद्रादिनःमपुण्यकर्मविशेषण इंद्रादयोपि संभाव्यंते, तेषां तद्धेतृनां युक्त्याग-माभ्यां व्यवस्थितेवीधकाभावात् ।

जिस ही प्रकार गित नामकर्म की उत्तर प्रकृति हो रही सामान्य देवगित नामक पुण्यकर्मके उदयसे उक्त चारों निकायके जीव देव हो रहे हैं और उस देवगितके भी उत्तरोत्तर भेद हो रहीं भवनवासी, व्यंतर या असुरकुमार, किन्नर आदि विशेष पुण्यप्रकृतियोंका रमोदय हो जानेसे भवनवासी व्यंतर, असुर, किन्नर, आदि देव हो जाते हैं उसी प्रकार देवगितके भेद, प्रभेद, हो रहे इन्द्र, सामानिक, आदिक नामकर्म और अन्य ग्रुपनाम, सातावेदनीय, श्रुभगोत्र इन पुण्यक्रम विशेषोंके उदयसे इन्द्र आदिक भेद भी हो रहे सम्भव जाते हैं, मिन्न मिन्न कारणोंसे मिन्न मिन्न कार्योंकी उत्पत्ति हो जानेका नियम है। उन इन्द्र आदिकांके सृष्टा हेतु हो रहे उन पौद्रलिक कर्म विशेषोंकी युक्ति प्रमाण और आगमप्रमाण करके सुव्यवस्था हो रही है। कीई वाधक प्रमाण नहीं है। अतः मनुष्यों या पशुओंकी मिन्न मिन्न सूरतें, मूरतें, सुख, दु:ख, बुद्धि, वैभव, आदिके समान देवोंके इन्द्र अहमिन्द्र आदि भेद भी पौद्रलिक कर्मविशेषोंकी अनुसार सुघटित हो जाते हैं। "असंमबद्धाधकत्वादस्तुसिद्धिः"।

यों तो इन्द्र आदिक दशों भेद चारों भी निकायोंमें उत्सर्गिविधिद्वारा प्रसंग प्राप्त हुये। तिस कारण अपवाद करनेके लिये विशेषसूत्रको श्री उमास्वामी महाराज कहते हैं।

त्रायस्त्रिशलोकपालवर्ज्यां व्यंतरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

न्यन्तर और उयोतिषक निकायसम्बन्धी देव त्रायसिंश और छोकपाछ जातिके देवोंसे रहित हैं।

इन्द्रादिदशविकल्पानामुत्सर्गतोऽभिहितानां चतुर्षु निकायेष्वविशेषेण प्रसक्तौ तद्र्थमिदमुच्यते।

सामान्यरूपकरके उत्सर्गविधिसे कहे जा चुके इन्द्र, सामानिक, आदि दश मेदोंका जब चारों निकायोंमें विशेषरिहत होकरके प्रसंग प्राप्त हुआ तो उस कुछ अनिष्ठप्रसंगके निवारणार्थ श्री उमास्वामी महाराज इस अपवाद सूत्रको तग्वानते है। अपवाद नियमोंको ढालकर अतिरिक्त स्थानोपर अनपोदित उत्सर्गविधियां प्रवर्तती हैं " अपवादा उत्सर्गविधि बाधन्ते "

कुतः पुनर्न्यतरा ज्योतिष्काः त्रायस्त्रित्रैर्लोकपालेश्च वर्ण्या येन तेष्टविकस्या एव स्युरि-त्यारेकायामिदमार । कोई यहां शंका करता है कि क्या कारण है ? जिससे फिर व्यन्तर और ज्योतिष्क निकाय-बाछे देव विचारे त्रायिक्षश और छोकपाल करके वर्जित हो रहे हैं, जिससे कि वे व्यन्तर या ज्योतिष्क देव इन इन्द्र, सामानिक, पारिषद, आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्बिषिक, आठ विकल्पवाले ही समझे जांय, इस प्रकार आशंका होनेपैर श्री विचानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा इस वक्ष्यमाण समाधानको कहते हैं।

तत्रापि व्यंतरा वर्ज्या ज्योतिष्काश्चोपवर्णिताः । त्रायस्त्रिरोस्तथा लोकपालैस्तद्वेत्वसंभवात् ॥ १ ॥

उन चारों निकायोंमें भी व्यंतर और ज्योतिष्क ये दो निकाय तिस प्रकार तेतीस देव और छोकपाछ देवों करके रीते हो रहे आगम द्वारा कहे गये हैं। क्योंकि उन त्रायिक्षश और छोकपाछोंके उत्पादक हेतु विछक्षण जातीय पुण्यविशेषका दो निकायोंमें सम्भव नहीं है। अर्थात्—राजाओंको विशिष्ट जातिका पुण्य होनेपर ही निहोरे करते हुये, हितशासक, मंत्री, पुरेहित, आदिक पुरुष प्राप्त हो सकते हैं। वैसा पुण्य इन दो निकायोंमें नहीं है। तथा राजा बने विना ही पूर्ण राज्यपर अधिकार करना, यथायोग्य मनमानी चलाना, अधिकृत प्रजा वर्गसे अपनी प्रार्थना करवाना, आदि जातिका पुण्य भी किन्हीं किन्हीं जीवोंके होता है। वे ही मंत्री, पुरोहित आदिके स्थानापन हो। सकते हैं। राजाकी हानि हो या छाभ हो इनको दोनों अवस्थाओंमें निश्चिन्तता है। सुकाल पडे, परचक्रके साथ युद्ध नहीं होय अच्छा ही है। किन्तु यदि दुष्काल पड जाय अथवा परचक्रसे छडाई छिड जाय इनको वैसी चिन्ता या आकुळता नहीं है, जैसी कि व्याकुळता राजाको सताती है। अतः दो निकायोंमें उक्त दो मेद नहीं माने गये है।

न हि व्यंतरज्योतिष्किनिकाययोस्त्रयस्त्रिशङ्कोकपालनामपुण्यकर्मविशेषस्त्रायस्त्रिशङोकपालदेवविशेषकल्पनाहेतुरस्ति यतस्तयोस्त्रायस्त्रिशङोकपालाश्च स्युरिति तद्वर्ज्यास्ते देवाः तद्तिशय-विशेषस्य प्रतीतिहेतोर्निकायांतरवत्त्रशासंभवात् ।

उक्त वार्तिकका न्याख्येय अर्थ यह है कि न्यंतर और ज्योतिष्क दो निकायके देव आत्माओं के अवस्थित और लोकपाल नामक विशेष पुण्य कर्मोंका सद्भाव नहीं है, जो कि त्रायिक्षंश और लोकपाल जातिके विशेष देवोंकी वन्तुभूत कल्पनाका कारण माना गया है, जिससे कि उन मध्यवर्ती दो निका-मोंमें त्रायिक्षंश और लोकपाल देव हो जावें। इस कारण वे न्यन्तर और ज्योतिष्कदेव उन त्रायिक्षंश और लोकपालांसे वर्जे गये हैं। क्योंकि त्रायिक्षंश और लोकपालकी प्रतीतियोंके कारण हो रहे उन बातिश्चय उक्त पुण्यविशेषोका अन्य निकायोंके समान उन दो निकायोंमें असम्भव है । अर्थात्—अन्य दो निकाय भवनवासी और कल्पवासी देवोंके तो ताहश पुण्यविशेष हैं, जिससे कि उनमें त्रायिक्षंश और

छोकपाछ देव उपज जाते हैं । विशिष्ट कार्यके उत्पादक अतिशयवाछ कारणीं के नहीं होनेसे व्यन्तर और ज्योतिष्क देव उन दो कल्पनाओंसे बंचित है । जहां कारण होगा वहीं कार्य उपजेगा । मध्यवर्षी निकायोंमें कारणोंके वश इन्द्र आदि आठ भेद हैं । किन्तु भवनवासी और कल्पवासियोंमें दशोंके हेतु सातिशय पुण्यविशेषोका सद्भाव होनेसे दशों प्रकार जातिके देव पाये जाते हैं ।

अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन चारों निकायोंमें क्या एक ही एक इन्द्र है ? अथवा क्या कोई अन्य नियम (अपवाद) है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

पूर्वयोद्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पूर्वकी भवनवासी, न्यन्तर, इन दो निकायोंमें समुदित होरहे देव अपने प्रभु दो दो इन्होंको धारनेवाले हैं। अर्थात्—दो दो इन्होंके आधिपत्यमें इन देवोंकी टोलीको रहना पढता है। प्रत्येक देव तो एक ही इन्होंके अधीन है। किन्तु समुदाय अपेक्षा यह कथन है।

भवनवःसिन्यंतरिनकाययोः पूर्वयोर्देवा द्वींद्रा न पुनरेकेंद्रा निकायांतरवदिति प्रति-पन्यर्थियदं सूत्रं । पूर्वयोरिति वचनं प्रथमिद्तियानिकायशितपन्यर्थे, तृतीयापेक्षया दितीयस्य पूर्वत्वोपपत्तेः द्विचनसामर्थ्याचतुर्थोपेक्षया तृतीयस्य पूर्वत्वेप्यग्रहणादमन्त्यासत्तेः ।

पूर्वववर्ती भवनवासी और व्यंतर इन दो निकायोंमें देव दो दो इन्द्रवाले हैं। किन्तु फिर ज्योतिष्क या कल्पवासी इन अन्य निकायोंके समान एक एक इन्द्रवाले देव ये नहीं है। इस सिद्धान्तका प्रातिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने यह सूत्र रचा है। चाहे हजारों, लाखों, असंख्यों, भी पदार्थ होवें उन सवका पूर्ववर्ती (पिहला) पदार्थ एक ही होगा। अत: प्रथम वाचक पूर्वशद्धको एक वचनमें ही सामर्थ्य है। आद्य अर्थको कह रहे पूर्व शद्धका द्विवचन या बहुवचन अलीक ही समझा जाता है। किन्तु यहां सूत्रमें पूर्वयोः इस प्रकार दिवचन ओस् विभक्तिवाले पदका वचन है, जो कि पहिली निकाय भवनवासी और दूसरी निकाय व्यन्तरदेवोंकी प्रतिपत्ति करनेक लिये है। प्रथमका प्रत्यासन होनेसे द्वितीयको द्विवचनकी सामर्थ्यस पक्क लिया जाता है। तृतीयकी अपेक्षा करके द्वितीयको पूर्वपना न्यायसे भी बन जाता है। द्विवचनकी सामर्थ्यस पहिले और दूसरे निकायोंका पूर्वपना सुवटित है। यचपि चतुर्थ वैमानिक निकायकी अपेक्षासे तीसरी ज्योतिष्क निकायको पूर्वपना सुवटित है। यचपि चतुर्थ वैमानिक निकायकी अपेक्षासे तीसरी ज्योतिष्क निकायको पूर्वपना है, तो भी निकटवार्तिता नहीं होनेसे प्रथमके साथ तृतीयका प्रहण नहीं किया जा सकता है। हां, निकटवर्ती होनेस प्रथमका संगी दितीय बन जाता है। अर्थात् — " उपस्थित परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावः "। प्रधानाध्यापकर्म दिल्की अनुपपत्ति होनेपर द्वितीयाध्यापक (सैकिंड मास्टर) को उसका संगी बना कर दोपनकी रक्षा कर ली जाती है। चीये, पांचवे, अध्यापकको मिला कर नहीं।

द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वींद्रा इत्यंतनीतवीप्सार्थो निर्देशः । द्विपदिका त्रिपदिकेति यथा वीप्सायां वुनो विधानादिइ वीप्सागितर्युक्ता न प्रकृते किंचिद्विधानमस्ति । ति सप्तपर्णादि-वद्भविष्यति वीप्साविधानाभावेपि वीप्सासंप्रत्ययः । पूर्वयोनिकाययोद्दी द्वाविद्रौ देवानामिति निकायनिकायिभेदविवक्षावशादाधाराधेयभावो विभाव्यते ।

निकायवाले जिन देवोके दो दो इन्द्र हैं वे देव दो इन्द्रोंवाले है, इस प्रकार साकल्येन व्यापनेकी इच्छा रखते हुये पुनः पुनः कथन करना स्वरूप वीप्साको अन्तरंग गर्भमें प्राप्त कर इस सन्नका अर्थ निर्देश किया जाता है। कोई आक्षेप करता है कि जिस प्रकार द्विपदिका, त्रिपदिका, द्विशितका आदि पदोंमें " पादशतस्य संख्यादेवींप्साया बुन् छोपश्च " इस सूत्र करके बुन् प्रत्ययका विधान होजानेसे यहा वीप्साका परिज्ञान होना समुचित है । किन्तु प्रकरणप्राप्त " द्वीन्द्राः " इस पदमे कोई प्रत्ययका विभाग नहीं श्रयमाण है । ऐसी दशामें यहा वीप्ताका अन्तर्गर्भ कैसे समझा जायगा ? अर्थात-ही ही पादी ददाति इति द्विपदिका ददाति, दुगुना दुगुना दो मागोंको देरहा है, द्विपदिका अब्दमे दो पादका गीत समझा जाता है । जिस गीत या पदमें दो दो पादोंकी टेक गानी पडती है या तीन तीन पदोंकी टेक जहा गायी जाती है वह त्रिपादिका गीति है। पंक्तिबद्ध तीन तीन पायों-वाळी लम्बी, चौडी, तिपाईको भी त्रिपादिका कह मकते हैं। यहां द्विपदिका, त्रिपदिका, शब्दोंमे वन प्रत्ययसे वीप्सा अर्थ उक्त होजाता है । बु को अक आदेश कर देते है । किन्तु वैसा कोई प्रत्यय द्वीन्दाः शब्दमें नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो सप्तपर्ण, अष्टापद आदिके समान वीप्सा वाचक प्रत्ययका विधान नहीं होते हुये भी वीप्ता अर्थकी भले प्रकार प्रतीति होजावेगी ! जिस वक्षके एक एक पर्वमें सात सात पत्ते लग रहे हैं वह वृक्ष सप्तपर्ण है, पंक्ति पंक्तिमें आठ आठ पांत्रवाला बत खेलनेका नकशा अष्टापद है, इसी प्रकार दो दो इन्द्रवाले निकाय द्वीन्द्र हैं। पूर्वत्रत्ती दो निकायोंमें निवास कर रहे देवोंके दो दो इन्द्र हैं। इस प्रकार निकायोको कहा रहे पूर्वयोः यह द्विवसनान्त सप्तमी और देवोंको कह रहे द्वीन्द्राः इस प्रथमान्त विभाक्तिसे यक्त होरहे पदीके वाच्य अर्थीका निकायः और निकायी यानी समूह और समूहीके भेदकी विवक्षाके वरासे आधार आधेयभाव होजाना विचार लिया जाता है। पूर्वयोः शब्दको षष्ठी विभक्तिवाला पद माना जाय तो भी कोई क्षति नहीं है। अतः धान्योंकी राशि, रुपयोका ढेर, रुपयेमें चांदी, मेलेमें मनुष्य इस ढंगसे अभिन पदार्थीमें कथंचित् भेद, अभेदकी विवक्षा होजाती है " सिद्धिरनेकान्तात "।

द्वींद्रा निकाययोर्देवाः पूर्वयोरिति निश्रयात । तत्रैकस्य प्रभोभीवो नेति ते स्तोकपुण्यकाः ॥ १ ॥

उक्त सूत्रका युक्तिपूर्वक अर्थ वार्त्तिकमे यों किया जाता है कि पूर्ववर्ती दो निकायोंमें क्स रहे देव दो दो इन्द्रवाके हैं, यह सिद्धान्तशास्त्रदारा निर्णीत है। उन दो निकायोंमें केवळ एक ही प्रभूका सद्राव नहीं है । कारण कि वे देव स्वल्प पुण्यवाले हैं अथवा वे दो दो इन्द्र स्वयं हीनपुण्य हैं । (प्रतिक्षा हेतु) । अर्थात्—जन अधिकृतोंका पुण्यमन्दराक्तिक हो जाता है तभी अधिकृत प्रजावर्गके एकसे अधिक दो तीन आदिक नेता प्रभु बन बैठते हैं । अच्छे पुण्यशाली जीव या तो स्वयं प्रभु होते हैं अथवा एक ही प्रभुके तंत्र होकर रहते हैं । "अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः, एकः कृती शकुन्तेषु योन्यं शक्तान् न याचते " इन पद्योसे उक्त अर्थ व्यनित होता है । दूसरी बात यह है कि जिस पदार्थके दो अधिकारी हैं वे स्वयं दोनों स्वल्प पुण्यवान् हैं । छोटा या बढा यथायोग्य कोई कार्य होय उसका अधिकार एक व्यक्तिको ही प्राप्त होय तभी आधिपत्यका कर्तव्य पूर्णरीत्या निभता है । संशयाल स्वामीको एक देश, एक काल, एक ही कार्यपर समान शक्तिवाले दो अधिकारियोंका नियुक्त करना दो नार्वोपर चढनेके समान भयावह है । "एको गोत्रे स भवति पुमान् यः कुटुम्बं विभित्ति एकपातिवत " आदि वाक्य एकस्वामित्वको प्रतिपादन करनेमें तत्पर हैं । अतः हीनपुण्यवाले पूर्ववर्ती दो निकार्योमें दो दो इन्द्र हैं ।

भवनवासिनिकाये असुराणां द्दाविद्री चमरवैरोचनी, नागकुमाराणां घरणभूतानंदी, विद्युत्कुमाराणां दिरिसिंद्दरिकांती, सुपर्णकुमाराणां वेणुदेववेणुधारिणी, अभिकुमाराणां अभि-शिखाप्रिमाणवी, वातकुमाराणां वैश्वंवनमभं जनी, स्तिनतकुमाराणां सुघोषमद्दाघोषी, उदिध-कुमाराणां जलकांतजलप्रभी, द्वीपकुमाराणां पूर्णविशिष्टी, दिक्कुमाराणां अभितगत्यमितवादनी। तथा व्यंतरिकाये किश्वराणां किञ्चरिक्षपुरुषी, किंपुरुषाणां सत्पुरुषमद्दापुरुषी, महोरगाणाम-तिकायमद्दाकायी, गंधर्याणां गीतरितगीतयश्वसी, यक्षाणां पूर्णभद्रमाणिभद्री, राक्षसानां भीम-महाभीमी, पिशाचानां कालमहाकाली, भूतानां प्रतिरूपापितरूपी। एवमेतेषामेकैककस्य मभी-रभावात्ते स्ताकपुण्याः प्रभवो निश्चीयंते।

भवनवासी नामक पहिली निकायमें निवस रहे अयुरकुमार जातिके देवोंके चमर और वैरोचन नामके दो इन्द्र हैं। नागकुमार जातिके देवोंके प्रमु घरण और भूतानन्द दो इन्द्र हैं, विधुत्कुमार देवोंके अधिकारी हिश्सिंह और हिरिकान्त दो इन्द्र हैं, सुपर्णकुमार जातिके असंख्य देवोंके नेता वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं, अप्रिकुमार जातिके असंख्याते भवनवासी देवोंके अधिपति अप्रिशिख और अप्रिमाणव हैं, वातकुमार भवनवासियों के स्वामी वैल्ड और प्रभंजन ये दो इन्द्र हैं, स्तनितकुमार देवोंके परिवृत्व तो सुघोष और महाघोष ये दो इन्द्र हैं, उदिधिकुमार देवोंके अधिप जलकान्त और जलक्षम ये दो इन्द्र हैं, हीपकुमारोंके नायक पूर्ण और वशिष्ट ये दो इन्द्र हैं तथा असंख्याते दिक्कुपार जातीय भवनवासियोंके ईश अमितगित और अमितग्रहन इन्द्र हैं। तिसी प्रकार न्यन्तर नामकी दूसरी निकाय में किकार जातीय देवोंके अधिनगयक किन्द्र और किन्द्र के किन्द्र कातीय असंख्य अस्तर नामकी दूसरी निकाय में किकार जातीय देवोंके अधिनगयक किन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महेल्य जातीय व्यन्तरोंके पति अनिकाय और महापुरुष दो इन्द्र हैं।

काय ये दो इन्द्र हैं, गन्धर्व जातीय व्यन्तरोंके नाथ गीतरित और गीतयशा ये दो इन्द्र है, यक्ष जातीय व्यन्तरोंके अधीश पूर्णमद्र और माणिभद्र ये दो इन्द्र हैं। राक्षस जातीय असंख्याते व्यन्तर देवोंके ईस्वर मीम और महाभीम दो इन्द्र हैं। पिशाच नामक व्यन्तरोंके अधीश्वर काल और महाकाल दो इन्द्र हैं। भूतोंके आज्ञापक प्रतिख्त और अप्रतिख्त दो दो इन्द्र हैं। इस प्रकार इन असुरकुमार, किचर आदि देवोंके एक एक ही प्रभुक्ते नहीं होनेसे वे देव स्तोकपुण्यवाले और वे प्रभु भी स्तोक पुण्यवाले निश्चित किये जाते हैं। " अधिकस्याधिक फलम् " यह कचित्की नीति यहां लाभप्रद नहीं है। खीके एक पति समान प्रजाजनोंका एक पति ही बना रहे यही सर्वतोभद्र है। अनेक सदस्योंकी बहुसम्मति या सर्वसम्मतिके अनुसार हो रहे कार्योंका अनुमोदन करनेवाले महाशय भी एक प्रमुताकी नीतिका उद्धंवन नहीं कर सके हैं। इसले प्रपंचन।

इन देवोके सुख किस प्रकारका है ! ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको उतारते हैं ।

कायप्रवीचारा आ ऐशानात्॥ ७॥

ऐशान नामक स्वर्गतक काय द्वारा मैथुन सेवन करनेवाळे देव हैं। अर्थात्—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क इन भरपूर तीनों निकायोंमें और सीधर्म, ईशान, स्वर्गसम्बन्धी देवोंमे मनुष्योंके समान काय द्वारा देवदेवियों के मैथुन ज्यवहार है।

प्रतिपूर्वाचरः संज्ञायां घत्र् पविचरणं प्रवीचारो मैथुनोपसेवनं । काये प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः । असंहितानिर्देशोऽसंदेहार्थः । ऐशानादित्युच्यमाने हि संदेहः स्यात् किमा- इंतर्भूत उत दिक्छद्वोध्याहार्थ इति विपर्ययो वा स्यात् । ऐशानात् पूर्वयोरित्यनुवर्तमानेनाभि- संबंधात् । असंहितानिर्देशे तु नायं दोषः ।

प्रति उपसर्ग पूर्वक चर धातुसे संज्ञा अर्थमें घल प्रत्यय किया गया है। प्रविचरणभाव ही प्रवीचार है, इसका अर्थ मैथुनका उपसेवन करना है। जिन देवोंका प्रवीचार कायमें होता है वे देव कायत्रवीचार हैं, यों बहुनीहि समास कर लिया है। इस सूत्रमें आङ्निपात और ऐशान इन दो पदोंमें संधि करके नहीं कथन करना तो असंदेहके लिये है। यदि दोनोंके स्थानमें ऐच् एकादेश कर ऐशानात् यों सूत्र कहा गया होता तो श्रोताओंको संदेह हो सकता था कि यहां आङ् अन्तर्भूत लिया हुआ है! अथवा क्या आङ् लिया हुआ नहीं है! ऐसी दशामें पूर्व प्रत्यक् आदि दिशावाचक शब्दका अध्याहार करने योग्य है। ऐशानसे पूर्व दिशातक यों अर्थ होगा तभी अन्यारादितरतेंदिक्शद्वाञ्च्ररपदाजाहि युक्ते " इस सूत्रद्वारा ऐशानाह्य यह पंचमी विभक्ति होसकती है। अथवा पूर्वयोः इस पदकी पूर्वसूत्रसे अनुदृत्ति करके ऐशानसे पूर्ववर्ती देवोंमें काक्सवीचार यों

अभिसम्बन्ध होजानेसे विपरीत अर्थ होजानेका प्रसंग होजाता है। ऐशानके पूर्वमें तो कोई निकाय नहीं है। ऐशान स्वयं एक चौथी वैमानिक निकायके न्याप्य माने गये कल्पोपपन्नका न्याप्य होरहा है, तथा ऐशानमें भी तो कायप्रवीचार व्यवस्थित रखना है। हां, सन्धिको नहीं कर सूत्र कथन करनेपर तो यह कोई दोष नहीं आता है। आङ्को उडा देनेपर अनिष्ट होजानेका संशय है। क्योंकि पूर्वयोः का अधिकार चला आरहा है। अतः कथमि सन्देह नहीं होय इसल्यि सूत्रकारने "आ ऐशनात्" ऐसा संधिरहित सूत्रनिर्देश कर दिया है। कुछ संक्लेश उत्पादक कर्मीका विपाक होनेसे ये विचार देव मनुष्योंके समान श्रीसम्बन्धी विषयसुखोंका अनुमन करते हैं। यही बहांकी देवियोंकी न्यवस्था है।

देवाः कायप्रवीचारा आ ऐशानादितीरणात् । चतुर्ष्विप निकायेषु सुस्रभेदस्य सूचनं ॥ १॥

भवनवासी देवोंसे प्रारम्भ कर ईशान स्वर्गवासी देवोतक काय द्वारा मैथुनप्रवृत्ति करनेवाले देव हैं, इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा कथन करनेसे चारों भी निकायोंमें सुख विशेषकी सूचना कर दी गयी है। अर्थात्—देवोंके पंचिन्दिय सम्बन्धी मोगोंकी पुष्कछ सामग्री विध-मान है । स्पर्शन इन्द्रियजन्यः पुष्पराय्यान्त्रितः कोमछत्रलॉपर विछोडन, सुन्दर वस्र आभूषणीका परि-वंग, कल्पवृक्ष या कल्पलताओं के सुक्रोमल पुष्प, पत्र, प्रवाल आदिका स्पर्शन, चेतोहर सदा युवति देवांगनाओंका माहेन्द्र स्वर्गतक आलिंगनार्थ सोत्साह उपसर्पण, इयादिक स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी मौग उपमोग बहां परिपूर्ण हैं । देवोंके मानसिक आहार है । मनुष्य या पद्म. पक्षियोंके समान कवळा-हारको वे नहीं करते हैं। अतीव मन्द क्षुधावेदनीय कर्मके उदय या उदीरणा होनेपर उसी समय देवींके कम्ठसे परमदिन्य शक्तिवारी अनेकरसपूर्ण अमृतमय रसीला लारसारिखा पदार्थ शरता है. जो कि महती तृप्तिका सम्पादक है। सूक्ष्मपर्याङोचना करने पर प्रतीत होजाता है या पशु भी कत्रलाहार द्वारा जो षट्रस युक्त पदार्थीका स्वाद केते हैं, उस जानन्द प्राप्तिमें भी स्वकीय मुखसे निकली हुई लारको विशेष सहायक मानना चाहिये। यद्यपि पौद्रलिक मोज्य पदा-थोंमें रसपरिणति विद्यमान है। किन्तु भिन्न भिन्न प्रकृतिके जीवोंकी न्यारे न्यारे भोज्य पदार्थींसे उत्पन हुई लारकी बोकारें ही स्त्राद जन्य । सुखिनरोषों को उप जाने में प्रेरक निमित्त हैं। संधापीहित दो महीनेके बचेके मुखमें अंगुड़ी या खड़की स्तनी मुखमें दे देनेपर उसी समय उसके मुखसे छारके फुन्बरे छुटते हैं। और कुछ देरतम बबे हो तृति हो जाती है। तीर्थ हरके जन्म नालेंग देवों हास भगवान् के अंगूठेमें अमृतका स्थापन करना इसी रहस्यको व्यनित करता है। मैस गायके मुख्ये छार मिळ जानेपर घास या मुस विशेष सुस्त्राद हो जाते हैं । ऊंटके मुखर्ने नॉवके पत्ते, उन राजाओं के षद्धसपूर्ण व्यंजनोंसे नहीं अधिक आनंदके उत्पादक हैं । गेंडु आके मुख्में मिडीके साथ उसकी छारके मिछ जानेपर वह कौर सहूत झुखादु हो जाता है। उपवास या एकासन बतकी अवस्थामें कदानिस्

अती (क्लेजा) पर ग्रुष्कता आनेपर या मुंहमें सूखट आनेपर लार करके उस शुष्कताको मिटा किया जाता है। मुनिजन भी दिन या रातमें स्वकीय पुरुषार्थसे छारको उपजा कर उक्त किया करते हुये दोषमाजन नहीं हो जाते हैं। हां, मुखमें अंगुड़ी डालकर चचोरते हुये अधिक लारकी उपजानेके किय उन्हें आतर नहीं होना चाहिये। कवळाहारियों के भोजनमें छार मिळ जानेपर वह सरवाष भी सपाप्य हो जाता है। कोई मनुष्य तो छार मिछाने के छिय दूध या पानीको रोंधकर पीते हैं, अस्तु। मनुष्य या पञ्चपक्षियोंके स्पर्शन-इन्द्रियजन्य या रसना-इन्द्रियजन्य सुखोंकी प्राप्ति करनेमें उनके शारीरिक धातुओं या ठारोंका हर्षक्षय जैसे होता है, उसी प्रकार घाण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा विशिष्ट भोग उपभोग करते हुये भी शरीरसम्बन्धी उपधातुओंका व्यय (खर्च होना) प्रव-र्तता रहता है, तभी तो युवा अवस्थामें धात उपचातुओं की अधिक उत्पत्ति होते रहनेसे इन्द्रियों के भोग, उपभोग, विशेष आनन्दोत्पादक होते हैं । और बृद्ध अवस्थामें शरीरकी मूल्यूंजीका घाटा हो जानेपर वे के वे ही अथवा उनसे भी अतिशय सुन्दर इन्द्रिय विषय विचारे सुखोत्पादक नहीं है। पाते हैं। " बृद्धस्य तरुणी विषम् "। बात यह है कि जैसे धनका उपार्जन कर विनियोक्ता पुरुष उसके बहुमागको भोग, उपभोग, या दानमें न्यय कर देता है, और अल्प भागको उपार्जक धनकी सन्तानमें मिला देता है, उसी प्रकार शरीरके धात, अपधात या बैक्रियिक शरीरके अन्य जातीय शरीरावयव बहुभाग शरीर सुख के छिये हैं। उपज कर ब्यय होते रहते हैं। यदि कंजूस प्रक-तिका प्राणी वीर्य, लार या अन्य वैक्रियिक शरीर या वृक्ष आदि शरीरमें उपज रहे उन अमूल्य पदार्थीका व्यय नहीं करता है तो त्रैराशिक अनुसार उसके पास माल टाल नहीं मिलता है। तभी तो विशेषतया इन्द्रियोंके उपमोगी रिसक पुरुष और शरीर शक्तियोंका अल्पन्यय करनेवाछे संयमी जीवोंके अपेक्षा **कत छार आदिके संचयका तारतम्य नहीं देखा** जाता है। अतः न्यायप्राप्त सामग्रीका भोग उपभोग करनेसे हैं। कूपके स्रोत समान बह रहे छार आदिके अनुसार उपमोग करनेका प्रवाह प्रचछित हो रहा है। हां, पापोंकी प्रतिपक्षमावना या वैराग्यरसमें निमप्त होरहे अथवा भोगोमें उदासीन होरहे जीवोंके शरीरका कार्यालय (कारखाना) ही दूसरे ढंगका होजाता है। परितृप्त या रोगी अधका बीतराग साध एवं शोधी, उदासीन, इनकी प्रवृतियोंपर सूक्ष्म छक्ष्य देनेसे सब जीवोंको उक्त सिदान्त स्पष्ट प्रतिभासित होजाता है । कुल्धारासे जिनके शरीरसृंस्थान सुन्दर सुदढ बने हुये है अत्यल्प कक्ष भोजन करनेपर भी उनके शरीरोंमेंसे छावण्य फटा पडता है, जबकि दुर्ववहारी धनपतियोंके मुख या शरीर हतकान्ति हो रहे हैं। पुण्य या सदाचार तो अभ्यन्तर कारण है ही। किन्तु मुखमें हार और शरीरमें घात, उपवातुओं की पुष्कल उत्पत्ति ही टाक्प्य, सीन्दर्य, तृप्ति, स्वाद, सुख क्यादि प्रचान कारण होजाती हैं । देवोंके शरीरमें वही शारिरिक अमृत रसोपम लारसारिखे पदार्थोंकी सक्रम प्राप्ति विद्यमान है । अतः वे रोटी, दाङ, फल, मेया, दूध, घृत, पेडा, घेवर, मोदक, आदि बहिर्भृत पदार्थीका कत्रल आहार कदाचित् भी नहीं करते हैं। बस्तुतः आनन्दोत्पादक सम्पूर्ण सामप्रियां शारीतमें ही

विद्यमान हैं। और सच पूछो तो अक्षयस्यवका मण्डार आत्मा ही है। शरीरकी माता या पितामही होरही आहारवर्गणाओं में वह आत्माको सुख देनेवाली शक्ति न है और न थीं। प्रत्युत आत्माने ही शरीरको सुखोत्पादक शक्तिकी थोडी भीख दे दी है। बस. उसी उपचरित असद्भूतनय अनुसार आत्माके सुखसे होरहे शारीरिक सुखको अपना रहा यह जीव सींठकी गांठ मिळनेपर बन गये पैसारी चूहे के समान बहिरात्मा बन रहा है । तभी तो सुमक्ष, बती, इन्द्रियजन्य सुर्खोपर छात मारकर अती-न्द्रिय स्वात्मोपलब्धजन्य सुखका रसास्वादन करनेके लिये उचत रहते हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि देवोंका रसना इन्द्रियजन्य सुख बहिर्भृत पदार्थीसे नहीं प्राप्त होकर अपनी शारीरिक प्रकृति अनु-सार अपने अम्यंतर कारणों अनुसार उपज जाता है। तथा हृदयहारी पुष्प, शरीर, आदिकी दिन्य गन्धको सूंघ कर देवाके प्राण इन्द्रियजन्य सुख होरहा है। स्वकीय स्थानोंमें होरही सुन्दर रचनायें, देव देवांगनाओंके अनुपम सौन्दर्य, मध्यलोक सम्बन्धी अनेक द्वीप समुद्रोंकी स्वर्गीय छटायें, आदिको निरख कर देवोंके चक्षः इन्द्रिय द्वारा उपभोग प्रवर्त रहे हैं। स्वयं गाना बजाना अथवा अन्योंके गीत, वादित्र, आदिका श्रवण कर श्रोत्र इन्द्रियजन्य सुख उनके उपजते रहते हैं। परिशेषमें जाकर सब जीवोंको '' जगत् कायस्वभावो वा संवेगवैराग्यार्थ '' के अनुसार वैराग्य भावनापर ही झुक जाना आवश्यक पडेगा, तभी तो स्वर्गोंमें ऊपर ऊपर या अहमिन्द्रोंमें गति, शरीर, परित्रह, अभिमानकी, द्वीनता है । अहामिन्द्र देवोंकी तो ऐसी विलक्षण परिणति है कि जाने आने या विक्रिया करनेकी परिपूर्ण सामर्घ्य होते हुये भी वे तीर्थकरोंके पंचकल्याणक उत्सवों में भी मध्यळोकमें नहीं उतरते हैं। वहीं स्वस्थानसे सात पेंड चळकर भगवान्को नमस्कार कर छेते हैं। यहां वहां बहुत श्रमण करना कुछ अच्छा थोडा ही है। मन्दकषाय या शुक्छछेश्याकी जातियां नाना प्रकारकी हैं । सर्शर्थसिद्धिके एक भवतारी देवोंमें तो परम शुक्छ-वेश्या सांसारिकसुर्खोकी चरमसीमापर पहुंचाती हुई उत्तरभवसम्बन्धी परम वैराग्य भावनाओंकी प्रयोजक हो रही है। उत्तरभवमें तम्पूर्ण पुण्यपापोंका क्षय करानेवाली और इस भवमें उत्कृष्ट पुण्यकी सामग्री वन रही यह सर्वार्थिसिदिके देवोंकी भेद विज्ञानसे पगी हुई सुखानुभति तो चमत्कारपूर्ण है। " किमाश्चर्यमतः परम " भोगोंका चरमक्र उपेक्षा है। अस्त, इस वार्तिकर्मे चार निकायोंके इन्द्रियजन्य सुखका सचन कर दिया है।

चतुर्णिकाया देवाः कायमशीचाराः इति संबंधाचतुर्ष्विपि निकायेषु सुराणां सुरतसुख-विशेषस्य कथनं गम्यते आ ऐशानादिति वचनात् । तर्हि वैमानिकनिकाये सर्वसुराणां काय-प्रवीचारप्रसक्ती तिष्ठिष्ठत्यर्थे ऐशानादिति वचनमभ्युषगंतुं युक्तं ।

देवोंकी चार निकार्ये हैं यों अनुदृत्त किये गये पहिले सूत्रके साथ काय प्रवीचारवाले देवोंका बाचक "कायप्रवीचाराः" इस शहुका सम्बन्ध कर देनेसे चारों भी निकायोंमें देवोंके सुरत सम्बन्धी

सुक्तिवेशेषका कथन करना जान किया जाता है "आ ऐशामात् " ईशान खाँतक ऐसा वचन करनेसे मर्यादा बांध दी गयी है, तब तो चौथी वैमानिक निकायमें सम्पूर्ण देवोंके मनुष्य, पशु, पिक्षियोंके समान शरीर द्वारा मैथुनप्रकृतिका प्रसंग प्राप्त हो जानेपर उस प्रसंग की निकृतिके छिये ऐशानात् इस प्रकार सूत्रकारका वचन स्वीकार करनेके छिये युक्तिपूर्ण है। वैमानिक, मवनवासी और व्यन्तर ये तीनों जातिके देव उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे अधिक हैं। हां, व्यन्तरोंसे ज्योतिषी देव तो संख्यात गुणे अधिक हैं। इस सूत्रद्वारा आदिकी तीनों निकायें और चौथी वैमानिक निकाय मेरे ईशान स्वर्गवासी देवोंतक एक सांसारिक विशिष्ट सुख माने जा रहे कायप्रवीचारका प्रतिपादन हो चुका है। अब सनत्कुमार आदि अच्युत पर्यन्त वैमानिक देवोंके मिथुनजन्य सुखविभागका प्रतिपादन करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

उक्त देवोंसे शेष बच रहे अच्युत पर्यन्त देव तो परस्पर स्वभीय नियत देव, देवियोंके स्पर्शमें, रूप अवलेकनमें, शद्वश्रवणमें और मनोजन्य मानसिक विचारोंमें, मैथुनोपसेवन क्रियाको धार रहे हैं। अर्थात्—उक्तम देवोंमें मैथुनप्रवृत्ति उत्तरोक्तर न्यून होती गयी है। देव सदा प्रवीचारमें ही लवलीन नहीं रहे आते हैं। मनुष्य, की, पशु, पिक्षयोमें भी सर्वदा ही काम केदना जागरूक नहीं रहती है। किन्तु अन्तरंग या बहिरंग कारणेंके मिलनेपर कामवासनायें जग जाती हैं या जगा की जाती हैं। सभी जीवोंको चाहे वे धर्मात्मा न भी होय कामसेवनको अतिरिक्त अन्य भी अनेक आवस्यक कर्तव्य बने रहते हैं। मनुष्योंको शरीरप्रकृतिके अनुसार श्रीच, स्नान, मोजन, शयन आदि कार्योमें आवश्यक काल्यापन करना पडता है। अनेक पशु, पश्री, तो स्वकीय नियत ऋतुओंके अतिरिक्त कितने ही महीनोत्तक अरतिवान उदासीन रहे आते हैं। हां, श्रृंगारी पुरुषोंको आत्मवलकी न्यूनता हो जानेसे विषयवासनायें अधिक सताती हैं। देवदीवियोंके मी जब कभी कामवासनायें उपजतीं हैं तो वे परस्पर स्पर्श, रूपावलोकन, आदि द्वारा लेकिकतृतिको प्राप्त होते हुये ग्रीतिलाम कर लेते हैं। "पण्णामिन्द्रियाणां स्वेषु स्वषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः " स्परीन इन्द्रियके समान या उससे भी अधिक कामसेवन इन अन्य इन्द्रियों द्वारा भी होता है, यह बात इस सूत्रसे जनित हो जाती है।

त्रेषा इति वचनं उक्ताविष्ठश्चेत्रहार्थे, ते चोक्ताविष्ठशः सानत्कुमारादयः कल्पोपपका प्रवाच्युतान्ताः परे अवीचारा इति वक्ष्यमाणत्वात् कल्पोपपकापर्यन्तानामेव द्वादश्वविकल्पत्वेन निर्देशनां प्रकरणाच्य । इस सूत्रमें " रोषाः " यह बचन तो कहे जा चुके भवनिक और सौधर्म, ईशानवासी देवोंसे अविशिष्ट बच रहे कल्पत्रासी देवोंका संप्रह करनेके लिए हैं और वे उक्तोंसे अविशिष्ट रहे देव तो तृतीय स्वर्गवासी सानत्कुमार आदिक अच्युत स्वर्गपर्यन्तके कल्पोपपन देव ही प्रहण किये जाते हैं। क्योंकि अप्रिम सूत्र द्वारा परले कल्पातीत देव प्रवीचाररिहत हैं। यो परिभाषण भविष्यमें किया जानेवाला है। तथा " दशाष्ट्रपंचद्वादशविकल्पाः " इस सूत्र द्वारा बारह विकल्पधारीपने करके कहे जा चुके कल्पोपपन्नपर्यन्त स्वर्गवासी देवोंका ही यहां प्रकरण प्राप्त हो रहा है। अतः कल्पातीत देवोंमें कोई अतिप्रसंग नहीं हो पाता है।

नन्वेवं के स्पर्श्वपवीचाराः के च रूपादिपवीचारा इति विषयविवेकापरिज्ञानादगमकोऽयं निर्देश्च इत्याशंकायामिदमभिधीयते ।

यहां किसीकी शंका है कि इस सूत्र करके आधारमूत विषयोंका पृथक्, पृथक् रूपसे विचार नहीं किया गया है कि इस प्रकार कीनसे देव तो स्पर्श द्वारा मैथुनप्रशृत्तिको धार रहे हैं, और कौनसे देव भला रूप, शद्ध, आदि करके कायपुरुषार्थमें क्वलीन हैं! यों विशेषतया पिज्ञान नहीं होनेसे यह सूत्रका निर्देश करना अभिग्रेत अर्थका गमक नहीं है। यों बाशंका होनेपर श्री विधानन्द आचार्य द्वारा यह समाधान बचन कहा जाता है।

ते स्पर्शादिप्रवीचाराः शेषास्तेभ्यो यथागमं । शेयाः कामोदयापायतारतम्यविशेषतः ॥ १ ॥

उन उक्त देवोंसे शेष रहे वे कल्पवासी देव तो स्पर्श आदिमें मैथुनोपसेवन करनेवाले हैं। इस सिद्धान्तको आम्नायानुसार प्राप्त हुये आगमप्रमाणका अतिक्रमण नहीं कर समझ लेना चाहिये। चारित्रमोहनीय सम्बन्धी वेदकर्मके उदय या उदीरणास्वरूप कामोदयके अपाय (विनाश) की तरतमरूपसे विशेषता देखी जाती है। अतः स्पर्श, रूप, शन्द, इन उत्तरोत्तर विप्रकृष्ट होरहे सह-कारियों द्वारा देवोंमें ऊपर ऊपर प्रवीचार अल्प अल्प है। अथवा यों अनुमान कर लेना कि वे उप-रिम चौदह स्वर्गवासी देव (पक्ष) कामवेदनाकी न्यूनताके तारतम्य अनुसार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले हैं (साध्य) क्योंकि काम वेदनाके सम्पादक वेदकर्मोके उदयका नाश होजानेकी तरतमताका विशेष होनेसे (हेतु)। अर्थात्—छखटिया, सिस्कटा, ल्हिरिया, चीता, सिंह, इनको जैसे उत्तरीत्तर भय हीन हीन है या कृपण, सकुटुम्बधनी, अधमण, ज्यापारी, पण्डित, भोगभूमियां, देव, सम्यन्दिष्ट, मुनिमहाराज, उपशमश्रेणीवाले, इन जीवोंमें जैसे मय उत्तरोत्तर न्यून है अथवा कृष्यारी, रिस्या, उपभोक्ता सद्गृहस्थ, मस्ल, अणुवती श्रावक, उदासीन, इनमें उत्तरोत्तर कामवेदना स्वल्प है, इसी प्रकार सानत्कुमार आदि देवोंमें ऊपर ऊपर कामयुरुषार्थकी न्यूनता है। कामकी हीनताके तारतम्यसे सुखकी प्रकर्षताका तारतम्य अविनामनी है।

ते देवाः शेषाः सानत्कुमारादयो यथागमं स्पर्शादिप्रवीचाराः प्रतिपत्तव्याः । सानत्कुमारमाहेंद्रयोः स्पर्शभवीचारा देवास्तेषामुत्पभमेथुनसुखिष्मानां समुपस्थितस्वदेवीश्वरीरस्पर्शमात्रात्यीत्युत्पत्तौ निवृत्तेच्छत्वोपपत्तेः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठेषु रूपप्रवीचाराः, स्वदेवीमनोक्कस्पावलोकनमात्रादेव निराकांक्षतया मीत्यितिश्योपपत्तेः । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु
शब्दप्रवीचाराः, स्वकांतामनोक्कशब्दश्रवणमात्रादेव संतोषोपपत्तेः । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु
मनःप्रवीचाराः, स्वांगनामनःसंकल्पमात्रादेव परमसुखानुभवसिद्धेरिति हि परमागमः श्रूयते ।

उक्त देवोंसे पारीशिष्ट हो रहे वे सानत्कुमार माहेन्द्र आदिक देव तो आम्नाय प्राप्त आगम अनु-सार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले समझ लेने चाहिये। वह आगमविधि इस प्रकार है कि सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गीमें निवास करनेवाले देव स्पर्श करनेमें मैथुनोपसेवन करनेवाले हैं। क्योंकि मैथनजन्य सुखके प्राप्त करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होते ही उन देवोंके उसी समय उपस्थित हो गयी निजदेवियोंके शरीरका केवल स्पर्श यानी आर्लिंगन या स्तन, मखचम्बन आदि क्रिया कर केनेसे प्रीति उत्पन्न हो चुकनेपर उन देवोंकी मैथुन इच्छा की निवृत्ति होनारूप कार्य सध जाता है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, छांतव, कापिष्ट स्वर्गीमें निवास कर रहे देव तो रूपमें प्रवीचार करनेवाले हैं । क्योंकि मैथुनकुलकी अभिलाषा होते ही उसी समय निकटप्राप्त हुयी अपनी सुन्दर देवियोंके मनोज्ञ रूप यानी सुन्दर वेष, विलास, विभ्रम, चातुर्व, श्रङ्गार, आकार, सीन्दर्यका, केवल अवलोकन कर लेनेसे ही स्वकीय भोगा नांक्षाकी निवृत्ति होते हुये आतिशय यक्त प्रीति उपजनारूप कार्य बन जाता है। तथा नीवें, दशवें ग्याग्हवें, बारहवें, शक्त, महाशक्त, सतार, सहस्रार, स्वर्गनिवासी देवोंके शद्धमें ही प्रवीचार होता है। अपनी अपनी रमणीय कान्ताओंके मनोज्ञ राद्वीके सुनने मात्रसे संतोषकी सिद्धि हो जाती है। देवियों के मधुर संगीत, कोमल हास्य, भूषण शद्ध, नृत्यकी झंकार आदिका श्रवण कर पूर्व देवोंकी अपेक्षा इनको अत्यधिक प्रेम रस उपजता है। आनत, प्राणत, आरण, अन्यत, इन स्वर्गीमें देव मनमें ही प्रवीचार करनेवाले हैं। अपनी अंगनाओंके मानसिक संकल्प मात्रसे ही उक्त देवोंकी अपेक्षा अत्यविक वैपायिक सुखका अनुभव साध हेते हैं । इस प्रकार प्राचीन परम आगम वाक्य सने जा रहे हैं । भातार्थ-त्रतीमानमें भी इस **ढंगसे** मनुष्य या त्रियोंमें अंशरूप करके यें। कामपुरुषार्थ सेत्रन देखा जाता जाता है । परस्पर श्रीपुरुषोंके सुन्दर अवयर्त्रोकी टकटकी छगा कर निरखने वाले रिक्तों या बक्रमक धार्मिकों ने चाक्षुष मैथुन बहुत पाया जाता है । तीव वेदना या चळाकर उपजायी गयी वासनाओं के अनुसार कायप्रवीचारमें प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त समयोंमें कामवेदनाका अल्प आघात होनेकी दशामें स्पर्श प्रवीचारसे ही बीपुरुषोंकी इच्छाने परिपूर्ण हो जाती है। कदाचित् अत्यल्प वेदनाकी दशाओंमें रूपावलोकन, परस्पर संभाषण, मनोज जन्य मानसिक विचारोंसे ही तृप्ति हो जाती है। उत्तरोत्तर ढळती हुई अवस्थामें

शारीरिक शक्तिकी हानिशीलता अनुसार अर्द्रबृद्ध या बृद्धजनोंमें दृष्टान्तरूपेण उक्त सूत्रार्थ घटित हो जाता है। इसी प्रकार देवोंमें भी उक्त सूत्रार्थको युक्तिपूर्वक घटित कर छेना चाहिये। जो अह परुष शरीरस्पर्श या शकरजोमोचनसे ही शीति उपजना स्वीकार करते हैं, उनका तिद्धान्त अमनुख्क है। छौकिक प्रीतियोंकी उत्पत्तिके अनेक साधन हैं। वस्ततः विचारा जाय तो विषयोंसे उत्पन्न हुआ सख कोरा सुखाभास है। जितनी जितनी विषयत्रणा न्यून है उतना ही उतना यह जीव अतीन्द्रिय सुख को परखने छग जाता है। तभी तो देवोंके बहिरंग आर्टिंगन आदि सामग्री जितनी जितनी हीन होती जायगी उतना ही उतना वे छोकिक सुखकी जार बढते जायेंगे । अत्यधिक शंसटोंसे छोकिक सुखोंमें भी एक प्रकारका त्रिप्त ही पड जाता है। श्रंगारी किन भी कहता है कि "न पथ्यं नेपथ्यं बहत-रमनंगोत्सविधी " कानीत्सवमें बहुत झंझटे छगा छेना अडचनींकी निमंत्रण देना है। छत्तीस प्रकारके व्यंजनोंकी अपेक्षा एक बारमें चार पांच सुन्दर व्यंजन ही अधिक त्रिकारक समझे गये हैं । हां. भिन्न समय न्यारी न्यारी छा होंमें छत्तीस क्या छत्तीस सौ व्यंजन भी विचित्रहिचयौके अनुसार तृतिकारक होस कते हैं। भूखसे कुछ कम भोजन करनेमें जो आनन्द है वह नाकतक भोजनको ठंस छेनेमें नहीं है। जाडेकी ऋतुभें अत्यल्प शीतबाधा सहते हुथे उपयोगी परिभित क्लों द्वारा उपभोग करना जितना स्वास्थ्यप्रद होते हुये मने हार्ग है उतना आवश्यकतासे अधिक गृदरा छादे रहना सुखसम्पादक नहीं है। परिशेषमें जाकर प्रीप्म ऋतुमें जैसे बस्नोंका परित्याग ही बांछनीय होजाता है, उसी प्रकार ठोस सुखको चाहनेशले जीशोंके लिये झंझटोंकों हटा कर केशल आत्मध्यरूप इकला रहजाना ही आदरणीय होजाता है। अलम-पूर्वपूर्ववर्त्ता देवोंके अवलम्ब उत्तरोत्तर देवोंने नहीं है। किन्तु उत्तरोत्तर देवोंके स्पर्श. रूप, शद्ध, आदिमें होनेवाले प्रवीचार तो पूर्व पूर्व देवोंके आवश्यक रूपसे पाये जाते हैं। यानी जो देव रूप प्रवीचारवाले हैं वो स्पर्शप्रवीचारवाले नहीं है। किन्त स्पर्शप्रवीचारवाले देव रूपप्रवीचार. शद्रप्रवीचार और मन:प्रश्रीचारोंको भी धारते हैं । परमागम द्वारा की गयी व्यवस्था सर्वथा निर्दोष है।

ततस्तदनिकिमेणैव विषयविवेकविक्षानान्नागमकोऽयं निर्देशः । पुनः प्रवीचारग्रहणा-दिष्टाभिसंबंधमत्ययादन्यथाभिसम्बन्धे चार्षविरोधात् । संभाव्यंते यथागमं स्पर्शादिप्रवीचारा देवाः कामोदयापायस्य चारित्रमोहक्षयोपश्चमित्रेषस्य तारतम्यभेदान्मनुष्य विशेषवत् ।

तिस कारणसे उस आतोक परमागमका अतिक्रमण नहीं करके ही देवोंमें स्पर्श, आदि विषयोंका विभाग जान छिया जाता है। अतः यह सूत्रकारका कथन अवोधक नहीं है। "काय प्रवीचाराः आ ऐशानात्" इस पूर्वसूत्रसे यहां प्रवीचार शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती है। फिर जो सूत्रकारने उस सूत्रमें प्रवीचार प्रहण किया है उस व्यर्थ पड रहे प्रवीचार शब्दके प्रहणसे आगम विधि अनुसार इष्ट अर्थका अभिसम्बन्ध कर छेना प्रतीत हो जाता है। यदि दो दोमें या चार चार स्वर्गीमें यों अन्य प्रकारोंसे स्पर्श रूप आदि विषयक प्रवीचारोंका अभिसम्बन्ध किया जावेगा तो ऋषि

प्रोक्त सिद्धान्तप्रन्योंसे इस सत्रका विरोध उन जायगा । खल्प भाषण करनेवाले उदात्त उद्भट विद्वानोंके शब्द व्यर्थ नहीं जाते हैं। अतः प्रवीचार शब्दकरके इष्ट अर्थकी इप्ति कर छी जाती है। इस सत्रार्थका यों अनुमानवाक्य बना छेना कि सानत्क्रमार प्रभृति देव (पक्ष) स्पर्श, रूप आदि विषयक मैथन प्रवृत्तियोंको धार रहे आगमविधि अनुसार जाने गये सम्भावित हो रहे हैं (साध्यदल) कामसम्पादक वेदकर्मके उदय या उदीरणाके विनाश स्वरूप चारित्रमोहनीयकर्म प्रतियोगिक विशेष क्षयोपरामकी तरतमताका भेद होनेसे (हेत्) मनुष्य विशेषोंके समान (अन्त्रयदृष्टान्त)। अर्थात---उत्तरीत्तर अधिक धर्मात्मा बन रहे सम्यग्दिश, पाक्षिकश्रावक, दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, दिवाऽमुक्त प्रतिमात्राले श्रावकोंमें जैसे क्षायोपशामिकभाव अण्रवत ब्रह्मचर्य है। " देसविरदे पमरो इंदरे य खओव-समियभावोद्, सो खलु चरित्तमोहं पिडच भिणयं तहा उविरं '' यो गोम्मटसार अनुसार पांचवे देश विस्त गुणस्थानमें चारित्रमेहिनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव माना गया है। यद्यपि नोकषायकी वेद नामक प्रकृति देशघाति है। तथापि देशघातियोंमें अपेक्षाकृत सर्गवातिस्पर्धकोंका सद्भाव पाया जानेसे पाक्षिक आदिमें सर्वधातिस्पर्धकोका उदयाभाव क्षय और मिन्यमें उदय आनेवाले सर्वधाति स्पर्ध-कोंकी उदीरणा नहीं हो सकते योग्य वहांका वहीं उपराम बना रहना तथा देशघाति वेद प्रकातिके निषेक्षोंका उदय यों क्षयोपशम बन जाता है। यद्यपि देवोंमें कोई बत नहीं है। देशविरतके नहीं होनेसे उनके क्षायोपरामिकचारित्र कहनेके छिये जी हिचकिचाता है। फिर भी अन्तरंग कारणवश कामोदय उत्तरीत्तर देवोंमें अत्यल्प है। अतः कषायोंकी मन्दता होनेने उन देवोंके निसान्देह चारित्र मोहका क्षयोपराम कहनेके लिये सर्ह्य उत्साद हो जाता है। जब कि गोम्मटसारमें ही कहीं दर्शन मोह कचित् चारित्रमोहका अवलम्ब लेकर दूपरे गुणस्थानमें पारणांमिक भाव और क्षपकश्रेणीमें क्षायिक भाव जो कि भिद्धोंमें कहने चाढिये भिगत किये हैं, तो अन्तरंग कर्मीकी शक्ति अनुसार मैथनसंज्ञाकी उत्तरोत्तर हानिकी ओर झुक्तनेवाले जीवोंके चारित्रमेहिका क्षयोपराम कहना अनुचित नहीं है। अतः यह हेत् पक्षमें वर्त जाता है। सर्वथा प्रवीचाररहित सर्वर्थासिद्धिके देवोंको भले हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती कहते रहो और कामतीब्राभिनिवेश नामक अतीचारको धार रहे दर्शन प्रतिमा-वार्छ स्वस्त्री-आसक्त मनुष्यको भछे ही पंचमगुणस्थानवत्ती कहे जाओ, हम टोकते नहीं है। किन्तु वेदकर्मीके उदय, उदीरणा, पर सूक्ष्म छश्य देनेसे सर्वार्थसिद्धिके देवें या छीकान्तिक देवेंमें अखण्ड बन्हचर्य पाया जा रहा हैं। स्ठोकवार्तिकालंकार उक्त सिद्धान्तका पोषक प्रतीत हो रहा है। भगवान्का अभिषेक करनेवाळे पुरुषोंका या व्रतधारी श्रावकोंका रस, रुधिर, मळ, मूत्र,मयशरीर भन्ने ही पवित्र आत्मारूप उपाधिकी अपेक्षा न्यवहारदृदिते उपचरित पवित्र मान लिया जाय. किन्त सौधर्म इन्द्र, लौकान्तिक, मर्बार्थसिद्धिस्य इन देशोंके धातु, उपधातु, मलमूत्रविद्दीन शर्रारों अथवा एकें-दिय जीव के बुक्ष, घास, जल, आग्ने शरीगोंको उपचारकी शरण लिये विना ही पवित्र कहनेके लिग्ने उत्साहके मारे जीव बांसी उछलना है। कर्म, पुद्रल, आत्मा, निज परिणाम, उपादान कारण आदिकी शाक्तियोंपर विचार करनेसे उक्त सिद्धान्तका नग्नरहस्य स्पष्ट दीख जाता है । अन्नती उच्चक्ण और निचक्पिक तक्त्वकी अथवा अहिंसक धीवर या चाण्डाळ और हिंसक नाम्हणके तक्त्वकी समझने-वाळे सहदय उदात्त विद्वानोंकी उक्त सिद्धान्तके सन्मुख सिर झुकाना पड़ेगा । अनुक्त भी चारित्र सिद्धोंमें रखना पड़ता है । देवोंके क्षायोपशमिक चारित्रका निरूपण कर देनेवाळे निमीक श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजसे अपनी आत्माके उदात्तमात्र बनानेकी शिक्षा ळो—इत्यळम् पळ्ळवितेन । समझनेवाळोंके ळिये संकेतमात्र पर्याप्त है । ळजाळुओंको समुद्र, नद, कूपकी आवश्यकता नहीं है । स्त्रल्प जळ ही पापका संकल्पपूर्वक त्याग करनेके ळिये इष्टसाधक हो जाता है ।

किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि गुरुजी महाराज, यदि सोल्ड स्वर्गतक इस प्रकार व्यवस्था है तो बताओं कि ऊपर प्रैत्रेयक विमानवासी अहिमन्द्रोंके किस प्रकारका सुख प्रवर्तता है ! यो प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अहिमन्द्रोंके सुखका निर्णय करनेके लिये अप्रिम सूत्रको यों कह रहे हैं।

प्ररेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

सोलह स्वर्गीके उपर नवमेनेयक, नव अनुदिश, और पांच अनुत्तर विमानोंमें उपज रहे परले अहमिंद्र देव तो मैथुनप्रवृत्तिसे सर्वथा रहित हैं। मनसे भी मैथुन सुखके अनुभवसे रीते होरहे वे कल्पातीत अहमिन्द्र परमहर्षका अनवरत अनुभव करते रहते हैं। अर्थात्—िमिसीको भूंख या प्यास लगे उसकी षट्रस पूर्ण उत्तम, उष्ण, भोजनों या मधुर शीतल जल द्वारा निवृत्ति करके जो सुखका अनुभव किया जाता है, वह सुख अविक्रिन, अनवरत, ठोस, निर्वाध, नहीं है। केवल रोगका प्रतीकार मात्र है। हां, यदि किसी केवलज्ञानीको भूंख, प्यास, या नींद, रोग ही नहीं है, उसके अविक्रिन परमसुख उच श्रेणीका माना जाता है। इसी प्रकार कल्पातीत देवोंके कामवेदनाके प्रतीकारकी झंझटोंमें नहीं पडनेके कारण सतत परम हर्ष होता रहता है।

परे ब्रहणं वल्पातीतसर्वदेवसंब्रहार्थे। ततो अनिष्ठकल्पनानिष्टतिः। अपवीचारब्रहणं ब्रक्कष्ट-द्वस्वप्रतिपत्त्यर्थे, ते न मनःप्रवाचाराः। तेभ्यः परे कल्पातीताः सर्वदेवाः वर्गचाररहिता इत्युक्तं भवति।

इस स्त्रमें परे शब्दका प्रहण करना तो सम्पूर्ण कल्पातीत असंख्याते देवोंका संप्रह करनेके लिये है। तिस कारणसे अनिष्टकल्पनाओंकी निवृत्ति होजाती है। अन्यथा यानी परे शब्दका प्रहण यदि नहीं किया जायगा ते। कातिपय स्वर्गवासी देवोंमें वा कुछ ही कल्पातीत देवोंमें प्रवीचाररहितपनकी अनिष्टकल्पना की जासकती। है। इस स्त्रमें अप्रवीचार शब्दका प्रहण करना तो अद्यानिकोंके होरहे प्रकृष्ट सुखकी। प्रतिपत्ति करानेके लिये है। वे देव मनते भी प्रवीचार करनेवाले नहीं हैं। यद्यपि प्रथम, दितीय, सृतीय, या चतुर्थ गुणस्थानके भावोंको धार रहे प्रैक्यकवासी अद्यानक और केवल चतुर्थ

गुणस्थानवर्ती नव अनुदिश, पांच अनुत्तर विमानवासी अहामेन्द्रोंक वेदकर्मका उदय है। द्रव्यवेद अनुसार देवोंके पुरुषोचित उपांग भी हैं। किन्तु आसीय पुरुषार्थजन्य विलक्षण परिणतियोंके नहीं कर-नेसे द्रव्यवेद और भाववेद व्यर्थ पड जाते हैं। छेठं, सातवें, आठवें, गुणम्थानोंमें भी तो द्रव्यवेद और भाववेदका सद्भाव है। फिर भी देवोंसे अनन्तगुणा निष्काम सुख साधुओंके माना गया है। ब्रह्मचर्य महाबतकी बडी महिमा है। कामको अनन्तकालत प्रके लिये जीतनेवाले क्षीणकषाय या केवलज्ञानियोंके परम अतीन्द्रय सुख अनन्तानन्त विश्वमान है। यद्यपि छी, पुरुषोंके मिथुन सम्बन्धी पुरुषार्थजन्य प्रकृति तो हक्ष, घास, कीट, नपुंसक, नारकी आदिमें भी नहीं है, फिर भी इनके कामजन्य तीव दु.खबेदना हैं, जोकि अहामिन्द्रोंके सर्वथा नहीं है। इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार कई दिया गया होजाता है कि उन तीन निकाय सम्बन्धी और स्वर्गवासी देवोंस परे होरहे सम्पूर्ण क-पातीत देव तो मैथुनसेवाके धन-पंक (दलदल) में निमप्रता (फसे रहना) स्वरूप प्रवीचारसे रिते हैं। अर्थात्—अनेक मनुष्य धर्मामा नहीं होते हुये भी जन्मते ही स्वभावतः कामवासनाओंने दूर रहते है। उस दशामें उनको बढा गम्भीर सुख मिलता है। प्रथम गुणस्थानवर्ती आधुनिक वीर पुरुषोंमें भी कदाचित् प्रवीचारर रहित माव पाये जाते हैं। कोई आध्वर्य नहीं है।

कुतः पुनक्केभ्यः परेऽप्रवीचारा इत्याह ।

अब श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि महाराज, बताओ, कहे जानु के देवोंसे परछे देव फिर प्रवीचारसे रहित भला किस युक्तिसे सिद्ध हो जाते हैं ? आगम उक्त विषयोंके ऊपर युक्तियोंके प्रवर्त जानेसे ही आगम के ऊपर अनुप्रह हो किया है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिमवार्तिकोंको समाधानवचनस्वरूप कह रहे हैं । उनको सुनो, समझो।

तेभ्यस्तु परे कामवेदनायाः परिश्वयात् ।
सुखप्रकर्षसंप्राप्तेः प्रवीचारेण वर्जिताः ॥ १ ॥
संभाव्यंते च ते सर्वे तारतम्यस्य दर्शनात् ।
नराणामिइ केषांचित् कामाप्रायस्य तादृशः ॥ २ ॥

उन उक्त देवोंसे परछी ओरके वे विवादापन संपूर्ण कल्पातीत देव तो (पश्च) मैथुनोपसेत्रनसे वर्जित होरहे सम्भव रहे हैं (साध्य) कामनेदनाप्रीडाका परिक्षय होजानेसे (हेतु) काम सुखको अत्यन्त तुष्छ या मैथुनकर्मको अतीव हानिकारक समझ रहे और व्यायाम, दुग्धपान, निश्चिन्तता, धृतमेवा भोजन, आदिके भोगी मञ्जके समान (अन्वयद्यान्त) । इस अनुमानसे अहमिन्होंमें प्रवीचार-रहितपना साथ दिया जाता है । तथा सुखके प्रकर्षकी भन्ने प्रकार प्राप्ति होजानेसे (हेतु) अहमिद्रोंके

कामवेदनाका परिक्षय साथ दिया जाता है। यहां वर्तमानकालमें भी किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके तिस प्रकारके कामके विनाशका तारतम्य देखा जाता है। अर्थात्—वर्तमानमें सम्पूर्ण युवा पुरुष कामुक ही होय ऐसा कोई अवधारण नहीं है। कई पुरुष तो जनमपर्यंत कामसे नहीं सताये देखे गये हैं। हां, श्रियोंके मासिकधर्म होनेके कारण मानसिक कामविकारोंसे रहितपना दुर्लम है। " हांगे पुरिसे बत्तीसं"। तभी तो देखोंकी गणनासे बत्तीस गुनी भी गिनतीमें असंख्याती देवियां प्रवीचाररहित नहीं कही गयीं हैं। आर्थिका भी उत्कृष्टसंयमको प्राप्त नहीं कर सकती है। किन्तु वीररसप्रेमी, उदासीन, शान्तरसी, पुरुषोंमें कामवेदनाके विनाशकी तरतमता देखी जाती है। इस हेतुद्वारा विवादापनजीवोंमें प्रवीचारसे रहितपना साथ दिया जाता है। जैसे अनेक पुरुष सदासे ही श्रृंगार रसके प्रेमी होते हैं, तद्वत् अनेक जन कामरससे सर्वोश उदासीन रहनेवाले भी देखे जा रहे हैं। जब कि किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके यहां वैसी कामवेदनाका अपाय है। अतः वे सभी अहमिन्द्र देव विचारे प्रवीचारसे रहित हो रहे सम्भव जाते हैं।

विवादापन्नाः सुराः कामवेदनाक्रांताः सन्नरीरत्वात् प्रसिद्धकामुकवत् इत्ययुक्तं कामवे-दनापायस्य न्नरीरित्वेन विरोधाभावात् । केषांचिदिद्दैव मनुष्याणां मंदमंदतमकामानां विनिश्च-यात् कामवेदनाहानितारतम्ये न्नरीरहानितारतम्यदर्शनाभावात् प्रक्षीणन्नेषकल्मषाणामपि न्नरी-रिणां प्रमाणतः साधनात् ।

जगत्वर्त्ती सम्पूर्ण देव देवियों यहांतक कि बहा, विष्णु, महेरा देवों को मी मैथुनोपसेवी स्वीकार कर रहा कोई पाराणिक पाण्डित आक्षेप करता है कि विवादमें प्रसित हो रहे कल्पातात देव (पक्ष) कामजन्य पाँडासे आकान्त हैं (साध्य दळ) । रारीरसहित होनेस (हेतु) वेश्या- सक्त या परबीगामा कामुकपुरुषेक समान (अन्वयदद्यान्त)। प्रन्थकार कहते हैं कि युक्ति व्याप्ति- यांकी झपटोंको नहीं झेळ सकनेवाला यह आक्षेप तो अनुचित है। क्योंकि कामवेदनाके अपायका शरीराधारीपनके साथ कोई विरोध नहीं है। वर्तमानमें यहां ही किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके अतीव मन्द और उससे भी अत्यविक मन्द्र हो रही कामप्रवृत्तिका विशेषक्ष्पेण निश्चय हो रहा है। धर्म या वर्तोका ळक्ष्य नहीं रखते हुये भी अनेक मनुष्य मन्द्रकामी हैं। एक पंजाबके मळने यावत् जन्ममें एक ही बार मैथुनसेवन किया था, जिसका फळस्वरूप उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि युवा अवस्थामें पिरणत होनेपर सम्पूर्ण यूरुपनिवासी मळोंका विजेता हुआ, जो इस समय विद्यमान है। सुना जाता है कि एक विशिष्ट जातिका सिंह जन्ममरमें एक दी बार मैथुनसेवा करता है। किन्हीं श्रृंगारी पुरुष्तिक पारणाम जैसे विटल्वकी विपुळ तृष्णामें इबे रहते हैं, उसी प्रकार अनेक उदासीन जीवोंके पिरणाम स्वमाव हां से कामरहित प्रतीत हो रहे हैं। कामवेदनाकी हानिका तारतम्य होनेपर शरीरकी हानिके तारतम्यका दर्शन नहीं हो रहा है। यानी कामवेदनाके हीन हीन होते होते जीवोंके शरी- रक्ती मी हानि होती जाय ऐसा नियम नहीं है। बहुमाग स्थळोंमें तो इसके विपरीत दीन, हीन,

रुण, सीण, शरीरधारी श्रृंगार रिसक पुरुषकी अपेक्षा वीर, योद्धा, मल्ल, प्रतिमल्ल पुरुषोंके शरीर हट, पुष्ट, बलिष्ठ, लम्बे चीडे, सुडील होते हैं। निकृष्ट वेश्याओं के काममय शृंणित शरीरोंसे महाचारिणी या स्वदेशरक्षणतत्परा लजाल कियों के शरीर जनत देखे जाते हैं। कहांतक कहें, सम्पूर्ण कामवासना सम्बन्धी पापोंका प्रकर्षरूपसे नाश कर देनेवाले या ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन सम्पूर्ण घातिया कमोंका प्रक्षय कर चुके श्री जिनन्द देशोंका भी शरीर सिहतपना प्रमाणोंसे साधा जा चुका है। जब कि वेदकर्मका या घातियाकमोंका प्रक्षय कर चुके शरीरधारी जिनेन्द्र मगवान्के अनन्त बलशाली, सर्शिंग सुन्दर, लग्बा चौडा सुडील, पिवन, परम औदारिक शरीर है, तो शरीरधारीपन हेतुकी कामवेदनासहितपन साध्यके साथ व्याप्ति नहीं बन पाती है। हां, कामवेदनाकी त्रृटि होते होते साथमें यदि शरीरकी भी त्रृटि होती जाती तो शरीरधारी देवोंका या तथिंकरोंका भी कामपीडितपना साधनेमें सहायता मिल सकती थी। किन्तु यहां तो इसके विपरीत प्रस्ताव उपस्थित होगया, अतः पौराणिकोंका हेतु व्यभिचार दोषग्रसित है।

एतेन कामित्वे साध्ये सन्त्वप्रयेयत्वादयोपि हेतवः संदिग्धविपक्षव्याद्यत्तिका इति प्रति-पादितं ततः संभाव्या एव केचिद्पवीचाराः।

इस इक्त कथन करके इस बातका भी प्रन्थकारनें प्रतिपादन कर दिया है कि कल्पातीत देवों में कामीपना साध्य करनेपर कहे जाने योग्य सत्व, प्रमेयत्व, जीवत्व, चेतनत्व आदिक हेतुओं की भी विपक्षसे व्यावृत्ति होना सांदिग्ध है। क्योंकि कामसेवी जीवोंके समान मन्दकामी या सर्वथा प्रविचार रहित जीवोंमें भी सत्त्व आदिक हेतु पाये जाते हैं। जब कि व्यभिचारीपुरुष भी कभी कभी तीव रोग, गाढ सुष्ठित, आदि अवस्थाओं कामपीडासे वर्जित हैं तो मठ, जितेन्द्रिय साधु, महामना त्यागी, क्षीणकषाय आदि जीवोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? विपक्षमें हेतु के ठहर जानेका निश्चय नहीं भी होय, किन्तु विपक्षमें वर्तनेका पौराणिकोंको भी सन्देह होजायगा। अतः शरीरधारीपन या सत्त्व आदिक हेतु उस कामपीडितपनको साधनेमें संदिग्ध व्यभिचार हेत्वाभास दोषप्रस्त हैं। तिस कारणसे कोई देव यानी कल्पातीत देव या छीकांतिक देव बिचारे प्रवीचारसे रहित होरहे सम्भवने योग्य ही हैं, जैसा कि उक्त वार्तिकोंमें कहा गया है।

इत्येवं नवभिः सूत्रैः निकायाद्यंतरस्य या । कल्पना संशयश्रात्र केषांचित्तन्निराकृतिः ॥ ३ ॥

किन्हीं किन्हीं अजैन विद्वानोंके यहां चार निकायोंके अतिरिक्त दूसरे दूसरे ढंगसे देवोंकी दो ही तीन ही अथवा पांच आदिक ही निकाय मानी गयीं हैं। देवया या देवोंके अन्तर्गत मेद, इन्द्रव्यवस्था, प्रवीचार आदिकी दूसरे प्रकारेंसे कल्पनायें गढी जारही हैं और किन्हीं किन्हीं पण्डितोंके यहां देवोंकी निकाय, छेक्या, भेद, प्रभेद, आदिका जो संशय होरहा है, यहां चतुर्थ अध्यायकी आदिमें इस प्रकार नी सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने उन सब कल्पनाओं या संशयोंका निराकरण कर दिया है। अर्थात्—उक्त नी सूत्रोंक प्रमेयमें अन्याप्ति, अतिन्याप्ति दोष नहीं हैं।

पथमेन सूत्रेण तावत्केषांचिश्विकायांतरस्य कल्पना तत्संदेद्दः चात्र निराकृतिः । द्विती-येन लेक्यांतरस्य, तृतीयेन संख्यांतरस्य, चतुर्थेन कल्पांतरस्य, पंचमेन तद्पवादांतरस्य, पृष्ठेने-द्रसंख्यांतरस्य, सप्तयेनाष्ट्रमेन चानिष्टप्रवीचारस्य, नवमेन सर्वप्रवीचारस्येति नविभः सूत्रैनिका-याद्यंतरकल्पनसंश्चयनिराकृतिः पत्येतव्या ।

उक्त वार्तिकका विवरण यों है कि यहां चौथे अध्यायमें सबसे आदिके पाईछे सत्र करके तो किन्हीं किन्हीं प्रराणकारोंके यहां मानी गयीं देवोंकी दूसरी निकायोंकी कल्पना और दूसरे ढंगकी उन निकार्योका जो सन्देह हो रहा है उसका निराकरण कर दिया गया है। " आदितिकाष्ट्र पीतान्त-छेरयाः '' इस दूसरे सूत्रकरके भवनित्रक देवोंमें अन्य पद्म, शुक्छ, छेरयाओंकी निराकृति कर दी गयी है । तथा " दशाष्ट्रपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपनपर्यन्ताः " इस सूत्र करके तो नियत हो रही दश. आठ. पांच. बारह. संख्याओंसे अतिरिक्त संख्याओंकी न्यावृत्ति कर दी गयी है। चौथे '' इन्द्र सामानिक " आदि सत्रकरके दश विध कल्पनाके सिवाय अन्यविकल्पोंका निराकरण कर दिया है। पाचर्ने " त्रायांक्षेश " आदि सूत्र करके उन दश विकल्पों के दो निकायों में हो रहे अपवादके सिवाय अन्य अपवादोंका निरास कर दिया गया है। छड़े '' पूर्वयोद्धीन्द्राः '' सत्र करके इन्द्रोंकी उक्त संख्याके आतिरिक्त संख्याओंका बारण कर दिया है। सातवें, आठवें, '' कायप्रवीचारा आ ऐशानात् '' और '' शेषाः स्पर्शरूपशृद्धमनःप्रवीचाराः '' सूत्रों करके अनिष्ट प्रवीचारोंका प्रत्याख्यान किया गया है। नौवें '' परेऽप्रवीचाराः '' सूत्र करके सब कल्पातीत देवोंके प्रवीचारसहितपनका व्यवच्छेद किया गया है। इस प्रकार नौ सुत्रों करके अन्य निकाय आदिकी असम्दत या सदसम्दत उभय-कोटिस्पर्शी संशयकी निराकृति हो रही समझ छेनी चाहिये । उक्त सूत्रोंके नौ वाक्य सावधारण हैं । कण्ठोक्त कही चाहे न कही, वाक्यमें विना बुलाये ही एवकार द्वारा अवधारण लग बैठता है। " वाक्येऽवधारणं तावदानिष्टार्थनिवत्तये "।

आदिनिकायसम्बन्धी जो दश विकल्पवाले देव कहे जाचुके हैं, उन देवोंकी सामान्य संज्ञा और विशेष संज्ञाका विज्ञापन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तानितो-दिधद्वीपदिक्कुमाराः॥ १०॥

भवनोमें निवास करनेके शीलको धारनेवाले देव भवनवासी हैं। वे १ असुरकुमार. २ नागकुमार ३ विद्युत्कुमार ४ सुपर्गकुमार ५ अग्निकुमार ६ वातकुमार ७ स्तनितकुमार ८ उद्धिकुमार ९ द्वीप-कुमार १० दिक्कुमार इन दश विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

भवनवासिनामकर्मीदये सित भवनेषु वसनशीला भवनवासिन इति सामान्यसंज्ञा प्रथम-निकाये देवानां । अग्रुरादिनामकर्मविशेषोदयादसुरकुमारादय इति विशेषसंज्ञा । कुमारश्रब्दस्य प्रत्येकभभिसंवंधात् तेषां कौमारवयोविशेषविक्रियादियोगः ।

गित संज्ञक नामकर्भकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे भवनवासी नामक नामकर्मका उदय होते सन्ते, भवनोंमें निवास करनेकी टेववाले, देव भवनवासी हैं। इस प्रकार पहिले निकायमें यह देवोंकी अखिल विशेषोंमें घटित हो रही सामान्य संज्ञा है। हां, उस भवनवासी नामकर्मके भी उत्तर भेद स्वरूप अखुर, नाग, आदि विशेष नामकर्मोंका उदय हो जानेसे अखुरकुमार, नागकुमार, आदिक विशेष संज्ञायें प्रवर्त जाती हैं। '' द्वन्द्वादों द्वन्द्वांते च श्रूपमाणं परं प्रत्येकमिसस्वध्यते '' इस नियम अनुसार अन्तके कुमार शद्वका प्रत्येक अखुर आदिमें पीछे सम्बन्य जुख जाता है। उन भवनवासी देवोंके कुमार अवस्थामें हो रहे सारिखे आयुष्यविशेष, विकिया करना, वेष, मूषा, आयुष, कीडन, यान, वाहन, आभरण, आदिसे अत्यविक प्रीति होनेका योग है, इस कारण उनको कुमार कह दिया जाता है। भावार्थ—लोकमें भी कई बालकोंका अजितकुमार, भानुकुमार आदि नामनिर्देश कर लिया जाता है। किन्तु वृद्ध अवस्थामें ये नाम शाद्विकोंके यहां उसी प्रकार खटकते हे, जैसे कि वृद्ध विवाह आक्षेप करने योग्य है। नाम परिवर्तनके लिये देवोंमे उतनी आवश्यकता नहीं उपजती है। जितनी कि बुद्धे अजितकुमार आदि मनुष्योंमें है। किन्तु क्या किया जाय ! नामपरिवर्तन करना अमीष्ट नहीं है। यद्यपि सम्पूर्ण देवोंके जन्मसे अन्तर्मुकुर्तके पीछे और मरनेके छह मास पूर्वतक भरपूर युवा अवस्था नियत रहती है, फिर भी कुमारोंक समुचित विक्रिया, वेष, क्रीडापरना आदिमें अत्यधिक प्रेमभाव होनेके कारण इनको कुमार शब्दसे कह दिया जाता है।

केचिदाहुः देवैः सहास्यंतीति असुरा इति, तद्युक्तं, तेषामवमवर्णवादात् । सौधर्मादि-देवानां महाप्रभावत्वादसुरैः सह युद्धायोगात् तेषां तत्मातिक्क्लयेनावृत्तेवैरिकारणस्य च परदारापहारादेरभावात् ।

कोई कोई पौराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि "देवैः सह अस्यन्तीति असुराः" अदितिके पुत्र आदित्य देवोंके नाथ दितिके पुत्र दैत्य यानी असुर सदा छडते रहते हैं। देवोंके साथ युद्धमें प्रहरण आदिकों को क्षेपते हैं अथवा छड़ाईमें मारकर देवोंको नदी आदिमें फेंक देते हैं, इस कारण वे असुर हैं। प्रन्थकार कहते है कि यह उन स्मृतिकारोंका कथन युक्तिश्चन्य है। क्योंकि उन देवोंके उत्पर इस प्रकार कहते पर अवर्णवाद यानी इंद्रा दोष छम बैछता है। देखों, चौथी निकायके सीधर्म आदिक

देशें या अहमिन्द्र आदि देशेंका महान् प्रमाव है। विचारे अल्पबली अपुरकुमारोंके साथ सीधर्म आदि देशेंका कथमिप युद्ध होनेका योग नहीं लग पाता है। दूसरी बात यह है कि जैनिसद्धान्त अनुसार उन अपुरकुमारोंकी उन देशेंके या देशेंकी अपुरोंके प्रतिकृत्यन करके प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि जन्मकल्याणक या समवसरण आदिमें प्रवर्तेंगे भी तो अनुकृत्व होकर ही प्रवृत्ति करेंगे। वचन और कायसे तो क्या मनसे भी प्रतिकृत्वताको नहीं ठान सकते हैं। तीसरी बात यह है कि परकीहरण या परधनप्रमोष अथवा दूसरेके अधिकृत देशपर स्वाधिकार जमाना आदि चेष्टाय ही वैरके कारण हैं। इन देषके हेतुओंका अभाव हो जानेसे देव और अपुरोंमें युद्ध कथमिप नहीं ठनता है। मिध्याज्ञानी आप्रहीजन चाहे कैसी भी होठी, सांचीं, कल्पनायें करें, प्रामाणिक विद्वानोंके यहां उन गपोडोंका कोई मूल्य या आदर नहीं है। मके जीवोंपर झंठा कलंक लगाना कोई अच्छा थोडा ही है।

अथैतेषां भवनवासिनां दश्चानामपि निरुक्तिसामध्यीदाधारविशेषप्रतिपत्तिरिति प्रदर्श्वपति।

अब महाराज यह बतलाओं कि इन दशों भी प्रकारके भवनवासी देवोंके भवन कहां हैं ! इसके उत्तरमें श्री विधानन्द स्वामी " भवनवासी " इस सामान्य संज्ञावाचक शद्धकी निरुक्तिके सामध्यसि हैं। हो रही विशेष आधारकी प्रतिपत्ति बन बैठती है, इस सूत्रकारके रहस्यको भळे प्रकार
दिख लाये देते ह ।

दशासुरादयस्तत्र प्रोक्ता भवनवासिनः । अभोलोकगतेष्वेषां भवनेषु निवासतः ॥ १ ॥

उन देवोंमें असुरकुमार, आदिक दश भवनवासी देव भछे प्रकार कहे गये हैं (प्रतिहा)। क्योंकि नीचे अधोछोक्रमें प्राप्त हो रहे भवनोंमें इन देवोंका निवास हो रहा है (हेतु)। यों अनुमान हारा भवनवासी शहकी निरुक्तिके अर्थको साथ दिया है।

क पुनरघोलोके तथां भवनानि श्र्यंते १ रत्नमभायाः पंकबहुळभागे भवनान्यसुरकुमा-राणां, खरपृथिवीभागे चतुर्दश्रयोजनसङ्खेषु नागादिकुमाराणां । तत्रोपर्यधश्रैकैकस्मिन् योजन-सङ्खे तद्भवनाभावश्रवणात् । तत्र दक्षिणोत्तराधिपतीनां चमरवैरोचनादीनां भवनसंख्याविश्वेषः परिवारविभवविश्वेषश्च यथागमं प्रतिपत्तन्यः ।

फिर महाराज यह बताओ कि अधोलोकमें कहां उन देवोंके भवन सर्वद्वप्रतिपादित शाख द्वारा द्वात किये जाते हैं ? आचार्योकी ओरसे इसका उत्तर इस प्रकार है कि इस रत्नप्रभाके दूसरे पंकबहुल भागमें असुरकुमारोंके भवन अनादिकालीन रचे हुये हैं। और रत्नप्रभाके पहिले खरपृथिवी भागमें चौदह हजार योजन मोटे और असंख्यात योजन कुने चौड़े स्थानोंमें अन्निश्च नकाकुमार,

सुपर्णकुमार, आदि नौ प्रकार भवनवासियोंके भवन हैं। एक छाछ अस्सी हजार योजन मोटी रत्नप्रभा पृथ्वीके उपरछे उस सौछह हजार योजन मोटे खरपृथिवी भागमें उपर नीचे एक एक हजार योजन मोटे स्थानमें उनके भवनोंका अभाव आम्नाय द्वारा सुना जाता है। उन देवोंमें दक्षिणदिशाके अधि-पति और उत्तरदिशाके अधिपति हो रहे चमर, वैरोचन आदि इन्होंके अधिकृत भवनोंकी संख्या और परिवार, विभूतिविशेषको आसोपज्ञ शास्त्र आम्नाय अनुसार समझ छेना चाहिये। त्रिछोक-सार, राजवार्तिक आदि प्रन्थोंमें भवनवासी देवोंके सात करोड बहत्तरछाख भवनोंका निरूपण किया है। देवोंका ऐश्वर्य संख्यात, असंख्यात, योजन छम्बे चोडे विमान, चैसालय आदिका वर्णन किया गया है। युक्तिवादके प्रदर्शनका स्थल नहीं होनेसे या अन्य प्रन्थोंमें मिल जानेके कारण यहां कह देनेपर कोई विशेष अत्यधि र श्रद्धामाव नहीं उपजनेकी सम्भावना अथवा चमन्कृति-जनक कोई विशेष उपयोगिता नहीं प्रतीत होनेसे यहां प्रन्थितरार नहीं किया गया है।

अब श्री उमाखामी महाराज दितीय—निकायसम्बन्धा देवोंकी सामान्यसंज्ञा और विशेषसंज्ञाका अवधारण करनेके छिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

व्यंतराः किंनर किं पुरुष महोरगगं धर्वयक्षराक्षस भूति पिशाचाः

दूसरे व्यन्तरदेव तो किनर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गंधर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ मूत ७ और पिशाच ८ इन विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

व्यंतरनामकर्गोदये सित विविधांतरिनवासित्वाद्यंतरा इत्यष्टविकल्पानामपि द्वितीयिनिकाये देवानां सामान्यसंज्ञा । किन्नरादिनामकर्मविशेषोदयात् किन्नरादय इति विशेषसंज्ञा । किन्नरान् कामयंत इति किन्नराद्य इति विशेषसंज्ञा । किन्नरान् कामयंत इति किंपुरुषाः, पिश्चिताशनात् पिशाचा इत्याद्य-वर्थसंज्ञायामवर्णवादप्रसंगात्, देवानां तथाभावासंभवात् । पिशाचानां मत्स्यादिप्रवृत्तिदर्शनात् पिश्चिताशित्वसंभव इति चेत् न, तस्याः क्रीडासुखनिमित्तत्वात् तेषां मानसाहारत्वात् ।

गित नामकर्मके भेद, प्रभेद, स्वरूप हो रहे किंनर, किग्युरुष, आदि विशेष नामकर्मीका अन्तरंगमें उदय होते संते और बहिरंगमें नाना प्रकारके देशान्तरोंमें निवास करनेवाले होनेसे ये देव ध्यन्तर कहे जाते हैं। दूमरी निकायमें पाये जा रहे आठों विकल्पवाले भी देवोंकी यह सामान्यसंज्ञा अन्वर्ध है। मवनवासी और ब्यन्तरशब्दोंकी निरुक्तिसे ही उक्त देवोंके निवासस्थानोंका निर्णय हो जाता है। असंख्यात विकल्पवाले नामकर्मके उत्तरोत्तर भेदरूप किनर आदि विशेष प्रकृतियोंके उदय से हो रही किनर, किग्युरुष, आदिक यों विशेषसंज्ञायें हैं। जो पौराणिक पण्डित अपनी ब्याकरण-इताको यों बखान रहे हैं कि कुस्तित नरोंकी अभिलाषा रखते हैं, तिस कारण ये देव किनर हैं, घोडेके

मुख समान मुख होनेसे कुसित नर हो रहे रमणकुराल देवोंकी अनेक देवदेवियोंकी अभिकाषा रही आती है । " विम्बोष्ठं बहुमनुते तुरंगवक्त्रः " इत्यदि क्षोक करके माघ कविने स्वरचित शिक्षपाठवध कान्यमें इसी मावको दिखलाया है । और किप्परुषोंकी कर रहे हैं. इस कारण किम्पुरुष देव कहे जाते हैं। " पिसितमाचामति या पिशितमञ्जाति " इस निरुक्ति द्वारा मांसका मक्षण करनेसे पिशाच हैं। महान सर्पका आकार धारनेसे महोरग हैं. इत्यादिक शद्धनिरुक्ति अनुसार उक्त देवोंकी अन्वर्धसंज्ञा माननेपर आचार्य कहते हैं कि बढ़े मारी अवर्णवाद होनेका प्रसंग आता है। क्योंकि देवोंके तिस प्रकार किन्नरोंके साथ रमण, मांसभक्षण, सर्पचेष्टा, आदिका असम्भव है। देव स्वतः बडे भोगी और सर्वागसंदर हैं। देवों के वैक्रियक शरीर अत्यधिक पवित्र हैं। अञ्चद्ध, दर्गन्य, घुणायोग्य, मनुष्योंके निकृष्ट औदारिक शरीरोंकी वे कभी अभिलाषा नहीं करते हैं। मांस. मद, सेवन नहीं करते हैं। यदि कोई यों आक्षेप करें कि पिशाचोंकी मछली. मांस. मदिरा. नैबंद्य आदिमें प्रवृत्ति हो ही दीखनेसे मांसभक्षण करना उनके सम्भव जाता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि कीडाजन्य सुखका निमित्तकारण मात्र वह प्रवृत्ति है। आहारके छिये मत्त्य, मांस, आदिमें प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि उन देवोंके मानस आहार है। मनमें आहारकी अभिलाषा उपजते ही झठ अण्ठसे अमृतोपम, सुस्त्राद्ध, रस झरफर पूर्ण तृतिको कर देता है। अर्थात्—देवोंमें तीत्र कषायवान् या जीवोंको द:ख देकर भी कीडा करनेवाठे अनेक देव हैं। म्लेच्छ या कसाइयोंके छोकरे मेंडक, चूहा, बर्र, ततिया, चिरैया, पिञ्चा, मछली, मांसखण्ड, हण्डी आदिके साथ निर्दय होकर खेलते हैं। उसीमें विशेष हर्षका अनुभव करते हैं। विद्रोह कालमें प्रतिपक्षियोंके बालकोंको गेंद बनाकर दृष्ट खिलाडियोंका कीडा करना सुना जाता है। इस कियामें अनेक बालकोंकी मृत्युयें भी होचुकी हैं। किन्तु कपायवानोंको कोई चिन्ता (परवा) नहीं है। इसी प्रकार कीडा सुखके लिये अनेक मिध्यादृष्टि देव मत्स्य आदिमें प्रशासि करते हैं। तात्रिक विद्वान् मत्स्य, मांस, आदिको दिखाकर देवोंका परितृप्त होना मानते हुये मत्स्य, मांस, मद्य, रक्त, मछ, शव आदि द्वारा जीवोंकी मृतबाधाओंको मिटा देते हैं। ये सब कियायें कीडाप्रकृतिक देवोंके सुखनिमित्त मछें ही होजांय. किन्त आहारसामप्री यह नहीं हैं। देवोंके मांसमक्षण या मानुष शरीरके साथ रमण अथवा धात. उपधात, सन्तानोत्पत्ति आदि स्वीकार कर छेना यह देवोंका सबसे बडा तिरस्कार है। देवोंके छिये इससे बढ़ी गाठी नहीं होसकती है। अतः व्यन्तरोंकी उक्त संज्ञायें या विधाता नामकर्मकी किन्नर आदि संबायें रुद्धि शहुमात्र है। धार्ल्य उतना ही घटाया जाय जितना कि युक्ति, शास, और अनुभवस अवाधित होय । शेषको विचारशाली विद्वान छात मारकर फेंक देते हैं ।

क पुनर्च्येतराणां विविधान्यंतराण्यवकाश्चस्थानाख्यानि यतो निरुक्तिसामर्थ्यादेतेषामा-भारमतिपाचिरित्याइ । कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराजजी, फिर बताओं कि इन न्यन्तर देवोंके नाना प्रकारक देशान्तरवर्षी अवकाशस्थान नामके आवास और नगर कहां कहां हैं ? जिससे कि न्यन्तर शम्दकी निरुक्तिके सामर्थ्यसे इन किन्नरादि देवोंके आधारकी प्रतिपत्ति हो सके ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री निषानन्द आचार्य समाधान करते हुथे अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

अष्टभेदा विनिर्दिष्टा न्यन्तराः किन्नरादयः । विविधान्यंतराण्येषामधोमध्यमलोकयोः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज करके किनर, आदिक आठ मेदवाले न्यन्तरदेव तो विशेषसपित नाम माजतया उदिष्ट कर दिये हैं। इन न्यन्तरोंके अधोलोक और मध्यलोकमें अनेक प्रकार अन्तर यानी मवनपुर, आवास, और भवन, नामके असंख्यात निलय है। द्वीप या समुद्रमें होनेवाले मध्यमाग प्राप्त स्थानोंको भवनपुर कहते हैं। हद, पर्वत, बृक्षोंमें बनें हुये ऊर्ध्वगत स्थानोंको आवास कहते हैं, नित्रा, पृथिवीमें बने हुये अधःप्राप्त स्थानोंको भवन कहते हैं।

अधोकोके तावदीपरिष्टे खरपृथिवीभागे किंनरादीनामष्टभेदानां व्यंतराणां दक्षिणाधि-पतीनां किंपुरुषादीनां चोत्तराधिपतीनामसंख्येयनगरशतसहस्राणि श्रूयंते, मध्यलोके च द्वीपाद्रिसमुद्रदेश्रग्रामनगरित्रकचतुष्कचतुरस्रगृहांगगरथ्याजलाशयोधानदेवकुलादीन्यावासशत-सहस्राणामसंख्येयानि तेषामाख्यायंते । तद्विशेषसंख्यापरिवारविभूतिविशेषो यथागमं प्रति-पत्तक्यः पूर्ववत् ।

अधीलोक में रलप्रमाके सीलह हजार योजन मीटे उपिरम प्रदेश सम्बन्धी खरपृथिती भागमें किनर, सत्पुरुष आदिक आठ मेदवाले दक्षिण दिशाके अधिपति हो रहे व्यन्तरोंके निवासस्थान बने हुये हैं तथा खरपृथिवीभागमें ही उत्तरदिशाके अधिपति किम्पुरुष, महापुरुष, आदि व्यन्तर इन्द्रोंके असंस्थाते लाख नगर विधमान हैं, ये आप्तोक्त शाखोंद्वारा जाने जा रहे हैं। अर्थात्—इस जम्बूद्वीपसे तिरले असंस्थाते हीप समुद्रोंका उल्लंबन कर परली ओरके द्वीपसमुद्रोंमें ऊपरके खरपृथिवी भागमें उत्तरदिशाकी ओर किनर, सत्पुरुष आदि सात दक्षिण इन्द्रोंके असंस्थाते लाख नगर आदि अनादिकालसे विधमान हैं और इसी प्रकार उत्तरदिशामें किम्पुरुष आदि सात व्यन्तरेन्द्रोंके उतने ही असंस्थाते नगर रचे हुये हैं। हां, राक्षसजातीय व्यन्तरोंके आवास तो रत्नप्रभाके चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुल भागमें असंस्थाते लाख नगर बने हुये हैं और उत्तरदिशामें रत्नप्रभाके पंकबहुल भागमें राक्षसेन्द्र दक्षिणदिशाधिपतिके असंस्थाते लाख नगर शाखद्वारा वर्णित हो रहे हैं। सरपृथिवी भागमें उपर नीचे एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंस्थाते योजन स्थानों स्वत प्रकारके व्यन्तर और नी प्रकार

भवनवासियोंक आवास बने हये हैं। शेष बचे हये असरक्रमार और राक्षसिक आवास तो पंकबहरू-भागमें हैं। तीसरे अन्बहरूभागमें तीस लाख नरक हैं। तथा असंख्यात योजन कम्बे. चीडे. और ऊंचाईमें मेरुसम एक छाख चालीस योजन मध्यलोकमें भी द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, प्राम, नगर, तीन ओर पथवाला त्रिक, चार ओर मार्ग जानेवाले चौक, चौकौर प्रान्त, घर, आंगन, गढी, कुंचा, सरोवर, उद्यान (बगीचा) देवस्थान, गुरुकुल, वसतिका, शून्यगृह, प्राचीन खण्डहर आदिक असंख्याते लाख उन व्यन्तरोंके आवासींको शास्त्रोंमें वर्णन किया है। अर्थात — द्वीप, समद्र, आदिमें असंख्याते अकृत्रिम स्थान, अनादिसे, अनन्त, कालतक रचे हुये हैं । हां, गली, कुंचे, सरोवर, उप-वन, खण्डहर, शून्यगृह आदिमें भी क्रीडातत्पर व्यन्तरोंके अनेक कृत्रिमस्थान नियंत होरहे हैं। आजकळ भी अनेक स्थलेंपर व्यन्तरदेवोंका आवास या उपद्रव होरहा, कचित् अनुप्रह हुआ सना जाता है। वह बहुमाग सत्य है। हां, वंचक धूर्तपुरुषोंने जो मायाजाल रच रक्खा है अथवा अनेक बालक, स्त्री, पञ्चओंमें भूतवाधा, (खोर) की आकुलताओंकी जो भरमार छारही है, उसमें तथ्यांश अत्यलप है। जगतमें भोली भाली जनताको ठगनेके लिये स्थाने तांत्रिक, मांत्रिक, परुषोंने न्यर्थका प्रपंच अधिकतर फैला रखा है। अखण्ड सम्यग्दर्शन सूर्यके विना मिथ्यात्व मोहअंधकारका मला विनाश कैसे होसकता है ! । उन नगरोंकी विशेष विशेष संख्यायें तथा व्यन्तरेन्द्रोंके परिवार या विभृतिविशेषकी आगम अनुसार प्रतिपत्ति कर छेनी चाहिये, जैसे कि पूर्वमें भवनवासियोंके भवनसंख्या परिवार, त्रिभृति, आदिको आगम अनुसार समझ छेना स्त्रीकार कर चुके हो। त्रिछोकसार आदि प्रन्थोंमें इनका विशेष वर्णन मिलता है। भवनवासियोंके सात करोड बहत्तर लाख भवनोंमें एक एक में असंख्याते देव निवास करते हैं। किन्तु व्यन्तरोंके असंख्याते नगरोंमें संख्याते देव या किसी किसीमें असंद्र्याते देव भी बस रहे हैं। " तिण्णिसय जोयणाणं कदिहिदपदरस्स संखभागिमदे। भौमाणं जिणगेहे गणणातीदे णमंसाभि '' इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार उक्तव्यनि निकलती है। आवास स्थानोको समझनेके लिये " विंतरणिलयतियाणि य भवणपुरावासभवणणामाणि, दीवसमुद्दे दहागिरितरान्दि चित्तवाणिम्हिकमे । उद्दगया आवासा अधोगया त्रितराण भवणाणि, भवणपुराणि य माज्झिमभागगया इदि तियं णिळयं ॥ चित्तवइरादु जावय मेरुदयं तिरियळोयवित्थारं, भोम्मा हवंति भवणे भवणपरावासगे जोगी ॥ ये तीन गाधार्ये उपयोगी हैं । अतीन्द्रिय ज्ञानीकी प्रत्यक्ष होरहे सूक्ष्म, व्यवहित, निप्रकृष्ट, पदार्थोंमें भी यद्यपि कतिपय युक्तियोंका प्रवेश है, फिर भी प्रतिवादियोंका विशेष आक्षेप नहीं प्रवर्त-नके कारण और अन्य प्रन्थोंमें विस्तृत कथन होनेसे यहां सविस्तर निरूपण नहीं किया गया है। अत्यधिक मनोहर दश्योंका कितना ही अधिक वर्णन किया जाय. जिनेन्द्रगणकीर्तनके समान यह अत्यस्प ही गिना जायगा । अतः प्रथम हीसे संकोचपर संतोष कर छेना अच्छा जचता है।

अब तीसरे निकायकी सामान्यसंबाका निर्देश करनेके क्रिये श्री उमास्वामी महाराज व्यक्ति सूत्रको शहले हैं।

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च॥

जिन देवोंके निवासत्यान हो रहे विमानोंका स्वभाव चम प्रते रहना है या शरीर, आभरण. शादिमें चमक, दमक, जिनको अभीष्ट हो रही है, वे देव ज्योतिष्क इस सामान्यसंज्ञाको धारते हुये सूर्य, चन्द्रमा, और प्रष्ठ, नक्षत्र, प्रक्षणिकतारक इन पांच विशेषसंज्ञाओं को प्राप्त हो रहे हैं। यद्यपि बिमानोंके नाम सूर्य, चन्द्रमा, आदिक हैं । तथापि उनमें निवास करनेवाले देवोंको भी " ताल्यात्त-च्छन्यासिद्धिः " उसमें ठहरना होनेके कारण इस आधेयको भी उस आधारवाचक शब्द करके उक्त कर दिया जाता है। अर्थात्—उयोतिष्करेशों के गण सूर्य १ च इसा २ प्रह ३ नक्षत्र ४ प्रकीर्णक-तारक ५ इन पांच विशेषजातियोंमें विभक्त हो रहे हैं। इन्द्रस्वरूप एक चन्द्रमा सम्बन्धी विमानोंके परिवारका परिमाण यों है कि एक चन्द्रमाके साथ एक १ सूर्व प्रतीन्द्र है, अञ्चामी ८८ प्रह विमान हैं। अहाईस २८ नक्षत्र विमानों के पिण्ड हैं। यानी कृति का नक्षत्र के छड़ तारे है, रोहिणीकी पांच तारे हैं। मृगशीर्षमें तीन हैं, इत्यादि तथा छियासठ हजार नौसी पिचत्तर कोटाकोटी ६६९७५०००००००००००० तारक विमान हैं । इस प्रकार मध्यलोक्तमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा हैं। उन्हींके अनुसार प्रद्व आदिकोंकी संख्या लगा लेना। ढाई द्वीपमें एक एक चन्द्र-माका उक्त परिवार नियत है। अन्यत्र आगम अनुसार समझ छेना । एक एक ज्योतिष्क विमानमें सैकडों, हजारों, यों संख्याते देव निवास करते हैं । सम्पूर्ण देवोंनें ज्योतिषियोंकी संख्या बहुत बडी हुई है। दिन या रातके समय नभोमण्डलमें जो चमकते हुये पदार्थ दीख रहे हैं, वे देवोंके निवास स्थान हो रहे विमान है। स्वयं देव नहीं हैं। बीचभेंसे काटे गये आये छड़्द्र से समान ये विमान निचले परिदृष्ट भागमें ढाल्ड प्रदेशवाले हैं। और ऊपर सपाट, चौरस, भागमे ज्योतिष्क देवोंके प्रासाद उनमें बने हुये हैं। केनल प्रसिद्ध हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, ही ज्योतिष्म नहीं हैं। किन्तु प्रह, नक्षत्र, और उछाले हुये पुष्पोंके समान अनियत स्थानोंपर विखर रहे अनादिनिधन तारक भी उथीतिषक हैं। अथवा केवल प्रह आदिक ही ज्योतिषक नहीं हैं। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, भी ज्योतिषकों में ही परिग-णित हैं। यों सूत्रीक चकार द्वारा परस्परमें ६मुचय कर लिया जाता है।

ज्योतीं पि एव ज्योतिष्काः को वा यावादेरिति स्वार्थिकः कः ज्योतिः शहस्य यावा-दिषु पाठात् । तथाभिधानदर्शनात् मकृतिर्छिगातिकृतिः कुटीरः समीर इति यथा ।

धोतन या कान्तिस्वरूप ज्योतिः हैं। ज्योतिष्क हैं। ज्योतिषि एव ज्योतिष्काः चमक रहीं अनेक ज्योतियां ही ज्योतिष्क हैं। यो नपुंसकिलग ज्योतिः शद्धके बहुवचनान्त रूपवालें विम्रह करके स्वार्थमें क प्रत्यय कर ज्योतिष्क शद्ध बना लिया है। " को या यात्रादेः" इस सूत्र द्वारा याव, मणि, आदि अनेक शद्धवाले यावादि गणमें ज्योतिष शद्धका पाठ होनेसे स्वार्थको ही कहनेवाले क प्रस्थयको लकर ज्योतिष्क सद्ध साधु बना लिया जाता है। कोई आक्षेप करता है कि स्वार्थक

प्रत्ययबाळे पदका लिंग भी प्रकृतिके अनुसार होना चाहिये । जैसे सिंह एव सिंहकः, मृत् एव मृत्तिका, कर्मेंब कार्मण, यहां प्रकृति के लिंग अनुसार ही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पर्दोका भी लिंग वही है। उसी प्रकार ज्योतिष शह नपुंसक्रिंग है। स्वार्थमें क प्रत्यय करनेपर भी ज्योतिष्क शह नपुंसक्रिंग ही बना रहेगा, किन्तु यहां उयोतिष्काः ऐसा पुर्छिग शद्धस्वरूप सुना जा रहा है। सो क्यों ! इसके उत्तरमें आचार्य कहते है कि तिस प्रकार लिंगका अतिक्रमण करते हुये भी शहू व्यवहार हो रहा देखा जाता है। स्वार्धिक प्रत्ययवाले पदका कहीं कहीं प्रकृतिके लिंगसे अतिक्रमण हो जाना कहा गया है । अतः ज्योतिष्क शद्धमें भी ज्योतिष् प्रकृतिक लिंग नपुंसकका उल्लंबन होकर पुर्लिग देव या निकाय शद्भकी विशेषणताको धार रहा ज्योतिष्कशद्ध पुर्लिण हो गया है। जिस प्रकार कि " कुटी-शमीञ्जण्डाम्यो रः " इस सूत्र करके कुटीर शमीर आदि शब्द बना छिये जाते हैं । हस्या कुटी कुटीरः. हस्वा शमी शमीर:, छोटी कुटिया (झोंपडी) कुटीर है । छोटी शीशोंका पेड शमीर है । यहां स्त्रीलिंग कुटी और शमी शहरो स्वार्थमें र प्रत्यय कर पुर्छिग कुटीर, शमीर, शह बना लिये गये हैं। कटी या शमीका हस्वपना उसका निजशरीर ही है । अतः हस्य अर्थको कह रहा र प्रत्यय अवयवींका छोटापन होते हुये भी स्वार्थको है। कह रहा है। किसी पुरुषके एक अंगुळी कमती होय या बढती होय, एतायता वह विशिष्ट मंत्रसम्बन्धी विधियोंमें भले हैं। उपयोगी नहीं समझा जाय, किन्तु उपांगदीन या उपाम आविक पुरुषका निज डील कोई विभिन्न नहीं हो जाता है। इसी प्रकार कृत एव कृत कः ताञ्च एव ताञ्च कः यहा शुद्ध प्रकृति का जो अर्थ है, वही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पदका है। न्यून, अधिक, नहीं है। किन्तु हस्त्रा कुडी जुडीरः, प्रशस्ता मृत् मृत्सना, कुत्सितोऽस्त्रः अश्वनः, लघुनमो लिबिष्ठः, अंगु श्रेय आगुलिकः, यहा अवपवींके न्यून, अविक, प्रकृष्ट, निकृष्ट या सादश्य होते हुये भी सार्थिकानं का कोई विरोध नहीं है। अतः कुटीर या देव एव देवता, ओषीय-रेव औष बस्, शर्तरेव शर्तिस्न, यहा भी कारणवश हो रही छिंग ही आतिवृत्ति के समान ज्योतिषक शद्धमें छिंग का परिपर्तन हो जाता है । यों शद्धशास्त्र के साथ अर्थशास्त्रका सम्बन्ध समझते हुये न्याय प्राप्त अर्थका प्रहण कर लिया करो ।

सूर्याचन्द्रमसा इत्यत्रानङ् देवतादृंद्वन्तः । ग्रहनक्षत्रमकीर्णकतारका इत्यत्र नानङ् । पुनर्दन्द्रग्रहणात्तस्येष्टित्रिपये व्यवस्थानादश्वरादिवत् किनरादिवच ।

सूर्यक्ष चन्द्रमाश्च इति सूर्या चन्द्रमसी इस प्रकार द्वन्द्र होनेपर यहां, देवता वाचक शद्धोंकी द्वन्द्रसमास नामक वृत्ति हो जानेले "देवता द्वन्द्रे " इस सूत्रकरके आनङ् हो जाता है। देवता होनेपर भी प्रहाश्च, नक्षत्राणि च, प्रकीर्णकतारकाश्च, यें। द्वन्द्र करनेपर बन गये प्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाः यहां आनङ् प्रत्यय नहीं हो पाता है। क्योंकि " आनङ् द्वन्द्रे " इस सूत्रसे द्वन्द्र इस शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती थी। किन्तु ज्याकरण सूत्रकारने "देवता द्वन्द्रे " इस सूत्रमें पुनः द्वन्द्रप्रहण किया है। वह द्वन्द्र पद व्यर्थ होकर बापन करता है कि अभीष्ट विषयोंमें यह व्यवस्था है, जैसे कि

असुर, नाग, विद्युत् इत्यादि सूत्रमें और किनर किम्पुरुष आदि सूत्रमें दवता वाचक पदोंका दन्द्र समास होनेपर भी आनङ् नहीं किया गया है। इस कारण पुनः दन्द्रपदके प्रहण करनेसे उस आनक्की इह हो रहे विषयमें व्यवस्था है। भद्दोजि दीक्षितने भी " पुनर्द्वन्द्रप्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिप्रहार्थे" कहकर इसी अर्थको व्यक्त किया है।

कथं ज्योतिष्काः पंचविकल्पाः सिद्धा इत्याह ।

यहा कोई तर्क उठाता ै कि सूत्रमें कहे जा चुके पांच विकल्पवाले ज्योतिष्कदेव भला किस प्रकार सिद्ध हैं ! सूर्य, चन्द्रमा, आदि विमान तो प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतीत हो रहे हैं । किन्तु उनमें रहनेवाले ज्योतिष्क निकायके देवोंका अस्मादश पुरुषोंको प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। ऐसी दशामें देवोंकी सिद्धि किस प्रमाणसे निर्णीत कर ली जाय ! वताओ । यों वैंडी तर्कके उपस्थित होनेपर श्री विद्यानन्द सामी वात्तिक द्वारा इस प्रकार बक्ष्यमाण समाधान वचनको कहते हैं ।

ज्योतिष्काः पंचधा दृष्टाः सूर्याद्या ज्योतिराश्रिताः । नामकर्भवशाचाद्यक् संज्ञासामान्यभेदतः ॥ १ ॥

दिन या रातको आकाशमें चमक रहे सूर्य आदिक पांच प्रकारके विमान देखे गये हैं। विमान और विमानोंमें रहनेवाछे देव दोनों ही ज्योतिके आश्रय हो रहे ज्योतिष्क निर्णात किये जाते हैं। तिस तिस जातिके उदयापन नामकर्मकी अधीनतासे उन देवोंकी सामान्य और विशेषरूप करके ज्योतिष्क और सूर्य आदि तैसीं संज्ञायें हो जाती हैं।

ज्योतिष्कनामकर्मोद्यं सित तदाश्रयत्वाज्ज्योतिष्का इति सामान्यतस्तेषां संज्ञा सूर्या-दिनामकर्मिविशेषोदयात्सूर्याद्या इति विशेषसंज्ञाः । त एते पंचधापि दृष्टाः प्रत्यक्षज्ञानिभिः साभात्कृतास्तदुपदेशाविसंवादान्यथानुपपत्तः ।

गातकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही ज्योतिष्क संज्ञक नामकर्मका उदय होते संते उस ज्योतिः (कान्ति) का आश्रय होनेसे देव ज्योतिष्क हैं। इस प्रकार उन देवोंकी ज्योतिष्क यह सामान्यक्रपसे संज्ञा हो रही है। हां, जीवविषाकी उस देवगित प्रकृति के उत्तरोत्तर भेद, प्रभेद, हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, आदि विशेष नामकर्मोंके उदयसे विशेषदेवोंकी सूर्य, चन्द्रमा, आदिक ये विशेषसंज्ञायें अनादिकाल्लसे प्रवृत्त रही हैं। जैसे कि मनुष्यगतिका उसके विशेष कहे गये आर्य, म्लेल्ल, भोगभूमि, बादि पोद्रलिक प्रकृतियोंका विपाक होनेपर हम, तम, आदि जीव मनुष्य या आर्य आदि कहे जा रहे हैं, उसी प्रकार अन्तरंग कारणोंकी भित्तिपर ज्योतिष्कदेव या सूर्य आदिक देवोंकी व्यवस्थायें स्युक्तिक प्रतिभासित हो जाती हैं। अनन्तानन्त सूक्ष्मविषयोंका केवल्ज्ञानियोंने प्रत्यक्ष किया है। हां, उनके उपदिष्ट अल्बोहारा साधारणहानी श्रदाल जीव भी त्रिविष्रकृष्ट पदार्थोंका श्रुतज्ञान कर लेते हैं।

वे प्रसिद्ध हो रहे पांचों भी प्रकारके ये प्रकरण प्राप्त ज्योतिषी देव तो अवधि, मन:पर्यय, और केवक **इन प्रत्यक्षणानोंको धारनेवाछे अतीन्द्रियदर्शी** प्रत्यक्षज्ञानियोंकरके देखे जा चुके **हैं। यानी** मुख्यप्रत्यक्ष श्रानोंकरके वे देव विशदरूपेण साक्षातकार किये जा चुके हैं। क्योंकि उन प्रत्यक्षह्यानियोंके उपदेशका अविसम्बादीपना (निर्बाधपना) अन्यथा यानी किसी प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा विषयीका प्रत्यक्ष किये जा चुके विना नहीं बन सकता है। अर्थात्-वर्तमानमें सूर्य, चन्द्र, प्रहणव्यवस्था, विमानोंकी गति, प्रहोंका बारड राशियोंपर संक्रमण आदिको ज्योतिष भिषयको पण्डित ठीक ठीक बता देते हैं। इस दिशासे इतना टेडा, नीकीला, अर्धप्राप्त, या खप्राप्त, इतनी देरतक, आदि बखाना गया सूर्यप्रहण पडेगा. था चन्द्रपहण पढेगा. अमक दिन शक्त अस्त हो जायगा. फलाने दिन बृहस्पतिका उदय होगा. इत्यादि व्यवस्थाओंको यद्यपि ज्योतिषशास्त्र निर्णीत कर देता है. फिर भी उन प्रत्यक्षज्ञानीको धन्य **है, जिसने अनादि, अनन्त,** काळतक होनेवाळी ज्योतिष्क विमानीकी परिण**तियोंका प्रत्यक्ष** अवजेकन कर तद्तुसार अव्यभिचरित नियमोंको उयोतिषशाखोंमें गूंध दिया है। प्रत्यक्षज्ञानीको सिद्ध करनेके किए यह भी बढ़ी अच्छी एक युक्ति है। अतः ज्योतिष्क विमान और उनके निवासी देवोंका प्रत्यक्षपूर्वक और तद्वपदिष्ट आगम प्रमाणोंद्वारा निर्णय कर लिया जाता है। रूपा और रूपवान पद्मलके साथ सम्बद्ध हो रहे जीवका यथायोग्य प्रत्यक्ष करनेवाले अवधिज्ञानियों और मनःपर्यय ज्ञानियोंको भी देवोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि मनुष्य या तिंथेच जीवोंके जीवित शरीरोंका प्रत्यक्ष होकर उन उन आत्माओंका भी उपचारसे प्रत्यक्ष हो जाना अभीष्ट है तब तो देवदेवियोंको भी परस्परमें अथवा स्वयंको भी स्वकीय वैक्रियिकशरीरोंका इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट कर छिया जाय, कोई क्षति नहीं पढ़ेगी। देव चाहे तो अपने वैकियिक शरीरका मनुष्य, तिर्थच या नारिकयोंको भी प्रत्यक्ष करा सकते 🕻 । विप्रकृष्ट पदार्थीकी सिद्धि करनेका उपाय इतना क्या थोडा है ! अलम् ।

सामान्यतोऽनुमेयाश्र छद्मस्थानां विशेषतः । परमागमसंगम्या इति नादृष्टकल्पना ॥ २ ॥

अर्बाग्दर्शी छप्रस्थ जीवोंके अनुमान प्रमाण द्वारा वे उपोतिण्क देव सामान्य रूपसे जानने योग्य हैं। और आयुः, शरीर, छेश्या, प्रमाव, आधारस्थान, आदि विशेष रूपोसे तो ज्योतिषी देवोंको सर्व-होक परम आगमप्रमाण द्वारा भछे प्रकार समझ छेना चाहिये। इस कारण सूत्रकार द्वारा कहे गये ज्योतिष्क देवोंकी व्यवस्था यह अदृष्ट या अप्रमाणिक पदार्थकी कल्पना नहीं है। छप्रस्थ जीवोंके प्रस्थक्ष या अनुमान प्रमाण विचारे अल्प पदार्थीमें ही प्रवर्तते हैं। इनसे अनन्तानन्त गुना प्रमेय अत-हान या केवछहान द्वारा निर्णय करनेके छिये अवशिष्ठ पढा रहता है। क्रूपमण्डूकबुदिसे पदार्थोंका निर्णय कहीं हो पाला है। समुद्रहंसकीसी उद्धार बुद्धियोंसे जिलेक, त्रिकाछवर्सी कलुभूत पदार्थ परिकात कर लिये जाते हैं। हां, अप्रामाणिक, विसम्बादी उपदेशोंसे सदा बचते रहना चाहिये । नहीं तो अज्ञानकृपमें पतन होना अनिवार्य समझो ।

अब श्री उमास्वामी महाराज विशेषतया अ्योतिष्क विमानोंकी और विमानोंके साथ हो रही अ्योतिष्क देवोकी गतिके विशेषका प्रतिपादन करनेके क्रिये प्रवचनैकदेश अप्रिम सूचका उचारण करते हैं |

मेस्प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३॥

दाई द्वीप और दो समुद्रों के समुद्रित स्थानस्यरूप पैंताछीस छाख योजन कम्बे, चौढे, गोछ मनुष्य छोकमें (के ऊपर) ज्योतिष्क देव सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये, विश्वान्ति छिये विना सतत अमणरूप गतिको करते रहते हैं। आधार और आध्यमें एकताका उपचार कर छेनेसे ज्योतिष्क देवों करके आरूढ हो रहे विमान अमण करते रहते हैं, यों सूत्रका अर्थ कर छेना चाहिये।

ज्योतिष्का इत्यनुवर्तते । चृङ्गेक इति किमर्थमित्यावेदयति ।

पूर्वस्त्रसे " ज्योतिष्ताः " इस पदकी अनुद्वाति कर छी जाती है । अतः इस स्त्रका यह अर्थ हो जाता है कि मनुष्यछोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे नित्य गतिवाछे ज्योतिष्क देव हैं । कोई विनीत श्रोता प्रश्न करता है कि श्री उमास्त्रामी महाराजने सूत्रमें " नुछोके " इस प्रकार अधिकरण वाचकपद किस प्रयोजनकी सिद्धिक छिय प्रयुक्त किया है र ऐसी जिह्नासा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी शिष्य प्रबोधनार्थ अग्रिमवार्तिकका आवेदन कर रहे हैं।

निरुक्त्याव।सभेदस्य पूर्ववद्गत्यभावतः । ते नृलोक इति पोक्तम।वासप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

पूर्वकी दो निकार्ये हो रहे भवनवासी और व्यन्तरोके समान शब्दनिरुक्ति द्वारा ज्योतिषियोंके विशेष आवास स्थानोंकी इसि नहीं हो सकती हैं। अतः ज्योतिषियोंके आवासकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकारने " नृलोके " ऐसा अधिकरण ठीक कहा है। अधीत्—भेरकी प्रदक्षिणा देते हुये नित्यगतिको कर रहे वे ज्योतिष्क देव मनुष्यलोकमें ही हैं। यद्यापे नृलोकसे बाहर भी असंख्याते ज्योतिष्क हैं। किन्तु वे नित्यगतिमान् नहीं होते हुये स्थिर हैं। इस कारण नित्यगतियाले ज्योतिष्क कौर नृलोक इन दोनों पदोमें एवकार लगाकर अनिष्ठ अर्थकी ज्यावृत्ति कर लेनी चाहिये। एवकार तो विना कहे ही बीचमें कृद पडता है।

न हि ज्योतिष्काणां निरुक्त्यावासमितिपंचिभवनवास्यादीनामिवास्ति यता सुद्धोक इत्यावस्यमतिपन्यर्थे बोच्यते ६ पुनर्द्देखोके तेषामावासाः शूर्यते ? मयनवासी आदि देवों के शह निरुक्ति करके जैसे निवासस्थानों की प्रतिपत्ति हो जाती है, अर्थात्—मवनों में निवास करने की टेव रखते हुये भवनवासी हैं और विविध देशान्तरों में अवकाश पा रहे व्यन्तर हैं, विमानों में निवास कर रहे वैमानिक हैं, इस प्रकार क्योतिषक देवों के निवास स्थानों की परिष्ठिति केवल " क्योतिषक " शब्दकी निरुक्ति कर देने से नहीं हो पाती है जिससे कि ज्योतिषियों के निवासस्थानों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार द्वारा " मुलोके " यह नहीं कहा जाय ! ज्योतिषक शद्ध तो केवल धुति, प्रकाश, या ज्यका मात्र स्वभावों का प्रतिपादन कर रहा है। किन्तु यहां ज्योतिषियों के आवासका परिज्ञान कराना अत्यावस्थक है। कोई नम्न श्रोता पृंछता है कि मनुष्यलोक में उन ज्योतिषकों के नियत हो रहे आवासस्थान फिर कहां शास्त्र द्वारा ज्ञात किये जा रहे हैं! बताओ, ऐसी बुमुत्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिकों को कहते हैं।

अस्मात्समाद्धराभागादूर्धं तेषां प्रकाशिताः । आवासाः क्रमशः सर्वज्योतिषां विश्ववेदिभिः ॥ २ ॥

जगदवर्त्ती सम्पूर्ण पदार्थोका साक्षात् वेदन करनेवाछे केवलज्ञानी महाराजने वादी, प्रतिवादी या वक्ता श्रोताको पश्टिष्ट हो रही इस रत्नप्रभा भूमिके समतळ भागसे ऊपर स्थानोंमें उन सम्पर्ण ज्योतिषी देवोंके आवासस्थानोंको यों वस्यमाण प्रकार करके क्रम क्रमसे प्रकाशित किया है। अर्थात्—छट्ठे दु:षमा काल के अन्तमें चलनेवाले संगतिक नामा वायु करके इस आर्यखण्डके गिरि, वृक्ष, भूप्रदेश ये सब कार्य नष्ट श्रष्ट हो जाते दें। एक हजार योजन नीचे तक भूमि चक्ताचूर हो जाती है। ऐसी दशामें नाप विगड जाता है। अतः समतंछ भूभागसे यानी सुदरीन मेरुकी जडसे ठीक एक हजार योजन ऊपर जम रही मध्यलोक व्यापिनी इस विद्यमान इत्य-मान चित्राभूमिको ऊपर तल्से योजनोंको नापकर उयोतिष्क विमानोंका विन्यास हो रहा समझ लेना चाहिये तथा क्वणसमुद्रका जळ इस चित्रा भूमिके समतळसे जळहानि दशामें ग्यारह हजार और नलवृद्धि दशामें सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ रहा है, लवणसमुद सम्बन्धी सूर्य, चन्द्रमा. आदि तो जलमें ही धूमते रहते हैं। कोई आतुर पण्डित जलके उपरिमतलमें ज्योतिषियों को ऊंचा नहीं नाप बैठे इसकिए प्रथिवीके '' समभागसे ऊपर '' यह प्रन्थ कारका वाक्य सपिप्राय है। गणित शास्त्रज्ञोंको एक एक अंगुल यहांतक कि एक एक प्रदेश, एवं शून्य बिन्दु आदि तकका लक्ष्य रखना पढता है। इस मन्यको धनने समझनेवाले पदि गृहें की छतपर बैठे हुये हों या कई सीढियां चढकर ऊपरके " स्थानों में बैठे हुये हैं अथवा काल्दोबसे हुये चित्राम् मिक्त नीचे ऊंचे प्रदेशींपर विराख रहे होंय ती ऐसी दशामें नाप करनेवाले ठीक ठीक नाप नहीं कर पायेंगे । अतः गणिसहोंका सूक्य छत्र कराने के लिये घराके समतल भागको भ्रव अपादान नियत कर दिया है। वजामूमिके उपरिवमानके लीक एक एकार योजन जैना निभाषा अपराज समसज है। बस, बर्ट ही जनकर बैठ जाहरी है

योजनानां शतान्यष्टौ हीनानि दशयोजनैः।

उत्पत्य तारकास्तावचरंत्यध इति श्रुतिः॥ ३॥

ततः सूर्या दशोत्पत्य योजनानि महाप्रभाः।

ततश्रंद्रमसोशीतिं भानि त्रीणि ततस्रयः॥ ४॥

त्रीणि त्रीणि बुधाः शुका गुरवश्रोपरि कमात्।

चत्वारोंगारकास्तद्रचत्वारि च शनैश्रराः॥ ५॥

इस चित्रा प्रथिवीसे देश योजनों करके हीन होरहे आठसी यानी सातसी नब्बे ७९० योज-मोंके ऊपर उछल कर आकाश मण्डलमें सबसे पहिले तो तारे गमन कर रहे देखे जाते हैं। जो कि सम्पर्ण ज्योतिषियोंके निचले भागमें विचरण करते हैं, ऐसा शास्त्रवाक्य है। उन तारोंसे दश योजन उपर उद्धल कर देखा जाय तो महती प्रभाको धार रहे सूर्यविमान चर रहे हैं। उन सूर्यविमानोंसे अस्सी योजन ऊपर उछल कर वर्तरहे किनी परार्थ को देखा जाय तो उन आकाश प्रदेशोंमें चन्द्रमा गमन कर रहे प्रतीत होते हैं। उन चंद्रियमानोंसे तीन योजन ऊपर अश्विनी आदि नक्षत्र विमान भागण कर रहे हैं। उन नक्षत्रोंसे तीन, तीन, योजन ऊपर उछल कर क्रमसे बुध, शुक्र और बहरपति प्रहोंके विमान रचित हैं। उसी प्रकार यानी उस गुरुसे चार योजन ऊपर उक्क कर मंग्रल विमान है। उससे चार योजन ऊपर चल कर शनिश्वर प्रह चर रहे हैं। त्रिलोकसारमें " णउद्कर सत्तस्ये दस सीदी चदुद्गे तियच उक्के, तारिणसितिरिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी " ऐसा पाठ है। और राजवार्तिकमें " णत्रदुत्तर सत्तत्रया दससीदीबदुतिगं च दुगचदुककं, तारारविसरि-रिक्खा बहुभग्गवगुरुअंगिरारसणी " इस गाथा हो उक्तं च कहकर उध्युत किया गया है। सर्वार्थसिदिः त्रिलोकसार और श्रुतसागरीका मत एकसा बैठ जाता है। किन्तु श्री विद्यानन्द स्वामीका मन्तव्य राज-बार्तिकके कथित अनुसार है। यानी राजवार्ति हमें चन्द्रमाके तीन योजन ऊपर नक्षत्रोंका अमण माना है. जब कि त्रिछोकसारमें चन्द्रमाओं के चार योजन उत्पर नक्षत्रोंका भ्रमण माना गया है। इसी प्रकार अन्य बुध आदिमें अन्तर समझ छेना चाहिये। यों आम्नायके भेदका जैसे अन्यत्र निवारण कर किया जाता है उसी प्रकार यहां भी प्रन्थकत्तीओंके गुरुपरिपाटी द्वारा स्मरण रहे यथायोग्य प्रमेय अनुसार आगमवाक्योंका श्रद्धान कर छेना चाहिये तिसही कारण प्रन्थकार यहां आगमप्रमाणकी प्रधानता अनुसार ''श्राति '' ऐसा शह छिख रहे हैं। एकसी दश योजनोंकी मुटाई अविरुद्ध है। जिल स्थानापर ज्योतिक मण्डल स्थिर है वहां भी उक्त क्रमसे ही रचनायुक्त होरहा है और मसुन्य लोकन भ्रमण कर रहा भी इसी उक्त विन्यासको धार रहा है।

चरंति तादशादष्टविशेषवशवर्तिनः । स्वभावाद्वा तथानादिनिधनादुद्रव्यरूपतः ॥ ६ ॥

सर्य आदि विमानोंमें निवास कर रहे ज्योतिष्क देव तिस जातिक अद्दृष्टविशेषके पराधीन वर्त रहे सन्ते अमण कर रहे हैं। अधवा अनादि, अनन्त द्रव्य रूपसे तिस प्रकारका स्वभाव होनेसे मनुष्य छोकमें वे विचरते रहते हैं तथा बाहर स्थित बने रहते हैं। परिशेषमें सबसे अच्छा सिद्धान्त यही है कि जीवन, मरण, चलना, ठहरना, पृथिवीकी स्थिरता, वायुकी चंचलता, गुरुपदार्थका अधःपतन-स्वभाव, छोककी स्थिरता, आकाशकी व्यापकता, काळद्रव्यका अणुपरिमाण, जीवोंका चेतनत्व, पुद्रख इच्यका जडत्य, नरकोंमें दु:खारेपादक कारणोंका सद्भाव, स्वर्गीमें सुखारेपादक सामग्री, मुक्ति अवस्थामें अनन्त सुख, ये व्यवस्थायें अनादिनिधन द्रव्यके निजगांठके स्वभावों अनुसार व्यवस्थित हैं । द्वलोकमें ज्योतिषियोंका भ्रमण और नलोकसे बाहर असंख्याते ज्योतिषियोंका वहांके वहीं बने रहना निजगाठकी परिणतियोंपर अवलम्बित है। भ्रमण और गमन दोनोंके लिये कारणोंका इंडना एकसा आवश्यक है। जीवन और मरण दोनों ही सकारण हैं। कार्यकारणभावके वेत्ता विद्वानोंके यहां उत्पाद. व्यय और स्थिति तीनोंको कारणजन्य माना गया है। ज्योतिष्कोंको भ्रमण करानेके छिये जितने शक्तिशाछीकी भावश्यकता है उतना शक्तिशाली कारण उनको स्थिर रख सकता है। कचित वह कारण बहिरंग भी होता है। किन्त बहुमाग स्थलोंने अन्तरंग ही कारण प्रधान माना गया है। धर्म, अधर्म, दोनों द्रव्योंकी शक्ति समान है उत्कट रीद्रच्यान और प्रकृष्ट शुक्लच्यानकी शक्ति तीलमें बरावर है। एक सातवें नरकमें पहुंचा देता है, दूसरा मोक्षमें धर देता है। ज्योतिष चक्रको ठहराये रखनेमें अल्पबळ कारणसे कार्य होजाय और ज्योतिष चक्रका अमण करानेमें महान् शक्तिशाली कारण उपयोगी होंय ऐसा चित्तमें नहीं भार छेना चाहिये। संत्रार, सामायिकी, वातवलय आदि करके घोडा, मन, लोक, शक्र, अस्थि, स्वकीय पाठ आदि को एकाम घारे रखनेमें बडी शक्ति लगानी पडती है। अतः प्रकरणमें ज्योतिष्क विमानोंका परिश्रमण अनादि निधन द्रव्यरूप स्वभावसे निर्णीत कर दिया है। यह समाधान बहुत बढिया रुचिकर है। सभी दार्शनिकोंको इसी समाधानपर मस्तक झुकाना पढेगा।

एष एव नभो भागो ज्योतिः संघातगोचरः। बहुलः सदशकं सर्वो योजनानां शतं स्मृतः॥ ७॥

व्योतिक विमानोंके या तत्सम्बन्धी देवोंके समुदायका विषय हो रहा यह आकाश भाग ही सर्व दशस्त्रित सी योजनोंका मोटा सिद्धान्तक ऋषियोंकी परिपाटी अनुसार स्मरण किया जा रहा है। अर्थात्—यहां सम भागसे सात सी नव्ये बढ़े योजन ऊपर चळकर ज्योतिषक चक्रका प्रारम्भ हो जाता है। १०+८०+६+३+३+३+४+४=११० यों मध्यक्षेक सम्बन्धी एक सी हक्ष योजन

मोटे सबरे आकाशमें वे इस दी सी छन्पन प्रमाणांगुळोंके वर्गका जगत्यतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर प्राप्त हुई संख्या प्रमाण क्योतिषी देव या उन देवोंके संख्यातवें भाग प्रमाण क्योतिषक विमान निवस रहे हैं। एक एक विमानमें हजारों, छाखों यों संख्याते देव रह जाते हैं। जैसा कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्तीन सम्पूर्ण विमानोंमें अक्तित्रम-बन रहे अनादि अनन्त अक्तित्रम चैत्याळ्योंको इस गाणा करके नमस्कार किया है। " वेसदछन्पण्णंगुळ कदिहिदपदरस्स संखमागिमदे, जोइसजिणंदगेहे गणणातीदे णमसामि "।

स घनोदिधपर्यंतो नृलोकेऽन्यत्र वा स्थितः । सिद्धस्तिर्यगसंख्यातद्वीपांभोधिप्रमाणकः ॥ ८ ॥

और वह ज्योतिष्क विमानोंका व्यूह मनुष्य छोकमें अथवा मनुष्य छोकसे बाहर भी तिरहा असंख्यात द्वीप और असंख्याते सम्पूर्ण समुद्रमाण छम्बा, चौडा, होकर घनोद्धिपर्यन्त व्यवस्थित हो रहा सिद्ध है। अर्थात् — मध्यछोकस्थ त्रसनाछी सम्बन्धी एक सौ दरा योजन मोटे आकाश मागमें पूर्व, पश्चिम, बारह योजन मोटे बातवळयको छोडकर छोकपर्यन्ततक फैळा हुआ है। और दक्षिण, उत्तरमें, त्रसनाछीतक ज्योतिषचक स्थित है। यानी सात राजू छम्बा, एक राजू चौडा, और मेरुसम एक छाख चाळीस योजन ऊंचा मध्यछोक है। दक्षिण और उत्तरसे तीन तीन राजू स्थावर छोकके मागको घटा कर इसके ठीक बीचमें एक राजू छम्बा, एक राजू चौडा, त्रसनाछीका भाग है। उस त्रसनाछीमें पूर्व और पश्चिम बारह योजन मोटे वातवळय प्रमाण कमती एक राजू चौडे और उत्तर दक्षिणमें पूरे एक राजू छम्बे तथा एक सौ दश योजन ऊपर नीचे मोटे चौकोर आकाश प्राङ्गणमें ज्योतिश्वक प्रतिनियत है। मध्यछोक सम्बन्धी पूर्व, पश्चिम, छोकप्रान्तमें पांचयोजन मोटे पहिछे घनोद्दियंतपर्यंत ज्योतिष्क विमान फैळ रहे हैं। हां, दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनाछीसे घनोदिव त्रात निकट नहीं है। तीन तीन राजू दूर है।

सर्वाभ्यंतरचारीष्टः तत्राभिजिदथो बहिः। सर्वेभ्यो गदितं मूलं भरण्योधस्तथोदिताः॥ ९॥ सर्वेषामुपरि स्वातिरिति संक्षेपतः कृता। ब्यवस्था ज्योतिषां चिंत्या प्रमाणनयवेदिभिः॥ १०॥

नुलोक सम्बन्धी उस ज्योतिष्क मण्डलमें सम्पूर्ण स्वकीय ज्योतिष्क विमानोंके अभ्यन्तर (मौलर) चरनेवाला अभिजित् नामको नक्षत्र इह किया गया है और अपने अपने द्वीप या समुद्रसक्ति । सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके बाहर कर वहां मूलनामका नक्षत्र बाहा नका है। जिसी प्रकार सबसे शैंकि भरणी नक्षत्र सम्बन्धी पांच तारे चर रहे कहे गये हैं तथा सबके ऊपर स्वातिनक्षत्रका एक तारा चर रहा है । विशेष यह है कि यहां सर्व शब्दसे यदि सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डल अभिप्रेत है तब तो सबसे नीचे तारे और उनसे तिरानवे योजन ऊंचे नक्षत्र तथा सबके ऊपर शनिश्वरको कहनेवाले सिद्धान्तवचनका इस भरणी नक्षत्रको सबसे नीचे और स्वाती नक्षत्रको सबके ऊपर कहनेवाले सिद्धा-न्तको अपवाद कथन समझा जाय । हां, यदि '' उत्तरदानिखण उड्डा-धोमञ्ज्ञे आमिजिनूळसादीय. भरणी कित्तिय रिक्खा चरति अवराणमेवं तु '' इस त्रिछोकसारसम्बन्धी गाथाकी '' अथाकारो चरतां कियमक्षत्राणां दिग्विभागमाह '' '' अब श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कितने ही एक नक्षत्रोंकी दिशाके विभागको कहते हैं '' इस श्री माधवचन्द्र त्रैवियकत उत्थानिका अनुसार केवल नक्षत्रोंका है। दिग्विभाग मानना अभीष्ट होय, तब सर्व नक्षत्रोंके अधः (भीतर) भरणी और सर्व नक्षत्रोंके ऊपर स्वाती नक्षत्रके विचरनेकी व्यवस्था ठीक बैठ जाती है। यों सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके नीचे तारायें. मध्यमें नक्षत्र, ऊपर शनिश्चर प्रह, इस सिद्धान्तकी रक्षा भी होजाती है। अभिजितको भीतरकी ओर और मूलको बाहरकी ओर भले ही सम्पूर्ण नक्षत्रोंकी अपेक्षा या सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलकी अपेक्षा भी कड देनेसे कोई विरोध नहीं आता है । इस प्रकार संक्षेपने ज्योतिक विमानोंकी यह स्मरण अनुसार आगमोक्त न्यवस्था कर दी गयी है। प्रमाण और नयके वेत्ता विद्वानों करके ज्योतिषियोंकी अन्य विस्तृत व्यवस्थाका भी उपरिष्ठात चिन्तन कर छेना चाहिये । प्रन्थकर्ताके एक एक अक्षरपर तर्क-वादका वक्खर चढवानेके लिये उत्सक बैठे हुये प्रतिवादियोंके सम्मुख विप्रकृष्ट विषयोंका इतना डी निरूपण करना पर्याप्त है । श्रद्धाल श्रोता अन्य विद्यानन्द महोदय. त्रिलोकसार, आदि प्रन्थोंसे अपनी विस्तृत अभिलाषाको परितृप्त करें।

मेरुभद्क्षिणा नित्यगतय इति वचनात् किमिष्यत इत्याइ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ज्योतिष्क देवों के छिये सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा देते रहना और नित्य गतिमान् बने रहना इस सूत्र प्रतिपादित बचनसे श्री उमास्वामी महाराजको कौनसा प्रमेय अभीष्ट हो रहा है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी समाधान बचनको कहते हैं।

मेरुपदक्षिणा नित्यगतयस्त्वित निवेदनात्। नेवापदक्षिणा तेषां कादाचित्कीष्यते न च ॥ ११ ॥ गत्यभावोपि चानिष्टं यथा भूभ्रमवादिनः। भुवो भ्रमणनिर्णतिविरद्दस्योपपत्तितः॥ १२ ॥

इस सूत्रमें कहे गये सम्पूर्ण पद इतरका व्यवच्छेद करते हुये सफल हैं, निरर्थक नहीं । देखो, केइजी प्रदक्षिणा करते हुये ज्योतिक निरय गतिकाले हैं, इस प्रकार सूत्रकर्ता करके निवदन करनेसे तो उन ज्योतिष्क देवोंकी गित प्रदक्षिणारित नहीं हो पाती है और कभी कभी होनेवाछी गिति भी इह नहीं की गयी है तथा ज्योतिष्क विमानोंकी गितिका अभाव भी अनिष्ठ है, जैसा कि ज्योतिष्कोंका गर्म्यभाव भू का अमण कहनेवाछे विदान मान रहे हैं। क्योंकि पृथिवीका अमणरिहतपना प्रक्तियोंसे निर्णीत हो चुका है। अर्थात्—मेरुप्रदक्षिणा शब्दसे ज्योतिष्कोंके प्रदक्षिणारिहतपनकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। गिति होनेमें नित्यपना लगा देनेसे बहुत दिनोंतक स्थिर ठहरते हुये ज्योतिष्कोंके कभी कभी गित कर लेनेका व्यवच्छेर कर दिया है। पृथिवीका अमण माननेवाले आर्यभव या यूरप, अमेरिका, इटलीनिवासी कितपय आधुनिक विदानोंने ज्योतिष चक्रको स्थिर मानकर सूर्य आदिमें गितिका अभाव इष्ट कर लिया है। ज्योतिष्कोंकी गितिका प्रतिपादन करते हुये सूत्रकारने ज्योतिष्चक्रके गत्यभाव और पृथिवीके अमणकी व्यावृत्ति कर दी है। क्योंकि उन विदानोंके बूते भू का अमण निर्णीत नहीं हो सका है। और प्रन्थकारने तृतीय अध्यायमें पृथिवीके अमणरिहतपनका युक्तियोंसे निर्णय कर दिया है।

न हि मत्यक्षतो भूमेर्श्वमणनिर्णीतिरस्ति, स्थिरतयैवानुभवात् । न वायं श्रांतः सक्क-देशकालपुरुषाणां तद्श्रमणामतीतेः । कस्यविश्वावादिस्थिरत्वानुभवस्तु श्रांतः परेषां तद्गमनानुभवन वाधनात् ।

प्रत्यक्ष प्रमाणोंते इस अचला भूमिके भ्रमणका निर्णय नहीं हो सकता है। क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष. चाक्षच प्रत्यक्ष तथा स्थिर भूमिके होते सन्ते हो रही असम्ब्रान्ति (अन्याकुलता) को धारनेवाले मनसे हये प्रत्यक्षप्रमाणों करके भूमिका स्थिरस्वरूप करके ही अनुभव हो रहा है। यह अनुभव होना भ्रमनान नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण देश और कालमें वर्त रहे पुरुषोंको उस भूमिका भ्रमण प्रतीत नहीं होता है। देखो सीपमें इआ चांदीका ज्ञान या मृगत्णामें हुआ जलका ज्ञान तथा शुक्लशंखमें पीतत्वका ज्ञान अवाधित नहीं है। अनेक देश कतिपयकाल और कई सम्वादी पुरुषोंकी अपेक्षा बाधा उत्पत्ति होजानेपर पूर्वज्ञान भ्रान्त माने जाते हैं । किन्तु सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण पुरुषोंकी अपेक्षा अवाधित होरहा प्रधि-बीकी स्थिरताका ज्ञान कथमपि भ्रान्त नहीं है। यदि भूभ्रमणवादी पण्डित यों कोई कि अनम्यस्त किसी नगरके नीचे वहनेवाळी नदियां या समुद्रमें नावके ऊपर किसीको अमण करनेका अवसर मिळ जाता है, उस मुम्बबुद्धि पुरुषको चलती हुयी नाव तो स्थिर प्रतीत होती है और नगर या समुद्रतट अमण करते हुये दृष्टिगोचर होते रहते हैं। दिशाकी आन्ति भी होजाती है। इसी प्रकार पृथिवीके अमण होनेपर भी सूर्य आदिकी स्थिर दशामें हम स्थूछ बुद्धि पुरुषोंको पृथिवीके स्थिरत्वका अनुभव हो जाता है, जो कि भ्रान्त ज्ञान है। प्रन्थकार कहते हैं कि यों किसी किसी असंबी सारिखे पेंगा पुरुषको चल रहे नाव, वायुमान, रेलगाडी आदिके स्पिरपनका हो रहा अनुभव तो भ्रान्त है। क्योंकि दूसरे विचारशील पुरुषोंको उन नाव आदिके गमनके हो रहे अनुभव करके उस अनुभवकी बाधा कर दी जाती है। किन्तु प्रथिवीकी स्थिरता तो सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण कार्

और अखिल पुरुषोंके यहां बाधारहित हैं। यों प्रत्यक्षप्रमाणसे भूअमणका निर्णय नहीं हो सका। अतः आर्यभट पण्डितने जो यह कहा है। "अनुलोम गतिनीस्यः पर्यत्यच्छं विलोमगं यहत्, अच्छानि मानि तहत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् " नावमें बैठा हुआ अनुकूल सीधा जा रहा मनुष्य किनारेके स्थिर हो रहे बृक्ष, पर्वत, आदि पदार्थोंको जैसे उन्नटी ओरको चलता हुआ देखता है, उसी प्रकार लंकामें अचल ज्योतिष्क मण्डलको पश्चिमकी ओर चलते हुये देखता है। यह आर्यभट्टका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। दछान्त विषम है।

नाप्यत्नुमानतो भूभ्रमणविनिश्रयः कर्तु सुञ्चकः तद्विनाभाविकिंगाभावात् । स्थिरे भक्ते सूर्योदयास्तमयमध्यान्हादिभूगोलभ्रमणे अविनाभाविकिंगमिति चेन्न, तस्य प्रमाणवा-िषतिविषयत्वात् पावकानीष्ण्यादिषु द्रव्यत्वादिवत् । भचकभ्रमणे सति भूभ्रमणमंतरेणापि सूर्योदयादिभतीत्युपपत्तेश्च । न तस्मात् साध्याविनाभाविनयमनिश्चयः । मतिविहितं च व्रपंचतः पुरस्तात् भूगोलभ्रमणमिति न तद्वलंबनेन ज्योतिषां नित्यगत्यभावो विभावियतुं श्वक्यः । नापि कादाचित्कीष्यते गतिनित्यग्रहणात् ।

तथा अनुमानप्रमाणोंसे भी मूत्रमणका विशेषतया भले प्रकार निश्चय नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उस भूभ्रमणरूप साध्यके साथ अविनाभावको धारनेवाले ज्ञापकर्लिंगका अभाव है। भू के भ्रमण और ज्योतिश्वक्रकी स्थिरता मान छेनेपर होनेवाले दिन, रात, प्रद्रण, राशिसंक्रमण, आदि कार्य तो पृथिवीकी स्थिरता और ज्योतिष्कोंका अमण माननेपर भी सुलभतया उपपन हो जाते । यदि ज्योतिष्क मण्डलको स्थिर माननेवाला यों कहे कि नक्षत्र मण्डलके स्थिर होनेपर और भूगो-लका भ्रमण होते सन्ते सूर्यका उदय होना, सूर्यका अस्त होना, मध्याह (दुपहर) होना, प्रहण पड जाना आदि ही अविनाभावी लिंग हैं। प्रन्यकार कहते हैं, यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस लिंगके साध्यरूप विषयकी प्रमाणेंसि बाधा प्राप्त हो जाती है। जैसे कि अग्निमें अनुष्णता, अदाहकता आदिकी सिद्धि करनेमें प्रयुक्त हुये द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, आदि हेतु बाधित हेत्वामास हैं । इसी प्रकार तुम्हारे भूअमणके लिंगके विषय हो रहे साध्यकी पत्यक्षप्रमाण द्वारा बावा उपस्थित हो रही है। दूसरी बात यह है कि ज्योतिष्कचक्रका अमण होते सन्ते भूअमणके विना भी सूर्योदय, सूर्यास्तत। आदिकी प्रतीति होना युक्तियोंसे सध जाता है। इससे भी भूका अमण सिद्ध नहीं हो पाता है। तिस कारण हेत्का साध्यके साथ अविनाभाव बन जानास्वरूप नियमका निश्चय नहीं हो सका है। विद्वानः आर्यभट्टने ्बिखा है। " भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदैवसिकौ उदयास्तमयौ सम्पादयाति प्रहनक्षत्राणाम् " सूर्यं आदिक सब नक्षत्र मण्डल स्थिर है। पृथिवी ही बार बार चूम चूम कर प्रत्येक दिनमें होनेवाले प्रह. और नक्षत्रोंके उदय और अस्तका सम्पादन करती है। ऐसी युक्ति रहित आर्यमहकी प्रतिकार्ये आदरणीय नहीं हैं। तथा अधिक विस्तारसें भूगोळके अमणका खण्डन हम पूर्व प्रकरणमें कर चुके हैं। इस कारण उस मूजमणका अवस्था केकरके ज्योतिषियोंको नित्य गतिका अभाव नहीं विचारा (निर्णय) जा सकता है। याँ प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणसे ज्योतिष्यक्षकी चुकोकमें गति निर्णात की जा सकती है। यह ज्योतिष्कोंकी गति कभी कभी होनेवाकी भी नहीं इस की गयी है। क्योंकि गतिका विशेषण देनेके किये सूजकारने "नित्य" शद्भका प्रहण किया है। अतः चुकोकमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य हो रही मानी गयी है। कतिपय ज्योतिष्कोंकी हो रही नित्य गतिका बाक्क बालिकाओंतकको प्रत्यक्ष हो जाता है।

तद्रतेनित्यत्वविश्वेषणानुपपत्तिरधौच्यादिति न शंकनीयं, निस्यषद्धस्याभीकृण्यवाचि-त्वाभित्यमहसितादिवत् ।

कोई यहा शंका करता है कि ज्योतिष्कोंकी उस गतिका निस्यपना यह विशेषण नहीं बन सकता है। क्योंकि कोई गति ध्रुव नहीं है। बौद्ध, षैशेषिक, मीमांसक, यहांतक कि जैन भी किया-ओंको अनित्य स्वीकार करते हैं। कुत्यकारिणीकी झउझट पूर्विक्रयायें नष्ट होरहीं संती उत्तरिक्रयायें उपजती हुई दिखती हैं। "कर्मत्वऽनित्यमेव " कोई भी किया नित्य कालतक स्थिर नहीं रह सकती है। क्षणक्षणमें अन्य ही किया होजाती है, ऐसी दशामें ज्योतिष्कोंकी नित्यगति आपने कैसे कही? बताओ। प्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि नित्य शद्ध अभीक्षणताका वाचक व्यवस्थित होरहा है, जैसे कि नित्य ही इंसनेवाला देवदत्त है या नित्य बकवाद करनेवाला यद्भदत्त है, नित्यभोजी बालक है इत्यादि स्थलोंमें नित्यका अर्थ अभीक्षणता यानी पुनः पुनः या असकृत है, देवदत्त नित्य इंसता रहता है, इसका अर्थ शौच जाते, सोते आदि अवस्थाओंमें भी सदा इंसते रहना नहीं है। किन्तु अनेकवार पुनः या पुनः बहुतसी कियाओंमें दिनरात बहुभाग अवसरोपर इंसते रहना है। प्रातःसे लेकर सार्यकालतक इंसना ही जब अत्यन्त कष्टसाध्य है, ऐसी दशामें नित्य इंसते रहना तो असम्भव ही समाझियेगा। कुळ देरतक इंसते रहनेपर भी शरीर या आत्मामें प्रतिक्षण अनेक इंसियां विनशती, उपजती, रहती हैं। इसी प्रकार ज्योतिष्कोंकी गतिमें नित्यका अर्थ पुनः पुनः एकके पीछे झट दूसरी गति, अनेकवार गति यों अभीक्ष्णता करना चाहिये। जैसा कि नित्य इंसना, नित्य बक बक करना, नित्य रोना, नित्य टोटा होना, नित्य पुजन करना आदिमें शोमता है।

उर्ध्वाधोश्रमणं सर्वज्योतिषां श्ववतारकाः । मुक्त्वा भूगोलकादेवं प्राहुर्भूश्रमवादिनः ॥ १३ ॥ तद्यपास्तमाचार्यैर्नुलोक इति सूचनात् । तत्रैव श्रमणं यस्मानोर्ध्वाधोश्रमणे सिन्न ॥ १४ ॥ श्रुव तारोंको छोडकर सम्पूर्ण क्योतिषियोंका भूगोळसे ऊपर, नीचे, श्रमण होरहा है, इस प्रकार मूश्रमणवादी विद्वान् बिटिया कह रहे हैं। सूर्यसिद्धान्त प्रन्थमें लिखा है " श्रुवेश्वितिभेचक्रस्य नित्मेंहं प्रयास्पतः। निरक्षािभमुखं यातुर्विपरीते नतोक्षते" उत्तरीय मेरुकी ओर जानेवाळे मनुष्यको श्रुवतारा ऊंचा उठता हुआ दीखता है और दक्षिणका नक्षत्र मण्डळ नीचेको जानेवाळा दीखता है तथा दक्षिणीय श्रुवकी ओर जानेवाळे पिषकको इसके विपरीत नीचे, ऊंचे, दीखते हैं। यानी श्रुवतारा नीचा जारहा है और दक्षिणीय नक्षत्र मण्डळ ऊपरको जारहा भासता है। सिद्धान्तिशिरोमणि प्रन्यके गोळाच्यायमें " उदाशुवं याति यथा यथा नरस्तथा तथा खाक्रतमृक्षमण्डळम् उदाशुवं पस्यति चोक्रतं क्षितेः " मनुष्य जितना जितना उत्तर दिशाकी ओर जाता है, वैसा वैसा दक्षिणमागके नक्षत्र मण्डळको आकाशसे नीचा नम्न होरहे देखता है और उत्तरश्रुवको पृथिवीसे उत्तत उत्तत होते जारहेको देखता है। योरपके अनेक विद्वान् इन बातोंका समर्थन करते हैं। प्रथकार कहते हैं कि भूजमणवादियोंका यह चन्द्रमा, मंगळ आदि ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे घूमना स्वीकार करना भी निराकृत कर दिया गया है। वयोंकि सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य महाराजने इस सूत्रमें " नृज्यो भे" ऐसा सूत्रण किया है। यदि तुम्हारे मन्तन्य अनुसार ज्योतिश्वोंका ऊपर, नीचे, की ओर अमण माना जावेगा तैसा होते सन्ते तो उस मनुष्य छोकमें ही ज्योतिश्वोंका अमण होना नहीं बन सकेगा।

वनोदभः पर्यते हि क्योतिर्गणगोचरे सिद्धे नृष्ठोक एव, भ्रमणं क्योतिषाम्ध्राधः कयमुपपवते १ भूविदारणमसंगात् । तत एव विंशत्युत्तरैकादश्योजनशतविष्कम्भत्वं भूगोल-श्राम्युपगम्यत इति चेन्न, उत्तरतो भूमंडलस्ययत्तातिकमात् तदिभकपरिमाणस्य मतीतः तच्छ-तमागस्य च सार्तिरेकेकादश्योजनमात्रस्यैव समभूभागस्यामतीतः कुरुक्षेत्रादिषु भूद्रादश्योजनादिममाणस्यापि समभूतलस्य मुप्तसिद्धत्वात् । तच्छतग्रणविष्कंभभूगोलपरिकल्पनाया-मनवस्थाप्रसंगात् ।

पूर्व, पश्चिमकी ओर घनोद्धि पर्यन्त तथा दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनालीकी मर्यादातक जब कि ज्योतिश्वत्रका विषयभूत यह लोक सिद्ध हो चुका है तो ऐसा होते सन्ते फिर मनुष्य लोकमें ही। ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे अमण होना मला किस तरह युक्तसिद्ध हो सकता है! यों तो ऊपर नीचे अमण मानने पर पृथिवीके फटजानेका प्रसंग आ जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात्—म्गालका अमण माननेवाले अन्य नक्षत्रमण्डलका भी अपनी कक्षा अनुसार अमण होना स्वीकार करते हैं। सिद्धान्ताशिरोमणिके गणिताध्यायमें कहा है कि " सृष्ट्या भचकं कमलोद्धवेन प्रहे: सहैतह भगणादि-संस्थे:। शास्त्रहं अमे विश्वस्था नियुक्तं तदन्ततारे च तथा श्वत्वे "। यदि महामण्डल ऊपर नीचे घूमेगा तो पृथिवी अवक्य कट आयगी। यदि भूअमणवादी यों कहें कि तिस ही कारण अर्थात्—पृथिवीका किरारण नहीं हो आय। अतः हमारे यहां ग्याबह सी बीस चोजन चीका मूगोक स्थीकार

किया जाता है। इतनी चीडी पृथिवी अपनी धुरी पर या सूर्यका चक्कर देती हुई घूमती रहतीं है। अन्य नक्षत्र वा प्रह मी स्वकक्षामें घूमते रहते हैं। " ततोऽपराशामिमुखं भपञ्जरे सखेचरे शीवतरे भ्रमत्यपि । तदल्पगत्येन्द्रदिशं नमश्चराश्चरन्ति नीचोचतरात्मवर्त्मस्य ''। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उत्तरकी ओरसे भूमण्डलके इतने ग्यारहसी वीस योजन चौडे परिमाण होनेका अतिक्रमण हो रहा है। उस ग्यारहसौ बीस योजन चौडाईसे अधिक परिमाणवालेकी प्रतीति हो रही है। उस ग्यारहसी बीसके सीमे भाग केवल कुछ अधिक ग्यारह योजन ११ योजनके ही समतल हो रहे भूभागकी प्रतीति नहीं होती है। कुरुक्षेत्र आदि स्थानोंमें बारह योजन आदि प्रमाणवाली या इससे भी अधिक समतल (सपाट) हो रही पृथित्रीकी भी अच्छी प्रसिद्धि हो रही है। यदि उस बारह आदि योजन प्रमाण समतलसे पुनः सौगुना चौडा भूगोल कल्पित किया जायगा तब तो अनवस्थाका प्रसंग हो जायगा। भावार्थ-भगोलवादियोंने प्रिधवीकी चौडाई ग्यारहसौ वीस योजन स्वीकार की। किन्तु यह ठीक नहीं बैठता है। उत्तरकी ओर पृथिवी अधिक विस्तारवाळी माननी पडेगी। दूसरी बात यह है कि गोलपदार्थका सौमा माग समतल दीखा करता है। सिद्धान्तिशरोमिणमें कहा है कि " समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः प्रथ्वी च पृथ्वी नितरा तनीयान् । नरश्व तत्पृष्ठगतस्य कृत्का समेत्र तस्य प्रतिभात्यतः सा " इसका अर्थ यह है कि जिस कारण गोलपरिधिका सौमा भाग सम दीखा करता है, यह पृथ्वी बडी लम्बी, चौडी, मोटी है और मनुष्य अत्यन्त छोटा है। उस पृथितीकी पीठपर प्राप्त हो रहे उस मनुष्यको थोडी दूर दृष्टि जानेसे इस कारण वह पृथ्वी समत्छ ही दीखती है। इन नियम अनुसार केवळ एक योजनका पांचवां भाग अधिक ग्यारह योजन ही समतल भूमि दीखनी चाहिये। किन्तु कुरुक्षेत्र (पानीपत) आदिमें बारह, चौदह, वीस योजनवाले भी समतल (मैदान) पाये जाते हैं। सिँद्धान्तशिरोमणि गणिताष्यायमें " प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्तांगनन्दान्धयः । तद्यासः कुमुजंगसायकमुबोऽथ प्रोच्यते योजनम् । याम्योदक्पुरयो:पळान्तरहतं भूवेष्टनं भांशहत् । तद्भक्तस्य पुरान्तराध्वन इह क्षेयं समं योजनम् ॥ १ ॥ इस स्होक द्वारा पृथिवीकी परिधि चार हजार नी सी सडसठ ४९६७ योजन और व्यास पन्द्रह सौ इन्यासी १५८१ योजन बताया है। कोई यूरोपनिवासी पण्डित सात हजार नौ सी बारह मीछ ७९१२ मीछ पृथिवीका व्यास मानते हैं। अन्य इससे भी न्यून या अधिक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कोई ठीक पृथिवीके नापकी व्यवस्था नहीं हो सकी है। अनेक विद्वानोंके परस्पर विरुद्ध मन माने नापोंसे पृथिवीके परिमाणकी यथार्थ व्यवस्था नहीं समझी जायगी। वस्तुतः यह रतप्रभा पृथिवी सात राजू लम्बी, एक राजू चौडी, और एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी समतल है। काचित् इसके प्रदेश ऊंचे, नीचे, भी हो गये हैं। गैंद या नारंगीके समान गोल माननेपर अनेक दोष आते हैं । सूर्यसिद्धान्तमें जो यह छिखा है कि " अल्पकायतया मर्त्याः स्वस्थानास्त्रितः मुखम्, पश्यन्ति वृत्तामप्येतां चक्राकारां वसुन्वराम् '' प्रथिवीकी अपेक्षा मनुष्योंका अत्यल्य शरीर

होनेसे छोटे छोटे मनुष्य गोल भी इस प्रथिवीको अपने स्थानसे चन्नके समान चपटी आकारवाळी देखते हैं । बात यह है कि मनुष्यकी चक्षुयें बहुत दूर तक छन्वे, चौडे, फैले हुये पदार्थको पूरा नहीं देख पाती हैं। अतः गोठ दीखना या चक्रके समान दीखना दोनों ही आन्तिज्ञान हैं। गोठ पृथिवी यदि भ्रमण करती हुयौ मानी जावेगी तो ध्रवतारा एक ही स्थानपर नहीं दीखना चाहिये। सूर्यके समान ध्रवतारा भी घृमनेवाले मनुष्योंको न्यारे न्यारे स्थानपर दीखना चाहिये था । किन्तु ऐसा . नहीं है। ध्रुवतारा रातमर एक ही स्थानपर दीखता है। पृथिवीका नाम गी है। गच्छति इति गीः जो चळती है. अतः वह प्रथिवी गी है. ऐसी पोळी, उचर, युक्तियोंसे प्रथिवी चळायमान सिद्ध करना शहुन्यवहारको नहीं समझना है। यों तो अचला, स्थिरा, अनन्ता ये नाम भी पृथिवींके हैं। जो कि असंख्य योजन लम्बी पृथिवीको स्थिर सिद्ध करते हैं । भूगोलवादियोंका कहना है कि किनारेसे देखनेपर दूरवर्ती जहाजका पहिले ऊर्घ्यभाग (मस्तूल) दीखता है, इसी प्रकार दूरसे ताड वृक्षको देखकर ऊपरला भ्रापा पहिले दीखता है। क्योंकि अधोभाग पृथिवीकी गोलाईकी ओटमें आ जाता है। छल्ल सिद्धान्तमें यह कहा है। " समता यदि विद्यते भुवस्तरवस्तालिनमा बहुच्छयाः कथ-मेव न दृष्टिगोचरं नु रहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः " ऐसी दीली पोली युक्तियोंको सुन कर हमें हंसी आती है। जब कि सौ हाथ ऊंचे पदार्थको दो कोससे देखनेपर दस हाथका अन्तर पड जाता है। जहाज या तालबुक्षका निचले दस हाथ भाग नहीं दखिता है । इतनेसे ही यदि प्रधिर्वाको गोल मान लिया जानेगा, तब तो भूमि पचास या सौ कोसकी ही सिद्धि हो सकेगी। ऐसी दशामें आग-रेको यदि गोछभूमिके ऊपर मान छिया जाय तो कानपुर पृथिवीके नीचे मानना पडेगा । किन्तु कुछ योरपवासिओंने अमेरिका (न्यूयार्क) को आगरके नीचे स्वीकार किया है। इसी प्रकार सिद्धान्त शिरोमणिके मूळोकाच्यायमें प्रथिवीके चपटी होनेमें यह आक्षेप किया गया है कि " यदि समा मुक्रो-दरसनिमा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः । उपरि दूरगतो sपि परिश्रमन् किमु नरैरमरैरिव नेक्ष्यते ॥ यदि निशाजनकः कनकाच्छः किम् तदन्तरगः स न दश्यते । उदगमन्तु मेरुरथांशुमान् कथमुदेति च दाक्षणभागके ॥ २ ॥ " इसका अर्थ यह है कि यदि दर्पणके पेटसारिखी भूमि समतक मानी जायगी, तो प्रथिविके ऊपर बहुत दूर प्राप्त हुआ भी चूमता हुआ सूर्य देवोंके समान मनुष्योंको क्यों नहीं दीखता है ! दसरी बात यह कही गयी है कि सूर्यकी ओट करनेवाला समेरु पर्वत यदि रातको कर देता है तो दृष्टा और सूर्यके अन्तरालमें प्राप्त हो रहा वह सोनेका बना हुआ सुमेरु पर्वत क्यों नहीं दीखता है। तथा मेरुकी आढसे निकलकर सर्यका उदय माना जायगा तो उत्तर दिशामें सूर्यका उदय होना चाहिये। क्योंकि मेरु उत्तरकी ओर है। शीतकाल्में जो पूर्वसे भी हट कर दक्षिणकी ओर सूर्व उदय हो रहा है, वह कैसे भी नहीं हो सकेगा। इस आक्षेपपर हमको यह कहना है कि यहांसे दो हजार कोसके एक योजन अनुसार आठ सौ योजन जपर सूर्य है। आजकर इतना ऊंचा मनुष्यका जाना दुर्कभ है। हां, देवता अवस्य ही सूर्यको पूमता हुआ देख

केते **हैं ।** जब यहींसे सूर्य चलता हुआ दीख रहा है तो जपर जानेकी क्या आवश्यकता **है ! पृथि**णी दर्पणके समान समतळ ही है। आंखोंके देखनेका स्वभाव ऐसा ही है, जिससे कि दूरवर्त्ती पदार्थका जपरका माग दृष्टिगोचर होता है। दूसरी बातपर यह कहना है कि कनकाचळकी ओटमें सूर्यके भा जानेसे कनकाच्छ कैसे दीख सकता है। रातके समय दीपक यदि भीतकी **आउ**में आजाय तो क्या भीत दीख जाती है ! " यथा प्रकाशिस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमस्त्यम् " अन्धकारमें बैठा हुआ पुरुष प्रकाशमें धरे हुये पदार्थको देख सकता है, किन्तु प्रकाश या अन्धेरेमें बैठा हुआ पुरुष अन्धकारमें स्थित पदार्थको नहीं देख सकता है। कणाद, गौतम, आदि ऋषियोंने भी '' सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः '' माना है । सूर्य जब सुमेरुकी आडमें आ जाता है तो यहांसे एक लाख योजन दूर पहुंच जाता है। किन्तु आंखें सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसिंठ योजन दुरवर्ती पदार्थसे अधिक दुरके पदार्थको नहीं देख सकती हैं। अतः जम्बूदीपकी वेदीके ऊपर श्रमण कर रहा सूर्य जब निषध पर्वतपर आता है तब यहां भरतक्षेत्रसे दीखता है। अतः पूर्व दिशासे उदय होना माना जाता है और पश्चिम निषधके ऊपर पहुंचनेपर हम छोगोंको सूर्य नहीं दीख पाता है। सूर्यकी किरणोंके नहीं पहुंचनेसे यहां रात हो जाती है। यही उदय, अस्त या दिन, रात, होनेका बीज है। किरणें पहुंचने या फैलनेका सिद्धान्तदृष्टिसे यह विचार है कि सूर्य, अग्नि या प्रदीप अपने परिमित लम्बे, चौडे, स्वकीयशरीरमें ही नियत है। उनके निभित्तसे यहां फैल रहे भिन प्रद्रलोंकी चमकी छी पर्यायें हो जाती हैं। सूर्य देशसे यहां कोई किरणें नहीं आती है। यूरोपके कतिपय विद्वानोंने भी सूर्यका घमना और प्रधिवीकी स्थिरता सिद्ध करनेके लिए अब अनेक युक्तियां उपस्थित की हैं। विशेषन विद्वान इस विषयका गम्भीर अन्वेषण कर सकते हैं।

कयं चास्थिरेपि भूगोले गंगासिध्वादयो नद्यः पूर्वापरसमुद्रगामिन्यो घटरन् १ भूगोलमध्यतः प्रभवादिति चेत्, कि पुनर्भूगोलमध्यं १ । उज्जयिनीति चेत्, न ततो गंगा-सिध्वादीनां प्रभवः सम्रुपलभ्यते । यस्माचल्यभवः प्रतीयते तदेव मध्यमिति चेत्, तदिदमित-न्याइतं । गंगाप्रभवदेशस्य मध्यत्वे सिन्धुप्रभवभूभागस्य ततोतिन्यविद्वतस्य मध्यत्वविरोधात् । स्ववाद्यदेशापेक्षयात्वस्य मध्यत्वे न किंचिदमध्यं स्यात् स्वसिद्धान्तपरित्यागश्चोज्जयिनी-मध्यवादिनां ।

दूसरी बात इम भूगोळअमण वादियोंसे यह पूंछते हैं कि भूगोळको अस्थिर माननेपर गंगा, ब्रह्मपुत्र, या सिन्धु, मर्मदा, आदि नदियां भट्टा पूर्वसमुद्रकी ओर और पश्चिमसमुद्रकी ओर जारहीं कैसे घटित हो सकेगी ! गोळ पुथिवीके संचलन होनेपर यहां बहां अस्तब्यस्न होकर फैळ जावेंगी, बैसे कि घूमते हुये लट्ट्रपर या घूम रही चाकीपर वहा दिया गया पानी यहां वहां कहीं भी विदिशाओं में वह निकल्सा है। यदि तुम भूगोळवादी वों बहां कि भूगोळके मन्यसे इन मदियोंकी अपित

ह्यी है। इस कारण ये पूर्वपश्चिम समुद्रकी और यह जाती है। यों कहनेपर हमारा प्रश्न उठता है कि भूगोलका मध्य फिर कौनसा स्थान माना गया है ? बताओ । यदि तम उजैनको भूगोळका मध्य कहांगे जैसा कि '' सिद्धान्तशिरोमणि '' में भूमध्य रेखाको कहते हुये किला है '' पहुंकीञ्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत् , सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा सवः " प्रनथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं पढ़ेगा। क्योंकि उस उज्जैनसे तो गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंकी उत्पत्ति कथमपि नहीं देखी जाती है। मालवदेशमें विराज रही उण्जैनसे कोई छोटी नदी भी नहीं उत्पन ह्यी है। हां, उपरके प्रान्तसे आरही एक पतळी शिप्रा नदी उज्जैन होकर अवस्य वह रही है। गंगा, और सिन्धुकी उत्पत्ति स्थान तो वहांसे सैकडों कोस दर है। यदि तुम यो कहो कि जिस स्थानसे उन नदियोंकी उत्पत्ति होरही प्रतीत होती है वही स्थान भूगोलका मध्य है। प्रन्थकार कहते है कि सो यह कहना तो अत्यधिक रूपसे व्याचातदोष युक्त हैं। गंगाके प्रभवस्थानको यदि मध्य माना जायगा तो सिन्धनदीके आध्यप्रवाही स्थानके भूभागको जोकि उस गंगोत्तरीसे बहुत व्यवधान युक्त होरहा है. मध्यपनका विरोध होजायगा। भावार्थ-तिब्बतमें पडे हुये कैलाश पर्वत इस नामसे पुकारे जानेवाले स्थानसे क्षुद्रसिन्धु नदी निकलती है। और हिमालयमें गंगोत्तरी पर्वतसे भ्रदगंगा नदी निकलती है। दोनों स्थानोंमें बीसों कोसका अन्तर है। इतने बढ़े अन्तरको ले रहे दो स्थानोंको पृथिवीका मध्यस्थान कहनेवालोंके ऊपर व्याघातदोष आपडता है। हा. अपने अपने छहां ओर फैले हुये बाह्यदेशकी अपेक्षा यदि इन दोनों प्रभव स्थानोंको मध्य माना जायगा तब तो कोई भी स्थान मध्यरहित नहीं हो सकता है। अपने अपने इधर उधर स्थानकी अपेक्षा सभी स्थल मध्य हो जायंगे । प्रथिवीको चपटी या प्रान्तभागवाली मानने-वाळोंके यहां कुछ अन्तस्थान या आदि स्थान, उपरिम स्थान, नीचे स्थल भले ही अमध्य स्वरूप मिल जांय, किन्तु पृथिवीको गोल माननेवालोंके यहां तो इस ढंगसे सभी मध्यस्थल बन बैठेंगे। दूसरी बात यह है कि यों माननेपर उज्जैनको प्रथिवीका मध्य कहनेवालोंके यहां अपने स्वीकृत सिद्धान्तका परित्याग हुआ जाता है।

तदपरित्यागे चोजनिया उत्तरतो नद्यः सर्वा उदक्षुख्यस्तस्या दक्षिणतोऽवाक्षुख्य-स्ततः पश्चिमतः मत्यङ्गुख्यस्ततः पूर्वतः माङ्गुख्यः मतीयरन्, भूम्यवगाहभेदास्त्रदीगितभेद इति चेस्न, भृगोळमध्ये महावगाहमतीतिमसंगात् । न हि यावानेव नीचैर्देशेवगाहस्तावानेवो-ध्रम्भूगोळे युष्यते । ततो नदीभिभूगोळानुख्यतामितिकम्य वहंतीति भूगोळिविदारणिमिति सममेव धरातळम्बळंवितुं युक्तं समुद्रादिस्थितिविरोधश्च तथा परिदृतः स्यात् ।

यदि उस सिद्धान्तका परियान नहीं करोगे यानी भूगोक्रवादी उस उज्जैनको मध्यदेश मानते रहनेका भाग्नह करेंगे, तब तो उज्जैनसे उत्तर ओरवाकी नदियां सब उत्तरकी ओर मुख करके आने

बहती रहेंगी और उस उज्जैनसे दक्षिण ओरसे वह रही नदियां सब दक्षिण मुखवाळी ही रहेगी, उस उज्जैनके पश्चिम बाज्से वह रही नदियां सब पश्चिमको मुख करती हुई और उस उज्जैनसे पूर्वकी ओरसे चालु हो रहीं नदिया सब पूर्वमुखवाली ही बहती हुई प्रतीत होनी चाहिये। अर्थात--गोल बस्तके मध्यस्थलसे जिस ओरको पानी बह जायगा ठीक उसी ओर सीधी रेखामें चलता रहेगा। पूर्व मुखवाली नदियां दक्षिण या उत्तरकी ओर कथमपि नहीं जा सकेंगी। किन्तु इसके विपरीत एक नदीकी भी गिब न्यारी न्यारी दिशाओं में हो रही टेढी, मेढी भिन्न भिन्न देखी जा रही है। छोटीसी सिप्रा नदी है। कहीं किसी दिशाकी ओर कचित् अन्य दिशाकी ओर मुखकर बहु रही है। यदि तुम भूमिकी गहराईके भेदसे नदीकी गतिमें भेद हो जाना स्वीकार करोगे, यानी जहां जैसी गहरी भूमि मिल जाती है उधरकी ओर नदी दुलक पडती है। गोल वस्तुमें भी नीचे, ऊंचे प्रदेश हैं ही। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो भूगोलके मध्यमें महान् अवगाहकी प्रतीति हो जानेका प्रसंग होगा । प्रथिवीको गेंदके सहश गोल या नारंगीके समान माननेवालोंके यहां भूमध्यदेशमे बडी गहराई मानी ही जावेगी । ऐसी दशामें नदीका बहुतसा जल वहां ही एकत्रित हो जावेगा । देखो, नीचे प्रदेशमें जितनी ही गहराई है उतनी ही गहराई ऊपर छ भूगोछमें मानना समुचित नहीं। तिस कारणसे तो यह ज्ञात होता है कि ये नदियां भूगोलका अतिक्रमण कर वह रही हैं। ऐसी दशामें नदियों करके भूगोळका विदारण हो जावेगा । अतः इस पृथिवीतलको दर्पणके समान समतल माननेका ही पक्ष अवलम्ब करना युक्त है। पृथिवीको समतल माननेसे एक यह भी लाभ है कि समुद्र, सरोवर आदिकी हो रही स्थितीके विरोधका भी परिहार तिस प्रकार चपटी माननेपर हो चुकता है। अर्थात् ---गोलभूमिपर अरबों खरबों मन समुद्र जल ठहर नहीं पाता है, दुलक पडेगा गिर पड़ेगा, द्वीपोंको बहा छ जायगा, कभी कहीं और कदाचित् कहीं समुद्र या तालाब बन जायेंगे, नियत स्थलोंपर समुद्र आदिकी स्थिति नहीं रह सकेगी।

तद्भूमिशक्तिविशेषात्स परिगीयत इति चेत्, तत एव समभूमौ छायादिभेदोस्तु । श्वक्यं कि वक्तुं छंकाभूमेरीदृशी शक्तिर्यतो मध्यान्हे अल्पछाया मान्यखेटाषुत्तरभूमेस्तु तादृशी यत-स्तद्धिष्ठिततारतम्यभा छाया ।

यदि आप भूगोळवादि यों कहो कि उस भूमिकी विशेषशक्तिसे वह समुद्रादि स्थितिके विशेषका परिहार किया गया बखाना जावेगा, तब तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्ति ही समतल भूमिमें छाया, परछाई आदि पडनेका भेद भी बन जाओ। चूंकि यों कहा जासकता है कि लंका भूमिकी इस प्रकार शक्ति है, जिससे कि दुपहरके समय मध्यान्हमें वहां छोटी छाया पडती है और मनखेडा आदिसे प्रारम्भ कर उत्तरदिशावाळी भूमिकी तो उस प्रकारकी शक्ति है जिससे कि भूमिपर अधिष्ठित होरहे पदार्थोंकी तरतमभावसे शोभित होरहीं छाया पडती है। अर्थाद जुमको

प्रथिवीमें आकर्षणराक्ति माननी ही पडती है। आर्यभट्टने गोलपादमें कहा है कि " यहत् कदम्बपुष्प-मन्यः प्रचितः समंततः कुषुमैः । तद्वद्वि सर्वजङजैः स्थलजैश्व भूगोङः '' आकर्षणराक्ति अनुसार प्रियंगिं सब ओरसे पदार्थ खिचकर चुपट रहे हैं। भिद्रान्तिशरोमिणिनें यों कहा है " आकृष्टि शक्तिश्व महीतया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या, आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क पतिवयं खे '' प्रथिवीमें आकर्षणराक्ति विद्यमान है. उस निजकी राक्ति करके गुरु पदार्थको अपने अभिमुख खैंच छेती है और अपनेपर टिका छेती है। ने पदार्थ पडते हुये सारिखे दीखते हैं, क्लुतः वे खिच रहे हैं । सब ओरसे सम हो रहे आकाशमें यह माटी प्रथिती भठा कहा गिरे ? इस आकर्षण शक्तिसे सम्पूर्ण पदार्थ प्रथिवीपर गिरकर ठहर जाते हैं। '' यो यत्र तिष्ठत्यवर्नि तळस्था मात्मानमास्या उपरि स्थितं च. स मन्यतेऽतः कुचतुर्थं संस्था मिथश्वते विर्ध्यमित्रामनन्ति । अधः शिरस्काः कुदला-न्तरस्थारुखाया मनुष्या इत्र नीरतोर, अनाकुखास्तिर्य्यगधः स्थिताश्च तिष्ठन्ति ते तत्र वयं यथात्र " अर्थ यह है कि जो मनुष्य जहां ठहर रहा है वह अपनेको इस प्रथिवीके ऊपर ठहरा हुआ और प्रथिवीको अपने नीचे स्थिर हो रही मानता है इस कारण प्रथिवीके चारों ओर ठहर रहे मनुष्य परस्पर अपनेको वे तिरछा समान मान रहे हैं, यानी अपनेको ऊपर और दूसरोंको नीचे ठहर रहा समझ बैठते हैं। जैसे कि जलके तीरपर खड़े होकर मनुष्य नीचेकी ओर सिरवाले और ऊपर प्रथिवीकी ओर चपटे इये पांत्रवाले होते सन्ते छायाको देखते हैं । किन्त तिरहे, नीचे, स्थित हो रहे वे मनुष्य आकुळतारहित होकर वहीं निवास करते हैं जैसे कि हम यहां सानन्द रहते हैं। आकाशकी ओर गिर नहीं पडते हैं और भी कहा है कि " सर्वतः पर्वतारामप्रामचैत्यचयैश्वितः । कदम्बकुसुमप्रन्थिः केसरप्रकटैं।रेत्र '' गोळाच्यायमें कदम्बके फूळकी गांठ समान पृथिवीको सब ओरसे पर्वत, गांव, बाग, नदी समुदाय करके गिरा हुआ माना है। इस भास्कराचार्यजीके कथनपर इसकी यह कहना है कि आर्र्मणशक्तिको प्रथियीमें भले ही माना जाय । किन्तु इतनी बढी आकर्षणशक्ति प्र**थियीमें** नहीं है जो कि समद्र, पर्वत, आदि महान् स्कन्धोंको खीचती रहे नीचेको नहीं गिरने देवे । पौद्रलिक पदार्थीमें गुरुत्वशक्ति (भारीपन) भी विद्यमान है जिससे कि वे अधःपतन स्वभाववाले हैं । चुम्बककी आकर्षणशक्ति सुईको गिरनेस रोक सकती है, पहाडको गिरनेसे नहीं रोक सकती है। छायाका दृष्टान्त तुम्हारे या नैयायिक के मत अनुसार विषम पडता है, वैशेषिकोंने छायाको तेजोऽभाव माना है। अतः वह तुच्छ पदार्थ गिर नहीं सकता है। जैनसिद्धान्त अनुसार " छेतुं भेतुं अन्यत्र नेतुं नैव शक्यते " ऐसे गौरवरहित और प्रकाशको रोकनेवाळे निमित्तोंसे हो रही छाया मानी गयी है। विषम द्रष्टान्तसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अन्यया स्वमका दृष्टान्त पाकर ज्ञानाहैत या ब्रह्मादैत भी साधा जा सकता है, जो कि तुमको आनिष्ट पडेगा । पदार्थीमें अनेक राक्तियोंको हम स्वीकार करते हैं । दूप-हरके समय छंकामें मनुष्यकी दो. तीन. अंगुल छाया पडती है। और प्रनाके निकट प्रान्तमें बस रहे मान्यखेटसे उत्तरकी ओर निवासवाके मनुष्योंकी छांह बढती जाती है । यों प्रथिवीकी गांठकी शक्तियाँ

अनुसार या कुछ मीचा छंचा प्रदेश होनेसे छांह घट बढ जाती है। कई निमित्त कारणोंसे अनेक न जाने क्या क्या नैमित्तिक कार्य बन जाते हैं। कठिन छोहे (ईस्पात) का हुरा नरम शाणसे पैना हो जाता है। चमडा वा कपडासे भी कुछ पैना कर छिया जाता है। जनी कपडेपरसे मैछ या तेलकी चीकट अथवा डामर तार कोलको महीका तेल या पैट्रेल थो डालता है। जैसे कि आत्मापर चुपटे हुये कर्मकलंकको तपस्या करके हटा दिया जाता है।

तथा दर्पणसमतकायामि भूमौ न सर्वेषामुपरिस्थितं सूर्ये छायाविरहस्तस्यास्तद-भेदनिमित्तक्षतिविश्वेषासद्भावात् । तथा विद्यमित समरात्रमि तुल्यमध्यदिने वा भूमि-इक्तिविश्वेषादस्तु ।

तिसी प्रकार दर्पणके समान समतल भी भूमिमें सन्पूर्णके उत्पर सूर्यके स्थित हो जानेपर छायाका अभाव नहीं हो सकता है। क्योंकि उस छायाका निमित्त कारण उस पृथिवीकी अभिन्न हो रही विशेष निमित्त शाक्तियोंका असद्भाव है। सद्भाव पाठ योग्य है। भावार्थ—जल, लहरवाला जल, लहरा, रिवत पात्र (कलईदार गिलास) आदिमें जो नाना प्रकार प्रतिविक्त पडते है। उसका निमित्त कारण उन पदार्थोंकी आत्मभूत हो रहीं विभिन्न शक्तियों हैं। उसी प्रकार मध्याहमें जब सिरके उत्पर सूर्य आ जाता है तब भी भूमिकी विभिन्न शक्तियों अनुसार थोडीसी छाया पढ जाती है। सूर्यकी ठीक सीधी अधोरेखापर आजानेका किसी मनुष्यको कदाचित् ही अवसर पडता है। सीधी अधोरेखाके थोडा भी इधर उधर हो जानेपर छाया पढ जायगी। तथा विषुमान अवस्थामें दिनके सनान रातका होना अथवा तुल्य मध्यदिनका होना भी भूमिकी शक्तिविशेषसे हो जाओ। अर्थात्—सिद्धान्तिशिगोणिके अनुसार लंका और उज्जैनके उत्पर जाती हुई कुरुक्षेत्र आदि देशोंके छू रही दोनों घुवोंके उत्परकी रेखाको भूमध्यरेखा या विषुमत् रेखा माना गया है। विषुमद् इत्त अवस्थामें दिन और रात समान हो जाते हैं। ये सब बातें भूमिकी शिक्त और सूर्यके अमण विशेषोंसे साध्य हैं।

प्राच्याग्रुद्यः प्रतीच्यामस्तमयः सूर्यस्य तत एव घटते । कार्यविशेषदर्शनादृद्रव्यस्य शक्तिविशेषानुपानस्याविरोधात् अन्यथा दृष्ट्यानेरदृष्टकल्पनायाश्चावश्यंभावित्वात् । सा च पापीयसी महामोद्दविजृंभितमावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी भूमिकी विशेषशाक्तिओंसे पूर्व दिशामें सूर्यका उदय और पश्चिम दिशामें सूर्यका अस्त होना घटित हो जाता है। क्योंकि विशेषकार्योंके देखनेसे द्रव्यकी विशेष शक्तिओंके अनुमान हो जानेका कोई विशेष नहीं है। अन्य प्रकारोंसे यदि सूर्यके उदय, अस्त, होने माने जायंगे तो देखे जारहे की हानि और अदृष्टपंदार्थ की कल्पना अवश्य हो जावेगी। जो कि वह दृष्टहानि और अदृष्टकल्पना अत्यधिक पापिनी होरही भूगोळ अमणवादियोंके महान् मेहकी चेष्टाको जता रही है।

अर्थात् - ऋतुओंका परिवर्तन, वृष्टि, आंधी, जाडा, गरमी आंदि पडना, नियत बनस्पतियोंकी उत्पत्ति, विमिन्न समयोंमें अनेक वृक्षोंका फलना, फलना, आदि कहीं सोना, कवित् केसर, कहीं रत्न, आदि का उत्पन्न होना कहीं उण्णकालमें भी शीत पडना, डिम (बरफ) गिरना, कवित् शीत कालमें भी उणाता होना इत्यादिक सम्पूर्ण कार्य जैसे भूमिकी शक्तिसे होजाते हैं, उसी प्रकार पर्वतमय भूमिके उरली ओर आजानेपर सूर्यका उदय और परली ओर जानेसे सूर्यका अस्त होना बन जाता है। भूमिकी शक्ति अनुसार सूर्यकी किरणें कहीं दूरतक फैलती हैं और कहीं निकट प्रदेशोंतक ही जा पाती हैं। चौमासेमें दिन फलनेपर देख सकते हो। भगोंनामें पानी भर देनेपर बीचमें घरा हुआ रुपया ऊंचा उठा हुआ दीखता है। बादलोंमें कभी सूर्य भी इसी प्रकार देरतक प्रकाश कर फिर झट रात होजाती देखी जाती है। बाल गोपालोंतकमें प्रसिद्ध होरही बातको टाल देना और बिलकुल नई बातको गढ लेना उचित नहीं है। "शक्तयः कार्यानुमेयाः"। भूमिकी विलक्षण शक्तियां तुमको भी माननी पडेगी। बड़े भारी पापको महामोही जीव भले ही करें, विचारशील विद्वान् ऐसे अयुक्त सिद्धान्ताभासोंको नहीं गढते फिरते हैं।

न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे मतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपच-यापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसङ्गावात् । ततो नोज्जयिन्या उत्तरोत्तरभूमौ निम्नायां मध्यं दिने छायाद्यद्धिर्विरुध्यते । नापि ततो दक्षिणक्षितौ समुन्नतायां छायाद्यानिरुन्नतेतराकारभेदद्वारायाः शक्तिभेदमसिद्धेः । प्रदीपादिवादित्यान्न द्रे छायाया द्यद्विघटनात् निकटे प्रभातोपपत्तेः ।

हम जैन सर्वत्र दर्पण में समान सपाट, समतल्वाली होरही ही भूमिको नहीं वखानते हैं। स्योंिक अनेक स्थलोंपर ऊंची, नीची, देखी जारही भूमिकी प्रतीतिओंसे विरोध होजायगा। काल आदि निमित्तोंके वशसे उस भूमिका घट जाना, बढ जाना, सिद्ध है। अतः भूमिके नीचे, ऊंचे, आकारंका सद्भाव होनेसे समरात्र आदि व्यवस्थायें बन जाती हैं। तितही कारणसे यानी पृथिविके ऊंचे नीचे प्रदेशवाली होनेसे उज्जैनसे उत्तर, उत्तर, की ओर निचली भूमिमें दिनके मध्य अवसरपर छायाका बढना विरुद्ध नहीं पडता है और उस उज्जैनसे दक्षिण की ओर अधिक ऊंची होरही पृथिवीमें छायाकी हानि होना भी विरुद्ध नहीं पडता है। क्योंिक ऊंचे, नीचे, आकारवाले मिक भिन्न प्रदेशों द्वारा उस भूमिकी शक्तियों में मेदोंकी प्रसिद्धी होरही है। दूर होजानेपर जैसे प्रदीपसे छायाका बढना घटित होजाता है, उसी प्रकार सूर्यसे दूर होनेपर छाया बढ जाती है। अतः निकट प्रदेशोंमें प्रातःकाल होना बन जाता है। भावार्थ—इस चित्रा पृथिवीपर अनेक ऊंचे, नीचे, स्थक बन जाते हैं। कुएमें बैठे हुये मनुष्य और पहाडकी चोटीपर घढे हुये मनुष्यकी अपेक्षा घाम छोर छोहमें जैसे अंतर पढ जाते हैं, उसी प्रकार कालवश होगये भूमिके ऊंचे, नीचे, स्थानोंपर छायाहादि या छायाहानि होजाती है। एकसी चौरासी गतिओंमेंसे भीतरली गलीमें सूर्यके घूमनेपर दिन बढ जाता है। अभात शीघ हो जाता है। एकसी चौरासी गतिओंमेंसे भीतरली गलीमें सूर्यके घूमनेपर दिन बढ जाता है। अभात शीघ हो जाता है। जाता है और पांचती दश योजन परे बाहरली गलीमें घूमनेपर दिन बढ जाता है। अभात शीघ हो जाता है। इसते होने सुर्वते प्रकार वहां प्रकार होजाता है।

तत एव नोदयास्तमययोः सूर्यादेविंबार्धदर्शनं विरुध्यते । भूमिसंख्यतया वा सूर्यादि-मतीतिर्न संभान्या, द्रादिभूमेस्तथाविधदर्शनजननग्रक्तिसद्भावात् । न च भूमात्रनिवंधनाः सम-रात्रादयस्तेषां ज्योतिष्कगतिविशेषनिवंधनात्वादित्यावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी ऊंचे, नीचे, प्रदेशों अनुसार उदय समय और अस्त समयपर सूर्य, चन्द्रमा आदिके बिम्बोंका आधा दर्शन होना विरुद्ध नहीं पडता है। यहां. पक्षान्तर अनुसार भूमिमें संख्या होकरके सूर्य, चंद्र, आदिकी प्रतीति होना सम्भावना योग्य नहीं है। क्योंकि दूर, अतिदूर, आदि भूमिके तिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्षको उपजानेकी शक्तिका सद्भाव है। यानी पृथिविको गोल मानने बाले यह हेतु देते हैं कि चारों ओर दृष्टि पसार देखनेपर सब ओर गोल दीखता है और आकाशमण्डल गोल कटोरेके समान होकर भूमिको ढक रहा प्रतीत होता है। दूर वर्त रहे सूर्य, चन्द्रमा गोल पृथिविसे स्पर्श कर रहे हैं। अतः पृथिवी गोल है। किन्तु यह युक्ति निर्वल है। द्रव्य इन्द्रिय मानी गयी आंखोंकी आकृति मसूरकी दाल समान गोल होनेसे चारों ओर गोल घेरेमें वस्तुयें दीख जाती हैं। दूरका पदार्थ यहांसे नीचा होता हुआ दीन्त्र जायगा। यह दृष्टिका भ्रम है। अलीक ज्ञानोंने परम् धे सिद्धान्तकी पृष्टि नहीं होसकती है। दूमरी बात यह है कि समरात्रि दिन, बढना, आदि होनेमें हम जैन केवल पृथिवीको ही कारण नहीं मानते हैं। उनके कारण अन्य भी हैं। उमोतिक विमानोंकी गाति विशेषको कारण मानकर भी समरात्र आदिक होजाते हैं, इसी बातका श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकों द्वारा प्रकटीकरण करते हैं।

समरात्रं दिवावृद्धिर्हानिदींषाच युज्यते । छायात्रहोपरागादिर्यथा ज्योतिर्गतिस्तथा ॥ १५ ॥ खखंडभेदतः सिद्धा बाह्याभ्यंतरमध्यतः । तथाभियोग्यदेवानां गतिभेदात्स्वभावतः ॥ १६ ॥

दिनके ठीक बराबर रात्रि होना या दिन बढना, रात घटना और दिन घटना, रात बढना अथवा छाया पढना या प्रहोंका उपराग (प्रहण) होना राशिसंक्रमण आदिक जैसे ज्योतिषियोंकी गतिस हो रहे युक्तिसिद्ध हैं । अथवा उन ज्योतिषियोंकी गति अनुसार हो जाते हैं । उसी प्रकार बाहरकी गठी, अन्यन्तर वीथी, मध्यम वीथीके, अनुसार आकाशके खण्डोंके भेदसे वह ज्योतिषियोंकी गति न्यारी न्यारी सिद्ध है । क्योंकि उन सूर्य आदि विमानोंको खींचनेवाळे तिस प्रकार गतिप्रेमी आभियोग्यजातिके देवोंकी गतियां भिन भिन्न प्रकारकी हैं । यथार्य बात यह है कि तिस प्रकार अनादि काळसे सूर्य आदिक विमान स्वभावसे ही उन उन प्रति दिनके छिये नियत हो रही गळियोंमें

भमण करते हैं। अर्थात् समरात्र आदि कार्य तो ज्योतिष्क विमानोंकी भिन्न भिन्न आकाश खण्डों में हो रही गतिके अनुसार हो जाते हैं। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमानोंकी गतिका भेद भी आभियोग्य जातिके देवोंकी विशेषगतिसे या स्वकीय स्वकीय स्वभावसे ही बन रहा है।

सूर्यस्य तावचतुर्शातिशतं मंडलानि । तत्र पंचषष्टिरभ्यंतरे जंबृद्वीपस्याशीतिशतयोजनं समबगाह्य प्रकाशनाज्जंबृद्वीपाद्वाह्यमंडलान्येकामर्विशतिशतं छवणोदस्याभ्यंतरे त्रीणित्रिशानि योजनशतान्यवगाह्य तस्य प्रकाशनात् । द्वियोजनमेकैकमंडलांतरं द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशयो- जनकष्टिभागाश्रैकैकमुद्दयांतरं ।

उक्त वार्तिकोंका विवरण यह है। सबसे प्रथम यों कहना है कि जम्बूदीपमें सूर्यके एकसी चौरासी मण्डल माने गये हैं। पांचसी दश और अडतालीस बटे इक्सिट योजन चौडे एवं कुछ अधिक तीन लाख परिधिवाले गोल चार क्षेत्रमें सूर्यके एकसी तिरासी तो दो दो योजन चौडे अन्तराल हैं। और एक सी चौरासी सूर्य मण्डलके अमण स्थान हैं। उनमें पेंसठ तो जम्बूद्वीपके भीतर हैं।क्योंकि जम्बूद्वीपकी वेदीसे एक सी अस्सी योजनतक भीतर घुसकर सूर्य प्रकाशता रहता है। हा, जम्बूद्वीपसे बाहर लगणसमुद्रमें एकसी उनीस मण्डल हैं। क्योंकि लगणसमुद्रके तीनसी तीस और अडतालीस बटे इक्सिट योजन भीतर जाकर उस सूर्यका प्रकाशना आगमोक्त है। एक एक मण्डलका अन्तराल दो दो योजन है और अडतालीस बटे इक्सिट योजनसे अधिक हो रहे दो योजन तो एक एक उदय अवस्थाका अन्तराल कहा जाता है। अडतालीस बटे इक्सिट योजनका सूर्य है और दो योजन बीचमें रीता स्थान है। अतः यह पूरा स्थान पांचती दस और अडतालीस बटे इक्सिट योजन हो जाता है। जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर यह चार क्षेत्र पांचसी दस योजन चौडा होकर तीन लाख अठारह हजार तीनसी चौदह योजन परिधिवाला गोल व्यवस्थित है। सूर्यका चार क्षेत्र यहासे आठसी योजन ऊपर और चन्द्रमाका इतना ही चार क्षेत्र आठसी अस्ती योजन ऊंचा जाकर समझना चाहिये।

तत्र यदा त्रीणि श्रतसहस्राणि षोडशसहस्राणि सप्तश्नतानि द्यधिकानि परिधिपरिमाणं बिश्चिति तुल्नेषप्रवेशदिनगोचरे सर्वपध्यमंडलं मेरुं पंचचत्वारिंशयोजनसहस्नैः पंचसप्तियोजन्त्रेशविद्यां योजनैकष्टिभागिश्राप्य सूर्यः प्रकाशयित तदाहिन पंचदशमुहूर्ता भवंति रात्री विति समरात्रं सिध्यति । विद्यपति दिने द्वाविश्वत्येकयोजनष्टिभागसातिरेकाष्ट्रसप्तिदिश्यतपंच-सहस्रयोजनपरिमाणैकमुहूर्तगतिक्षेत्रोपपत्तेः ।

उन एकसी चौरासी मण्डलोंमें जब सूर्य सम्पूर्ण मण्डलोंके मध्यमें स्थित हो रहा प्रकाश रहा है, तब दिन और रात्रिमें पन्दह पन्दह मुदूर्त होते हैं यों समान दिन रात सिद्ध हो जाता है। उस समय जम्बूदीपके सूर्यका अमण तीन लाख सोल्ड हजार और दो अधिक सातसी ३१६७०२ योजन परिचिके

परिमाणको घारता है। दक्षिणायनमें तुळाराशिके प्रवेश अवसरपर और उत्तरायणमें मेघराशिके प्रवेशके दिनका विषय होनेपर सूर्य मेरुको पेताछीस हजार योजन और पिचत्तर योजन तथा योजनके इकसठ मागों मेंसे चौबीस भागों करके दूर अप्राप्त हो कर चमक रहा है। अर्थात --- जम्ब्रद्वीपकी वेदीके ऊपर जम्बूद्दीपका सूर्य घूमता रहता है। उत्तरायणका प्रकरण मिळनेपर वेदीके एकसी असी योजन भीतरतक घुसकर प्रकाशता है और दक्षिणायनके दिनोंका विषय मिळनेपर वेदीसे तीनसी तीस और अडतालीस बटे इससिठ योजनतक बाहर लक्ष्ण समुद्रमें जाकर प्रकाशता है। चार क्षेत्र पांचसी दशको आधा कर यानी एक ओरके दोसी पचपनमेंस द्वीपके चार क्षेत्र एकसी अस्तीको घटा कर पिचलर योजन वेदीसे बाहर हटकर बीचली गली आती है। दश हजार योजन चौढे सुमेरु पर्वतके आधे पांच इजारको अर्घ जम्बूदीप पचास हजारमेंसे घटा देनेपर वेदीसे मेरुका व्यवधान पैतालीस हजार समझा जाता है। चुंकि बीचकी गली वेदीसे पिचत्तर योजन बाहर हटकर पड़ी है। अतः मध्यम गलीसे मेरुका अन्तर पैंतालीस हजार पिचत्तर योजन ४५०७५ है। "इदि जोयण एगारह भागो जदि वहुदे यहा यदि वा '' इस नियम अनुसार आठसी योजन ऊंचे सूर्यके समतलपर सुदर्शन बहुत्तर और आठ बटे ग्यारह योजन घट गया है। एक ओरकी घटाईके लिये आधा करनेपर छत्तीस और बढ जाते हैं। अतः मध्यम गछीसे मेरुका अन्तर पैंताछीस हजार एकसौ ग्यारह योजन हो जाता है। किन्तु गहां मेरुकी ग्यारहमें भाग घटाईके अनुसार छत्तीस और चार बटे ग्यारह योजनोंकी विवक्षा नहीं की गयी है। मध्यम वीथीतकका व्यास एक लाख एकसी पचास १००१५० योजन है । " विक्खंभकगदहगुण करणी वहस्स परिरयो होदि '' इस नियमके अनुसार इसका वर्ग दस अरब तीन करोड बाईस हजार पांचसी होता है. इसको दस गुना करनेपर एक खरब तीस करोड दो लाख पदीस हजार १००३००२२५००० होता है। इसका वर्गमुळ निकाळनेसे तीन लाख सोलह हजार सातसी दो कुछ अधिक योजन मध्यम वीधीकी परिधि (घेरा) बन जाती है। चार क्षेत्र पांचसी दसके आधे दो सो पचपनमेंसे एकसो असी योजन भीतरला भाग घटा देनेपर वेदीसे पिचत्तर योजन लवण समुद्रमें घुसकर मध्यम गठी मिलती है। भीतरले एकसी अस्सीमें पिचत्तर जोड देनेसे या बाहरले तीनसी तीसमेंसे पिचहत्तर घटा देनेपर मध्यम मार्ग दो सौ पचपन योजन आ जाता है। जो कि चार क्षेत्र पांचसी दसका आधा है। छड छड महीनेके उत्तरायण, दक्षिणायन गमनके ठीक विचले एक एक दिनके लिये दिन और रात समान हो जाते हैं। " लम्मासद्वगयाणं जोइसयाणं समाणदिणरत्ती. तं इसुवं '' (त्रिक्नोकसार) इसको विषुमान् या विषुव कहते हैं । विषुमान् दिनमें पांच हजार दोसौ अठहत्तर और एक योजनके साठ भागोंमेंसे बाईस भागसे अधिक परिमाणबाला स्थान एक मुद्धर्त यानी दो घडी अथवा अडतालीस मिनटमें हो रही सूर्यकी गतिका क्षेत्र बन जाता है। अर्थात् - ढाई दीपके सभी सूर्य साठ मुहूर्तमें अपनी योग्य परिधीको घूमकर पूरा कर छेते हैं। जब कि जम्बूद्वीपका सूर्य मध्यम निधीपर अमण कर रहा साठ मुद्धर्तमें तीन छान्न, सोछह दजार सात सी दो योजन कुछ

अधिक परिधिको पूरा करता है तो एक मुहूर्तमें कितनी परिधिपर चक्कर कगायगा ? इस त्रैराशिकके अनुसार एक मुहर्राकी गतिका क्षेत्र निकल आता है। जम्बूद्वीपमें आमने सामने सदा वर्रा रहे दो सूर्य हैं बो कि जम्बूद्वीपके अन्तमें वेदीके ऊपर एकसी चौरासी गकियोंने घूमते रहते हैं। व्याणसमुद्रमें जम्बूद्वीपकी नेदीसे पचास इजार भीतर बुसकर उठे हुये जलभागमें घृम रहा लवणसमुद्रका पहिला सूर्य है। इससे एक छाख योजन भीतर और घुसकर दूसरा सूर्य है जो कि छवणसमुद्रकी बेदी (परछी) से पचास हजार योजन उरली ओर जलमें है। यों छवणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य हैं और इसी प्रकार सुमेरुको बीचमें देकर इनके ठीक सामने परछी ओर छवणसमुद्रमें दो अन्य सूर्य हैं, जो कि साठि मुद्धर्तमें अपनी अपनी परिधिका पूरा भ्रमण कर छेते हैं। यों चारों सूर्य ग्यारह हजारसे छेकर सोछह हजार योजनतक ऊपर उठे हुये जल्में स्वकीय नियत स्थानोंपर वृमते रहते हैं। दो लाख योजन चौडे लवणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य इधर उधरकी वेदियोंसे पचास हजार योजन घुसकर हैं। अतः सूर्यकी चौडाई अडतालीस बटे इकसिंठ योजनको एक लाखमें घटा देनेसे निन्यानवै इजार नौ से निन्यानवें और तेरह बटे इकसिठ योजन छवण समुद्र सम्बन्धी एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका अन्तर निकल आता है। धातकीखण्डमें बारह सूर्य हैं। " दो हो वग्गं बारस बादाळ बहत्तरिंद इणंसखा पुक्खर दक्रोत्ति परदो अविडिया सच्च जोइगणा ''। जो कि एक ओर छह और ठीक उसके सामने सुमेरु पर्व-तका अन्तराल देकर परली ओर छह यूम रहे हैं। " सगरविदलविंबूणा लवणादी सगदिवायरद्ध-हिया, सूरंतरं सुजगदी आसण्ण पहंतरं तु तस्स दछं '' इस त्रिछोकसारकी गाधा अनुसार सूर्य सूर्यका अन्तर और वेदिकासे सूर्यका अन्तर निकाळ लेना चाहिये । इसी प्रकार काळोदक समुद्र और पुष्करार्ध द्वीपके न्यालीस और बहत्तरि सूर्योंको भी जान ले। एक ओर आधे और इसी प्रकार दूसरी ओर सुद-र्शन मेरुका व्यवधान देकर इकईस और छत्तीस सूर्य तारतम्यको छ रही गतिसे भ्रमण कर रहे हैं। दो दो सूर्य और दो दो चन्द्रमाका चार क्षेत्र एक एक नियत है। हां, ढाई द्वीपसे बाहर द्वीपों और समुद्रोंकी वेदीसे पचास हजार योजन और उससे परें एक छाख योजन चंछ कर गोछ द्वीप, समुद्रोंमें बर्ज्य रचिलये गये हैं। उनमें एक सो चवालीस, एक सो अडतालीस, आदि नियत हो रहे सूर्य-बिम्ब सूक्ष्म परिधिके विभाग अनुसार अवस्थित हैं। यों ढाई उद्घारसागरके समयों प्रमाण असंस्थाते द्वीप समुद्रोंमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा आदि हैं । इसका विशेष त्रिलोकसारमें दृष्टव्य है ।

दक्षिणोत्तरे समप्रणिधीनां च व्यवहितानामपि जनानां प्राच्यमादित्यमतीतिश्र छंकादि-कुरुक्षेत्रांतरदेशस्थानामभिमुखमादित्यस्योदयात् । अष्टचत्वारिंशयौजनैकपष्टिभागत्वात् प्रमाण-योजनापेक्षया सातिरेकत्रिनवतियोजनञ्जतत्रयममाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया द्रादयत्वाच स्वाभिमुखळंभीद्रपविभाससिद्धेः ।

दक्षिण और उत्तरदेशोंमें समान रेखान्तरपर प्राप्त हो रहे और दूरदेशका व्यवधान छेड रहे भी मनुष्योंके पूर्वदिशामें ही सूर्यके उदयकी प्रशीति हो रही है। क्योंकि उद्भारे सादि डेकार कुरुक्षेत्रतक अनेक मध्यवत्ती देशों में स्थित हो रहे मनुष्योंके अभिमुख होकर सूर्यका उदय हो रहा है। कारण कि वहे माने जा रहे प्रमाण योजनकी अपेक्षा एक योजनके इकसिठ मागों में अडताठीस माग परिमाण सूर्य है। चूंकि चार कोसके छोटे योजनसे पांचसी गुना बडा योजन होता है। अतः अडताठीसको पांचसीसे गुणा कर देनेपर और इकसिठका माग देनेसे तीनसी तिरानवे सही सत्ताईस बटे इकसिठ छोटे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेध अंगुलसे बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुछ अधिक तीनसी तिरानवे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेध अंगुलसे बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुछ अधिक तीनसी तिरानवे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेध अंगुलसे बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुछ अधिक तीनसी तिरानवे योजनका एक धनुषका एक कोस और चार कोसका एक योजन, ऐसे तीनसी तिरानवे योजन लग्न चौडा सूर्य है। दूसरी बात यह है कि उगते समय यहांसे हजारों बडे योजनों दूर सूर्यका उदय होनेसे व्यवहित हो रहे मनुष्योंके भी अपने अपने अभिमुख आकाशमें लटक रहे देदीप्यमान सूर्यका प्रतिभासना सिद्ध है। भावार्य—सूर्य भी बडा है और चमकदार है तथा उदय होते समय सूर्य यहांसे बहुत दूर है। सबसे बडा दिन हो जानेपर सेतालीस हजार दो सी त्रेसिठ बडे योजन दूरपर रहता है और छोटे दिनके अवसरपर इकतीस हजार आठसी इकतीस योजन दूर है। अतः लङ्का, उज्लेन, कुरुक्षेत्र, आदि दूर दूर देशोंपर ठहरे मनुष्योंको भी अपनी पूर्व दिशाकी ओर सन्मुखरेखापर दीख जाता है। जितना बडा या दूरवर्ती पदार्थ होता है उतनी ही देखनेवालोंको उसकी सरल रेखाकी टेड कमती होती जाती दीखती है।

द्वितीये अहिन तथा प्रतिभासः क्कृतो न स्यात्तदिविश्वेषादिति चेत्र, मंडलांतरे सूर्यस्यो-दयात् तदंतरस्योत्सेथयोजनापेक्षया द्वाविशत्येकषष्टिभागयोजनसहस्रप्रमाणत्वात्, उत्तरायणे तदुत्तरतः प्रतिभासस्योगपत्तेः दक्षिणायने तद्दक्षिणतः प्रतिभासनस्य घटनात् ।

कोई प्रतिवादी आक्षेप करता है कि दूसरे दिन तिस प्रकार अपने ठीक सन्मुख गगनतल्में अवलम्बित ही रहे सूर्यका प्रतिभास किस कारणसे नहीं हो पाता है ! जब कि उतने ही बढे सूर्यका उतनी ही दूरपर उदय होना अन्तररिहत विद्यमान है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह ते। नहीं कहना। क्योंकि दूसरे दिन अगले दूसरे मण्डलमें सूर्यका उदय हो जाता है । पिहले दिनके सूर्योदयके इस दूमरे दिनके सूर्योदयका अन्तर छोटे उत्सेघ योजनोंकी अपेक्षा एक हजार योजनप्रमाण हो जाता है । अर्थात्—एक एक मण्डलका अन्तर बढे योजनोंसे दो योजन है । पाच सो से गुणा कर देनेपर छोटे एक हजार योजन हो जाते हैं । '' दीडबिह चारिक वेदीए दिणगदीहिंदे उदया '' इस नियमके अनुसार बाईस बटे इकसिंठ बढे योजन प्रमाण संस्था निका के छेनी चाहिये । स्थूल रूपसे सर्वत्र जम्बूदीप सम्बन्धी एक सी चौरासी मण्डलोंने प्रत्येकका एक एक हजार छोटे योजनंका व्यवधान पढ़ा हुआ है । अतः सूर्यके उत्तरायण होनेपर उन लंका, कुरुक्षेत्र आदिके उत्तरकी ओर झुकता हुआ हूं । अतः सूर्यके उत्तरायण होनेपर उन लंका, कुरुक्षेत्र आदिके उत्तरकी ओर झुकता हुआ यूर्वमें प्रातःकाल सूर्योदयका प्रतिभास जाना घटिक

हो जाता है। छोटे हजार योजन हट हटकर प्रति दिन उदय होनेसे उत्तर दक्षिणकी भोर सूर्यों-

सूर्यपरिणामदक्षिणोत्तरसमप्रणिधिभूभागादन्यपदेशे कृतः पाची सिद्धिरिति चैत्, बद-नंतरमंडछे तथा सर्वाभिम्रखमादित्यस्योदयादेवेति सर्वमनवद्यं, क्षेत्रांतरेपि तथा व्यवहारसिद्धेः।

कोई पूंछता है कि सूर्योदय परिणामके धारी पूर्वदेशों या उसके समतल निकटवर्ती उत्तर दक्षिण भूमागोंमें सूर्योदय अनुसार पूर्विदेशाकी मले ही प्रसिद्धि हो जाय, किन्तु उनसे न्यारे अन्य प्रदेशोंमें मला पूर्विदेशाकी सिद्धि किस ढंगसे करोगे ? इस प्रकार पूछनेपर तो हम समाधान करते हैं कि उसके अन्यवहित परली ओरके मण्डलपर तिस प्रकार दूरवर्ती होकर सबके सन्मुख तीन सी जानवे छोटे योजन लम्बे चौडे सूर्यके उदय होनेसे ही पूर्विदेशाकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात्—जम्बूद्धीपके आमने सामने हो रहे दो सूर्य जब जम्बूद्धीपकी वेदीके ऊपर पांच सौ दस योजन क्षेत्रमें सब ओर घूम रहे हैं तो सबसे पहिले उदय अनुसार सब देशवालोंको पूर्विदेशाकी सिद्धि हो जाती है, सूर्योदय अनुसार पूर्विदेशाकी कल्पना करनेपर मिल भिन्न देशवालोंको दिशाओंका सांकर्य भी हो जाता है, तभी तो " सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः " यह नियम अञ्चुण्ण बन जाता है। इस प्रकार जैनसिद्धान्त अनुसार सम्पूर्ण व्यवस्था निदीष बन जाती है। हैमवत, हरि, विदेह, आदि न्यारे न्यारे क्षेत्रोंमें भी तिस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दिशाओंके व्यवहार प्रसिद्ध हो जाते हैं। कोई दोष नहीं आता है।

तदेतेन प्राचीदर्शनाद्धरायां गोलाकारतासाधनमप्रयोजकप्रकं तत्र तत्र दर्गणाकारतायामपि प्राचीदर्शनोपपत्तेः। यदा तु सूर्यः सर्वाभ्यंतरमंडले चतुश्रत्वारिश्चयोजनसङ्गैरष्टाभिश्च योजनशतैर्विशैर्मेरुमप्राप्य प्रकाश्चयित तदाइन्यष्टादश्च प्रहूर्ता भवन्ति । चस्वारिश्चषद्छताधिकनवनवियोजनसङ्खविष्कंभस्य त्रिगुणसातिरेकपरिधेस्तन्मण्डलस्यैकाकार्त्रभ्राचाजनषष्टिभागाधिकैकपंचाशद्विश्वतोत्तरयोजनसङ्खपंचकमात्रप्रहूर्तगतिक्षेत्रत्वसिद्धेः सेषा प्रकर्षपर्यन्ततः प्राप्ता दिवाबद्विहानिश्च रात्री सूर्यगतिभेदादभ्यंतरमंडलात सिद्धा ।

तिस कारण इस कथन करके उस भूगोळको माननेवाळेका यह हेतु अनुकूळतर्करहित कह दिया जा चुका है कि प्राची दिशाके देखनेसे पृथिवीमें गोळ आकारका साधन कर लिया जाता है। क्योंकि उन उन प्रान्तोमें भूमिका दर्पणके समान समतळ आकार होनेपर भी पूर्वदिशाका दीख जाना बन जाता है। अर्थात्—न्यारे न्यारे मण्डळोंपर सूर्यका उदय हो जानेसे अनेकदेशीय पुरुषोंको भिन्न मिन्न दिनोंमें अपने अपने सन्मुख सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशा दीख जाती है। हां, जिस समय सूर्य सबसे कहे दिनके अवसरपर सम्पूर्ण मण्डळोंके भीतरळे मण्डळमें काळीस हजार योजन और आठ

सौ बीस योजन भेरुसे दूर अप्राप्त होकर प्रकाशता है, तब तो दिनमें अठारह मुहूर्त हो जाते हैं। आधा मेरु ५००० योजनका है। और सूर्य १८० योजन भीतर आ गया है। दोनों ओर छह सौ चालीस योजनोंसे अधिक निन्यानवे हजार ९९६४० योजन अभ्यन्तर बीधीकी चौडाई हो जाती है। '' विक्वम्भवगादहगुण करणी बहस्स परियो होदि '' इस नियम अनुसार कुछ अधिक तिगुनी अर्थात्—तीन छाख पन्द्रह हजार नवासी ३१५०८९ योजन इसकी परिधि है। एक सूर्य साठ मुहूर्तमें जब इतनी परिधिका अमण करता है, तो एक मुहूर्तमें कितनी परिधिको पूरा कोगा ! इस त्रेराशिक विधिक अनुसार पांच हजार दो सो इक्यावन योजन और एक योजनके उन्तीस बटे साठि भाग अधिक एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र होना सिद्ध हो जाता है। सो यह सूर्यके सबसे भीतरछी गलीपर पूमनेके दिन अठारह मुहूर्त यानी चौदह सही दो बटा पांच घन्टे प्रकर्पपर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी हिस है। और इसी दिन बारह मुहूर्तकी रात है। अतः यह रातकी सबसे बढी हुयी हानि है। जो कि सूर्यकी गति विशेषसे हो रही उसके अभ्यन्तर मण्डलपर आनेसे सिद्ध हो जाती है।

्यदा च स्र्यः सर्ववाद्यमंडळं पंचचत्यारिंशत्सहस्ति । भिश्र शतै स्त्रिंशैयों जनानां मेरुमप्राप्य भासयित तदाहिन द्वादशशुहूर्ताः । पष्टयिकशतषट्कोत्तरयोजनशतसहस्रविष्कंभस्य तित्रशुण-सातिरेकपरिधेः तन्मंडळस्य पंचदशक्षित्रयोजनपष्टिभागाधिकपंचात्तरशतत्रयसहस्रपंचकपरिमाण-गतिशुहूर्तक्षेत्रत्वात् सेषा परमप्रकर्ष विन्तपाता ताविद्ववद्यानिवृद्धिश्च रात्री सूर्यगतिभेदाद्वाह्याद्व-गनसंडमंडलात् सिद्धा ।

तथा जिस समय सूर्य जम्बूडीपकी बेदीसे समुद्रकी और तीन सौ तीस अडतालीस बटे इकसिट योजन अधिक इटकर सबसे बाइरके मण्डलपर पैतालीस इजार तीन सौ तीस ४५३० योजनों करके पेरको अश्राप्त होकर प्रकाशता है, तब दिनमें बारह मुहूर्त हो जाते हैं। एक लाख छह सौ साठ १००६६० योजन बाइरली बीबिकी चौडाई है। दोनों ओरके पथ ब्यान पिण्ड छ्यानवें बटे इकसठ योजनकी विवक्षा नहीं की गयी है। उस बाइरले मण्डलकी इसने कुछ अबिक तिगुनी यानी तीन लाख अठारह इजार तीन सौ चौदह ३१८३८४ योजन परिवि है। साठि मुहूर्तमें इतनी परिधिको पूरा वूमता है, तो एक मुहूर्तमें सूर्य कितना वूमगा ? इसका उत्तर एक योजनके साठि भागोंमें चौदह या पन्दह भागसे अबिक पाच हजार तीन सौ पाच योजन है। इतने योजन परिमाणवाला एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र होता है। सो यह तो परमप्रकर्षके पर्यन्तको प्राप्त हो। दही दिनकी हानि है। अर्थात् वाहरको गलीमें वूमनेपर बारह मुहूर्त यानी १३ घन्टाका दिन होता है। तथा यह रातमें सबसे बढी हुयी दृद्धि है। अर्थात् इस दिन सबसे बडी अठारह मुहूर्तकी रात होती है। जो कि सूर्यकी गित विशेष अनुसार पाचसी दस योजन सम्बन्धी आकाश क्लबके बाहरले मण्डलसे हो रही सिद्ध हो जाकी है।

पध्ये त्वनेकविधा दिनस्य ष्टुद्धिहोनिश्चानेकमण्डलभेदात् सूर्यगतिभेद्वादेव पशासम्, संहरूं पथागणनं च प्रत्येतच्या तथा दोषाष्टुद्धिहीनिश्च युज्यते ।

दिनकी सबसे बडी बृद्धि अठारह मुहूर्त और सबसे प्रकृषि हानि बारह मुहूर्तकी सिद्ध कर दी गयी है। मध्यमें होनेवाली अनेक प्रकार दिनकी बृद्धियां और हानियां तो अनेक मण्डलिंक भेदसे सूर्यकी गातिक भेद अनुसार ही हो जाती हैं। आगम अनुकूल और मण्डलपर गृति अनुसार तथा परिधि गणनाका अतिकम नहीं कर समझ लेनी चाहिये। तिस ही प्रकार रात्रिकी बृद्धि और हानियां मी समुचित हो रहीं युक्त बन जाती हैं। भावार्थ—" सून्दो दिणरत्ती अद्वारस बारसा ब्रुंहत्ताणं अन्मन्तरिह एदं विवरीयं बाहिरिह हथे" " कक्कडनयेर सन्वन्मन्तर बाहिर पहिंडओ होदि, मुह्मभूभीण विसेसे बांथीणंतराहिरे पचयं" (त्रिलोक्सार)। यों प्रति दिन दिन और रातकी हानि या बृद्धिका चय दो बटे इक्सिट मुहूर्त समझ लेना चाहिये।

तदेतेन दिनरात्रिद्यदिहानिदर्शनाद्भुयो गोलाकारतानुमानमपःस्तं, तस्यान्यथानुप्रपत्ति-वैकल्यादन्यथैव तदुपपत्तेः।

तिस कारण इस कथन कर के मुगोलगादिगें के इन अनुभानका भी खण्डन कर दिया, गया समझो कि पृथिभीका आकार गोल है (प्रतिज्ञा) क्यों कि दिन या रातकी कृद्धि और हानियां देखीं जा रही हैं (हेतु)। बात यह है कि उस हेतु की अपने साध्य के साथ अभिनामात्र बने रहने की विकलता है। साध्य के निना ही उस हेतु की उपभित्त हो। जाती है। भावार्थ — पृथ्वी के कृत आकारके साथ दिन या रातकी हानि, वृद्धियों का नियम नहीं है। सूर्व की अनेक मण्डलोंपर हो रही गृतिके अनुसार वह दिन और रातका घटना, बढना दूसरे प्रकारोंसे ही बन जाता है।

तथा छाया महती दृरे सूर्यस्य गतिमनुनः पयित अंतिके श्रित्स्वरा न पुनर्भूमेर्गोलका-कारतामिति छायाद्विद्धानि इर्शनमिष सूर्यगति मेदिनिष तक्षेत्र । मध्यान्हे किच्छायावि रहेषि परत्र तहर्शनं भूमेर्गोलाकारतां गनयित समभूमी तद् नुपपति रित चेत्र, तदापि भूमिनिम्नत्वो-ष्रतत्विविशेषमात्रस्येत्र गतेः तस्य च भरतेरावतयो दृष्टत्वात् " भरतेरावतेयाद्विद्वन्हासीं षद्-समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां इति वचनात् ।

उक्त वार्ति तोंमें इसके आगे छाया पड़ी हुई है। इस हा वितरण यों है कि तिसी प्रकार सूर्यके दूर होनेपर बड़ी छम्बी पड़ रही छाया और सूर्य के निकट होनेपर अति अल्प हो रही छाया भी सूर्य की गतिका ही अनुमान कराती है। किन्तु किर पृथिशिके गोळ आकारसहितपनकी अनुमिति नहीं कराती है। इस प्रकार छायाकी इदि जौर छायाकी हानिका दीखना भी सूर्य की भिन्न भिन्न गति-आँको निभिन्त पाकर ही हुआ कहन चाहिये। अतः प्रातःकाळ सूर्य के दूर रहनेपर दक्ष, गृह,

मनुष्य आदिकी छाया छम्बी पडती है और मध्यान्हतक सूर्यके निकट आ जानेपर छाया छोटी छोटी होती जाती है। पुनः मध्यान्हसे सायंकालतक सूर्यके अधिक अधिक दूर होते जानेपर छाया बढती चकी जाती है। दैदीं प्यमान पदार्थीं के दर निकट जाने आ जानेपर छाया बढती, घटती, हो रही प्रसिद्ध है। कवि कहता है कि "आरम्भग्रवी क्षयिणी क्रमेण छन्ती परा बृद्धिमती च पश्चात , दिनस्य पूर्वार्धपरार्थिमन्ना छायेव मैत्री खलसम्बनानाम् ''। यदि यहां कटाक्ष करे कि मध्यान्हके समय किसी देशमें छायाका अभाव होनेपर भी दूसरे देशोंके इपहरके समय उस छायाका दर्शन हो रहा (हेतु) भूमिके गोछ आकारको साध देवेगा । क्योंकि समतक भूमिमें वह कहीं छायाका न होना और कहीं होना नहीं बन सकता है। भावार्थ — सूर्यकी निचली ओर ठीक सीधी रेखा पर खड़े हये मनुष्यकी छाया नहीं पडती है । हां. गोल प्रधिवीके कुछ इधर उधर बगडमें खडे हो जानेसे तिरछे होगये मनुष्यकी दोपहरको छाया अवस्य पड जायगी। भन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तब भी भूमिके केवल नीचेपन या ऊंचेपन विशेषोंकी ही उस हेतुसे इति हो सकेगी और वह भूमिका नीचा ऊंचापन भरत ऐरावत क्षेत्रोंमें काल्यश हो रहा देखा जा चुका है। स्वयं पूज्यचरण सूत्रकारका इस प्रकार वचन है कि भरत बरावत क्षेत्रोंके बृद्धि और हास छह समयवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंकरके हो जाते हैं। अर्थात्—भरत और ऐरावतमें आकाशकी चौडाई न्यारी न्यारी एक छाखके एकसी नब्बेवें भाग यानी पांचसी छव्यीस सही छह वटे उनईस योजनकी ही रहती है। किन्तु अवगाइन शक्तिके अनुसार इतने ही आकाशमें भूमि बहुत घट, बढ, जाती है। न्यूनसे न्यून पांचसी छन्त्रीस छह बटे उनीस बोजन भूमि अवस्य रहेगी। बढनेपर इससे कई गुनी अधिक हो सकती है। इसी प्रकार अनेक स्थल कहीं वीसों कोस ऊंचे, नीचे, टेढे, तिरछे, कौनियाये, हो रहे हो जाते हैं । अतः अमण करता हुआ सर्य जब दुपहरके समय ऊपर आ जाता है, तब सूर्यसे सीवी रेखापर समतल भूमिमें खडे हुये मतुष्योंकी छाया किंचित् भी हघर उधर नहीं पडेगी। किन्तु नीचे, ऊंचे, तिरछे, प्रदेशोंपर खडे हुये मनुष्योंकी छाया इधर उधर पड जायगी। क्योंकि सीधी रेखाका मध्यम ठीक नहीं पडा हुआ है; भछे ही छकडीको टेडी या सूथी खडी कर उसकी छायाको देखछो ।

तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिर्द्वद्विद्वासौ भितपादितौ न भूमेरपरपुद्वलेरिति न मंतव्यं, गौणशब्दाश्रयोगान्मुख्यस्य घटनादन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे श्योजनाभावात् । तेन भरतेरावतयोः क्षेत्रयोद्विद्वासौ मुख्यतः श्रतिपत्तव्यौ, ग्रुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथावचनं सफलतामस्तु ते भवीतिश्रानुल्लंघिता स्यात् ।

थोडे आकाशमें बडी अवगाहनावाछी वस्तुके समाजानेमें आश्वर्य प्रगट करते हुये कोई विद्वान् यों मान बैठे हैं कि भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी दृदि हानि नहीं होती है, किन्तु उनमें रहनेवाछे

ममुन्योंके शरीरउञ्चता, अनुमन, आयु, सुख, आदि करके बृद्धि और व्हास होरहे सूत्रकार द्वारा समझाये गये हैं। अन्य पुद्रलोंकरके भूमिके वृद्धि और व्हास सूत्रमें नहीं कहे गये हैं। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि गीण होरहे शब्दोंका सन्नकारने प्रयोग नहीं किया है । अतः मुख्य अर्थ घटित हो जाता है । अन्य प्रकारोंसे यानी तत्में स्थित होनेसे तत् शब्दपनेकी सिद्धि या " भरतऐरावतयोः " को सप्तभी विभक्तिका रूप मान छेना इन ढंगोंसे मुख्य शन्दके अर्थका अतिक्रमण करनेमें कोई प्रयोजन नहीं दीख रहा है। '' मंचाः क्रोपन्ति '' '' गंगायां घोषः '' आदि स्थलोंपर तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनसे मुख्य अर्थका उक्कंघन कर गीण अर्थका आदर कर लिया जाय। किन्तु यहां वृद्धि और हास इन कृदन्त क्रियाओंका योग हो जानेसे " भरतऐरावतयो: " इस षष्ठयन्तपदका उनमें आध्य हो रहे मनुष्य, पशु, आदिक यह गौण अर्थ नहीं किया जा सकता है। विचारशाली दार्शनिक सूत्रकार आलंकारिक कवियोंकी छटामें निमग्न नहीं हैं । अतः भरत ऐरावत शब्दका मुख्य अर्थ पकडना चाहिये । तिस कारण भरत और ऐरावत दोनों क्षेत्रोंकी दृद्धि और हानि हो रही मुख्यरूपसे समझ छेनी चाहिये। हां, गीणरूपसे तो उन दोनों क्षेत्रोंमें ठहर रहे मनुष्योंके अनुभव आदि करके वृद्धि और हास हो रहे समझ छो, यों तुम्हारे यहां सुत्रकारका तिस प्रकार वचन सफळताको प्राप्त हो जाओ और क्षेत्रकी वृद्धि या हानि मान छेने पर प्रत्यक्षसिद्ध या अनुमान सिद्ध प्रतीतियोंका भी उल्लंघन नहीं किया जा चुका है। भावार्थ--समयके अनुसार अन्य क्षेत्रोंमें नहीं केवल भरत ऐरावतोंमें ही भूमि ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती है। तदनुसार दुपहरके समय छायाका घटना बढना या किचित् सूर्यका देर या शीव्रतासे उदय, अस्त, होना, घटित हो जाता है। तभी तो अगले '' ताम्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः '' इस सूत्रमें पडा हुआ " भूमयः " शब्द ब्यर्थ सम्भव होकर ज्ञापन करता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रकी भूमियां अवस्थित नहीं हैं । ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती हैं ।

सूर्यस्य प्रहोपरागोपि न भूगोळळायया युज्यते तन्मते भूगोळस्याल्पत्वात् सूर्यगोळस्य तबहुर्युणत्वात् तया सर्वप्रासप्रहणविरोधात् ।

सूर्यका प्रहों के द्वारा उपराग होना (सूर्यप्रहण) भी भूगोलकी छाया करके होरहा मानना उचित नहीं है । क्योंकि उन भूश्रमण वादियोंके मतमें भूगोलका परिमाण अल्प माना गया है । सूर्य गोल उससे चौगुना स्त्रीकार किया है, तिस प्रकार होनेपर सर्त्रप्रासक्तपप्रहण होजानेका विरोध पड़ेगा। अर्थात्—मूगोलवादी प्राचीन पण्डितोंने पृथिनीसे सूर्यको चौगुना स्त्रीकार किया है। यदि पृथिवीकी छायासे सूर्यप्रहण माना जावेगा तो भरपूर सूर्यका ढक जाना ऐसा खप्रास प्रहण नहीं पड सकेगा। क्योंकि छोटा पदार्थ बडे पदार्थको पूध नहीं ढक पाता है। आधुनिक कई युरोपीय विद्वान सूर्यको भूमिसे एक सी आठ गुना पा तेरह लाख गुना अथवा पन्द्रह लाख गुना स्त्रीकार करते हैं। आर्थभर,

छ्लाचार्य, आदि मारतवर्षीय विद्वान् भी पृथिवीते सूर्यको बडा मान बैठे हैं। ऐसी दशामें भूगोलकी छायासे सर्वीग सूर्यप्रहण नहीं हो सकेगा।

एतेन चंद्रछायया सूर्यस्य प्रहणमपास्तं चंद्रमसोपि ततील्पत्वात् । क्षितिगोलचतुर्गुणछा-यावृद्धिघटनाचंद्रगोलवृद्धिगुणछायावृद्धिघटनाद्वा ततः सर्वप्रासं प्रहणमविरुद्धमेवेति चेत् कृतस्तत्र तथा तच्छायावृद्धिः । सूर्यस्यातिद्रुरत्वादिति चेन्न, समतलभूमावपि तत एव छायावृद्धिप्रसंगात् ।

चन्द्रकी छाया करके सूर्यका प्रहण पडना भी इस कथन करके खण्डित कर दिया गया है। क्योंकि उस सुर्यक्षे चन्द्रमाका भी परिमाण अल्प माना गया है। अल्प परिमाणवाले पदार्थक्षे बडी परिमाणवाली वस्तुका एक अंश मले ही दक जाय, किन्तु परिपूर्ण प्राप्त कथमिप नहीं हो सकता है। भावार्थ-आर्यभद्रकृत श्लोक है कि " छादपति शशी सूर्व शाशिनं च न महती भूष्छाया " प्रहणके अवसरपर चन्द्रमा सूर्यको और बडी पृथिवीकी छाया चन्द्रमाको ढक छेती है। सूर्य सिद्धान्तमें भी कहा है कि " छादको भास्करस्येन्द्रयःस्थो घनवद्भवेत्, भूच्छाया प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसी '' बृहत्संहितामें '' भूच्छायां स्वप्रहणे भारकरमर्कप्रहे, प्रविशतीन्द्रः प्रप्रहणे मतः पश्चा-केन्द्रोभीनीश्व पूर्वाचीत् '' भारकराचार्यने सिद्धान्तशिरोमाणे गोलाध्यायमें कहा है कि " पूर्वामिमुखी गच्छन् कुच्छायानन्तर्यतः शशी विशति, तेन प्राक् प्रप्रइणं पश्चात् मोक्षोऽस्य निस्सरतः '' '' भूमि-विंधुं विधुं दिनं प्रहणोऽपि धत्ते " इत्यादिक मन्तन्य उचित नहीं है । यहा कोई भूगोळवादी कहते हैं कि दूर होनेपर छोटे पदार्थसे भी बडा पदार्थ ढक जाता है। आंखोंसे एक गज दूरपर एक छोटी सी किताबके आड़े आ जानेसे पांच सी गज दूर वर्त्ती सैकडों गज छम्बा चौड़ा पदार्थ भी दक कर ओक्षिल हो जाता है। दूरपर पदार्थों की छाया भी बढ जाती है। तदनुसार भूगोलसे चौगुनी छायाकी बृद्धि घटित हो जाती है। अथना चन्द्रगोलने भी कई गुनी बृद्धिरूप छ।या भी बृद्धि घटित हो जाती है। अतः उस बढी हुयी छाया अनुसार सूर्यका सर्वप्राप्त प्रहण पड जाना विरुद्ध नहीं है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां सूर्यमण्डलके निकट तिस प्रकार उस छाय की बाद्ध किस कारणसे बनेगी ! बताओ । यदि तुम भूगोलवांदी यों कहो कि सूर्य अत्यन्त दूर है, इस कारण धत्रे के इल समान छाया उत्तरीत्तर बढती हुयी जा रही बन जाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्यों कि समतल्कें भी तिस ही कारण यानी सूर्यके अति दूर होनेसे ही छाया की बृद्धि होजानेका प्रसंग आजाता है। फिर तुमने छायाकी दृदिसे भूमिक गोड आकारको क्यों साधा था ! अर्थात्—ध्रमण करते हुये सूर्यके दूर देश या निकट देशमें वर्तनेपर छायाका बढना या घटना सध जाता है।

क्यं च भूगोलादेरुपरि स्थितं सूर्ये तच्छायामाप्तिः मतीतिविरोधात् तदा छायाविरह-मसिद्धेमध्ये दैनवत् ततः तिर्यक् स्थितं सूर्ये तच्छायामाप्तिरिति चेन्न, गोलात्पूर्वदिश्च स्थितं ली पश्चिमदिमभिद्धाल्खायोपपचस्तत्माप्त्ययोगात् । सर्वदा तिर्यमेव सूर्यप्रहणसंमत्त्ययमसंगात् । मध्यं दिने स्वस्यापिर तत्मतीतेश्व क्षितिगोछस्याधःस्थिते भानी चंद्रे च तच्छायया ग्रहणमिति चेक्र, रात्राविव तददर्शनमसंगात् ।

दसरी बात यह कहनी है कि भगोल, चन्द्रगोल, आदिके ऊपर जब सूर्य स्थित होजावेगा तो ऐसी दशामें उनकी छाया सर्यपर किस प्रकार प्राप्त होजावेगी ! क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध होजा-बेगा । उस समय तो मध्यान्हके समान छायाका विरह्न प्रसिद्ध होरहा है । यदि भूभ्रमणवादी पण्डित यहां यों उत्तर कहे कि उन भूगोल आदिसे सूर्यके तिरछा स्थित होनेपर सूर्यमें उनकी छाया प्राप्त होजाती है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि भूगोलसे पूर्व दिशाओं में सूर्यके स्थित होजानेपर पश्चिमदिशाके अभिमुख छाया होना बनेगा। अतः उस सूर्यपर पृथित्री या चन्द्रमाकी छाया प्राप्त होनेका योग नहीं बन पावेगा। सर्वदा तिरछे ही सूर्यप्रहण होनेके भले प्रकार ज्ञान होनेका प्रहंग आवेगा, किन्तु दिनके मध्यभागमें आकाशके ऊपर उस सूर्यप्रहणकी प्रतीति होरही है। फिर भी कोई यों कहे कि सगोलके नीचे सर्य और चन्द्रमाके स्थित होजानेपर उनकी छाया करके सर्यप्रहण पड जात्रेगा । प्रत्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि रातमें जैसे सूर्यप्रहणका दर्शन नहीं होता है, उसीके समान दिनमें भी उस सूर्यप्रहणके नहीं दीखनेका प्रसंग आवेगा। अर्थात्—राहु अरिंह विमाणा किंचुणं जोयणं अधोगंता छम्मासे पन्वंत चंदरवी छादयंति कमे '' इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार नीचे, नीचे चल रहे राहु और अरिष्ट त्रिमानों करके सूर्य और चन्द्रमाका प्रहण पडना मानना चाहिये । यों छाया पड जानेक्षे प्रहण नहीं होजाते हैं । चन्द्रविमानके चार प्रमाणांगुल नीचे राहुका विमान और सूर्य विमानके नीचे चार अंगुल नीचे अरिष्टका विमान भ्रमण करता रहता है। अन्य दिनोंमें ये त्रिमान अगल बगल रहते हुये चुमते हैं। अमावस्या या पूर्णिमाके दिन कदाचित् नाचे आजानेपर प्रहण दिवस मान लिया जाता है। यो पूर्णिमाके अतिरिक्त चन्द्रमाक नीचे सदा ही राहुका विमान तारतम्य अनुसार भ्रमण करता रहता है। जोकि प्रत्यक्षित है। इस विषयके तलस्पर्शी विद्वान् भूगोल या सूर्यप्रहण आदिका अन्य समीचीन युक्तियों द्वारा अच्छा विवेचन कर छेवें। '' नहिं सर्वः सर्वविद् ''। मेरे निकट इस विषय के साधन अखल्प हैं। श्री विद्यानन्द स्वामीकी युक्तियां अकाट्य हैं। हां, मेरे लेखमें त्रुटियां होना सम्भव है। " तद्धि जानन्ति तद्धिदः" उस विषयको उसकि परिपूर्ण अन्तः प्रवेशी विद्वान जान सकते हैं । मनीविणः शोधयन्त ।

नमु च न तयावरणरूपया भूम्यादिछायया ब्रह्मण्डपगम्यते तद्दिद्धिर्यतोऽयं दोषः । किं तिर्हि है उपरागरूपया चंद्रादी भूम्याग्रुपरागस्य चंद्रादिग्रहणन्यवहारविषयतयोपगमात् । स्फिटिकादी जपाकुसुमाग्रुपरागवत् तत्र तदुपपचेरिति किश्चित्, सोपि न सत्यवाक् तथा सित सर्वदा ब्रह्मणन्यवहारमसंगात् भूमोकात्सर्वदिश्च स्थितस्य चंद्रादेस्बदुपरामोपपचेः । जपाकुन

सुमादेः समंततः स्थितस्य स्फटिकादेस्तदुपरागवत् । न हि चंद्रादेः कस्यांचिदपि दिश्वि कदा-चिद्रव्यवस्थितिर्नाम भूगोलस्य येन सर्वदा तदुपरागो न भवेत् ।

मुख्रमणवादी स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि भूमि आदिकी आवरणस्वरूप हो रही छाया करके सर्य आदिका प्रहण पडना उस प्रहणके वेता विद्वानों करके नहीं स्वीकार किया जाता है। जिससे कि यह उपर्युक्त दोष लग बैठे, तो प्रहणवेत्ता विद्वान् क्या स्त्रीकार करते हैं ! इसका उत्तर यह है कि उपरागस्त्ररूप छाया करके प्रद्रण पडना माना जाता है। चन्द्र, सूर्य, आदिमें भूमि आदिके उपराग पड जानेको ही चन्द्र आदिका प्रहण पड जाना, इस व्यवहारके विषयपन करके स्वीकार किया गया है। जैसे कि स्फटिक, मोटे काच, आदिमें जपाका पुष्प, गुलाबका पूछ, डंक आदिका उपराग पढ जाता है। अतः उन चन्द्र आदिमें भूमि आदिके उपरागसे उस प्रहण पडनेकी उपपत्ति हो जाती है। भावार्थ—दीप्यमान सूर्य, चन्द्रमाओं के ऊपर धुंपठी प्रथिवी आदिकी छाया करके प्रहण होना हम नहीं मानते हैं । किन्तु धुंघले पदार्थकी चमकीले पदार्थपर आभा पढ जाने मात्रसे प्रहण हो जाता है। स्फटिकमें जपाकुसमकी छाया नहीं पडती है, केवल जपा कुसुमकी आभासे स्फटिक लाल दीखने लग जाता है। जैसे घाममें लाल या हरा वस्त्र टांग देनेसे कुछ यहां वहां लाल या हरी कान्ति पड जाती है । हां, दर्पण या खड़गमें छाया पडती है । छाया और उपरागमें यही अन्तर है । यहांतक कोई भूभ्रमणवादी कह रहा है । प्रन्थकार कहते हैं कि वह भी सत्य बोछनेवाछा नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार होनेपर सदा है। प्रहणके व्यवहार होनेका प्रसंग आवेगा। जब कि भूगोलसे सम्पूर्ण दिशाओं मे चन्द्रमा आदि स्थित हो रहे हैं ऐसी दशामें चन्द्र आदिनें उस भूगोलका उपराग पडना सदा बन जायगा जैसे कि जपाकुसुम, गेंदाका फूछ, प्रदीप, आदिके सत्र ओर स्थित हो रहे स्फटिक आदिपर उन जपाकुसुम आदिकी कान्ति पडना स्वरूप उपराग बन बैठता है । चन्द्र आदिकी किसी भी एक दिशाम कभी भूगोलकी मला व्यवस्था नहीं होय यह तो कथमि तुम नहीं कह सकते हो जिससे कि सदा उस भूगोलका उपराग चन्द्र आदिके ऊपर नहीं हो सके । अर्थात् --आधृतिक भूगोलवादी भी सूर्यकी प्रदक्षिणा दे रही प्रथिशिको मानते हैं । और चन्द्रमाको प्रथिवीकी परिक्रमा दे रहा स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें चन्द्रमा या सूर्यके ऊपर भूमिका उपराग पडना सुरुभ कार्य है। चमकीले पदार्थपर यहा वहांके पदार्थकी आभा अतिशीघ्र पढ जाती है।

तस्य ततोतिविमकर्षात् कदाचित्र भवत्येव मत्यासस्यातिदेशकाळ एव तदुपगमादिति चेत्, किमिदानीं सूर्यादेर्श्वनणमार्गभेदोभ्युपगम्यते १ बादमभ्युपगम्यत इति चेत्, कयं नाना-राशिषु सूर्यादिग्रहणं मतिराशि मार्गस्य नियमात् मत्यासञ्चतम्मार्गश्रमण एव तद्घटनात् अन्यथा सर्वदा ग्रहणमस्यंगस्य दुर्निचारत्यात् ।

यदि पूर्वपक्षी विद्वान यों कहें कि वे चन्द्र आदिक उस भूगोळसे अत्यधिक दूर देशमें हैं। अतः देशका व्यवधान होनेसे कदाचित् चन्द्रादिके ऊपर भूगोळका उपराग नहीं हो पाता ही है। हां, अतिनिकटवर्ती देशमें सम्बन्ध हो जानेके अवसरपर ही उस उपरागका होना माना गया है। यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि क्या इस समय सूर्य आदिके चारों ओर अमणका भिन्न भिन्न मार्ग स्वीकार किया जाता है! अर्थात—चन्द्रमा या भूमिका भिन्न भिन्न मार्गोपर अमण होना स्वीकार करनेपर ही दूर देशमें पहुंच जाना या निकट देशमें आकर चमकींळे पदार्थोपर उपराग हाळ देना बन सकता है। यदि तुम परपक्षी विद्वान यों कहो कि क्या आक्षर्य है। हम अत्यर्थ रूपसे अमणके मार्गका भेद बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार करते हैं। यों कहनेपर तो हम जैन आक्षेप करेंग कि बताओ अनेक राशिओंमें सूर्य आदिका अमण कैसे होगा! जब कि प्रस्वेक राशिपर अमणका मार्ग नियत कर दिया गया है। तब तो तुम्हारे विचार अनुसार अतिशय निकटवर्ती मार्गपर अमण करनेपर ही वह प्रहण पड़ना घटित हो सकता है। अन्य प्रकारोंसे माननेपर सर्वदा ही प्रहण पड़ते रहनेके प्रसंगका कठिनतासे भी निवारण नहीं किया जा सकता है।

मितराशि मितिदिनं च तन्मार्गस्यामितिनियमात् समरात्रदिवसश्चिद्द्द्दान्यादिनियमामावः कृतो विनिवार्येत ? भूगोळश्वक्तोरिति चेत् , उक्तमत्र समायामिष भूमौ तत एव समरात्रादिः नियमोस्त्विति । ततो न भूछायया चंद्रग्रहणं चंद्रछायया वा सूर्यग्रहणं विचारसहं ।

एक बात यह भी तुमसे पूंछना है कि प्रत्येक राशि या प्रत्येक दिन जब उन भूगोळ, चन्द्रमा, आदिके मार्गका कोई प्रतिनियम नहीं हैं, तो ऐसी दशा हो जानेसे समान दिन रातके होने या दिनकी दृद्धि, हानि आदिके होने नियमका अभाव हो जाना भछा किससे निवारित किया जा सकता है ! अर्थात् — चाहे कभी दिन, रात, समान हो जायंगे । छह छह महीने पीछे समान दिन रात होनेका नियम नहीं हो सकेगा । इसी प्रकार चाहे जब दिन रात घट, बढ, जायंगे । कोई नियत व्यवस्था नहीं रह सकेगी । यदि तुम यों कहो कि भूगोछकी शक्तिसे समान दिन रात आदिकी नियत व्यवस्था हो जायगी, प्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हम पहिछे ही कह चुके हैं कि समतछ भूमियें भी तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शिक्त और सूर्य आदिकी गतिविशेषसे ही समान रात, दिन, आदिका नियम हो जाओ । व्यर्थमें अठीक सिद्धान्तोंके गढनेसे कोई छाम नहीं है । तिस कारण पृथिवीकी छायासे चन्द्रमाका प्रहण मानना और चन्द्रमाकी छायासे सूर्यका प्रहण स्वीकार करना परीक्षा आत्मक विचारोंको सहन नहीं कर सकता है । सिद्धान्तिशिरोमणिके कर्ता भास्कराचार्य या आर्यभइ आदि विद्वानोंका मन्तव्य समुचित नहीं है ।

राहुविमानोपरागोत्र चंद्रादिग्रहणव्यवहार इति युक्तसुत्पन्यामः सकस्वाधकविकस्त्वात्।

हां, नीचे चळ रहे राहुके विमान द्वारा उपराग होना यहां चन्द्र आदिके प्रहणका व्यवहार करानेवाळा है। इस सिद्धान्तको हम युत्तिपूर्ण देख रहे हैं। क्योंकि यह मन्तव्य सम्पूर्ण कथक प्रमा- णोहो रहित है। अर्थाह — प्रहणके समय नीचे राहु या व्यक्ति विमान आ जानेते सूर्व की चन्द्र-माकी कान्ति दव जाती है। त्रिलोक्सारमें कहा है। " राहु और अरिष्ठ विमानकी व्यक्ति उपक चढ़कार अंगुल प्रमाण उपर चलकर कमसे चन्द्र विमान और सूर्व विमान क्रमण करते हैं। हाई होपमें कभी कभी करह महिनेमें राहुके विमान सूर्यके ठीक नीचे भी वा जाते हैं। हां, अन्य कमरोमें अपल, बगल, कुल दूर ही रहते हैं। रेश टाई दीपने बाहर असंख्यात दीप समझ सम्बन्धी राहु विमान तो असंख्यात सूर्यचन्द्रमाओंके ठीक नीचे न रहकर कुल इधर उधर विराद रहे हैं। यहां भी चन्द्रमाके नीचे राहुविमान केवल पूर्णिमाको छोडकर सदा कमती बहती बना रहता है। चन्द्र-प्रहणके अवसरपर पूर्णिमाको भी नीचे आ जाता है।

न हि राहुविमानानि सूर्योदिविमानेभ्योख्यानि सूर्यते । अष्ट्रषत्वारिभयोजनैसविधिनाः गविष्कंभायामानि तत्त्रगुणसातिरेकपरिधोनि चतुर्विक्रतियोजनैकपष्टिभागवाहुल्यानि सूर्य-विमानानि, तथा पट्पंचाअद्योजनैकपष्टिभागविष्कंभायामानि तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधौन्यष्टावि-स्तियोजनैकपष्टिभागवाहुल्यानि चन्द्रविमानानि, तथैकपीजनविष्कंभायामानि सातिरेक्षयोजन त्रयपरिधीन्यर्पत्तीयभन्नंश्वतवाहुल्यानि राहुविमानानीति श्रुतेः ।

तती न चेद्रविवस्य सूर्यविवस्य वाऽर्धग्रहोपरागो कुंठविषाणत्वदर्शनं विरुध्यते । नाप्य-न्यदा तीक्ष्णविषाणत्वद्वर्शनं व्याह्न्यतं राहुविमानस्यातिष्टत्तस्य अर्थगोलकाकृतेः परभागनी-वरक्ते सम्बन्ते अर्थगोलकाकृती सूर्यविवे चंद्रविम्वे तीक्ष्णाविषाणतया प्रतीतिषटनात् । सूर्या-चंद्रमसां राहुणां च यतिभेदाचदुपरागभेदसंभवादहयुद्धादिवत् । यथेत्र हि व्योतिर्मतिः विद्वा क्या अस्परागितिः सिद्ध इति स्याद्धादिनां दर्शनं ।

ज्ञान सूर्य विविधानस्य राष्ट्रविधानने । प्राप्त । प्रमुख्य स्वाप्त । स्वाप्त स्वाप्त स्वाप्त स्वाप्त । स्वाप्त स्वाप्

सर्प शादि विमानका राहुके विमान करके उपराग यानी धुंधछी कान्तिवाछा या कान्तिरहित होजाना असम्भव करने योग्य नहीं है। क्योंकि स्वच्छ स्फटिकका जैसे ठाळ जपापुष्पसे उपराग होजाता है, उसी प्रकार अंजन समान काळे उस राहु विमान करके सूर्यादिका उपराग होना सम्भव जाता है। सूर्य आदि विमानोंका स्वच्छपना तो फिर मणिमय होनेके कारण व्यवस्थित है। तपाये गये काळ धर्माके समान प्रभाको धारनेवाळे और लोहिताक्ष मणिकी प्रचुरताके धारी अनेक सूर्य विमान 👔 बीर निर्मेळ भूणाळ (कमळकी ढंडी) समान वर्णवाळे और मध्यमें कतिपय काळे मणियुक्त चिन्होंको गोदमें भार रहे अनेक चन्द्रविमान हैं। एवं अंजनके समान प्रभाके धारी काठी अरिष्टमाणिके प्राचुर्यको ठिये हुये असंख्याते राह्नविमान हैं । इस प्रकार सर्वह्रोक्त परम आगमका सद्भाव है। भावार्य-पूर्वका विमान तपाये सुवर्णके समान कुछ रिक्तमा लिये हुये चमकदार हैं। इससे बारह हजार उच्च किरणें नैमित्तिक बनती रहती हैं। सूर्य, चन्द्रमा, शुक्त, आदि ज्योतिष्क विमान मूर्ज्में उष्ण नहीं हैं । केवल सूर्य, मंगल, अग्निज्वाल, अगस्य बादि विमानोंकी प्रभार्ये उच्च हैं। चन्द्रमाकी तो प्रभा भी शीतल है। चन्द्र विमान कुछ हरितपनको किये हुने चनकदार हैं। चन्द्रमाकी बारह हजार शीतल किरणे हैं। चन्द्र विभानोंके बीचमें कई काले नीछे मणिमय चिन्ह हैं तथा राहुका बिमान अंजनसमान कुछ कालिमाको लिये हुये है । जैनसिद्धान्त यह है कि सूर्य चन्द्र विमानों के अधोभाग में कुछ अन्तराळ देकर कदाचित् राहुविमान आ जाते हैं। अतः उनकी प्रमा नीचेकी और नहीं फैल पाती हैं। हां, अपने पूर्ण खरूपमें वे सर्वदा अक्षणण रहते हैं। यथायोग्य नीचेके प्रद्रल स्कन्धोंपर चाकचक्य नहीं पढ पाता है, जैसे कि डिवियामें धरे **इये रत**की कान्ति चारों ओर नहीं फैल पाती है। अथवा राहुके पूर्णरीत्या या कुछ भाग नीचे आ जानेपर परिस्थिति अनुसार स्वभावसे ही वैसी अत्यल्प कान्ति हो जाती है। स्वच्छ पदार्थके उन्मुख हुए। और इस्पके अन्तरालमें पढ़े हुये काले नीले या धुंधले पदार्थ आ रही नैमित्तिक कान्तिको रोक देते हैं। ये सब बातें प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यहां कुत कींकी गति नहीं है। प्रत्यक्षत्रमःण और परमागम प्रमाणसे बाधित हो रहे कुसिद्धान्तोंका परीक्षकोंके इदयमें आदर नहीं है।

श्विरोमात्रं राहुः सर्पाकारो वेति प्रवादस्य मिध्यात्वात् तेन प्रहोपरागानुपपत्तेः वराइ-मिहरादिभिरप्यभिधानात् ।

राहु नामक एक विमान है जो कि कृष्ण या शुक्लपक्षमें चन्द्रमाके नीचे अमण कर रहा दीखता रहता है। इस विमानके ऊपर अनेक सुन्दर प्रासाद बने हुये हैं। उनमें अपने परिवारसिहत एक राहु नामका सुन्दर, दिल्य शरीरधारी, अधिष्ठाता निवास करता है। जो कोई पौराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि ऊपरका केवल सिरका भाग राहु है और नीचेका धड़ केतु है। अर्धाद्—पुराणचर्चा है कि विष्णु जब अमृतको बांट रहे थे उस समय राहु नामका एक राक्षस देवताका वेप वारण कर देवोंकी पंक्तियें आ बैला या, मोहिनी क्रपधारी विष्णु भगवान्ने उसकी अमृत परोक्ष

दिया । वह इट पी गया । इस अवसरपर सूर्य और चन्द्रमाने पैश्न्य (चुगर्छा) कर दिया। विष्णुने क्रोधवश हो करके राहुका शिर काट डाला । किन्तु वह अमृत पी चुका था । अतः मरा नहीं । इसी कारण सूर्य और चन्द्रमाको राहु और केतु प्रस छेते हैं । कोई राहुका आकार सर्प सरीखा मानते हैं । किन्तु ये सम्पूर्ण प्रवाद मिच्या हैं । ऐसे उन राहु या केतु करके प्रहों द्वारा उपराग होना नहीं बनता है । वराहमिहर, आदि विद्वानोंने भी ऐसा ही कहा है। बृहत्संहितामें टिखा है, " एवमुपरागकारण-मुक्तमिदं दिन्यदिगराचार्यैः राहुरकारणमस्मिनित्युक्तः शाससद्भावः"।

कथं पुनः सूर्यादिः कदाचिद्राहुविमानस्यार्वाग्मागेन महतोपरज्यमानः कुंठविषाणः स एवान्यदा तस्यापरभागेनाल्पेनोपरज्यमानस्तीक्ष्णविषाणः स्यादिति चेत्, तदाभियोग्यदेवगाते-विश्वेषाचिद्रमानपरिवर्तनोपपचेः । षोडशभिर्देवसहस्निरुद्धांते सूर्यविमानानि पत्यकं पूर्वदक्षिणो-चरापरभागात् क्रमेण सिंहकुंजरवृषभतुरंगरूपाणि विकृत्य चत्वारि देवसहस्नाणि वहंतीति वचनात् । तथा चंद्रविमानानि प्रत्येकं षोडशभिर्देवहस्नैरुद्धांते, तथेव राहुविमानानि प्रत्येकं षतुर्भिर्देवसहस्नैरुद्धांते इति च श्रुतेः ।

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि यदि प्रहोपरागकी व्यवस्था मों है तो फिर बताओ कि सूर्य आदिक कभी कभी राहविमानके उरछे बढ़े भाग करके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते तिस प्रकार मौधरे सींग सारिख आकारवाले कैसे हो जाते हैं ? और वहीं सर्च आदिक अन्य समयोंमें उस राहुके परछे छोटे भागकरके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते मळा पैने शीगसारिखे आकारवाछे कैसे दीखने लग जाते हैं ? बताओ, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उन अवसरींपर उन विमानों भे वाह म आभियोग्य जातिक देवों की गति विशेषसे उन सूर्य आदि विमानों का परिवर्तन बन जाता है। देखो, सोछइ इजार देवों करके सूर्य निमान धारे जाते और चलाये जाते हैं। प्रत्येक सूर्यको एक एक पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम भागोंसे कम करके सिंह, हाथी, बैल, और घोडे के रूप अनुसार विकिया कर चार चार हजार देव धारे रहते हैं, ऐसा शाखोंका वचन है। यानी पूर्वकी ओर चार हजार देव सिंहका रूप धारण कर सूर्यको चळा रहे हैं। नियत गतिसे इवर उधर नहीं होने देते ह । दक्षिण दिशामें हाथियों का रूप धारे हुये चार हजार आभियोग्य देव सूर्यकी नियतगति अनुसार ढो रहे हैं। उत्तरमें बैलका रूप धार रहे चार इजार देव सूर्य विमानको नियत न्यवस्था अनुसार छादे हुये हैं। तथा पश्चिम भागसे अश्वनेषधारी चार सहस्र देव सूर्यको डाटे हुये है। मनुष्यों द्वारा चळायी गयी पर्वतीय गाडीको जिस प्रकार चारों ओरसे छम कर मनुष्य होते हैं, उसी प्रकार सूर्यविमानोंकी व्यवस्था है। तिसी प्रकार चन्द्रविमान भी प्रत्येक सोछह इजार देवों सरके होये जाते हैं। उस है। प्रकार राहविमान भी एक एक चार हजार देखें करने चारे जाते हैं।

इस प्रकार जातोपड़ शतकोंसे निर्णात किया जाता है। अतः किया जीना, केहा, महा, मगम है। जानेसे कुण्ठनिषाण या तीक्पनिषाण सारिखा हो गया प्रशेषराग असीत ही आता है।

तदाभियोग्यदेवानां सिंहादिकपविकारिणां कृतो गतिभद्दस्तादृक् इति चत्, स्वभावत एव पूर्वोपात्तकमिविशेषनिमित्तकादिति हूमः । सर्वेषामवमञ्जुषगणस्वाषद्यंभावित्वाद्वन्यथा स्वष्टविशेषव्यवस्थानुपपत्तेः तत्वविषाद्कस्यागमस्यासंभवद्वावकस्य सद्भाषाः ।

यदि यहां कोई यों प्रश्न करे कि उन सूर्य अपिक बाहक 'सिंह आदि अपीकी विकित्यको धारनेवाले आभियोग्य देवोंकी तिस प्रकारकी विशेष खति अच्छा किस कारणसे क्षेत्राली है ? यों पूछनेपर तो इम सगीरव यह उत्तर अहते हैं कि स्वभावते ही उन देवोंकी वैसी वैसी गति होजाती है। वायु या रक्तकी होरहीं गीतियोंपर कचोच चलाना व्यर्ध है। दो चार कोटीतक कारण ब्रह्मते हुये भी अन्तमें जाकर स्वभावपर ही टिक्तकर सन्तोष प्राप्त होता है। पूर्व जन्मोंमें उपात्त किय गये कर्मिविरोषोंका निमित्त पाकर उन आभियोग जातीय देवोंकी स्वभावसे ही वैसी वैसी नाना प्रकारकी गति हो जाती है, जिससे कि शुक्लपक्ष भी दितीयांको कभी ऊँचे खड्ग समान, कमी तिरछे खड्ग समान, कदाचित मीथरा, पैना, सींगसारिखा चन्द्रमा दीख जाता है। प्रहणमें भी ऐसी ही दशा प्राप्त है। जाती है। ग्रहणके अवसरपर किरणों या कळाओंके द्वक जानेकी अपेक्षा ग्रह सिद्धान्त सर्वांगसंदर प्रतीत होता है कि वैसी परिस्थिति अनुसार उतनी ही मन्दकान्ति स्वभावसे ही उपन जाती है। जैसे कि गाढ अन्ध-कार होजानेपर दर्पणमें प्रतिविंव नहीं पडता है, या प्रयोगके निना पानी ऊपरको नहीं चढता है। सम्पर्ण वादी प्रतिवादियों के यहां इस प्रकार स्वभावका स्वीकार करना आवश्यक रूपसे होनेवाळा कार्य है। अग्निज्यालाका स्वभाव ऊपरको जाना है, गुरुपरार्थ अधःपतन स्वभाव वाले हैं। ज्ञान आसाका स्वभाव है। पद्रक्के स्वभाव रूप आदिक हैं। यो सभी तो वस्तुओं के स्वभाव मानने पडते हैं। अन्यका अपने अभीष्ट विशेष तस्योंकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह है कि उन नाहक अभि-योग्य देवोंकी गतिविशेषका प्रतिपादन करनेवाला आगम विद्यमान है। जिसके कि बाधक प्रमाणोंका असम्भव होरहा है। ज्योतिषशास्त्रके विषयमें आगमकी शरण प्रायः सबको छेनी पढती है। इसके विना कोई ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष दर्शनका अभिमान (शेखी) बखाननेवाले दो दो चार चार जन्मतक श्री एक नक्षत्रकी मुक्तिका भी निर्णय नहीं कर सकते हैं । सम्पूर्ण क्योतिषशाखका जानना तो असीव द्वर्क महै। हां, त्रिकोक त्रिकालक आसके द्वारा कहे गये शास्त्रों द्वारा स्तोककालमें पूर्ण निर्णय कर किया ब्हाहा 🚉 ।

गे। छाकारा भूमिः समरात्राद्दर्भनान्ययातुषपत्रेरिस्पेतद्वाधकसागमस्यास्यति केत् का अत्रदेतोरमयोजकत्वात् । समरात्रादिदर्भनं दि यदि तिष्ठद्भूमेर्गोकाकारतायां आज्यायां क्षेत्रस्तदा न मयोजकः स्यात् आम्यञ्जूमेर्गोक्षाकारतायायि तदुषपत्रः । अय आक्रूमेर्गोक्षाकारतायां साम्यायां त्रयाय्यत्रयोजको स्तिसिक्ष्यूक्षोकाकारतायायि क्ष्युष्टनात् ।

कोई भूभमणवादी कटाक करते हैं कि भूमि (पक्ष) गोठ आकारवाळी है (साध्य) क्योंकी समान कह दिन होना, दिनका घटना बहना, रातका घडना बहना, अनेक देशोंमें एक ही समय न्यारी तिकार देवी, आदि क्रायाओंका पढना, प्रहोपराम होना आदिका दर्शन अन्यथा यानी गोळ मृमिको माने विका बब नहीं समता है (हेतु) यह अनुमान आप जैनोंके इस उक्त आगमका वाधक खड़ा हुआ है। फिर क्षापने स्वकीय आगमको बाधकरहित कैसे कहा ! प्रत्यकार सहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि इक्ष-अनुमानमें कहा गया हेत अप्रयोजक है। अपने साध्यके साथ नियतव्यासिको नहीं धार रहा है। विचारिये कि समरात्र आदिका दीख जाना यदि ठहर रही भूमिके गोल आकार होनेको साध्य करनेमें हेत है ? तब तो हेत साम्बका प्रयोजक नहीं हो सकेगा । व्यभिचार दोष आता है । असण कर रही भूमिक गोस्त आकार होनेमें भी वह समरात्र आदिका दीख जाना बन सकता है। अतः विपक्षमे ब्यावृत्त नहीं होनेके कारण तुम्हारा हेत् अनैकान्तिक हेत्वाभास है । अब यदि तुम भूभ्रमण-वादी बनकर सूर्यके चारों ओर पूम रही भूमिके गोळ आकार होनेको साध्य करनेमें उस हेतुका प्रयोग करोगे तो भी तुम्हारा हेत अनुकूछतर्कवाळा नहीं है। क्योंकि ठहर रही भूमिक गोळ आकार होनेपर भी वह समरात्र आदिका दीख जाना घटित हो जाता है । फिर भी व्यभिचार दोष तदवस्य रहा. जैसे कि सीन्दर्यको साधनेमें धनिकपना हेतु व्यभिचारी है । समान दिन रात आदिका दीखना तो भूमिकी चल और अचल दोनों दशाओं में सथ जाते हैं। ऐसे विपश्चवृत्ति हेतसे भूमि गोल शाकारवाली नहीं संघ पाती है ।

अय भूसामान्यस्य गोलाकारतायां साध्यायां देतुस्तथाण्यमकास्तर्वश्रम्यदिश्रमण-वादिनामभेगोलकाकारतायामपि भूमेः साध्यायां तदुपपतेः । समतलायामपि भूमो ज्योतिर्गति-विशेषास्त्रमराकादिदर्शनस्योपपादितत्वाच । नातः साध्यसिद्धिः कालात्ययापदिष्टत्वाच । ममाणवाधितपक्षनिर्देश्चानंतरं प्रवुज्यमानस्य देतुत्वेतिमसंगात् । ततो नेदमनुमानं देत्वाभासोत्यं बाषकं प्रकुत्तगमस्य येनासादेवष्टसिद्धिनं स्यात् ।

अब यदि तुम यों कहो कि भूमिक ठहरने या घूमनेका विशेष विचार नहीं कर भूमि सामान्यके में अं आकारसिंसपनको साध्य करनेमें वह हैत कहा जायगा प्रत्यकार कहते हैं कि तो भी हुन्हाण हेत साध्यका बापक नहीं है। क्योंकि सूर्य आदिका तिरछा अभण कहनेवाले या पृथिवीका सूर्यादिके उत्पर तिरखा अभण कह रहे पण्डितोंके यहां भूमिके आधे गोल आकार होनेको भी साम्य करनेपर बहु सम रात आदिका दीखना बन जाता है। अर्थाद —पूरा गोल आकार पा आधा गोल आकार होनों प्रकार सूनिकी रचना माननेपर वह हेत बम जाता है। अर्थाः फिर भी न्यभिचार दोष तक्ष्मण रहां। इसरी बाल यह है कि दर्पणके समान समतल हो रही भूमिमें भी क्योतिष्क विमानोंकी विशेष विशेष मिनानों समावन आदिका दीखना युक्त किंद्र कर दिया गना है। अर्थाद —साम राज्यका एक स्वर्ध चौडी और एक लाख अस्सी इजार योजन मोटी इस हमारे तुम्हारे आश्रय हो रही रत्नप्रम। सृमिको या इस छोटेसे भरतक्षेत्रको सपाट समतल मान लिया जाय तो भी प्रत्यक्ष उत्पर दीख रहे इन क्योतिष्क विमानों की गति अनुसार समान दिन रात आदि हो जाते हैं। इन सिद्धान्तों को साधने में अभी पूर्व प्रन्यद्वारा हम उपपत्ति दे चुके हैं। इस कारण इस समरात्र आदि दीखनात्वरूप हेतुसे सृमिके गोछ आकार साध्यकी सिद्धि नहीं होसकती है। व्यभिचारके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि तुम्हारा हेतु कालात्ययापिदिष्ट यानी बाधित हेत्वाभास है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और आगमप्रमाणसे बाधे जाचुके प्रतिज्ञाकथनके अनन्तर प्रयुक्त होरहा है। यदि प्रमाणबाधित पक्षके होनेपर भी पुनः बलात्कारसे हेतुका प्रयोग कर दिया जायगा तो अतिप्रसंग दोष बन बैठेगा। "अप्रिरतृष्णः इन्यत्वात्, प्रेस्य दुःखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वात्" आदि असत् हेतु भी समीचीन हेतु बन जायेंगे। तिस कारण हेत्वाभाससे उत्पन्न हुआ यह तुम्हारा अनुमान हम जैनों के प्रकरणप्राप्त आगमका बाधक नहीं है। जिससे कि इस आगमसे ही हमारे इष्ट सिद्धान्तकी सिद्धि नहीं होजाती। अर्थात्—आतोपन्न आगम हारा ज्योतिष्क देवोंकी गति, भूमिका समतल आकार, आदिक सब सध जाते हैं। व्यर्थकी शंकाओं कोई लाभ नहीं है। कतिपय यूरोपीय विद्धान भी पृथिवीको अचला सिद्ध करनेके लिय अनेक युक्तियों हारा उन्मुख होरहे हैं। अन्तमें जाकर सबको वही सर्वज्ञोक आम्नाय अनुसार सिद्धान्त मानना पढ़ेगा।

ज्योतिःशास्त्रमतो युक्तं नैतत्स्याद्वादविद्विषां । संवादकमनेकांते सति तस्य प्रतिष्ठिते ॥ १७ ॥

इस कारण स्याद्वादियों के यहां क्योतिषशास्त्र युक्तिपूर्ण सथ जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ विदेष रखनेवाले पण्डितों के यहां यह अ्योतिषशास्त्र समुचित होकर सम्वादक नहीं व्यवस्थित होरहा है। क्योकि अनेकान्तिसद्धान्तके प्रतिष्ठाप्राप्त हो चुकनेपर उस अ्योतिषशास्त्रका सम्वादकपना निर्णात होता है। बाधकप्रमाणोंसे रहितपना या सफलप्रवृत्तिका जनकपनारूप संवाद तो पदार्थोंमें अनेक धर्म माननेपर ही घटित होता है।

न हि किंचित्सर्वथैकांते ज्योतिःशास्त्रे संवादकं न्यविष्ठते प्रत्यक्षादिवत् नित्यायेकांत-रूपस्य तद्विषयस्य सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वाभावात् तस्य दृष्टेष्टाभ्यां बाधनात्। ततः स्याद्वादि-नामेव तद्युक्तं, सत्यनेकांते तत्प्रतिष्ठानात् तत्र सर्वथा बाधकविरहितनिश्चयात्।

ज्योतिषशासको सर्वथा एकान्तस्वरूप मान छिया जावे तो कुछ मी सूर्यप्रहण आदि परिणाम बाधारिहत सिद्ध नहीं होते हैं। जैसे कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें संवादकपना सर्वथा एकान्तपक्ष मानने-पर घटित नहीं होता है। अथवा सर्वथा एकान्त पक्षमें ज्योतिषशास सफल प्रवृत्तिका जनक नहीं क्य पाता है। जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक प्रमाण सर्वथा एकान्त माननेपर संवादक नहीं है। उस तुम्हारे ज्योतिष शासके विषय होरहे नित्यपन, चळपन, आदि एकान्तरूपेंके बाधक प्रमाणीं असंभवनेका अच्छा निर्णय नहीं हो जुका है। क्योंकि उन एकान्तर्करूपकी प्रत्यक्ष और अनुपान आहि प्रमाणोंसे बाधा होजाती है। तिस कारण स्याहादियों के यहां ही वह ज्योतिषशास्त्र समुचित माना मुखा है। कारण कि अनेकान्त होनेपर ही उस ज्योतिषशास्त्रकी प्रतिष्ठा है। जैनेंकि अनेकान्त कारक उस अयोतिषशास्त्रमें सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंकि विशेषत्या राहितपनका निश्चय होस्स्र है। यहांतक विद्यानन्द स्वामीने गम्भीरयुक्तियों और आम्नायप्राप्त शास्त्रों द्वारा ज्योतिषविषयका निर्मा करा दिया है। मुझ स्तोकबुद्धि भाषाकारने स्वकीय स्वल्य क्षयोपश्चम अनुसार आचार्य महामानक शब्दोंका तार्पिय लिखा है। किन्तु मुझसे यथायोग्य विवरण नहीं होसका है। विशेषक विद्यान हा विषयपर अच्छी छानबीन कर जैनसिद्धान्तकी प्रभावना करें, यह मेरी समीचीन भावना है। जिलेक छोकानुयोग, अतीव गम्भीर महोद्धि है। उसमें जितना भी गहरा प्रविद्ध होकर अन्वेषण किया समोग उतनी ही अट्ट प्रमेयरलोंकी प्राप्ति होती जावेगी।

इत्यञ् प्रतिभाशािकस्यो महोदयेग्यो नीरक्षीरात्रवेचनहंतायमानेभ्यः ॥

अब इस समय श्री उमास्त्रामी महाराज मनुष्य छोकस्य श्योतिष्कोंकी गतिके सम्बन्ध सार्वे जगद्भरमें प्रवर्त रहे व्यवहार काछकी प्रतिपित करानेके छिये अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

तत्कृतः कालविभागः॥ १४॥

उन गतिमान् ज्योतिषियौ करके किया जानुका समय, आविष्ठ, उच्छ्वास, मुहुर्त आदि स्पूर् द्वार कार्ष्टोका विभाग होरहा है।

किं कृत इत्याइ।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि उन क्योतिषी देवोंकरके क्या किया गया है ! ऐसी विकास केंद्रि पर श्री विधानन्द खामी अभिनवार्तिकको कहते हैं ।

> ये ज्योतिष्काः स्मृता देवास्तत्कृतो व्यवहारतः । कृतः कालविभागोयं समयादिनं मुख्यतः ॥ १ ॥ तद्विभागान्त्रथा मुख्यो नाविभागः प्रसिद्धवति । विभागरहिते हे तो विभागो न फले कवित् ॥ २ ॥

जिलोक त्रिकालदशी तीर्थेकर श्रीजिनेन्द्रनाथ मगवान् समवसरणमें विराजकर मन्यक्रीके सहोंका उपदेश देते हैं। दादलांग नेता गणकरदेन तक अर्थका समरण रख कर समाजन द्वारा समर्थ ग्रंथते हैं। पश्चात्—अनेक आचार्य आम्नाय द्वारा स्मरण होते चले आ रहे उस प्रमेयको शालों में लिपिबद्ध करते हैं। अतः सर्वज्ञोक्त अर्थका अविच्छित्त सम्प्रदाय द्वारा स्मरण कर परिज्ञात हो रहे शाल्कोक्त अर्थको स्मृत यानी स्मरण किया जा चुका ऐसे कहनेकी परिपाटी चली आ रही है। अर्जन विद्वान् भी ईश्वरोक्त या बेदोक्त अर्थोको मनुस्मृति, याज्ञबल्कस्य स्मृति, पाराशर स्मृति आदि प्रन्थोंमें प्रन्थकर्ता ऋषियों द्वारा स्मरण किया जाकर लिपिबद्ध कर दिया गया मानते हैं। गुरुपरिपाटी अनुसार श्री उमास्त्रामी महाराज करके जो क्योतिक देव स्मरणपूर्वक कहे जा चुके हैं, उन देवों करक गति द्वारा किया गया यह समय, आविज्ञां, दिन, वर्व, आदि स्वरूप कालविभाग व्यवहारसे नियमित किया गया समझना चाहिये। मुख्यल्यसे यह कालविभाग व्यवहारसे नियमित किया गया समझना चाहिये। मुख्यल्यसे यह कालविभाग व्योतिकों करके नहीं किया जा सकता है। अर्थात्—मुख्य कालद्वय तो नित्य है। किसी द्वारा किया नहीं जा सकता है। हा, व्यवहारकालोंकी नापको ज्योतिकों द्वारा सावा जाता है। किन्तु यह अवस्य है कि उस व्यवहार कालके समय आवाल आदि विभागोंसे प्रल कारण वह मुख्य काल तो विभाग रहित नहीं प्रसिद्ध हो पाता है। तिस प्रकार व्यवहारकालोंके अनन्तानन्त मेद, प्रमेद, स्वरूप विभागोंके समान मुख्यकाल भी द्व्यक्रपसे असंख्यात विभागोंको धार रहा है। क्योंकि यदि हेतुको विभाग रहित माना जायगा तो फल यानी कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकता है। विभागवाले कार्योको उत्पन कर सकते हैं।

विभागवान् मुख्यः काळो विभागवत्फलनिभित्तत्वात् क्षित्यादिवत् ।

प्रन्यकार अनुमान बनाते हैं कि मुख्यकाल (पक्ष) विभागोंको धारता है (साध्य)। विभागवाले फलोंका निमित्त कारण होनेसे (हेनु) ग्रार्थित, जल, आदिके समान (अन्वयदृद्धान्त)। अर्थात्—नाना जातिवाली पत्थर, मही, लोहा आदि ग्रार्थितेसों जैसे चूना, घडा, सांकल, आदि विभक्त कार्य बनते हैं, अथवा मेचलल, सारकूप जल, नदीजल, समुद्रजल, मिन्नदेशीय जल, आदिसे किसान या माली जैसे मिन्न मिन्न प्रकार के वनस्पति आदि कार्योकी उत्पत्ति कराते हैं, उसी प्रकार विभागयुक्त कालद्रव्य ही विभागवाले ज्यवहारकालोंको फलस्वरूप उपजा सक्षेगा। हां, यह बात दूसरी है कि अनन्तानन्त जीवोंसे अनन्तगुणो पुद्रलद्रव्य हैं और पुद्रलद्रव्योसे भी अनन्तगुणा ज्यवहारकाल है। किन्तु निश्चयकालद्रव्य तो लोक प्रेरशप्रमाण असंख्याते ही हैं। फिर भी मुलमें असंख्याते द्रव्यों करके बहिरंग उपाधियों द्वारा कार्योक अनन्तानन्त मेद किये जा सकते हैं। मुलमें विभागरिहत हो रहे कीरे एक द्रव्यसे असंख्याते या अनन्ते मेद नहीं हो सकते हैं। यहां इस समय प्रन्यकारको केवल विभागवान् कारणसे ही विभागवान् कार्योकी सिद्धि कराना अमीष्ट हैं। वैशेषिक या नैयायिक कालद्रव्य को एक ही पानते हैं। उनके प्रति इस अनुमानका प्रयोग है। जो विद्वान् पक्षपात रहित होकर सूक्ष्मतत्वोंके जाननेमें अवगाह करेगा, उसके प्रति छन्न उपाय करके आसंख्य मूल कारणीं केवनन्तर्स्वर्णने जाननेमें अवगाह करेगा, उसके प्रति छन्न उपाय करके आसंख्य मूल कारणीं केवनन्तर्स्वर्णने वारा अनन्तानन्त फलोंको सिद्धि झिनित कराई जा सकती है। सूक्ष्म परम



अतीन्द्रिय छोटी छोटी गिळियोंमें या सिद्धान्तसम्बन्धी उन्नत सतखने प्रासादोंके ऊपर भी अनुमून स्वरूप गजरथेंपर चढकर चलनेका आप्रह किये जाना केवल बालकपन है। ज्यातिप्रहण, ज्यातिस्मरण, हेतुदर्शन, पक्षधमिता ज्ञान, आदि सामग्री स्वरूप मोटे शरीरको धारनेवाला विचारा अनुमान उन् सूक्ष्म सिद्धान्तोंमें नहीं प्रवेश कर सकता है। जो कि परम अतीन्द्रिय हैं, वहां श्रुतज्ञान या सब ज्ञानोंके गुरुमहाराज केवल्ज्ञानका ही प्रवेशाधिकार है।

समयाविकादिविभागवद्यवहारकाळळक्षणफळनिमित्तत्वस्य ग्रुख्यकाळे धर्मिण १सि-दत्वात् नाप्याश्रयासिद्धः, सकळकाळवादिनां ग्रुख्यकाळे विवादाभावात् तदभाववादिनां तु मतिक्षेपात् । गगनादिनानैकांतिकोऽयं हेतुरिति चेन्न, तस्यापि विभागवद्वगाहनादिकार्योत्यती विभागवत एव निमित्तत्वोपपत्तः ।

मन्दगति द्वारा एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर परमाणु के पहुंचनेमें जितना काळ ळगता है, वह समय कहा जाता है। असंख्यात समयोंका पिण्ड आवाले काल है। संख्यात आवलियोंका एक ज्वास होता है। तीन हजार सातसी तिर्चर श्वासों का मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तका दिन रात होता है। तीनसी पैंसठि या तीनसी छिपासठि दिनों हा एक सीरवर्ष होता है। पूर्व, पल्य, सागर, कल्प कार्जोकी भी गणना कर छेना । यहां हेतुकी निर्दोषता दिखळानी है कि समय, आविछ, नाही, स्वास. आदि विभागवाछे व्यवहारकाछस्वरूप अनेक फलोंका निमित्तकारणपना यह हेत मुख्यकाछ हर्न्य स्त्ररूप पक्षमें प्रशिद्ध हो रहा है। अतः इम जैनों का हेतु स्त्ररूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है। हेतु के पक्षमें वर्तजाने मात्रसे स्वरूपासिद्धि दोष का निराकरण हो जाता है। तथा हमारा उक्त हेत आश्रया-सिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि काउको स्वीकार करनेवाले सम्पूर्ण वादी ।विद्वानोंके यहां मुख्य कालको स्वीकार करनेने कोई विवाद नहीं उठाया गया है। हां, उस मुख्यकाळका अमाव माननें-बाछे चार्वीक, खेताम्बर आदि बादी विद्वानोंका तो यक्तियों द्वारा तिरस्कार (निराकरण) कर दिया जाता है। प्रन्थकर्ताके सन्मुख इस समय कालको माननेवाले विद्वान उपस्थित हैं। जब कालकी सर्वथा नहीं माननेवाले वादी कोई आक्षेप करेंगे तब दूमरे अनुमानों द्वारा उसको समझा दिया जायगा । उतावले नहीं बनो, धीरतापूर्वक प्रन्यकारके अपूर्व प्रमेयोंका गम्भीरबुद्धिसे परिशीलन करो, जो कि सद्बोधका निदान है। यहां कोई आक्षेप करता है कि तम जैनोंका यह विभागवाले फलोंका निमित्त-पना हेत तो आकास, दिशा, धर्मद्रन्य, आदि करके न्यभिचारदोषवान् है। देखो, अखण्ड गंगन आदिक स्वयं त्रिमागवाले नहीं होते हुये भी विभागवाले अवगाह्य, पूर्व-पश्चिमवर्ती, गमनयोग्य, इन विभागवाळे पार्लोके निमित्त कारण हो जाते हैं। एक अखण्ड आकाशमें छोटे छोटे परिमाणवालें अनेक विभक्त पदार्थ ठहर जाते हैं, इत्यादि । प्रन्थ कार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि विभागवाके ही उन आकाश, दिशा, भमेदन्य आदिकोंको भी विभागवाके गृह आदिके अवगृहन् गमन, जादि कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्तपना वन रहा है। आकारा, धर्मद्रव्य, इन सबके प्रदेश माने गये हैं। अपने त्यारे त्यारे प्रदेश पर त्यारे त्यारे अपनाह्यों को आकारा अवगाह दे रहा है। एक प्रदेशमें अनन्त द्रव्य भी ठहर सकते हैं। इस के लिये भी अनन्तानन्त स्वभावोंकी शरण लेना अष्टसह-वीमें पुष्ट कर दिया गया है। अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है।

नतु च पद्यवयवभेदो विभागस्तदा नासौ गगनादावस्ति तस्यैकद्रव्यत्वोपगमात् । पद्मदिवदवयवारभ्यत्वानुवपत्तेश्च । अथ पदेशवन्त्वोपचारो विभागस्तदा कालेप्यस्ति, सर्वगतै-कृष्णक्यादिनामाकाशादिवदुपचरितपदेशकालस्य विभागवन्त्वोपगमात् तथा च तत्साधने सिद्ध-सायनमिति कश्चित् ।

काइको वस्तुतः एक ही माननेवाळा कोई पण्डित (वैशेषिक) यो पूर्वपक्ष उठाता है कि बाप जैनोंने कालको विभागवाला जो सिद्ध किया है. वहां विभागका अर्थ यदि स्वकीय अवयवींका भिन्न भिन्न होना है ? तब तो वह विभाग इन आकाश, ईश्वर, दिशा, आदिमें नहीं है । क्योंकि उस गगन आदि अखण्डपदार्थीको एक द्रव्यपना स्त्रीकार किया गया है। तथा पट, गृह, घटीयंत्र बादिक जैसे स्व भीय छोटे छोटे अवयर्गेके द्वारा बनाने गये हैं, उस प्रकार स्वकीय अवयर्गेसे आर-म्यपना बाकाश आदिमें नहीं बन पाता ै। ऐती दशामें आप स्याद्वादियोंके हेतुका गगन आदिसे व्यक्तिचार बना रहना तदवत्थ रहा, यानी विभागवाले फलोंका निमितकारण गगन है। किन्त स्वयं अवयवर्षि भेदस्यरूप विभाग तो नहीं बार रहा है। अब यदि आप जैन विभाग ता अर्थ आकाशमें मच्य प्रदेशोंको नहीं मानते द्वये प्रदेशसिंहतपन का उपचार होना मात्र करेंगे, तब व्यभिचारका बारण तो हो जायगा । गगनमें हेनु के रहते हुये उपचित्त प्रदेश स्वरूप विभागोंसे सिहतपना विध-मान है। किन्त तब तो कालमें भी प्रदेशसिहतपनका उपचारस्यरूप विभाग विद्यमान है। क्योंकि सर्वेत्र व्यापक एक है। काळद्रव्यक्ती स्वीकार करनेवाले वैशेषिकोंके यहां आकाश आदिके समान उप-चरित प्रदेशवाछे काळद्रव्यका विभागसहितपना स्वीकृत कर लिया है। और ऐसा होनेपर काळ इस्यमें उस उपचरित प्रदेशस्वरूप विभागको साधनेमें तुम स्याद्वादियोंके ऊपर सिद्ध साधन दोष कार होता है। एक कालके उपचरित प्रदेश हमारे यहां सिद्ध ही हैं। उन्हींको आप जैन साध रहे हैं। यहांतक कोई वैशेषिक या नैयाधिक कह रहा है।

वरमार्थं एव गगनादेः समदेश्वत्वनिश्वयात् तस्य सर्वदावस्थितमदेशत्वात् एकद्रव्यत्वाञ्च दिविषा श्वययवाः सदावस्थितवपुषोऽनवस्थितवपुषश्च । गुणवत्तव सदावस्थितद्रव्यमदेशाः सदावस्थितद्रव्यमदेशाः सदावस्थिता एवान्यथा द्रव्यस्यानवस्थितत्वमसंगात् । पटादिवदनवस्थितद्रव्यमदेशास्तु तंत्वा-व्योऽनवस्थितास्तेषामवस्थितत्वे पटादीनामवस्थितत्वापत्तेः । कादाचित्कत्वस्येयत्तयावधारिता-

वयवत्वस्य च विरोधात् । तत्र गगनं धर्माधर्भैकजीवाश्चावस्थितप्रदेशाः सर्वे यतावधारितप्रदे वित्वेन षक्ष्यमाणत्वानु प्रदेशप्रदेशिभावस्य च तेषां तैरनादित्वात् ।

अब आचार्य महाराज इसका प्रत्याख्यान करते हैं कि गगन, धर्मद्रव्य आदिके प्रदेशसहित-पनका परमार्थरूपते ही निश्चय हो रहा है। क्योंकि उन गगन आदिके सर्वदा अवस्थित हो रहे अनन्तानन्त प्रदेश या असंख्याते प्रदेश वस्तुतः ।निर्णात हैं। अर्थात्---त्रिलोकसारकी टीकार्मे अनन्तानन्त नामकी विशेष संख्याके मध्य भेदोंको निकालते इये श्री माधवचन्द्र त्रैविधने द्विरूपर्याधारामें जीवराशिके ऊपर अनन्त स्थान चळ कर पद्गळ राशिको भूत, भिवष्यत् कालके सम-और पद्रलगारीक्षे अनन्तस्थान चल कर दिरूपवर्गधारामें योंकी राशिको उपजाया है। उस काळ समयोंकी राशिसे अनन्त स्थान चळ कर दिरूप-वर्ग धारामें अलोकाकाशकी श्रेणीको उपजाया है। एक प्रदेश लम्बी, एक प्रदेश चौडी और पूरे आकारा प्रमाण ऊंची आकाशकी श्रेणि ही श्रेणि आकाश है । इसका एक बार वर्ग कर देनेपर प्रतरा-काश होजाता है। आकाश श्रेणिक प्रदेशोंका घन कर देनेपर पूरे आकाशके प्रदेश गिन लिय जाते हैं। जोकि मुख्यन्थ अनुसार वहां ही दिख्प घन धारामें सर्वी काराको बैनिय महोदयने गिना दिया है। र्यों आकाराद्रव्यके मुख्य प्रदेशों की संख्या सर्वदा नियत होरही अवस्थित है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके भी छोकप्रदेश प्रमाण असंख्याते प्रदेश नियत हैं। दूसरी बात यह है कि गगन, धर्मद्रव्य, आदिको एक एक द्रव्यपना निर्णीत है। अतः इनका अत्रय मेंसे बनाया जाना हमको भी अभीष्ट नहीं है। हां इनके मुख्यप्रदेश स्वरूप अवयव माने जा सकते हैं। चूंकि अवयव दो प्रकारके होते हैं। एक तो सर्वदा स्वकीय शरीरोंको सदा अवस्थित रखनेवाले अवयव हैं। और दूसरे स्वकीय शरीरको अवस्थित नहीं रखनेवाले अत्रयव हैं । उन दो प्रकारके अवयवोंमें द्रव्यके सदा अवस्थित होरहे प्रदेश तो गुणोंके समान सर्वदा अवस्थित ही रहते हैं। अन्यथा यानी प्रदेशोंको अनवस्थित माना जायगा तो द्रव्यके भी अनवस्थितपनेका प्रसंग होगा । किन्तु द्रव्य तो अनादि अनन्तकालतक अपनी नियत संख्याओं में व्यवस्थित रहती हैं। घटती बढती नहीं हैं। " नासती विद्यते भावी ना-भावो विश्वते सतः ''। अर्थात्—द्रव्यकी ऊर्ध्वारा कल्पना अनुसार जैसे गुण उसमें अनादि अनन्त काछतक जडे हुये हैं, उसी प्रकार तिर्यग् अंश कल्पना अनुसार द्रव्योंके प्रदेश भी सदा अवस्थित हैं। हां, अञ्चद्ध द्रव्यस्वरूप पुद्रल पर्यायोंके प्रदेश अवस्थित नहीं हैं। दूसरे पट, पुस्तक, आदिके समान अवस्थित अग्रद द्रव्योंके प्रदेश तो तंतु, पत्र, आदिक अनवस्थित हैं। क्योंकि उन तंतु आदिकोंके यदि अवस्थित माना जायगा तो पट आदि अञ्चद्धदन्योंको भी अवस्थितपनेका प्रसंग होगा । अर्थात्-तंत्रओंके यहां वहां सरक जानेपर या न्यून अधिक होजानेपर पट आदिका सरकता या न्यूनता, अधिकता जो दिखाई देरही है वह अनवस्थित नहीं दीख सकेगी । अतः घट पट, पस्तक आदिके प्रदेश क्सरी जातिके अनवस्थित शरीरवाळे माने गये हैं। कभी कभी उपज रहे या कभी न्यूनं और कदाचित्

अधिक प्रदेशोंको धार रहे पदार्थीको इतने नियत परिमाण करके निर्णीत किये गये अवयर्वेसे सहितपनका विरोध है। भावार्थ —जो कदाचित होनेवाला अशुद्ध द्रव्य है, यह इतने ही यों नियत किये गये अवयवोंको धारनेवाळा नहीं है। और जो सदासे नियतप्रदेशोंको धार रहा दृव्य है, वह कदा-चित् होनेवाला अञ्चद्धद्वन्य नहीं है। उन द्रन्यों में आकाशद्वन्य तथा धर्म अधर्म और एक जीव-इन्य ये सब नियत अवस्थित प्रदेशोंको धार रहे हैं, जिस कारणसे कि नियत संख्यामें अवधारे गये प्रदेशोंने सहितपन करके आकाश आदि द्रव्यों हो पांचने अध्यायमें स्वयं सूत्रकार द्वारा कह दिया जावेगा । '' आकाशस्यानःताः '' '' असंख्येया प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् '' इन दो सूत्रों करके आकाराके अनन्तानन्त प्रदेश और धर्म, अधर्म, एक जीव इनके असंख्याते प्रदेश नियत हो रहे कह दिये जावेंगे । संसारमें परिश्रमण कर रहा जीव चींटी, हाथी, मत्स्य, नारकी सक्ष्म निगीदिया. बक्ष आदि अनेक छोटी बड़ी पूर्यायोंको धारता है। इन पूर्यायोंमें जीव के प्रदेश कमती बढ़ती नहीं हो जाते हैं। किन्त जीवकी रबड़ के समान संकोच या विस्तार अवस्थामें वे सभी छोकाकाराप्रमाण प्रदेश सदा विद्यमान रहते हैं। जो जीय मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है, उस जीयको कदाचित भी छोक प्रदेश बराबर अपने प्रदेशोको फैलाकर लम्बी चीडी पर्यायको धारनेका अवसर नहीं मिलता है । हां, जो मोक्षको जाते हैं, उनमेंसे कतिपय जीवोको तेरहवें गुणस्थानमें केवली समुद्धात करते समय केवल एक समय अपने सम्पूर्ण प्रदेशोंके फैलानेका अवसर मिल जाता है। यह भी एक बडा विलक्षण विस्मयकारी प्रसंग है कि अनन्तानन्त जीवोंमेंसे कतिएय अनन्त जीव ही। अनादि अनन्त कालों की अनन्तानन्त संक्रीच विस्तारवाठी परिणितियों की सदा धारते हुये एक ही बार छो कप्रदेश बराबर व्यक्त स्वकीय पर्यायको धार सके हैं। अस्तु। कुछ भी हो, एतावता संकोच, विस्तार, अवस्थामें भी जीवके असंख्यात प्रदेशोका सद्भाव गर नहीं जाता है। यदि कोई धनपति कृपणतावश अपने विद्यमान टाखों रूपयेका न्यय नहीं कर पाता है, इतने ही से उसके टाखों रूपयोंकी संख्या न्यून नहीं हो नाती है। तथा उक्त सूत्र अनुसार उन गगन आदि द्रव्योंका अपने उन अनन्त या असंख्याते प्रदे-शोके साथ हो रहा प्रदेशप्रदेशीभाव अनादि है। अतः ऐसे नियतप्रदेशस्वरूप अवयव उन आकाश आदि द्रव्योंके विद्यमान हैं। अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है। यह बात दूसरी है कि ्अखुण्ड आकाशका विभागसहितपना इम प्रदेशोंकी अपेक्षा मान रहे हैं। और कालका विभाग-सिंहतपना इम जैन द्रव्योंकी अपेक्षा उक्त अनुमान द्वारा साध रहे हैं।

कथमनादीनां गगनादितत्प्रदेशानां प्रदेशपदेशिभावः परमार्थपथपस्थायी १ सादीनामेव तंतुपटादीनां तद्भावदर्शनात् इति चेत्, कथिमदानीं गगनादितन्मइस्वादिगुणानामनादि-निधनानां गुणगुणिभावः पारमार्थिकः सिध्धेत् १ तेषां गुणगुणिलक्षणयोगात्तथाभावं इति चेत्, तर्दि गगनादि तत्प्रदेशानामपि प्रदेशिपदेश्वलक्षणयोगात् प्रदेशपदेशिभावोस्तु । यथैव हि गुणपर्ययवद्दव्यमिति गगनादीनां द्रव्यलक्षणमस्ति तन्महत्वादीनां च " द्रव्याश्रिता निर्गुणा गुणा " इति गुणलक्षणं तथावयवानामेकत्वपरिणामः प्रदेशिद्रव्यमिति प्रदेशिलक्षणं गगनादीनामवयुतोऽवयवः प्रदेशलक्षणं तदेकदेशानामस्तीति युक्तस्तेषां प्रदेशपदेशिभावः।

यहां फिसीका आक्षेप प्रवर्तता है कि आकाश आदि द्रव्य और उनके नियत अनन्ते या असंख्याते प्रदेश जब अनादिकालके हैं तो ऐसी दशामें उनका " प्रदेशप्रदेशीभाव " होना मला वास्तविक मार्गमें प्रस्थान करनेवाका कैसे समझा जायगा ? बताओ । देखो, सादि हो रहे ही तंत पट. कपाल घट, पत्र, पुस्तक आदिकोंका वह प्रदेशप्रदेशीमाव या अवयवअवयवीमाव देखा जाता है, जैसे धेळी और रुपयोंका आधार आधेयभाव है या पुत्र और पिताका जन्य जनकभाव है। या कटाक्ष करनेपर तो प्रन्थकार उस कटाक्षकर्ता बैशेषिकको पूंछते हैं कि भाई इस अवसरपर तुम्हारे यहां भी अनादिनिधन हो रहे आकाश, दिशा, जल, परमाणु, मन आदिक द्रव्य और उनके परम महापरिमाण, एकत्व संख्या, नित्यसंयोग, शुक्छरूप, अणुपरिमाण आदि गुणोंका भछा गुणगुणीभाव विचारा पारमार्थिक कैसे सिद्ध हो सकेगा ! बताओ, प्रथम गुणी उपजे, पश्चात यदि उसमें गुण आकर समवायसम्बन्धरे प्रविष्ट हो जाय, तब तो घट घटरूप, आम्र, आम्ररस, आदि सादि पदार्थीका गुणगुणीभाव शोभता है। अनादि अनन्तद्रव्य या अनादि अनिधन गुणोंमें गुणगुणीभाव अच्छा नहीं लगता है, यों यह चोच तुम्हारे ऊपर भी उठाया जा सकता है। यदि तम वैशेषिक यों कही कि अनादिनिधन हो रहे द्वयगुणोंका भी गुण और गुणीके लक्षणका योग हो जानेसे तिस प्रकार " गुणगुणीभाव " (सम्बन्ध) हो जायगा । यों कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो अनादि अनिधन गगन आदि और उनके प्रदेशोंके भी प्रदेशी और प्रदेशके उक्षणका योग हो जानेसे '' प्रदेशप्रदेशीभाव '' हो जाओ । अखिंडत अनेक देशवाळे गगन आदिमें प्रदेशीका उक्षण घटित हो जाता है, और तिर्थग् अंश-कल्पनस्यरूप प्रदेशों ने उनके प्रदेश हो जानेका उक्षण घटित हो रहा है। देखो, जिस ही प्रकार " गुण और पर्यायोंको धारनेवाले द्रुप होते हैं " यह श्री उमास्त्रामी आचार्य करके कहा गया द्रव्यका लक्षण गगन, धर्म द्रव्य आदिके विद्यमान है। और " द्रव्यके आश्रित हो रहे सन्ते स्वयं जो निर्गुण पदार्थ हैं। वे गुण होते हैं, " इस प्रकार गुणका उक्षण उन गगन आदिमें सम्बन्धी हो रहे परम महत्त्व. रूप. आदि गुणोंके घटित हो रहा है, उसी प्रकार "अनेक अवयवोंका पिण्डस्वरूप एकत्व परिणामसे आकान्त हो रहा प्रदेशी द्रव्य है '' इस प्रकार प्रदेशीका लक्षण आकाश आदिमें विद्यमान है और '' अखण्ड द्रव्यमें अब यानी पश्चात् तिर्यग्अंश कल्पना द्वारा अभेदरूपसे युत यानी मिश्रण होचुके अवयव पदार्थ तो प्रदेश हैं " यह प्रदेशोंका छक्षण उन आकाश आदिके एक देश होरहे प्रदेशोंको विद्यमान है। इस कारण अनादि अनन्त भी आकाश आदि और उनके प्रदेशोंका '' प्रदेशप्रदेशीभाव '' वन जाना शक्तियर्ज है ।

कालस्तु नैकद्रव्यं तस्यासंख्ययगुणद्रव्यपरिणामस्वात् । एकैकस्मिल्लोकाकाश्चमदेशे काल्राणोरेकैकस्य द्रव्यस्यानंतपर्यायस्यानभ्युपगमे तद्देशवर्तिद्रव्यस्यानंतस्य परमाण्वादेरनंतपरिणा-मानुपपत्तिरिति द्रव्यतो भावतो वा विभागत्वे साध्ये कालस्य न सिद्धसाधनं । नापि गगनादि-नानैकांतिको हेतुः ।

किन्तु कालपदार्थ तो एक पदार्थ नहीं है । क्योंकि वह काल अनन्त गुण और अनन्त पर्या-योंके साथ तदात्मक होरहा संता असंख्यात द्रव्यस्वरूप है। अर्थात-एक एक जीव द्रव्यके समान एक एक कालागुमें वर्तनाहेतृत्व, अस्तित्व, वस्तृत्व आदि अनेक नित्यशक्ति स्वरूप गुण विद्यमान हैं। और उन गुणोंकी प्रतिक्षण होनेवाली पर्याये अथवा पर्यायोंमें पाये जारहे अनन्तानन्त या असंख्यात अविभागप्रतिच्छेदस्यरूप परिणाम त्रिष्यमान हैं । वे काळाणुर्ये द्रव्यरूपसे असंख्यात माने गये हैं । जगच्छेणींके चन प्रमाण लोकाकाराके एक एक प्रदेशपर एक एक द्रव्य होकर कालाणुर्ये अवस्थित हैं। यों कालाण द्रव्य असंख्याते हैं। एक एक कालाण द्रव्यकी १ अनुजीवी २ अतिजीवी ३ पर्याय शक्ति ४ सप्तमंगी विषय इन चार प्रकारके गुणोंकी जातियों अनुसार अनन्तानन्त सहभावी पर्यायें हैं। तथा छोकाकाशके एक एक प्रदेशपर उस कालाग्रको निभित्त पाकर अनन्तानन्त कार्य हो रहे हैं। उन कार्यों के अनुरूप अनन्तस्यभावरूप पर्यार्थे कालाणुमें एक समयमें विद्यमान हैं। एक समयमे एक गणकी उत्पाद, न्यय, धौन्यशालिनी परिणति अवस्य होती है। यो अनन्तानन्त गुणोंकी अनन्ता नन्त परिणतियां काळाण्यमें एक समय पायी जाती हैं। यदि छोकाकाशके एक प्रदेशपर अनन्तानन्त पर्यायों (स्वभावों) वाले एक एक कालाणु द्रव्यको स्वीकार नहीं किया जायगा तो उस आकाश देशमें वर्त रहे अनन्त परमाण या अनंत जीवद्रन्य अथवा अन्य भी धर्म आदि द्रव्योंके हो रहे अनन्त परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि सभी द्रव्य परिणामी माने गये हैं। कोई द्रव्य कटरथ नहीं है। मावार्थ — सम्पूर्ण द्रव्योंका और स्वयंका वर्तियता काल द्रव्य है। न्यारे न्यारे काल द्रव्य तो छोकाकाशके एक एक प्रदेशपर विद्यमान हो रहे अनन्तद्रव्योंके भिन्न भिन्न परिणामोंके वर्त-यिता हो सकते हैं। आकाशके समान यदि अकेटा काळ्डव्य मान लिया जायगा तो सर्व द्रव्योंका एक ही जातिका कार्य हो हो जायगा, जैसे कि अकेड आकाश द्रव्यसे मंगी, ब्राह्मण, नारकी, मुक्त दिदि. राजा. रोगी, निरोग, पापी, पुण्यात्मा, जड, चेतन, धर्म, अधर्म, सब ऊंच नीचकी कीरा अवकाश मिल जाता है। किन्त अनेक काल द्रव्योंसे जो असंख्य कार्य एक समयमें होरहे प्रतीत होते हैं वे काल द्रव्यसे नहीं हो सकते हैं। देखिये, एक ही स्थलपर कोई जीव बुद्धा होरहा है, वहीं कोई युवा होरहा है, बालक भी वहीं खेल रहा है, जहां ही किसीके चोर्राके परिणाम होरहे हैं वहां ही किसीका धर्मध्यान या शाख चर्चामें मन लग रहा है। इन सब क्रियाओंको करानेमें कालद्रव्य निमित्त-कारण होरहा है। जिसी काळद्रव्यको निमित्त पाकर निस्य निगोदिया जीवकी व्यवहार साहीमें आने योग्यः परिणाति होजाती है वहीं वैठे हुये पंचेन्द्रिय जीवके इतरगति निगोदमें प्राप्त होजानेके समूर्य कारण

उपज बैठते हैं । छोटासा काल परमाणु एक कुटुम्बाधिपतिके समान वर्त रहा उन भिन्न भिन प्रकृति-बाके अनेक प्राणियों या जडपदार्थोंको अनुकुछ वर्तानेमें उपयोगी होता रहता है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचारा जाय तो आकाशके एक एक प्रदेशपर अनेक द्रव्योंके सदश. विख्क्षण. विरुद्ध. महाविरुद्ध अपरिमित परिणाम कार्य होरहे हैं । बस. अनन्त स्वभावींवाला एक काल परमाण ही उन सम्पूर्ण कार्योंको संभाछ छेता है। इसी प्रकार आकाशके दूसरे प्रदेशपर अनेक द्रव्योंके होरहे पुण्यक्रिया, पाप-क्रिया, सम्यग्दर्शन, मिध्यादर्शन, व्यभिचार, ब्रह्मचर्य, नरकगमन, स्वर्गगमन, निगोदप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति, अर्थहानि, अर्थलाम, शृंगाररस, त्रैराग्यरस, त्रीरता, कायरता, स्मरण विस्मरण, जीवन मृत्यु, तरुणपन अतिवृद्धपन, रोग स्वस्थता, न्याय अन्याय, दया हिंसा, पतन उत्थान, मान अपमान, सौन्दर्य कुरूपता, अथवा मेघवर्षण वात्या, सुगन्ध द्रीध, जलवर्षण आतप, सुस्वादु दुःस्वादु, फलोका सहना पकना, पुष्पप्राप्ति फलप्राप्ति. औषधिउत्पादन विषउत्पादन, हीरा उपजना कोयळा उपजना, वृक्षमें कफजनक कफनाशक शक्तियें बनना, सीपमें हुड़ी या मोती बनना, स्थान प्रस्थान, धातुधारण धातुपात, जीर्णता नवीनता, मृतिका उत्पत्ति सुवर्ण उत्पत्ति, विधरता विवाहिता, पाग्छपन चातुर्य, आदि परिणामोंको दूसरा काळाण अपने अनेक स्वभावों द्वारा संभाछ छेता है। जैमे कि एक प्रधाना-ध्यापक अपने अधीन होरहे अनेक अध्यापक अथवा छात्रगण एवं अन्य कर्मचारियोंको अंतरंग बहिरंग कारणो द्वारा कर रहे नियत कार्योंकी ओर वर्ता देता है। इस कारण द्रव्य रूपसे अध्या भाव रूपसे कालका विभाग सहितपना माध्य करनेपर हम जैनोंके उत्पर कोई साधन दोष नहीं है। क्योंकि तुम न तो कालको ब्रव्यरूपसे अनेक मानते हो और गुण, परिणाम, स्वभाव इन भावोंकी अपेक्षा भी काछको अनेक नहीं मानते हो। अतः असंख्य काछ द्रव्य और उन एक एकके अनन्त स्वभावोको उक्त अनुमान द्वारा जो इम साध रहे हैं, वहां वादी जैनकी अपेक्षा सिद्ध होते हुए भी प्रतिवादी नैयायिक, मीमासक, वैशेषिक आदिकी अपेक्षा असिद्ध हो रहे पदार्थको ही साध्य बनाया जा रहा है तथा हमारा हेत आकाश आदि करके व्यभिचारी भी नहीं है। क्योंकि द्रव्य अपेक्षा तो नहीं, किन्तु प्रदेश या पर्यायोंकी अपेक्षा हम जैन आकाशको भी विभागवाळा स्वीकार करते हैं। अतः हमारा हेत निर्दोष है।

क्षित्यादिनिदर्शनं साध्यसाधनविकलित्यपि न मंतव्यं तत्कार्यस्यांकुरादेविभागवतः मतीतः, क्षित्यादेश्व द्रव्यतो भावतश्च विभागवन्त्वसिद्धेरिति सूक्तं " विभागरिहते हेती विभागो न फल्ले कचित् " इति ।

फिर भी वैशेषिक यदि यों मान बैठें कि श्विति, जरू आदि रष्टान्त तो साध्यदक या साधन दळसे विकल हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह भी मनमें नहीं मान बैठना चाहिये। क्योंकि उन श्विति आदिकोंके कार्य हो रहे अंकुर, पाषाण, कीयला, कंगल, आदिक पदार्य तो विभागवाले प्रतीत

हो रहे हैं । अर्थात् -- एक खेतमें उसी महीसे गेंह, जी, चना, मटर सरसें आदिके अनेक अंकुर उपज रहे हैं, चाहे कैसा भी ऊंचा, नीचा, टेडा, मुख करके बीजको डाछ दो, मही उसका अंकुर ठीक ऊपरकी ओर निकार देती है। वहीं मही तत्काल जल, वायु, आतप, की आदि या शुष्क परिणितियोंका आकर्षण कर लेती है। खात पदार्थोंका अंकुर पुष्प, फल, घास आदि रूप परिणाम करा देती है. जैसे कि सुयोग्य कुटम्बिनी पत्नी अपने कुटुम्बसम्बन्धी जेठ, पति, देवर, लडके, बचे बहु बेटियों, बृद्ध सास समुर आदिके छिये यथोचित भोग्य उपभोग्य पदार्थीका विभाग कर देती है। प्रथिवीसे अनेक कार्य हो रहे प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जलसे भी अनेक कार्य हो रहे हैं, एक मेघजल ही अनेक वनस्पतिओं में भिन्न भिन्न परिणतियें कर रहा है। सांप्रेत मुखरें, सीपमें, उष्ण तेलमें, तस लोहेपर अमेक विभक्त कार्योंको कर रहा है। सरोवरका जल तंबीको ऊपर उलाल रहा है और कंकडको नीचे गिरा रहा है। उपरसे तंबीको नीचे नहीं गिरने देता है और कंकडको उपर नहीं उछ्छने देता है। अग्निया वायुके भी विभिन्न जातीय कई विभक्त कार्य युगपत हो रहे दीखते हैं। कृत्रिम बिजिली द्वारा अंजन, पंखा, चिन्किया चलायी जाती हैं। अने क दीपक ज्योतिया चनक रहीं हैं। विजिली द्वारा रोगीकी चिकित्सार्ये भी होती हैं। तारों द्वारा या विना तारके राद्ध फेंके जाते हैं। दूर प्रदेशींसे गायन यहां सुना जाता है। तस्वीरें छी जाती हैं। और अकृत्रिम विज्ञछीसे अनेक उत्पात हो जाते हैं। वायु द्वारा जगत की बड़ी भारी प्रक्रिया सध रही है। असंख्य मनों भारी पदार्थ वायु-पर इट रहा है। जीवनके आधार भासोच्छ्रास वायुस्त्ररूप है। समुद्रकम्पन, वातन्याधि, आंधी. आदि सब विभिन्न वायुओंके फल है। प्रार्थियी आदिक पुद्रल द्रन्योंकी अचित्य शक्तियां हैं । अनेतन पदार्थोर्भ भी अनन्त बठ है । '' जीवाजीवगदमिति चरिमे '' यों गोमटसारमें भी कहा है। विभिन्न जातिके भेद प्रभेदों की धारनेवाले पृथिवी, जल, आदि प्रसिद्ध ही है। अतः श्विति आदिक दृष्टान्तोंमें विभागवाले फटों का निभित्तपना यह हेत् और विभागसहित-पना इतना साध्य सुळभ्य हो भर ठहर रहा है। कारण कि द्रव्यक्रपंसे और परिणामी स्वक्रपंसे क्षिति आदिकोंको मूळमें ही विभागसहितपन। सिद्ध है। इस कारण श्री विद्यानन्द आचार्यने उक्त वार्तिकमें यह बहुत अच्छा कहा था कि विभागरिहत हेत्के होनेपर कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकत। है। स्फटिकमाणि जब मुल्में रूपवान् है तो जपाकुतुम आदिके योगसे लाल, पीला, आदि हो सकता है । मूर्जें रूपरहित होरहे आकाशको कोई छाछ, पीछा नहीं कर सकता है । अतः यहातक आकाश को केवल भाषोंकी अपेशा विभागसिद्धतपन और कालको द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षा विभाग-सहितपन साधनेका प्रकरण समाप्त हो चका है।

मनुष्य छोकसे बाहर ज्योतिष्क विमान हैं भी ! या नहीं हैं ! यदि हैं तो किस प्रकार वर्त रहे हैं ! शिष्योंको इस विषयकी प्रतिपत्ति करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अगछे सूत्रको कहते हैं।

बहिरवस्थिताः ॥ १५॥

मनुष्य छोकसें बाहर वे ज्योतिष्क विमान या उनमें निवास करनेवाले ज्योतिषीं देव जहां के तहां निश्चल हैं। अर्थात्—मनुष्य लोकसे बाहर भी ज्योतिष्कदेव असंख्यातासंख्यात विधमान हैं। किन्तु वे विमान गतिशील नहीं हैं। जहां के तहां अवास्थित हैं।

किमनेन सूत्रेण कृतिमित्याह ।

इस सूत्रकरके सूत्रकार महाराजने क्या स्वपक्षमंडन और परपक्षखण्डन किया है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी समाधान कहते हैं ।

बहिर्मनुष्यलोकांतेऽवस्थिता इति सूत्रतः । तत्राऽसत्ताव्यवच्छेदः प्रादक्षिण्यगतिक्षतिः ॥ १ ॥

मनुष्य लोकके अन्तमें बाहर ज्योतिषक विमान अवस्थित हैं, इस प्रकार सून कर देनेसे वहाँ मनुष्य लोकसे बाहर ज्योतिषियों की असत्ताका ज्यवच्छेद कर दिया जाता है और प्रदेशिणास्त्रके होनेवाकी गतिकी क्षांति कर दी जाती है। अर्थात्—यदि यह " बहिरवस्थिताः" सून नहीं बनाया जाता तो पूर्वसूत्र अनुसार मनुष्य लोकमें ही ज्योतिष्कोंका अस्तिल सिद्ध होता। मनुष्य लोकसे बाहर उनका असत्त्व होजाता। तथा " बहिस्सन्ति" या " बहिरपि" ऐसा सूत्र बनाया जाता तो मनुष्य लोकसे बाहर ज्योतिष्कोंका आस्तिल तो सिद्ध होजाता, किन्तु उनकी पूर्व सूत्रानुसार मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये नित्यगति भी सिद्ध होजाती, जोकि इष्ट नहीं है। हां, इस सूत्रमें अवस्थिता कह देनेसे उनकी प्रदक्षिणापूर्वक गति या और भी दूसरे प्रकारकी गतियोंका ज्यवच्छेद कर दियानुया है।

कृतेति शेषः।

इस वार्तिकमें कोई तिखत या कृदन्तकी किया नहीं पढ़ी हुयी है। अतः "कृता " इस रोष रही कियाको जोड केना चाहिये। व्यवच्छेदके साथ पुल्लिंग "कृत " राह्को जोड देना और बीलिंग क्षतिः राह्के साथ वाक्यमें रोष रह गयी "कृता " इस कृदन्त सम्बन्धी कियाको जोड केना। क्योंकि कोई भी वाक्य धार्त्वर्थस्वरूप कियासे रीता नहीं हुआ करता है।

एवं सूत्रचतुष्टयाज्ज्योतिषामरचिंतनं । निवासादिविशेषेण युक्तं बाधविवर्जनात् ॥ २ ॥

इस प्रकार बाधक प्रमाणोंसे विवर्जित हो रहे चारों स्त्रोंके प्रमेयसे भी उमास्त्रामी महाराजने निकासस्यान, प्रकार, गति, अथवा स्थिति आदि विश्लेषों करके ज्योतिषक देवोंका समुर्चित चितवन कर दिया है। अथवा इस वार्तिकको अनुमान वाक्य बना छिया जाय कि उक्त चार सूत्रों द्वारा निवास आदिकी विशेषता करके ज्योतिष्क देवोंका चितवन करना (पक्ष) युक्ति पूर्ण है (साध्य)। बाधक प्रमाणोंका विशेषतया वर्जन होनेसे (हेतु) यों बाधकोंका असम्भव होनेसे उक्त सूत्रोंके अती-निदय प्रमेयकी अप्रतिहतसिद्धि हो जाती है।

श्री उमास्वामी महाराज देवों की आदिम तीन निकायों का वर्णन कर चुके हैं। अब चौथी निकायवाड़े देवों की सामान्यसंज्ञाका प्ररूपण करने के लिये अधिकार सूत्रको कहते हैं।

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

इससे आगे जिन पुण्यवान् जीवोंका वर्णन किया जायगा, वे " वैमानिकनिकायवाछे देव हैं।" यह अधिकार सूत्र है।

स्यान्युकृतिनो विश्लेषण मानयंतीति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः । परेपि वैमानिकाः स्युरेविमति चेका, वैमानिकनामकर्मोदये सति वैमानिका इति वचनात् । तेन श्रेणीं इक्षपुष्पप्रकीर्णकभेदात् त्रिविषेषु विमानेषु भवा देवा वैमानिकनामकर्मोदयदिमानिका इत्यिष-कृता वेदितच्याः ।

विमान राद्व भी निरुक्ति इस प्रकार है कि स्वसम्बन्धी यानी अपनेमें बैठे हुये पुण्यशाळी जीवोंका " वि " यानी विशेषरूपकरके " मानयंति " यानी मान कराते हैं, इस कारण वे विमान कहे जाते हैं। उन विमानोंमें उपज रहे देव जीव वैमानिक हैं। विमान राद्व से मव अर्थ में ठण प्रत्यय कर छेना चाहिये। यदि यहां कोई पण्डित यों अि प्रसंग उठावे कि विमानों में तो भवनवासी आदि देव भी विचरते हैं। ज्योतिष्क देव तो सदा विमानों में ही बस रहे हैं तथा विमानों में विधाधर मनुष्य या आजकाल के उड़ा के मनुष्य भी विधामन हैं। यों इस निरुक्ति हारा तो ये दूसरे देव या मनुष्य भी वैमानिक हो जायेंगे। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि गतिनामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे वैमानिक संज्ञक नामकर्मका उदय होते सन्ते जो जीव विमानों वर्तमान हैं वे वैमानिक हैं। ऐसा विशेषणाकान्त वचन कर देनेसे अतिन्यातिका वारण कर दिया जाता है। सिद्धान्त या न्यायविषयों में केवल शब्दकी निरुक्ति ही निर्देष लक्षण नहीं बन जाता है। तिस कारण श्रेणी, इन्द्रक, पुष्पप्रकीर्णक, इन मेदोंसे तीन प्रकारके विमानोंमें विधमान हो रहे और वैमानिक नामक नामकर्मका उदय हो जानेसे वे देव वैमानिक हैं। इस प्रकार इस सूत्र द्वारा वे वैम निक देव अधिकार प्राप्त हो जुके समझ छेने चाहिये। अर्थात् — यहासे आगे उत्तरवर्ती सूत्रोंमें सर्व वैमानिक ता आवेकार आत पोत रहेगा। अखिळोंके अधिपति होरहे इन्द्रके समान ठीक बांचमें अवस्थित होरहे विमान इंद्रक विमान श्रेणीविमान हैं।

और उछाछे हुये घूछ जैसे अन्यवस्थित यहां वहां टेडे मेढे स्थानोंपर गिर जाते हैं, उसी प्रकार श्रीणियोंके बीचमें अस्तव्यस्त फैल गहे विमान पुष्पप्रकीर्णक हैं। ये तीनों प्रकारके विमान अनादि कालसे अनन्तकालतक उसी स्थानपर जमे हुये हैं। उडाके विमानोंके समान यहां वहां नहीं उडते फिरते हैं। मले ही कृत्रिम छोटे छोटे विमानोंमें बैठकर देव यहां वहां, नंदीश्वर द्वीप, समुद्र, पर्वत, आदिमें अमण करें, भूमियोंमें प्रतिष्ठित नहीं होनेसे इन अकृत्रिम विमानोंको मवन, आवास या नगर नहीं कहा जासकता है। कुछ विमान तो जलके ऊपर या भापके ऊपर प्रतिष्ठित हैं और कृतिपय विमान बायुपर प्रतिष्ठित हैं। किन्तु रोष बहुमाग विमान आक्राशमें ही विना सहारेके अवलम्बित होरहे हैं। पराश्रयकी अपेक्षा स्वाश्रयपक्ष ही अन्तमें निश्चयसे आदरणीय है। अब श्री उमास्वामी महाराज उन वैमानिक देवोंके मूल दो भेदोंका निरूपण करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७॥

कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उत्पन्न हुये देन और कल्पोंका अतिक्रमण कर **उपर उपज रहे** देन यों कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो नैमानिक देनोंके भेद हैं।

सौधर्मादयोऽच्युतांताः कल्पोषपन्ना इंद्रादिदशतयकल्पनासद्भावात् कल्पोपपन्ननामकर्मो-दयवशवर्तित्वाच न भवनवास्यादयस्तेषां तदभावात् । नवश्रैवेयका नवानुदिशाः पंचानुत्तराश्च कल्पातीताः कल्पातीतनामकर्मोदये सति कल्पातीतत्वात् तेपामिद्रादिदशतयकल्पनाविरहात् सर्वे-षामहर्मिद्रत्वात् ।

प्रथमस्वर्गवासी सौधर्मको आदि छेकर सोछहवें अन्युत स्वर्गपर्यन्त ठहरनेवाछे देव कल्पोपपन हैं। क्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक, आदि दश अवपववाछी कल्पनाका सद्भाव हो रहा है। दूसरी बात यह है कि गतिनामकर्मके ज्याप्य तद्याप्य हो रहे कल्पोपपन संज्ञक नामकर्मके उदयकी अधीनतामें वर्तना होनेके कारण सोछह स्वर्गके देव कल्पोपपन हैं। हां, मवनवासी आदिक तीन निकायोंके देव तो कल्पोपपन नहीं है। क्योंकि उनके मछे ही इन्द्र, सामानिक, आदि दश या आठ विकल्प पाये जाते हैं। फिर भी उस कल्पोपपनसंज्ञक नामकर्मके उदयका अभाव है। कल्पे पपनस्वकी सिद्धि करनेके छिये इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका सद्भाव होते हुये कल्पोपपन मंज्ञक नामकर्मके उदयकी वशवर्तिता इतना छम्बा ज्ञापकहेतु या कारक हेतु उपयोगी है। अर्थात्—कर्मोके उदयके पराधीन वने रहना इसिक्टेये कहा गया है कि ध्रुव उदयवाछे गतिकर्मका कभी कभी द्रव्य, क्षेत्र, काछ, भावके नहीं मिठनेपर रसोदय नहीं हो पाता है। देवपर्यायमें अपनी स्थितिके परिपूर्ण हो जानेपर उदय प्राप्त हो गई मनुष्यगित विना फल दिये ही खिर जाती है। इसी प्रकार कदाचित्र देवगित कर्मकी मनुष्य अवस्थामें स्थिति पूरी हो जानेपर फल दिये विना ही कोरा प्रदेश उदय हो देवगित कर्मकी मनुष्य अवस्थामें स्थिति पूरी हो जानेपर फल दिये विना ही कोरा प्रदेश उदय हो

जाता है। ऐसी दशामें जीव कर्मोदयके पराधीन नहीं हो सका। अतः प्रत्यकारने हेतुके विशेष्य देख कर्मोदय हारा हुई पराधीनतापर अधिक बच डाला है। कल्पातीत देवोंमें हेतुका विशेषण देल और विशेष्यदेल दोनों भी नहीं घटते हैं। अधीपेवेयक तीन, मध्यपेवेयक तीन और उपरिमप्रेवेयक तीन यो ऊपर ऊपर वर्त रहे नी प्रेवेयक सम्बन्धी देव तथा चार दिशाओं चार विदिशाओं और एक मध्यमें ठहर रहे, यों नी अनुदिश विमान सम्बन्धी देव एवं विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, सर्वाध-सिद्धि यों पांच अनुत्तर विमानवासी देव तो कल्पातीत हैं। क्योंकि गति कर्मके भेद, प्रभेद, हो रहे कल्पातीत नामक नाम कर्मका उदय होते सन्ते आत्म विपाकी कही गयी गति प्रकृतिकी अधीनता वश ये कल्पातीत देव हैं। मछे ही इनमें अधः आदिपनेकी या नी, नी, पांच संख्यासहितपनेकी कल्पना है, तो भी प्रकरणमें इष्ट की गयी इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका विरह होनेस वे सब कल्पातीत हैं। क्योंकि भवनवासीपन, इन्द्रसामानिकपन आदि झगडोंसे रहित होते हुये वे कल्पातीत देव सबके सब अहमिन्द्र हैं। अहमेव इन्द्रः, अहमेव इन्द्रः, में ही इन्द्र हूं, में ही इन्द्र हूं, मेरे ऊपर कोई प्रमु नहीं है, यों उनकी आत्मामें सर्वदा प्रतिभास होता रहता है। अहमिन्द्रपनका विघानतक वहां कोई प्रसंग भी नहीं है।

वैमानिका विमानेषु निवासादुववर्णिताः । द्विधा कल्पोपपनाश्च कल्पातीताश्च ते मताः ॥ १ ॥

पूर्ववर्ती अधिकार सूत्रको मिळाकर इस सूत्रका अर्थ यों होजाता है कि उन विमानोंमें निवास करनेसे वे देव वैमानिक कहे जाते हैं। तथा वे देव कल्पोपन और कल्पातीत यों दो प्रकार माने गये हैं। यह अर्थ सूत्रकारको अमीष्ट हैं। यद्यपि दरा प्रकारकी कल्पना भवनवासी देवोंमें है और कल्पनासे अतीत मनुष्य तियेच नारकी जीव भी हैं। फिर भी रूढिशद्वके होनेसे या इन विशेष कर्मोंकी अधीनतासे अर्थघटना करनेमर कोई अतिन्याप्ति नहीं होती है।

न वैमानिकास्त्रिधा चतुर्धा वान्यथा वा संभाव्यंते द्विविधेष्वेवान्येषामंतर्भावात् ।

वैमानिक देव तीन प्रकार या चार प्रकार अथवा अन्य पांच, छह, विकल्प अन्य या पटलोंकी अपेक्षा त्रेसठ ६३ आदि अन्य प्रकारोंके नहीं सम्भावित होरहे हैं। क्योंकि इन दो प्रकारोंमें ही अन्य सम्पूर्ण स्मुचित प्रकारोंका अन्तर्भाव होजाता है।

ते च कथमवस्थिताः १

वे कल्पोपन्न और कल्पातीत विमान या विमानवासी देव किस प्रकार अवस्थित होरहे हैं! बताओ, ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर अनके विशेष अवस्थानोंको समझाते हुये श्री उमास्वामी महाराज अभिमस्त्रको कहते हैं।

उपर्शुपरि ॥ १८ ॥

सौधर्म, ऐशान, आदि कल्प और कल्पातीतोंके विमान ऊपर ऊपर वर्त रहे हैं। आगमकी न्यवस्था अनुसार विमानोंकी या पटलेंकी अवस्थिति है।

सामीप्येऽघोऽध्युपरीति द्वित्वं तेषामसंख्येययोजनांतरत्वेपि तुल्यजातीयव्यवधा-नाभावातु सामीप्योपपत्तेः ।

व्याकरणके '' सामीप्येऽघोऽप्यपरि '' इस सुत्र द्वारा उपर्युपरि यहां समीपपन अर्थको श्रोतन करनेपर उपरि अञ्चयका दो बार प्रयोग किया गया होनेसे द्वित्व होगया है । यद्यपि उन कल्पवासी या अहमिन्द्रोंके विमानोंका उत्पर नीचे अन्तर अथवा त्रेसिठ पटळोंमें प्रत्येक दो पटळोंका अन्तर असं-ख्याते योजनोंका है, तो भी तल्यजातिवाके पदार्थीका व्यवधान नहीं होनेसे समीपपना बन जाता है। अर्थात —सीधर्म, ईशान, खर्मीके अधस्तन विमानीसे कुछ कमती डेढ राज् प्रमाण असंख्यात योजनो ऊपर चलकर सनत्कमार. माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग है। सनत्कुमार माहेन्द्रके नीचले विमानोंसे कुछ कम डेढ राज ऊपर चलकर बहा ब्रह्मोत्तर स्वर्ग हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर सम्बन्धी आधा राजका अन्त-राळ देकर ऊपर छान्तव, कापिष्ठ, स्वर्ग हैं । यो ही आगम अनुसार ऊपर भी समझ छेना । सानत्कु-मार माहेन्द्रके अधोभागसे ऊपर डेढ राजुतक सानत्क्रमार, माहेन्द्र, देवोंका ही अधिराज्य है, और सानत्कुमार माहेन्द्रके प्रारम्भसे बाळाप्र कमती आकाशसे आदि लेकर नीचे कुछ कम डेढ राजू तक सौधर्म ईशानोंका अधिकार है। सौधर्म, ईशान, स्वर्गमें ऋत विमळ आदि इकतीस पटल हैं " एकेक इंदयस्य य विचालयसंखजीयणपमाणं '' एक एक पटल या इन्द्रक विमानींका अन्तराल असंख्याते योजन है। किन्तु जगतुमें तुल्यजातियाले पदार्थीको ही न्यवधायक माना जाता है। मान, अपमान, छजा, प्रतिष्ठा सब समान जातित्राकों में समझी जाती हैं । बूओं की पांकेमें या घोडे, मनुष्य आदिकी पांकियों में भके ही बीचमें आकाश. तूण, वाय. आतप, वज्ञ. खन्मे, आजायं फिर भी तुल्यजातिवाळे पदार्थीका मध्यमें समाबेश नहीं होनेसे उनमें अन्तराल नहीं माना जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हुये प्रतिभासमें भले ही अन्य उत्पादक कारणोंका व्यवधान होय. किन्तु ज्ञान जातीय अन्य प्रतीतिओंका व्यवधान नहीं पडनेसे विशदपना आरूढ माना गया है। इसी प्रकार कल्पोपपन और कल्पातीत वैमानिकोंमें अन्य वैमानिकोंका या पटळोंका व्यवधान नहीं पडनेसे समीपपना बन जाता है ।

किमनोपर्युपरीत्यनेनाभिसंबध्यते ! कल्पा इत्येके । कल्पोपपन्ना इत्यन कल्पग्रहणस्यो-पसर्जनीभृतस्यापि विशेषणेनाभिसंबंधात् । राजपुरुषोऽयं, कस्य राज्ञ इति यथा पत्यासत्तेर्बुद्-ध्यपेक्षितत्वादिति । तक बुध्यामहे, वैमानिका इत्यविकारार्थे वचनमित्येतस्य व्याघातात् । यथा दि वैमानिका देवाः कल्पोपपनाः कल्पातीताश्चेति संबध्यते तथोपर्युपरीत्यपि त प्रदेशि

ष्ण्युंपरि तद्धाम नाधस्तिर्यक् च तत्स्थितिः। यथा भवनवास्यादिदेवानामिति निर्णयः॥१॥

उन वैमानिक देवोके निवास स्थान ह्रपर क्यर्यास्थत है। अघोभागोंमें या तिरछे ह्रपसे उन निवास स्थलंको स्थिति नहीं है। जिस प्रकार कि सवनवासी आदि देवोके धाम नीचे, तिरछे, रचे हुये है, ऐसे वैमानिकोंके अकृतिम विमानोंको रचना नहीं है। यह उक्त सूत्र द्वारा निर्णय कर दिया गया है। भाषार्थ—चार निकायके देवोंमे पहिले तीन निकायके देव अवः या तिर्यगृह्यपसे रचे गये सवन, नगर या विभानोंमें निवास करते है। किन्तु इन्ह्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्प प्रकीर्णक ह्रपसे व्यवस्थित हो रहे कल्पोपपन्न और कल्पातित देवोंके विमान तो उत्पर उपर रचे हुये हैं। वद्यपि सातवीं प्रथिवीमे लगा कर पहिली प्रथिवीत कार्यक्रियोंके विले भी इन्द्रक विल श्रेणीबद्ध बिल, पुष्पप्रकीर्णक बिल स्पमे निरमत है। किन्तु ये विमान नहीं है। भूमिस्थ विले है। इसी प्रकार व्यीतिष्क देवोंके निवासस्थान विमान है। किन्तु ये पप्पप्रकीर्णक क्रपसे मले ही व्यवस्थित होंच इन्द्रक श्रेणीबद्ध और उनके मध्यपतों पुष्पप्रकीर्णक क्रपमे आकाश प्राक्ष्मणमें व्यवस्थित होंच इन्द्रक श्रेणीबद्ध और उनके मध्यपतों पुष्पप्रकीर्णक क्रपमे आकाश प्राक्ष्मणमें व्यवस्थित होंच तथा वे बिले और अ्योतिष्क विमान ये कल्पोपपन्तव और कल्पातीतव विशेषणोंसे आकान्त हो गई पदार्थ उपर उपर रचे हुये हैं। यह उक्त सूत्रका प्रकीर्तिपुरःसर निर्वेष समन्त्रय कर दिया गया है।

न दि यथा भवनवासिनो न्यंतराश्चाधस्तिर्यक् समवस्थितयो ज्योतिष्काास्तिर्यक् स्थित-यस्तथा वैमानिका इष्यंते, तेषाम्रुपर्युपरि समवस्थितत्वात् उपर्युपरि वचनेनैव निर्णयात् ।

जिस प्रकार कि भवनवासी और न्यंतर देव अधोछोक्तमें और तिर्थक्छोकमें नीचे या तिरछे रूपसे बने हुये अपने निवासत्थानोंमें भछ प्रकार अवस्थितिको कर रहे हैं, रत्नप्रभाके खरभाग और पंकभागमें भवनवासियोंके नीचे और तिरछे सुन्दर भवन बने हुये हैं, और न्यन्तरोंके असंख्यात द्वीपसमुद्रोंमें भी रत्नप्रभाके उपरिम भागमें तिरछे फैले हुये असंख्य नगर या आवास बने हुये हैं, तथा नीचे पंकभागमें असुर और सक्षातोंके असंख्याते हजार नगर है, एवं असंख्यातासंख्याते ज्योतिषक देव तो इस समतछ भूमिसे ऊपर सात सी नन्त्रे योजनसे प्रारम्भ कर केवछ एक सी दश योजनतक मोटे देशमें असंख्यात योजनोंक एक राज् छम्बे, चौडे, प्रदेशमें तिरछे फैळे हुये असंख्य विमानोंमें स्थितिको कर रहे हैं, तिस प्रकार उक्त तीन निकायोंके समान वैमानिक देव स्थिति करते हुये नहीं माने गये हैं। क्योंकि उन वैमानिकोंकी तीन निकायोंसे विभिन्न रूप रेखकी उपर उपर भछे प्रकार स्थिति हो रही है। वे यहां वहां अस्त व्यस्त नहीं निवस रहे हैं। कारण कि ''वैमानिकाः''

ष्ण्युपरि तद्धाम नाधस्तिर्यक् च तिस्थितिः । यथा भवनवास्यादिदेवानामिति निर्णयः ॥ १॥

उन वैमानिक देवोक निवास स्थान क्रयर क्यरांस्थन है। अधीमागोमे या तिरछे रूपमे उन निवास स्थलोंकी स्थित नहीं है। जिस यकार कि मननवारी आदि देवोके धाम नीचे, तिरछे, रचे हुये है, ऐसे वैमानिकोंके अकृत्रिम विमानोकी रचना नहीं है। यह उक्त सूत्र द्वारा निर्णय कर दिया गया है। मापार्थ—चार निकायके देवोमे पहिले नीन निकायके देव अनः या तिर्यग्रू रूपमे स्वे गये मनन, नगर या विमानोमे निवास करते है। कि । उन्त्रक, श्रेणीवद और पुष्प प्रकीर्णक रूपमे न्यवस्थित हो रहे कल्पोपपत्र और कल्पानी । देवोके विमान तो उत्तर उपर रचे हुये हैं। यद्यपि मातनी प्रधिवीमे त्या कर पहिली प्रधिवीत कार्यक्रियोंक विले मी इन्द्रक विले श्रेणीबद्ध बिल, पुष्पप्रकीर्णक विक्र रूपमे नियमन है। किन्तु वे पष्पप्रकीर्णक रूपमे मले ही। इसी प्रकार व्यीतिष्क देवोंके निवासस्थान निमान है। किन्तु वे पष्पप्रकीर्णक रूपमे मले ही। व्यवस्थित होंय इन्द्रक श्रेणीवद्ध और उन के मध्यपतीं पुष्पप्रकीर्णक रूपमे आक्षार प्राक्रूगणमें न्यवस्थित नहीं है। तथा वे विले और उन के मध्यपतीं पुष्पप्रकीर्णक रूपमे आक्षार प्राक्रूगणमें न्यवस्थित नहीं हैं। जवा वे विले और अभीवद्ध, प्रकीर्णक, विमान स्वरूप होने हुये कल्पोपपन्नत और कल्पातीत्व विशेषणोंसे आक्रान्त हो रहे पदार्ण कपर उपर रचे हुये हैं। यह उक्त सूत्रका प्रकीर्तिपुरःसर निदींच समन्त्य कर दिया गया है।

न हि यथा भवनवासिनो व्यंतराधाधिनर्यक् समर्वास्थतयो व्योतिष्काास्तिर्यक् स्थित-यस्तथा वैमानिका ३ष्यंते, तेपामुगर्धुपरि समयस्थितत्वात् उपर्युपरि वचनेनव निर्णयात् ।

जिस प्रकार कि भयनवासी और न्यंतर देव अवालोक्सें और तिर्यक्लोक्सें नीचे या तिरहे रूपसे बने हुये अपने निवासस्थानों में मले प्रकार अवस्थितिकों कर रहे हैं, रत्नप्रमाके खरमाग और पंकमागमें भवनवासियों नीचे और तिरले सुन्दर मजन बने हुये हैं, और व्यन्तरों असंख्यात हीपसमुदों में परनप्रभाके उपित्म मागमें तिरले फैले हुये असंख्य नगर या आवास बने हुये हैं, तथा नीचे पंकमागमें असुर और राक्षसों असंख्याते हजार नगर है, एवं असंख्यातासंख्याते अपोत्मानमें असुर और राक्षसों असंख्याते हजार नगर है, एवं असंख्यातासंख्याते अपोत्मान देव तो इस समतल भूमिसे ऊपर शात सौ नन्वे पोजनसे प्रारम्भ कर केवल एक सौ दश योजनतक मोटे देशमें असंख्यात योजनोंतक एक राज लम्बे. चौडे, प्रदेशमें तिरके फैले हुये असंख्य विमानों स्थितिकों कर रहे हैं, तिस प्रकार उक्त तीन निकायों से समान वैमानिक देव स्थिति करते हुये नहीं माने गये हैं। क्योंकि उन वैमानिकोंकी तीन निकायोंसे विभिन्न रूप रेवाकी उपर उत्पर मले प्रकार स्थिति हो रही है। वे यहां वहां अस्त व्यस्त नहीं निवस रहे हैं। कारण कि "वैमानिका!"

इस सूत्रके अप्रिम सूत्रमें उनके मेदोंको दिखाते हुये सूत्रकारने तीसरे स्थानपर अठारहर्व '' उपर्युपरि '' इस सूत्ररूप बचन करके ही उक्त सिद्धान्तका निर्णय कर दिया है ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि यदि इस प्रकार वे वैमानिक देव ऊपर ऊपर व्यवस्थित हो रहे हैं तो बताओ कितने विमानोंमें वे वैमानिक देव हैं १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

सौधर्भेशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मलोकब्रह्मोत्तर-लांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयो-रारणाच्युतयोर्नवसु प्रैवेयकेषु विजयवेजयंतजयंताप-राजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

सीधर्म ऐशान, सानत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, ठान्तव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रार, इन स्वर्गीमें और आनत, प्राणत, एवं आरण, अन्युत, स्वर्गीमें कल्पोपपन्न वैमानिक देव निवास करते हैं। तथा नवप्रवेयक और नो अनुदिश विमानोंमें असंख्याते कल्पातीत वैमानिक देव निवस रहे हैं। अर्थात्—केवळ सर्वार्थिसिद्धि विमानमें दिन्हप वर्गधाराको पाचवी कृतिके वनस्वकृष मनुष्य संख्याके विचतुर्थ प्रमाण खियोसे तिगुने या सतगुने सर्वार्थिसिद्धिके देव मात्र संख्याते हैं। ज्ञान्य संख्या कभी रह जाय तो मानव खियोसे तिगुनी और उत्कृष्ट संख्या होनाय तो सतगुनी इन एक भवतारी देवोंकी गणना है। शेष सम्पूर्ण कल्प और कल्पातीतवर्ती संख्यातविमानों असंख्याते देव निवास कर रहे हैं।

सुधर्मा नाम सभा सास्मिन्नस्तीति सीधर्मः कल्पः " तद्दिमन्नस्तीत्यण् " तत्कल्पः साहचर्यादिद्रोगि सीधर्मः, ईन्नानो नामंद्रः स्वभावतः ईन्नानस्य निवासः कल्प ऐन्नानः " तस्य निवास " इत्यण् तत्साहचर्यादिद्रोप्यैन्नानः, सानत्कुमारो नामंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पः सानत्कुमारः तत्साहचर्यादिद्रोपि सानत्कुमारः महेंद्रो नामंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पो माहेंद्रः तत्साहचर्यादिद्रोपि माहेंद्रः, ब्रह्मनामंद्रः तस्य लोको ब्रह्मलेकः कल्पो ब्रह्मोन्तर्थ लात्वाद्योन्युतांता इन्द्रास्तत्साहचर्यात् कल्पा अपि लांतवादयः, इन्द्रलोकपुरुषस्य श्रीवास्थानीयत्वाद्श्रीवाः श्रीवासु भवानि श्रेवेच्यकाणि विमानानि तत्साहचर्यादिद्रा अपि नेवेच्यकाः, विजयादीनि विमानानि परमाभ्युदयविजयादन्वर्थसंज्ञानि तत्साहचर्यादिद्रा अपि विजयादिनामानः सर्वार्थानां सिद्धः सर्वार्थसिद्धिविमानं तत्साहचर्यादिद्रोपि सर्वार्थसिद्धः।

पहिले स्वर्गमें सधर्मा संबक्ष समाका एक बहुत विद्याल भवन बना हुआ है, जिस स्वर्गमें वह संघमी सभा बनी हुई है वह कल्प सींधर्म स्वर्ग है " तदस्मिन्नस्ति " इस तद्धितके सूत्र करके यहां सुधर्मा शब्दसे अण प्रत्यय कर सीयर्म शब्दको साधु बना किया जाता है, उस सीधर्म कल्पके सहचर पनेसे पहिले स्वर्गका इन्द्र भी सौधर्म कहा जाता है अथवा स्वभावकरके अनादिकालसे इन्द्र या स्वर्ग का नाम सौधर्म पड रहा है। इसी प्रकार स्वभावसे ही ईशान नामका इन्द्र है, ईशान इन्द्रका निवास हो रहा दूसरा कल्प ऐशान है। यहां "तस्य निवासः" इस तद्धित सूत्रसे अण् प्रत्यय कर ऐशान शब्द उत्पन्न कर छिया गया है । उस स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्रको भी ऐशान कह दिया जाता है। तृतीय स्वर्गमें अनादिकाछीन संज्ञाके वश स्वभावसे ही सनत्कमार इन्द्र चला आ रहा है । उसका निवासभूत कल्प सानत्कमार है । यहां भी " तस्य नित्रासः " इस सूत्रकारके अण् प्रत्यय कर छेना चाहिये । उस सानत्कुमार स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्र भी सानत्कुमार कहे जा सकते हैं । मत्वर्धीय अच् प्रत्ययकरके भी यहां निर्वाह किया जा सकता है । महेन्द्र नामका इन्द्र स्वभावसे ही है । उसका निवासस्थान कल्प माहेंद्र है । उस माहेन्द्र स्वर्गमें भाराप्रवाहरूपसे जो इन्द्र होते चले आ रहे हैं उस स्वर्गके सहचरपनेसे वे इन्द्र भी माडेन्द्र है। ब्रह्मा नामक इन्द्र हैं उस इन्द्रका लोक पांचर्या ब्रद्मलोक नामका कल्प है और ब्रह्मोत्तर नामका छठा कल्प है। इसी प्रकार छान्तवको आदि छेकर अच्युतपर्यन्त इन्होंकी व्यवस्था स्वभावसे ही होती चली आ रही है। उसके सहचरपनेसे लांतव आदिक कल्प भी अनादि सिद्ध संज्ञाओं को धार रहे हैं। स्वर्ग या कल्प तो अनादिसे अनन्तकालतक प्रवर्त रहे हैं । किन्तु उनमें देव या इन्द्र निवास कर रहे अपने आयुष्पको नियनकालतक सख्यूर्वक बिता रहे हैं। उन उन स्वर्गीमें जन्म लेनेवाले इन्द्र धारा प्रवाहसे उन्हीं नामोंको धारते हैं। इस चौदह राजू ऊंचे छोकको या केवछ ऊपरछे सात राजू के इन्द कोकको पदि पुरुषाकार नियन कर छिया जाय तो उसकी श्रीवा (नार) के स्थानापन होनेसे छोकके तेरह राज् के ऊपरके कतिएय स्थान प्रीयायें कहे जायंगे। प्रीयाओं में बिन्यस्त हो रहे विमान प्रैवेयक हैं। उन विमानोंके साहचर्यसे इन्द्र भी प्रैवेयक हैं। इनके ऊपर नौ अनुदिश हैं। विजय आदिक विमान अन्य छोकिक उत्कृष्ट अभ्यदयका विजय करनेसे यथार्थ नामा कहे जाते हैं। यानी विजय. वैजयंत, जयंत और अपराजित ये नाम दूसरेको जीतने और किसीसे नहीं पराजित होनेकी अपेक्षासे अपने ठीक अर्थको छेकर घटित हो रहे हैं। उन विमानोंके साहचर्यसे उनमें रहनेवाले असंख्याते अहमिन्द्र भी विजय, वैजयंत आदि नामों हो धार रहे हैं। सम्पूर्ण छीकिक अर्थों की परिपूर्ण सिद्धि हो जानेके कारण सर्वार्थितिह नामक इन्द्रक विमान भी अन्तर्य संज्ञक है। उसके साहचर्यसे इन्द्र भी सर्वार्थिसिद्ध है। ऐसे अहमिन्द्र सर्वार्थिसिद्ध त्रिमानमें संख्याते हैं। अर्थात्—'' मेरुत शद्द दिवहूं दिवहू दल्लक्क एक सरव्यासि, कपाणमङ्जुगला गेवेच्जादी य होति कमे " (त्रिलोकसार) मेहके तलसे एक छाल चाछीस योजन अथवा इस समतल भूमिसे निन्यानवे हजार चाछीस योजन और बालाप्र

कपर उछल कर सीधर्म, ऐशान, ये दो कल्प दक्षिण और उत्तर दिशाओं में व्यवस्थित हैं। इनमें ऋत आदिक इस्तीस पटल हैं। दक्षिण दिशाका अधिपति सौधर्म इन्द्र है और उत्तर दिशाके मेणी विमान और पृष्पप्रकीर्णकोंका अधिकारी ऐशान इन्द्र है। सबसे जपरले प्रभा संज्ञक पटलमें इन्द्रक बिमानसे दक्षिणदिशामें अठारहवें श्रेणी वद निमानमें सीवर्ग इन्द्र रहता है। उभी प्रकार बचीस अजीवड विमानवाठी उत्तर दिशाके अठाग्हेंच विमानमें ऐशान इन्द्रका निवास है। एक एक पटलमें असंस्थाने योजनोंका अन्तर है। सगतल मुम्मामे जपर डेड राजु स्थानतक सीधर्म, ऐशान, इन्होंका आधिपत्य है। सीधर्म ऐशान खगाँसे अनेक योजन अपर अथरा मेरुनलसे ठीक डेंड राज् अपर सानकामार, माहेन्द्र स्वर्गीका प्रारम्भ है । अंतन अदि सात पटलगळे ये दो स्वर्ग दक्षिण उत्तर समान नुस्रामे रचे हुये हैं। कुछ कम डेड राज्य क डन का अधिकार है। मेरुतछते तीन राज्य ऊपर समनुष्ठा स्थानमें ब्रह्म और मह्मोत्तर स्वर्ग बने हुये हैं। इन दो ना अधिपति नह्मा नाम ना एक इन्द्र है। आधे राजू ऊपर तक इनका साम्राज्य है । मेरुनव्से सांडे तीन राजू ऊपर चलकर लांतन और काषिष्ठ स्वर्ग बरोबरमें रचे हये हैं। इन दोका अधिपति एक ही जतन इन्स है। इसके ऊपर कुछ कम आना राज चलकर शक, महाशुक्त दो स्वर्ग दक्षिण और उत्तरकी ओर विस्यस्त है । उनका अधिपति एक शक इन्द्र है । इसके उत्पर कुछ कम आधा रात् यानी मेहनको सांडे चार राज् अपर उछक कर सतार और सहसार ये स्वर्ग समान मागमें रचे हुये हैं। उन होका अधिपति मतार नाम का एक इन्हें हैं। वर्ब, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और कर्न इन पाची दिशाओं में आने आने रान्तक इसका अविराज्य है। सतार. सहस्रारेम कुछ कम आधा राज अपर आनत, प्रामत, रो स्वर्ग हैं। इनके दक्षिण दिशा सम्बन्धी और उत्तरदिशासम्बन्धी अधिर्पात हो इन्द्र है। इनते आपे गज़ अपर उन्नर कर यानी सेह तलमें साड़े पाच राजू अपरंस अल्ण अन्तुत सर्ग प्राय्म हो जाते हैं. जो कि दक्षिण उत्तर दिशाम समनला कोटिपर व्यवस्थित है। मैरुताओं छा ताज अपर उपरिम एक राज्के निचले भागमें नी वैत्रेयक विमानोंके नी पट र है। इनके अपर नी अविदेश निमानोक्ता एक पटल है जिसमें कि चार दिशाओं और चार विदिशाओं तथा एक मन्ति ये। नी निमान सव रहे है। इसके अपर पांच अनुसरींके पाच विमान हे । गर्नार्थनिद्धिसे बारह योजन अप निंह क्षत्र है । मर्नार्थिसिंह और सिहलोक्के अन्तरालमें एक राज चौड़ी सात राज् उम्बी आठ योजन मोटी होकान्तस्परिंती आठवीं '' ईषन्प्राम्मारा '' नामकी प्रथियी है। इस प्रथियिके ठीक बीचम मन्ष्यक्षेत्रबराबम उन्ह्री चीडी आठ योजन मीटी गील सिइशिया जट रही है, जो कि मिड़कोत नामने कहाँ जा रहा आये छड़को समान नीचे समतल और जपर क्रमसे घटती हुई ढलाऊं होकर उठी हुई है। उस मिद्र व्रतिष्ठान क्षेत्रके जपरहे या लोकमें सबसे ऋपर बड़े धनुपोंसे नपे पत्रहर्मी पिचतर १५७५ धनुष मोटे तनुवानके पन्द्रहर्मीवें या नी ळाखवें भागमें उत्कृष्ट और जवन्य अवगाइनावारे अवगानन्त सिद्धपरमेष्ठी विराजमान हैं । उनकी त्रियोगसे इम नमस्कार करते हैं। एक मही एक बटे बीस गहाअनुवर्भे बडी अवगाइनाके सिद्ध हैं।

और सात बटे चार हजार महाधनुषमें छोटी अबगाहनाके सिद्ध मर्गषाम् बिराजमान है। मध्यमें अवगाहनाओं के अनेक भेद हैं। वहां भी अनन्तानन्त सिद्ध हैं।

तस्य पृथग्प्रहणं द्वन्द्वे कर्तव्येषि स्थित्यादिनिश्चभेतिपत्यर्थे। सर्वार्थसिद्धस्य हि स्थिति स्त्कृष्टा जयन्या च त्रयस्त्रिश्चतागरोपमा विजयादिश्यो जयन्यतो द्वात्रिश्चत्सागरोपमस्थितिश्यो विश्विष्टा प्रभावतथ तत्तोल्पप्रभावेश्यः इति श्रूयते।

उस सर्वार्थिसिद्धिका यद्यपि विजय आदिकके साथ इन्द्र समाम कर देना चाहिये था। फिर भी स्थिति, प्रभाव, आदि विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके ठिये सर्वार्थिसिद्धिका पृथक् स्वतंत्र प्रहण किया है। सर्वार्थिसिद्धि विमानमें रहनेवाछे सर्वार्थिसिद्ध देवकी उत्कृष्ट म्थिति और ज्ञष्टम्य स्थिति दोनों तेतीस सागरोपम हैं। बचीत सागर ज्ञष्टम्य और तेतीस सागरोपम उन्कृष्ट स्थितिको धारनेवाछे विजय आदि चार वैमानिकोंसे यह ज्ञष्टम्य, उत्कृष्ट, विकल्पोंसे रीता हो रही सर्वार्थिसिद्ध देवोंकी स्थिति विशिष्ट है। तथा प्रभावसे भी उन अरुप प्रभाववाछे विजय आदि अहमिन्दोंकी अपेक्षा सर्वार्थिसिद्ध देवोंका प्रभाव अत्यिक है। ऐसा शास्त्रो द्वारा आग्नायपूर्वक सुना जा रहा है। विजय आदि चार विमानोंमें रहनेवाछ सम्पूर्ण असंख्याते देवोंका जितना मिलकर प्रभाव है, उससे अधिक सर्वार्थिसिद्धिके एक देवका है। इत्यादि विशेषोंको दिखलानेके छिये सर्वार्थिसिद्धी ऐसा सूत्रमे पृथक् असमितितपद पड़ा हुआ है। किन् प्रत्ययान्त होनेसे श्रीकिंग माना गया सर्वार्थिसिद्धी शद्ध भी इन्द्रकी संक्षा पढ़ जानेसे पुलिक्ग कर दिया जाता है। सर्वार्थिसिद्धी और सर्वार्थिसिद्ध दोनों शद्ध अभीत हो रहे दीकते हैं।

प्रैवेयकाणां पृथम्प्रदृणं कल्पातीतत्वज्ञापनार्थे, नवज्ञह्रस्यावात्तकरणमनुदिक्षसूचनार्थे । दिक् आनुपूर्व्येणानुदिश्चं विमानानीति पूर्वपदार्धप्रधाना दृत्तिः दिक्छद्रस्य ज्ञरदादित्वात् आकारांतस्य वा दिज्ञाक्षद्वस्य भावात् तत्साहचर्यादिद्रा अप्यनुदिक्षास्ते च नव संति प्रैवेप-काणानुपरीति श्रवणात् ।

" प्रैवेयकेषु " इस पदका पूर्व या उत्तरपदोके साथ इन्ह समास नहीं कर जो पृथक् प्रहण कर दिया गया है, वह तो प्रैवेयकों के कल्पातीतपनको समझाने के लिये हैं। अर्थात — सौधर्मको आदि लेकरके अन्युतपर्यन्त बारह इन्द्रोकी अपेक्षा बारह कल्प है। उनसे न्यारे ऊपरले बिमान सम कल्पानीत हैं। इस सिद्धान्तको समझाने के लिये प्रेवेयकेषु यह पर पृथक् कर दिया है। सूत्र-कारकी एक एक मात्रा अपरिमित्त अर्थको क्षेत्र रही है। यचपि प्रेवेयक नौ है। ऐसी दशाम " नय च ते प्रैवेयका नवप्रैवेयका " थों समास कर " नमप्रैवेयकेषु " कह देना चाहिये था। फिर जो स्त्रकारने नव और प्रैवेयक पदीमें समासवृत्ति नहीं की है, वह नौ अनुदिश विमानोंका सूचन करने के लिये है। यानी प्रैवेयक कपर नौ अनुदिश विमान मी है। दिशाओंके अनुद्विपने करके कने हुए विमान

नव अनुदिश हैं | यहां दिश् शन्दकी अनुपदके साथ पूर्वपदके अर्थको प्रशान रखनेवाळी समासदाति कर दी गई है | दिश् शन्दका शरदादि शन्दोंमें पाठ होनेसे " अन्ययीमावे शरत्प्रमृतिम्यः " इस सून करके यहां समासान्त टच् कर दिया जाता है | अथवा आकारान्त दिशा शन्दका सद्भाव होनेसे "अन्ययीभावश्च और नपे। इचो हस्यः" सूत्रोंद्वारा अनुदिश शन्द बनाया जा सकता है | उन अनुदिश विमानोंके सहचरपनेसे इन्द्र भी अनुदिश कहे जाते हैं और वे अनुदिश विमान प्रेवेयकों के उत्पर एक परूकों नो हैं | यों आर्थशास्त्रोंद्वारा ज्ञात किया जा रहा है | नवसु शन्दका प्रेवेयकों एक बार अन्वय कर पुनः आवृत्त किये गये दूसरे नवसुका अर्थ नो अनुदिश विमान कर लिया जाता है । " न्याख्यान्त्रतों विशेषप्रतिपत्तिक हि सन्देहादलक्षणं " |

नतु च सौधर्मेशानयोः केषांचिद्प्युपरिभावाभावादच्यापकतापरिभावस्य स्यादित्या-शंकायाभिद्रमाह ।

यहां किसीकी संका है कि " उपिर उपिर " शद षष्ट्यन्त पदकी अपेक्षा रावता है। अतः सनत्कुमार, माहेन्द्र, आदिको सौधर्म, ऐशानके ऊपर ऊपरपना एंग् नीचे नीचेके निमानोसे ऊपर ऊपरपना पर्य नीचे नीचेके निमानोसे ऊपर ऊपरपना सर्वार्थसिद्धितक सुरुभतया घट जाता है। किन्तु सबसे नीचेके सौधर्म और ऐशानको किन्हींके भी ऊपर ठहरनेका अभाव हो जानेसे ऊपर ऊपर सद्भावकी सर्वत्र वैमानिकोंमे ज्यापकता नहीं हो सकी ? इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द म्त्रामी अप्रिम वार्त्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं।

सौधर्मेशानयोर्देवा ज्योतिषामुपरि स्थिताः। नोपर्श्वपरिभावस्य तेनाव्यापकता भवेत ॥ १ ॥

जब कि सीधर्म और एशानमें रहनेवाठे देव ज्योतिषियों के ऊपर व्यवस्थित हो रहे हैं। तिस कारणसे ऊपरले ऊपरले भागों में टहरने के परिणामकी अज्यापकता नहीं हो वेगी। ज्योतिष्क विमानों से अठानने हजार एक सौ चालीस ९८१४० योजन और बालाप्र ऊपर सीधर्म ऐशान विमान व्यवस्थित हैं। अर्थाद् ज्योतिष्क विमानों की अपेक्षा वैमानिकों के त्रेसट पटलों का ऊपर ऊपर वर्तना सर्वत्र व्याप जाता है। यद्यपि ज्योतिष्कों में भी समतल चित्रा भूभाग के ऊपर सात सौ नव्ये ७९० योजनसे प्रारम्भ कर ९०० योजनतक एक सौ दस ११० योजनों ज्योतिष्कों का तारे, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल, बुध, खुत्र, बृहस्पित, मंगल, शनि, इस कम अनुसार ऊपर ऊपर वर्तना पाया जाता है। फिर भी हमें यहां वैमानिकों के ऊपर ऊपर कपर कथन प्रकरणमें ज्योतिष्कों का घसीटना अभीष्ट नहीं हो रहा है। अव्यापकताका समूल उन्धेद करने के लिये उदारोदर (बहा पेट) नीति अनुसार ज्योतिष्कों का भी ऊपर उपर ठहरना बहा कर लिख दिया है।

कुतः पुनर्दयोरुपर्युपरिभावः माम्बैवेयकेभ्य एवेत्याह ।

किसी प्रतिवादीका कटाक्ष है कि उक्त न्याख्यान करनेसे प्रतीत हुआ है कि सौधर्म आदि कल्पोंमें दो दो स्वर्ग बराबर ठहरते हुये ऊपर ऊपर सील्डह स्वर्ग वर्ष रहे हैं। किन्तु सुत्र द्वारा यह अर्थ नहीं निकलता है। प्रेवेथकोंसे पहिले ही। यह न्यवस्था होय। पुनः प्रेवेथकों, अनुदिशों, या निजया-दिकोंमें दो दो का युगल ऊपर ऊपर नहीं न्यापे यह भी मूलसूत्रसे ध्वनित नहीं होता है। अतः बताओ कि प्रेवेथकोंसे ही पाहिले दो दो स्वर्गोका ऊपर ऊपर वर्तना है, यह कैसे निर्णीत किया जा सकता है! टीकाकारोंको मूलसूत्रके अनुसार ही। चलना चाहिये। सिद्धान्तको न्यून अधिक कथन करनेसे तत्त्वोंका कूपपतन या आकाशमें फेंक दिया जाना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार सामिमान जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकोको समाधानार्थ कहते हैं।

सौधमंत्यादिसूत्रे च द्वंद्ववृत्तिर्विभाव्यते । सौधमीदिविमानानामुपर्युपरि नान्यथा ॥ २ ॥ आनतप्राणतद्वंद्वमारणाच्युतयोरिति । सूचनादंतशः सा च कल्पेष्वेवैकशस्ततः ॥ ३ ॥ ग्रैवेयकेषु नवसु नवस्वनुदिशेष्वयं । ततोनुत्तरसंज्ञानां पंचानां सेष्यतेर्थतः ॥ ४ ॥

" सीर्थमें शानसानन्कुमारमाहेन्द्रबद्धावहोत्तर " इत्यादि सूत्रमें कहे गये सीर्थमं आदि विमानोंका ऊपर ऊपर इन्द्र यानी युगळरूपसे वर्तना विचार लिया जाता है। अन्य प्रकारोंसे यानी एक एकके ऊपर वर्तते हुये यों सोळह पटल होंय या चार चारका चतुष्क सममागमें बनाकर सोळह स्वर्गोंके चार ही चतुष्क या पटल कर दिये जांय इत्यादिक ढगोंसे ऊपर ऊपर वर्तना नहीं है। क्वोंकि अन्तमें पडे हुये आनत प्रत्यात का इन्द्र कर पुनः आरण और अन्युतोंका इन्द्र किया गवा है। अतः स्वित होता है कि जैसे आनत, प्राणत, और आरण अन्युतोंके युगळ समानभागोंमें रचे होकर ऊपर ऊपर हैं, उसी प्रकार सीर्थमं, ऐसान, आदिके युगळ भी दो दो स्वर्गोंकी समनुला होकर ऊपर ऊपर रच रहे हैं। अन्यथा लावकि लिंग आनत आदि चारोंका इन्द्र कर एक ही योग किया जा सकता था। हां, पहिले बारह स्वर्गोंका लाववार्थ इन्द्र समास कर दिवा है। और उनके ऊपरके दो युगळोंका समास नहीं करनेसे युगळरूपसे सब स्वर्गोंका वर्तना सूत्रकार द्वारा सूचित कर दिवा गया है। वह युगळरूपसे हो रही वारह कल्प यानी सोळह स्वर्गोंने ही है। उससे परिले ओर नो प्रैवेयकोंमें नो अनुदिशोंमें और उससे ऊपर पांच अनुत्तर संक्रक विभानोंमें यह वर्तना एक

एक रूपसे हैं। अर्थात् — नबमैत्रेयक अकेले अकेले हो कर ऊपर ऊपर नौ पटलोमें वर्त रहे हैं। नव अनुदिशोंका एक ही पटल उपरिम नौमें प्रैतेयक के ऊपर है। उसके ऊपर पाचों अनुनरींका एक ही समतुलाबाला पटल है। सूत्रोक्त शहोंकी शक्तिसे और अर्थनम्बन्धा न्यायसे भी नह सौधर्म आदि कन्पोंकी या कल्पातीतोंकी युगल रूपसे या एक एक रूपसे इस प्रकार बन्ति होना अभीत होरहा है। सहसारत क दो दो कन्पोंका पहिले इतरेतर इन्द्र समाम कर पश्चात् लड़ युग्माका इन्द्र कर लेना। आगे स्पष्ट ही है।

सौधर्मेत्यादिम् ते निर्दिष्टानां सौधर्भेशानदीनां श्रेणीद्रकपकीणीत्मकपटस्रभावापकानां विमानानास्चपर्युपरि द्वंद्ववर्तनं विभाव्यते आनत्याणतद्वंद्वमनन्तरमारणाच्युतयोरिति स्चनादन्यका कृष्यकरणे प्रयोजनाभावात् । तश्च द्वंद्ववर्तनं कल्पेष्येव विभाव्यते । ततंते वृष्यकरणात् प्रागेष सौधर्मेशानयोः सानत्कुपारमाहेन्द्रयोरित्यवृत्त्यकरणात् ।

मीधमंशान इयादि सूत्रमें कथन किये गये वारों दिशाओमें पंक्तिबद्ध के हुये श्रेणीबद्ध विमान और श्रेणीबद्धों के ठीक बीचमें ठहर यहा इन्द्रक विमान एवं दो दो श्रेणीयों के बीच बीचके चार तिकोने बिखेरे हुये पुष्पों के भमान फैट रहे पुष्पप्रकीर्णक विमान यों श्रेणीजातीय, इन्द्रक और प्रकीर्णक जातीय, विमानों सरस्प परलमायको प्राप्त होरहे मीधर्म, ऐशान, आदि विमानोंका ऊपर उत्पर युग्न स्त्रपेस वर्तना निर्णात कर बिया जाता है (प्रतिक्षा) क्योंकि आनतप्राणतके दृन्द पश्चात् आरण अन्यतोंका पृथक्रत्यम सूत्रमें अथन किया है। मूत्रकारने आनिम चारों व्यागिकी ममासहिन जो नहीं की है, उसका यही प्रयोजन है कि मोलह म्यर्ग दो दो होकर यमछ स्त्रपेस उत्पर अपर अपर विच वर्त रहे हैं। सूत्रकारका समासहित नहीं करनेम अन्य प्रकारका कोई प्रयोजन नहीं है। और यह दृन्द स्त्रपेस दो दोका बराबर होकर वर्तना कर्गोमें की यई है। उनके पहिले ही सीधर्म आदिक बारह कर्गोमें ही अन्तके चार कर्गोमें दृन्द समासहित नहीं की गई है। उनके पहिले ही सीधर्म आदिक बारह कर्गोमें हो लगी की गई है कि सीवर्मक ऐशानक्ष सीधर्मेशानी और सानत्कुमारका माहेन्द्रश्च सानत्कुमारमाहेन्द्री तथा ब्रह्मा च ब्रह्मोत्तरक्ष ब्रह्मब्रह्मोत्तरी इत्यादिस्त्रपरे छह युग्लोंके छह दृन्द समास किये गये हैं। पुनः सीधर्मेशान पदकी और सानत्कुमारमाहेन्द्र आदि पांच युग्म पदोंकी अनुति नहीं की गई है। यानी आठ कल्प या बरह स्वर्गोका दृन्द समास कर दिया गया है। इसीसे कर्गोमें युगल्छितका सिद्धान्त निर्णीत होजाता है।

तत एव नवसु प्रैवेयकेष्वेकशो वर्तनं विभाव्यते । नवस्वतुदिशेषु च तत्र दिग्विदिग्ब-त्यंकैकविमानमध्यगस्येंद्रकविमानस्यैकत्वात् । तत एवानुत्तरसंज्ञानां पंचानामेकशो वर्तनं विभाव्यते दिग्वत्यंकैकविमानमध्यगस्येंद्रक्तस्य सर्वार्थसिद्धस्यैकत्वात् । अर्थत्रश्चैवं विभाष्यते अन्यभोक्तनिर्देशक्रमस्य प्रयोजनासुपपत्तेः ।

तिस ही कारणसे यानी नवपद और ग्रैंवेयकपदमें वृत्ति नहीं करनेसे नौ ग्रेवेयकोमें एक एक होकर नौ पटलोंमें एक एक ग्रैवेयकका वर्तना निर्णीत कर लिया जाता है। नव शदको प्रवेयकपदके साय समास वृत्ति नहीं करनेसे नौ अनुदिश भी प्राप्त हो जाते हैं। नव अनुदिशों में सम्पूर्णीका एक पटल है। उनमें दिशा और विदिशाओं में एक एक वर्त रहे यों आठ विमान और एक मध्यमें प्राप्त हो रहा इन्द्रक विमान यों न्यारे, न्यारे समतुकावाले विमानोंको वहां एकपना प्राप्त है। नवसु शद्धका योग विभाग या आवृत्ति कर एक नव शद्धको ग्रैवेयकके साथ और दूसरे नवको अनुदिशमें जोड लेना । तिस ही कारणसे यानी पांचों अनुत्तरोमे एकशः वृत्तिका अन्वय कर देनेसे अनुत्तर संज्ञक विजयादि पांचों विमानोंकी एकबार समतुला (लेविल) में वृत्ति हो रही निश्चित कर ली जाती है। क्योंकि चार दिशाओं में वर्त रहे एक एक विमान और मध्यमे प्राप्त हो रहे सर्वार्थसिद्धि नामक एक इन्द्रक विमानको एकपना प्राप्त है। शह शक्तिसे ये बात व्याकरण मुद्रया प्राप्त हो जाती है। तथा अर्थ संबंधी न्यायसे भी इस प्रकार उक्त सिद्धांत विचार लिया जाता है कि सूत्रकारके यथोक्त प्रकार सूत्रमें कथन कर दिये गये कमका अन्य प्रकार कोई प्रयोजन नहीं बन रहा है। जो कह दिया गया प्रयोजन है वही न्याय युक्तियोसे निर्णीत है। इस प्रकार सौधर्म ऐशान स्वर्गके इकत्तीस पटल, सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गीके सात पटल, ब्रम्हयुग्मके चार पटल, लांतव युग्मके दो, शुक्र युगलका एक, शतार द्वन्द्वका एक पटल एवं आनतादि चार कल्पोंमें छह पटल, नौग्रैवेयकोंके नौ पटल, नौ अनु-दिशोका एक पटल, पांच अनुत्तरोंका एक पटल यों ऊर्ध्व लोकमे असंख्याते योजनींका व्यवधान लिये हुये त्रेसठ पटल हैं। सबसे नीचेके ऋतु पटलके मध्यवर्ती ऋतु इन्द्रक विमानसे चारों दिशाओं में बासठ बासठ विमानों की पंवित बद्ध श्रेणी त्रसनालीतक चली गयी है। ऊपर ऊपर पटलमें चारों दिशाओंसे एक एक विमान कमती होती गयीं चारों श्रेणियां व्यवस्थित हैं। बासठसें अनुदिश संबंधी पटलमें एक एक विमान दिशाओमे वर्त रहा है। यहां विदिशाओं में भी चार विमान है ऊपरके अनुत्तर विमान सम्बन्धी त्रेसिठवें पटलमें विदिशाओं में असंस्थात योजन व्यासवाले चार श्रेणी बद्ध विमान और मध्यमें एक लाख योजन व्यासवाला सर्वार्थिसिद्धि इंन्द्रक विशान यों पांच विमान है। यह रचना थालीमें रखें हुये ऊपर पंक्तियों में क्रमबद्ध कमती कमतो हो रहे लड्डुओं के ढेर समान अनादि अनन्त अकृत्रिम बन रही है। श्रेणियों के बीच चार तिकोनोंमें पुष्प प्रकीर्णक विमान अवस्थित हैं। इन्द्रक श्रेणी, बद्ध पुष्य प्रकीर्णक विमानोंकी संख्या, उनका संख्यात या असंख्यात योजनका व्यास, और मोटाई, वर्ण, आदिका निरूपण त्रिलोकसार राजवात्तिक, ग्रन्थोंमें दृष्टव्य है। सम्पूर्ण विमानोंमें एक एक अक्वत्रिम जिन मन्दिर विराजमान हैं। विमानोंकी संख्या परिमाण जिन मन्दिर को नमस्कार होओ।

वे च स्त्रिवंषु सौधर्मादिषु करंगेषु करणावीवेषु च वैमानिका देवाः।

उनत सूत्रमें कहे जा चुके सौधर्म आदि कल्पोंमें और ग्रंवेयक आदि कल्पातीतोंमें निवास कर रहें वे देव परस्परमें किन किन विशेषताओंको धारते हें ? इसकी प्रतिपत्ति करा-मेंके लिये सूत्रकार अगले सूत्रको कहते हैं।

स्थितिप्रभवासुखद्युतिलेइयाविशुद्धींद्रियावि -विषयतोधिकाः ॥ २० ॥

आयुष्य प्रमाण स्थिति, निग्नहानुग्नह करना स्वरूप प्रभाव, इन्द्रियजन्य लौकिक सुख, दीप्ति स्वरूप द्युति, लेश्या, इन्द्रियोंका विषय, अविज्ञानका विषय इन करके ऊपर ऊपरके वैमानिक देव अधिक हो रहे है। यानी बेसठ प्रस्तारों में ऊपर ऊपर स्थिति आदिक बढ रहे पाये जाते हैं।

स्त्रीपात्तायुष उदयात्तास्मिन् भवे तेन शरीरेणातस्थानं स्थिति, शापानुग्रान्यसणः मभ'वः, संद्घोदये सतीष्ठ विषयानुभवनं सुखं, श्वर्गरत्वसनाभरणादिदीप्तिगुतिः, कपायानुभित्रा यागप्रश्वतिर्देशका तस्या विश्वाद्धत्रेश्वराविश्वद्धिः, इन्द्रियस्यावध्य विषये। गोत्तरः भत्ययः, विषयशब्दस्येदियादिभ्यां प्रत्यंकमिनिसंदेधात् अन्यथोवर्धुपरि देवानाविदियाभिद्यदिभसनात् सिद्धांतिविरोधापक्तेः।

अपने करके पूर्व जन्ममें उपाजित किये गये आयुष्य कर्मका उदय हो रहे उस भवमें उस गृहीत शरीरके साथ अवस्थान बना रहना स्थिति है कुद्व हो कर अपने अधिकृत प्राणियो भेसे किसीको अनिष्ट प्राप्त कर। देना शाप स्वरूप प्रमाव है। और किसीके उत्तर प्रमन्न होते हुये इष्ट प्राप्त करा देना स्वरूप अनुग्रह नामक प्रभाव है। अन्तरंगमे साता वेदनीय कर्मका उदय होते सन्ते इष्ट विषयों का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र, अलंकार, गंत्र, द्रव्य, मृकुट आदिकी दीष्तिको द्युति कहते है। कषायों से अनुरंजित हो रही योगों की प्रवृत्ति लेश्या है। जो कि "गतिकपार्यालगमिष्यादशंना, इत्यादि सूत्रकी ग्याग्हवीं व त्तिकमें कही जा चुकी है। उस लेश्याकी विशुद्धि हो जाना लेश्या विशुद्धि है। इन्द्रियों को और अवधि ज्ञ नका विषय यानी आतब्य प्रमेय इन्द्रिय विषय और अवधि विषय समझ लेना चाहिये। विषय शद्ध का इन्द्रिय और अवधि इन प्रत्येकके साथ पीछे संबंध कर दिया जाता है। अन्यथा यानी इन्द्रियों के साथ विषय यक्ता यदि संबंध नहीं किया जायगा तो उत्तर उत्तर देशों के इन्द्रियों की अभिवृद्धिका प्रसंग हो जानेसे सिद्धां से विरुद्ध कथनकी आपत्ति हो जायगी अर्थान्-सभी देशोंके इन्द्रियां पांच हो हैं। छह, सात, पच्चीस, पवास अवद इन्द्रियां नही है। अवधिकान भी देशावधिके मध्य भेद वहां नहीं है। या जाते हैं। देशावधिके अतिरिक्त कोई परमाविध, सर्वविध, या अन्य भेद वहां नहीं है।

सिद्धान्त शास्त्रीमें ऐसा ही उल्लेख है। अतः इन्द्रिय और अवधि शद्धका पहिले इन्द्र समास कर 'इन्द्रियावधी 'पद बनालो। पुनः षष्ठी तत्पुरुष द्वारा 'इन्द्रियावधिविषय 'पदको ब्युत्पन्न कर लेना चाहिये।

स्थित्यादीनां द्वेदे रिथतिश्रह्णस्यादी प्रदणं तत्पूर्वकत्वात् प्रभावादीनां । तेभ्यस्ततः इत्यशा पादाने दीयरदोरिति तासिः तेवा ततस्तिस प्रकरणे " आद्यादिभ्य उपसंख्यान " विति तासिः।

स्थिति आदिक शहोंका स्थितिश्च प्रभावश्च मूखं च इतिश्च लेश्याविशृद्धिश्च इन्द्रिया-वधि विषयश्च, यों निक्वित द्वारा द्वन्द्वसमास करनेपर स्थिति शद्दका आदिमें ग्रहण हो जाता है। क्योंकि आयुष्य कमें द्वारा जीवन स्थिति नियत होनेपर जीवके प्रमाव, सुख, आदि हो सकते हैं। अतः प्रभाव आदिक सब उस स्थितिको पूर्ववर्ती मानकर पीछे उपजनेवाले पदार्थ हैं। स्थिति शद्भा स्वन्त भी है किन्तु स्वन्तपना द्यतिमें भी पाया जाता है। लेश्या विश्विद्धमें अच् अत्यधिक है। अतः ग्रंथकारने स्थिति पद आदिमें ग्रहण करनेके लिये सबके पूर्वमें वर्तना यही पृष्ट हेत् प्रयुक्त किया है। इन्द्र समास कर चुकनेपर स्थिति प्रभाव सूख द्यति लेक्याविश् द्वीन्द्रिया-वधिविषया इम पदसे तेभ्यः ततः इतिः यान्। स्थिति प्रभाव मुख द्युतिलेश्याविश् द्वीन्द्रयावधिविषयेभ्य इति स्थिति प्रभात्रमुखद्यतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियाविशिविषयतः यह सुत्रोक्तपद यना लेना चाहिये । यहां " अपादानेऽहीयरहो: " इस सूत्र करके तिस प्रत्यय करना चाहिये । पंचमी विभक्तिवाले अपादान अर्थकी विवक्षा होनेपर तिस प्रत्यय हो जाता है। किंतु 'स्वपदात् हीयेत ' 'पर्वताते अवरोहति, ऐसे पदों में हीय और रुहका योग होनेपर तिस प्रत्यय नहीं हो पाता है। अथवा निपयै: यों ततीयांत इन स्थिति अ।दि पदसे विषयत: बनालो तद्धित संबंधी तसि प्रत्ययके प्रक-रणमे ' आद्यादिभ्य जासंख्यानं ' आदि, मध्य, अन्त, पुष्ठ पार्श्व आदि आकृति गणपतित शहोंसे पंचमीके अतिरिक्त अन्य विभिवनयों के अयमें भी तसि प्रत्यय हो जाता है। ऐसा वात्तिक द्वारा उत्सर्ग सूत्रसे अधिक उपसंख्यान किया गया है। इस कारण यहां तृतीयांत पदसे भी तसि प्रत्यय किया जा सकता है। पंचमी विभक्त्यन्त पदमे इतनी प्रेरकता नहीं हं, जितनी कि तुतीयांतपद द्वारा प्रेरककारणता ध्वनित हो जाती है।

चपर्युपरि वैमानिका इति चानुवर्तते तेनैवमिसंबंधः क्रियते चपर्युपरि वेमानिकाः मति-कःषं मतिमस्तःरं च स्थित्यादिभिरोधका इति ।

इस सूत्रमें 'जपर्युपरि' और वैमानिकाः' इन दोनों सूत्रोंकी अनुवृत्ति हो रही हैं। तिस कारण दो सूत्रोंको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यों कर लिया जाता है कि ऊपर ऊपर वैमा-निक देव प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें स्थिति, प्रभाव, आदिकोंसे अधिक अधिक हो रहे विराजते हैं।

इत्स्ते तथा सिद्धा इत्याइ।

वे वैमानिक देव तिस प्रकार स्थिति आदिकसे अधिक हैं, यह सूत्रोक्त कथन भला किस प्रमाणसे सिद्ध किया गया है ? बताओ, ऐसी तर्कणा उपस्थित होनेपर ग्रन्यकार वक्ष्यमाण कारिकाको कहते हैं।

सप्तभिस्ते तथा ज्ञेषाः स्थित्यादिभिरसंशयं। तेषामिह मनुष्यादौ तारतम्यस्य दर्शनात्॥१॥

वे वैमानिक देव (पक्ष) तिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि सात विशेषताओं करके कपर अधक हो रहे निस्संशय जान लेने चाहिये (साध्य) । क्योंकि इस दृश्यमान लोकमें उन स्थिति आदिकोंका सेठ, राजा, महाराजा, मल्ल, अध्यापक, आदि मन्ष्यों या अनेक पक्षियों अथवा बंदर, सिंह, आदि तिर्यंचोंमें हो रहा तरतम भाव देखा जाता है। (हेत्) अर्थात्-पृण्य-शाली व्यापारी सेठ, राजा, मल्ल, यं।गाभ्यासी, अ।दिकी आयु अधिक अधिक देखी जाती है। सिपाही, थानेदार, कलक्टर, कमिश्नर, लार्ड, वायसराय, आदिमे उतरोत्तर प्रभाव अधिक है, भिक्षक, किसान, द्कानदार, जमीदार, सेठ आदिमें उत्तरीतर सूख भी वढ रहा है । रोगी, अल्परोगी, दास (मजूर) अध्यापक, व्यापारी, मल्ल, महाभट आदि निश्चिन्त पुरुवोंकी शरीर कान्ति भी उतरोत्तर बढ रही दीखती है। स्वच्छतासे प्रेम रखनेवाले वैद्य, डाक्टर, कप्तान, कल-क्टर, प्रभ, इनमें शरीर, वस्त्र, गहने, आदिकों की कान्ति भी वढ रही देखी जा रही है। नारकी कर, तिर्यंच, मन्द्र, देव, भोगभूमियां, सर्वार्थसिद्ध, श्रावक, मृनि, इनमें कषाय और योगकी मिश्रण परिणति स्वरूप लेश्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही प्रतीत होती है। इसी प्रकार रोगी, निर्धन, अध्मर्ण, (कर्जदार) घृतभोजो, निश्चिन्त पशु, पञ्ची, मण्डलेश्वर चक्रवर्ती, देव इनमें स्पर्शन, घाण, चक्ष, आदि इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करना उत्तरोत्तर वढते चले जा रहे देखे जाते हैं। तथा तियंच, नारकी, भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्क, असुरकुमार, सौधर्म, इन्द्र, आनत प्राण त्वासी अनुत्तर विमानवासी, मृति, चरमशरीरी. इनमें अविश्रज्ञान उत्तरोत्तर बढता जा पाया रहा शास्त्रों द्वारा जात हो रहा है। इसी प्रकार तिर्यंच योनिम विशेष रूपसें भी पक्षियोंकी चिरैया, नीलकंठ, चील, गृह आदिकी आयु बढती हुई है। पशुओं में कूता, छिया, गद्या, घोडा, ऊंट हाथी अथवा बिल्ली, चीता. रींछ, वघेरा, सिंह, अप्टापद, इनकी आयु ऊपर ऊपर अधिक है। जल चरोंमें मेंडक मछली, कछुआ, मगर, घडियाल, इनकी आयु बढ रही पायी जाती है। बन्दर, कुत्ता, भेडिया सिंह, बडे मच्छ, चील, गृद्ध, आदिके प्रभाव, सुख, दीन्ति लेश्या, इन्द्रियोंके विषय इनमें घटती बढतीका हो रहा तारतम्य देखा जाता है। वस, इसी तार-तम्य हेतुकी सामर्थ्यसे देवोंके ऊपर ऊपर स्थिति आदिक अधिक हो रहे साध लिये जाते हैं।

मनुष्यादौ स्थितस्तावतारतम्यस्य दर्शनादैवानामुगर्धुपरि स्थित्याधिकयं द्रष्टं संभाव्यते । येवामाप समाना स्थितिः तेवामाने गुणताधिकत्वसिद्धः । प्रभावस्य च तारतम्यदर्शनं तैना-धिकं । यः प्रभावः सौधर्मकल्पे निप्रदानुप्रदूपराभियोगादिषु तद्दनंतग्रुणत्वादुपर्धुपरि दंवानां केवलं मंदाभियानतयाल्पसंक्लश्चतया च न मवर्तनं ।

मन्त्य, तियंच, आदिमें सबसे पहिली स्थितिके तरतम भावका बीखना होनेंसे देवेंकि कपर कपर स्थिति करके अधिकपना देखा जा चुका सम्भावित हो रहा है। सर्वज्ञ देव या दिव्यज्ञानी आचार्य, जिन अतीन्द्रिय पदार्थीका प्रत्यक्ष कर लेते हैं, उनमेंसे कतिपय पदार्थीकी वादी, प्रतिवादी पुरुष यिनतयों द्वारा सम्भावना कर लेते हैं। उनकी उत्कृष्ट और जवन्य स्थितिको आगे कह देंगे। हां, जिन देवोंकी स्थिति समान भी है, उनके भी अन्य गुर्णों करके अधिकपना सिद्ध हो रहा है। जैसे कि सौधर्म, ऐशान, स्वर्गोमें कुछ अधिक दो सागर उत्कृष्ट आय है। सनत्कूमार, माहेन्द्र, की भी इतनी ही जघन्य आय है। एक समय अधिक कोई अधिक नहीं समझी जाती है। विजय, वैजयंत, जयंत, की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर सीर सर्वार्थसिद्धिकी तेतीस सागर बराबर है एवं इन्द्रकी आध्के समान ही सामानिक देवोंकी भी आयु है। फिर भी इनमें गुणोंकी अपेक्षा अधिकता है। दश सागर उत्कृष्ट आयुवाले अम्होत्तर स्वर्गवासी देवोंकी अपेक्षा आठ सागर प्रमाण आयुष्यधारी लौकान्तिक देव गुणोंसे अधिक है। जैसे कि निर्धन मुर्ख या रोगीके साठ वर्षतक जीवनकी अपेक्षा नीरोग विद्वान्का पचास वर्षतक जीवन सूचार (बेहतर) है। दस दिनके काल कोठरी निवास नामक दण्डसे दो माहका कारावास कही अच्छा है। फांसीकी अपेक्षा जन्म पर्यन्त द्वीपान्तवास (कालापानी) दण्ड हलका है। तथा प्रभावका भी तरतम रूपसे दीखना होनेसे देवोंमें उस प्रभाव करके ऊपर अपर अधिक-पना सम्भावित हो रहा है। सौधर्म कल्पमे देवोंका जो निम्नह करना, अनुमह करना, दूसरोंको लताडना, आश्रितोंपर अपराध नियत कर देना, आज्ञा चलाना आदि नियोगोंमें प्रभाव है। ऊपर ऊपर उससे अनंत गुणा होनेसे देवोंका प्रभाव अधिक हो रहा है । केवल अभिमान या अन्य कथायोंकी मन्दता होनेसे और अल्प संक्लेशवान हीनेसे ऊपर ऊपरके देव विचारे आश्रित-देवोंपर निग्रह, अनग्रह, आदि नियोग चलानेमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं। जैसे कोई प्रधानाध्यापक अानी सज्जनता, मन्द कवाय, औपाधिक क्षणिक पदिवयोंमें अनादर आदि कारणींमे अवने आश्रित अध्यापक, छात्र मंडल या कर्मचारियोंपर स्वकीय पूर्ण प्रभाव नहीं डालता है। मले ही छोटी पदबीवाला प्रबंबक (मुप्रिन्टेन्डेन्ट) छात्रोंपर भारी प्रभाव गांठ लेवें । बात यह है कि गम्भीर प्राणी अपने पूरे प्रभावका व्यय दहीं करते हैं। जो अपने प्रश्रावींका विधिकता या अनुचित रूपसे उपयोग करते हैं, वे गम्भीर जीवोंमें निदाक पात्र होकर छोटे समझे जाते हैं। इसरों के उपकार करने में अपने प्रभावका भले ही उपयोग किया जाय, किन्तु दूसरों के निग्नह, अभि-योग संचालनमें जो पुरुष जिल्ला भी अपने प्रभावका अल्प न्यय करेगर वह पुरुष इसना ही जदात्त सम्बीर, महामना, समझा जायगा। हां, साधु अनुग्रह और दुर्जन दण्ड करनेवाले राज-वगंके प्रभुओं (अफसरों) की बात निराली हैं। देवों में ऊपर ऊपर ऐसी निग्रह करानेवाली प्रभुताके उपयोगकी सामग्रीकी भरमार नहीं हैं।

प्निमइ मुखस्य तारतम्यदर्शनाचेषां मुखनाधिक्यं । गुत्या तारतम्यदर्शनादिति पुत्याधिक्यं । छत्या तारतम्यदर्शनादिति पुत्याधिक्यं । छत्याविद्युद्धस्तारतम्यदर्शनाचयाधिक्यं, समानल्डश्यानामि कर्मविद्युध्यधिकत्वः सिद्धः । इदियाविषयस्य तारतम्यदर्शनादिदियविषयणाधिक्यं । तद्ददविधिविषयण तथा संभावनायां बाभकाभावात् ।

इसी प्रकार यहां मनुष्योमें सुखके तारतम्यका दर्शन होनेसे उन कल्प और कल्पातीत देगोंके भी लौकिक सुखों करके अधिकपना सिद्ध कर दिया जाना है। द्यृति यानी दीप्ति करके भी यह तारतम्य देखा जाना है। इन कारण आगमगम्य, परोक्ष, देवों में इन दृष्टान्तकी सामर्थ्य अनुसार द्युति करके अधिकपना साध दिया जाता है। लेश्याओं की विशुद्धिका तारतम्य यहा मनुष्य या तिर्यंचों में देखा जाता है। इन कारण उन लेश्या विशुद्धिका लारतम्य यहा सम्भावने योग्य है। "पीनपद्मजुक्ललेश्या दिश्विशेषेषु" इस सूत्र द्वारा वैमानिक देवों में लेश्या-विधि कह दी जायगी, किन्तु जिन देवों की लेश्या समान है, उनके भी उत्तरोत्तर प्रस्तारों में कर्मोंकी विशुद्धिका अधिकपना सिद्ध है। जैसे कि सौ अम में पीत लेश्या है, सानत्कुमार स्वगं में भी पीत लेश्या है। तथा आरण, अच्युत, ग्रेवेयक, अनुदिश, अनुत्तर विमानवासी देवों में सबके एकसी शुक्क लेश्या है। फिर भी कर्मोंके मन्द, मन्दतर, मन्दतम, उदय अनुसार लेश्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही है। योंही यहां मनुष्य तिर्यंचों में छह इन्द्रियोके विषयका तरतम भाव देखा जाता है। अतः देवों में भी इन्द्रियोंके विषय करके अधिकपना अनुमित हो जाता है। उन्हींके समान देशाविधिके अधिक अधिक हो रहे विषय करके दिस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक हो रहे देशाविधिके विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्भावना करने में बाधक प्रमाणोंका अभाव है। ' असंभवद्याधकत्वाद्धस्त्रीद्धः'।

गत्यादिभिरधिकत्वमसंगे तिश्ववृत्त्यर्थभाहः

कोई प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि जिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि करके ऊपर कपर अधिकपना है, उसी प्रकार वैमानिक देवों में गित, शरीर, आदि करके भी अधिकपनका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ? ऐसी दशामें उस अनिष्ट प्रसंगकी निवृक्तिके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः॥ २१॥

गति, शरीर, अवगाहना, परिग्रह और अभिमानसे दे वैमानिक देव उत्तरोत्तर प्रस्तारोंमें हीन होन होकर विराज एहे हैं।

चभयनिभित्तवशादेशांतरमासिनिभित्तः कायपरिस्पंदो गतिः, शरीरभिद्व वैक्रियिकशुक्तः स्थलं प्रात्तं, छे।भक्तपायोदयानमूर्छी परिष्रद्वां वस्यमाणः, मानकषायोदयात् प्रतियोगेष्वप्रणाति-परिणामां अभिगानः । गतिश्वरीरपरिष्रद्वाभिमानिर्गातश्चरीरपरिष्रद्वाभिमानतः उपर्युपारे वैमानिकाः प्रतिकरं प्रतिष्रस्तारं च द्वीनाः प्रत्येतस्याः ।

अन्तरंग और बहिरंग दोनों निमित्त कारणोंके वशसे एक देशसे अन्य देशोंकी प्राप्तिका निमित्त हो रही शरीरके परिस्पन्दरूप कियाको गति कहते हैं। कार्योंके उपादान तथा अन्त-रंग, बहिरंग, प्रेरक, उदासीन, निमित्त ये कारण जब जुड जाते हैं, तब कार्यकी उत्पत्ति हो जाती हैं। आकाशमें गति होनेके उपादान और बहिरंग अन्तरंग निमित्त कारण नहीं हैं। सिद्धक्षेत्रमें विराज रहे सिद्ध परमेष्टियों में गतिका बाहरंग कारण गति नाम कर्मका उदय नहीं है। छातीमें वेग या अश्ववार इत प्रेरक कारणों के नहीं मि :नेपर घोडा गमन नहीं करता है। उदातीन कारण समान मानी गयी कीलके नहीं होनेसे चाक शीघा भ्रमण नहीं कर पाता है। अतः शरीरधारी देशोंकी गतिमें उपादान कारण जीव और शरीर तथा निमित्त कारणोंमें प्रेरक निमित्त छातीके वेग, मनका उत्साह, गति कर्मका उदय ये अन्तरंग हैं। बाहन, विमान, पांव, भूमि आकाश, भ्रमणेच्छा, प्रमुकी श्राज्ञाका पालत, ये बहिरंग हैं। धर्मद्रव्य, आकाश, उदासीन कारण हैं। यों अन्तरंग, बहिरंग, कारणोंसे देवोंकी गति पर्याय बनती है। यहां देवोंके प्रकः रणमें वैकियिक शरीर ग्रहण करना चाहिये, जिसका कि लक्षण हम द्वितीयाध्यायमें कर चुके हैं। लोभ कषायके उदयसे सकल्प, विकल्प, स्वरूप मुर्च्छा होकर विषयों में आसक्ति हो जाना परिग्रह है। यह मूर्छी स्वरूप परिग्रह स्वयं सूत्रकार द्वारा आगे सातवें अध्यायके ' मच्छी परि-ग्रहः ' सूत्रमें परिभाषित कर दिया जावेगा । चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृति मान कषा-यके उदयसे प्रतिस्पर्धा रखने दालों या साथवाले प्रतियोगी मनुष्यों में प्रणाम नहीं करना, नहीं दबना, स्वरूप परिणाम अभिमान है। उक्त चार पदोंका द्वन्द्व समासकर पुनः तृतीय विभक्तिके गति शरीर परिग्रहाभिमानों करके इस अर्थमें तिस प्रत्यय कर "गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः" यह पद बना लेना चाहिये। प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें ऊपर ऊपर वैमानिक देव इन गति, बरीर, परिग्रह, और अभिमान करके हीन हो रहे समझ लेने चाहिये। यह सूत्रका मूल वर्ष है।

कुतस्ते तथेत्याइ।

वे वैमानिक देव भला किस कारणसे ऊार ऊार तिस प्रकार गति आदिक करके हीन हो रहे हैं ? बताओ, इस प्रकार आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वास्तिक द्वारा समाक्षान वसनको कहते हैं।

उपर्युपरि ते हीना गत्यादिभिरसंभवात् । तत्कारणप्रकर्षस्य परिणामविशेषतः ॥ १ ॥

गति, शरीर, आदिकों करके वे देव ऊरर ऊर हीन हो रहे हैं (प्रतिज्ञा)। क्योंकि ऊपर ऊपर तिस जातिके परिणाम विशेष होते रहनेंसे उन गति आदिकोंके कारणोंकी प्रकर्ष-ताका असम्भव हैं (हेतु)। अर्थात्-पूर्वजन्ममें उपात्त शुभ कर्मोंके अनुसार विशुद्धिका अध्यव-साय बढता बढता रहनेसे और अत्यव्य संक्लेशभाव होनेसे वैमानिक देव सामर्थ्य, सुल, सन्तोष, आदिके अधिक होनेपर भी गति आदि करके हीन हैं।

गत्या तावदुर्णयुर्वारे हाना देवास्तत्कारणस्य विषयाभिष्यंगोर्देकस्य हानत्वात् तथा परिणामेनोत्पत्तः । श्वरीरेणापि हीनास्तत्कारणस्य प्रदृद्धश्ररीरनामकर्षोद्यस्य हीनत्वात् । सौधमैशानयोदेवानां शरीरं सप्तार्तिनमाणं, सानत्क्वशरमाहें द्योरगतिनहीनं कापिष्टांतेषु, ततापि सहस्रारांतेष्वरत्निहीनं, ततोष्यानतमाणतयोरधिरतिनहीनं, त रोष्यारणः च्युतयोः, तनोष्ययोग्रैरे-पकंषु, ततो मध्यप्रैवेयकेषु, ततोष्युपरिमग्रंभेयकेष्यज्ञुदिश्वविमानेषु च, ततोनुत्तरंषु तश्ररात्निनमान्तरहिनश्चिर्वार्वेष्ठिनश्चिर्वारेष्ठि वश्रारात्निन् मात्रस्थित हि श्रुतिः ।

सबसे प्रथम कही गयी गति करके तो ऊपर अपरके देव हीन हो रहे है। क्यों कि उस गतिके कारणभूत हो रही विषयों में तीव आसक्तिकी अधिकता (चाव) के हीन हीन होनेसे तिस प्रकार अल्प गति परिणाम करके वैमानिकोंकी देव पर्याय उपजती रहती है। अर्थात्-कीडा, गमनविनोद (शैल सपाटा) करनेके लिये सौधर्म, ऐशान, स्वर्गके देव जितना यहां बहुं असंख्याते द्वीप समुद्रोमें बार बार गमन करते है, उतना ऊपर ऊपरके देव यहां वहां नद्वी घुमते फिरते हैं। विनोदकी बात दूर है। धार्मिक क्रियाओं के लिये भी ऊपर ऊपरके देव अत्यल्प आते जाते हैं। वैमानिक अहमिन्द्र देव तो नन्दीश्वर पर्व पूजा, सुमेरु चैत्यालय पूजन, जिन जन्म महोत्सव आदिमें भी वहां नहीं आते जाते है। गतिके समान ही शरीर करके भी वैमा-निक देय ऊपर ऊपर हीन हैं। क्योंकि उस लम्बे, चौडे, मोटे, शरीरके कारणभूत शरीर नामक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही 'प्रवृद्ध शरोर 'संज्ञक नामकर्मके उदयकी हीनता है। अर्थात्-- महामत्स्य, हाथी, छठवें मातवें नरकके नारकी, भोगभमियां, नन्दीश्वर द्वीपकी वाबडियोंके कमल, बारह योजनका शंख, स्वयंप्रभपर्वतके बाह्य भागमें पाये जा रहे उत्कृष्ट वयगाहनाके त्रस जीव, इन स्थूल अवगाहनावाले जीवोंके देहविपाकी शरीर प्रकृतिकी विशेष मेद हो रही प्रवृद्धशरीर नामक प्रकृतिका उदय विद्यमान है । किन्तु वैमानिक देवोंक प्रवृद्ध शरीर नाम कर्मका उदय नहीं है, किन्तु 'क्षुल्लक शरीर संज्ञक नाम कर्मका उदय है। शरीर प्रकृतिके अवगाहनाओं के भेद अनुकूल असंख्याते भेद हैं। वैमानिकों में उत्तरोत्तर छोटे छोटे हो रहे शरीरोंके अन्तरंग कारण वैसी वैसी स्तोक शरीर प्रकृतिका उदय पाया का उदा है। तदनुसार सौधमं और ऐशान स्वर्गोमं देवोंका शरीर सप्त अरित प्रमाण है। 'प्रकोष्ठें विस्तृतकरे हस्तो मुख्टचा तु बद्धया। स रितः स्यादरितस्तु निष्किन्छित मुख्टिना 'इस अगरकोष अनुसार कोनीसे लेकर पसारी हुई छोटो अंगुलीतक अरित नामका नाप है। कपडे, भींत, आदिके नापमें बहुत स्थानोंपर इतने ही हाथका उपयोग प्रचलित है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोमें एक हाथ हीन यानी छह हाथ प्रमाण लम्बा शरीर है। उन माहेन्द्र देवोंसे भी ऊपर अम्हलोक, ब्रह्मोत्तर, और कापिष्ठ पर्यन्त देवोंमें एक हाथ हीन यानी पांच हाथ परिमाण अंचा शरीर है। उनसे भी ऊपर सहस्रार पर्यन्त शुक्त, महागुक, शतार, सहस्रार इन चार स्वर्गोमें देवोंका एक अरित हीन यानी चार हाथ अंचा शरीर है। उससे भी ऊपर आनत प्राणत, स्वर्गोमें आधा अरित हीन यानी तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर आरण अच्युत स्वर्गोमें आधा अरित हीन यानी तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर तीन अधो ग्रैवें यकोंमें आधा अरित कम यानी ढाई हाथ लम्बा शरीर है। उससे भी ऊपर तीन मध्य ग्रैवेयकोंमें आधा हाथ कम अर्थात्–दो हाथ ऊंचा शरीर है। उन मध्यग्रैवेयकोंसे भी ऊर ऊपरले तीन उपरिम ग्रैवेयकोंमें और तदुपरि नौ अनुदिश विमानोमें यो बारह स्थानोंपर देवोंका खेढ हाथ प्रमाण अंचा शरीर है। उन अनुदिशोंसे ऊपरले वहां अनुत्तर विमानोंमें देवोंका शरीर केवल एक अरित (हाथ) प्रमाण अंचा है। यो आप्तोक्त सिद्धांत शास्त्रों द्वारा सुना जा रहा है।

परिग्रहेणापि विमानपरिवारादिलक्षणेन होनाः तत्कारणस्य प्रकृष्टस्याभावात् । सौध-र्मादिषु हि देवानामुपर्युंपरि नामकर्मविशेषोल्पाल्पतराल्पतमविमानपरिवारहेतुरंतरंगो बहिरंगस्तु क्षेत्रविशेषादिरिति कारणापकर्षतारतम्यात् कार्यापकर्षतारतम्यसिद्धिः ।

विमान संस्था, सःमानिक आदि परिवार, सेना, भूषण, वाहन आदि स्वरूप परिग्रह करके भी वैमानिक देव ऊपर ऊपर हीन हो रहे हैं। क्योंकि उस परिग्रह के कारणभूत होरहे मध्यमजातीय पुण्यके प्रकर्षका अभाव है। अर्थान्-दिन्द पुरुषोंके तीव पापका उदय होनेसे सुखोपयोगी परिग्रह नही मिल पाता है। परिस्थितिवश अल्पसंतोषी पुरुषोंके या जघन्य भोग-भूमियोंके जघन्यपुण्यका उदय होनेसे सुखोत्पादक थोडा परिग्रह एकत्रित हो जाता है। मध्यम जातिके पुण्य अनुसार राजा, महाराजाओं, भवनित्रक देव, सौधमं स्वर्गी आदिके अत्यिधक परिग्रह जुड रहा है। किंतु उत्तम जातीय पुण्यका उदय होनेसे ऊपरले देव या अहाँमद्र अयवा उत्तम भोगभूमि के जीवों के अत्यल्प परिग्रह है। कारण कि सौधमं आदि मे देवोंके ऊपर ऊपर अल्प विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे वौर अल्पतर विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे तथा उससे भी थोडे अल्पतम विमान परिवार आदि परिग्रह के हेतु हो रहे विशेष नामकर्म का उदय यह अन्तरंग कारण विद्यमान है और सौधमं स्वर्ग, आनत, प्राणत, गैवेयक, अनुत्तर ये क्षेत्रविशेष ऊपर ऊपर अल्पकषाय, लौकिकभावोंकी त्रुटि आदिक तो परिग्रह की हीनता में बिहरंग कारण हैं।इस प्रकार अन्तरंग कारण और बहिरंग कारणों के अपकर्षका ऊपर ऊपर उत्तम भाव होने से परिग्रह जुड जाना स्वरूप कार्य के तरतम द्वारा होरहे अपवर्ष की विदी

होजाती है अर्थात् ऊरर ऊरर देवों के लोभ कषाय का मन्द, मन्दतर मन्दतम, उदय है तथा अल्प अल्पतर, अल्पतम परिच्छदों के कारण उन उन स्तोक, स्तोकतर, स्तोकतम, विशिष्ट पुण्य प्रक्र- तियों के उदय अनुसार वंसे वैसे कार्य होजाते हैं।

कुतोभिमानेन हीनास्ते ? तत्कारणप्रकर्षस्याभावादेव । कि पुनरिभमानकारणं ? शरी-रिणामप्रतनुकषायत्वं मनसः संक्लेशोविधशुद्धिविरहादतत्वावलोकनमसंवेगपरिणामश्च तस्य हानि-तारतम्यादुपर्युपरि देवानामभिमानहानितारतम्यं तत्पुनरिभमानकारणस्य हानितारतम्यं तत्प्रति-पक्षमूतानां प्रतनुकषायत्वाल्पसंक्लेशाविधिविशुद्धितत्वावलोकनसंवेगपरिणामाधिक्यानां तारतम्या-दुपपद्यते पूर्वजन्मोपात्तविशुद्धाध्यवसायप्रकर्षतारतम्यादुपर्युपरि तेषामुषपादस्य घटनाच्च ।

वै वैमानिक देव अभिमान से हीन होरहे भला किस कारण से हैं ? इस प्रश्नपर ग्रन्थ-कार उत्तर देते हैं कि उस अभिमान के कारणभूत कथायों के प्रकर्ष का अभाव होजाने से ही वे अभिमानहीन हैं। फिर कोई पूछता है कि अभिमानका कारण क्या है ? इसके उत्तर में **भाचार्य कहते हैं कि शरीरधारी** जीवों का अत्यल्प कषायों से रहितपना मन का संक्लेश, अव-धिज्ञान की विश्विद्ध की विकलता होजाने से तात्त्विकदृष्टि द्वारा यथार्थतत्त्वों का अवलोकन नहीं होना स्वकीय परिणामों में सवेग या वैराग्य भाव नही जगना, ये सब अभिमान के कारण है। गर्व के उन कारणों की हानिका तरतम भाव होने से ऊपर ऊपर देवों के अभिमान की न्युनता का तरतम भाव सध जाता है। वह अभिमान के कारणों की हानिका तरतमभाव तो फिर उसके प्रतिपक्षभूत होरहे विशेष सूक्ष्मकषाय यानी मन्दकषाय परिणाम, अल्प संक्लेश, अवधि ज्ञान की विश्दि, वास्तविक जीव अदि तत्त्वों का अवलोकन, गर्व, क्रोध, आदि विभाव परि-णामों के औपाधिकपने पर पहुंचकर ज्ञित कर लेना, संसारभी हता या लौकिक कार्यों में निह-त्याह, अधिकष्प परिणाम इनकी अधिकता के तारतम्य से बन जाता है। क्योंकि पूर्व जन्मों में पुरुषार्थं द्वारा गृहीत हुये विश्व अध्यवसायों की प्रकर्षता के तारतम्य से उत्तर उत्तर स्थानों में उन देवों का उत्पाद घटित होरहा है। भावार्थ-सौधमं से ऊपर ग्रेवेयकतक भले ही वे देव सम्य ग्दुष्टि होय चाहे मिथ्यादष्टि होय, उनके कषायों की मन्दता या अल्प संक्लेश आदि हेतू पाये जा सकते हैं। वर्तमान में भी अनेक अर्जन विचारे कतिपय जैनों की अपेक्षा मन्दकषाय देखे जाते हैं। प्रधानाध्यापकपन सेठियापन, जमीदारी, राज्याधिकार, राजपदिवयाँ, चौधरायत, पंचपना, सुन्दरता, जातिगर्व, ज्ञानमद, तपस्या आदि का गर्व जब कि दूसरे दूसरे मनुष्यों में अत्यल्प पाया जाता है किन्तु स्वयं को धर्मात्मापनका गर्व कररहे किसी किसी व्यक्ति में उन पदों का अभि-मान चकाचक भर रहा है। अल्प संक्लेश भी मिथ्याद्ष्टियों के पाया जाता है। समीवीन अव-धिज्ञान द्वारा जैसे विशुद्धि होती है विभंग द्वारा भी विलक्षण जाति की विशुद्धि होना सम्भव है अनेक अर्जन साध्ओं में कुश्रुतज्ञान द्वारा होरही विशुद्धि इसका दृष्टान्त है। इसी प्रकार तत्वाव-लोकन भी समझलिया जाय। ग्यारह अंग नौ पूर्वपाठी मिध्यादृष्टि के ज्ञानसे एक अक्षरको भी शुद्ध नहीं बोलने समझनेवाले सम्याद्ध्य के तत्वावलोकन को ज्ञानदृष्ट्या हीन कहने में छज्जा क्या है ? सम्यग्दर्शन के बिना भी पर्थाचित तत्वोंका आलोचन होसकता है, भर्ले ही उसको औपाधिक सम्यग्नान नहीं कहो । इसी प्रकार संसार से भीति कराने वाले संवेग परिणाम मिध्या दृष्टि के भी होसकते हैं। रूप,धन, विद्या, कुल, बलके अभिमान, को सहस्रों अजैन कुचल डालते हैं। कोध, गर्व, ये सब औपाधिक भाव हैं, दु:खकारण है, इन सब बातों को सैकडों फकीर, भिक्षुक आदिक समझते हुये गारहे हैं। लाखों अजैन साधु संवेगत्र अभिमानके कारणों को लात मारते हुये मन्दकषाय, अल्प संक्लेश, आत्मविशुद्धि, तत्वपर्यालोचना, संवेग, वैराग्य परिणामों को घाररहे बनों या पर्वत, गुफाओं, मे निवस रहे हैं। अतः ऊपर ऊपर के देव चाहे सम्यग्दृष्टि होंय अथवा मिथ्यादृष्टि होंय, परिग्रह और अभिमानसे हीन हीन होरहे हैं। नौ अनुदिश और पांच अनुत्तरों में तो सम्यग्दृष्टि हों , परिग्रह और अभिमानसे हीन होन होरहे हैं। नौ अनुदिश अन्तरंग कारण मन्दकषायपन आदि को सुलभतासे समझाया जा सकता है। श्रद्धालु जैन या भक्त पुरुषों के प्रति इनमे अधिक युक्तियों के दिखलाने की आवश्यकता नहीं है। मन्द कथाम होने से अल्पसंक्लेश होता है। अल्प संक्लेश से विशुद्ध अवधि उपजती है। उससे ऊपर ऊपर देव शारीरिक,मानसिक, दु:खों से घेरे जारहे असंरय नारकी तियँच या मनुष्यों को तात्विक रूप से देखते है। उसको निमित्त पाकर सवेग परिणाम होता है। उस संवेगसे अनन्त दु:ख के हेतु परिग्रहोंमें अभिमान नष्ट होजाता है। यों उक्त पदों को एक वाक्यता करली जाती है।

कथं पुनरुपर्युपरिमावो वैमानिकानां संगच्छत इत्याशंकायामिदमाह ।

कोई प्रतिवादी पण्डित आशंका उठाता है कि वैमानिक देवों का किर ऊपर ऊपर उपपाद जन्म होना भला किस प्रकार संगत होजाता है ! ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री. विद्या-नन्द स्वामी समाधानार्थ उत्तर वात्तिक को कहते हैं।

स्थित्यादिभिस्तथाधिनयस्यान्यथानुपपत्तितः । नोपर्युपरिभावस्य तेषां शंकेति संगतिः ॥ २ ॥

स्थित, प्रभाव, आदि कों करके तिस प्रकार अधिकपन की अन्यथा यानी ऊपर ऊपर उपपाद के विना अन्य प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है। अतः उन वैमानिक देवों के उक्त ऊपर अगर स्वर्गों, पटलों या कल्पातीत विमानों में उपपाद जन्म लेनेकी शंका नहीं करनी चाहिये अर्थात् इस प्रकार यहां विशुद्ध परिणामों को निमित्त पाकर हुये पुण्यकर्म भेदोंके अनुसार देव ऊपर उपज जाते हैं। स्थिति, प्रभाव, आदि की अधिकता होनेसे ही देवों में ऊपर ऊपर गति शरीर, आदि की हीनता स्वयमेव सिद्ध होजाती है। जैसे कि किसी धर्मात्मा पुरुष में जिनेन्द्रभक्ति, दयाभाव, व्रतपालन, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, आवरण, की वृद्धि होते संते स्वयं वहां यहां व्यर्थ गमन, शरीरवृद्धि, परिग्रह अहंकार इन की त्रुटि निर्णीत होजाती हैं। सम्यग्दर्शन, सदाचार आदि गुणों की अधिकता से सज्जन पुरुषों में उस पुरुष की उत्तरोत्तर इयाति बढती है। अथवा देश में सुराज्य होने पर सुभिक्षा, शिक्षा, नीरोगता, समृद्धि, वाणिज्य

स्वात्मगौरव आदि की वृद्धि होते हुये बिना ही प्रयत्न के दरिद्रता, पराधीनता, पद पद पर अपमान सहना, दुर्भिक्ष आदि की हानि होजाती है। यों पूर्वापर सूत्र वाक्यों की संगति कर लेनी चाहिये।

पूर्वजन्ममाविस्वपरिणामिवशेषविशुद्धितारतम्योपात्तशुमकर्मविशेषप्रकर्षतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यं तावद्वैमानिकानां सूत्रितं सर्वथा बाधकविधुरत्वः त्तवन्यथानुपपत्त्या च तेषामु-पर्युपरिमावस्य संगतिः । पूर्वजन्ममाविस्वपरिणामिवशेषिवशुद्धितारतम्योपात्तशुभकर्मतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यस्य दर्शनात्, क्षीणान्यथानुपपत्तिरिति चेन्न, तदाधिक्यविशेषस्य तेषामुपर्यु-परिमावेनान्यथानुपपत्तिसिद्धेः।

पूर्वं जन्म मे होनेवा हे स्वकीय परिणाम विशेषों की विशुद्धि के तरतमभाव करके उपाजित किये गये शुभ पुण्य कर्म विशेषों की प्रकर्षता के तारतम्य से स्थिति, प्रभाव, आदि की करके वैमानिक देवों का अधिकपना तो सूत्रकार द्वारा पूर्व सूत्र में सूचित कर दिया गया ठीक है। क्योंकि बाधक प्रमाणों की सभी प्रकारों से विकलता होजाने के कारण उन स्थिति आदिकों करके अधिकपना वस्तुतः सिद्ध होजाता है। और उस स्थिति आदि के अधिकपन की अन्यया-नुपपत्ति करके उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद लेने की निक्शंक संगति हो जाती है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि पूर्व जन्ममें हो चुके स्वर्क य परिणामविशेषों की विशुद्धि के तारतम्य अनुसार उपाजित किये गये शुभ पौर्गलिक वर्मों के उदय की तरतमता से स्थिति आदि करके अधिकपना देखा जाता है। अतः अन्यथानुपपत्ति क्षय को प्राप्त हो चुकी समझनी चाहिये अर्थात् स्थिति आदि के आधिक्य का शुभपरिणामों द्वारा उपात किये गये शुभकर्मों के तारतम्य के साथ अविनाभाव है। स्थिति अदि की अधिकता का देवों के ऊपर ऊपर जन्म होने के साथ अविनाभाव नहीं है। ऐसी अविनाभावविकलदशा में एस पूर्वसूत्रोक्त स्थिति आदि के आधिक्य से वैमानिक देवों का ऊपर ऊपर उपपाद सिद्ध नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उन स्थिति आदिकों के अधिकपन स्वरूप विशेष की उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद होने के साथ अन्यथानुपपत्ति सिद्धि होरही है। यहाँ भी निजपुण्य अनुसार कुलीनता, अधिक स्थिति, ऊंचा प्रभाव, विशिष्ट सुख, सुन्दर कान्ति, उत्तम लेख्या, वाले पुरुष उच्च स्थानों में जन्म हेते हैं। पुण्यशाली, धर्मात्मा श्रावक, या मुनियों में तो गति, शरीर परि ग्रह और अभिमानकी हीनता भी देखी जाती है। अतः कारिका में कही गयी अन्ययानुपपत्ति निर्बल नहीं है।

अयाद्येषु त्रिषु निकायेषु लेश्याविधानमुक्तं वैमानिकनिकाये संप्रत्युच्यते ।

आदि की भवनवासी, व्यन्तर,ज्योतिष्क इन तीन निकायों में लेश्या का विधान सूत्रकार करके "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः, इस सूत्र द्वारा पहिले कहा जा चुका है। अब प्रकरण अनुसार चौथी वैमानिक निकाय में लेश्या का विधान सुत्रकार द्वारा इस समय कहा जाता है।

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो, तीन, और शेषयुगलों में पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्या को धारनेवाले देव निवास कर रहे विराजते हैं। अर्थात् सौधर्म ऐशान और सनत्कुमार माहेन्द्र इन दो युगलों में पीत लेश्या है। ब्रह्मब्रह्मोत्तर, लांतव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, इन तीन युगलों में पद्मलेश्या है। अरेश केप ऊपर के विमानों में देवोंके शुक्ललेश्या है।

ननु च पूर्वमेतद्वक्तव्यं तत्र पुनर्लेश्याभावात् सूत्रस्य लाघवोषपत्तेः "आवितस्त्रिशु पीतांत-लेश्याः,, ततः '' पीतपद्मशुक्ला द्वित्रिशेषेष्विति,, । तदसत्, तत्र सौधर्माविग्रहणे सूत्रगौरवप्रसं-गावग्रहणेऽभिसंबंधानुपपत्तेः संक्षेपार्थमिहैव वचनोपपत्तेः ।

यहाँ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि इस सूत्र को पहिले ही कहना चाहिये था। वहाँ लेश्या शब्द विद्यमान है। फिर लेश्या शब्दके नहीं उपादान करने से सूत्रका लाघव गुण बन जाता है। देखो, आदितस्त्रिष् पीतान्तलेश्याः, आदि से तीन निकायों में पीत पर्यंत लेश्या वाले देव है। इस सूत्र के लगे हाथ ही उससे पीछे "पीतपद्मशुक्लाद्वित्रिशेषेषु, यों सूत्र बनाकर पूनः लेश्या शब्द नहीं देना पडा । अतः गुणकृत और परिमाणकृत लाधव सेंत मेंत प्राप्त होजाता है । ग्रन्थकार कहते हैं वह आक्षेप करना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि वहाँ तीसरे सूत्र से आगे ही सौधर्मेगान आदि वैमानिकों के प्रतिपादक लम्बे सुत्रका निरूपण कर देनें पर सूत्र के दोष का प्रसंग होता है। यदि सौधर्मेशान आदि सूत्रका वहाँ तीसरे, जौथे, सूत्र के अवसर पर कण्डोक्त उपादान नहीं किया जायगा तो लाघवार्थ वहां किये जाने योग्य "पीतपद्मशक्ल लेख्या द्वित्रिशेषेषु "इसका ठीक ठीक सम्बन्ध कर देना नहीं बनसकेगा। इस कारण बढिया संक्षेप के लिये सौधर्म ऐशान आदि का निरूपण करचुकने पर यहाँ ही संक्षेप सूत्र का निरूपण करना सधता है। वस्तुतः विचारा जाय तो आक्षेपकार की अपेक्षा सूत्रकार को सक्षेपविधान कः अधिक लक्ष्य है। अतिथिको सम्पूर्ण निष्ट भोजनों का आद्य समझाते हुये पोंडे की एक पमो श्री परोस देने से उसकी अनेक स्वादपूर्वक क्षुधानिवृत्ति नहीं होजाती है। तथा सभी प्रकार के वस्त्रों का मूल कारण विनौलेको दे देने से शरीराच्छादन पूर्वक शोभा बढाते हुये शीतबाधा निवारण नहीं होसकता है। ऐसा लाघव भी ओछेपन का सम्पादक है।

पीतपद्मशृक्लानां हृंद्वे पीतपद्मयोरौत्तरपितकं ह्स्वत्वं द्रुतायान्तपरकरणान्मध्यमिवडं-बितयोरुपसंरच्यानमित्याचार्यवचनदर्शनात् मध्यमाशद्वस्य विडंबितोत्तरपदे हृंद्वेपि ह्स्वत्वसिद्धेः। ततः पीतपद्मशुक्ललेश्याः येवां देवानां ते पीतपद्मशुक्ललेश्या इति हृंद्वपूर्वान्यपदार्थां वृत्तिः।

पीता च पद्माच शुक्ला च यों भीता और पद्मा तथा शुक्ला पदों का इतरेतर इन्द्र-समास करने पर पीता और पद्मा पदों का उत्तरपद की अपेक्षा न्हस्व होना बन जाता है। अतः इन्द्र समास में पुंवभ्दाव नहीं होसकने का कटाक्ष नहीं करना चाहिये। जैसे कि संनीत शास्त्र में आचार्य का यह वचन देखा जाता है कि द्रता यात्री शीखता की मात्रा होनेपर तपर करने से मध्यम और विडम्बिता का सुत्रमार्ग से बाहर उपरिष्ठात वैसा ही कथन देना चाहिये। अतः मध्यमा शब्द का विडम्बिता इस उत्तर पद के परे रहते सन्ते द्वन्द्व में भी न्हस्य होना सिद्ध है। भावार्थ-द्रतमात्रा मध्ययात्रा और विलम्बितमात्रा यानी शीघ्र बोली गयी या मध्यम रूप से बोली गयी और विलम्ब से बोली गयीं मात्रायें "द्रतमध्यमविलाम्बता मात्रा कही जाती है। यहाँ उत्तर पद की अपेक्षा स्त्रीलिंग द्वा और मध्याशब्द को समास कर चुकने पर व्हस्व होजाता है। आज कल के इन पश्चात भावी पूरूषों को शब्दशास्त्र अनुमार साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु व्याकरण के नियम पूर्वआचार्यों के वचन बनाने चाहिये। भले ही व्याकरण में कोई सुत्र नहीं मिले, ऐसी दशामें ऋषियों के केवल वाक्य पढिति अनुसार उपसंख्यान कर लिया जाता है अर्थात् "तपरस्तत्कालस्य,, अत इत् उत् इनसे केवल अकार इकार जकारका ही बोध हो सकता है। इस नियम अनुसार द्वता मात्रा में तपर करने पर दूता को ही शीघ्र बोल सकते हैं। मध्या और विलम्बिता का शीघ्र उच्चारण नहीं कर सकोगे। किन्तु गाने की अवस्थामे शीघ्र शीघ्र उच्चारण करते हुये तपर करने पर मध्यमा और विडम्बिता मात्राओं का भी शीघ्र उच्चारण कर लेना चाहिये। तभी राग या रागिनी ठीक गाये जा सकेंगे। तिस कारण पूर्व पदों को न्हस्व होजाने से "पीतपद्मशुक्त्रलेश्याः ,, यह द्वन्द्व समासान्त पद बन जाता है। जिन देवों के पीतपद्मशुक्ललेश्यायें पायीं जाती हैं, वे देव पीत-पराशुक्ल लेश्यावाले हैं। इस प्रकार पूर्व में सर्व पदार्थ प्रधान इन्द्र नामक समास वृत्ति कर चुकने पर पुनः अन्य पदार्थ को प्रधान करने वाली बहुन्नीहि वृत्ति कर ली गयी है। यहां यह भी कहना है कि ' पूज्यापादा वृत्तिकारास्तु अथवा पीतश्च पद्मश्च शुक्लश्च पीत-पद्मगुक्लाः वर्णवन्तोऽर्थाः तेषामिव लेश्या येपां ते पोतपद्मश्कललेश्या इत्याहः " इन पुल्लिग शब्दों द्वारा वाच्य होरहे पीतपदा और शुक्ल वर्णवाले किन्ही किन्ही पदार्थों कीसी लेश्या जिन वैमानिक देवों की है, वे पीतपद्मशुक्ललेश्यावाले देव हैं। सर्वार्थसिद्धिकार यों द्वन्द्व र्गीभत बहुबीहि समास करके न्हस्व करनेके झगडे को ही मिटा देते हैं। उपमान, उपमेय का वाचक कोई विशिष्ट शब्द नहीं होने से ग्रन्थकार को उक्त विग्रह करने में अस्वरस प्रतीत होरहा है।

द्वित्रिशेषेष्वित्यधिकरणनिर्देशाद्व्यादिकल्पादीनामाधारत्वसिद्धेः ।

'दित्रिशेषेषु'' यानी दो तीन और शेष वैमानिकों में इप प्रकार सप्तमी विभक्ति वाले अधिकरणका सूत्रकार द्वारा निर्देश कर देने से दो आदि कल्प और आदि पदसे ग्रहण कियें गये ग्रैवेयक आदि कल्यातीतों के आधारपन की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् उत्पर कल्प आदि में रहने वाले देव दो, तीन, शेष, अधिकरणों में पीत आदि लेह्या वाले हैं।

कथं पुनः पीतावयो लेक्यास्तवाधेयानां वैवानां विश्लेया इत्यावेखते ।

फिर उन कल्प और कल्पातीत अधिकरणों के आधेयभूत होरहे देवों के भला पीत बादि लेक्यायें हैं, यह किस प्रकार प्रमाण द्वारा समझ लेना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य करके अग्रियवात्तिक में समाधान का निवेदन किया जा रहा है।

लेश्याः पीतादयस्तेषां सूत्रवाक्यप्रभेदतः । प्रत्येतव्याः प्रपंचेन यथागममसंशयं ॥ १ ॥

उन चौथी निकाय के वैमानिक देवों के पीतादि लेश्यायें हैं। इस सिद्धान्त की आगम मार्गका अतिक्रमण नहीं कर उक्त सूत्र के वाक्यों का प्रभेद कर देने से विस्तृतरूप करके संशयरहित प्रतीति कर लेनी चाहिये अर्थात् दो दो, तीन तीन, शेष शेष, यों उक्त सूत्र से कितपय वाक्यों का उपप्लव कर आम्नाय अनुसार देवों के लेश्या का विधान कर लेना चाहिये।

द्वयोः सौधर्मेशानयोः सानत्कुमारमाहेंद्रयोश्च पीतलेश्याः द्वयोर्बह्यालांतवकल्पयोः शुक्रशतारकल्पयोश्च पद्मलेश्याः द्वयोरानतप्राणतयोरारणाच्युतयोश्च शुक्ललेश्याः, त्रिष्वधो-ग्रेवेयकेषु त्रिषु मध्यमग्रेवेयकेषु त्रिष्परिग्रेवेयकेषु च शुक्ललेश्याः। शेषेष्वनुदिशेषु पंचस्वनुत्तरेषु च शुक्ललेश्या इति सुत्रवाक्यप्रमेदतः प्रत्येतय्याः ।

प्रथम ही "द्विशब्द का पीत पद्म और शक्ल इन तीन स्थानों के साथ तीन बार कथन कर यों भिन्न भिन्न वाक्यों को बनालो कि "द्वयोः पीतलेश्याः" दो युगलों में यानी सौधर्म और ऐशान तथा सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पों में वस रहे देव पीतळेश्यावाले हैं। फिर "इयो पद्मलेश्याः" दो में अर्थात् दो इन्द्र युगलों द्वारा अधिकृत कल्पों की अपेक्षा दो में यानी ब्रम्हत्रमहोत्तर स्वर्ग वाले ब्रम्ह रूल्प में और छांतव कापिष्ठ स्वर्ग वाले छांतव कल्प में इसी प्रकार इन्द्र अपेक्षया शुक्र महाशुक्र स्वर्गवाले शुक्र कल्प या शुक्र इन्द्र अधिकृत जीवों और शतार, सहस्रार, स्वर्ग वाले शतार कल्प में इन दो में पद्म लेश्याधारी देश निवास करते हैं। पुनः 'द्वयोः शुक्ललेश्याः" अर्थात् आनत प्राणत तथा आरण और अच्युत इन दो युगलों में देव शुक्ललेश्यावाले हैं। अब ति शब्द की केवल शुक्ललेश्या के साथ तीन वार आवृत्ति कर यों न्यारे न्यारे तीन वाक्य बनालो । " त्रिषु शुक्ललेक्याः " यानी तर ऊपर तीन निचले ग्रंवेयकों में देवों के शुक्र लेक्या है। और "त्रिषु शुक्ल लेक्याः" यानी तर ऊपर बने हुये तीन मध्यम ग्रैवेयकों में इनसे कुछ अ्च्छे शुक्ललेश्याः वाले देव हैं तथा " त्रिषु शुक्ललेश्या " अर्थात् तर ऊपर बने हुये तीन उपरिम ग्रैवेयकों में इस शुक्ललेश्या से कुछ अच्छी शुक्ललेश्या की धारनेवाले देव हैं। अयानन्तर शेष शब्द का शुक्लेलेश्या के साथ दो बार आवृत्ति कर शेष नी अनुदिशविमानों में और शेष पांच अनुत्तर विमानों में निवास कर रहे देव श्वललेश्या वाले हैं। यों अर्थ कर लेना चाहिये। इस प्रकार सूत्र वाक्यों के बाठ प्रभेद कर देने से वार्तिकोक्त प्रतिज्ञा अनुसार प्रतीति कर लेने योग्य अर्थ निकल बाता है।

चतुःचतुःशेषे विवित्तवनतव्यं स्पष्टार्थमिति चेत् न, अविशेषेण चतुर्षु माहें द्रांतेषु पीताग्राः प्रसंगात् चतुर्षु च सहस्रांतेषु कल्पेषु पद्मायाः प्रसक्ते,ः शेषेषु चानतादिषु शुक्ललेश्यायाः समनुषंगात् तथा चार्षिवरोधः स्यात् । तत्र हि सौधर्मेशानयोः देवानां पीता लेश्येष्यते, सान-त्कुमारमाहेंद्रयोः पीतपद्मा, ततः काविष्ठांतेषु पद्मा, ततः सहस्रारांतेषु पद्मशुक्ला, ततोऽन्युततांतेषु शुक्लाः ततः शेषेषु परमशुक्लेति ।

कोई पण्डित यहाँ अपनी भोली बुद्धि अनुसार कह रहे हैं कि सूत्रकार को "पीत-पद्म गुक्ललेश्याश्चतुश्चतुः शेषेषु "इस प्रकार स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादक सूत्र कह देना चाहिये। चार स्वर्गों में पीत लेक्या और चार में पद्म लेक्या तथा शेष स्थानोंपर शुक्ललेक्या को धारने वाले देव हैं। यों अर्थकी स्पष्ट प्रतीति करा दी जा मकती है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों सूत्र गढतेपर तो सामान्यरूपसे माहेद्र पर्यन्त चार स्वर्गों मे पोत लेश्या पाये जाने का प्रसग आवेगा और सहस्रार पर्यन्त आठ स्वर्गी मे किन्तु इन्द्र अपेक्षा **त्रम्ह त्रम्होत्तर लान्तव कापिष्ट, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रार इत चार कल्योनें पद्म लेश्या** होने का प्रसग आवेगा तथा इन से ऊगर के शेष आनत आदि सत्रह पटलों में शुक्ल लेश्या का भले प्रकार प्रसंग बन बैठेगा और तिस प्रकार इन तीन अनिष्ट प्रसंगों के लग जाने ने आम्नाय अनुसार चले आरहे ऋषि प्रोक्त सिद्धान्त से विरोध ठन जायगा। क्योंकि उस आर्थ सिद्धान्त में सीधमें और ऐशान में रहनेवाले देवों के पीतलेक्या इष्ट की गयी है। तथा सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गों में पीन लेश्या और पद्मलेश्या मानी गयी है। उन से ऊरर काविष्ठ पर्यन्त चार स्वर्गों में पद्मा छेश्या है। इनके ऊपर सहस्रार पर्यन्त चार स्वर्गोने पद्म लेश्या और शुक्ल लेक्या अमीष्ट की गयीं हैं। उनसे ऊपर अच्युत पर्यन्त स्वर्गों में शुक्ल लेक्या बलानी है। तया उन सो उह स्वर्गीसे भी ऊरर शेष ग्रैवेयक, अनुदिश, और अनुतर यो ग्यारह पटलों में परम-शुक्ललेश्या सिद्धान्त ग्रन्थोंमें विणित की गयी है। अत: " चतुरचतुं शेषेषु " कह देनेसे अर्थ तो स्पष्ट हो गया, किन्तु अपसिद्धान्त दोष कूर चेष्टा पूर्वक भ्रकृटीको चढाये हुये सन्मुख हो जाता हैं। सिद्धान्त मागंसे स्खलित होकर कोरे स्पष्ट कथन करनेको शेखी मारना समुचित नहीं है। "बच्चा भलेही मरजाय किन्तु दोरा (गंडा) नहीं टूट जावे " तांत्रिकोंको ऐसा निद्य भाषण नहीं करना चाहिये।

कयं सूत्रेगानिमहितोयं विशेषः प्रतीयते ? । पीताग्रहणेन पीतपद्मयोः संग्रहात् पद्माग्रहणेन पद्मशुक्लयोः इत्याहुः ।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र करके यह विशेष जव कष्ठोक्त नहीं कहा है, तो किस बकार आप ग्रंथकारने यों प्रायय कर ब्रिया है कि सनत्कुमार माहेन्द्रमें पद्मलेक्या पायी जाती है। और बतार सहस्रारों में बुक्ललेक्या भी देवों के रही है। इसके उत्तरमें श्री. विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि पीताके प्रहण करनेसे निकटवर्ती पद्माको मिला कर पीता और पद्माका संग्रह होजाता है। इसी प्रकार पद्मालेक्याके ग्रहण करके परली ओर शुक्लाको खेंचकर पद्माशुक्ला दोनों लेश्याओं का संग्रह कर लिया बाता है। यों हम और अन्य विद्वान भी ऐसे अवसरोंपर सन्धि स्थानोंमें निवास करनेवाले जीवोंके लिये इसी ढंगसे कहते हैं। अर्थात् जैसे कि भिन्न भिन्न भाषाओं को बोलने वाले प्रान्तों के बीचमें वस रहे मनुष्य कुछ इस प्रान्त और कुछ उस प्रान्तकी मिश्रित भाषाको बोलते हैं। दिन और रात्रिके मध्यमें कुछ अंधेरा और कुछ प्रकाशकीं निश्रण अवस्था पायी जाती है, उसी प्रकार पीतलेक्या-शब्द सौधर्म, ऐशान, देवोंके लिये स्वतंत्र है। और ब्रम्ह, ब्रम्होत्तर, लांतवकापिष्ठोंके शुद्ध पद्मलेश्या रक्षित है। फिर भी मध्यवर्ती सानत्कुमार, माहेन्द्रोंमें बहुभाग पीतके साथ अल्प भागमे पद्मलेश्याका भी विधान किया गया सै । एवं कापिष्ट पर्यन्त चार स्वर्गीमें शुद्ध पद्मलेश्या और आनत आदि अच्युत पर्यन्तों में शुद्ध शुक्ललेश्याकी विधि होते हुये भी मध्यवर्ती सुक, महाशुक्र, शतार, सहस्रारों में बहुभाग पद्मलेश्या और अल्प भागमें शुक्ललेश्याकी विधि कर दी जाती है। संक्षेप कथन करने वाले सूत्रकार मला छोटेसे सूत्रमें अनेक सन्धिस्थानोंका निरूपण कैसे कर सकते हैं ? पूर्व निषधसे उदय हो कर भ्रमण करते हुये सूर्यका पश्चिम निषध पर अस्त होजानेकी दिवसीय अवस्थाओं अनसार होने वाले अनेक प्रकाशोंके तारतम्यका स्यूल दृष्टिसे वर्णन किया भी जासके, किन्तु दिन और रात की मिश्रण अवस्थाओंका प्रकाश और अन्धकारसे मिश्रित निरूपण तो आपाततः ही किया जासकता है। "तन्मध्यपतितस्तज् ग्रहणेन गृहचते,, संख्यात, असंख्यात, अनन्त, भेद प्रमेद वाले परिणामोंकी मध्यम अवस्थाओंको कहाँ तंक कहा जाय । बिना कहे ही अर्थांपत्या उनको समझ लिया जाता है।

कयं ! तथा लोके शब्दव्यवहारदर्शनात्। छत्रिणो गच्छंतीति यथा छत्रिसहचरितानामछत्रिणामिष छित्रिव्यपदेशात्। पाठांतरेषि यथा ध्याख्यानाददोष इति चेत् न, अनिष्टशंकानिवृत्ययंत्वात् द्वित्र-शेवेष्वित पाठस्य, खतुःशेषेष्विति तु पाठे चतुर्णां चतुर्णामुपर्युपरिभावेऽनिष्टः शंक्येत तिन्नवृत्ति-र्ययान्यासवचने कृता भवति । यथासंख्यप्रसंगादत्राप्यनिष्टमिति चेत्र, व्ह्यादिशब्दानामंतर्नीतवी-प्सार्थत्वाद्विभोजनादिवत्। दिने दिने दिभोजने यस्य सिद्धभोजन इत्यादयो यथान्तर्नीतवीप्सार्थां व्यादिशब्दा इत् व्याख्यायंते, ततो न यथासंख्यप्रसंगो वाक्यभेदाध्याख्यात्वा ।

कोई तर्की प्रश्न करता है कि पीता ग्रहण करके पीतासे न्यारी पद्माका या पद्मा कह देनेसे पद्मा भिन्न शुक्लाका भी ग्रहण भला किस प्रकार होसकता है ? घटका निरूपण कर देने मात्रसे घटभिन्न पदार्थका प्रतिपादन कथमपि नहीं होसकता है। इस प्रश्नके उत्तरमें प्रस्थ-कार कहते हैं कि हम क्या करें। लोकमें तिस प्रकारके शब्दजन्य व्यवहार हो रहे देखे जाते हैं। जिस प्रकार कि खनों (छतरी)को धारणे वाले जारहे हैं, यो कह देनेसे कत धारियों के साथ गमन कर रहे छत्र रहित कतिपय जनोंका भी छत्रधारीपन करके प्ररूपण कर दिया जाता है। उसी प्रकार यहां भी बहुभाग पीत लेश्यावाले जीवोंके साथ अल्पभाग पद्मालेश्या वाले देवोंका प्रतिपादन होजाता है। पद्मालेश्या बालों के साथ शुक्ललेश्या बालें अल्प देवोंका ग्रहण होजाना बन जाता है। मिश्रित अवस्था पूर्वकी ओर झुक जाती है। लोक या शास्त्रमें अन्य प्रकार प्रसिद्ध होरहे शब्दों को यौगिक अर्थानुसार स्वबुद्धिसे सुधारकर बोलनेवाला नविशिक्षत अज्ञ ही समझा जायगा । घोडे को पानी दिखा दें। छतरी वाले जारहे हैं। बम्बई बचे।गे। गली मचान गारहे हैं। इन शब्दोंके स्थानपर घोडे को पानी पिलादे। और कुछ छतरी रहित मनुष्य जा रहे हैं। बम्बईमें सिकरने वाली हुंडी गली मचान पर बैठे मनुष्य गारहे हैं। यों कहने वाला स्याना छीकरा मूर्ख ही समझा जायगा। यदि यहां कोई यों शंका करे कि यों तो सूत्रकार द्वारा "चतुरचतुरशेषेषु" इस प्रकार न्यारा पाठ करने पर भी उक्त व्याख्यान कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। फिर जो हमने पहिले कहा था कि चार चार और शेषोंमें पीत लेश्या वाले पद्मलेश्यावाले और शुक्ललेश्या-वाले देव निवसते हैं, इसका आपने खण्डन क्यों किया ? व्याख्यान कर देनेसे आर्थ मार्गका कोई विरोध नहीं आता है। यहां भी तो आपको व्याख्यान करना ही पडा। ग्रन्थ कार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि दो यगल तीन युगल और शेष शतार आदिकों में यथाकपसे पीत लेश्याबाले और शुक्ललेश्याबाले देव हैं। यों पाठकरना तो अनिष्ट शं हाकी निवृत्तिके लिये सूत्रकारने किया है। "चनुक्शेषेषु" इस प्रकार पाठ करने पर तो चार चार का ऊार ऊपर सद्भाव मानने पर अनिष्ट अर्थ होजानेकी शंका होमकेगी। हां, उक्त मूत्र प्रमार 'द्वित्र-शेषेषु" यों ठोक रचनापूर्वक कथन करनेपर तो उस शकाकी निवृत्ति की जाचुकती है। फिर भी कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार न्यास करने पर भी यथासंख्यका प्रसग हो जानेसे यहां भी अनिष्ट अथंकी शंका होना तदवस्थ है। आपत्तिका निवारण करते हुवे भी आपीतवोंसे छुटकारा नहीं मिला। दो युगलोंमें पीत लेक्या कहने पर सनत्कु नार माहेन्द्रोंमें पूर्ण ह नसे पीत रेक्याका विधान होगा। वहां कतिपय देवोंके पायी जारही पद्मलेक्याकी विधि नहीं होसकेगी। इसी प्रकार शतार, सहस्रार, स्वर्गीमें शुक्ललेश्यावाले कतिपय देवोको भी पदालेश्याधारी बनना पड़ेगा । यह अनिष्ट शंकापिशाची खड़ी हुई है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि सूत्रमें पड़े हुये दो आदिक शब्दोंके भीतर वीप्सा अर्थ गर्मित होरहा है। जैसे कि द्विभी-जन, द्विपठन त्रिजपन आदि शब्दोंके भीतर वीप्सा अर्थका समावेश है। दिन दिनमें जिस मनष्यके दौ भोजन हैं, या जो छ।त्र प्रतिदिन दो दो पाठ पढता है, अथवा जो धर्मात्मा प्रतिदिन तीन तीन बार जाप देता है, वे द्विभोजन, द्विपठन, त्रिजपन, पुरुष हैं। अतः द्विभोजन इत्यादिक शब्द बीप्सा अर्थको अन्तरंगमें गिभत कर वसाने जाते हैं। उसी प्रकार दो, तीन, आदिक शब्द भी यहां ऊपर दो दो कल्पोंमें तीन तीन कल्पोमें और शेष शेष स्थानोंमें इस प्रकार वीप्सा अर्थ को गिभत किये हुये वखाने जाते हैं। तिस कारण केवल पीताका द्विके साथ और पद्माका केवल त्रिके साथ तथा गुक्लाका अकेले घेपोंमें ही अन्वय होजाना यों यथासंख्यका प्रसंग नहीं

होपाता है। दूसरी बात यह है कि सूत्रके वाक्य प्रभेदसे व्याख्यान कर दिया गया होनेसे यथा-संख्य का प्रसंग तुम्हारा चाहा नहीं हो पाता है।

पीतमिश्रपद्मिश्वशुक्ललेश्या द्विद्विश्चतुश्चतुःशेवेष्वित पाठन्तरमन्ये मन्यंते, तत्र सूत्रगौरवं तववस्यं । अथवास्तु यथासंख्यमभिसंबंधस्तथापि नानिष्टप्रसंगः। कथं ? द्वयोः युगलयोः
पीतलेश्याः सानत्कुमारमाहेद्वयोः पद्मलेश्यायाः अविवक्षातः, ब्रह्मलोशादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु
पद्मलेश्या शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्याया अविवक्षातः, शेषेषु सतारादिषु शुक्ललेश्या पद्मलेश्याया अविवक्षातः इत्युक्तौ अभिसंबंधात् । ततो न कश्चिदार्षविरोधः ।

कोई अन्य विद्वान् निराले प्रकारके पाठको यों मान रहे हैं कि दो स्वर्गों के बौर दो स्वर्गों में तथा चार स्वर्गों में एवं चार स्वर्गों में तथा शेष स्थानों में पीतलेश्या और पीतामश्रलेश्या तथा प्रवलेश्या एवं पद्मिश्रलेश्या तथा शुक्ललेश्याको धारनेवाले देव विराजते हैं, बाचार्य कहते हैं कि उस मान्यतामे सूत्रका गौरव दोष हो जाना वैसाका वैसा ही अवस्थित रहा। कोई छ म नहीं निकला। अथवा एक बात यह है कि उक्त सूत्रका भले ही यथासंख्य तीनों बोरसे सम्बन्ध होजाशो तो भी हमारे सिद्धान्त अनुसार किसी अनिष्ट के होजानेका प्रमंग नहीं होता है। किस प्रकार सम्बन्ध करते हुये अनिष्टका प्रसंग नहीं होता है? इसका समाधान यों है कि दो युगलों में पीतलेश्या है। किन्तु सानत्कुमार, माहेन्द्र, इन दो स्वर्गों के कितिपय देवों में पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं की गयी है। तथा बम्हलोक आदिक तीन कल्प युगलों में पद्मलेश्या है। शुक्त और महाशुक्रमें कितिपय देवोंके पायी जारही शूक्ललेश्याकी विवक्षा नहीं करनेसे पद्मलेश्या ही कह दीगयी है। शेष ऊपरले शतार आदि वैमानिकों में शुक्ललेश्या पायी जाती है। शतार और सहस्रारमें कितन एक देवों के पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं करनेसे शुक्ल ही लेश्या कह दी गयी है। इस प्रकार सूत्र का कथन कर चुकनेपर कम अनुसार सम्बन्ध हो जानेसे कोई अनिष्टापत्ति नहीं है। तिस कारण ऋषिप्रोक्त सिद्धान्त आम्नायसे कोई विरोध नहीं आता है।

लेश्यानिर्देशतः साध्याः कृष्णेत्यादिस्वरूपतः । वर्णतो अमरादीनां छायां निअति बाह्यतः ॥ २ ॥ अनंतमेदमासां स्याद्वर्णात्रसपि स्कृटं ! एकद्वित्रिकसंख्यादिशृष्णादिगुणयोगतः ॥ ३ ॥

अव ग्रन्थकार सोलह अनुयोगोंके द्वारा लेक्याओं को साधने योग्य बताते हैं। १ निर्देश २ वर्ण ३ परिणाम ४ संक्रम ५ कर्म ६ लक्षण ७ गति ८ स्वामित्व ९ साधन ६० संख्या ११ क्षेत्र १२ स्पर्शन १३ काल १४ अन्तर १५ माव १६ और अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों द्वारा छहों लेक्याओं को साधलिया जाता है। प्रथमनिर्देशसे कृष्णा, नीला, कपोत,

हैं श्वां ते जो ले त्या, पचले द्या, शुक्ल ले त्या, इस प्रकार स्वरूपसे ले त्यायें साधने योग्य हैं। दूसरे वर्ण यानी रंग से द्रव्य ले त्यायें वा स्वरूपसे भोरा आदिकों की छाया को धारतीं हैं। क्यांत् — शरीर विपाकी वर्ण नाम कर्म प्रकृति के उत्यसे उत्पन्न हुआ कायका रंग द्रव्य ले त्या है। कार्रो रंग के समान काली कृष्ण लेश्या है। नील मिण या मयूर कण्ठ के रंग को धार रही नील लेश्या है। कबूतर के समान रंग को प्राप्त होरही कापीती लेश्या है। सुवर्ण की सी छाया पीत लेश्या है। कमल के समान पद्म लेश्या को है। कमल के समान पद्म लेश्या को गंग है। शंख के समान भूरी कांतीवाली शुक्ल लेश्या है। इन लेश्या ओं के तारत स्यको लिये हुये अन्य अनन्त भेदवाले वर्ण भी स्पष्ट रूप से होजाते हैं। जो कि एक, दो, तीन, आदि संख्यात या असंख्यात आदि अतिभाग प्रतिच्छे दस्य पृणों के योग से इन द्रव्य लेश्या ओं के अनन्त भेद हैं। भावार्थ — लेश्या नामक पर्यायों में सख्याते, अप अनन्त अविभाग प्रतिच्छे दों को हानि वृद्धि अनुसार अवान्तर भेद अनन्त हो जाते हैं। एक समयमें होने वाली एक पर्याय एक भेद गिना जायगा। चक्षु इन्द्रियों के प्रत्य योग्य होने की अपेक्षा लेश्याओं के सख्याते भेद हैं। और स्कन्ध जातिकी अपेक्षा असंख्याते भेद हैं। किन्तु रंगी ली परमाणु यें या अविभाग प्रतिच्छे दों की अपेक्षा लेश्याओं के अनन्तानन्त वर्ण भेद हैं।

तथातः परिणामेन साध्या जीवस्य तस्वतः ।
स चासंख्यातलोकात्मप्रदेशपरिमाणकः ॥ ४ ॥
तत्कषायोदयस्थानेष्वियत्स्कृष्टमध्यम – ।
जघन्यात्मकरूपेषु कलेशाहान्या निवर्तनात् ॥ ५ ॥
कृष्णादयोऽशुभास्तिको विवर्तते शरीरिणः।
जघन्यमध्यमोतकृष्टेष्वंशांशेषु विदृद्धितः ॥ ६ ॥
विशुद्धिरत्तरास्तिकः शुभा एवं विपर्ययात् ।
विशुद्धिरान्या संकलेशबृद्धचा चैव शुभेतराः ॥ ७ ॥
एकश चाष्यसंख्येयलोकात्माध्यवसायमृत् ।
लेश्याविशेषतो क्षेयाः कषायोदयभेदतः ॥ ८ ॥

तिसी प्रकार तीसरे अनुयोग परिणाम करके लेक्यायें साधने योग्य हैं। वस्तुनः विचारा जाय तो जीवके अध्यन्तर वर्त रहे परिणाम करके लेक्यायें साधी जाती हैं। और वह चीवके परिणाम ससंख्याते लोकाकाशों के प्रदेश स्वरूप असंख्यातासंख्यात वामक परिमाणको लिये हुये हैं। स्थूल शरीर और सुक्ष्म शरीरको धार रहे जीवोंकी कृष्ण आदिक तीन अशुभ-लैश्यायें इतने असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट, मध्यम, और जघन्य आत्मक स्वरूपवाले कषायोंके असंख्यातासंख्यात उदय स्थानोंमें संक्लेशकी हानि करके परिणमन होजानेसे परिण-तियाँ करतीं रहतीं हैं। अर्थान कर्मीके उदयकी जाति अपेता असंख्यातासंख्यात औदियक कषाय स्थानोंमें संक्लेश की हानि होजानेसे उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंशमें और मध्यम अंशसे जवन्य अंशमें अशुभलेश्याओं का परिणमन होता रहता है। तथा जीवों की उत्तरवर्ती पीत आदि तीन गुभ लेश्यायें विश्वद्धिकी विशेषत्या वृद्धि होजानेसे असंख्यात लोक प्रमाण कषाय सम्बन्धी औदयिक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, अंग्र उपांशों में परिणमती रहती हैं। भावार्थ-गुढि की वृद्धि होजानेसे तेजो लेश्याके जघन्य अंशोंका अतिक्रमण कर मध्यम अंशोंमें आत्मा परिणत होजाता है। और मध्यमसे शुद्धिकी वृद्धि अनुमार पीत लेश्या सम्बन्धी उत्कृष्ट अंशोंमें परिण-मन कर लेता है। पद्मा और शुक्लालेश्यामें भी यही व्यवस्था है। इसी प्रकार विपर्यय करनेसे यों निर्णय कर लेना कि विश्व द्विकी हानिसे शुभलेश्यायें उत्कृष्ट, मध्यम जधन्य अंशों में कम से परिणमेगी और इतर यानी अगुभलेश्याय संक्लेशकी वृद्धि होजानेसे स्वकीय जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंशों में परिणतियां करेंगी। एक एक कोई भी लेक्या असंख्यात लोक प्रमाण औदियक कपायाध्यवसाय स्थानं को धार रही है। बात यह है कि कषायोके उदयागत भेदोंकी विशेषता से लेक्याओमें विशेषताये समझ लेनी चाहिये । "कषायोदयान् रंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या" लेश्यापरिणति में कषायोंके उदयकी प्रधानता है। कार्मणस्कन्ध या कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा अनन्तानन्त जीवोंके यद्यपि अनन्त लेक्यायें है। किर भी जातिकी अपेक्षा उनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद कर दिये जाते है। असंख्यात लोकोंके प्रदेश बराबर प्रमाणको धार रहे अध्यवसाय स्यानोमे जिनदृष्ट असंस्थात लोकप्रमाण राशिका भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसके बहुभ ग प्रमाण मक्लेशरून स्थान है। और एक भाग प्रमाण क्षत्र लेक्याओंके विशुद्धिस्थान है। फिर भी सामान्यसे ये सभी असंख्यात लोकप्रमाण सख्यावाले है। इन अध्यवमाय स्थानों में लेश्यारूप परिणतियां होती रहती है।

> तथा संक्रमतः सान्या हेश्याः क्छेशविशुद्धिजात् । क्टिश्यमानस्य कृष्णायां न हेश्यांतरसंक्रमः ॥ ९ ॥ तस्यामेव तु षट्स्थानपतितेन विवर्धते । हीयते च पुमानेष संक्रमेण निजक्रमात् ॥ १० ॥ कृष्णा प्राथमिकक्छेशस्थानाद्धि परिवर्धते । संख्येयादप्यसंख्येयभागतः स्वनिमित्ततः ॥ ११ ॥

संख्येयादिगुणाद्वापि नान्यथेति विनिश्चयः । लेक्यांतरस्य कृष्णातोऽशुभस्यान्यस्य बाधनात् ॥ १२ ॥ तत्कृष्णलेक्यतः स्थान।द्वीयमानो विद्वीयते । कृष्णायामेव नान्यस्यां लेक्यायां हेत्वभावतः ॥ १३ ॥ चानन्तादिभागाद्वा संख्यातादिगुणात्तथा । द्वीयते नान्यथा स्यानषद्कसंक्रमतोसुभृत् ॥ १४ ॥ यदानंतगुणा हानिः कृष्णायाः संक्रमस्तदा । नीलाया उत्तमस्थाने तलेक्यांतरसंक्रमः ॥ १५ ॥

तथा संक्रमणसे छहों लेश्यायें साधने योग्य है। संक्लेश और विशुद्धिसे उत्पन्न हुये स्थानोंसे लैश्याओं का संक्रमण होता है। स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण यों संक्रमणके दो भेद हैं। कृष्ण लेश्यामें बढते हुये क्लेशको प्राप्त होरहे जीवके स्वस्थान संक्रमण ही होगा । अन्य लेश्याओं में संक्रमण नहीं होसकता है। उस कृष्णलेश्यामें ही अनन्तभागवृद्धि, असंख्येय भागवृद्धि, संख्येय-भागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि असख्यातभागवृद्धि और अंनत गुणवृद्धी इस प्रकार छह स्थानों में पडी हुई वृद्धि करके कृष्णके भीतर ही अंश उपाश बढते रहते हैं। कृष्ण छेश्यासे कोई निकृष्ट स्थान नहीं हैं। जिसमें संक्लेशकी बृद्धि होजाने पर परस्थान संक्रमण होजाता। तथा यह जीव अपनी गृहीत कृष्ण लेश्याके अभ्यन्तर कमसे उत्कृष्ट्से मध्यम या जघन्य अंशोंमें संक्रमण करके हानिको प्राप्त होता है। अर्थात् कृष्णलेश्या सम्बन्धी उत्कृष्ट संक्लेशस्थानसे अनन्तभागहानि, असंख्येयभागहानि, संस्येयभागहानि, संस्येय गुणहानि, असंस्येयगुणहानि, अनन्तगुणहानि करके कृष्णलेश्याके जघन्य स्थानोतक स्वस्थान संक्रमण होता है। हां, संक्लेशकी विशेष हानि हो जानेपर अनन्त गुणहाणि अनुमार कृष्णलेश्यावाला जीव नीललेश्याके उत्कृष्ट स्थान पर सक्रमण कर लेता है। वात्तिकों का अर्थ यह हुआ कि सबसे पहिने नियत होरहे कृष्णलेश्याके जघन्य संक्लेश स्थानसे अनन्तभाग, असंख्यातभाग और संख्यात भाग वृद्धियों अनुसार कृष्णलेश्या अपने निमित्त कारणों करके बहती जाती है। अथवा संख्यातगुण, असंख्यातगुण, आदि ऋपसे भी स्वकीय निमित्त कारणों अनुसार उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त बढ़ती है। अन्य प्रकारोंसे नहीं बढ़ती है। यों विशेष रूपसे निरुचय कर लेना । कृष्णलेश्यासे भिन्न कोई निकृष्ट जाति की दूसरी अश्मलेश्याके होनेकी बाधा है। अतः संक्लेशकी वृद्धि होनेपर कृष्णलेश्यामें स्वस्थान संक्रमण ही हुआ तथा कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट स्थानसे संक्लेश की हानिको अनुभव रहा जीव हीन होता जाता है। तब भी उत्कृष्ट,मध्यम,जघन्य अंशोंमें प्राप्त होरहा कृष्णलेश्यामें ही संक्रमण करता है। कारणोंका अभाव होजानेसे बन्य छेरयामें संक्रमण नहीं करपाता है। अनन्त्रभाग आदि अथवा संस्यातगुण आदि स्थानों करके यह प्राणी तिसी प्रकार छह स्थानों में पतित हानिओं द्वारा संक्रमणसे हीन होता जायगा, अन्य प्रकारों करके हीन नहीं होता है। हां, जिस समय कृष्णलेक्या की अनन्तगृणी हानि होते हुये संक्रमण होगा, तब नीललैक्याके उत्कृष्ट स्थानमें प्राप्त होरहा उससे न्यारी अन्य लेक्यामें परस्थान संक्रमण होजाता है। अन्य प्रकारोंसे नहीं।

एवं विशुद्धिवृद्धे स्याच्छुक्ललेश्यस्य संक्रमः । शुक्लायामेव नान्यत्र लेश्या एवावसानतः ॥ १६ ॥ तथा विशुद्धिहान्यां स्यात्त्रहेश्यांतरसंक्रमः । अनन्तगुणहान्येव नान्यहान्या कदाचन ॥ १७ ॥ मध्ये लेश्याचतुष्कस्य शुद्धिसंक्लेशयोर्न्गणां । हानौ वृद्धौ च विद्येयस्तेषां स्वपरसंक्रमः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार विश् द्विकी वृद्धि होने पर शुक्ललेश्यावाले जीवका संक्रमण शुक्ललेश्याम ही होगा, अन्यत्र नहीं होगा। क्योंकि शुक्लसे बढिया कोई दूसरी शुभलेक्या ही नहीं है। शुक्कसे उत्तम लेश्याओं का विराम होजानेसे बढ रहे शुभ परिणामोंका पलटना उसी शुक्ललेश्यामें ही हुआ करता है। हां, तिस प्रकार छह स्थानों में पडे हुये ऋपसे विशुद्धिकी हानि होने पर अन्य लेश्याओं में भी संक्रमण होजाते हैं। किन्तू विशुद्धिकी अनन्तगणी हानि करके ही शक्ललेश्या से पद्मलेश्यामें परिवर्तन होगा। अन्य संख्यातमाग हानि आदि पांच हानियों करके कभी नहीं परस्थान संक्रमण होसकता है। यों कृष्णलेश्या और शुक्ललेश्या के विषयमें स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमणका विचार कर दिया है। मध्यमें विराज रहीं नील, कापोत, पीत, और प्रयहन चार लेश्याओं का स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण तो उन जीवोंके विश्व और संक्लेश की हानि या वृद्धिके होने पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ढंगोंसे समझ लेना चाहिये। भावार्थ-नील लेश्यामें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर जघन्य अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रमण है। और उत्कृष्ट अंशसे कृष्णलेश्यामें पहुंचने पर परस्थान संक्रमण है। यों ही संक्लेशकी हानि होनेपर नील लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रम है। और नीललेश्याके जघन्य अंशसे संक्लेश हानि दरामें कापोतीकी दशा प्राप्त होने पर परस्थान संक्रमण हैं। यही दशा अन्य लेश्याओं में लगा लेना। छह वृद्धियों में संख्यात पदसे उत्कृष्ट संस्थात पकड़ना और असंस्थात पदसे असंस्थाते लोकोंके प्रदेशों प्रमाण संस्था ग्रहण करना तथा अनन्त पदसे जीवराधिका अनन्तगुणा और पुद्गल राधिका अनन्तवा भाग स्वरूप अनन्तसंख्या लेनी चाहिये। ये छहीं वृद्धियां लेक्या परिणतियोंके अविभाग प्रतिच्छेदों में होती रहती हैं। अविमागप्रतिच्छेदोंकी कितनी ही संख्णायें ऐसी है, जिनको कि कोई छेश्या परिणति नहीं घार सकी है। "अविभागपिडच्छेओ जहण्ण उद्डी पएसाणं" (गीम्मटसार) यह यह अविभाग प्रतिच्छेद का सिद्धान्त सक्षण है ।

तथैव कर्मतो लेहगः साध्याः षडिप भेदतः ।
फलभञ्जणदृष्टांतसानध्यीतत्त्ववेदिभिः ॥ १९ ॥
आद्या तु स्कन्धभेदेच्छा विटयच्छेदशेमुगी ।
पा च शाखाछेदीच्छादनुशाखिछदेषणा ॥ २० ॥
पिंडिकाछेदनेच्छा च स्वयं पतितमात्रक - ।
फलादिता च कृष्णादिलेहयानां भञ्जणेच्छया ॥ २१ ॥

तिस ही प्रकार वर्ध यानी किया की अपेक्षासे छहों भी लेश्याओका भिन्न भिन्नपने करके साथ लेना चाहिये। तस्ववेत्ता विद्वानों करके उन लेश्यात्राले जीवों के कर्तक्य होरहे फल भक्षण स्वरूप दृष्टान्नोकी सामध्यसे यो निर्णय करना चाहिये। वनके मध्य देशमे मार्ग भ्रष्ट होगये छह पश्चिक एक फलपूर्ण वृक्ष को देख करके यो विचार करते हैं। पहिली कृष्णलेश्याके अनुमार एक मनुष्यके स्कन्ध (प ढ) को छ: डालनेकी इच्छा होजाती है। अर्थात् कृष्णलेश्यावाला स्कन्धको उखाड डालकर फल खाना चाहता है। और दूमरी नीललेश्याके अनुमार गुट्टेको काट डालनेकी बृद्धि दूसरे मनुष्यको होजाती है। तीकरे मनुष्यको कापाती लेश्याके अनुमार डाली को काटनेकी इच्छा उपज जाती है। चौथे के पीतलेश्यां अनुमार लघुशाखाको काटकर फल खानेकी वाछा उपजती है। पांचवें पुरुषको पद्मलेश्या अनुमार डाठला या फल ही को तोड़ने की इच्छा होती है। छठे मनुष्य को युक्ललेश्या अनुमार केवल अपने आप नीचे गिर गये फलोको प्रहण करनेकी अभिलापा उपजती है। यो कृष्ण आदिक लेश्याओके अनुभार फलभक्षणकी इच्छा करके कर्त्तन्य कियाओकी अपेक्षा छहो अतीन्द्रिय भावलेश्याये अनुभिन होजाती है।

तथा लक्षणतो लेखाः साध्याः सिद्धाः प्रमाणतः।
पराननुनयादिः स्थात्कृष्णायास्तत्र लक्षणम् ॥ २२ ॥
आलस्यादिस्तु नीलाया मात्सर्यादिः पुनः स्फुटं।
काषोत्या दृढनैत्र्यादिः पीतायाः सत्यवादिता ॥ २३ ॥
प्रमृति पद्मलेखयाः शुक्लायाः प्रशमादिकं।
गत्या लेख्यास्तथा द्वेयाः प्राणिनां बहुमेदया ॥ २४ ॥

तिस ही प्रकार लक्षण यानी चिन्होंने छही लेश्याये प्रमाणोसे सिद्ध होरही साधलेनी चाहिये। उन छहीं में पहिली कृष्णलेश्याका चिन्ह तो दूसरोंका अनुनय (विनय) नहीं करना,

वैर नहीं छोड़ना, प्रचण्ड कोपी होना,दया धर्म रहितयना,अपरितोष,तीव दुष्टता,आदिक हैं। तथा नी उलेश्याके लक्षण तो आलस्य, विषयलोलुपता, भी हना, तृष्णा, ठगना, अतिलुब्धता, रूस अभिमान, आदिक हैं। फिर तीसरी अगुभलेश्या कापोतीके स्फुट रूपसे मत्सरता, ईर्ष्या, परिनन्दा, आत्मप्रशंसा, युद्धमरण, अविचारिता, शोक, भयबहुलता आदि हैं। एवं चौषी पीत लेश्याके दृढ़िनता, विचारशीलता, दानदयारित, कार्यसम्पादनपरुता आदि बहिरंग चिन्ह हैं। तथा पद्मलेश्याले सत्यवादी पनको आदि लेकर क्षमा, सात्विकदान, ऋजुता, गुरुदेवता पूजाकरणतत्परता, भद्रता आदि शुभ लक्षण हैं। छठी शुक्ललेश्याके प्रशम, रागद्देषरहितपन, निदानवर्जन, श्रेयोमार्गानुष्ठान, आदि लक्षण हैं। यों व्यावतंक चिन्होंसे अन्तरंग लेश्यायें पहिचान ली जाती हैं। तथा सातवें गति अधिकार करके लेश्यायें समझ लेनी योग्य हैं। स्वकीय कारणों अनुसार बहुत भेदवाली प्राणियोंकी गति होजानेसे लेश्यायें साध ली जाती हैं।

प्रत्यंशकं समाख्याताः षड्विशतिरिहांशकाः । तत्राष्ट्री मध्यमास्तावदायुषी बंधहतवः ॥ २५ ॥ आष्ट्रीयदेशतः सिद्धाः शेषास्तु गतिहेतवः । पुण्यपापविशेषाणामुपचाययका हि ते ॥ २६॥

प्रत्येक लेश्याके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और मध्यवर्ती आठ अंशोंको मिलाकर यहाँ प्रकरणमें लेज्याओं के छन्वीस अंश बिंद्या वखाने गये हैं। उनमें कृष्ण और कापोतके मध्य-वर्ती तथा पीत और शुक्लके मध्यमवर्ती आठ मध्यम अंश तो परभवकी आयुके बन्धके कारण हैं। यह सिद्धान्त ऋ पत्रोक्त उपदेशोंसे प्रसिद्ध है। अर्थात् कर्मभूमिके मनुष्य या तियंवकी भुज्यमान आयुके तीन भागों में से दो भाग बीत चुकने पर अन्तर्मुहूर्त तक पहिला अपकर्षकाल माना जाता है। यदि पहिले इस अपकर्ष कालमें उत्तर भवकी आयु न बंधे तो शेप आयुके त्रिभाग करते हुये दो भाग बीत जानेपर अन्तर्मुहतं कालतक आयुष्य कर्मका बन्ध होता है। यदि यहां-पर भी आयुष्य का बन्ध नहीं होय तो तीसरे, चौथे, पांचवें, छठवें, सातवें, और आठवें त्रिभाग स्वरूप अपकर्ष कालमें आयुका बन्ध होजाता है। पूर्वके अपकर्षमें आयुका बन्ध होजाने पर उत्तर अपकर्षीमें तदिवरुद्ध उसी आयुका बन्त्र होगा, न्यारी आयुका नहीं। यदि आठोंमें किसी भी अपकर्षमें आयु न बंबे तो मृत्युके अव्यवहित पूर्व अन्तर्मुहुर्तमें परभव की आयुका बन्ध अवश्यक होजाता है। देव और नारकी जीवोंकी भुज्यमान आयुके छहमास शेष रहनेपर आठ अपकर्षकाल आयुक्ते बन्धके योग्य रचे जाते हैं। भोगभूमियां मनुष्य या तियंचके स्वकीय आयुक्ते नौ महीना शेष रहनेपर आयुके बन्ध योग्य आठ अपकर्षकाल प्राप्त होते हैं । अपकर्षकाल में जैसा लंश्याका अंश होता है वैसा आयुष्यका बन्ध होजाता है। आयुक्ता बन्ध फल दिये बिना छूटता नहीं है। स्थिति कमती बढ़ती भले ही होजाय। छेरुयाओं के कारण इन बाठ अंशों को मध्यवर्ती इसलिये कहा है कि कृष्णलेश्या के कित्य तीव अंशों में और कापोत के कित्यय जवन्य अंशों में आयु नहीं बंबती है। इसी प्रकार शुभलेश्याओं में पीत के कित्यय जवन्य अंशों में और शुक्रलेश्या के कुछ उत्कृष्ट अंशों में आयुष्य कर्मको बन्धवाने की योग्यता नहीं है। बदः अशुभ लेश्याओं के मध्यमें पड़े हुये चार अंश और तीनों शुभलेश्याओं के बीच में पड़े हुये चार अंश और तीनों शुभलेश्याओं के बीच में पड़े हुये चार अंश यों आठ अंश मध्यम कहे जाते हैं। हां, श्रेप अठः रह अंश तो परभवके लिये गित कराने के कारण है। अवश्य वे अठारह अंश पुण्य विशेष और पापिवशेषोंकी वृद्धिके कारण होरहे हैं। यद्याप जघन्य, मध्यम, उन्कृष्टके अपेक्षा लेश्याके अठाग्ह भेदों में सभी भेद गिंभत हैं। इनसे न्यारे कोई आठ भेद नहीं होसकते हैं। किर भी संसारमें समरण कराने वाले कर्मों में प्रधान होरहे आयुष्य कर्म को बंधवाने की अपेशा अठारहों के मध्य में से ही कुछ पृथाभूत कर लिये गये आठ अश मध्यवर्ती माने जाते हैं। शेष अंश तो गितके उपयोगो पुण्य, पापों की वृद्धि कराते रहते हैं। योग और कषाय की मिश्रितपरिणित ही लेश्या है। जो कि पुण्य पाप-स्वष्ट प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग इन चारों बन्धों की कारण हैं।

भवायुर्गतिभेदानां कारणं नामभेदवत । शुक्क त्कृष्टांशकादात्मा भवेत्सर्वार्थसिद्धिगः ॥ २७ ॥ कृष्णोत्कृष्टांशकात्तु स्यादशतिष्ठानगाम्यसौ । शेषांशकवशान्नानागतिभागवगम्यताम् ॥ २८ ॥

लेश्याओं के अंश ये नामकर्मके प्रभेदोके उदयसे युक्त होरहे विशेष भवकी आयु और गित भेदोके कारण बन रहे हैं। आत्मा शुक्ललेश्याक उत्कृष्ट अशसे मर कर सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त करने वाला होगा कृष्णके उन्कृष्ट अंशसे तो यह आत्मा सातवे नरकके इन्द्रक बिल अप्रतिष्ठान नरकमें जानेवाला हो गाता है। शुक्लकं मध्यम अंशको आदि लेकर कृष्णके मध्यम अंशोतककी परवशतासे यह जीव नाना गितयों को जाने वाला समझ लेना चाहिये।

यथागमं प्रपंचेन विद्यानंदमहोदया - । रखाभित्वेन तथा साध्या छेदया साधनतोषि च ॥ २९॥ संख्यातः क्षेत्रतश्चापि स्पर्शनात्काछतोतरात् । भावाचाल्पबहुत्वाच पूर्वसूत्रोक्तनीतितः ॥ ३०॥

किस लेश्यासे मरकर किस गति को प्राप्त होता है। इप सिद्धान्त को विस्तार करके समझना होय तो सदागम अनुसार समझलेना चाहिये अथवा सिद्धान्तमर्यादा का उल्लंघन नहीं कर रचे गये हमारे "विद्यानन्द महोदय" नामक यन्य से निश्चय कर लेना चाहिये। जिस प्रकार निर्देश, वर्ण, आदि सात अधिकारों करके लेक्यायें साध थी गयी हैं, उसी प्रकार स्वामिपने करके और साधनसे भी छहों लेक्याओं का विवार कर लेना चाहिये। एवं संख्या से, क्षेत्र से, स्पर्शन से, कालसे, अन्तरसे भावसे और अल्पबहुत्त्रसे भी लेक्याओं की सिद्धि करलेनी चाहिये। अर्थात् उमास्वामी महाराजके अति संक्षिप्त सूत्रोंमें अनन्त प्रमेय भरा हुआ है। जो कि उप-रिष्ठात् टीका या व्याख्यानों से समझ लिया जाता है। उसी पूर्व सूत्रोंमें कही जाचुकी नीतिक अनुसार इप सूत्र में भी अधिक प्रमेय तत्ववेत्ताओं करके समझ लेने योग्य है। अथवा सर्वज्ञधारा-प्राप्त पूर्वऋषियोंके सूत्रोंमें कही जा चुकी स्याद्वाद मिद्धान्त नीतिसे स्वामित्व आदिकों करके यथा-मनाय लेक्याओं के अधिकार समझ लिये जाय। ग्रन्थकारने यहां परम सूक्ष्म अतीन्द्रिय विषयों में आगमपरिपाटीका अनुसरण करने के लिये तत्ववेत्ताओं को उद्युक्त किया है। राजवात्तिक गोम्मटसार ग्रन्थोंमें भी उक्त सोलह अधिकारोंका विशेष निरूपण किया है।

वैमानिक देवों में लेश्या को वर्णन कर अब भगवान् सूत्रकार कल्पोंका परिज्ञान कराने के लिये अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

प्राग्धेवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

सौधर्म से आदि लेकर नवग्रैवयकों मे पहिन्ते जो वैमानिक हैं, वे सब करूप हैं, अर्थात् सौधर्म से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त स्थान या उनमें रहने वाले देव कल्प कहे जाते हैं।

सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते, तेनायमर्थः-सौधर्मादयः प्राग्यैवेयकेभ्यः कल्पा इति । सौधर्मा-दिसूत्रानंतरिमदं सूत्रं वक्तव्यमिति चेन्न, स्थितिप्रमावादिसूत्रत्रयस्य व्यवधानप्रसंगात्। सित व्यव-धानेऽनेन विधीयमानोर्थः कल्पेष्वेव स्यादनंतरत्वात् ।

परली ओर की अभिविध (अवधि) तो कह दी गयी। किन्तु उरली ओर की मर्यादा नहीं कहो, इसके लिये सौधर्म आदि का जो तीन सूत्र पहिले प्रहण किया है, उसकी अनुवृत्ति करली जाती है। तिससे इस सूत्रका यह अर्थ लब्ध होजाता है कि सौधर्मको आदि लेकर और प्रैवेयकोंसे पहिले विमान स्थान या वैमानिक देव कल्प है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करें कि "सौधर्मेशान" इन्यादि सूत्र के अव्यवहित उत्तर काल में ही यह सूत्र श्री उमास्त्रामी महाराजको कहना चाहिये था। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सौधर्मके अनन्तर ही कल्पोंका विधान किया जाता तः स्थितिश्रभावमुख चुतिलेश्याविश्वद्धीन्द्रयाविधिवषयतोऽधिकाः गतिशरी-रपरिष्रहाभिमानतो हीनाः पीतपद्मजुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु" इस प्रकार के तीनों सूत्रों का "प्राग्येवेयकेश्यः कल्पाः" इस सूत्रसे व्यवधान होनेका प्रसंग होजाता। अर्थात् "प्राग्येवेयकेश्यः कल्पाः, इस सूत्रसे पोछे स्थिति प्रभाव आदि तीनों सूत्र पढे जाते, ऐसी दशामें व्यवधान होजाने पर इन तीन सूत्रों करके विधान किया जारहा अर्थ कल्पनासी देवोंमें ही प्राप्त होता। व्योंकि ये बारह कल्प ही

अञ्चवहित पूर्वं म उपात्त होरहे हैं। " व्यवहिताव्यवहितयो रव्यवहितस्यै व ग्रहणं " इस परिभाषा अनुसार कलों में ही स्थित आदिकसे अधिकता और गिन आदिकसे हीनता तथा दो तीन शेषों में पीतपद्मशुक्ल लेश्याका विधान होसकेगा। सीध मंको आदि लेकर सर्वार्थ सिद्धि पर्यन्त सम्पूर्ण वैमानिकों में उक्त ती स्त्रोंका अर्थ लागू नहीं हो सकेगा। इस कारण यहां इस सूत्र के कह देने से सब बखेडा मिट जाता है।

के पुनः कल्पातीता इत्याह ।

सूत्रकारने कल्पों का तो कण्ठोक्त निरूपण कर दिया है। किन्तु कल्पातीत देवों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र नहीं रचा है। अतः यह बताओ कि फिर वे कल्पातीत देव कौनसे हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वात्तिकको कहते हैं।

कल्पाः प्रागेव ते बोध्या प्रवेयकविमानतः । तदादयस्तु सामर्थ्यात् कल्पातीताः प्रतीतितः ॥ १ ॥

इस सूत्र का अर्थ यह है कि ग्रेवेयक विमानसे पहिले ही वे कल्प रच रहे समझ लेने चाहिये। हां, बिना कहे ही शब्दसामर्थ्य से यह प्रतीत होजाता है कि उन ग्रेवेयकों को आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त स्थान तो कल्पातीत हैं।

ननु च परिशेषाद्प्रैवेयकादीनां कल्पातीतत्वसिद्धौ भवनवास्यादीनां कल्पातीतत्वप्रसंग इति चेन्न, उपर्युपरीत्यनुवर्तनात् ।

यहां कोई प्रतिवादी आशंका उठाता है कि परिशेषन्यायसे यदि ग्रैनेयक आदिकों के कल्पातीतपन की सिद्धि की जायगी, तब तो भवनवासी आदिकों को भी कल्पातीतपने का प्रसंग आता है। सो रह स्वर्ण या बारह कल्पोंसे शेष बच रहे देव तो अहमिन्द्रों के समान भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, देव भी हैं। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि 'उपर्युपरि' इस परकी अनुवृत्ति होरही है। अर्थान् ऊपर ऊपर वैमानिक देवों के लिये उक्त पांच सूत्रोंका सम्बन्ध किया जाता है। नीचे के भवनवाशी आदिकों का ग्रहण नहीं है। इस कारण अहमिन्द्र देव ही कल्पातीत हैं।

सूत्रकार के प्रति किसी का प्रश्न उठ सकता है कि तब तो लौकान्तिक देव वैमानिक देव होरहे सन्ते भला किन कल्पोपन्न या कल्पातीत देवों में ग्रहण किये जायेगे ? इस प्रकार प्रश्नके उत्तर में सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं

ब्रह्मलोकालया लोकांतिकाः॥ २४॥

पांचवे स्वर्ग बम्हलोक में निवास स्थान कर रहे लौकान्तिक देव हैं अर्थात् पांचवे स्वर्ग में निवस रहे लौकान्तिक देव कल्पोपहन्न हैं। प्रयास्मिन्लीयत इत्यालयो निवासः । ब्रह्मलोक आलयो येवां ते ब्रह्मलोकालयाः। सर्व-ब्रह्मलोकदेवानां लौकांतिकत्वप्रसंग इति चेल्ल, लोकांतोपक्रेष्णत्। ब्रह्मलोकस्यांतो हि लोकांतः लोकांते मवा लौकांतिका इति न सर्वत्र ब्रह्मलेकदेवास्तया। अथवा लोकः संसारः जन्मजरामृत्युसं-कीणः तस्यांतो लोकांतः तत्प्रयोजना लौकांतिकाः । ते हि परीतसंसाराः ततश्च्युत्वा एकं गर्भवास-मवाप्य परिनिवाति ।

चारों ओर या छहों ओरसे प्राप्त होकर इस स्थानमें जींव या प्रदगल लीन होजाया करते हैं। इस यथार्थ निरुक्ति द्वारा आलयका अर्थ निवास स्थान है। बाहरसे आता जाता हुआ मनुष्य स्पष्ट दीखता रहता है। किन्तू घरमें घसकर न जाने कहां झट लीन होजाता है। बाहरसे देखनेवाले केवल ताकते ही रह जाते हैं। जिन देवोंका निवास स्थान ब्रह्मलोक है, वे ब्रह्मलोकालय देव कहे जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करता है कि तब तो पांचवें स्वर्ग ब्रम्हलोकमें रहने वाले सभी देवोंको लौकान्तिकपनेका प्रसंग अता है। जगत श्रेणीके नौमे वर्गमलका उसी श्रेणिमें भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसकी आधी संख्या प्रमाण असंख्यातासंख्यात ब्रम्हलोकवासी सभी देव तो लौकान्तिक नही माने गये हैं। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि लौकान्तिक शदमें लोकान्त इम प्रकृतिका संसर्ग होरहा है। चंकि बम्हलोकका जो अन्तिम स्थान है,वह लोकांत है लोकान्तमे होनेवाले देव लौकान्तिक हैं। इस कारण ब्रम्हलोकमें सर्वत्र निवास कर रहे अन्य असंख्याते देव तिस प्रकार लौकान्तिक नहीं हैं। किन्तु चार ल खसे कुछ अधिक ही देव लौका-न्तिक है। अथवा दूसरी निरुक्ति यों की जा सकती है कि लोकका अर्थ यह जन्म, जरा. मृत्यु ओंसे संकीर्ण होरहा संसार है। उस संसारका जो अन्त है, वह लोकान्त है। जिन देवोंका लक्ष्यभूत प्रयोजन वह लोक का अन्त करना है, ऐसे देव लौकान्तिक हैं। वे लौकान्तिक देव नियमसे संसारसे निकान्त हुये समझने चाहिये। कारण कि उस अपने स्थान ब्रम्हलोकसे चय कर कर्भभूमिमे एक मनुष्य जनमरूप गर्भवासको प्राप्त कर समन्तात श्रम होरही मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं।

कि पुनरनेन सुत्रेण कियत इत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि इस सूत्र करके फिर सूत्रकारने क्या लक्ष्य सिद्ध किया ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर वात्तिकको कहते हैं।

तत्र लोकांतिका देवा ब्रह्मलोकालया इति । सूचनात् कल्पवासित्वं तेषां नियतमुच्यते ॥ १ ॥

उन वंगानिक देवोंके प्रतिपादक सूत्रमें श्री. उमास्वामी महाराजने ब्रह्मलोक में निवास करने वाले देव लौकान्तिक हैं। यों इस सूत्र द्वारा की गयी सूचनासे उन लौकान्तिक देवों का कल्पवासीपन नियत होरहा कह दिया है। लीकांतिकानां कल्पोपपन्नकल्पातीतेभ्योग्यत्वं माभूदिति तेवां कल्पवासिनियनोऽनेन क्रियते न ततो देवानां चतुःणिकायत्वनियमो विषध्यते ।

लौकान्तिक देवों को कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंसे भिन्नपना नहीं होवे इस कारण उन लौकान्तिकोंके कल्पवासीपने का नियम इस सूत्र करके किया गया है। तिस कारण देवों की चार निकाय होनेका नियम विरुद्ध नहीं पड़ना है। अर्थान् लौकान्तिक देव चार निकायसे बाहिर नहीं हैं। किन्तु वैमानिक देवोंके कल्पोपपन्न भेदमे गिभत होजाते है।

तद्विशेष प्रतिपादनार्थमाह।

अब ग्रन्थकार अग्निमसूत्रका अवतरण हेतु यो कहते है कि सामान्य करके उपदिष्ट किये गये उन लौकान्तिकोंके विशेष भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करानेके लिये सूकार अग्निम सूत्रको कहते है।

सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्यावाधारिष्टाश्च ॥

१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ अष्ठण ५ गर्दतीय ६ तुषित ७ अव्याबाध ८ अरिष्ट ये आठ लौकान्तिक देवों के गण हैं। समुच्चय अर्थ वाचक च शब्द करके अग्न्याभ, सूर्याभ, आदिक सोलहगण अन्य भी समझ लेने चाहिये।

क्व इमे सारस्वतावयः पूर्वोत्तरावि विक्षु ययाक्रमं । तद्यथा अरुणसमुद्रप्रभवो मूले संख्ये-ययोजनिवस्तारस्तमसः स्कंधः समुद्रवद्वलयाकृतिरिततीवाधकारपरिणामः स ऊर्ध्वं कमवृथ्या गच्छन् मध्येंऽते वा संख्येययोजनबाहुल्यः अरिष्टिविमानस्याधोभागे समेतः कुक्कुटकुटीवदवस्थितः । तस्यो-परि तमें राजयोष्टावृत्पत्यारिष्टेंद्रकविमानसमप्रणिधयः। तत्र चतमृष्विप विक्षु द्वन्द्वं गतास्तियंगालो-कांतात् तदंतरेषु पूर्वोत्तरकोणाविषु सारस्वतावयो यथाक्रमं वेवितव्याः।

ये सारस्वत आदिक लौकान्तिकोंके देवगण भला कहां स्थित होरहे हैं? इसके उत्तर में आचार्य कहने हैं कि पूर्व और उत्तर दिशाकों मध्य कोण होरहे ईशान आदि दिशाओं में अर्थात् ईशान विदिशामें सारस्वत देवोंके विमान है। पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है। पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है। पूर्व दिशामें आप्तिय का विमान है। पूर्व दिशामें आप्तिय विदिशा में विद्या में अरुण का विमान है। दक्षिण पश्चिम कोण यानी नैऋत्य विदिशामें गर्दतोयोंके विमान हैं। पश्चिम उत्तर कोण यानी वायव्य विदिशामें अव्यावाधों के विमान हैं। उत्तर दिशामें अरिष्ट जातीय लौकान्तिकों के विमान है। उसी को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार समझना चाहिये कि नौमे अरुण समुद्रसे उत्पन्न हुआ और मूल में संख्यात योजन विस्तार वाला अन्धकारका स्कन्ध ऊपर की ओर उठ रहा है। जो कि समुद्रके समान होरहा कंकणकी आकृति को धार रहा है। अत्यन्त तीन्न अन्धकार परिणाम स्वरूप हैं। अर्थात् चौमासे में वर्षायुक्त होरही अमावस्या की रानिक निविद्य बन्धकार से भी अत्यधिक गाढ

अन्धकार का पिण्ड उभर रहा है। वह ऊपर की और कमकमसे वृद्धि करके बढता जा रहा मध्य में और अन्त में संख्यात योजन मोटा होजाता है। पूनः शिखर के समान घट कर ब्रह्म स्वर्ग सम्बन्धी पहिले पडलके मध्यवर्ती अरिष्ट विमान के नीचे भागमें एकत्रित होता हुआ मुगैकी कुटी (कुडला)के समान अन्धकार स्थित होगया है। भावार्थ-मसजिदों की शिखर या भुसभरने की बरजी जैसे नीचे गोल होकर ऋषसे ऊपर को फैलकर बढ़नी हुई पून: शिखाऊ ऊपर जाकर घट जाती है। उसी प्रकार इस अन्धकारस्कन्ध की रचना समझना। धुम या काजल के समान अन्धकार भी पुरुगल की काले रंगवाली पर्याय विशेष है। कतिपय अन्धकार तो प्रकाशक पदार्थींसे नष्ट होजाते हैं। किन्तु पृद्गल की सुमेरु सूर्य, कुलाचलों आदिके समान यह अन्धकारका पिण्ड स्वरूप अनदि अनिधन पर्याय है। उष्ण पदार्थं शीतस्पर्शका नाशक है। परन्तु शीतद्रव्य भी उप्णता को समूल नष्ट कर सकता है। इस अन्धकार परिणति पर सूर्य या अन्य विमान आदि के प्रकाशोंका प्रभाव नहीं पडता है। वैशेषिकों के यहां अन्धकार जैसे कोई भाव पदार्थ नहीं होकर तेजका अभाव पदार्थ तुच्छ माना गया है। वैसा जैन सिद्धांत नहीं है। घली पटल, काजल, धूमरेखा, बाप्प आदिके समान अन्धकार भी पूद्गल की विशेष परिणति है। मसालके ऊपर निकल रहे काले धूयें को जैसे मसाल की ज्योति नष्ट नहीं कर देती है, अथवा आंधीं के आने पर लाल पीले रेत को सूर्यप्रभा कोई नष्ट नहीं कर देती है, प्रत्युत प्रकाशक पदार्थ उन काले पीले, धीले पदार्थोंको उन्हीं के ठीक रंग अनुसार प्रकाशित कर देते हैं। उसी प्रकार काली स्याही को धुलके समान फैल रहे इस गाढ अन्धकार को प्रकाशक पदार्थ नष्ट नहीं कर पाते हैं। भले ही उसके ठीक रूप अनुकूल उसकी जतादें। काले रंग की भीत या कपडे पर जो प्रका-शक पदार्थ का प्रभाव है, वही दशा यहां समझना। अरुण समृद्रके सूर्य या चन्द्रमा इस अन्ध-कारका बालाग्र भी खण्डन नहीं कर सकते हैं। पून: उन एकत्रित हुये अन्धकार के ऊपर अरिष्ट नामक इन्द्रक विमान के निकटवर्तिनी होती संती अन्धकार की आठ पंक्तियों उठ कर सुकतीं हुई फैल रहीं है। वहां चारों भी दिशाओं में दो दो होकर द्वन्द्व को प्राप्त हुई तिरछी लोक पर्यन्ततक चली गयी है । उन अन्वकार पंकित्यों के अन्तरालमें पूर्वोत्तर दिशाके कोने ईशान आदि विदिशा या दिशाओं में सारस्वत आदिक विमान या देवगण यथाकतसे व्यवस्थित होरहे समझलेने चाहिये।

च शहसमुन्चिताः सारस्वताद्यंतरालर्वातनः परेऽग्न्याभसूर्याभावयो हृद्ववृत्त्या स्थिताः प्रत्येतव्याः, तद्यया । सारस्वतादित्ययोरतरालेऽग्न्याभसूर्याभाः, आदित्यवन्हचोऽचंद्राभसत्याभाः, वन्ह्यरुणयोः श्रेयस्करक्षेमंकराः, अदणगर्वतोययोर्वृषभेष्टकामचाराः, गर्वतोयतुषितयोनिर्माणरजो विगंतरक्षिताः, तुषिताच्याबाधयोरात्मरक्षितसर्वरक्षिताः, अव्याबाधारिष्टयोमंष्वद्वसवः, अरिष्टसा-रस्वतयोर्द्वविद्वाः, । तान्येतानि विमानानां नामानि तिश्ववासिनां च वेवानां तत्स्वाहचर्यात् ।

सूत्र में पडे हुये समुज्य अथंवायक च शहकरके दूसर दूसरे अग्याभ सूर्याभ, आदिक देव गणों का समुज्य कर लिया जाता है। सारहवत आदिकों के आठ अन्तरालों में वर्त रहे अग्याम, सूर्याम आदिक देवगण दो दोकी द्वन्द्ववृत्तिसे स्थित होरहे विश्वास कर लेने योग्य है। उसी बात को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार जानलों कि सारहवत और आदित्य के अन्तरालमें दो अग्याभ और सूर्यामजाति के कई विमान विरचित हैं। तथा आदित्य और बन्हि के मध्यमें चन्द्राभ और सत्याम देवगण है। वन्हि और अश्णोंके अन्तराल में श्रेयस्कर और क्षेमंकर इन दो जातिके लौकान्तिक भेर वस रहे हैं। अश्ण और गर्दतोय के अन्तराल में वृषभंष्ट और कामचार इन दो मण्डलियोंका निवास है। गर्दतोय और तुषित के बोचमे निर्माणरज. और दिगग्तरक्षित देवगणों के स्थान हैं। तुषित और अव्यावाधके बीच में आत्मरक्षित और सर्वरिक्षत जातिक लौकान्तिक देव मण्डल हैं। अव्यावाध और अरिष्टक अन्तर स्थान में महत् और वसु निवास कर रहे हैं। अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल में अश्व और विश्व जातिक देवगण बस रहे हैं। वे सारस्वत, अग्व्याभ आदिक ये सब विमानोंके नाम है, उन विमानोंका सहचरपना होनेसे उनमें निवास करने वाले देवों के भी प्रवाहमुद्रया सारस्वत आदिक नाम कहे जाते हैं।

तत्र सारस्वताः सप्तशतसंख्याः, आवित्याश्च सप्तशतगणनाः, बन्हयः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि, अरुणाश्च तावंत एव, गर्वतोया नवसहस्राणि नवोत्तराणि, तुषिताश्च तावंत एव. अव्यावाधा एकावशसहस्राण्येकावशानि,अरिष्टा अपि तावंत एव । च शहसमुन्चितानां संख्योच्यते-अग्न्याभे वेवाः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि,सूर्याभे नवनवोत्तराणि,चन्द्राभे एकावशंकावशोत्तराणि, सत्यामे त्रयोदश त्रयोदशोत्तराणि, श्रेयस्करे पंचवशपंचदशोत्तराणि, श्रेमंकरे सप्तदश सप्तदशोत्तराणि वृष्णेष्टे एकोनींवशत्यधिकानि, श्रेयस्करे पंचवशपंचदशोत्तराणि, श्रेमंकरे सप्तदश सप्तदशोत्तराणि वृष्णेष्टे एकोनींवशत्यधिकानिवशत्यधिकानि, कामचारे एकींवशत्यधिकानि, वारमरक्षिते पर्वावशतियचिवशत्यधिकानि, आरमरक्षिते सप्तावशितस्त्रींवशत्यधिकानि, सर्वरक्षिते एकान्नींवशत्यधिकानि, मक्ति एकित्रशवेकनित्रशिकानित्रिश्चर्याच्याचिकानि, सर्वरक्षिते एकान्नींवशत्यधिकानि, मक्ति एकित्रशवेकनित्रशविकानित, वसुनि त्रविक्रश्चरत्यदिक्रशविकानि, अश्वे पचित्रशत्यविकानि विक्षे सप्तावश्चरतित्रश्चराचिकानि । त एते चतुविश्चरिकानितकगणाः समुदिताः चत्वारिशतसहस्राणि अष्टसप्तितश्च शतानि चडुत्वराणि ।

अव लौकान्तिक देवों की संख्याको गिनाते हैं। उन चौत्रीस गणों में सारस्वत देवों की संख्या सात सी है। और आदित्यों की गणना भी सात सी ही समझनी चाहिये। विन्हिगण के देवों की संख्या सात अधिक सात हजार है। अरुण जाति के देव भी उतने ही यानी सात हजार सात हैं। गदंतीय विमानों में रहनेवाले देव नौ ऊपर नौ हजार हैं। तथा तुषित भी उतने ही यानी नौ हजार नौ हैं। अव्यावाध देवगण में ग्यारह हजार ग्यारह देवगण हैं। अरिष्ट भी उतने ही यानी ग्यारह हजार हैं। बारष्ट से सक्या अब कही

जाती है। अन्याभमें देव सात अधिक सात हजार हैं। सूर्याभविमानमें नौ अधिक नौ हजार हैं। चन्द्राभ में ग्यारह अधिक ग्यारह हजार हैं। सत्याभ में तेरह हजार तेरह देव बसते हैं। श्रेयस्कर में पंद्रह ऊपर पन्द्रह हजार देव निबसते हैं। क्षेमंकर में सत्रह अधिक सत्रह हजार देव निवास करते हैं । वृषभेष्टमें उनईस हजार उनईस अधिक देव वस रहे हैं । कामचारमें इकईस हजार इकईस अधिक देव ठहरे हुये हैं। निर्माणरजाः में तेईस हजार तेईस अधिक अमर विराजते हैं। दिगन्तरक्षित में पच्चीस हजार पच्चीस सुर निवसते हं। आत्मरक्षित में सत्ताईस अधिक सत्ता-ईस हजार देव स्थत हैं। सर्वरिक्षतमें उन्तीस सहस्र उन्तीस देवों का निवास है। मरूत्में इकत्तीस हजार इकतीस अधिक देव शोभते हैं। बसुमें तेतीस हजार अधिक तेतीस देव वस रहे हैं। अरव में पेंतीस अधिक पेंतीस हजार देव राजते है। विश्व में सैतीस अधिक सैतींस हजार देव निवास करते है। वे सब इन सख्याओं को धार रहे ये चौवीस लौकान्तिकोंके गण एकत्रित कर् दिये जांय तो सम्पूर्ण लोकान्तिक देवो की संख्या चारलाख सात हजार आठसी ऊपर छह हो जाती है। तत्त्रार्थमूत्र के टीकाकारों के मन्तव्य अनुमार उक्त संख्या ही ठीक है। हां, त्रिलाक-सार की "सारस्यव आइच्चा सत्तसया सगजुदाय वण्हरुणा। सगसगसहस्समुवरि दुसु दुतु दो दुग सहस्स विडिढ कमा" इन गाथाके अनुमार सारस्वत और आदित्यों की सातसी सात संख्या मानकर पुनः वृद्धि होजानेसे चार लाख सात हजार आठसौ वीस यह लौकान्तिक देवों की संख्या चोली जवती है।

सर्वे स्वतंत्राः होनाधिकत्वाभावात् । विषयरितविरहाद्देवषयः तत एवेतरेषां देवानाम-र्चनीयाः चतुर्देशपूर्वेधराः सततं ज्ञानभःवनावहितमनसः नित्य संसारादुद्विग्नाः अनित्याशरणाद्य-नुप्रेक्षाविहतचेतसः तीर्थेकरनिःऋमणप्रबोधनपराः नामकमंविशेषोदयादुपजायंते ।

ये सभो लौकान्तिक देत्र अहमिन्द्रोंके समान स्वतंत्र है। किसी इन्द्र, प्रतीन्द्र आदिका इन पर कोई कुत्सित अधिकार नहीं चलता है। परस्परमें भी हीनपना या अधिकपना नहीं होनेसे कोई किमीके परधीान नहीं है। इन्द्रियसम्बन्धी विषयों में रागभावका विरह होजानेसे देवों में ऋषितुल्य होरहे ये देविष कहे जाते हैं। तिस ही कारणसे अन्य देवोंके पूजनीय हैं। चौदह पूर्वको धार रहे ये द्वादशागवेत्ता है। इनका चित्त सर्वता ज्ञानाभ्यास की भावना करते हुथे उसीमें एकाग्र लगा रहता है। नित्य ही संसारसे उद्वेगको प्राप्त होरहे वैराग्यतत्पर रहते हैं। अनित्य, अशरण, संसार आदि बारह अनुप्रेक्षाओं के भावने में इनको चित्तवृत्ति ककी रहती है। तीर्थंकर भगवान्के तपःकल्याणके अवसरपर नियोग साधते हुथे भगवान् को तत्वप्रदोध कराने के लिये तत्पर रहते हैं। निष्क्रमणके सिवाय अन्य किन्ही भी कल्याणों या नन्दीक्वर-

द्वीप अथवा अन्य अकृतिम चैत्यालयोंकी वन्दना आदिमें इनको जाने आने की उत्मुकता नहीं है। देवगति नाम कमंके भेद प्रभेद होरहे लौकान्तिक देव नामक प्रकृति विशेषके उदयसे उक्त ढंग के ये देव उपज जाते हैं। नामकर्म की उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्याती हैं। यह जीव पहिले शुभ, अशुभ, कमोंके अनुसार विभिन्न पर्यायोंमें उपज जाता है। परचात् स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा विलक्षण कार्योंको साधलेता है। सिद्धान्त प्रन्थों में संसारी जीवों की अवस्थाओं का कर्मजनित और पुरुषार्थजनित न्यारा न्यारा स्वरूप दरसादिया गया है।

तेन्वर्थसंज्ञतां प्राप्ताः भेदाः सारस्वतादयः । तेनैकचरमास्तद्वच्छकःचाश्रोपलक्षिताः ॥ १ ॥

लौकान्तिक देवगणोंके वे सारस्वत आदिक भेद अन्वर्थसंज्ञापनेको प्राप्त हो रहे हैं। तिस कारण ये लौकान्तिक देव एकचरम हैं। यानी एक मनुष्य भव लेकर चरमशरीर अवस्था से निर्वाण प्राप्त कर लेंगे। अतः शद्धमेंसे निकले हुये अर्थके अनुसार इसका नाम यथार्थ है। उमास्वामी महाराजने इन दो न्यारे सूत्रों करके एक भवतारी लौकान्तिक देवोंका स्वतंत्र निरूपण किया है। यह उपलक्षण है। जैसे "काकेभ्यो दिध रक्ष्यताम्" यहां काक पद दहीके उप-घातकों का उपलक्षण है। छह दक्षिण दिशाके इन्द्र, सौधर्म इन्द्रको इन्द्राणी, सौधर्म स्वर्गके लोकपाल, सर्वाथसिद्धिके देव ये भी एक भवतारी हैं। अतः उन लौकान्तिकों के समान इस सूत्र द्वारा सौधर्म इन्द्र आदि सभी एक भवतारी जीवों का उपलक्षण कर दिया गया समझ लेना।

येथैकचरमा लोकांतिकाः सर्वेन्वर्थसंज्ञां प्राप्ताः सुत्रिताः तथा शकादयश्च तेषामुपल-कणत्वात् ।

जिस प्रकार कि एक चरम होरहे सभी लौकन्तिक देव परले जन्म में संसार का अन्त करने वाले होते हुये सत्य अर्थके अनुकूल होरही संज्ञाको प्राप्त होरहे सूत्र द्वारा उमास्वामी महाराजने कह दिये हैं, उसी प्रकार सौधर्म इन्द्र आदिक भी एक चरम शरीर को प्राप्त कर दूसरे जन्म में संसार का अन्त कर देने वाले सूचित कर दिये गये हैं। क्योंकि उन सारस्वत आदिकों का एक भवतारी जीवों में उपलक्षणपना है। अत: ''ब्राम्हणवशिष्ट'' न्याय से इन एक भवतारी जीवोंका न्यारे सूत्रों द्वारा निरूपण करना समुचित है।

क्व पुनद्विचरमा इत्याह ।

जब कि ये लौकान्तिक या शक आदिक एक चरम हैं, तो किर महाराज यह बताओं कि द्विचरम यानी दो भवतारी जीव कौनसे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महा-राज अग्निमसूत्रको कहते हैं।

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजय आदि विमानों में दो चरम वाले देव निवास करते हैं। अर्थात् विजय, वैजयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानोंके देव अधिकपनेसे अन्तिम दो मनुष्य भवोंको प्राप्त
कर मोक्षको चले जाते हैं। यहां विजय और आदि शद्धके साथ बहुन्नीहि समास तथा तत्पुरुष
समास कर देनेसे वैजयन्त, अपराजित, और अनुदिशोंका इष्ट्यहण सिद्ध होजाता है। ये तेरह
विमानोंके निवासी पल्यके असंख्यातवें भाग स्वरूप असंख्याते देव आयुष्य पूर्ण होते सन्ते सम्यकरवसे नहीं छूटते हुये मनुष्योंमें उपज कर पुनः संयमको आराधना करते हुये फिर विजयादिकों
में उपज कर वहां से च्युत होते हुये यहां कर्म भूमिमें मनुष्य भवको प्राप्त कर सिद्ध होजाते हैं।
यों दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा दिचरमपना होजाता है।

आविशद्वः प्रकारार्थः । कः प्रकारः ? सम्यग्दृष्टित्वे निर्प्रथत्वे च सत्युपपादः । स च विजय स्येव वैजयंतजयन्तापराजितानामनृदिशानामप्यस्तीति तत्रादिशद्वेन गृह्यंते । सर्वार्थद्वस्य प्रहण प्रसंग इति चेन्न,तस्यान्वर्थसंज्ञाकरणात् पृथगुपादानाच्च लौकान्तिकवदेकचरमत्वसिद्धेः ।

यहां सूत्रमें पड़े हुये आदि शद्धका अर्थ प्रकार है। वह प्रकार क्या है ? इसका उत्तर यह है कि सम्य ग्दृष्टि होते हुये और निर्ग्रन्थपना होते हुये जो देवोंमें उपपाद जन्म लेना है। हां, वह सम्यग्दृष्टि और निर्म्रन्थ मनुष्यों का उपपाद विजय के समान वैजयन्त, जयन्त अपराजित, और अनुदिश विमानवासियों के भी विद्यमान है। इस कारण वहां आदि शद्ध करके बारह विमानों का ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थात् सम्यग्दुष्टि हो रहे महावती का ही मरकर जहां जन्म लेने का नियम है, वे स्थान बिजय आदिक कहे जाते है। जन्मके आदिमें सम्यग्द्ष्टि होते हुयें अहमिनद्र-पनका अकलंक नियम भी इससे प्रतिकृत न शें पडता है। यदि यहां कोई यों कहे कि सम्यग्दृष्टि महाव्रती पुरुषोंका ही उपपाद जन्म होना तो सर्वार्थिसिद्धि विमानोंमें भी है। अतः सादि पदसे यहां मानुषियोसे तिगुने या उत्कृष्टतया सात गुने सर्वार्थेसिद्धि वाले संख्यात देवेंके ग्रहण होजानेका प्रसंग होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस सर्वार्थसिदि की ठीक ठीक वाचक शद्धके अनुसार अर्थ घटित होजानेवाली सज्ञा की गयी है। भावार्थ-सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि प्राप्त करनेवाले ये देव हैं। अगले भव में ही मोक्ष की सिद्धि करलेवेंगे। दूसरी बात यह है कि सौधर्मेशान आदि सुत्रमें 'सर्वार्थसिद्धि' का पृथग् रूपसे उपादान किया गया है। अतः लौकान्तिक देवोंके समान एक चरमशरीरपना सिद्ध है। अतः यह सूत्र सम्यग्दृष्टि महावती ही मनुष्योंके उपपाद स्थान होरहे विजय आदि तेरह विमानों में रहने वाले महमिन्द्रोंके लिये चरितार्थ है।

क्यं पुनविजयादीनां द्विचरमत्वं ? मनुष्यभवापेक्षाया तयैव व्याख्याप्रज्ञप्तिवंडकेऽ पिछानात् । देवभवापेक्षायामिव त्रिचरमत्वप्रसंगात् ।

विजयादिक अहमिन्द्रोंके द्विचरमपना किस प्रकार व्यवस्थित है ? इनका समाधान यह है कि द' मनुष्य भवोंकी अपेक्षा करते सन्ते द्विचरमपना । यानी विजयादिक चेच्युत हो कर मनुष्योमें उपज कर संयम लेते हुये, पुनः विजयादिक में उपपाद कर पुनः मनुष्य जन्म लेकर सिद्ध हो जाते हैं। तिस ही प्रकार व्याख्याप्रज्ञान्तिदण्डक नामक महा अधिकार में कहा गया है। यदि मध्यवर्त्ती देवभवकी अपेक्षा भी की जायगी तब तो त्रिचरमपनका प्रसंग होगा। दो मनुष्यभव और एक देवभव यों तीन भवतारी ये हो जायगे। व्याख्याप्रज्ञन्तिदण्डक में अन्तर प्रकरणके अनुसार आये हुये, विरोधका भी निवारण कर दिया है। अन्य कल्पमें उत्पत्ति हो जानेकी अपेक्षा नहीं रखकर किये गये, गौतम महाराजके प्रश्नपर भगवान्का उत्तर यह है, जो कि सूत्रमें कहा गया है।

मनुष्यमवस्य पुनरेकस्य मुख्यचरमत्वं येनैव निर्वाणप्राप्तेः । अपरस्य तु चरमप्रत्यासत्ते-रूपचरितं चरमत्वं सजातीयस्य व्यवधायकस्याभावात् तस्य तत्प्रत्यासित्तिसिद्धेः । द्वौ चरमौ मनु-ष्यभवौ येवां ते द्विचरमाः देवाः विजयादिषु प्रतिपत्तन्याः ।

यदि कोई यों कटाक्ष करे कि कितने ही थोड़े या बहुत पदार्थ क्यों न हों उनमें चरम एक ही हो सकता है। अनन्तानन्त पदार्थमें भी चरम एक ही होगा। िकर यहां दो को चरमपना कैसे कहा ? ग्रन्थकार इसका समाधान यों कर देने हैं कि भाई तुम्हारा कहना ठीक है। एक ही अन्तिम मनुष्य भवको मुख्य रूपसे चरमपना है, जिस हो करके निर्वागकी प्राप्ति होती है। िकतु उसके निकटवर्त्ती दूपरे या तीसरे न्यारे भवको चरमाना तो चरमके निकटवर्त्ती होने के कारण उपचरित है। कोई दूपरा समान जातिवाला पदार्थं व्यवधान करनेवाला नहीं है। अतः उप दूसरे या तीसरे भवको उस मुख्य दरमकी निकटवर्त्ता सिद्ध है। जिनके दो मनुष्य भव अन्तिम लेने शेष हैं, वे देव दिवरम हो रहे विजय आदिकमे निवास कर रहे समझ लेने चाहिये।

अयान्यत्र सौधर्मादिषु कियच्चरमा देवा इत्यावेदयितुमाह ।

अब महाराज यह बताओ कि अन्य सौधर्म, आदिक विमानों में निवास कर रहे देव भला कितने चरम भवोंको ग्रहण कर निर्वाण प्राप्त करेंगे ? इस प्रश्नके समाधानका प्रज्ञापन कर-नेके लिये ग्रन्थकार उत्तरवार्त्तिकको कहते हैं।

तथा द्विचरमाः प्रोक्ता विजयादिषु यतोऽनराः । ततोन्यत्र नियामोस्ति न मनुष्यभवेष्विद्य ॥ १ ॥

जिस कारणसे कि विजय आदिकों में तिस प्रकार दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा द्विचरम देव अच्छे कहे गये हैं. तिस कारण अन्य वैमानिकों में यहां मन्छ्य भवों में नियम करानेवाला कीई नहीं है। अर्थात-सौधर्म आदिके देव सौ भव या अनन्त भव लेकर मोक्ष जायेंगे ऐसा कोई नियम नहीं है। ग्रैवेयकों तकमें उपजनेवाले अनन्तवार ग्रैवेयक या मनुष्य भवोंमें संसरण करते रहते हैं। अनेक जीव तो मन्तिको कथमपि प्राप्त नहीं कर सकेंगे। अतः लीकान्तिक आदिकोंका एक चरमपना और विजयादिकोंका दो चरमपना प्रसिद्ध है। क्षायिक सम्यग्द्रियोंका त्रिवरमपना यानी उत्कृष्टतया चौथे भवमें मोक्ष जाना निर्णीत है। तीर्थ कर प्रकृतिवाला जीव भी उत्कृष्ट तया द्विचरम है। तीसरे जन्ममें अवस्य मोक्ष पावेगा। अन्य जीवोंके लिये कोई मक्ति प्राप्त करनेके जिये भवोंका नियम नहीं बखाना गया है। भले प्रकार सल्लेखना करनेवाला जीव सात, आठ, जन्मोंम मुक्तिको प्राप्त कर लेता है, ऐसा चरणानुयोगका सिद्धांत है। " जेमि होइ जहण्णा चउव्विहाराहणा दु भवियाणं। सत्तद्वभवे गंतुं ते विय पावन्ति णिव्वाणं " इनके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भवोंका नियम नहीं किया गया है। भले ही न्यारेन्यारे जन्मोंकी अपेक्षा यह जीव महावृतोंको अधिकसे अधिक बत्तीस वार घारण कर सकता है। एक भवमें अधिकसे अधिक दो बार लेता हुआ। उपशम श्रेणीको चार बार ले सकता है। किन्तु इसमें तो कुछ कम अर्द्ध पुर्गल परिवर्त्तन काल भी पूरा होकर अनन्ते जन्म हो सकते हैं। अनन्त कल्पकाल भी समाजाय। अतः यह कोई चरमभवोंको गणनाका नियम नहीं समझा जाता है।

यतो लौकांतिकानां सर्वार्थसिद्धस्य शक्तस्य च तदग्रमहिष्या लोकपालादीनामेकचरमत्व-मुक्तं तथा विजयादिदेवानां द्विचरमत्वं, ततोन्यत्र सौधर्मादिषु नियमो नास्तीति गम्यते।

जिस कारणसे कि लौकान्तिक देवों का और सर्वार्थसिद्धिवाले देवों का तथा सौधर्म इंद्रका एवं उसकी अग्रमहिषी हो रही इन्द्राणीका तथैव लोकपाल आदिकों का एक वरमपना सिद्धांत ग्रन्थों में कहा गया है, तिस प्रकार विजय, आदिक देवों का द्विचरमपना निर्णीत है। उनके सिवाय सौधर्म आदिकों के अन्य देवों में कोई द्विचरमपन आदिका कोई नियम नहीं है। यो अर्थापत्या जान लिया जाता है। लोकपाल आदि यहां आदि दिसे दक्षिण दिशाके इन्द्रों का ग्रहण कर लेना, विलोकसारमें 'सोहम्मो वरदेवी सलोगपाला य दिक्खणमिरदा। लोगंतिय सन्वद्ठा तरो चुदा णिव्वृदि जन्ति यो कहा है।

इत्येकादशभिः सुत्रैवेमानिकनिरूपणं । युत्तयागमवशादात्तं तन्निकायत्रतृष्टयम् ॥ २ ॥

इस प्रकार 'वैमानिका: 'इस सूत्रसे प्रारम्भ कर 'विजयादिषु द्विचरमाः ' यहांतक ग्यारह सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने वैमानिक देवोंका निरूपण किया है । युक्ति और आगमके वशसे उन देवोंकी चारों निकायोंको उक्त चौथे अध्याय द्वारा ग्रहण कर लिया जा चुका है। अर्थात्—यहांतक इस अध्यायके छन्वीस सूत्रोंमें चारों देविनकायोंका समोचीन युक्तियों और सर्वक धारा प्राप्त आगमके अनुसार कथन किया जा चुका है।

> इति तत्त्वार्यक्लोकवार्तिकालंकारे चतुर्थाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् । यहांतक तत्त्वार्यक्लोकवार्तिकालंकार नामक महाग्रंथमें चौथे अध्यायका पहिला आन्हिक (प्रकरण समूह) परिसमाप्त हुआ।

प्राग्जन्माजितकर्मनित्यगतिकज्योतिष्किनिष्नं क्षपा-घस्रादिष्यवहारकालमचलास्थैय्यंज्य मुक्त्यं विदन् । सूर्येन्द्रोरुपरागिताग्रहकृतानेन्दुक्षितिच्छःयया धर्म्यथ्यानरतो भुवं समतलां पत्येदगोलां सुधीः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमान्धिकम्

जीवके औदियक भावोंमे तिर्यक् योनिकी गतिको औदियिक भावोमे गिनाया है। फिर स्थितिके प्रकरणमें " तिर्यग्योनिजानां च " इस सूत्र द्वारा तिर्यचयोनिवाले जीवोंकी स्थित को समझाया है। वहां हम यह नहीं समझे कि तिर्यग्योनि जीव कौनसे हैं? इस प्रकार सन्देह होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्निम सूत्रको समाधानार्थं प्रतिपादन करते है।

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः॥ २७॥

औपपादिक अर्थात्—उपपाद जन्मवाले देव और नारकी जीव तथा मनुष्य इनसे शेष बच रहे सम्पूर्ण संसारी जीव तियंग्योनि यानी तियँच है। तीन गतिओं के जीव असं-ख्यातासंख्यात हैं। किन्तु तियँच जीव अनन्तानन्त है।

औपपादिकाश्च मनुष्याश्चौपपादिकमनुष्या इत्यत्र द्वंद्वेर्म्यहितत्वादौपपादिकशद्वस्य पूव-निपातः । मनुष्यशद्वस्याल्पाक्षरत्वेषि तस्मादुत्तरत्र प्रयोगः, अर्भ्याहितत्वस्याल्पाक्षरापवादत्वात् । तैभ्योन्ये शेषाः संसारिणः तिर्यग्योनयः प्रत्येयाः, तिर्यग्नामकर्भोदयसद्भावात् । न पुनः सिद्धाः संसारिप्रकरणे तदप्रसंगात् ।

औपपादिक और मनुष्य यों इतरेतर द्वन्द्व कर 'औपपादिकमनुष्या. 'यह पद बनाना चाहिये। इस पदमें द्वन्द्व समास करनेपर अभ्यहित (पूज्य) होनेसे 'अव्यवहितं पूर्वं ' इस सूत्र अनुसार बहुत अच्वाले भी औपपादिक शद्भा पूर्वमें निगत हो जाता है। मनुष्य शद्भा बस्प अक्षरवाला या अत्यल्प अच्वाला होनेपर भी उस औपपादिकसे पीछे प्रयोग किया है।

क्योंकि 'अल्पाच् तरं पूर्वं ' इस सूत्रका अपवाद करनेवाला ' अभ्यहितं च ' है। अतः अभ्य-हितपना अल्पाक्षरपनेको बाध लेता है। औपपादिकों में देव आ जाते हैं। और देव स्थिति, प्रभाव, आदि करके पूज्य कहे जा चुके हैं। उन औपपादिक और मनुष्योंसे अतिरिक्त शेष संसारी जीव तियँच समझ लेने चाहिये। क्योंकि उनके तियंग्गित नामक नाम कर्मका उदय विद्यमान रहता है। औपपादिक और मनुष्योंसे शेष रहे सिद्ध फिर नहीं ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि संसारी जीवोंके प्रकरणमें उन शुद्ध परमात्माओंका प्रसंग नहीं है। सिद्धोंमें गित कर्मका उदय नहीं पाया जाता है।

कस्मात्पुर्नीह तेभिद्यीयंते ? तियंग्प्रकरणे तेषामिश्वानाहंत्वात् इत्याशंकमानं प्रत्याह । कोई शिष्य आशंका कर रहा है कि किस कारणसे फिर वे तियंच जीव यहां विना प्रकरण कहे जा रहे हैं। जब कि दूसरे अध्यायमें तियंचोंके प्रकरणमें उन तियंग्योनि जीवोंका कथन करना योग्य प्रतीत होता है ? इस प्रकार आशंका कर रहे शिष्यके प्रति प्रन्यकार समाधान वचनकों कहते हैं।

> सर्वलोकाश्रयाः सिद्धास्तियं चोप्यर्थतों गिनः । सन्त्यौपपादिके भ्यस्ते मनुष्ये भ्योपि चापरे ॥ १ ॥ इति संक्षेपतस्तिर्यग्योनिजानां विनिश्चयः । कृतोत्र सूत्रकारेण लक्षणावासभेदतः ॥ २ ॥

आधारभूत संपूर्ण लोकके आश्रित हो रहे तियंच प्राणी भी वास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे हैं। तथा वे औपपादिक जीवोंसे और मनुष्य जीवोंसे भी न्यारे भिन्न प्रकारके विद्यमान है। इस प्रकार सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमे लक्षण और निवास स्थान की विशेष्यता अनुसार संक्षेपसे तिर्यच जीवोंका विशेष निश्चय करा दिया है। भावार्थ—तिर्यंच जीव तीनों लोकोंमें भरे हुये हैं। तीनों लोकोंका निरूगण कर चुकनेपर तियंचोंका प्रतिपादन करना सुगम है। अत. इस सूत्र द्वारा तिर्यचोंके लक्षण और अर्थापत्या निवासस्थान रूत तीनों लोककी प्रतिपत्ति करा देना सूत्रकारको आवश्यक पड गया है।

अधोलोकं मध्यलोकमूर्ध्वंलोकं चाभिष्ठाय यदत्र प्रकरणामावेपि तियंग्योनिजानां निर्करणं सूत्रकारेण कृतं तत्तेषां सर्वलोकाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थं च । तिर्यक्षप्रकरणेस्य सूत्रस्याभिष्ठाने सर्वतिर्यग्नेववचने सति सूत्रस्य गौरवप्रसंगात् । सर्वलोकाश्रयत्वं पुनरेषां परिजेषात् योज्यते ।

तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन कर तथा चतुर्य अध्यायमें ख्रञ्जीस सूत्रतक उद्धवं लोकका निरूपण कर, प्रकरण नहीं होनेपर भी सूत्रकारने जो यहां तिर्यंच जीवोंका प्रतिपादन किया है, वह तो उन तिर्यंचोंके सर्व लोकके आश्रितपनकी प्रतिपत्ति करानेके लिये और संक्षेप करने के लिये हैं। यदि दूसरे अध्यायमें तिर्यचोंके प्रकरणमें इस सूत्रका कथन किया जाता तो सम्पूर्ण तिर्यंचोंके भेदोंका वचन करते सन्ते सूत्रके गौरव दोष हो जानेका प्रसंग आता। दूसरे अध्यायमें तबतक नारकी, मनुष्य और देवोंका निरूपण भी नहीं किया गया था। वहां नारकी जीवों या मनुष्यों अथवा देवोंके प्रतिपादक सूत्र भर दिये जाते तो अर्थकृत और प्रमाणकृत भारी गौरव हो जाता। तीनों लोक और तीनों गितयोंके जीवोंका वर्णन कर चुकनेपर यहां लघुतासे तिर्यचोंका लक्षण और उनका निवास स्थान समझा दिया है। इन तिर्यचोंके अधिकरणभूत संपूर्ण लोक में आश्रित रहनेकी तो किर परिशेष न्यायसे योजना कर ली जातो है। यानी तीन लोकका निरूपण कर चुकनेपर तिर्यंचोंका यहां कथन करना उनके सर्व लोक में व्याप कर ठहरनेको ध्वित करता है।

तिर्यग्योनयो द्विविधाः सूक्ष्मा बादाराञ्च, सूक्ष्मबादरनामकर्मद्वैविध्यात् । तत्र सूक्ष्माः सर्वलोकवासिनः, बादरास्तु नियतावासा इति नियतावासाभेदनिरूपणं तिर्यग्योनिञ्जद्विनरुक्त्या लक्षणिनरूपणं तिरञ्चीन्यग्र्नुतोषवाह्या योनिर्येषां ते तिर्यग्योनय इति । मनुष्यादीनां केषांचित् परोपबाह्यत्वात् तिर्यग्योनित्वप्रसंगादिति चेन्न, तिर्यग्नामकर्मोदये सतीति वचनात् ।

तिर्यंच जीव दो प्रकारके हैं। नाम कर्मकी सूक्ष्म प्रकृति और बादर प्रकृति इन दो प्रकारके कर्मों उदय अनुसार हुये सूक्ष्म और बादर ये दो प्रकारके तिर्यंच हैं। उन दो भेदोमें पृथिवी अप्, तेज, वायु, वनस्पितकायिक सूक्ष्म तिर्यंच संपूर्ण लोकमें निवास कर रहे हैं। और बादर हो रहे पृथिवी, तेज, अप्, वायु, वनस्पित, और विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंच तो नियत हो रहे क्विचत् स्थानोपर निवास करते हैं। इस प्रकार तिर्यचों ने नियत हो रहे निवास-स्थान और भेदोंका निरूपण कर दिया गया है। तिर्यंग्योनि इस शद्धकी निरुक्ति करके तिर्यचों के लक्षणका निरूपण कर दिया जाता है। यौगिक शद्धोकी निरुक्ति कर देनसे वाच्यार्थका लक्षण सम्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार कि पाचक, पालक, पालक, शद्धों के निवंचनसे हो रसोइया आदिके इतर व्यावर्त्तक लक्षण हो जाते हैं, इसी प्रकार यहां भी तिरुच्चों न्यग्यूता यानी छिपी हुई जिनकी योनि उपजी हैं, वे जीव तिर्यग्योनि हैं। अथवा उपवाह्या यानी तिरस्कृत हो रही योनिको धारनेवाले जीव तिर्यग्योनि जीव हैं। भावार्थ—तिर्यचों करके अथवा मनुष्यों करके जो पद पदपर तिरस्कारको प्राप्त हो रहे हैं, वे तिर्यग्योनी जीव हैं। यहां कोई अतिप्रसंग दोष हो जानेकी शंका करता है कि किन्ही किन्हीं मनुष्य, देव, आदिकोंका भी दूसरोंके द्वारा तिरस्कार हो रहा दे रहा है। अतः उनको भी तिर्यग्योनिपनका प्रसंग हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यर्

तो नही कहना। वयोंकि अन्तरंगमें तिर्यंग् नाम कर्मका उदय होते सन्ते जो उपबाह्य हैं, वे तिर्यंव हैं। इस प्रकार वचन कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। निहिक्तके साथ थोडा विशेषण और लगा दिया जाता है।

संप्रति भवनवासिनां तावदुत्कृष्टस्थितिप्रतिपादनार्थमाह ।

उमास्वामी महाराजके प्रति किन्हीका पृष्टव्य है कि भगवन् ! अब इन जीवोंकी स्थिति कहनी चाहिये। नारकी, मनुष्य, तिर्यचोंकी स्थिति तो आपने कह दी। देवोंकी नहीं कही है। अतः देवोंकी आयु किम प्रकार है ? यों पृष्टव्य होनेपर सबसे पहिले भवनवासियोंकी उस्कृष्ट स्थितिको प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार इस अवसरपर अग्निम सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्धहीनिमता ॥ २८॥

भवनवासियों में असुरकुमारोंकी एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। नागकुमारोंकी तीन पत्योपम परिमित है। सुपर्णकुमारोंकी आधा पत्यहीन यानी ढाई पत्योपम परा स्थिति है। द्वीपकुमारोंकी उससे आधे पत्य हीन यानी दो पत्योपम है। शेष छह प्रकारके भवनवासियोंका उससे भी आधापत्य कम अर्थात्—डेढ अद्धापत्योपम काल परिनित उत्कृष्ट स्थिति है।

असुरादीनां सागरोपमादिभि रिम संबंधी यथाक्रमं।

असुरकुमार, नागकुमार, आदिको सागरोपम, त्रिपल्योपम, आदिके साथ क्रमका अतिक्रम नहीं कर उद्देश्य विधेय अनुसार संबंध कर लेना चाहिये। यों इस सूत्रके छोटे पांच वाक्य बना लिये जाय।

सूत्रकार अब क्रमप्राप्त हो रही व्यन्तर और ज्योतिष देवोका उल्लंघन कर वैमानिक देवोंकी स्थितिको कहते हैं। क्योंकि भविष्यमें सरल उपायसे उनकी स्थिति कह दी जायगी। उन बैमानिकोंके आदिमें कहे गये पहिले युगलकी स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥ २९ ॥

सीधर्मं और ऐशान स्वर्गमें देवोंकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है। हिवचननिर्देशाव्हित्वगतिः, अधिके इत्यधिकार आसहस्रारात्।

सागरोपमें यह शब्द द्विवचन " औ " विभिन्तिका रूप है। अतः द्विवचनका कथन कर देनेसे द्वित्व संख्याकी ज्ञप्ति हो जाती है, यानी दो सागर यह अर्थ निकल आता है। जैसे घटों का अर्थ दो घट है। इस सूत्रमें " अधिके " यह अधिकार पद है, जो कि सहस्रार स्वर्गतक जान लेना चाहिये। क्योंकि "त्रिसःत" आदि सूत्रमें अधिकारका निवर्तक सुशब्द पडा हुआ है।

सूत्रकारके व्यर्थ सारिखे पडे हुये शब्द न जाने किन किन अनेक अयोंका ज्ञान करते हैं। मावार्य-यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र प्रतोन्द्र आदि देवोंको है। सौधर्म ऐशान स्वगंके देवोंको देवियोंको स्थिति तो "साहियपल्लं अवरं कप्पदुगित्योण पणग पडमवरं। एक्कारसे चउक्के कप्पे दो सत्त-परिवड्ढी" इस त्रिलोकसारको गाथा अनुसार प्रथम युगल सम्बन्धी देवियोंकी जघन्य आयु साधिक पल्य है और सौधर्म देवियोंको उत्कृष्ट आयु पांच पत्य एवं ऐशानमे सात पल्य है। सोल्हवें स्वर्गमे देवियोंको आयु पचपन पत्य है। "दिक्षण उत्तर देवी सोहम्पीसाग एव जायंते। तहेवीओ पच्छा उपरिम देवा णयन्ति सगठाणं"। दक्षिण उत्तर बारह कल्पोमें रहनेवाले कल्प-वासी देवोंकी देवियां सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें ही उपजती है। पोछे उन देवियोंको नियोग अनुसार ऊपरले देव अपने अपने स्थानका ले ज ते हैं।

अव श्री उमास्वामी महाराज दूसरे कल्प युगलकी स्थितिको विशेषतया समज्ञानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते है।

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

सानत्कुमार और माहेंद्र नामक तीसरे, चौथे, स्वर्गोमें निवास कर रहे देवों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागर की है। घातायुष्क सम्यग्वृष्टिकी अपेक्षा आधा सागर आयु अधिक हो जाती है। यह ध्यवस्था सीक्ष्मेंसे लेदर सहस्रार पर्यन्त तक समझनी चाहिये। उसके ऊपर घातायुष्क जीव उपज नहीं पाता है।

अधिकारात् सागरोऽमाधिकानि चेति सप्रत्ययः।

अधिकार चला आरहा होनेसे सागरोपम और अधिक शब्दोंकी अनुवृत्ति हो जाती है। इस कारण सानःकुमार और माहेन्द्रे में बुछ अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट आयु है। यह समीचीन प्रत्यय हो जाता है। '' अर्थवशात् विभक्तेविपरिणामः '' इस नीतिके अनुसार यहाँ ''सागरोपम'' और ''अधिक '' पदोंको बहुवचनान्त कर लिया जाता है।

श्री उमास्वामी महाराज ब्रह्मालोक स्वर्गमे आदि लेकर अच्युत पर्यन्त स्वर्गोमें निवास कर रहे देवोंकी उरकृष्ट स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

विसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, स्वर्गोमें तीनसे अधिक हो रहे सात सागर यानी दसनागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोमें सात करके अधिक हो रहे सात सागर यानी चौदह सागरकी स्थिति है। गुक महागुक्रमें नी सागरसे अधिक हो रहे सात सागर यानी सोलह सागरकी बायु है। शतार सहस्रार स्वर्गोमे ग्यान्ह सागरसे अधिक होरहे सात सागर अर्थात् अठारह सागरकी स्थिति है। यहांतक अधिक शब्दका अधिकार चला आ रहा है। अतः

उक्त स्थितियोंको घातायुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा आधा सागर अधिक समझना । आनत, प्राणत स्वर्गोमें तेरह अधिक सात सागर यानी वीस सागरोपम काल उत्कृष्ट स्थिति है । तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें पन्द्रह करके अधिक सागर अर्थात्—बाबीस सागरकी स्थिति है। तु शब्दका प्रयोजन सहस्रारतक ही अधिक शब्द की अनुवृत्ति करना है।

सप्तेत्यनुवर्तते, तेन सानत्कुमारमाहें द्रयोष्ठपरि द्वयोः कल्पयोः सप्तसागरोपमाणि त्रिमि-रधिकानि इति दश साधिकानि स्थितिः, तयोष्ठपरि द्वयोः कल्पयोः सप्त सप्ताधिकानीति चतुर्दे-शाधिकानीति, तयोष्ठपरि द्वयोः सप्तनविभरधिकानीति चोडशाधिकानि, तयोष्ठपरि द्वयोः सप्ते-कावशिभरधिकाने त्यप्टदशाधिकानि, तयोष्ठपरि द्वयोरानतप्राणतयोः सप्त त्रयोदशिभरधिकानीति विश्वतिरेष, तयोष्ठपरि द्वयोरारणाच्युत्रयोः सप्तयंवदशिभरधिकानीति द्वाविश्वतिरेष । सु शब्दस्य विश्वषणार्थत्वात् । आसहस्रारादधिकारात् परत्राधिकानीत्यभिसंबंधाभावः ।

पूर्व सूत्रसे सप्त इस शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तिस कारणसे यह अर्थ हो जाता है। सानत्क्रमार, माहेंद्र, स्वर्गीके ऊपर दो कल्गोंमें तीनसे अत्रिक सात सागर स्थिति है। इस कारण उत्कृष्ट रियति कुछ अधिक दस सागर की है। उन दो ब्रह्मा, ब्रह्मोत्तर स्वर्गीके ऊपर दो करपोमें सात अधिक सात सागर इम प्रकार साधिक चौदह सागर इतनी उत्कृष्ट स्थिति है। उन लान्दव कापिष्ठोके ऊपर वर्त्त रहे दो शुक्र महाशक स्वर्गीमें नौसे अधिक सात सागर यों कुछ अधिक सोलह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। उन शुक्र महाशुक्रोंके ऊपर ठहर रहे शतार सहस्रार, स्दर्गोमें ग्यारहसे अधिक हो रहे सात सागर यों आधा सागर अधिक अठारह सागरकी उत्कृत्ट स्थिति है। पुनः उन शतार सहस्रार दो स्वर्गोंके आधा राज् ऊपर बर्त्त रहे दो आनत, प्राणत स्वर्गोमें तेरहसे अधिक हो रहे सात सागर यों केवल वीस ही सागरकी उन्कृष्ट आयु है। उन आनत प्राणतोंके आधा राजू ऊपर वर्त रहे दो आरण, अच्युत, स्वर्गीने देवोंका आयुष्य पन्द्रह करके अधिक सात सागर इस प्रकार शुद्ध बाईस ही सागर उत्कृष्ट आयुष्य हैं। सूत्र में पडे हुए तु शब्दका अर्थ कुछ विशेषण लगाकर विशेषता कर देना है। अतः सहस्रारपर्यंत अधिक शब्द का अधिकार होनेसे परली और आनत आदिमें बीस, बाईस, इन दो स्थलोंपर सागरके साथ अधिकानि शब्दके सम्बन्ध करनेका अभाव हो जाता है। बात यह है कि घातायुष्क सम्यग्दृष्टि की आयु यि साडे सात सागर होगयी है तो वह सानत्कुमार माहेंद्र स्वर्गोमें उपजेगा। हां, अन्य साडेसात सागर आयुवाला जीव ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर. स्वर्गोमें जायगा। इसी प्रकार जिस घातायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्यके साडे अठारह सागर स्थितिवाली देवायुष्यका सद्भाव है, वह शतार, सहस्रार स्वर्गीमे जन्मेगा और शेष साडे अठारह सागर देवायुष्यवाला जीव आनत प्राणत स्वर्गीमें जायगा।

यहांसे छह राजू ऊपरतक निवस रहे उन आरण, अच्युत, स्वर्गोंके ऊपर अहमिन्द्र-वैमानिक देवोंकी स्थिति कितनी है ? इसकी प्रतिपत्ति करानेके लिए उमास्वामी महाराज अग्निम सूत्रको कहते हैं।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु धैवेयकेषु विजय।दिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

आरण और अच्युत स्वर्गोंसे ऊपर नवप्रैनेयको में प्रत्येकमें एक एक सागरसे अधिक हो रही स्थिति समझ लेनी चाहिये। अर्थान्—तीन अधोग्रेनेयकों में पहिले सुदर्शन प्रेनेयकमें तेईस सागरकी स्थिति है। दूपरे अमोघ प्रेनेयकमें चौनीससागरकी तीपरे मूप्रबुद्ध नामक ग्रेनेयकमें अहिमन्द्र देवोंकी पच्चीस सागर उन्कृष्ट स्थिति है। तीन मध्यम ग्रेनेयकों पिहले यशोधर नामक ग्रेनेयकमें छन्नीस सागर स्थिति है। दूसरे सुभद्र नामक ग्रेनेयकमें सत्ताईस सागर और तीसरे सुविशाल ग्रेनेयकमें अट्ठाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। कारले तीन ग्रेनेयकोमेसे सुमनस नाम ग्रेनेयकमें उन्तीस सागर और दूसरे सौमनस ग्रेनेयकमें तीस सागरकी तथा तीसरे प्रीतिकर ग्रेनेयकमें इक्तीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है। नी अनुदिश विमानोंने एक से अधिक इक्तीस यानी बत्तीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। विजयादिकमें एक करके अधिक बत्तीस अर्थात्—तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य, उत्कृष्ट, दोनों भी स्थितिया परिपूर्ण तेतीस सागरीपम हैं।

अधिकारादिधिकसंबंध: । ग्रेवेयकेश्यो विजयादीनां पृथायहणमनुदिशसंप्रहार्यं । प्रत्येक मेकेकवृद्धधिमसंबंधार्यं नवग्रहणं । सर्वार्थसिद्धस्य पृथाग्रहणं विकल्पनिवृत्यर्थं ।

"सीधर्मेशानयोः सागरोपमेऽधिके "इस सूत्रके अधिक शब्दका अधिकार तो पूर्व सूत्रके समासगित चार पदोतक ही लागू होता है। किन्तु " विसप्त " आदि सूत्रमे पडे हुए अधिक शब्दका अधिकार हो जानेसे यहां उसका सम्बन्ध कर लिया है। तिस करके उक्त अर्थ निकल आता है। ग्रेवेयक और विजय आदि दो पदोंका समास नहीं कर ग्रेवेयक से विजय आदिका पृथ्य ग्रहण करना तो नौ अनुदिश विमानोंका संग्रह करनेके लिये है। अनुदिशके नौऊ विमानोंमें केवल एक सागरकी ही वृद्धि होती है। हां, ग्रेवेयकोंमें प्रत्येक ग्रेवेयकके साथ एक एक सागरकी वृद्धि हो जानेका नौऊ ओर सम्बन्ध करनेके लिये नव शब्दका ग्रहण है। अर्थान्न नव शब्द नहीं कह कर केवल ग्रेवेयकेषु इनना हो कह देते तो विजय आदिके समान नौऊ ग्रेवेयकोंमे एक ही सागर अधिक बढता। नवसु कह देनेपर तो नौ स्थानों र प्रत्येकमें एक एक सागरका अधिकपना प्रतीन हो जाता है। सर्वार्यनिद्धिका पृथक् ग्रहण करना तो जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिके विकल्पोंकी निवृत्तिके लिये है।

का पुनिरयं भवनवास्यादीनां स्थितिरुक्तेत्याह।

भवनवासी अवि देवोंकी किर यह उत्कृष्ट या जवन्य स्थिति क्या कही जा चुकी है? बताओं तो सही। इस प्रकार आशंका होने रर ग्रंथकार उत्तरवात्तिकको कहते हैं।

स्थितिरित्यादिसृत्रेण योक्ता भवनवासिनां । विशेषेण स्थितियां च तदनंतरकीर्तिता ॥ १ ॥ स्रेश्चतुर्भिरभ्यासाद्यथागममशेषतः। परावैमानिकानां च सोत्तरत्रावरोक्तितः॥ २ ॥

"स्थितिरमुरनाग" इत्यादि सूत्र करके उमास्त्रामी महाराजने भवनवासी देवोंकी विशेष रूपसे जो स्थिति कह दी है और उसके अन्यविद्धत पश्चात् आगमपरिपाटीका अतिक्रम नहीं कर स्वकीय घारणानुरूप अभ्याससे इन चार सूत्रोंकरके जो सम्पूर्ण वैमानिक देवोंकी स्थितिका कीर्तन किया है, वह स्थिति उत्कृष्ट समझ लेमी चाहिये। क्योंकि उत्तरवर्ती पिछले प्रन्थमें भवनवासी या वैमानिक देवोंकी अधन्यस्थितिका निरूपण किया जानेवाला है। मावार्थ-आयुप्यका निरूपण करते हुए सूत्रकारने इन पांच सूत्रोंमें परा या जघन्या कोई शब्द नहीं डाला है। ऐसी दशामें उक्त स्थिति उन्कृष्ट समझी जाय? या जघन्या कोई शब्द नहीं डाला है। ऐसी दशामें उक्त स्थिति उन्कृष्ट समझी जाय? या जघन्य ? इसका कोई निर्णायक नहीं है। विना स्वामीके मालको जिसके हाथ पड़े वहीं हड़प ले जाता है। इम विषयका निर्णय ग्रंथकार यों कर देते है। जब कि जधन्यस्थितिका वर्णन भविष्यमें किया जायगा तो अर्थान्त्या सिद्ध है कि यह देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति है। पुण्य अनु नर प्राप्त हुए हृदयसे काम लेना चाहिये। हृदयके सहकारी हो रहे मस्तिष्क अवयत्र मला किर किस रोगकी औषिव है?

अवरायाः स्थितेरत्तरत्र वचनादिह भवनवासिनामेकेन सूत्रेण वैमानिकानां च चतुर्भिः सूत्रीविशेषेण या स्थितिः प्रोक्ता सा परोत्कृष्टेति गम्यते ।

जयन्य स्थितिका उत्तरवर्ती यथमें जब निकाण किया जायगा, इपसे सिद्ध है कि यहां एक सूत्र करके भवनवासियोंको और चार सूत्रों करके वैमानिक देशोंकी जो विशेष करके स्थिति ठीक कही गयी है, वह परा यानी उत्कृष्टा समझनी चाहिये। यह अनुमानसे जान लिया जाता है।

का पुनरवरेत्याह ।

फिर जघन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार विनीत शिष्योंकी जिज्ञासा होने ।र सूत्रकार अग्निम सूत्रको विश्वदरीत्या कहते हैं।

अपरा पल्योपममाधिकम् ॥ ३३ ॥

देवोंकी जघन्य स्थिति तो कुछ अधिक एक पत्योपम है। यह जघन्य स्थिति सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवोंकी समझी जाती है।

परिशेषात्सीधर्मेशानयोर्देवानामवरा स्थितिरि ग्रं दिशायते, ततोन्येषामुत्तरत्र अधन्यस्थिते-र्वक्यमाणस्यात् । परिशेष न्यायसे सौधर्म और ऐशान कल्पों में ठहरनेवाले देवों की यह जयन्य स्थिति विशेषतया समझी जाती हैं। तिस कारणसे कि उत्तरवर्ती ग्रंथमें अन्य सानत्कुमार माहेंद्र आदिक अपराजित पर्यन्त देवों की जवन्यस्थिति कही जानेवाली है। अतः यह शेष रहे प्रथम कल्पयुगलके देवों की ही जवन्यस्थिति परिशेष न्यायसे ज्ञात कर ली जाती है। अर्थात् "प्रसक्त निर्णेध शिष्यमाणसंप्रत्ययहेतुः परिशेषः " अन्यत्र प्रसंग प्राप्तों में विश्वेयान्तरका सर्भात्र या प्रकृत अर्थकी बाधा होनेपर शेष बच रहे उद्देश्य में ही अनुमानस्वरूप परिशेष प्रमाणसे प्रकृत अर्थका विधान अनुभित कर लिया जाता है।

पल्योपममतिरिक्तमवरास्थितिमववीत् । सोधर्मेशानयोः सेह सूत्रेर्थात्संप्रतीयते ॥ १ ॥

सूत्रकार उमास्वामी महाराज कुछ अधिक पत्योगम परिमाण जयन्य स्थितिको जो इस सूत्रद्वारा कह चुके हैं वह जघन्य स्थिति इस सूत्रमें सीधर्म और ऐशानिवासी देवोंकी है, यह बात कहे विना ही अर्थापत्ति करके भले प्रकार प्रतीत हो जाती है। वयोंकि अगले सूत्रमें सान-त्कृमारमाहेन्द्र देवोंसे लेकर विजयादि पर्यन्त देवोंकी जघन्य स्थिति कण्ठोक्त करदी जाने वाली है।

तत एवानंतरसूत्रेण सानत्माकुमारादिषु जघन्या स्थितिरुच्यते।

तिस हीं कारण यानी इस सूत्रद्वारा पहिले कल्पयुगलकी जघन्यस्थितिका निरूपण हो जानेसे ही अध्यविहत अगले सूत्र करके सानत्कुमार माहेन्द्र आदि स्वर्गोके देवोमें पायी जारही जयन्य स्थिति अब कही जा रही है। उसको सुनो।

परतः परतः पूर्वा पूर्वानंतरा ॥ ३४ ॥

" आद्यादिभ्य उपसंख्यानं " इस नियम करके परतः यहां सप्तमी अर्थमें तिस हुवा ह। पर परदेशमें अध्यवहित पूर्व पूर्वकी उत्कृष्ट स्थित जवन्य हो जाती है अर्थान्-प्रव्यवहित पहिले कल्य युगलों में या प्रस्तारों में जो उत्कृष्ट स्थिति है वह परले परले कल्प युगलों या प्रस्तारोमें जघन्य हो जाती है। नीचेबालोंकी जघन्यस्थिति एक समय अधिक होती हुई उत्तरले प्रस्तार या कल्पोमें जघन्य जान लेनी चाहिये।

अपरेत्यनुवर्तते, तेन परतः परतो या च प्रथमा स्थितिः सा पूर्वापूर्वानंतरा परस्मिन्नवरा स्थितिरिति संप्रत्यपः । अधिकग्रहणानुवृतेः सातिरेकसंप्रत्ययः । आविजयाविभ्योधिकारः। अनंतरेति वचनं व्यवहितनिवृत्त्यर्थं । पूर्वेत्त्येतावस्युच्यमाने व्यवहितग्रहणप्रसंगस्तत्रापि पूर्वशहप्रवृतेः ।

पूर्वसूत्रसे यहां अपरा इस पदकी अनुबृति हो जाती है। तिस कारण इस प्रकार समिचीन प्रते ति हो जाती है कि परली ओर परली ओरसे या परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलों में जो प्रथमा स्थिति वह अव्यवहित पूर्व पूर्वकी स्थित उपर उपर परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलों ने ववन्या स्थिति हो जाती है, इस सूत्र में पूर्व सूत्र से अधिक शद्ध के प्रहणकों अनुवृत्ती चली आ रही है। इस कारण साविक का सभीचीनज्ञान हो जाता है। यह अधिक का अधिकार विजय आदि अनुत्तरोंतक जान लेना चाहिये। अर्थात्—सौधमें और ऐशानमें जो साधिक दो सागर स्थिति कही जा चुकी है वह स्थिति कुछ अधिक यानी एक समय अधिक होकर सानत्कु मार माहेन्द्र कल्पोमें जयन्यस्थिति हो जाती है। बाग्ह मे स्वर्गतक एक तो साधिक पना गाँठका हो है, दूसरा एक समय अधिक पना यह संपूर्ण वैमानिकों की जयन्य स्थितियोमें लागू करिलया जाता है। इस सूत्रमें अव्यवहित इस अर्थका बाचक "अनन्तरा" इस पदका कथन करना तो व्यवहित पूर्वोकी निवृत्तीके लिये है। यदि "पूर्वापूर्वी" मों इतना ही कथन कर दिया जायगा तब तो व्यवधान युक्त हो रहीं पूर्व स्थितियोंके प्रहण होजानेका भी प्रसंग होगा। वयोंकि व्यवधानयुक्त उन पहिले पदार्थों में भी पूर्व शब्दकी प्रवृत्ति होरहीं देखी जाती है। जैसे कि गथुरासे पटना पूर्वदेशवर्ती है। यहां सैकडों कोसका व्यवधान पडरहे पदार्थकों भी पूर्व कह दिया गया है। बत: व्यवहित पूर्व सौधमं, ऐशानोंमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वह सारत्वकापिष्टोंकी जघन्य स्थिति हो जायगी। इस प्रकारके अनिष्ट अर्थोकी प्रतीतियां नहीं होने पाती है। तब तो अनन्तरा शब्दका सूत्रमें उपादान करना सफल है।

नारिक योंकी उत्कृष्ट स्थिति कही जा चुकी है। जवन्य स्थितिको अभीतक सूत्रमें नहीं कहा गया है। अतः लघु उपाय करके प्रकरणप्राप्त नहीं भी होरहीं नारिकयोंकी स्थितिको सम-झानकी इच्छा रख रहे सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

दूसरी वंशा तीसरी मेघा आदि सातवीतक छह पृथिवियोमें नारकी जीवोंकी अव्यव-हित पूर्वपूर्वकी स्थिति परले परले प्रस्तारों और नरकों में जबन्य हो जाती है। अर्थान्-पहिली पृथिवीकी उत्कृष्ट होरही एक सागरोपम आयु दूसरे नरकमें जबन्य समझी जाती है। इसी प्रकार नीचे नीचेकी ओर लगा लेना। एक समय अधिक जोड लिया तो अच्छा है। अन्यथा भव परिवर्तनमें कठिन समस्या उपस्थित हो जायगी।

किमर्थं नारकाणां अघन्या स्थितिरिह निवेदितस्याह ।

बहाँ किसीका कटाक्ष है कि प्रकरणके विना ही नारिकयोंकी अधन्यस्यितिका यहाँ किसलिये निवेदन किया गया है अर्थात् कितपय प्रकरणकी बातें छूटीं जा रही हैं और अप्रकृतोंको स्थान दिया जा रहा है। यह कौनसा न्याय है? व्रती या आश्रित जनोंको आहार दान नहीं देकर ठलुआ भरिष्ट्रो मनुष्योंको सादर भोजन कराना उचित नहीं है। इस प्रकार सूत्र-कारके ऊपर आक्षेप प्रवर्तने पर श्रीविद्यानंद स्थामी समाधानकारक वार्तिकको कहते हैं।

सानत्कुमारमाहद्भश्रुतीनामनंतरा। यथा तथा द्वितीयादिपृथिबीषु निवेदिता ॥ १॥ नारकाणां च संक्षेपादश्रैव तदनंतरा॥

जिस प्रकार उपरले सूत्रमें निचले देवों की अव्यवहित पहिली पहिली उन्हर्ष्ट स्थिति सानस्कुमारमाहेन्द्र आदि उपरिम देत्रों की जघन्य स्थिति कह दी गयी है, उसी प्रकार दिनीया खादि पृथितियों में उपरिम नारिकयों की अव्यवहित पूर्ववित्ती उन्हर्ष्ट स्थितिका परली और निचले नारिकीयों की जघन्यस्थिति हो जाना, यहां ही सक्षे से निवेदत कर दिया गया है। सर्वत्र जघन्य स्थितिको पूर्व पटलकी अपेक्षा एक समय अधिक समझता चाहिये।

देवस्थितित्रकरणेपि नारमस्यितिववनं संक्षेपार्यं ॥

देवोंकी स्थितिके निरूपणका प्रकरण होने पर भी यहाँ नारिकयोंकी जधन्यस्थितिका सूत्र कथन करना संझेपके लिये हैं। भावार्थ—जिससे कि दो बार अपरा इन तीन अक्षरोंको नहीं कहना पड़ा। "सूत्रं हि तन्नाम यतो न लघीय." सूत्र तो वही है जिससे कि छेटा या पतला दूसरा वाक्य नही बन सके। तीसरे अध्यायमें नारिकयोको उ कृष्ट स्थितिको कहते समय यदि जघन्यस्थितिको कहा जाता तो वहा "अपरा" शद्धका प्रयोग करना पड़ता "परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा"का भी बोझ बढ जाता तथा पहिली पृथिवीमे जघन्य स्थितिका निरूपण करते समय भी अपरा शद्ध कहना पड़ता । अतः रंगबिरगे धारीदार कपडेमें जैस एकरंगके कई सूत्र उसी स्थानपर पिर दिये जाते है अथवा व्याकरणमें गत्व विवायक या दीर्घित्यायक कई सूत्र जैसे एक स्थलपर पढ़ित्ये जाते है, उसी प्रकार यहां भी आयुष्यविद्यायक कई सूत्र रचे गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यत्य और अर्थ उतना ही प्राप्त हो जाता है।

शर्कराप्रभा आदिमें जघन्यस्थिति यदि कही जा चुकी है तत तो लो हाथ पहिली नरकमूमिमें वर्तरहे जघन्यस्थितिका भी निरूपण कर दिया जाय, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

पहिली नरकभू निमें नारकी योंकी दश हजार वर्ष जवन्य स्थिति है, जो कि तेरहाटल बाली घम्मा पृथिवीके पटल सी मंतक मे प्रवर्त रही है।

पृथिव्यां नारकाणानवरास्थितिरिति घटनीयं ।

" सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्ति " इस नीतिके अनुसार कुछ इधर उधरके चार पदोंको मिलाकर इस प्रकार सूत्रका अर्थ चटित कर रुना चाहिये कि पहिली पृणिकी कार-कियोंकी जधन्य स्थिति दश हजार वर्ष हैं।

अब भवनवासियों की जवन्य स्थिति क्या है ? ऐसी बुमुस्सा होनेपर उमास्वामि मह-राज अधिमसूत्रको कहते हैं।

भवनेषु च ॥ ३७॥

भवनवासी देवों की अधन्य स्थिति भी दश हजार वर्ष है। पूर्वोक्त विक्रोय दलका क शब्द करके समुक्त्रय कर लिया जाता है।

दशवर्षसहस्राणि देवानामवरा स्थितिरिशि संप्रत्ययः।

भवनों में निवास कर रहे देवों को जयन्य न्थिति दश हुजार वर्ष हे, यों कतिपव पदौंका उपस्कारकर भली प्रतीति कर छो जाती है।

तत्र तो व्यन्तर देवोंकी जवन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

व्यंतर देवोंकी भी जवन्य स्थिति दश हजार वर्षकी समझ लेती चाहिये।

अपरा स्थितिर्देशवर्षसहस्राणीति च शब्देन।

इस सूत्रमे पडे हुये च शब्द करके अपरा स्थिति, दशवर्षसहस्राणि, इस प्रकार तीन पदोंका समुच्चय यानी अनुकर्षण कर लिमा जाता है। अतः व्यंतरोंकी जचन्य स्थिति दशसङ्ख वर्ष है, यह वाक्यार्थ वन जाता है।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायामुदीरिता । भवनेषु च सा शोका ब्यंतराणां च तावती ॥ १ ॥

उनत तीन सूत्रों करके उनास्त्रामी महाराजने पहिली पृथिवीमें जवन्य आयु दस हजार वर्ष कह दी है और भवनवासिक्षोमें भी वह जवन्य स्थित उतनी ही बहुत वच्छी निरूप दी है तथा व्यन्तरोंकी जवन्य स्थिति भी उतनी ही यानी दशह्यार वर्ष कही जा चुकी है। यह उनत तीनों सूत्रोंकी एकत्रित एक वार्तिक है।

मय व्यन्तराणां परा का स्थितिरिकाहः।

अब महाराज यह बताओं कि व्यन्तरों को उत्कृष्ट स्थित क्या है ? इस प्रकार तत्त्व विज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उपास्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको उतारते हैं।

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

किन्नर आदि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्योपम काल है। स्थितिरिति संबंध:।

इस सूत्र में कहे गये परा शब्द के साथ "ियति "इम शब्दका सम्बन्ध जोड लेना चाहिये। जिससे कि व्यन्तरों की उक्तब्ट स्थिति एक परुपसे कुछ अधिक है। यों अर्थ घटित हो जाता है।

इम अवसरपर आयुष्यके प्रकरण अनुसार ज्योतिष्क देवों की स्थिति कह दी ज.य तो सुगम होगी। यो आकांक्षा प्रवर्तनेपर मूल सूत्रकार अग्रिम सूत्रका निरूपण करते हैं।

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

चन्द्रमा, सूर्य, अदि ज्योतिष्कोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पर्वय है। पर्वोपमन्धिकं परा स्थितिघटना ।

यहां भी च झब्द करके प्रकरण प्राप्त पत्थोपम. अधिक. परा, स्थिति, इन शब्दोंका समुच्चय कर यों अर्थ घटित कर लेना चाहिये कि ज्योतिष देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पत्थोपम है।

अब ज्योतिषियोकी जघन्य स्थितिका परिज्ञान कः निके लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

ज्योतिष देवोंकी जघन्य स्थिति उस पत्योपमके आठमें भाग है जो कि असंख्यात वर्षोकी समझनी चाहिये।

स्थितिञ्योतिष्काणामिति संप्रत्ययस्तेषामनंतरस्वान् ।

स्थिति और ज्योतिष्काणाम्, इन पद्यों हा अनुकर्षण कर समीचीन प्रत्यय कर सिया जाता है। क्योंकि वाक्यार्थके सम्पादक वे पद अव्यवहिन पूर्व सूत्रों में उपात्त हो रहें हैं।

> परेषामधिकं ज्ञेयं पल्योपममवस्थितिः । ज्योतिष्काणां च तद्वत्तदष्टभागोऽ।रोदिता ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने उनत तीन सूत्रों में दूसरे व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्य समझने योग्य बना दी है और उन्हीं के समान ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक पत्य नह दी है। तथा तीसरे 'तदष्टमागोपरा " सूत्र करके उन ज्योतिषियों की जनन स्थिति उस पन्यके आठवें भाग कह दी है। जैसे कि " दशवर्ष सहस्राणि प्रथमायाम् भवनेषु च व्यन्तराणां च " इन तीन सूत्रों को निलाकर एक वार्तिक इलोक बना दिया गया है उसी प्रकार ''परात्योगमधिकं, ज्योतिष्काणां च, तदष्टमागोऽपरा " इन तीन सूत्रों को मिलाकर यह एक वार्तिक इलोक बना दिया है।

यया व्यन्तराणां पत्थोपममधिकं परा स्थितिः तद्वत् ज्योतिष्काणामपि तद्वेषं सद्धः भागः पुनरवरा स्थितज्योतिष्काणां प्रतीता ।

जिस प्रकार व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पत्य उन्तालीसवें सूत्रमें कह दी है, उसी प्रकार ज्योतिष्कोंकी भी वह साधिक पत्य उत्कृष्ट स्थिति चालीसवें सूत्रमें कह दी गयी समझ लेनी चाहिये। पुनः इकतालीसवें सूत्रमें उस पत्यके बाठमे भाग ज्योतिष देवोंकी जघन्य स्थितिकी प्रतीति कराई है।

अथ मध्यमा स्थितिः कुतोवगम्यत इत्याह ।

अब किसीका आक्षो है कि मनुष्य, तियंच, देव, नारिकयों की उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थितिक। हमने परिज्ञान कर लिया है। किन्तु सूत्रकारने मध्यम स्थितियों का निरूपण नहीं किया है। बतः बताओं कि मध्यम स्थितिकों किस ढंगसे समझ लिया जाय ? ऐसा आक्षेप प्रवर्तनेपर आधार्थ विद्यानंद स्वामी वार्तिक द्वारा यों समाधान कहते हैं।

सामर्थ्यानमध्यमा बोध्या सर्वेषां स्थितिरायुषः । माणिनां सा च संभाव्या कर्मवैचित्र्यसिद्धितः ॥ २ ॥

"तन्मध्यपिततस्त ज्यहणेन गृहाते" इस नियम अनुसार चारों गित सम्बन्धी संपूर्ण प्राणियों के आपुष्यकी मध्यमिश्यित तो विना कहे ही अर्थापत्या सामध्यंसे समझ स्त्री जाती है। अर्थात् जिस पदार्थका आदि और अन्त होता है, उसका मध्य अवध्य होता है। अनन्त भूतकाल और उससे भी अनन्त गुणा अनन्त भविष्यकालका मध्यवर्ती वर्त्तमानकाल एक समय है। फिर भी आपेक्षिक वर्तमानगना बहुत समयोंको प्राप्त है। यथायंमें एक आदिके पदार्थ और एक अन्तके पदार्थको छोडकर सभी स्थानोंको मध्यमपना मुलभ है। अतः अधिक सम्मतियों (बोटों) अनुसार ग्रहण किये गये मध्यम स्थानोंको सध्यमपना मुलभ है। अतः अधिक सम्मतियों (बोटों) जाता है। और वह अनेक प्रकारकी स्थितियोंका सद्भाव तो पौद्गलिक कर्मोंके विवित्रपनकी सिद्धि हो जानेसे सम्भावना करने योग्य है। अर्थात्—अपने अपने परिणामों करके उपाजित किये गये विवित्र कर्मों अनुसार जीवोंको नाना प्रकार आयुःस्थितियां वन बैठती हैं।

ननु यद्वद्घटादीनां विचित्रा स्थितिरिष्यते । कर्मानपेक्षिणां तद्वदेहिनामिति ये विदुः ॥ ३ ॥ तेनऽनभिज्ञा घटादीनामपि तद्भोक्तृ कर्भभिः । स्थितेर्निष्पादनादृदृष्टे कारणव्यभिचारतः ॥ ४ ॥

पौदगलिक सुक्ष्म कर्मोको नही माननेनाले चार्वाक यहां स्वकीय पक्षका अवधारण करते हये आमंत्रण करते हैं कि जिस प्रकार कर्मों के सम्बन्धकी नहीं अपेक्षा रख रहे घट, पट, शकट आदि जड पदार्थोंकी विचित्र स्थितियां हो रही इष्ट कर लीं जाती हैं। उसी प्रकार इरीरधारी प्राणियोकी भी कर्मोंकी नहीं अपेक्षा रखती हुई जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, आयुः स्वरूप स्थितियां बन जाओ । इस प्रकार जो नास्तिक समझ बैठे है, आचार्य कहते है कि वे चार्वाक विचारे कार्यकारणभावकी पद्धतिको स्वल्प भी नही समझते है। क्योंकि घडा, कपडा, छकडा आदिकी भी विचित्र स्थितियोंका उनके भोगनेवाले जीवोंके कर्मीकरके उत्पादन किया जाता है। लोकमें आबालवद्ध प्रसिद्ध देखे जा रहे परिद्ष्ट कारणोंका व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात्-एक घडा दो दिन भी चलता है। जब कि उसी कुम्हार उसी मट्टी आदि कारणोसे निष्पन्न हुआ दूसरा घडा पांच वर्षमे भी नहीं फुटता है। चाक, अवा, खान, कुलाल, जल, अग्नि, थे दृष्ट कारण जब वे ही है. तब फिर दो घडोकी "टिकाऊ स्थितिमे इतना बडा अन्तर क्यों दीखता है ? इससे सिद्ध है कि घडोंका क्रम, विक्रम, करनेवाले या उसके शीतल जलको पोनेवाले अथवा फुटनेपर दबमिचकर दृ ख भगतनेवाले जीवों के पूण्य, पार, अनुसार ही जड पदार्थी का भी न्यन, अधिक काल तक ठहरे रहनेका अन्वय व्यतिरेक है। इसी प्रकार कपडे चौकी, घडियां, मशीनों, गृहो आदिका स्वल्पकालतक या अधिक का उतक टिके रहनेमें अन्तरंग प्रधानकारण उन पदार्थीके साक्षात् या परम्परया उपभोग करनेवाले जीवोंका अदुष्ट ही समझा जाता है।

सुक्षाे भूतिविशेषश्चेद्वयभिचारेण वर्जितः । तद्धेतुर्विविधं कर्मतंत्रः सिद्धं तथारूयया ॥ ५ ॥

यदि चार्वाक यों कहे कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इन स्थूल भूतोंका व्यभिचार भले घटादिकी न्यून अधिक, स्थित होनेमें आवे किन्तु व्यभिचार दोषसे वर्जित होरहा सूक्ष्म भूत विशेष उन घटादिकोंकी विचित्र स्थितिओंका हेनु मान लिया जाय। यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो बहुत अच्छा है। वही सूक्ष्म कार्मण वर्गणाओंका बना हुआ ज्ञानावरण, असाता, साता, शुमणोत्र आदि नाना प्रकार कर्म ही तो हम जैनोंके यहां उन चेतनात्मक या अचेतनात्मक पदार्थीका प्रेरक हेतु हो रहा सिद्ध है। तिस प्रकार सूक्ष्मभूतिवशेष इस नामक

करके तुमने उस हमारे अभीष्ट पौदगलिक कर्मिषण्डको ही कह दिया है। केवल नाममें ही विवाद रहा अर्वमें कोई टण्टा नहीं है।

परापरस्थितिववनसामर्थ्यात् मध्यमानेकविधा रिथितिर्वेवनारकाणां तियङ्मनुष्याणानिव संभाष्या । सा च कर्मवैचित्र्यसिद्धि प्राप्य व्यवतिष्ठते ततः कर्मवैचित्र्यमनुमीयते । स्थितिवैचित्र्यसिद्धेरन्ययानुपपतेः । कर्मवैचित्र्यामावेपि घटावीनां स्थितिवैचित्र्यवर्धनावसिद्धान्यथानुपपतिरिति येऽभ्यमन्यंत तेऽनिम्ना एव, घटावीनामिषि विचित्रायाः स्थितेस्तदुपभोक्तुप्राणिकमे

मिविचित्रीनिवंतेनात्, कुंमकारादिदृष्टतत्कारणानां व्यभिचारात् । अदृष्टकारणानपेक्षित्वे तदघटनात् । समानकुंमकाराविकारणानां समामकालबन्मनां सवृश्चक्षेत्राणां समानकारणानां च घटावीनां
समानकालस्थितिप्रसंगात्।

उदत चार वार्तिकोंका माध्य यों है कि सूत्रकारद्वारा उत्कृष्ट, जघन्य स्थितियों के प्रतिपादक सूत्रों के कयन कर देने की सामर्थ्य सित्र बन, और मनुष्यों के समान देव नारिकयों की भी अनेक प्रकार मध्यम स्थितियों की सम्मावना कर लेनी चाहिये। तथा वे उत्कृष्ट, मध्यम, जवन्य, स्यितियां तो कर्मों की विचित्रता अनुसार सिद्धिको प्राप्त होकर ब्यवस्थित हो रहीं हैं। तिन विचित्र स्थितियोंने कर्मों की विचित्रताका अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात्-योग और कषायकी मिश्रपरिणति हो रही लेश्याओं तथा अन्य कर्मीके अनुसार जीवोंकी अनेक प्रक.र आयुष्य स्थितियां बन जाती हैं। कार्यहेतु धूमसे जैसे कारणभूत अग्नि साध्यका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार विचित्र स्थितियोंके कारणभूत पौद्गलिक कर्मौकी विचित्रताका कार्यभून आयुष्य विशेषों करके अनुमान कर लिया गया है। अविनामावी एक दृश्यसे दूसरे अदृश्य पदार्थका अन्मान हो जाना प्रनिद्ध है। स्थितियोंकी विचित्रताकी सिद्धि हो जाना अत्यथा यानी कर्मी ही विचित्रताकी सिद्धिके विना नहीं बन पाता है। जो भी कोई वादी यों दोष देते हुये अभिमान कर बैठे हैं कि कर्मों हो विचित्रताके नहीं होनेपर भी घट आदि जड पवार्थीकी स्थितिओं का विचित्रपना देखा जाता है तो जीवों के भी अद्ष्ट कर्मी की कल्पना नयों की जाती है ? अत. आपकी अन्यथानुपपत्ति असिद्ध हो गई। व्यभिचार दोष उपस्थित हुआ। स्थितिकी विचित्रता होने गर भी घटादि पदार्थों ने कर्मों को विचित्रता नही पायी जाती है। बाचार्यं कहते हैं कि वे कुत्रोध करनेवाले वादी अशिक्षित हीं है। क्योंकि घट पट आदिकोंकी भी विचित्र स्थितियां उनके उपभोक्ता प्राणियों के विचित्र कर्मीकरके बनायी जातीं हैं। कुंभकार अवा, मट्टी आदि देखे जा रहे उनके कारणींका व्यभिचार हो रहा है । यदि कोरे दृष्ट कारणोंके ही अधीन माने जा रहे घटा दिकोंको अदृष्ट कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखनेवालापन माना जायगा तो विचित्र ढंगोंसे ठहरना रूप उन नानास्थितिओंकी घटना नहीं हो सकती है। जिन घटों के कुम्मकार आदि कारण समान हैं और जिन घटोंका समान कालमें जन्म भी हो रहा है, तथा जिन कतिपय घटोंका क्षेत्र भी सहुश है, एवं चक्र' अग्नि आदि अन्य कारण भी जिनके समान हैं, उन घट आदिकोंकी समान कालतक ही स्थिति

रहनेका प्रसग आवेगा । किन्तु ऐमा देखा नही जाता है। एक साथ बने हुये सौ घडोंकी किसीकी तो अवामें ही स्थिति पूरी हो जाती है। कोई चार दिनमें फूट जाता है, कोई दस वर्ष तक टिकाऊ है, यो अनेक प्रकार स्थितियां हो रही है।

मृद्गः विवासकारणसंपातवं चित्र्याद्दृष्टादेव घटास्थितिवं चित्र्यमिति चेत्, तदेव कुतः ? समानकारणादित्वेपि तेषाभिति चित्र्य । स्वकारणविशेषाद्दृष्टादेवेति चेन्न, मृद्गरादि-विनग्धकारणसपातहेनोः पुष्ठषप्रयत्नादे परिदृष्टस्य व्याभचारात् । समानेपि तस्मिन् ववचित्त-स्मातात् । समानेपि च तत्सपाते तद्विनाशाप्रतीतेः कारणांतरस्य सिद्धेः ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि विनाशके कारण हो रहे मोगरा, मुसल, मुद्गर, आदि-कोंके ठीक ठीक पतन की देखी जा रही विवित्रतासे ही घटकी स्थितिओं में विवित्रता आ जाती है। अधिक बरसे मोगरा गिर जानेपर एक परु ही ठहरकर घट फुट जाता है, निर्बर आधा-तोसे चार छह दिनमें फूटता है। शनै. शनै: भूमिमें सरगाने अथवा छोटी छोटी फटकारोको वर्षीतक घट झेल जाता है। अग्विद्वारा पाककी न्यून अधिकतासे भी स्थितिका तारतम्य है। अत. परिदृष्ट कारणोसे ही विचित्र स्थितिओको मानलो अरुष्ट कारणोंका बोझ व्यर्थ वयों ल दा जा रहा है। यों कहनेपर तो ग्रंथकार पूछते है कि भाइयो, उन घटादिकोके कारण आदिकोके समान होनपर भी वह मौंगरा आदि विनाशक पदार्थीका सम्पात ही विचित्र प्रकारका किस कारण से हुपा ? बनाओ । अथवा कारण आदि समान होते हुये भी वे मोगरा या उनके सम्पात शादि विचित्र कैसे हये ? इनका उत्तर बहन कालतक चिन्तवन वरो। सर्म चीन ज्ञान प्राप्त होनेपर तुम्ह रा लक्ष्य उस अदृष्ट कारणपर संलग्न हो जायगा। यदि झटपट तुम यो बे.ल : ठो वि मोगरा आदिका अनेक प्रकार गिरना भी उनके दृष्ट हो रहे बारण विशेषोसे ही बन रैठना है। अर्थात् कुलालका घट बनाते समय भी तरले लट्टू और ऊपरली मोंगरीमें कभी अधिक बल्से हाथ लग जाता है और कभी हलका हाथ पडता है अथवा खेलनेवाले बालकोना विसी घडेपर हलका या भारी प्रहार हो जाता है। इसी प्रकार अग्निताप या वायुके झकोरे भी न्यून, अधिक, मात्रामे लग जाते है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । वयोकि विनाशक बारण मृद्गर आदिकोंके संघातके हेतू हो रहे परिदृष्ट किये गये पुरुषप्रयत्न आदिका व्यभिचार हो रहा है। देखिये, पुरुषोंका समान प्रयन्न होनेपर भी कही उन मुद्गरादिकों का पतन होना नहीं देखा जाता है। तथा उन मृद्गरादिका समान रूपसे सम्पात होनेपर भी उन घट।दिकोका विनाश नरी प्रतीत हो यहा है। ववचित् एक डेलके मारे मनुष्य मर जाता है। वभी बन्दूककी गोर्ल से भी नहीं मन्ता है। यो दृष्ट कार-णोंका अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष हो रहा है। ऐसी दशामे अन्य अदृष्ट कारणोंकी सिद्धि हो जानेसे ही प्रवीण पृष्पोको धेर्य प्राप्त हो सकता है अन्यया नहीं।

सूक्षमो भूतविशेषः सर्वथा व्यभिचाः विज्ञितो विविधः कारणांतरिमिति चेन्, तदेव कर्माम्माक सिद्धं तस्य सूक्ष्मभूतिवशेषत्रज्ञामात्र तु निद्यते परिदृष्टस्य सूक्ष्मभूतिवशेषस्य व्यभि-चारविजतत्वासमवात्। चार्वाक (साइण्टिकिक) कहते हैं कि पृथियी आदि भूनों का एक विशेष परिणाम सूक्ष्म है, जो कि बिहरंग इंद्रियों के दृष्टिगो वर नहीं है। स्थूल परिणामकी मले ही साधा या अन्वय व्यक्तिरेक -स्यिभवार होय, किन्तु व्यक्षिचार से बिजित हो रहा नाना प्रकारका सूक्ष्मभूत ही उनका न्यारा कारण है। यो कहनेपर तो आचार्य इष्टापित्त करते हैं कि वहीं सूक्ष्मभूत तो हम आहंतों के यहां कमें पदार्थ सिद्ध है, उसका सूक्ष्मभूत विशेष यह केवल नामान्तर करना तो निराला है। अयं में कोई भेद नहीं है। हां कमों के अतिरिक्त चारों ओर देखे जा रहे सूक्ष्म भूत विशेषको व्यभिचारसे रहितपना असम्भव है। यो ग्रन्थकर्ताने कमों की विचित्रता अनुमार वा रहीं जीवों की न्यारी न्यारी पर्यायों की अनेक प्रकार उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य, स्थितियों को सिद्ध कर दिया है।

अथ किमेते ससारिणो जीवाः कर्मवैचित्र्यात् स्थितिवैचित्र्यमनुभवंतो नानात्मानः प्रत्ये-कायत्तेकात्नातः इति ? यदि नातात्नातन्तद्वाद्वासंद्राताद्यभावः स्यादेकसंतानेषि नानासंतानवत् । अथंकात्मानस्तदानुभवस्मरणावि सकमानुगपत्तिः शैर्वापर्यायोगाविति वदंत प्रत्याह ।

अब यहां अनेकान्तिमद्धांतको पुष्ट करनेके लिये प्रकरणका प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम ही किमीका आक्षेर है कि य सवारी जीव कर्नों हो विचित्रतासे हो रहे न्यितियों के विचित्र पतको अनुभव रहे क्या न्यारे, न्यारे अनेक धर्मस्वका है ? अथवा प्रत्येक धर्मके अधीन हो रहे एक एक धर्मस्वरूप है, बताओ ? प्रथमपक्ष अनुसार यदि जीव पदार्थ नाना धर्मस्वरूप है, यानी धान्यराशिके समान स्वतंत्र हो रहे अने क विज्ञानपरमाण्या परम्पर किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हुये अनेक धर्म ही जंव पदार्थ हैं, तब तो अनुमंधान, प्रत्यभिज्ञान, देन, लेन, दान दान-फरु, हिसा हिमाफरु, आदि व्यवहारोका अभाव हो जावेगा । एक संतान होने रर भी नाना सन्तानोंके समान विमर्पण आदिक नहीं हो सकेंगे। भावार्थ-अरेक विज्ञान परमाणु स्वतंत्र पडे हुए हैं। द्रन्यरू भे अन्वित होकर ओतपीत बने रहना ऐसी सन्तानको हम बौद्ध वस्तुभृत नहीं मानते हैं। अनः जैसे देवः तकी धारणा अनुपार जिनदत स्मरण नहीं कर सकता है, चन्द्रदत्त उसका अनुसंधान नहीं कर पाता है, इसी प्रकार एक घडी पूर्व देखे जा चुके पदार्थका स्वय देवदत्त स्मरण या प्रत्यभिज्ञान नही कर सकेगा। बाल्य अवस्था या युवा अवस्थाके अनुभवोका वृद्ध अवस्थामें स्मरण नहीं हो सकेगा। ऋण देना लेना, ब्रह्मवर्यं, निता, पूत्रपन आदि व्यवहार अलीक हो जःवेंगे। अब यदि द्वितीय पक्षके अनुसार आप जंन जीव आदि पदा-र्थोंको एक धर्मस्वरू ही स्वीकार करेंगे, तब तो अनुभव स्मरण आदिका सक्रमण होना नहीं बा सकेगा। वयों कि पूर्व अपरवनेका अयोग है। अर्थात्-एक धर्मस्वरूप पदार्थ दूसरे क्षणमें नष्ट होगया तो पहिला पिछलापन, नहीं घटित होनेसे क्षणिक एक धर्मस्वरूप जीवके अनुभव अनुसार स्मृति होना या प्रत्यिभज्ञान होना अथवा अनेक विचारोंका परिवर्तन होते हुए संक्रमण होना इत्यादिक परिणतियां नहीं बन सकती हैं। इस प्रकार एकान्त पक्षका परिग्रह कर बोल रहे वादीके प्रति ग्रंथकार अब समाधानको स्पच्ट कहते हैं।

ततः संसारिणो जीवाः स्वतत्त्वादिभिरीरिताः । नानैकात्मतया संतो नान्यथार्थकिया वतेः ॥ ६ ॥

जिस कारणसे कि जीवके सम्यादर्शन, सम्याज्ञान, स्वतत्त्व, योति, जन्म, शरीरद्यारण, नरकावास, मध्यलोक जावास, देव अवस्था, आदि स्वाभाविक और औगाधिक धर्मौका चौथ अध्यायतक निरूपण किया है, तिस कारण वे औपशिमक बादि पांच स्वतत्त्व, विब्रहगति आदि परिणामोंकरके निरूप जा चुके जीव नाना धर्मौके एक तदात्मकपने करके सदूप हो रहे हैं। अन्य प्रकारोंसे जीव पदार्थ सद्भून नहीं है। वयोंकि केवल एकरूप या स्वतंत्र अनेकरूप अथवा खिणक स्वरूप, नित्य स्वरूप बादि दगोंसे जीवका सत्व माननंपर अर्थिक गा होनेकी क्षति हो जाती है। नाना धर्म आत्मक पदार्थको स्वीकार किये दिना छोटीसे छोटी अर्थ किया भी नहीं हो पाती है। पूर्व स्वभावोका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण और स्थूजपरिणतिको स्थिरत स्वरूप परिणाम हुये विना जगत्का अत्यत्प कार्य भी नहीं हो सकता है।

यस्माद्द्वितीयाध्याये स्वतःवलक्षणाविभिः स्वभावैः संसारिणो जीवाः प्रत्येकं निश्चिता-स्तृतीयचतुर्योध्याययोश्चाधाराविविशेषैर्नानाविधैरध्यवसितास्ततो नानैकात्मतया व्यवस्थिताः । न पुनर्नानात्मान एवेकात्मान एव वा सर्वार्थिकियाविरहालेखामसस्वप्रमंगात् । संश्च सर्वसंसारी कीव इति निश्चितप्रायं, अभावविलक्षणस्य हि सत्त्वं तच्च नास्तीस्येकस्वमावादमावाद्वेलक्षण्यं ।

जिस कारण कि उमास्वामी महाराजने दूसरे अध्यायमे जीवके निज तत्त्व, जीवके लक्षण, आदिक स्वभावोंकरके सम्पूर्ण संमारी जीव एक एक होकर निश्चित कर दिये है और तीसरे, चौथे, अध्यायों में आधार स्थान, आणुः, लेक्ष्या, प्रवीचार, आदि नाना प्रकार विशेषना- बोंकरके जीवोंका निर्णय करा दिया है, तिस कारण ये जीव नाना एकात्मक स्वभावकरके व्यवस्थित हो रहे हैं। किन्तु किर न्यारे न्यारे स्वतत्र नाना धर्मस्वरूप ही अथवा एक धर्म स्वरूप ही जीव नहीं है। क्योंकि नानापनका एकान्त या एकपनका एकान्त माननेपर सम्पूर्ण अर्थिकियाओंका असाव हो जानेसे खरित्रपाणवत् उन जीवोंके असत् हो जानेका प्रमण होगा। अर्थिकियाओंका असाव हो जानेसे खरित्रपाणवत् उन जीवोंके असत् हो जानेका प्रमण होगा। अर्थिकियाओं करना ही सद्भूत वस्तुका निर्वेष लक्षण है। अन्य लक्षणोंमें अनेक दोष जाते हैं। संसरी जीव सद्भूत पदार्थ हो रहे है। इस सिद्धांतका हम पूर्व प्रकरणोंमें अनेक दोष जाते हैं। संसरी जीव सद्भूत पदार्थ हो रहे है। इस सिद्धांतका हम पूर्व प्रकरणोंमें अनेक दार निर्णय करा चुके हैं। तुच्छ अभाव पदार्थ मले ही असन् रही किन्नु अमावोंसे विलक्षणपना ही सत्पना है। अतः ऐसे अमाव विलक्षणपना है। अतः ऐसे अमाव विलक्षणत्व हेतुसे एक एक जीवका अनेक धर्मात्मकपना सिद्ध हो जाता है। अर्थात् अमाव यदि तुच्छ असन् है तो ऐसे अमावका विलक्षणपना वस्तुमें सन्न नहीं सकता है गौ आदि भावोंसे अक्षव आदि भाव विलक्षण। नि यस्य स विलक्षण: " परस्परमें प्रतियोगिता रखते हुए दो आदि भाव पदार्थ विलक्षण

हो सकते हैं, खरविषाणसे कोई विलक्षण नहीं है। अतः परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिस्वरूप एक स्वमावसे तदितिरिक्त अनन्तानन्त स्वभावोंका पिण्डभूत भाव यहां उस अभावसे विलक्षण समझा जाय ।

नानास्वमावत्वं जीवस्य कुत इत्याह।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि एक जीवके नाना स्वभावोंसे सहितपना भला कंसे सिद्ध हो जाता है ? ऐसी अभिलाषा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानंद आचार्य समाधानकारक वचनको कहते हैं।

जन्मास्तित्वं परिणतिं (निर्वृत्तिंच) ऋमाद्वृद्धिमपश्चयं । विनाशं च प्रपद्यंते विकारं षड्विधं हिते ॥ ७ ॥

जगत्मे निवास कर रहें संपूर्ण जीव नियमसे छह प्रकारके विकारों को प्राप्त हो रहे हैं। अतः वे अने कर स्वाववाले हैं। एक एक जीव नाना स्वमाव आस्मक है। कारण कि वे जीव जनको प्राप्त करते हें। अस्तित्वकी प्राप्त कर रहे हैं २। परिणामको धाष रहे हैं ३। वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं ४। क्रमसे एक्देश निवृत्तिस्वरूप अपस्यको प्राप्त होरहे हें ५। तथा विनाशको प्राप्त हो जाते हैं ६। इप प्रकार प्रतिक्षण हो रहे अनस्ते छह प्रकार विकारोद्धारा एक एक भाव नाना स्वभाववान् प्रसिद्ध हैं। अर्थात्—जैसे कोई बालक प्रथम उपजना है फिर कुछ दिनतक आत्मलाम करता हुआ अपना अस्तित्व स्थिर रखता है, अने क अवस्थाओं को प्राप्त करता है, हड्डी, रक्त, शरीर, बुद्धिवल आदिको बढाता जाता है, पुनः कमकमसे हीन होता जाता है, अन्तमें वृद्ध अवस्था बीत जानेपर विनाशको प्राप्त हो जाता है। यह कममे होनेवाले छह विकारोंका दृष्टांत है। किन्तु सूक्ष्म परिणतियां या अने क गुणोंके नाना अविभाग प्रतिक्छेदोंकी अपेक्षा य्गपन् भी अने क छह विकार हो रहे हैं। उत्पाद व्यय, धौंब्य, स्वरूप पर्यायों से साथ तदात्मक हो रहे द्वव्यमय वस्तुमें ये छक्क विकार अपेक्षाओं द्वारा सुघटित हो जाते हैं।

सर्वे हि भावो जन्म प्रवद्यते निमित्तद्वयवशादास्मलाभगापद्यमानस्य जायत इत्यस्य विषयत्वात् । यथा सुवर्णकटकादित्वेन । अस्तित्वं न प्रतिवद्यते स्वितिमत्तवशादवस्थामबिश्रतो र्थस्यास्तीति प्रत्ययाभिधानगोचरस्वात् निवृत्ति च प्रवद्यते सत एवावस्थांतरावाप्तिदर्शनात् परिण्णमते इत्यस्य विषयत्वात् । वृद्धि च प्रतिवद्यते अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावांतरेणाधिक्य लभमानस्य वद्धते इत्यस्य विषयत्वात् । अपक्षय च प्रवद्यते ऋमेण पूर्वभावंकदेशविनिवृत्ति प्राप्तुवतो वस्तुनोपक्षीयत इत्यस्य विषयत्वात् । विनाशं च प्रतिपद्यते, तत्पर्यायसामान्यनिवृत्ति समासाद-यतोर्थस्य नश्यतीत्यस्य गोचरत्वात् ।

चराचर जगतके सम्पूर्ण सदम्त पदार्थ जन्मको प्राप्त करते है, वयोंकि अन्तरंग, बहिरंग, दोनों निमित्त कारणोंके वशसे आत्मलाभको प्राप्त हो रहा पदार्थ " उगम रहा है '' इस जानका विषय हो जाता है, जैसे कि सोना, कडे, हंपली, आदि स्वरूप करके उपजता है। और सभी पदार्थ अपने अस्तित्वको प्राप्त कर रहे समझे जाते हैं। क्योंकि अपने अपन आत्म-लामके कारण हो रहे निमित्तोंके वशसे अवस्थाको धार रहा अर्थ "है", इस ज्ञान और शब्दका विषय हो रहा है। तथा चाहे के ई पदार्थ विपरिगतिको धारण कर रहा है। क्योंकि सत् पदायंको ही न्यारी न्यारी अवस्थाओं को प्राप्त देखी जा रही होतेसे "परिणमन करना है" इस ज्ञानका विषयपना प्राप्त है। एवं सभी पदार्थ वृद्धिको ही प्राप्त हो रहे है । क्योंकि पूर्वमें प्राप्त हो चके स्वमावों को नहीं छोड़ कर अन्य भावों करके प्रविकानका लाग कर रहे परार्थ को "बढ रहा है" यों इस ज्ञानका विषयपना नियत है। तथा सभी पदार्थ पांचरें अपअय विकारको भी प्राप्त होते हैं। क्योंकि पूर्व में उसकित किरे जा चुके भारीं की काकाने एक देश विनिवृत्तिको प्राप्त हो रही वस्तुको "कुळ कुळ क्षीगहो रहो है" इन ज्ञान शब्दका विषयपना निर्णीत है। ज्ञेय पदार्थका ज्ञानके साथ विषयविषयिमात्र सम्बन्ध है और वाच्यार्थका शब्दके साथ बाच्यवाचक सम्बन्ध (नःता) है। तथा सभी भाव विनाशको प्राप्त हो रहे जाने जाते हैं। वयों कि उस पर्यायकी सामान्यरूपसे पूर्णतया निवृत्तिको प्राप्त कर रहे अथको ' नष्ट हो रहा है " इस ज्ञानका विषयपना निश्चित है। यहां ग्रंथकारने वस्तुके स्थूल सुक्ष्म पर्याय स्वरूप छह विकारोंको साधनेवाली अपेक्षाओंको दिखला दिया है। साय में जायते, अस्ति, विपरिणमते, वदंते, अपश्लीयते, विनश्यति, इन बाचक पदोंकी योजनाके लि रे अथवा जायते बादिका ज्ञान करनेके लिये शिष्योपयोगिनी शिक्षा दे दी है। उक्त उगसे न्यून या अधिक व्यवहार करनेवाला पुरुष पयभ्रहट हो जायगा । यों विवक्षित विधिके अनुसार सम्पूर्ण भावों हे यानी द्रस्यपय गिरमक बस्तुके कम अकम रूपसे हो रहे छह विकारोको समझ लेना चाहिये।

तथा जीवा अपि भादाः सतः षड्विधं विकारं प्रपद्यते अभावविलक्षणस्वाविष्येके, तेषां यद्यवस्तुविलक्षणस्वं सत्त्वं धर्मस्तवा न सम्यगिदं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेनेकेन व्यभिचारात् अभावविलक्षणस्वं सत्त्वं धर्मस्तवा न सम्यगिदं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेकेन वस्तुत्वं तदा यक्तं ततो जीवस्य षड्विकारप्राप्तिसाधनं वस्तुत्वस्य तदिवना-भावसिद्धेः । अयासत्त्वध्रमंविलक्षणस्वं सत्त्वंधर्मस्तदा न सम्यगिदं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेकेन ऋज्ञुसूत्रविषयेण व्यवहारनयगोचरेण द्रस्येण च व्यभिचारात् तस्य षड्विकाराभावेषि सत्त्वधर्मा-व्यस्वेनाभावविलक्षणस्वसिद्धेरन्यथा सिद्धांतिवरोधात्।

तिसी प्रकार जीव भी भाव हो रहे सन् स्वरूप पदार्थ हैं। अतः छह प्रकारके विका-रों को प्राप्त हो रहे हैं। अर्थात्—सत् स्वरूपभाव होनेसे ज वों के छह विकारों की प्राप्त बन रही है। कोई एक उच्च कोटी के विद्वान् यहाँ यों कह रहे हैं कि तुच्छस्वरूप अभावोंसे विल-भण होने के कारण जीव भाव छह विकारों को धारते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उन एक अनु-पन विद्वान् अकलंक महाराजके यहाँ यदि अभाव यानी अवस्तुसे विलक्षणपना ही सत्त्व नामक धर्म है, तब तो यह हैतु समीचीन नहीं है। प्रत्येक क्षणमें होनेवाला एक परिणाम करके व्यभि-चार हो जाता है, अर्थात्-एक क्षणकी एक ही पर्याय खरविषाण आदि अवस्तुओंसे विलक्षण है। किन्तु वह अकेली एकक्षणवर्त्ती पर्याय तो छह प्रकार विकारोंको प्राप्त नहीं होती है। वस्तुके छह विकार हो सकते हैं। एक विकारस्वरूप पर्याय के पुनः छह विकार नहीं हो सकते हैं। मनवस्था हो जायगी । हां यदि वे अकलंक महाराज अभावसे विलक्षणपनको वस्तुस्व स्वीकार क ग्लें तब तो रस अकलकहेत्मं जीव भावको छह विकारोंकी प्राप्तिका साध देना समुचित है। क्योंकि वस्तु वका उस छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिके साथ अविनामाव सिद्ध हो रहा है। अब यदि अकलंक महाराज असत्त्व धर्मसे विलक्षणपन (अभावविलक्षणत्व) को सत्त्वधर्म बलानं तब भी वह अभावविलक्षणत्व हेत् समीचीन नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म ऋजुसूचनयका विषय हो रहे प्रतिक्षणवर्ती एक पर्याय करके और व्यवहारनयके विषय हो रहे अन्वित करके व्यभिचार दोष होता है। देखिये उस एक पर्याय या केवल अन्वित द्रव्यके छह प्रकार विकार नहीं हए हैं। फिर भी सत्त्वधर्मका आश्रय होनेसे उनमें अभाव विलक्षणपना सिद्ध है। अन्य प्रजारोंकी शरण लेनेपर सिद्धांतसे विरोध हो जायगा। भावार्थ-अकलंक महा-राज और विद्यानन्द स्वामी जीव आदि सदमत भावोंमें छहों विकारोंको स्वीकार करते हैं। अकलक महाराजने भावोंको छह विकारस्वरूप अनेक आत्मकपना साधते हुए " अभाव बिल-क्षगत्वात् " इस वात्तिकको कहा है और वातिकका यह विवरण किया है। " अभूतं नास्ती-त्येकरूपो भावः न हि अभावः अभावात्मना भिद्यते तद्विसद्शस्त् नानारूपो भावः इत्रया हि तयोरिवशेष एव स्यात्"। फिर भी अभाविलक्षण वका स्पष्ट अर्थ नहीं होनेके कारण ग्रंथकारको यह ऊहापोह करना पडा है। अभाव पश्से अवस्तु या अपत्वका ग्रहण करना अनिष्ट है। जब कि तुच्छ अभावोंकी कोई परिभाषा ही नहीं है तो फिर किस मर्यादाभूत पंचम्यन्तसे वस्तुका विलक्षणपना किया जाय ? अवस्तु, अद्रव्य, अभाव, असत्त्व, इन पदोंका सिद्धांत्रमर्घादासे कोई अर्थ नही निकलता है। अतः इनका विलक्षणपना या इनका रहितपना किसीका ज्ञापक हेतु नहीं बन सकता है। " वस्त्वेवावस्तुनां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्। संज्ञिनः प्रतिषेघो न प्रतिषेध्यादते का वित् । असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः, असर्वन्तिमवस्तु विशेष्यविशेषण " आदिक देवागममें गुरुवर्य श्री समन्तभद्वाचार्यके निर्णीत सिद्धांत अनुसार अ खंड पूरे " अभावविलक्षणस्वात् " का अर्थ वस्तुन्व किया जायगा, तभी अभावविलक्षण व हेतु सद्धेतु बन सकेंगा। अन्यथा अभावविरुक्षणत्वका खण्ड कर देनेपर वस्तुके एकदेश हो रही अकेली पर्याय और शुद्धद्रव्यकरके व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा। अष्टसहस्रीमें इस विषयके निर्णीत हो है जैनसिद्धांतको स्पष्ट कर लिया गया है। अद्वैत, अनेकान्त, अमाया, अखरिब-षाण, अभाव, इन सबका विवेचन हो जाता है। बौद्धोंके यहां मानी गई गोशब्दका अर्थ अगी ब्यावृत्ति जैसे गीसे भिन्न कोई वस्तु मृत पदार्थं नहीं है, उसी प्रकार अनावविलक्षणत्व भी कोई वस्तुसे न्यारा परमार्थभूत नहीं है। ऐसी दशामें यह निर्बंछ हेतु भला क्या छह विकारों को साध सकेगा ? इसकी अपेक्षा अकलंक महाराज सरलतया यदि वस्तुत्वहेत् कह देते तो

नानारूप भावकी सिद्धि सुमम हो जाती। अमाविलक्षणः वका अर्थ करने में शिष्यों को सम्हालने के लिये ग्रंथकारको प्रयःन नहीं करना पडता। बात यह है कि अकलंक महाराज अकलंक ही हैं और विद्यानन्द आवार्य भी स्वनामधन्य विद्यानन्द ही है। महान् गजराजों के विषयमें छोटे निर्बल जीवों को समालोचना करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। उसी प्रकार हम सारिस्त अल्पमित पुरुषों को उद्भट आचार्यों के विषयमें पर्यालोचना करने का कोई अधिकार नहीं है। न जाने किन किन अत्वर्य अपेशाओं अनुसार दोनों आचार्यवर्यों ने अने कान्त की सिद्धि की है। प्रतिक्षणसे लेकर "न सम्यगिदं साधन" यहां तक पाठ लिखित पुस्त कमे नहीं है, तब तो अकेले अवस्तु विलक्षणस्वस्वरूप अमाविवलक्षणस्वका केवल पर्याय और केवल द्रव्यकरके व्यभिचार दोष दे दिया जाय। ग्रंथकार विद्यानदस्वामी सद्मूत जीव अथवा वस्तुभूत जीवके छह विकारों का धारना साधते हैं। अभाविलक्षण हो रहे जोव के छह विकारों की प्राप्त होने को अन्तरंगसे नहीं चाहते है। यों अकलक महाराज के कहने से सिद्धांताविरुद्ध उसका व्याख्यान करते हुये ग्रन्थ कारने जानवयोव द्ध पुरखाओं की बातको टाला भी नहीं है। वस्तु-वस्वरूप अभाविलक्षणपना जीवों के पड़ विधा विकार प्राप्त को साध ही देता स्वीकार कर लिया है।

ननु च वस्तुत्वमप्यभावविलक्षणत्वं न जीवानां षड्विधविकारप्राप्ति साधयित तस्या-स्तित्वमात्रेण व्याप्तत्वादिति मन्यमानं प्रत्याह ।

यहां कोई नित्यंकान्तवादी शंका करता है कि बस्तुस्वस्वरूप भी "अभाविक-स्रक्षणपना "हेतु जीवोंके जन्मादि छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिको नहीं साध पाता है। क्योंकि उस वस्तुत्वकी केवित्र अस्तित्वके साथ व्याप्ति वन रही है। जन्म, परिणति, वृद्धि, अपक्षय और विनाशके साथ वस्तुत्व हेतु व्याप्त नहीं है। इस प्रकार मान रहे वादीके प्रति ग्रंथकार कहते हैं।

बिश्रतेस्तित्वमेवैते शश्वदेकात्म क्रत्वतः । नान्यं विकारमित्येके तन्न जन्मादिदृष्टितः ॥ ८॥

ये जीव आदि भाव (पक्ष) अस्तिपनको ही धारण करते हैं (साध्य)। क्योंकि सर्वेदा स्थिर रहना ऐसे एक नित्यधर्म स्वरूप हो रहे हैं (हेतु) अन्य किसी विकारको नहीं धारते हैं। इस प्रकार कोई एक विद्वान् मान बैठ है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना यथार्थ नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थों में हो रहे जन्म आदि छहों विकार देखें जाते हैं।

एतेष्विस्तित्वादिषु मध्ये अस्तित्वमेत्रात्मानो विश्विति नाग्यं पंचिवियं जन्माविविकारं तेषां नित्यैकरूपत्वात् स्वरूपेण शश्वदिस्तित्वोपपत्तेरित्थेके । तम्र सम्यक्, तेषां जन्मादिवर्शनात् । मनुष्पावीनां हि देहिनां बाल्यादिमानेन जन्मावयः प्रतीयंते मुक्तात्मनामिष मुक्तत्वादिना ते संमान्यंत इति प्रतीतिविषद्धं जीवानां जन्मादिविकारिवकल्दवयन्तम् ।

इन अस्तित्व आदि विकारोंके मध्यमें केवल अस्तित्व की हो जीव पदार्थ घारते हैं अन्य पांच प्रकार जन्म, परिणति, वृद्धि, आदि विकारों को नहीं प्राप्त होते हैं। क्योंकि वे बास्मा पदार्थ एकान्तरूपसे कुटस्थवत् निध्य हैं अतः जीवात्माओंका स्वकीयरूपकरके सर्वदा अस्तिपन ही एक धर्म बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि कूटस्थवादियों का वह कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि बालक, बालिका प्रोंतकको उन जीवों के जन्म, वृद्धि, होने आदिका दर्शन होरहा है ! जब कि मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि प्राणियों के बालकपन, युवापन, वृद्धपन, आदि अवस्थाओं द्वारा जन्म विपरिणाम, वृद्धि, आदि विकार होरहे प्रतीत होते है तो इसी प्रकार शुद्ध परमात्मा मनन प्रात्माओं के भी मनतपने, सिद्धाने स्वात्मनिष्ठा, अगृहलध्य आदि धर्मी करके वे जन्म आदिक सम्भव रहे हैं। अर्थात्-चौदहमे गुणस्थानके अन्त में मृक्त जीव उत्रजते हैं। वे सदा शृद्ध चिदानन्द, अवस्थाद्वारा आक्ष्मलाम (अस्तित्व) करते रहते हैं। सिद्धोंके सम्पूर्ण गुणों मु परिणाम होते रहते हैं। अगुरु अबु गुणके द्वारा हानि, वृद्धियां, भी कतियय गुणों की पर्यायों म होरही हैं। संसारी ान, कर्मनम्बन्य ऐन्द्रियिकज्ञान, कवायें आदिका नाश हो वृक्ता है। अयहा उत्तर समयमें पूर्व परिणतियों का विवाश हो रहा है। बात यह कि जो परार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रीव्य, इनसे युक्त होरहा सत् है। उममें जन्म आदि छक्त विकार सूलमत्या सम्भव जाते हैं। इस कारण कुटस्थवादी पण्डिनों का जोबों के जन्म, अस्तिपन, आदि विकारोंसे रहितपनका निरूपण करना लोकप्रसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध प्रतीतियों से विरुद्ध है।

जन्मादयः प्रधानस्य विकाराः परिणाभिनः । तत्संसर्गात्प्रतीयंते भ्रांतेः पुंसीति चैन्न वै ॥ ९॥

यहां कियल मतानुयायियों का पूर्वपक्ष है कि परिणामों के धारी प्रधानके विकार जन्म आदिक है। उस प्रकृतिका मंसगं हो जाने से भ्रान्त ज्ञानद्वारा पृष्ठषमें जन्म आदि प्रतीत हो जाते हैं। भावार्थ-सांख्यों के यहां प्रकृति के विकारों का होना अपीष्ट किया है। कूटस्य, नित्य, अपिणामी, आत्माके कोई जन्म आदि विकार नहीं होते है। जपाकुसुमकी ललाई जैसे स्फिटिकमें प्रतिमास जाती है उसी प्रकार भ्रान्ति के वज्ञ संसारी जीवों को वे जन्मादिक विकार आत्मामें होग्हें दीख जाते हैं। "तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनादिवलिङगम्। गुण कर्नृत्वेऽपि तथा कर्त्ते भवत्युदासीनः (सांख्यकारिका)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो कथमि नहीं कहना क्यों कि जब वे पुरुष में निश्चितक्ष्यसे हुये प्रतीत किये जाते हैं, आत्मामें होरहे जन्म आदि विकारों के दर्शकों को भ्रान्त कहने का तुमको कोई अधिकार नहीं है। सम्यग्जानियों को मिथ्या- ज्ञानी कहनेवाला स्वयं अनन्त भ्रममें पड़। हुआ है।

तेषां भावविकारत्वादात्मन्यप्यविशोधतः । जन्मादिरहितस्यास्याप्रतीतेर्भोत्यसिद्धितः ॥ १०॥ वे जन्म आदिक छऊ विवर्तभावों के विकार हैं। अतः भावपदार्थ माने गये आत्मा में उनके होने का कोई विरोध नहीं है। जन्म आदिक से रहित होरहे इस आत्मा की आजतक भी प्रतीति नहीं होती है। अतः जन्म आदिको धारनेवाले आत्मा के जानन में भ्रान्ति होनेकी असिद्धि है। देवदत्त जन्म स्नेता है, वह जिनदत्त आनन्द पूर्वक रहता है, भोजन करता है, मोटा होता है, देवदत्त सर जाता है, इन सच्चे ज्ञानों में भला भ्रान्ति होने की कौनसी बात है? विपरीत रीतिओंको गढकर तुमन तो अन्धेर नगरी समझरखी हैं।

विकारी पुरुषः सत्त्वाद्वहुधानकवत्तव । सर्वथार्थिकियाद्दानेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ११ ॥

पुरुष (पक्ष) विकरों का धारी है (साध्यदल) सत् होनेसे (हेतु) प्रधानके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-तुम सांख्यों को प्रकृति के सामन पुरुष भी सत् होने से विकार वाला मानना पड़ेगा। अन्यथा यानी आत्मा मे विकार नहीं मानने पर तुम्हारे यहाँ सभी प्रकार अर्थिकिया होने की हानि हो जावेगी और अर्थिकिया की हानि हो जानेसे उसके व्याप्य होरहे सत्त्वकी भी हानि हो जावेगी। ऐसी दशामे अद्यविषाणके समान आत्मा असत् पदार्थ हो जाता है।

यया हि प्रधानं भावस्तथात्मापि सन्नभ्युपगंतन्यः । सत्तवं चार्थक्रियया न्याप्त तदभावे सपुष्पवत्सत्त्वानुपपत्तेः । सा चार्थिक्रिया क्रमयौगपद्याभ्यां न्याप्ता, तद्विरहेर्थिक्रियाविरहात्तद्वत् । ते च क्रमयौगपद्ये विकारित्वेन न्याप्ते, जन्मादिविकाराभावे क्रमाऽक्रमविरोधात्ततः सत्त्वमभ्युपगच्छता पुरुषे जन्मादिविकारोभ्युपगन्तन्योन्यया न्याप्यन्यापकानुपलन्धेरात्मनोऽसत्त्वप्रसवतंरित्युक्तयायं ।

जिस ही प्रकार प्रवान "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः "भावपदार्थ है, उसी प्रकार आत्मा भी सत् पदार्थ स्वीकार करलेना चाहिये और सत्त्व तो अर्थिकिया करके व्याव्त होरहा है। क्योंकि उस अयंकिया के नहीं होने पर आकाशकुमुमके समान किसी को भी सत्पना नहीं सिद्ध होपाता है तथा वह अर्थिकिया मी कम और योगपद्य के साथ व्याप्त को रख रही है यानी कोई भी अर्थिकिया होगी वह कम मे या युगपद ही होसकेगी। उन कम और योगपद्य के विना अर्थिकिया होने का अभाव है, जैसे कि उस आकाशपुष्प में कम योगपद्योंके न होने से कुछ भी अर्थिकिया नहीं होपाती है और वे कपयोगपद्य भी विकारसहितपन के साथ व्याप्त होरहे प्रतीत हैं। क्योंकि जन्म, अस्तित्व, आदि विकारों के नहीं होनेपर कम या अकप से कुछ भी होने का विरोध है। तिस कारण आत्मा में सत्त्वधर्म को चाहने वाले कापिलों करके जन्म आदि विकार होना अवस्य स्वीकार कर लेना चाहिये। अन्यथा व्याप्य (के) व्यापकोंकी अनुपलव्धि होजाने से आत्मा के अन्त्व का प्रसंग होजावेगा, इस अनुकूल तर्कका हम कई बार पहिले प्रकरणों में निरूपण करचुके हैं। सत्वका व्यापक अर्थिकिया होना है तथा अर्थिकिया का व्यापक कम और योगपद्य है तथा उन कमयोगपद्योंका व्यापक विकारसहितपना है। जन्म आदि

विकारों को नहीं मानने पर उसके व्याप्यव्यापक होरहे सत्त्वका अभाव होजाता है जहां घड़े में जीवत्त्व ही नहीं है वहां मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, नहीं होते हुये गौडत्व भी नहीं ठहर पाता है। अतः प्रकृति के समान आत्मा के भी छह विकार होरहे मानने पढेंगे।

जायंते ते विनश्यंति संति च क्षणमात्रकं।
पुमांसो न विवर्तते वृद्धचपक्षयगाश्च न ॥ १२ ॥
इति केचित्पध्यस्तास्तेष्येतेनेवाविगानतः।
विवर्ताद्यात्मतापाये सत्त्यस्यानुपपत्तितः॥ १३॥

आत्मा को सर्वथा नित्य माननेवाले कापिलों का विचार कर अब आत्माको सर्वथा अनित्य माननेवाले बोढों के साथ परामर्श किया जाता है। बोढ कहते है कि वे पुरुष (जीव) उत्पन्न होते है और नष्ट भी होजाते है तथा एक क्षणमात्र निवास करते हुये अहितस्वरूप भी हैं। किन्तु जीव विगरिणाम नहीं करते हैं तथा वृद्धि और अग्न्यय को प्राप्त करनेवाले भी नहीं हैं। अर्थात्-छह विकारों मे पहिला जन्म, दूसरा अस्तित्व, और छठा विकारों का नाझ इन तीन विकारोंको हम जीव में स्वीकार करते हैं। तीसरे विपरिणाम, चौथी बृद्धि, पांचवां अपक्षय, इन तीन को मानने की आवश्यकता नहीं हैं आप जैनोंने भी तो सत् पदार्थ में उत्पाद, ब्यय, घौव्य, इन तीन ही धर्मों को स्वीकार किया है। ऐमा यहांपर कोई क्षणिकवादी कह रहे हैं। प्रत्यकार कहते हैं कि वे भी इस निर्दोष उक्त कथन करके ही भले प्रकार प्रध्वंस को प्राप्त कर दिये गये हैं। क्योंकि विपरिणति स्वरूप विवर्त्त आदि तीन स्वरूप विकारोंका अभाव माननेपर जीवों के अञ्चल्ण सत्त्व की ही अनुपपत्ति है। अर्थात्-छहों विकारोंके होने से जीवों का सदभाव बन सकता है। अन्यथा वन्ध्यास्तनन्ध्य के समान जीव असत् होजायेंगे।

यथैव हि जन्मविनाशास्तित्वापाये क्षणमिति न परमार्थसत्वं तथा विवर्तनपरिवर्धन-परिक्षयणात्मकत्वापायेषि तथा प्रतीयते, अन्यथा कूटस्थात्मनीव खे पुष्पवद्वा चेतनस्य सत्वानुपपत्तेः।

सीगत कहते हैं, चूर्कि जिस ही प्रकार जन्म, विनाश, और अस्तिस्व का निराकरण माननेपर क्षणिकपन इसप्रकार परमार्थ रूपसे सत्पना नहीं बनपाता है, उस प्रकार विपरिणाम परिवृद्धि, अपक्षय, आत्मकपना नहीं मानने पर भी तिस प्रकार क्षणिकपना वस्तुभूत प्रतीत होजाता है। अन्यथा कूटस्थ आत्मा में जैसे सत्त्व नहीं है अथवा जैसे आकाश में पुष्पका सत्त्व नहीं है, उसी प्रकार चेतन के सद्भाव की असिद्धि बन बैठेगी अथवा इस पंक्ति का अर्थ यों कर लिया जाय। आचार्य कहते है कि जिस ही प्रकार जन्म विनाश और अस्तित्व को नहीं माननेपर बौद्धों के यहां क्षणिक पदार्थ में वस्तुमूत सत्पना नहीं आसकता है, उसी प्रकार परिणति वृद्धि, और अपक्षय स्वरूप पदार्थ को नहीं माननेपर भी तिस प्रकार वास्तिवक सत्पना नहीं प्रतीत होरहा है। अन्यथा यानी तीन को माना जाय और विवर्तन, परिवर्द्धन, परिक्षय इन तीन को

नहीं माना जाय तो कूटस्य आत्मा में जैसे परमार्थ सत्त्व नहीं है या आकाश में पुष्प की जैसे बस्तुमूत कत्ता नहीं है, वंसे ही चेतन जीव के वास्तविक सन्पना नहीं बन सकता है।

स्वमावांतरेणोपपत्तिरेव परिणामो वृद्धिश्चाधिकयेनोत्पत्तिरपक्षयस्तु विनाश एवेति न षड्विकारो जीव इति चेन्न, अन्वितस्वभावापित्यागेन सजातं सेतरस्वभावांतरमात्रप्राप्तेः परिणामस्वादाधिवयेनोत्पत्तेश्च वृद्धिस्वादेशतो विनाशस्वापक्षयः वात्परिणामादः नां विनाशोत्पादा-स्तित्वेभ्यः कथं चिव्येशेदयचनात्।

बौद्ध कहते हैं कि किसी भी पदार्थ का अन्य न्यारे स्वभावों करके बन जाना ही तो परिणाम है और विद्यमान स्वभावों से अधिक पने करके उत्यक्ति होजाना वृद्धि है। अपक्षय तो विनाश ही है। यों परिणाम तो अस्तित्व में और वृद्धि जन्म में तथा अक्षय विनाश में गीनित हो जाते हैं। इस कारण तीन विकारों वाला ही जीव हुआ। छह विका ों वाला जीव सिद्ध नहीं होसका। सन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। बयोकि तुम्हारा किया गया यह परिणाम, वृद्धि, अपक्ष-यों का लक्षण बहुत बिख्या नहीं है। सिद्धान्तमुद्धा से इनका लक्षण यह हैं कि माला में सूत के समान बोत पोत होरहे अन्वित स्थभावों का परित्याग नहीं करके सजानीय और उनसे भिन्न विजातीय ऐसे न्यारे न्यारे स्वभावों की केवल प्राप्ति होजाना परिणाम है और द्रव्यके स्वरूप होरहे स्वभावों का त्याग नहीं कर स्वभावों की अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि नामका विकार है तथा ध्रुव स्वभावोंका परित्याग नहीं कर एकदेशसे कितपा अशों का विनाश होजाना अपक्षय है। अतः परिणाम आदि तीन विकारों का विनाश, उत्पाद, अस्तित्व, इन तीन विकारों से कर्याचत् भिन्नपने से निरूपण किया गया है। अतः जीवके छही विकार मानना ममुचित है। उत्पाद, व्यय, ध्रीव्यों की साध्य अवस्था और साधन अवस्थाओं पर लक्ष्य देनसे जीववस्तु या अन्य-वस्तुओं के छह विकार मुलभतया सध जाते है।

जीवस्यान्वितस्वभावासिद्धेर्यथोक्तपरिणामाद्यनुपयित्तिरिति चेन्न, तस्य पुरस्तादन्वितम्ब-भावस्य प्रमाणतः साधनात् । ततो न जीवस्यैकानेकात्मकत्वे साध्ये सत्त्वादित्यय हेतुरसिद्धोऽनै-कांतिको विरुद्धो वा,जन्माद्यनेकविकारात्मकत्वाधायेऽन्वितैकत्वभावा नःवे च सवया सत्त्वानुपपत्ते. ।

बौद्ध कहने हैं कि सर्वथा क्षणिक होने के कारण जीव के सदा अन्वित होरहे स्वमावों की सिद्धि नहीं हो पाती है। इस कारण पूर्व में वहें अनुमार परिणाम आदिका युवितपूर्वक बनना नहीं होता है। अर्थात्-भाप जैनोंने अन्वित स्वमावों का परिस्थाण नहीं करना तो परिणाम आदिकों का घटकावयव बना दिया है। केवल एकक्षण ठहर कर द्वितीयक्षण में समूल चूल नब्द होजाने वाले क्षणिक पदार्थ में अन्वित स्वभाव नहीं पाये जाते हैं। प्रति दिन दो आनं कमाकर दोनोंही बानों का ब्यय कर देनेवाले घसखोदा के यहाँ सवित द्रव्य नहीं मिलता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पूर्वप्रकरणों में उस जीव पदार्थ के अन्वित होरहे स्वभावों की प्रमाणसे सिद्धि कर दी गयी है। अनादि, अनिधन, अन्वेता, भाव, जीवद्रव्य है। इसको अकाटच युवितयों से साध दिया गया है। तिस कारण जीवके एक अनेक आत्मकपना

साध्य करनेपर दिया गया। सत्त्वात् यह हेतु असिद्ध नहीं है। अयवा अनेकान्तिक या विरद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। जन्म, अस्तित्व आदि अनेक विकार स्वरूपपना नहीं माननेपर और अन्वित होरहे एकत्व भावका अभाव माननेपर सभी प्रकारोंसे सत्पना नहीं बन सकता है। सर्वथा नित्य पदार्थमें जन्मादिक नहीं होनेसे सत्त्व नहीं है। सर्वथा क्षणिकमें अन्वित एकत्वके नहीं होनेपर सत्त्व नहीं बन पाता है। अतः "नानेकात्मतया सन्तो नान्यथार्थिकयाक्षतेः" और "विकारीं पुरुषः सत्त्वाद्वहुधानकवत्तव" इन वात्तिकों में कहा गया सत्त्व हेतु निर्बोष है।

एतेनानेकवाग्विज्ञानविषयत्वमात्मनो निवेदितं।

जीवके होरहे छह विकारोंको साधनेवाले इस कथन करके आत्माके अनेक वचन और विज्ञानोंका विषयपना भी निवेदन किया जा चुका समझ लेना चाहिये। अर्थात्—वाच्य अर्थकी अनेक परिणितियों अनुसार एक अर्थके अनेक वाचक शब्द प्रयुक्त कर दिये जाते हैं जैसे कि एक घडेमें "मिट्टीका है" नवीन है, बडा है, सुन्दर है, पुष्ट है, लाल है। इत्यादिक शब्दप्रयोग अनेक परिणितियोंके अनुसार हो जाते हैं। इनसे भी अधिक परिणितियोंके अनुसार उस घट विषयमें अनेक ज्ञान उपज जाते हैं। अतः अनेक शब्द और नाना विज्ञानींका योचर हो जानेसे घटके सनान जीवातमा एकानेक आत्मक है। यह हेतु भी व्यभिचारादि दोखोंसे रहित है।

तयाने कशक्तिप्रचितःषं, वस्त्यंतरसंषंधाविर्मृताने कसंबंधिकपत्यं, अन्यापे भाने करूपोत्क-र्षापकर्षपतिरणगुणसंबंधित्यं, अतीतानागतवर्तमान कालसंबंधित्यं, उत्पादव्ययध्रीव्यपृक्तत्यं। अन्वयव्यतिरेकातमकत्वं च समर्थितं । तस्य जन्माविविकारषद्कप्रगंचाः मकत्वास्यत्वव्यापकत्वो । पपत्तः । सत्त्वान्ययानुपपत्या प्रसिद्धं च तत्सर्वमे कात्मकत्वपने कात्मकत्वं च जीवस्य साध्यति तदम्यतरापाये अनेक वाग्विज्ञानविषयः वाद्यनुपपत्तेः । तदनुपपत्ती सत्त्वानुपपत्तेश्च जीवतत्त्वा-व्यवस्थितिप्रसंगात् ।

तथा सत्त्वहेतुकी पुष्टि करनेवाले उक्त कथनसे अनेक शक्ति प्रचितत्त्व, वस्त्वंतरसम्बन्धाविर्मूतानेकसम्बन्धिरूप्य, अन्यापेक्षानेकरूपोरकर्षापकर्षपरिणतगृणसम्बन्धित्व, अतीतानागतवर्तमानकालसम्बन्धित्व, उत्पादन्यपद्मीन्ययुक्तत्व, अन्वयन्यितरेकात्मकत्व इन हेतुओंका
भी समर्थन कर दिया गया है। भावार्थ:—घृतमे अनेक शिक्तियां हैं। घोका खा लेना शरीरको
चिकना करता है, तृष्टित करता है, शरीरको बहाता है, चरक संहितामें लिखा है।
" स्मृतिबुद्धघिनगुक्कोजः कफमेरो विवर्द्धां। वातिपत्तिवियोनमाद शोषालक्ष्मीज्वरापहम्।। १।।
सर्वस्नहोत्तमं शीतं मधुरं रसगाकयोः। सहस्रवीर्यं विधिनिर्वृतं कर्मसहस्रकृत्। २।।
अथवा अग्न जैसे दाह, पाक, शोष, स्फोट, आदि अनेक कार्योको करनेकी स्वात्मभूत शिक्तयाँसे खित हो रहीं है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य, वीर्यं, आनन्द, सम्यग्दर्शन बादि गुण
स्वरूप शिवतयों करके अथवा सामायिक, ध्यान, अध्यापन, दान, उपभोग, सत्य, ब्रह्मचर्यं, योग,
पर्याप्ति बादि पर्याय स्वरूप शिवतयोंकरके पिण्डभूत हो रहा है। अतः एक अनेकात्मक है।

तथा जिस प्रकार एक घट दूरवर्ती, निकटवर्त्ती, नवीन, पुराना, देवदत्तसे बनाया गया, यज्ञदत्त का स्वामिपना, आदि न्यारे न्यारे वस्तुओं के सम्बन्धसे अने क सम्बन्धी स्वरूप प्रकट है, उसी प्रकार आर्यक्षेत्र, म्लेच्छस्थान, पंचमकाल, क्रव्यसहितपना, स्त्रीपुत्रमहितपना, पंचेन्द्रियता, भेष्ठकुल, यशः, सुगुर, कुगुरु, कुभोजन आदि अनेक वस्तुओं के सम्बन्धसे यह आत्मा अनेक सम्बन्धी स्वरूप हो रहा है। इस हेतुसे आत्मका सत्त्वपना सम्रता हुआ एकानेकात्मकपनको साध देता है। एवं जैसे एक घडा अन्य व्यंजक पदार्थों की अपेक्षासे व्यंग्य हो रहा अनेक स्वरूप उत्कर्ष, अपकर्ष परिणतिको धार गहे रूपादि गुणोंका सम्बन्धी हो जानेसे एकानेकात्मक है, उसी प्रकार आत्मा संस्थात, असंस्थात, अनन्ते, उत्कर्ष अपकर्ष आत्मक परिणतिवाले गुणोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है तथा यह अनादि अनिधन आत्मा अतीत अनागत, वर्तमान कालोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है। अर्थात् - भूतकालकी स्वकीय पर्यायोंसे सम्बन्धी हो चुका है। वर्तमान कालीन पर्यायोके साथ तदात्मक हो रहा है और भविष्यकालीन निज पर्यायोंके साथ ससर्ग करेगा। बनारसमे गंगा जलको देखनेवाला यों कह देता है, यह जल कानपुरमें बह चुका है, यहां बह रहा है, पटनामें बहेगा। इस प्रकार एक आत्मामे अनेक कालवर्ती परिणतियोवा संसर्ग होते रहनेसे एकानेकात्मकरना है। गम्भीर दृष्टिमे विचार किया जाय तो तीनों कालकी परिणतियोका किसी भी कालके परिणामपर स्थल या सुक्ष्म सम्कार बना रहता है। " होनहार विरवानके होत चीवने पात " "पूतक लक्षण पालनेमें ही दीख जाते हैं "ये किवदन्तियां व्यथं नहीं है। "तादृशी जायते बुद्धियादृशी भवितव्यता" यह शिक्षा रहस्यसे रीती नही है। बाल्य अवस्थाका पुष्ट, गरिष्ठ भोजन वृद्ध अवस्थातक प्रभाव डालता है। व्यायाम करनेवालेका शरीर अन्ततक दृढ बना रहता है. छोटे हृदयका पुरुष होजानेपर भी तुच्छताको नही छोडता है। जब कि महामना, उदान पुरुष कैसे भी अवस्थामें अपने बडप्पनको विना प्रयत्नके बनाये रखता है। भविष्यमें आंधी या मेघवृष्टि आनेवाली है इसका परिज्ञान वर्तमानमे हो रही पृथिवी, वायु, जल, आदिकी सूक्ष्म परिणतियो अनुसार कीट, पतंग, पशु पक्षियों कको हो जाता है। जहां मन्त्य या तिर्यंचोका उपद्रव नहीं हुआ, नहीं होरहा है, नही होगा, ऐसे स्थलकी परीक्षा कर झीगुर, बरं, मकडी, मोहार, खंटमल, भोरी, आदि कीट निवासस्थानोंको बनाते है। उनमें यहां वहांसे कीट या अन्य पूर्गल लाकर रखते है। बन्चोका शरीर बनाते है, इत्यादि अर्थिकियाओसे सिद्ध है कि असख्यात अनन्त वर्षीतक की पहिली पीछी, पर्यायोंका चाहे निसी भी एक पर्यायपर थोडा प्रभाव उद्दिकत रहता है। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना अनन्तभवींतक चली जाती है। मोक्ष होनेके पहिले अर्ध पुद्गलपरिवर्तनव क आदिमें हुये सम्यग्दर्शन परिणामकी सध्यके अनन्त भवोमें कुछ अनिर्वचनीय वासना छाई रहती है। शब्दकी उत्पादक स्थानसे सैकडों हजारों कोमतक लहरें उठ बैठती हैं। हंगना, मूरना, भोजन करना, शयन करना इन कियाओमें कितनी ही आगे पीछे तक वैसी वैसी परिणति होती रहती हैं। चेतन और अचेतन पदार्थों की वर्तमानकालीन परिण-तिको देखकर वैद्य या ज्योतिषीय विद्वान् भूत, भविष्यकी परिणतियोंका परिज्ञान करलेते हैं।

बात यह है कि जैनसिद्धांन अनुसार द्रश्यको निःय माना गया है। इसमें बडा अच्छा रहस्य है। किसी भी पर्यायसे आकांत हो रहा द्रव्य अपने परिवारकी शक्तियोंपर अभिमान कर रहा सदा सर्वत्र अन्वित हो रहा है। जैसे कि पचास लाख रुपयों के अधिपति सेठकी बीस दुकानों में किसी भी दुकानपर विशेष समस्याकी अवस्थामें प्रचास लाखका उत्तरदायित्व झेल लिया जाता है, उसी प्रकार द्रव्यको भूत, वर्तमान, भविष्यकालीन चाहे किसी भी पर्यायमें अनाद्यनन्त द्रव्य अन्वित रहता है। एक एक पर्यायमें अनन्तानन्त स्वमाव विद्यमान हैं। जितना गहरा प्रविष्ट होकरके देखेंगे उतना ही अटूट घन दीख जात्रेगा । यों एक वस्तुमें तीनों काल सम्बन्धी परिणामों की अपेक्षा अने कात्मक रना है। तथा उत्पाद, व्यय, ध्रीव्योंसे युक्त होने के कारण एक द्रव्य अने कात्मक है। एक वस्तुमें अनेक उत्पाद हो रहे हैं, उतने ही विनाश हो रहे हैं, स्थितियां भी उतनी ही अनन्तानन्त हैं। उत्पन्न, उत्पद्मपान, उत्प स्यमान, आदि भेदोंसे अनेक चमत्कार वस्तुमे हो रहे है। वस्तुके सपूर्ण अन्तरंग बहिरंग अभिनयोंको सर्वज्ञदेव जानते हैं। घडा उपजता है, कुशूल विनशता है, मट्टी ध्रुव है, बाल्य अवस्था नष्ट होती है, युवा अवस्था उपजती है । मनुष्याता स्थिर है, ऐसे स्युल उत्पाद शादिको गमारतक जानते है। इसी प्रकार अन्वय, व्यतिरेक, स्वरूप होतसे आत्मा एकानेकात्मक है। जीवत्व, ज्ञातापन, दुष्टापन, भोनतापन, आदि स्वभावों हरके अन्वय बन रहा है, और ववन विज्ञानों द्वारा व्यावृत्तिके विषयभूत स्वभाव या जायेत, अस्ति, आदि धर्म, गति, इदिय, काय, इन विजक्षण परिणतियोंसे आत्मा व्यतिरेक स्वरूप है। इस प्रकार विपक्षमें बाधक प्रमाणों को दिखनाते हुए अनेक शक्ति प्रचितत्व आदि हेतुओं की एकानकात्मान साध्यके साथ ब्याप्तिका सपर्यन किया जा चुका है। क्योंकि वे " अने कवारिवज्ञान विषयः व " आदिक तो जन्म प्रादि छह विकारों के प्रयंच स्वरूप है । अतः इनको सत्त्रका व्यापकाना बन जाता। सत्त्रके साथ हो रही अन्ययानुपपत्ति करके प्रसिध्द हो रहे वह सब हेत् जीव के एकानेत्मकपनको साथ देते है। उन सत्व या एकानेकात्मकपन दोनों मेसे किसी एकका भी अभाव मानने पर "अनेकवागविज्ञानविषयत्व" आदि हेतूओंकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी और उस अनेक वचनों या अनेक विज्ञानोकी गोचरता आदिकी सिद्धि नहीं होने पर सत्वकी असिद्धि होजानेसे जीव तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग आवेगा।

तत्र जन्मावि विकारप्रयंचस्याविद्योपकित्यत्वे क्रमाक्रमयोरप्यविद्योपकित्यत्वप्रसिवतः। ततस्यार्थिकियाप्यविद्याविकृभितैवेति न सस्वं परमार्थतः प्रसिद्धेत् । तत एव संविन्मात्रं तस्य-नित्ययुक्तं, तस्य ब्रह्माद्यद्वेतववप्रतीतेरिति प्रपंचेन सम्धितत्वात् । नानैकात्मतया प्रतीतेरंतर्बहिश्च सुनिद्यतासंभवद्वाधकत्वसिद्धेश्च सिद्धौ नानैकात्मको जीवः ।

उन जीव वस्तुओमें जन्म, अस्तित्व, आदि विकारों के प्रांचको यदि बौद्ध मिथ्याज्ञान होरही अविद्यासे कल्पना किया जा रहा मानेंगे, तब तो ऋप और अक्रमको भी अविद्यासे उपकल्पित होनेका प्रसंग आवेगा और उससे फिर अर्थिकिया भी अविद्याकी ही चेष्टा समझी जावेगी। इस प्रकार परमार्थरूपसे खीवमें सत्यना प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा। व्यापक ही यदि मनगदन्त है

तो व्याप्य अवश्य झूंठी कल्पनाका विषय माना जावेगा। इस सर्भाग्यसे मिले हुए अवसरपर योगाचार बौद्ध यदि यों कहे कि तिस ही कारणसे यानी जन्म, कम, अकम, अयंकिया, आदि बहुर्मूत पदार्थों की ठीक ठीक सत्ता नहीं बन सकने से हम अंतरग शुद्ध सम्वेदनकों ही वस्तुमूत तत्त्व मानते हैं, कार्यं कारण, आधार आधेय, इत्यादि सब व्ययंका झगड़ा है। आचार्य कहते हैं यह केवल सम्वेदनाद्वेतका स्वीकार कर लेना भी युक्तियों रहित है। क्यों कि बह्याद्वेत, शब्दाद्वेत, आदिके समान उस सम्वेदनाद्वेतकी भी कदाचित् प्रतीति नहीं होती है। इस बातका हम पूर्व प्रकरणों में विस्तार करके समर्थन कर चुके है। वहां देख लो। यहां यह कहना है कि सभी आत्मा आदि और सभी घट आदि अन्तरंग, वहिरंग, पदार्थों की एक अनेकात्मकस्वरूपसे प्रतीति हो रही है तथा बाधकप्रमाणों के असम्भवका अच्छा निश्चय हो चुकना मिद्ध है। अतः यों अनेक धर्मों के साथ तादातम्य सिद्ध हो जानेपर जीव एक अनेक आत्मक हो रहा सिद्ध हो जाता है।

ततः स्वतत्त्वादिविशेषचितनं घटेत जीवस्य नयप्रमाणतः । क्रमाद्यनेकांतत्त्या व्यवस्थितेरिहोदितन्यायबलेन तत्त्वतः ॥१४॥

तिस कारण जीवके निज तत्त्व आदि विशेषोका चिन्तन करना नयो और प्रमाणोंसे घटित हो जावेगा। क्योंकि कम अकम अर्थिकथा आदि करके अनेकान्त रूपसे जीवकी व्यवस्था हो रही है। इस अनेकान्तका यथार्थरू से कहे जा चुके न्यायकी सामर्थ्यसे यहां चौथे अध्यायमें प्रकरण अनुसार विवेचन कर दिया गया है।

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार चौथे अध्यायका दूसरा आन्हिक यहांतक समाप्त हो चुका है।

यहां विशेष यों कहना है कि राजवांतिक और सर्वार्थसिद्धि में "लौकान्तिकानामण्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्" इस सूत्रकी व्याख्या की है। मुद्रित इलोकवांतिक में 'तदष्टभागोऽपरा' इस सूत्रपर चौद-हवांतिकों को बनाकर विवरण करते हुए श्री विद्यानन्द आचार्यने पदचात् चौथे अध्यायको समाप्त कर दिया है। लिखित पुस्तक में बारहवीं वांतिक के प्रथम त्रुटिका चिन्ह देकर "लोकान्तिकानां" इस सूत्रको लिखा है। किन्तु वह पीछे क्षेपण किया हुआ प्रतीत होता है। "तदष्टभागोऽपरा" इस सूत्रको चौदह वांतिक और उनके विवरण में कही भी ऐसा स्थान नहीं मिलता है जहां कि "लोकांतिकानाम्" इस सूत्रको खाल दिया जाय, पहिले पोछेके प्रकरण पूर्वापर सगतिके लिय हुये जकड रहे हैं। ग्यारहवी और बारहवी वांत्तिक के बीच में इस सूत्रको चुसेडना कथमपि शोभा नहीं देता है। वयोंकि पहिले ग्यारहवी वांतिक में नित्यंकान्त वादी सांस्यको आत्माके छह विकारोंका होना समझाकर लगे हाथ बारहवीं कारिकामें क्षणिकवादी बौदोंको भी आत्माके छह विकार होना समझाके प्रकरण चलाया है। अतः यहां लोकान्तिक, सूत्रका डालना अशोभन जचता है। वांतिकोंकी संख्याके अंक भी ठीक आ रहे है। यदि मध्यमें सूत्र पड जाता तो वार्तिकोंकी

गणनाके अंक बदल जाते। अनेकान्त सिद्धिके प्रकरणका आरम्म होनेके प्रथम " व्यक्तिचार विजितःवासम्मवात् " इप पंवितके परली और यह सूत्र डालना उचित जचता है। किन्तु यहां भी पूर्व प्रकरणके कर्मवैचित्रयकी संगति जुड रही होनेसे स्वल्प भी स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतः अनुमित होता है कि यह सूत्र मुलसूत्र हरसे विद्यानंद स्वामीको अमीष्ट नहीं है। लोकान्तिकानां इत्यादि सूत्रको अपेक्षा "तदब्टमागोऽगरा" इस सूत्रमें अनेकान्तको सिद्धि करना अच्छा जवना है, ग्रन्थकारने ऐसा ही ढंग भी डाला है। श्रुनसागरस्वामीने भी इसको मूलसूत्रमें परिगणित नहीं कर टीकामें "तथा च विशेष: लौकान्तिकानामध्दी सागरीप-माणि सर्वेषां, ये लोकान्तिकास्ते विश्वेषि गुक्ललेश्याः पंत्रहस्तोन्नताः अष्टसागरोपमस्थितयः इति यों लिख दिया है। जिस प्रकार सर्वावंसिद्धिमे या राजवातिकमें इस सुत्रका अवतरण दिया गया है, अयवा श्रुतपागर स्वामीने जिन प्रकार अन्य सुत्रोंका अवनरण दिया है, उस प्रकार इस सूत्रका अवतरण नहीं दिया है। ये अनुसागर सूरि तत्वाये प्रकी टीका करते हुए प्रत्येक अध्यायके अन्तर्ने और यहां भी "मकलिब्रज्जनिविज्ञिनवरणमेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संख्रीहननिष्यामन दुर्गरेण श्रुनमागरेग सूरिणा विरिचनाया दन्त्रोकवातिकराजवातिक सर्वार्यसिद्धि न्यायकुपुद चन्द्रोदय प्रमेय हम उनार्नण्ड प्रचण्डाष्ट्रस स्त्रोप्रम्खप्रन्यसन्द मैनिर्भरावलोकनस्दि-विरचितायां तत्त्वार्यटीकायां चनुर्योज्यायः समाप्तः"।यों लिखकर अपनेको राजवातिक, क्लोक-वानिक आदि प्रत्योका अन्त प्रवेशी जाना प्रकट करते हैं। अस्त्र कोई विरोध नहीं होनेसे उस त्रुटिको यहां भाषा अर्थ करते हुए अविकल उद्धत कर दिया जाता है। सम्भव है कि यह श्री विद्यानन्त्र स्वामीकी कृति होय " ब्रह्मजोकालया " आदि इन दो सूत्रोंने जैसे लीकान्ति-कों का स्वतंत्र निरूपण किया है, उपी प्रकार स्थितिके प्रकरण में सूत्र कारने यह सूत्र भी पढ दिया होय। इस विषयार विशेषज्ञ विद्वान और अधिक प्रकाश डाल सकते हैं।

लौकान्तिकानामण्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।

सम्पूर्ण लोकान्तिक देवोंकीं आठ सागरोम स्थिति है।

होकान्तिकसुराणां च सर्वेषां सागराणि वै । अष्टाविप विजानीयात्स्थितिरेषा प्रकीर्त्तिता ॥ १ ॥

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी स्थिति भी आठ सागरकी निर्णीत हो रही विशेषतया जान लेनी चाहिये। यों यहांतक स्थितिका बढिया की.तंन कर दिया गया है।

लीकान्तिकदेवानां समस्तानां सदेव अष्टो सागराणि स्थितिव्यंभिचारवर्जिता शातव्याः।

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी सदैव ब्राठ सागरकी स्थिति है जो कि व्यभिचार दोषोंसे रहित हो रही जान लेनी चाहिये। जयन्य और उत्कृष्ट स्थिति ब्राठ ही सागरकी है। लौका नितक देव विशेषताओंसे रहित हो रहे सब एकसे हैं। पांच हाथ ऊंचा इनका शरीर है। शुक्ल लेश्यावाले हें। त्रिलोकसारमें "चोद्पपुव्वधरा पिडवोहपरा तित्थयरविणिककमणे। एदेसि-मट्ठजलिहिट्ठदी अरिट्ठस्स णव चेव।। ५४०।।" इस गाथाद्वारा अरिष्ट जातिके लौकान्ति-कोंकी नौ सागरोपम स्थिति कही है।

इति श्रीविद्यानित्द आचार्यविरचिते तत्त्वार्थक्लोकवार्तिकालंकारे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यविरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थमे चौथा अध्याय परिसमान्त हुआ।

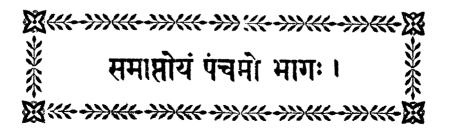
-- ---

इस चतुर्थ अध्यायके प्रकरणोंकी सारणी सक्षेपसे इप प्रकार है। प्रथम ही देवोकी चार ही निकायों को पुष्ट कर आधार नहीं कह कर देवों का ही कथन करने में सूत्रकारका अभि-प्राय दिखलाया है । तीन निकायकी लेक्याओं की साधकर कल्पोपपन्नोमें इंद्रादि भेदोका अतरंग कारण कर्मौकरके होना कहा है। व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी विशेषताओको बताते हुये प्रवीचारोंकी हीनता होने में पृण्यके उत्कर्षको प्रधानकारण सिद्ध किया है। तभी तो उपरिमदेव प्रवीचाररहित हैं। भवनवासी व्यन्तरों के विशेष भेद भी कर्मोदयजनित कहे गये है। मःम आदिका भक्षण देवोंमें नही है। शब्दनिरुक्तिद्वारा इनके आधार विशेषों की प्रतिपत्ति करादी है ज्योतिष्कदेव कर्मोके आधीन होकर सुर्यविमान चंद्रविमान आदि अनेक विमानोमें स्थिति कर रहे बताये हैं। कुछ ताराओको छोडकर मनुष्यलोक सम्बन्धी सभी ज्योतिष्क विमान मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे है। यहांसे सात सी नब्बे योजन ऊंचे स्थानसे प्रारम्भकर एकसी दस योजन मोटे और एक राजू लम्बे चौडे आकाशमें ज्योतिष्क विमानोका सभ्दाव है। नीचे, ऊरर, भीतर बाहर विराज रहे विमानोका कम दरशा दिया है। " छक्कदिणवतीससयं दसयसहस्सं खवार इगिदालं । गयणति दुगतेवण्णं विरतारापुक्खरदलोत्ति ''। जम्बृद्धीपमें छत्तीस, लवण समुद्रमें एक सी उनतालीस, धातकी खण्डमें एक हजार दस, कालोदक समुद्रमें इकतालीस हजार एकसी बीस, और पुष्करार्धमे त्रेपन हजार दो सौ तीस स्थिर तारे हैं। इनके अतिरिक्त ढाई द्वीपमे सम्पूर्ण ज्योतिष चक्र सुदर्शन मेरुकी सदा अपनी नियत गति अनुसार प्रदक्षिणा किया करते हैं। एक चन्द्रमा सम्बन्धी एक सूर्य अट्ठाईस नक्षत्र अट्ठाईस ग्रह और छचासिठ संख, सतानवे पद्म, पचास नील, ६६९७५००००००००००० तारे है। एकसी बत्तीस चन्द्रमा सम्बन्धी इतना इतना ही परिवार ढाई द्वीपमें समझ लेना चाहिये। स्वामीजीने भूमीके भ्रमणका अच्छा खडन कर नक्षत्र मण्डलकी स्थिरताका प्रत्याख्यान किया है। पृथिवीके विदारण होनेका बढा चय-

त्कारक प्रसंग दिया गया है। ग्यारह सौ वीस योजन पृथिवीकी चौडाई या इससे कुछ कमती बढती नहीं सबती है। यहां नदियोंके प्रभव स्थान और प्रवाह मार्ग अनुसार भूगोलका अच्छा निराकरण किया गया है। और भी अनेक युक्तियां दी हैं। काल आदिके वश भूमीके नीचे, ऊंचे आकार भी जैनोंके यहां माने गये बताये है। जो मनुष्य कुयेमें नीचे ठहरा हुआ है। उस की दुवहरके समय घण्टे दो घण्टे का ही दिन भासता है। गुफा या तिरछी भूमिमें निवास कर रहा मनुष्य वर्षों या महीनोंतक सूर्य दर्शन नहीं कर सकता है। सूर्यके उत्तरायण या दक्षिणायन होनेपर अनेक स्थलोंपर विभिन्न जातिके दिन रात हो जानेका प्रकरण मिल जाता हैं। जहाजका ऊपरला भाग दिखनेसे या उदय, अस्त, होनेकी वेलापर भूमीसे लगे हुए सूर्यका दर्शन होनेसे पृथिवीको गोल मानना कोरी बालबुद्धि है। क्या आकाशको या स्वच्छजलको नीला देख लेनेसे उनमें नीलरंग घुला हुआ मान लिया जावेगा? कभी नहीं। देखो हम लोगोंकी आंखों में भी कतिपय दोष है जिससे कि नाना प्रकार भ्रान्तियां हो जाती है। दूर देशतक अंचा उडता जा रहा पक्षी भी हमे नीचे उतरता हुत्रा सारिखा दोखता है। किन्तु एंसा नहीं है। दस पांच कौस लम्बे चौडे एक तिकोने या चौकोने चौंतरापर बीचमें खडा होकर देखनेसे चारों ओर गोल दीखता है। किन्तु एतावता वह चौंकोर चौंतरा कथमपि गोल नहीं हो जावेगा। यदि पृथिवी गोल घूमती हुई मानी जावेगी तो पक्षी उडकर अपने घोसले नर नहीं आ सके गा। क्यों कि उसकी छोड़ी हुई पृथि श्री तबतक सैंकड़ो मील दूर धूम जावेगी। इसके लिए पचास मील या इससे भी कमती बढती वायुका भी अमण पृथिवीके साथ स्वीकार करोगे तो वेगसे चल रही वायुके साथ धुत्रां या आककी रूईकी क्या दर्शा होगी। मसाल या दीपककी सीधी लौ नहीं उठ सकेगी। टिमटिमाता हुआ दीपक झट ब्झ जायगा। तोपसें निकले हुए बलवान् गोलेको पृथिवी अपने सांथ वायुकी सहायतासे ले जाय । किन्तु फ फूँदा या छोडे हुए वारूदके वाणके फुलिगोंपर अपना प्रभाव नहीं जमा देवें यह आश्चयं है। जो वायु रूई या फुफूदेको पृथिव के साथ पूर्वको ले जानेमें समर्थ नहीं है। वह वेगसे दौड रहे डेल या गोलीको कथमपि पृथिवीके साथ नहीं ले जा सकता है। कदाचित हुए स्वल्प भूकम्पसे शरीर, हृदय, मस्तिष्कमें चवकर आने लगते हैं। जो इतने प्रवस्त भूमि अमणसे मानव, पशु, पक्षिओं को क्या दशा होगी ? इसका अनुमान लगाना ही भयंकर है। आकर्षण शक्तिका भी खण्डन हो जाता है। समुद्रका इतना लम्बा चीडा जल केवल आकर्षण शनितसे नही हटा या चुपटा रह सकता है। हिन्द्वारसे कलकत्तेको जारही गगा नदी आकर्षण शक्तिवश गोल पृथिबी पर उलटी भी बह जाय तो कोन रोक सकता है। गोल पृथिवीपर जैसे हिरद्वारसे कलकत्ता नीचा है। उपी प्रकार कलकत्तंमे हरिद्वार भी नीचा सम्भवता है। अमेरिकासे नीचे वर्षका या भारतवर्षसे नीचे अमेरिकाका आकर्षणवश पृथिबीसे चुपटा रहना कहना असम्भव है। गुरुत्व धर्मके वज्ञ भारी पदार्थ सब नीचे गिर पडेंगे । चुम्बक या लोहेका द्ष्टान्त सर्वत्र पूद्ग-लों में लागू नहीं होता है । एक वृक्षसे सेवफलका पृथिवीपर गिरना देखकर भूमिमें आकर्षण शक्तिकी न्यूटन पंडितद्वारा कल्पना करना बच्चोंका खेल है। हम आकर्षणका खण्डन नहीं करते हैं। किन्तु समुद्रका धारण पृथिवी आदि अनेक मण्डलोंका भ्रमण केवल आकर्षण शक्ति से महीं हो सकते हैं। इस बातपर बल देते हैं। वस्तुतः ज्योतिश्वक के अमणसे ही छाया हानि, छायावृद्धि, सूर्यका भूमिसंलग्न होकर दीख जाना, ये सब बन जाते हैं। भूमिमें भी अनेक प्रकारके नैमित्तिक परिणामींको उपजानेकी शक्ति विद्यमान है। इसके आगे प्रन्थकारने समरात्र होना आदिको पुष्ट करते हुये सूर्यके एकसी चौरासी मण्डल बताय है। महूर्तकी गतिका क्षेत्र तथा उत्तर, दक्षिण, को ओर होरहे उदयके प्रतिमासोंको घटित किया है। अभ्यन्तर मण्डल और बाह्यमण्डलोंपर दिन रातके कमनी, बढनी हो जानेको साम्रा है। यहां प्रतिवादियोंके हेतुओं का अच्छा खण्डन किया है। छायाका घटना, बढना कोई भूनीके गोच आकारको नहीं साध देता है। क्षेत्रकी बृद्धिको यक्तियोसे साधा गया है। सुर्यग्रहणका अच्छा विचार है। छोटीसी पृथिवीकी छाया सूर्य या चन्द्रमातर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती है। छोटेसे खंडकी भूमिसे सूरजकी ओर जिनना भी बढ़ा दिया जातेगा, त्यों त्यों उसकी छाया नष्ट होती जाती है। ऐसी दशामें सूर्यके निमित्तसे भूमिकी छाया पडना अपमंत्रस है। ग्रहणके अवसरपर उपराग पडना ठीक है। किन्तू वह अब:स्थित राहके विमानसे कार्य सम्पन्न हो जाता है। पृथिवीकी छायासे चन्द्रग्रहण और चन्द्रकी छायासे सूर्यग्रहण पडना मानना परीक्षाकी कसोटी पर नहीं कसा जा सकता है। सूर्य आदिके विमान मिणिमय अकृत्रिय बने हुने है। राहु या केनु का पौराणिक कथानक झूठा है। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमान आभियोग्य देवोंद्वारा ढाये जाते हैं। पूर्वाक्षी विद्वानोंके भूमीको गोल साधनेमें दिये गये हेत् दूधिन है। सर्वत्र समत्र और क्वचित् नीची, ऊत्री, भूमिमें ज्योतिषत्रक्र की गतियों के वश हो रहे समरात्र आदिक सद बन जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण और आप्तोपज्ञ आगमसे विरुद्ध मनगढरन मिद्धान्तका प्रतिपादन **करना केवल कु**छ दिनोंतक कतिपय श्रद्धालुओद्वारा मान्य भले ही हो जाय किन्तु सदा सर्वत्र सबके लिये अबाधित नहीं है। किसीने कुछ कह दिया और कदानिन् किसी पण्डितने अन्यथा प्रतिपादन कर दिया, ऐसे क्षणिक मत जुगुनुके समान भला स्याद्वाद निद्धात मूर्यके सन्मुख कितने दिन ठहर सकेंगे ? स्वयं उन्ही लोगोंने परस्पर अनेक पूर्वापर विरोध उठा दिये जाते हैं। अने हान्तकी सर्वत्र विजय है। तदनन्तर गतिमान् ज्योतिष्कोंद्वारा किये गये व्यवहार काल को साधा है। व्यवहारकालद्वारा मुख्यकालका निर्णय करा दिया है। ढाई द्वीपके बाहर असंख्याते सूर्य, चन्द्रमा, या अन्य विमान जहांके तहां अवस्थित बता दिये है । चौथी निकाय वैमानिकोंका वर्णन करते हुए कर्मीदयके वश कल्पोपान्न और कल्पातीत देवोका विन्याम बनाया है। नव शब्दकी वृत्ति नहीं करनेसे अनुदिशोको सूचित किया है। उत्तरोत्तर स्थिति आदिकोसे अधिकता और गति आदिकसे हीनताको युवितयों द्वारा साध दिया है। वैमानिकोंमें लेक्याका निरूपण करते हुये निर्देश आदि सोलह अधिकारोंकरके कृष्णादि लेक्याओका आग्नाय अनुमार निरूपण किया है। एक भवतारी लौकान्तिक देव और द्विवरिम वैमानिकोंका स्वतंत्रतया निरू पण कर चौथे अध्यायके पहिले अ। न्हिकको समाप्त किया है। इसके आगे तियं चौंकी व्यवस्था कर देव और नारिकयोंकी जवन्य, उक्किष्ट, स्थितियोंका निरूपण करते हुवे कर्मोंकी विचित्रता अनुसार स्थितियों की बिचित्रता बताई गृथी है। श्री अक्लंक देव महाराजने चौचे अध्यायके अन्तमं राजवातिक में जैसे अनेकान्तका विस्तृत निक्कण किया है, उसी श्रकार भी विद्यानन्द अधार्यने एक एक द्रश्यको नाता स्वभाव आस्मक साधा है। जन्म अस्तित्व आदि छह विकारितंको सम्पूर्ण पहार्थ धारते हैं। "अमाविक्ल अग्रस्त हेतुका अच्छा विवार किया है। नित्येकान्त और अर्णक एकान्तका खण्डनकर द्रश्य, पर्याय, आत्मक वस्तुका नित्यानित्यात्म अपन प्रसिद्ध किया मया है। अन्य भी कितय अकलंक हेतु शींसे जीवतत्त्वका एक अनेकारम कपना साधते हुए चौथे अध्यायतक नय प्रमाणों द्वारा जीवतत्त्वको व्यवस्था कर दी गयी समझाई है। चौचे अध्यायके छोटसे द्वितीय आन्हिकको पूर्ण किया है। 'लौकान्तिकानामण्टो सामरोपमाणि सर्वेषां यह सूत्र उमास्वामिकृत है। इस विषयमें भी विद्यानन्द आचार्यका विशेष आदर नहीं अनुमित होता है। यो तत्त्वार्यक्लोकवातिकालंकार महान् प्रन्थमें दो आन्हिको द्वारा चौचे अध्यायकी समाप्ति की गई है।

लेश्येन्द्राविककल्पनास्थितिवपुःसम्याद्यवृष्टः थली— संसारस्थचतुणिकायसरणो नानास्वश्चरयंचितः ॥ जन्मास्स्यादिविकारमृद्वहुवचो विकानवृग्गोचरोऽ। ध्याये तुर्य इलाहितंनिगदितो जीव। श्च्युमास्वामिभिः॥ १ ॥ वृग्जाननयमावाङ्कभेदवल्लोकसंस्थितं। सूत्रित चतुरध्याय्यां जीवतत्त्वं प्रभेदभृत्॥ २ ॥

इति श्री विद्यानंदिआचार्यविरिचते तत्वार्यंश्लोकवातिकालंगारे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।



त्तवार्थश्चोकवार्तिकालंकारांतर्गतश्चोकसूवी -— ० पंचम खंड ०—

रलोक	पृष्ठ नं.	हलोक पुष्ठ नं
अ		इति सूत्रत्रयेणाक्ष- १६८
अंत्यं निरूपमोगत्वात् अयः गंगादयः प्रोक्ताः अनादिपरिणामोस्ति	२४२ ३४२ ४२	इति स्वतत्वादिविशेषरूपतो १६९ इति निग्रह संप्राप्त्ये १९८ इत्येवं पंचिभः सूत्रैः २११
अनाबिम्तिमिस्तस्य अनित्यो भावबोधश्चेत् अनुद्भूतस्वसामध्यं अन्ययाभावहेतुनां	૪ ૧ ૬ ૧૭ ૬ ૪ ૨૧	इति सति वहिरंगे कारणे केपि मृत्यो २७१ इति सूत्रद्वयेनाधो ३०३ इह प्रपचेन विचितनीयम् ३१४
अविग्रहा गतिस्तत्र अव्याद्यातिस्वरूपत्वात् अव्योदा विनिर्दिष्टा अवंप्राप्तर्धयः क्षेत्रा अत्रोपपादिकादीनां अस्मास्समाद्धराभागात् अनंतभेदमासां स्यात् आ आस्यांतिकक्षयो ज्ञान	१९२ २४९ ५४७ २५९ ५४७ ६२७	इत्येके तदसबधं ४१९ इति हेतोरसिद्धत्वं ४१७ इत्येके तदसंग्राप्तं ४४८ इति कियानुमानानां ४६९ इति कथितिबजेषो ४९० इद्घादयो दर्शतेषा ५१६ इत्येक नविभः सूत्रैः ५३४ इत्येकादशिभः सूत्रैः ६४५ इति संक्षेतिस्तिर्यम् ६४७ इति केचित्प्रध्वस्ताः ६७१
कात्मपुद्गलपर्याय आद्यं तु सोपभोगाभ्यां आद्यानु स्कंधभेदेच्छा कानतप्राणतद्वंद्वं आकस्यादिस्तु नीलाया आपोपदेशतः सिद्धाः	१ ६ ५ २ ३ २ ६ ० ३ ६ ३ ६ ३	आहारकं शरीर तु २४९ छ उक्तिरौदियकस्यातः ७ उदयः फलकारिस्वं ५ उपर्युपरि तद्धाम ६०१ उपर्युपरि ते होना ६१६
इतीद्रियाणि भेदन इति सूत्रद्वयेनाक्ष-	१४८ १ ५४	ऊ इंडर्वाझो भ्रमणं सर्वे ५५४

रलोक	पृष्ठ न	एलोक	पृष्ठ नं.
у		कृतधीजनकं तद्धि	४ १ ७
एकं समयमात्मा द्वी	१९६	कृष्णादयोऽशुभास्तिस्रो	६२८
एकका चाप्यसंख्येय	६२८	कृष्णा प्राथमिकक्लेश-	६२९
एनत्त्रयोजना भावाः	Ę	कृष्णोत्कृष्टांशकात्तु स्यात्	६३४
एतत्समुद्भवा भावाः	४३	केवलं मुखमग्तीति	४१६
एवं निश्शेष तत्वानां	40	कालादिपयंयस्यापि	४२२
एवं सूत्रद्वयेनोक्तं	99	ख	
एवं सूत्रत्रयोन्नीत-	₹0	खखंडभेदतः सिद्धा	५६४
एवमीशस्य हेतुत्व-	४३९	ग	
एवं सूत्रचतुष्टयात्	५९५	गतिनामोदयादेव	३४
एवं विशुद्धिवृद्धी स्यात्	६३१	गतौ तु विग्रहार्थायां	₹७३
एष एव नमो भागो	4,8 4	गतिमत्वं पुनस्तस्य	१७४
		गतिर्मुक्तस्य जीवस्य	१८७
औ		गत्त्रा सुदूरमप्येवं	૪૧૫
औपपादिकतासिद्धेः	२४३	गत्यभावोषि चानिष्टं	448
45		गुर्वर्षंस्याभिम्ह्येन	२९४
कयंचित्तु विरुद्धः स्यात्	४४३	ग्रंवेयकेषु नवसु	६०७
कमींदये च तस्यैव	४७	ঘ	
कर्में कार्मण तन्न	२२८	घनांबुपवनाकाश	२८३
कर्मपुद्गलपर्यायो	२२९	घनानिलं प्रतिष्ठान	२८७
कर्मभूमिमवा म्लेन्छा	२२ <i>५</i> ३७६	4	
कल्पाः प्रागेत ते बोध्याः	२ ०५ ६३६	चतुर्थेसमयेवश्यं	१९६
कषायोदयतो योग	4 4 4 3 5	चतुर्दशिभरित्येवं	२५ १
कार्मणांतर्गतं युवतं		चानंतादि भागाद्वा	६३०
कार्यःवं न तथा स्वेष्ट	२३३ ४४८	चरति तादृशादृष्ट	५४९
कालादेरशरीरस्य		चक्षुषा तानि वृद्धानि	१५७
किचिदौदारिक:वेपि	४०६	चित्स्वभावतया तावत्	४९
कुर्वन्धित्यादि मृतींदच	588 588	वेतनत्व स्वभावत्व	४८
कुटस्थात्मकतापत्तेः	४१५	चतुर्ध्वपि निकायेषु	499
रूटस्थोपि पुनान्नैव	40 • 810	ज	
गूटरयाप पुनासय इत्स्नकर्मक्षयात्तावत्	१ ९७	जगतां नेश्वरो हेतुः	800
रत्या गणाजा था पा (वित्	४५	जन्मास्तित्वं परिणति	६६५

रलोक	पृष्ठ नं.	1	र लोक	पृष्ठ नं.
जन्मादयः प्रधानस्य	६६९		तत्र सयोद्भवो भावः	५२
षायंते ते विनश्यंति	६७१	l	तःसद्रव्यमनो युक्तं	१ ६३
जंबूद्वीपगवर्षाद	३६७]	त क्षेत्र गसिना नृणां	३५८
जीवस्यौदयिकाः सर्वे	४७	1	तत्र प्राप्तधंयस्मप्त	३७१
जीवाः पृथ्वीमुखास्तत्र	१२५	- 1	तत्सामान्यविशेषस्य	४५७
ज्योतिष्काः पंचद्या दृष्टाः	५४४		तत्रापि व्यंतरा वज्यी	416
ज्योति:शास्त्रमतो युवतं	428	ļ	तत्कपायोदय स्थाने	६२८
शानावरणसामान्य	३५	1	तःकृष्ण लेश्यतः स्थानात्	६३०
त			तत्र लोकातिका देवा	६ ३७
ततम्तु कायिकस्योक्तिः		- 1	तदत्यागे तु मोक्षस्य	86
ततो मत्यादिविज्ञान	७ २८		तदसंगतमादेश	49
ततः स्याद्वादिनां सिद्धः	५०	- 1	तद्वैचित्र्यं पुनः कर्म	२०५
ततः सप्तेति संख्यानं	₹ ०१		तदादीनि शरीराणि	२३९
ततो नैकांतिको हेतुः	४१८		तदन्यतर दृष्टत्वात्	२६८
ततः सूर्या दशोत्पत्य	५४८		तद्घृतद्वांबुवातः स्यात्	२८६
ततः संसारिणो जीवाः	६६४	ĺ	तदप्ररूपणे जीव	39 9
ततः स्वतःवादिविशेषचितनं	દૃષ્ટદ્		तदयुवतं महेशस्य	४२४
तथा कोधादिभेदस्य	₹8	1	तद्भो ३तृप्राण्य वृष्ट हय	४२५
तथा च नाशिनो भावाः	40	ļ	तद्यपास्तमाचार्यं	५५४
तथैव पर्ययेकांते	१५१	-	तिहिभागान्तथा मुख्यो	५८५
तथा चृमिप्रकाराणां	१५७		तनुवात पुनव्योम	२८५
तथा संस्वेदजादीनां	÷ १ १		तित्रवासजनाद्ष्ट	२८७
तथा तैजसमप्यत्र	२४६	ł	तन्मध्ये मेरुनाभिः स्यात्	358
तथा तैनिरकेई.खं	३०७	i	तन्मध्ये योजन प्रोवतं	३३४
तथांतर्द्वीपजाः म्लेच्छाः	३७४	1	तित्रबंधनमञ्जूणां	३९९
तथातः परिणामेन	६२८		तयोपलक्षिताचाति	38
तथा संकमतः साध्या	६२९		त्रसास्ते स्थावराइवापि	११६
तथैव कर्मतो छेश्याः	६३२	- 1	त्रसाः पुनः समाख्याताः	१ ३१
तथा रुक्षणती हेर्याः	६३२		तस्यापि योनयः संति	२०५
तथा विशुद्धिहान्यां स्यात् तथा द्विचरमाः श्रोदनाः	६३१	Ì	तस्य कार्पासिपडेन	२२४
तत्तदेतुकविज्ञान	६४४	1	तस्यामेव तु षद्स्थात	६२९
	१५७		तियँचोऽशुभलेश्याया	308

इलोक	पृष्ठ नं.	रलोक	पृष्ठ नं.
त्रिशल्लक्षादिसंख्या च	3 02	म	
त्रिवेदाः प्राणिनः शेषाः	२५५	क जेवां संबविधेताः	
त्रिष्वाद्येषु निकायेषु	५०९	न चैषां द्वंदनिर्देशः न चाभव्यादिकालुष्य	९
त्रीणि त्रीणि बुद्धाः शुका	486	न च तत्प्रशमे किचित्	\$ %
तेषामाःयंतिकी हानिः	ષ	न चौपशमिकादीनां	१४ ४९
ते तिर्यग्योनिजानां च	३९६	न च द्वीपसमृद्वादि	१९८
ते स्पर्शादि प्रवीचाराः	५२७	न चेताभिमंहेशेन	882
तेभ्यग्तु परे काम	५३२	नन्वीपशमिकादीनां	86
तेन्वयंसज्ञतां प्राप्ताः	६४२	नन् हें पादयो धीमत्	800
तेनभिज्ञा घटा दोनो	६६०	न तस्य पुष्पत्वेन	४०६
तेषां भावविकारस्वात्	६६९	नानास्मपरिणामास्य	४०८
तेषामीदयि इत्येन	¥٩	न देशे व्यक्तिरेकोस्ति	84.
*		न वरत्वाद दृष्टस्य	४२३
www.		नरतेषूदितेकादि	₹₹
दशवर्षं सहस्राणि	६५७	ननु यहर्षटादीना	६६०
दशा सुरादयस्तत्र	५३७	नानार्थं हरूच शब्दोसी	•
द्वावीपशमिकी भावी	४६	नानैकांतिक मप्येतत्	25
डि उद्यान्येव निर्वृत्ति	१३९	नानादिभवसंभूत	१५९
दितीये पाणिमुक्तायां	१९६	नारका देहिनस्तेत्र	२५३
द्वे द्वा निकाययोर्देवाः	५२०	नापर्यता धराघोषि	२९८
वृश्यमान समुद्रादि	२९३	नाबोधो गतिवैचित्र्यं	३००
दृष्टिमोहोदयारपुंसी	इ५	नाऋेशतः पलायते	ΥΥŞ
दृ'टक्षियादि हेतूनी	४२०	नान्ययानुःपन्नःवं	४७३
द्रव्यं गुण: किया नान्त्य	886	नासिद्धिमंणिमुक्तादी	४७४
द्वयोः सत्यस्वभिष्टं चेत्	२९५	नारकाणां च सक्षेपात्	६५६
द्व्यादीनां भेदशद्वेन	20	निरवयमतः सूत्रं	9
देग्यः भीत्रम्खाः रूयाता	३३५	निरुष्तिरथंसामध्यदि	Ę
देशकाल विशेषाव –	४५७	निष्कुटक्षेत्रसंसिद्धेः	१९०
देवाश्चतुणिकाया इ-	407	निर्दिष्टेभ्यस्तु शेषाणां	₹ \$ •
देवा कायप्रवीचारा	५२३	निमित्तहेतवस्त्वेते	७० ६
धी मद्धेतुत्वसामान्यं	¥06	नित्य सर्वेगतामूर्त	३८२

इस्रोक पृष्ठ नं.	रलोक	पृष्ठ नं.
निमित्तकारणं तेवां ४००	पुंसि सम्यनश्वचारित्र	१२
नित्यज्ञानत्वतो हेत्: ४०२	पूर्वापरायतास्तत्र	३२९
निरुष्टयावासभेदस्य ५४६	•	
नैकांतभेदमृत्सिद्धी ४५४	बोधो न वेद्यसी नित्यो	४०३
नैवं प्रयोतुरेकस्य ४६२	बुद्धिमद्धेतुकं यादृक्	880
नीर्घ्वाघो भ्रमणं भूमेः २८९	बहिमन्द्यलोकाते	५९५
मःनाक्षत्रविषाकीनि ३९८	बिब्रतेस्तित्वमेवते	६६८
q	भ	
•	भरताद्या विदेहांताः	३९०
पद्मारयो ह्यास्तेषां ३३१ परासु गमनाभावात् ३०९	भव्याभव्यत्वयोर्जीव	ሄሪ
	भवायुगंतिभेदानाः	६३४
, ,	भावेंद्रियाणि रुब्ध्यारम	१४१
, , , ,	भूभगागमसत्यत्वे	२९५
	भोग्यवासनया भोग्य	२३०
	भोगभूम्यायुरुःसेद्य	३७६
पत्यापममतिरिक्तं ६५४ परेषामधिकं ज्ञेयं ६५८	я	
प्रत्येकं भेदशब्दस्य ११		
प्रशानाद्यात्मका होषा ४६	मध्यमा स्थितिरेतेषां	३९३
पंचें द्वेयाणि जीवस्य १३४	मनोमात्रनिमित्तत्वात्	५३
परिणामी यथाकाल १९८	मध् ये लेश्याचतुष्कस्य	६३१
प्रदेशतोल्पता तार २२३	मुक्तस्येव न युज्येत	४१२
प्रबाघ्यते प्रमाणेन २६८	मे हप्रदक्षिणा नित्य	५५१
प्रभृतिः पद्मलेश्याया. ६३२	मरुतो धारकस्यापि	६९६
प्रत्यंशक समास्याताः ६३३	महेश्वर सिसृक्षाया	४२४
पार्विवादि ज्ञरीराणि	मनुष्यलोक संख्याया	३९७
ष्ट्रागौ रश्चिम कस्योक्तिः ७	य	
भाक्साधितात्र सर्वज्ञ १९	यथान्योन्याश्रयस्तद्वत्	४१८
प्राञ्मानुषोत्तराद्यस्मात् ३६९	यदागमं प्रवचेन	०८७ ६३४
प्राप्तद्वींतरभेदेन ३७१	यदानंतगुणा हानिः	६२० ६३०
विडिकछेदरेच्छा च ६३२	युनती जरायुजादीनां	२०८

: एलो क	पृष्ठ नं.	इलो क	पुष्ट नं.
येषां च चतुरस्नः स्यात्	१९१	व	
ये ज्योतिष्काः स्पृता देवाः	464		9.46
यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्	68	षोढा प्रक्रमयुक्तीयं	१८६
योजनानां शतान्यष्टी	५४८	•	
5		स द्विविधोष्टचतुर्भेद	९ ३
लब्पयः पंच तादृश्यः	२८	सदेहबुद्धिमद्धेतुः	806
लक्ष्याः संसारिणो जीवाः	१०१	स देहेतरसामान्य	४१०
लिगं वेदोदयात् त्रेघा	38	स घनोदधिपर्यन्तो	بالإه
लेश्याः पीतादयस्तेषां	६२३	सम्यग्दृग्गोचरो जीवः	\$
लेश्या निर्देशतः साध्याः	६२७	सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां	३५
लोको कृत्रिम इत्येतत्	४७१	समनस्कामनस्कास्ते	११ ३
लोकांतिक सुराणां च	६७७	संज्ञिनां समनस्कत्वं	१५९
4		सर्वकारणजून्ये हि	१९७
<i>वनस्पः</i> यंतजीवानां	१ ५६	संमूच्छंनादयो जन्म	२००
वन्ह्यादिबुद्धिकारित्वं	880	समरात्रं दिवा वृद्धिः	५६४
वर्षवर्षधराबः ध्य	SYE	सन्तिभस्ते तथा श्रेयाः	६६ २
वागाद नामतो भेदा	१३४	संयमासंयमोपीति	२९
दास्यादीनि च तहरुर्तुं	४५६	सर्वेगत्वाद्गतिः पुंसः	१७४
विकारी पुरुषः सत्वात्	६७०	संसारिणः पुनर्वकी	१८९
विभुः पुमानमूर्तःवे	१ ७५	संभाव्यानि ततोन्यानि	२१५
विश्वतश्चक्षुरित्यादेः	४७०	सर्वतोप्यप्रतीघाते	२२२
विशिष्टसन्निवेशं च	४७२	सर्व स्यानादिसंबंधे	२३७
विशुद्धेश्तरास्तिसः	६२८	संक्लेशतारतम्येन	३०५
वृत्त मोहोदयात्पुंसो	३५	सर्वदाधः पतन्त्येताः	२९६
व्याख्याता त्रेश्वरेणीव	४२५	संक्लिष्टैरसुरैर्दु.ब	305
वैमानिका विमानेषु	५९८	संक्षेपादपरात्वग्रे	३१३
विवादाध्यासितात्मानि	४५६	सन्ताधी भूमयी यस्मात्	३१७
হা		संख्यायायामिव व्कंभ	३३२
शरीर मात्मनोदृष्टं	४१३	संभाव्यंते च ते हेतुः	३७२
शुद्धिप्रकर्षमाय।ति	१९	संप्रदायाव्यवच्छेदात्	३७७
शुद्धिर्शानादिकस्यात्र	१९	सद्गरीरः कुलाबादिः	४१०

रलोक	पृ. नं.	इलोक	पृष्ठ नं.
समुद्राकरसंमूत	४७२	सिद्धं सादृश्यसामान्य	925
संगाव्यंते चते सर्वे	५३२	सिसुझांतरनस्तस्याः	४२५
सर्वाभ्यंतरचारीब्ट:	440	सिद्धे कर्तरि निःशेषः	४६२
सर्वेवामुपरि स्वाति	५५०	स्थित्यादिभिस्त याधिवयं	६१९
संख्येया द्विगुणाद्वापि	६३०	स्थितिरित्यादि सूत्रेण	६५३
संख्यातः क्षेत्रनश्चापि	६३४	स्त्री पुममुखसप्राप्ति	२५३
सर्वलोकाश्रयाः सिद्धाः	६४७	सूक्ष्मबादरके जीवै:	१९१
सा नत्कुमार मःहेंद्र	६५६	स्यूलमाहारकं विद्धि	₹. १
सा यद्यदृष्टसद्भावान्	४१२	सूत्रकारस्तदेतेषां	५०२
सामर्थ्यान्यध्यमा बोध्या	६५९	सूत्रैश्वतुभिरभ्यासात्	६५३
सामान्यतोनुमेयाश्च	५४५	सूक्ष्मी भूनविशेषश्चेत्	६६०
स्वय संविद्यमाना वा	१ ५	हतो कत्वात्सर्वभावे स्यः	ও
साम्ध्यं द्गम्यमानस्य	१ ५२	सीवर्षेशानयोर्देता	६०६
स्पर्शनाद नि तान्याहु	१४५	सौबर्मेत्यादिपूत्रे च	६०७
स्वादयम्तदर्थास्युः	१५१	सर्वेषा यदि कार्य वं	४४३
स्वयं संवेद्यमाना च	७ ७६	ह	
सःसादनं च सम्बन्धवं	३५	हेतुरीदवरबोधेन	₹७€
स्माहेवनारकाणा रु-	208	हेतोरीश्वरदेहेन	800
स्वयोनौ जन्म जीवस्य	२ १ २	क्ष	
स्वप्नोपमो । सिद्ध घर्षं	२३०	क्षयोपशम सद्भावे	२८
स्वामाविकं पुर्गात्रं	२३ २	क्षयोपश्चमभेदन	१६३
स्वं तत्व रुक्षण भदः	२७२	क्षणिक निष्क्रिय विसं	१ ९'3
स्वारम्प्रतिष्ठमाकाशं	२८४	क्षायोपशनिकस्या ()	ও
सामर्थंतस्ततोन्येषां	२५९	क्षायोगशिमकं चाते	\$
सार्धं दृढीपविष्कंभ	३८९	क्षायिका नव भावाः स्युः	४५
सामध्यदिवसीयते	३९०	क्षायोपशमिका दृष्टि	४६
सार्धद्वीपद्वये क्षेत्र	३९७	क्षायोगकमिकाः शेषाः	४७
स्थात्ररादिभिग्द्यस्य	*86	क्षियादि मूर्तयः संते	868
स्वातंत्रयेण तदुद्भूती	*54	क्षीणाक्षं णात्मनां घाति	२७
सिद्धा गतिरनु वेणि	१८५	क्षेत्रावगा हनापेक्षा	२२ १
सिद्धमौदारिक तिर्धङ्	२१४	क्षेत्राणि भरतादीनि	358